२६, शक १८९१, सन् १९६९

मुद्रक :
५ र सातवलेकर,
मंडल, भारत-मुद्रणालय,
ार मंडल (पारडी)'
जि. वलसाड]

भूमिका

ण्यकपर्व, जिसे महाभारतके अनेक संस्करणोंमें वनपर्वकी
ी दी गई है, महाभारतमें तीसरे स्थानपर है। इस
पाण्डवोंके अरण्यवासका वर्णन है, इसीलिए इस पर्वका
आरण्यकपर्व है।

इ पर्वका "एवं द्यूतजिताः पार्थाः" यह प्रथम श्लोक
र्वको इस आरण्यकपर्वकी पृष्ठभूमिके रूपमें प्रस्तुत
है। सभापर्वमें कौरव और पाण्डवोंके बीचमें बारह
ा वनवास और एक वर्षका अज्ञातवास इस शर्तपर जो
हुआ, उसमें पाण्डव हार गए और अपनी प्रतिज्ञाके
सार वे अरण्यमें रहनेके लिए द्रौपदीके साथ हस्तिना-
से चल पडे। हस्तिनापुरसे उनके निर्गमनके साथ ही
ण्यकपर्वकी शुरुआत होती है। २९९ अध्यायोंसे सम्पन्न
पर्व बहुत बडा है।

यह पर्व भी अनेक उपपर्वोंसे समृद्ध है। इसका प्रथम
पर्व आरण्यकपर्व ही है।

इस प्रथम उपपर्वमें पाण्डवोंका द्रौपदी तथा अपने अन्य
न्द्रसेन आदि चौदह भृत्योंके साथ हस्तिनापुरसे निर्गमन,
स्तिनापुरवासियोंका पाण्डवोंके साथ वन चलनेका आग्रह,
युधिष्ठिरका उन्हें समझा बुझाकर वापस भेजना, ब्राह्मणोंका
साथमें चलनेका आग्रह, युधिष्ठिरको उनके भोजनकी चिन्ता,
महर्षि शौनकका युधिष्ठिरको उपदेश देकर उसे तप करनेकी
सलाह देना, धौम्यकी सलाहपर युधिष्ठिरके द्वारा सूर्यकी
आराधना करना, युधिष्ठिरके द्वारा सूर्यके एकसौ आठ
नामोंका जप, सूर्यका अक्षय अन्नका वरदान देना, पाण्डवोंके
चले जानेके बाद धृतराष्ट्रकी चिन्ता, विदुरका पाण्डवोंकी
वीरताका वर्णन करके दुर्योधनको बन्दी बनाकर युधिष्ठिरको
राज्यपर बिठलानेकी सलाह देना, धृतराष्ट्रका विदुरपर क्रोधित
होना, पाण्डवोंका काम्यक वनमें वास, विदुरका पाण्डवोंसे
मिलनेके लिए काम्यक वनको जाना, वहां पाण्डवोंको
सान्त्वना देना, विदुरके चले जानेपर धृतराष्ट्रका पश्चात्ताप
करना, धृतराष्ट्रका अपने दूत भेजकर विदुरको वापस
बुलवाना और अपने कृत्यके लिए उनसे क्षमा मांगना,
पाण्डवोंको नष्ट करनेके लिए दुर्योधनकी शकुनि, दुःशासन
और कर्णके साथ मंत्रणा, कर्णके कहनेपर सब लोगोंका
पाण्डवोंको मारनेके लिए अपने अपने रथोंपर बैठकर निकल
पडना, तब व्यासका आकर उनको रोकना, धृतराष्ट्रके पास
जाकर उसके पुत्रकी दुष्ट मंत्रणाका वृत्तान्त कहना, इन्द्र और
सुरभिका आख्यान, मैत्रेयका पाण्डवोंसे सुलह करनेके लिए
दुर्योधनको समझाना, दुर्योधनको अपने उपदेशके प्रति
उदासीन देखकर मैत्रेयका दुर्योधनको शाप देना तथा
धृतराष्ट्रको भीमके द्वारा किर्मीर नामक राक्षसके मारे जानेकी
सूचना देना इन बातोंका वर्णन है।

किर्मीरवध पर्वके अन्तर्गत काम्यक वनको जाते समय
मार्गमें पाण्डवोंसे बकासुरके भाई किर्मीरका सामना, भीम
और किर्मीरका द्वन्द्व युद्ध, अन्तमें भीमके द्वारा राक्षसका
वध आदि बातोंका वर्णन है।

वनमें पाण्डवोंसे मिलनेके लिए भगवान् कृष्णका आना,
उनका दुःख देकर कृष्णका कौरवोंपर क्रोध, अर्जुनका कृष्ण-
को शान्त करना, द्रौपदीका भगवान्के सामने कातरतापूर्ण
विलाप, कृष्णसे द्रौपदीका वारणावत, हिडिम्बवध आदि
बीती हुई घटनाओंको सुनाकर रोदन करना, कृष्णका उसे
ढांढस देना, द्यूतके समय अपने अनुपस्थित रहनेका कारण
बताते हुए भगवान्का सौभवधका उपाख्यान कहना,
युधिष्ठिरके राजसूयमें शिशुपालका भगवान् द्वारा वध, उसका
समाचार सुनकर शिशुपालके भाई शाल्वराजका क्रोधित
होकर कृष्णसे शून्य द्वारिकापर आक्रमण, द्वारकामें आप-
त्कालीन व्यवस्थाका वर्णन, श्रीकृष्णके पुत्र साम्ब, प्रद्युम्न
आदिका शाल्वसे युद्ध, साम्बके हाथों शाल्वके सेनापति
क्षेमवृद्धिकी पराजय, वेगवान् नामक दैत्यका संहार, प्रद्युम्न
तथा शाल्वका युद्ध, शाल्वके द्वारा प्रद्युम्नकी पराजय, परा-

☆

संवत् २०२६, शक १८९१, सन् १९६९

☆

प्रथम आवृत्ति

☆

प्रकाशक-मुद्रक :
वसन्त श्रीपाद सातवलेकर,
स्वाध्याय मंडल, भारत-मुद्रणालय,
पोस्ट- 'स्वाध्याय मंडल (पारडी)'
पारडी [जि. बलसाड]

भूमिका

आरण्यकपर्व, जिसे महाभारतके अनेक संस्करणोंमें वनपर्वकी संज्ञा भी दी गई है, महाभारतमें तीसरे स्थानपर है। इस पर्वमें पाण्डवोंके अरण्यवासका वर्णन है, इसीलिए इस पर्वका नाम आरण्यकपर्व है।

इस पर्वका " एवं द्यूतजिताः पार्थाः " यह प्रथम श्लोक सभापर्वको इस आरण्यकपर्वकी पृष्ठभूमिके रूपमें प्रस्तुत करता है। सभापर्वमें कौरव और पाण्डवोंके बीचमें बारह वर्षका वनवास और एक वर्षका अज्ञातवास इस शर्तपर जो जुआ हुआ, उसमें पाण्डव हार गए और अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार वे अरण्यमें रहनेके लिए द्रौपदीके साथ हस्तिनापुरसे चल पडे। हस्तिनापुरसे उनके निर्गमनके साथ ही आरण्यकपर्वकी शुरुआत होती है। २९९ अध्यायोंसे सम्पन्न यह पर्व बहुत बडा है।

यह पर्व भी अनेक उपपर्वोंसे समृद्ध है। इसका प्रथम उपपर्व आरण्यकपर्व ही है।

इस प्रथम उपपर्वमें पाण्डवोंका द्रौपदी तथा अपने अन्य इन्द्रसेन आदि चोदह भृत्योंके साथ हस्तिनापुरसे निर्गमन, हस्तिनापुरवासियोंका पाण्डवोंके साथ वन चलनेका आग्रह, युधिष्ठिरका उन्हें समझा बुझाकर वापस भेजना, ब्राह्मणोंका साथमें चलनेका आग्रह, युधिष्ठिरको उनके भोजनकी चिन्ता, महर्षि शौनकका युधिष्ठिरको उपदेश देकर उसे तप करनेकी सलाह देना, धौम्यकी सलाहपर युधिष्ठिरके द्वारा सूर्यकी आराधना करना, युधिष्ठिरके द्वारा सूर्यके एकसौ आठ नामोंका जप, सूर्यका अक्षय अन्नका वरदान देना, पाण्डवोंके चले जानेके बाद धृतराष्ट्रकी चिन्ता, विदुरका पाण्डवोंकी वीरताका वर्णन करके दुर्योधनको बन्दी बनाकर युधिष्ठिरको राज्यपर बिठलानेकी सलाह देना, धृतराष्ट्रका विदुरपर क्रोधित होना, पाण्डवोंका काम्यक वनमें वास, विदुरका पाण्डवोंसे मिलनेके लिए काम्यक वनको जाना, वहां पाण्डवोंको सान्त्वना देना, विदुरके चले जानेपर धृतराष्ट्रका पश्चात्ताप करना, धृतराष्ट्रका अपने दूत भेजकर विदुरको वापस बुलवाना और अपने कृत्यके लिए उनसे क्षमा मांगना, पाण्डवोंको नष्ट करनेके लिए दुर्योधनकी शकुनि, दुःशासन और कर्णके साथ मंत्रणा, कर्णके कहनेपर सब लोगोंका पाण्डवोंको मारनेके लिए अपने अपने रथोंपर बैठकर निकल पडना, तब व्यासका आकर उनको रोकना, धृतराष्ट्रके पास जाकर उसके पुत्रकी दुष्ट मंत्रणाका वृत्तान्त कहना, इन्द्र और सुरभिका आख्यान, मैत्रेयका पाण्डवोंसे सुलह करनेके लिए दुर्योधनको समझाना, दुर्योधनको अपने उपदेशके प्रति उदासीन देखकर मैत्रेयका दुर्योधनको शाप देना तथा धृतराष्ट्रको भीमके द्वारा किर्मीर नामक राक्षसके मारे जानेकी सूचना देना इन बातोंका वर्णन है।

किर्मीरवध पर्वके अन्तर्गत काम्यक वनको जाते समय मार्गमें पाण्डवोंसे बकासुरके भाई किर्मीरका सामना, भीम और किर्मीरका द्वन्द्व युद्ध, अन्तमें भीमके द्वारा राक्षसका वध आदि बातोंका वर्णन है।

वनमें पाण्डवोंसे मिलनेके लिए भगवान् कृष्णका आना, उनका दुःख देकर कृष्णका कौरवोंपर क्रोध, अर्जुनका कृष्णको शान्त करना, द्रौपदीका भगवान्के सामने कातरतापूर्ण विलाप, कृष्णसे द्रौपदीका वारणावत, हिडिम्बवध आदि बीती हुई घटनाओंको सुनाकर रोदन करना, कृष्णका उसे ढांढस देना, द्यूतके समय अपने अनुपस्थित रहनेका कारण बताते हुए भगवान्का सौभवधका उपाख्यान कहना, युधिष्ठिरके राजसूयमें शिशुपालका भगवान् द्वारा वध, उसका समाचार सुनकर शिशुपालके भाई शाल्वराजका क्रोधित होकर कृष्णसे शून्य द्वारिकापर आक्रमण, द्वारकामें आपत्कालीन व्यवस्थाका वर्णन, श्रीकृष्णके पुत्र साम्ब, प्रद्युम्न आदिका शाल्वसे युद्ध, साम्बके हाथों शाल्वके सेनापति क्षेमवृद्धिकी पराजय, वेगवान् नामक दैत्यका संहार, प्रद्युम्न तथा शाल्वका युद्ध, शाल्वके द्वारा प्रद्युम्नकी पराजय, परा-

आरणेय पर्वमें द्वैतवनमें एक बार प्यासे युधिष्ठिरका नकुलको पानी लेनेके लिए भेजना, तडागपर यक्षका नकुलको रोकना, उसकी अवज्ञा करके नकुलका पानी पीना और मर जाना, इसीप्रकार सहदेव, अर्जुन, भीमकी भी यक्षकी अवज्ञाके कारण मृत्यु, अन्तमें युधिष्ठिरका स्वयं जाना, युधिष्ठिरका यक्षके प्रश्नोंका उत्तर देना, तब यक्षका प्रसन्न होकर चारों भाइयोंको जीवित करना, यक्षका धर्मके रूपमें युधिष्ठिरको अपना दर्शन देना, युधिष्ठिरका अपने पिता धर्मसे अनेक वरदान मांगना आदि कथाओंका वर्णन है। इस आरणेय पर्वके साथ ही आरण्यकपर्वकी समाप्ति होती है।

आभार – प्रदर्शन

महाभारतका यह तीसरा भाग आरण्यकपर्व पाठकोंके सम्मुख प्रस्तुत है। इस भागके प्रकाशनकार्यमें हमें सबसे बडी सहायता आधुनिक भामाशाहके नामसे प्रसिद्ध स्वर्गीय सेठ जुगुलकिशोरजी विरला के सुयोग्य भ्रातृव्य श्री सेठ गङ्गाप्रसादजी विरला से मिली है। उन्होंने इस पर्वके प्रकाशनके लिए अपनी मिलसे हमें कम दामोंपर कागज दिलवाकर हमारी जो सहायता की और हमारा जो उत्साह बढाया, उसके लिए हम श्री सेठजीके सदा आभारी रहेंगे। उनके अतिरिक्त भी जिन महानुभावोंने ज्ञात या अज्ञातरूपसे इस कार्यमें हमें अपना सहयोग दिया है, उनके प्रति भी हम अपना आभार प्रकट करते हैं।

सम्पादकमण्डल

आरणेय पर्वमें द्वैतवनमें एक बार प्यासे युधिष्ठिरका नकुलको पानी लेनेके लिए भेजना, तडागपर यक्षका नकुलको रोकना, उसकी अवज्ञा करके नकुलका पानी पीना और मर जाना, इसीप्रकार सहदेव, अर्जुन, भीमकी भी यक्षकी अवज्ञाके कारण मृत्यु, अन्तमें युधिष्ठिरका स्वयं जाना, युधिष्ठिरका यक्षके प्रश्नोंका उत्तर देना, तब यक्षका प्रसन्न होकर चारों भाइयोंको जीवित करना, यक्षका धर्मके रूपमें युधिष्ठिरको अपना दर्शन देना, युधिष्ठिरका अपने पिता धर्मसे अनेक वरदान मांगना आदि कथाओंका वर्णन है। इस आरणेय पर्वके साथ ही आरण्यकपर्वकी समाप्ति होती है।

आभार – प्रदर्शन

महाभारतका यह तीसरा भाग आरण्यकपर्व पाठकोंके सम्मुख प्रस्तुत है। इस भागके प्रकाशनकार्यमें हमें सबसे बडी सहायता आधुनिक भामाशाहके नामसे प्रसिद्ध स्वर्गीय सेठ जुगुलकिशोरजी विरला के सुयोग्य भ्रातृव्य श्री सेठ गङ्गाप्रसादजी विरला से मिली है। उन्होंने इस पर्वके प्रकाशनके लिए अपनी मिलसे हमें कम दामोंपर कागज दिलवाकर हमारी जो सहायता की और हमारा जो उत्साह बढाया, उसके लिए हम श्री सेठजीके सदा आभारी रहेंगे। उनके अतिरिक्त भी जिन महानुभावोंने ज्ञात या अज्ञातरूपसे इस कार्यमें हमें अपना सहयोग दिया है, उनके प्रति भी हम अपना आभार प्रकट करते हैं।

सम्पादकमण्डल



म हा भा र त

आ र ण्य क प र्व ।

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

ॐ नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत् ॥

ॐ गणोंके ईशके लिये नमस्कार हो ।

ॐ नरोत्तम नारायण, नर और देवी सरस्वतीको प्रणाम करके जयकी घोषणा करनी चाहिये ।

: १ :

जनमेजय उवाच

एवं द्यूतजिताः पार्थाः कोपिताश्च दुरात्मभिः ।
धार्तराष्ट्रैः सहामात्यैर्निकृत्या द्विजसत्तम ॥ १ ॥
श्राविताः परुषा वाचः सृजद्भिर्वैरमुत्तमम् ।
किमकुर्वन्त कौरव्या मम पूर्वपितामहाः ॥ २ ॥

जनमेजय बोले– हे द्विजोत्तम ! धृतराष्ट्रके पुत्रों और उनके मन्त्रीवर्ग द्वारा जुएमें छलसे जीते जाकर और उन दुरात्माओंके द्वारा क्रोधित, अत्यन्त शत्रुताको उत्पन्न करनेवाले दुर्वाक्य सुनकर कुरुकुलको बढानेवाले मेरे प्रपितामहोंने क्या किया था ? ॥ १-२ ॥

कथं चैश्वर्यविभ्रष्टाः सहसा दुःखमेयुषः।
वने विजह्रिरे पार्थाः शक्रप्रतिमतेजसः ॥ ३ ॥

इन्द्रके समान तेजोवान् उन कुन्तीपुत्रोंने अचानक ऐश्वर्यसे भ्रष्ट होकर और सहनेके अयोग्य दुःखको पाकर वनमें कैसे विहार किया ? ॥ ३ ॥

के चैनानन्ववर्तन्त प्राप्तान्व्यसनमुत्तमम्।
किमाहाराः किमाचाराः क च वासो महात्मनाम् ॥ ४ ॥

अत्यन्त दुःखको प्राप्त हुए हुए उनके पीछे कौन कौनसे मनुष्य गये थे ? अथवा किस रीतिसे उनको भोजन आदि प्राप्त होता था ? अथवा उन महात्माओंका आचरण कैसा था ? वे कहां निवास करते थे ? ॥ ४ ॥

कथं द्वादश वर्षाणि वने तेषां महात्मनाम्।
व्यतीयुर्ब्राह्मणश्रेष्ठ शूराणामरिघातिनाम् ॥ ५ ॥

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! उन शत्रुघाती वीर महात्माओंके बारहवर्ष वनमें कैसे कटे ॥ ५ ॥

कथं च राजपुत्री सा प्रवरा सर्वयोषिताम्।
पतिव्रता महाभागा सततं सत्यवादिनी।
वनवासमदुःखार्हा दारुणं प्रत्यपद्यत ॥ ६ ॥

अथवा सब नारियोंमें श्रेष्ठ, पतिव्रता, राजपुत्री, महाभाग्यवती, सदा सत्य बोलनेवाली द्रौपदी, दुःख भोगनेके लिए अयोग्य होकर भी वनवासके कठोर दुःख भोगनेमें समर्थ कैसे हुई ? ॥ ६ ॥

एतदाचक्ष्व मे सर्वं विस्तरेण तपोधन।
श्रोतुमिच्छामि चरितं भूरिद्रविणतेजसाम्।
कथ्यमानं त्वया विप्र परं कौतूहलं हि मे ॥ ७ ॥

हे तपोधन ब्राह्मण ! यह सब कथा आप मुझे विस्तारपूर्वक कहिये। उन महाधनी और महावीर्यवान् पाण्डवोंके सम्पूर्ण चरित्रको आपसे कहे जाते हुए मैं सुनना चाहता हूँ, क्योंकि मुझे बडा कौतूहल हो रहा है ॥ ७ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं द्यूतजिताः पार्थाः कोपिताश्च दुरात्मभिः।
धार्तराष्ट्रैः सहामात्यैर्निर्ययुर्गजसाह्वयात् ॥ ८ ॥

वैशम्पायन बोले- हे महाराज ! इस प्रकार धृतराष्ट्रके मन्त्रीवर्ग और दुरात्मा पुत्रोंके द्वारा जुएमें जीते जाकर और कुपित होकर पाण्डव हस्तिनापुरसे चले ॥ ८ ॥

वर्धमानपुरद्वारेणाभिनिष्क्रम्य ते तदा ।
उदङ्मुखाः शस्त्रभृतः प्रययुः सह कृष्णया ॥ ९ ॥

वे सब शस्त्र धारण करके द्रौपदीके सहित ऋद्धि सिद्धिसे भरे नगरके द्वारसे निकलकर उत्तर दिशाकी तरफ चलने लगे ॥ ९ ॥

इन्द्रसेनादयश्चैनान्भृत्याः परिचतुर्दश ।
रथैरनुययुः शीघ्रैः स्त्रिय आदाय सर्वशः ॥ १० ॥

इन्द्रसेन आदि चौदहसे अधिक सेवक स्त्रियोंको साथ लेकर रथपर चढकर शीघ्रताके साथ उनके पीछे चले ॥ १० ॥

व्रजतस्तान्विदित्वा तु पौराः शोकाभिपीडिताः ।
गर्हयन्तोऽसकृद्भीष्मविदुरद्रोणगौतमान् ।
ऊचुर्विगतसंत्रासाः समागम्य परस्परम् ॥ ११ ॥

पुरवासी प्रजागण पाण्डवोंके वनगमनको सुनकर शोकसे व्याकुल होकर सब लोग परस्पर मिलकर और भयको त्यागकर, भीष्म, द्रोण, कृप और विदुरकी निन्दा करके कहने लगे ॥ ११ ॥

नेदमस्ति कुलं सर्वं न वयं न च नो गृहाः ।
यत्र दुर्योधनः पापः सौबलेयेन पालितः ।
कर्णदुःशासनाभ्यां च राज्यमेतच्चिकीर्षति ॥ १२ ॥

जहांपर सुबलराजाका पुत्र शकुनि, कर्ण और दुःशासनके कहनेके अनुसार पापात्मा दुर्योधन राज्य करनेकी इच्छा करता है, वहांपर हम समस्त प्रजागण, हमारा कुल, हमारे घर और धन आदि सभी नष्ट हो जायेंगे ॥ १२ ॥

नो चेत्कुलं न चाचारो न धर्मोऽर्थः कुतः सुखम् ।
यत्र पापसहायोऽयं पापो राज्यं बुभूषते ॥ १३ ॥

जहांपर पापियोंकी सहायतासे पापात्मा दुर्योधन राज्य करनेकी इच्छा करता है, वहांपर न कुल रहेगा, न आचार, न धर्म और न अर्थ, फिर सुखप्राप्तिकी संभावना ही कहां ? ॥ १३ ॥

दुर्योधनो गुरुद्वेषी त्यक्ताचारसुहृज्जनः ।
अर्थलुब्धोऽभिमानी च नीचः प्रकृतिनिर्घृणः ॥ १४ ॥

यह दुर्योधन गुरुद्रोही, आचारभ्रष्ट, स्वजनत्यागी, धनका लोभी, अभिमानी, नीचस्वभाववाला तथा दया रहित है ॥ १४ ॥

×

नेयमस्ति मही कृत्स्ना यत्र दुर्योधनो नृपः ।
साधु गच्छामहे सर्वे यत्र गच्छन्ति पाण्डवाः ॥ १५ ॥

सानुक्रोशा महात्मानो विजितेन्द्रियशात्रवः ।
ह्रीमन्तः कीर्तिमन्तश्च धर्माचारपरायणाः ॥ १६ ॥

यह दुर्योधन जहांपर राजा होगा, वहांपर सम्पूर्ण पृथ्वीका नाश हो जायेगा; इसलिये दयालु, महात्मा, जितेन्द्रिय, शत्रुओंको जीतनेवाले, लज्जाशील, कीर्तिमान् , धर्मके आचरण करनेवाले, पाण्डव जहां जाते हैं, वहीं हम भी चलें, यही अच्छा है ॥ १५–१६ ॥

एवमुक्त्वानुजग्मुस्तान्पाण्डवांस्ते समेत्य च ।
ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे तान्कुन्तीमाद्रिनन्दनान् ॥ १७ ॥

प्रजागण इस प्रकारसे कहकर और इकट्ठे होकर पाण्डवोंके पीछे चले । उन्होंने कुन्तीपुत्रों और माद्रीपुत्रोंके पास जाकर हाथ जोडकर कहा ॥ १७ ॥

क्व गमिष्यथ भद्रं वस्त्यक्त्वास्मान्दुःखभागिनः ।
वयमप्यनुयास्यामो यत्र यूयं गमिष्यथ ॥ १८ ॥

आपका कल्याण हो, आप हम दुःखी प्रजागणको त्यागकर कहां जायेंगे? आप जिस स्थानमें जायेंगे हम भी वहीं आपके पीछे चलेंगे ॥ १८ ॥

अधर्मेण जिताञ्श्रुत्वा युष्मांस्त्यक्तघृणैः परैः ।
उद्विग्नाः स्म भृशं सर्वे नास्मान्हातुमिहार्हथ ॥ १९ ॥

दयारहित वैरियोंने अधर्मसे आपके राज्यको जुएमें जीत लिया है, इसको सुनकर हम सब लोगोंका चित्त बहुत व्याकुल हो गया है; अतः आप हमें यहां छोडकर नहीं जा सकते ॥१९॥

भक्तानुरक्ताः सुहृदः सदा प्रियहिते रतान् ।
कुराजाधिष्ठिते राज्ये न विनश्येम सर्वशः ॥ २० ॥

हम लोग आपके भक्त अनुरक्त, मित्र, सदा आपका प्रिय और हित करनेवाले हैं, हम लोग कुराजाके राज्यमें बसकर विनाशको प्राप्त होना नहीं चाहते ॥ २० ॥

श्रूयतां चाभिधास्यामो गुणदोषान्नरर्षभाः ।
शुभाशुभाधिवासेन संसर्गं कुरुते यथा ॥ २१ ॥

हे मनुष्यश्रेष्ठ ! अच्छे और बुरेके साथ रहनेसे अथवा जैसा संसर्ग करनेसे जो गुण और दोष मनुष्यमें उत्पन्न होते हैं उनको हम कहते हैं, आप सुनिये ॥ २१ ॥

वस्त्रमापस्तिलान्भूमिं गन्धो वासयते यथा ।
पुष्पाणामधिवासेन तथा संसर्गजा गुणाः ॥ २२ ॥

जिस प्रकारसे वस्त्र, जल और तिल और भूमि यह सब वस्तुयें जिन फूलोंके संसर्गमें रहती हैं उन्हींकी सुगन्धसे युक्त हो जाती हैं, ऐसे ही मनुष्योंमें भी अच्छेके साथ रहनेसे शुभ गुण उत्पन्न हो जाते हैं ॥ २२ ॥

मोहजालस्य योनिर्हि मूढैरेव समागमः ।
अहन्यहनि धर्मस्य योनिः साधुसमागमः ॥ २३ ॥

क्योंकि प्रतिदिन मूर्ख मनुष्यके साथ रहनेसे मोहराशिकी वृद्धि होती है, ऐसे ही सज्जनका साथ प्रतिदिन धर्मको उत्पन्न करनेवाला होता है ॥ २३ ॥

तस्मात्प्राज्ञैश्च वृद्धैश्च सुस्वभावैस्तपस्विभिः ।
सद्भिश्च सह संसर्गः कार्यः शमपरायणैः ॥ २४ ॥

इसी कारण शान्तिपरायण मनुष्यको बुद्धिमान्, वृद्ध, उत्तम स्वभावाले, तपस्वियों और सज्जनोंके संसर्गमें ही रहना चाहिये ॥ २४ ॥

येषां त्रीण्यवदातानि योनिर्विद्या च कर्म च ।
तान्सेवेत्तैः समास्या हि शास्त्रेभ्योऽपि गरीयसी ॥ २५ ॥

जिन लोगोंकी विद्या, कुल और धर्म ये तीनों निर्मल हैं, उनके पास सदा रहना शास्त्रके पढनेसे भी उत्तम है, अतः उनकी ही सेवा करनी चाहिये ॥ २५ ॥

निरारम्भा ह्यपि वयं पुण्यशीलेषु साधुषु ।
पुण्यमेवाप्नुयामेह पापं पापोपसेवनात् ॥ २६ ॥

हम लोग शास्त्रमें लिखे हुए किसी कर्मका अनुष्ठान किये विना ही साधुलोगोंके साथमें रह-रहकर पुण्यको प्राप्त कर सकेंगे और पापियोंकी सेवा करनेसे हम लोगोंको केवल पाप ही मिलेगा ॥ २६ ॥

असतां दर्शनात्स्पर्शात्संजल्पनसहासनात् ।
धर्माचाराः प्रहीयन्ते न च सिध्यन्ति मानवाः ॥ २७ ॥

मनुष्य धर्मात्मा होकर भी यदि किसी असाधु मनुष्यका दर्शन, स्पर्शन अथवा उसके साथ बातचीत या एक स्थानमें निवास करें, तो उनके धार्मिक आचारों की हानि होती है और ऐसे मनुष्य कभी सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकते ॥ २७ ॥

बुद्धिश्च हीयते पुंसां नीचैः सह समागमात् ।
मध्यमैर्मध्यतां याति श्रेष्ठतां याति चोत्तमैः ॥ २८ ॥

पुरुषोंकी बुद्धि नीचोंके साथ उठने बैठनेसे नीच होजाती है, मध्यम लोगोंके साथ रहनेसे मध्यम और उत्तम के सङ्गसे उत्तम हो जाती है ॥ २८ ॥

ये गुणाः कीर्तिता लोके धर्मकामार्थसंभवाः ।
लोकाचारात्मसंभूता वेदोक्ताः शिष्टसंमताः ॥ २९ ॥

जो सब उत्तम गुण वेदमें कहे हैं, लोकाचारमें प्रचलित हैं, जो सज्जनोंके द्वारा माने जाते हैं, जो धर्म, काम और अर्थको देनेवाले हैं और लोकमें प्रसिद्ध हैं ॥ २९ ॥

ते युष्मासु समस्ताश्च व्यस्ताश्चैवेह सद्गुणाः ।
इच्छामो गुणवन्मध्ये वस्तुं श्रेयोभिकाङ्क्षिणः ॥ ३० ॥

वह सगुण भी एक साथ और पृथक् पृथक् रूपसे आप लोगोंमें हैं, इस कारण हम लोग अपने अपने कल्याणकी इच्छा करते हुए ऐसे शुभ गुणोंसे युक्त लोगोंके पास रहनेकी इच्छा करते हैं ॥ ३० ॥

युधिष्ठिर उवाच

धन्या वयं यदस्माकं स्नेहकारुण्ययन्त्रिताः ।
असतोऽपि गुणानाहुर्ब्राह्मणप्रमुखाः प्रजाः ॥ ३१ ॥

युधिष्ठिर बोले— ब्राह्मणादि प्रजागणो ! जिस कारण आप हमारी ओर स्नेह और दयायुक्त होकर हमलोगोंमें कोई गुण न होने परभी हमें गुणवान् बताते हैं, इस कारण हम धन्य हैं ॥ ३१ ॥

तदहं भ्रातृसहितः सर्वान्विज्ञापयामि वः ।
नान्यथा तद्धि कर्तव्यमस्मत्स्नेहानुकम्पया ॥ ३२ ॥

मैं अपने भाईयोंके सहित जो कुछ आपसे कहता हूं, उसे आप हम पर स्नेह और दया करके मिथ्या न करें ॥ ३२ ॥

भीष्मः पितामहो राजा विदुरो जननी च मे ।
सुहृज्जनश्च प्रायो मे नगरे नागसाह्वये ॥ ३३ ॥

हमलोगोंके पितामह भीष्म, राजा धृतराष्ट्र, विदुर, हमारी माता और मित्र हस्तिनापुर नगरमें ही रह रहे हैं ॥ ३३ ॥

ते त्वस्मद्धितकामार्थं पालनीयाः प्रयत्नतः ।
युष्माभिः सहितैः सर्वैः शोकसंतापविह्वलाः ॥ ३४ ॥

आपलोग हमारे हित करनेकी इच्छासे उन सबका बडे यत्नसे पालन कीजिए, वे भी सभी आपलोगोंके साथ शोकसे विव्हल हो रहे हैं ॥ ३४ ॥

निवर्ततागता दूरं समागमनशापिताः ।
स्वजने न्यासभूते मे कार्या स्नेहान्विता मतिः ॥ ३५ ॥

आपलोग हमारे वनको जानेके कारण बहुत सन्तापयुक्त होकर बहुत दूर चले आये हैं, इस लिये हमारे वाक्यसे आपलोग वापस घर जाकर हम लोगोंके आत्मीयजनोंको धरोहर समझकर उन लोगों पर प्रीति रखियेगा ॥ ३५ ॥

एतद्धि मम कार्याणां परमं हृदि संस्थितम् ।
सुकृतानेन मे तुष्टिः सत्कारश्च भविष्यति ॥ ३६ ॥

यही मेरे हृदयमें परम कार्य है । आपके द्वारा इस कार्यके पूर्ण होने पर ही मुझे सन्तोष तथा मेरा सत्कार होगा ॥ ३६ ॥

वैशम्पायन उवाच

तथानुमन्त्रितास्तेन धर्मराजेन ताः प्रजाः ।
चक्रुरार्तस्वरं घोरं हा राजन्निति दुःखिताः ॥ ३७ ॥

वैशम्पायन बोले– वह प्रजा धर्मराजके द्वारा इस प्रकार समझायी जाकर, हा महाराज ! हा महाराज ! कहकर भयानक आर्तस्वरसे विलाप करने लगी ॥ ३७ ॥

गुणान्पार्थस्य संस्मृत्य दुःखार्ताः परमातुराः ।
अकामाः संन्यवर्तन्त समागम्याथ पाण्डवान् ॥ ३८ ॥

कुन्तीपुत्रोंके गुणोंको स्मरण करते हुए, महादुःखी और बहुत व्याकुल होकर पाण्डवोंका साथ छोडनेकी इच्छा न रहने परभी प्रजागण विवश होकर लौटे ॥ ३८ ॥

निवृत्तेषु तु पौरेषु रथानास्थाय पाण्डवाः ।
प्रजग्मुर्जाह्नवीतीरे प्रमाणाख्यं महावटम् ॥ ३९ ॥

पुरवासियोंके लौट जाने पर पाण्डव जुदे जुदे रथोंपर चढकर गङ्गातट पर प्रमाण कोटि नामक वडे भारी वटवृक्षके पास पहुंचे ॥ ३९ ॥

तं ते दिवसशेषेण वटं गत्वा तु पाण्डवाः ।
ऊषुस्तां रजनीं वीराः संस्पृश्य सलिलं शुचि ।
उदकेनैव तां रात्रिमूषुस्ते दुःखकर्शिताः ॥ ४० ॥

महावटके पास सन्ध्याके समय पहुंचकर उन वीर पाण्डवोंने गङ्गाके शुद्ध जलको स्पर्श करके उस रात्रिको वहीं निवास किया और अत्यन्त दुःखी उन्होंने रात्रिको गङ्गाजलके सिवाय और कुछ भोजन नहीं किया ॥ ४० ॥

अनुजग्मुश्च तत्रैतान्स्नेहात्केचिद् द्विजातयः।
साग्नयोऽनग्नयश्चैव सशिष्यगणबान्धवाः।
स तैः परिवृतो राजा शुशुभे ब्रह्मवादिभिः ॥ ४१ ॥

पाण्डवोंके स्नेहसे कितने ही अग्निहोत्र करनेवाले और कितनेही विना अग्निहोत्रवाले ब्राह्मण अपने शिष्य और बन्धुबान्धवों सहित उनके साथ चले आये थे। महाराज युधिष्ठिर उन ब्रह्मवादी ब्राह्मणोंके मध्यमें अत्यन्त शोभायमान हुए ॥ ४१ ॥

तेषां प्रादुष्कृताग्नीनां मुहूर्ते रम्यदारुणे।
ब्रह्मघोषपुरस्कारः संजल्पः समजायत ॥ ४२ ॥

वह रमणीय तथा भयानक संध्याकाल ब्राह्मणोंकी प्रभावी होमकी अग्नि, वेदपाठ और आपसकी बोलचालसे युक्त हो गया ॥ ४२ ॥

राजानं तु कुरुश्रेष्ठं ते हंसमधुरस्वराः।
आश्वासयन्तो विप्राग्र्याः क्षपां सर्वां व्यनोदयन् ॥ ४३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥ ४३ ॥

उन ब्राह्मणश्रेष्ठोंने हंसोंके समान मीठे स्वरसे कुरुकुलमें श्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरको धैर्य देकर उनका चित्त बहलाते हुए वह सब रात विता दी ॥ ४३ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें पहिला अध्याय समाप्त ॥ १ ॥ ४३ ॥

: २ :

वैशम्पायन उवाच

प्रभातायां तु शर्वर्यां तेषामक्लिष्टकर्मणाम्।
वनं यियासतां विप्रास्तस्थुर्भिक्षाभुजोऽग्रतः।
तानुवाच ततो राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— उन सरल कर्म करनेवालोंकी रातके बीतनेपर सवेरा होतेही भिक्षाके अन्नको खानेवाले ब्राह्मणलोग वनमें जानेके लिए तैयार हुए और वे पाण्डवोंके आगे जाकर खडे हो गए, तब कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने उनसे कहा ॥ १ ॥

वयं हि हृतसर्वस्वा हृतराज्या हृतश्रियः।
फलमूलामिषाहारा वनं यास्याम दुःखिताः ॥ २ ॥

इस समय हमारा सर्वस्व हर लिया गया है, हमारा राज्य छिन गया है हम श्रीरहित हैं, और हम फल मूल तथा अन्नका भोजन करते हुए दुःखी होकर वनको जायेंगे ॥ २ ॥

वनं च दोषबहुलं बहुव्यालसरीसृपम् ।
परिक्लेशश्च वो मन्ये ध्रुवं तत्र भविष्यति ॥ ३ ॥

वन अनेक दोषोंसे भरे तथा अनेकों सर्प आदियोंसे युक्त होते हैं, अतः निश्चयसे आपलोगोंको वहां अनेक दुःख होंगे, ऐसा मैं मानता हूँ ॥ ३ ॥

ब्राह्मणानां परिक्लेशो दैवतान्यपि सादयेत् ।
किं पुनर्मामितो विप्रा निवर्तध्वं यथेष्टतः ॥ ४ ॥

जिसके आश्रयमें रहकर ब्राह्मण लोग दुःख पाते हैं, चाहे वह देवता भी क्यों न हो, तो भी उसका नाश हो जाता है । फिर हम तो मनुष्य ही हैं, इस कारण आपलोग यहांसे लौटकर जहां इच्छा हो वहां चले जाइये ॥ ४ ॥

ब्राह्मणा ऊचुः

गतिर्या भवतां राजंस्तां वयं गन्तुमुद्यताः ।
नार्हथास्मान्परित्यक्तुं भक्तान्सद्धर्मदर्शिनः ॥ ५ ॥

ब्राह्मण बोले– हे महाराज ! आपलोगोंकी जो गति होगी उसी गतिको प्राप्त करनेके लिए हम भी तैयार हैं । हमलोग सद्धर्मको जाननेवाले और आपके भक्त हैं, हमें छोडना आपको योग्य नहीं है ॥ ५ ॥

अनुकम्पां हि भक्तेषु दैवतान्यपि कुर्वते ।
विशेषतो ब्राह्मणेषु सदाचारावलम्बिषु ॥ ६ ॥

देवता भी अपने भक्तोंपर दया करते हैं, विशेषतः सदाचारयुक्त ब्राह्मणों पर तो दया करते ही हैं ॥ ६ ॥

युधिष्ठिर उवाच

ममापि परमा भक्तिर्ब्राह्मणेषु सदा द्विजाः ।
सहायविपरिभ्रंशस्त्वयं सादयतीव माम् ॥ ७ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे ब्राह्मणो ! ब्राह्मणोंपर हमारी भी सदा परम भक्ति है, पर इस समय हमारा सहायहीन होना ही हमें दुःखी कर रहा है ॥ ७ ॥

आहरेयुर्हि मे येऽपि फलमूलमृगांस्तथा ।
त इमे शोकजैर्दुःखैर्भ्रातरो मे विमोहिताः ॥ ८ ॥

यह मेरे जो भाई फल मूल और मृगोंका मांस ला सकते थे वेही ये मेरे भाई शोकसे उत्पन्न दुःखसे मोहित हो रहे हैं ॥ ८ ॥

द्रौपद्या विप्रकर्षेण राज्यापहरणेन च ।
दुःखान्वितानिमान्क्लेशैर्नाहं योक्तुमिहोत्सहे ॥ ९ ॥

औरोंसे अपने राज्यके छिने जाने तथा द्रौपदीके अपमानसे वह लोग बहुत दुःखी हो रहे हैं, इस कारण इस स्थितिमें उन लोगोंको फलमूल आदिको लानेके काममें नियुक्त करनेमें मुझे साहस नहीं होता है ॥ ९ ॥

ब्राह्मणा ऊचुः

अस्मत्पोषणजा चिन्ता मा भूत्ते हृदि पार्थिव ।
स्वयमाहृत्य वन्यानि अनुयास्यामहे वयम् ॥ १० ॥

ब्राह्मण बोले– महाराज ! आपके हृदयमें हमारे पालनेकी चिन्ता उत्पन्न न हो, हम ही लोग अपने लिए वनके भोजनकी व्यवस्था करके आपके साथ चलेंगे ॥ १० ॥

अनुध्यानेन जप्येन विधास्यामः शिवं तव ।
कथाभिश्चानुकूलाभिः सह रंस्यामहे वने ॥ ११ ॥

ईश्वरके ध्यान और जपसे कल्याण करनेमें तत्पर रहेंगे तथा मनोहर कथायें कहकर आपके साथ वनमें आनन्दसे रहेंगे ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर उवाच

एवमेतन्न संदेहो रमेयं ब्राह्मणैः सह ।
न्यूनभावात्तु पश्यामि प्रत्यादेशमिवात्मनः ॥ १२ ॥

युधिष्ठिर बोले– ऐसा होनेसे मैं ब्राह्मणोंके साथ सदा आनन्दसे रह सकूंगा, इसमें कुछ सन्देह नहीं, पर इस समय ऐश्वर्यसे हीन होनेके कारण आपको इस प्रकार कष्ट देनेमें मैं अपनी अपकीर्ति ही समझता हूँ ॥ १२ ॥

कथं द्रक्ष्यामि वः सर्वान्स्वयमाहृतभोजनान् ।
मद्भक्त्या क्लिश्यतोऽनर्हान्धिक्पापान्धृतराष्ट्रजान् ॥ १३ ॥

आप दुःख सहकर स्वयंही भोजनके पदार्थ लाकर आहार करें; यह मैं कैसे देख सकूंगा, आप दुःख भोगनेके अयोग्य होकर भी मेरी भक्तिके कारण दुःख भोगना चाहते हैं । उन पापी धृतराष्ट्र-पुत्रोंको धिक्कार है ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा स नृपः शोचन्निषसाद महीतले ।
तमध्यात्मरतिर्विद्वाञ्शौनको नाम वै द्विजः ।
योगे सांख्ये च कुशलो राजानमिदमब्रवीत् ॥ १४ ॥

वैशम्पायन बोले– इस प्रकारसे कहकर महाराज युधिष्ठिर शोकसे व्याकुल होकर धरती पर बैठ गये, तब अध्यात्मतत्त्वको जाननेवाले तथा सांख्ययोगमें निपुण शौनक नामक एक विद्वान् ब्राह्मण राजासे कहने लगे ॥ १४ ॥

शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च ।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥ १५ ॥

हे महाराज! सहस्रों शोकके स्थान और सैकडों भयके स्थान प्रतिदिन मूर्खहीको ही प्रभावित करते हैं, पंडितको नहीं ॥ १५ ॥

न हि ज्ञानविरुद्धेषु बहुदोषेषु कर्मसु ।
श्रेयोघातिषु सज्जन्ते बुद्धिमन्तो भवद्विधाः ॥ १६ ॥

जो कर्म ज्ञानके विरोधी, कल्याणमें विघ्न करनेवाले और बहुत दोषोंसे युक्त हैं, ऐसे कर्मोंमें आपके समान बुद्धिमान् नहीं फंसते ॥ १६ ॥

अष्टाङ्गां बुद्धिमाहुर्यां सर्वाश्रेयोविघातिनीम् ।
श्रुतिस्मृतिसमायुक्तां सा राजंस्त्वय्यवस्थिता ॥ १७ ॥

हे महाराज! पण्डित जिस बुद्धिका सब दुःखोंकी नाश करनेवाली, श्रुति और स्मृतिसे युक्त, आठ यम, नियम आदि योगके अंगोंवाली कहकर वर्णन करते हैं। वही बुद्धि आपमें विराजमान है ॥ १७ ॥

अर्थकृच्छ्रेषु दुर्गेषु व्यापत्सु स्वजनस्य च ।
शारीरमानसैर्दुःखैर्न सीदन्ति भवद्विधाः ॥ १८ ॥

अतः आप जैसे पुरुष धनके कष्टसे वा दुःखसे चलने योग्य मार्ग, वा अपने सम्बन्धियोंके आपत् कालमें, अथवा मन सम्बन्धी वा शरीरसम्बन्धी दुःखमें दुःखी नहीं होते ॥ १८ ॥

श्रूयतां चाभिधास्यामि जनकेन यथा पुरा ।
आत्मव्यवस्थानकरा गीताः श्लोका महात्मना ॥ १९ ॥

पूर्वकालमें महात्मा जनकने चित्तको स्थिर करनेवाले सिद्धान्त कहे हैं, उन्हें मैं कहता हूं सुनिये ॥ १९ ॥

मनोदेहसमुत्थाभ्यां दुःखाभ्यामर्दितं जगत् ।
तयोर्व्याससमासाभ्यां शमोपायमिमं शृणु ॥ २० ॥

यह जगत् मन और देह इन दोनोंके कारण उत्पन्न हुए दुःखसे पीडित होता रहता है। इसी मानासिक और देहसम्बन्धी दुःखोंकी शान्तिका उपाय संक्षेप और विस्तारसे मैं कहता हूं, सुनिए ॥ २० ॥

व्याधेरनिष्टसंस्पर्शाच्छ्रमादिष्टविवर्जनात् ।
दुःखं चतुर्भिः शारीरं कारणैः संप्रवर्तते ॥ २१ ॥

व्याधि, अनिष्ट प्राप्ति, श्रम और प्रिय वस्तुकी अप्राप्ति, इन चार कारणोंसे शारीरिक दुःख उत्पन्न होता है ॥ २१ ॥

×

तदाशुप्रतिकाराच्च सततं चाविचिन्तनात्।
आधिव्याधिप्रशमनं क्रियायोगद्वयेन तु ॥ २२ ॥

इन चारों कारणोंका शीघ्र ही प्रतिकार करना तथा इन कारणोंका चिन्तन न करनेसे इन दो तरहके क्रियायोगोंसे आधि (मानसिक चिन्ता) और व्याधि (शारीरिक दुःख) शान्त हो जाती है ॥ २२ ॥

मतिमन्तो ह्यतो वैद्याः शमं प्रागेव कुर्वते।
मानसस्य प्रियाख्यानैः संभोगोपनयैर्नृणाम् ॥ २३ ॥

इसीकारण बुद्धिमान् वैद्य पहिलेही प्रिय वचन बोलकर तथा सुखभोग प्राप्त कराकर रोगी मनुष्यके मनोगत दुःखको शान्त करते हैं ॥ २३ ॥

मानसेन हि दुःखेन शरीरमुपतप्यते।
अयःपिण्डेन तप्तेन कुम्भसंस्थमिवोदकम् ॥ २४ ॥

जैसे तपे हुए लोहेके टुकडेसे घडेमें भरा हुआ जल तप जाता है, ऐसे ही मनके दुःखसे शरीर भी तप जाता है ॥ २४ ॥

मानसं शमयेत्तस्माज्ज्ञानेनाग्निमिवाम्बुना।
प्रशान्ते मानसे दुःखे शारीरमुपशाम्यति ॥ २५ ॥

इस कारण जलसे अग्निको बुझानेके समान ज्ञानसे मनके दुःखको बुझा दे। मनका सन्ताप दूर होनेसे शरीर भी शान्त हो जाता है ॥ २५ ॥

मनसो दुःखमूलं तु स्नेह इत्युपलभ्यते।
स्नेहात्तु सज्जते जन्तुर्दुःखयोगमुपैति च ॥ २६ ॥

ऐसा प्रतीत होता है, कि मनके दुःखका मूल स्नेह है स्नेहके कारण ही मनुष्य किसीमें आसक्त होता है और उसके न मिलनेपर दुःख भोगता है ॥ २६ ॥

स्नेहमूलानि दुःखानि स्नेहजानि भयानि च।
शोकहर्षौ तथायासः सर्वं स्नेहात्प्रवर्तते ॥ २७ ॥

सब दुःखोंकी जड स्नेह या आसक्तिही है, सभी भय स्नेहके कारण ही उत्पन्न होते हैं। शोक, हर्ष और श्रम आदि सब स्नेहसे ही उत्पन्न होते हैं ॥ २७ ॥

स्नेहात्कारणरागश्च प्रजज्ञे वैषयस्तथा।
अश्रेयस्कावुभावेतौ पूर्वस्तत्र गुरुः स्मृतः ॥ २८ ॥

प्रीति होनेसे ही विषयोंकी चिन्ता और विषयोंमें प्रीति यह दो विकार मनमें उत्पन्न होते हैं, यह दोनों विकार कल्याणका नाश करते हैं, पर उनमें भी पहिली विषय-चिन्ता बहुत खतरनाक है ॥ २८ ॥

कोटराग्निर्यथाशेषं समूलं पादपं दहेत् ।
धर्मार्थिनं तथाल्पोऽपि रागदोषो विनाशयेत् ॥ २९ ॥

जैसे वृक्षके खोखलेके भीतर रहनेवाली अग्नि वृक्षका जडके सहित नाश कर देती है, ऐसे ही थोडा सा ही राग दोष भी धर्म चाहनेवाले मनुष्यका नाश कर देता है ॥ २९ ॥

विप्रयोगे न तु त्यागी दोषदर्शी समागमात् ।
विरागं भजते जन्तुर्निर्वैरो निष्परिग्रहः ॥ ३० ॥

विषयोंके प्राप्त न होनेके कारण जो उनका त्याग करता है, वह त्यागी नहीं होता, त्यागी तो वह होता है कि जो विषयके प्राप्त होनेपर उनमें दोष देखकर उन्हें त्याग देता है । वह त्यागीही वैराग्यका पात्र है, वही जन्तुओंसे शत्रुता रहित होकर परिग्रह रहित होता है ॥३०॥

तस्मात्स्नेहं स्वपक्षेभ्यो मित्रेभ्यो धनसंचयात् ।
स्वशरीरसमुत्थं तु ज्ञानेन विनिवर्तयेत् ॥ ३१ ॥

इसलिए मनुष्य अपने पक्षवालों, अपने मित्रों, अपने धनैश्वर्य तथा अपने शरीरमें उत्पन्न हुई आसक्तिको ज्ञानके द्वारा नष्ट कर दे ॥ ३१ ॥

ज्ञानान्वितेषु मुख्येषु शास्त्रज्ञेषु कृतात्मसु ।
न तेषु सज्जते स्नेहः पद्मपत्रेष्विवोदकम् ॥ ३२ ॥

जैसे कमलके पत्तेपर जल नहीं लगता है, वैसेही उन नित्य वस्तुको पानेमें उद्योग करनेवाले, शास्त्रज्ञ, शुद्धचित्त और प्रसिद्ध विवेकी मनुष्योंके अन्तःकरणमें स्नेह नहीं लग सकता है ॥३२॥

रागाभिभूतः पुरुषः कामेन परिकृष्यते ।
इच्छा संजायते तस्य ततस्तृष्णा प्रवर्तते ॥ ३३ ॥

जो मनुष्य विषय-प्रीतिमें फंसता है, उसी मनुष्यके अन्तःकरणमें विषयकी अभिलाषा उत्पन्न होकर उसे दुःख होता है; अनन्तर उसके चित्तमें विषय भोगकी इच्छा उत्पन्न होती है, उसके बाद विषयमें तृष्णा बढती है ॥ ३३ ॥

तृष्णा हि सर्वपापिष्ठा नित्योद्वेगकरी नृणाम् ।
अधर्मबहुला चैव घोरा पापानुबन्धिनी ॥ ३४ ॥

महापापिनी विषयतृष्णाही प्रतिदिन मनुष्योंको पीडा देती है और पाप कर्ममें लगाती है; इसमें अधर्म बहुत होते हैं अतः यह बहुत भयंकर होती है ॥ ३४ ॥

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः ।
योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम् ॥ ३५ ॥

इस विषयतृष्णाको दुर्बुद्धिवाले मनुष्य नहीं छोड सकते; मनुष्यका शरीर वृद्ध हो जाता है, पर तृष्णा वृद्ध नहीं होती, इसलिए जो प्राणनाशक रोग तृष्णा है उस विषयतृष्णाको जो त्याग कर सकता है वही सुखी होता है ॥ ३५ ॥

अनाद्यन्ता तु सा तृष्णा अन्तर्देहगता नृणाम्।
विनाशयति संभूता अयोनिज इवानलः ॥ ३६ ॥

इस विषयतृष्णाका आदि और अन्त नहीं है, यह प्राणियोंके अन्तःकरणमें बैठकर अयोनिज अर्थात् लोहेके पिण्डकी अग्निके समान उन्हें जलाती है ॥ ३६ ॥

यथैधः स्वसमुत्थेन वह्निना नाशमृच्छति।
तथाकृतात्मा लोभेन सहजेन विनश्यति ॥ ३७ ॥

जिस प्रकारसे काष्ठ अपने ही अङ्गसे उत्पन्न अग्निसे विनष्ट हो जाता है, वैसे ही अपनी आत्माकी बुराई चाहनेवाला मनुष्य अपने ही अंगसे उत्पन्न हुए लोभसे नष्ट हो जाता है ॥ ३७ ॥

राजतः सलिलादग्नेश्चोरतः स्वजनादपि।
भयमर्थवतां नित्यं मृत्योः प्राणभृतामिव ॥ ३८ ॥

जिस प्रकार मृत्युसे सब प्राणियोंको भय होता है, वैसे ही राजासे, जलसे आगसे, चोरसे और अपने कुटुंबियोंसे धनवान् मनुष्यको डर होता है ॥ ३८ ॥

यथा ह्यामिषमाकाशे पक्षिभिः श्वापदैर्भुवि।
भक्ष्यते सलिले मत्स्यैस्तथा सर्वेण वित्तवान् ॥ ३९ ॥

जिस प्रकारसे मांसको यदि आकाशमें हो तो पक्षीगण; पृथ्वीमें हो तो मांस खानेवाले जन्तु, और जलमें हो तो मछलियां खा जाती हैं; वैसे ही धनाढय लोग जहां रहते हैं, वहीं लोग उसे खा जाना चाहते हैं ॥ ३९ ॥

अर्थ एव हि केषांचिदनर्थो भविता नृणाम्।
अर्थश्रेयसि चासक्तो न श्रेयो विन्दते नरः।
तस्मादर्थागमाः सर्वे मनोमोहविवर्धनाः ॥ ४० ॥

धनही अनेक मनुष्योंके लिए अनर्थकी जड होता है; इस कारण जो मनुष्य धनको कल्याणकारी समझकर उसमें लिप्त होता है, वह सच्चे सुखको नहीं पा सकता। इसलिए धनकी प्राप्ति मनमें मोहको उत्पन्न करती है ॥ ४० ॥

कार्पण्यं दर्पमानौ च भयमुद्वेग एव च।
अर्थजानि विदुः प्राज्ञा दुःखान्येतानि देहिनाम् ॥ ४१ ॥

बुद्धिमान् मनुष्य जानते हैं, कि कृपणता अभिमान, डर, और उद्वेग इन सबकी जड केवल धन ही है और ये सभी मनुष्योंके लिए दुःखकारक है ॥ ४१ ॥

अर्थस्योपार्जने दुःखं पालने च क्षये तथा।
नाशे दुःखं व्यये दुःखं घ्नन्ति चैवार्थकारणात् ॥ ४२ ॥

धनको कमानेमें दुःख सहना पडता है वैसा ही दुःख धनकी रखवाली और देखभाल तथा धनके नाशमें सहना पडता है। धनके नाशमें दुःख है, व्ययमें दुःख है, उसी धनके कारण लोग एक दूसरेको मार देते हैं ॥ ४२ ॥

अर्था दुःखं परित्यक्तुं पालिताश्चापि तेऽसुखाः।
दुःखेन चाधिगम्यन्ते तेषां नाशं न चिन्तयेत् ॥ ४३ ॥

धनको त्यागना भी दुःखदायक है और उसकी रक्षा करना भी दुःखदायक है। धनकी प्राप्तिमें भी दुःख है। इसलिये धनके नाश हो जानेपर उसके लिए शोक करना उचित नहीं है ॥४३॥

असन्तोषपरा मूढाः सन्तोषं यान्ति पण्डिताः।
अन्तो नास्ति पिपासायाः संतोषः परमं सुखम्।
तस्मात्संतोषमेवेह धनं पश्यन्ति पण्डिताः ॥ ४४ ॥

जो लोग मूर्ख होते हैं, वह असन्तोषसे समयको बिताते हैं, और पंडित लोग सदा सन्तोषसे रहते हैं; विषयतृष्णाका अन्त नहीं है, अतः सन्तोष ही परम सुख है, इसलिए पंडित इस संसारमें सन्तोषको ही परम धन मानते हैं ॥ ४४ ॥

अनित्यं यौवनं रूपं जीवितं द्रव्यसंचयः।
ऐश्वर्यं प्रियसंवासो गृध्येदेषु न पण्डितः ॥ ४५ ॥

पण्डित लोग यौवन, रूप, जीवन, धनका इकट्ठा करना, प्रभुता और प्रिय मनुष्यके पास रहना, इन सब वस्तुओंको अनित्य जानकर उनमें आसक्त नहीं होते ॥ ४५ ॥

त्यजेत संचयांस्तस्मात्तज्जं क्लेशं सहेत कः।
न हि संचयवान्कश्चिद् दृश्यते निरुपद्रवः ॥ ४६ ॥

इसलिए धनके संचयको मनुष्य छोड दे, क्योंकि धनसे होनेवाले दुःखको कौन सह सकता है। धनको इकट्ठा करनेवाला कोई भी मनुष्य उपद्रव या दुःखसे रहित नहीं देखा जाता ॥ ४६ ॥

अतश्च धर्मिभिः पुम्भिरनीहार्थः प्रशस्यते।
प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम् ॥ ४७ ॥

इसी कारण धर्मात्मा मनुष्य उसीकी प्रशंसा करते हैं, जिसकी धनमें प्रीति नहीं रहती, क्योंकि अंगमें लगे हुए कीचडको धोनेकी अपेक्षा कीचडको न छूना ही उत्तम है ॥ ४७ ॥

युधिष्ठिरैवमर्थेषु न स्पृहां कर्तुमर्हसि ।
धर्मेण यदि ते कार्यं विमुक्तेच्छो भवार्थतः ॥ ४८ ॥

हे युधिष्ठिर ! अतः तुम धनोंमें स्पृहा मत करो, जो तुम्हारी धर्ममें प्रीति हो तो धनमें इच्छा रहित बनो ॥ ४८ ॥

युधिष्ठिर उवाच

नार्थोपभोगलिप्सार्थमियमर्थेप्सुता मम ।
भरणार्थं तु विप्राणां ब्रह्मन्काङ्क्षे न लोभतः ॥ ४९ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे ब्राह्मण ! मैं ब्राह्मणोंको पालनके लिए ही धनकी इच्छा करता हूं, लोभसे वा अपने भोगविलासके लिए मेरी यह धनकी कामना नहीं है ॥ ४९ ॥

कथं ह्यस्मद्विधो ब्रह्मन्वर्तमानो गृहाश्रमे ।
भरणं पालनं चापि न कुर्यादनुयायिनाम् ॥ ५० ॥

हे ब्रह्मन् ! हमारे ऐसे पुरुष गृहस्थाश्रममें रहकर अपने आश्रयमें रहनेवालोंका विना पालन किये कैसे निश्चिन्त रह सकते हैं ? ॥ ५० ॥

संविभागो हि भूतानां सर्वेषामेव शिष्यते ।
तथैवापचमानेभ्यः प्रदेयं गृहमेधिना ॥ ५१ ॥

जैसे मनुष्यको अपने कुटुम्बीजनोंमें भोजन बांट देना चाहिए, वैसे ही गृहस्थको संन्यासी और ब्रह्मचारी आदि पाकक्रियारहित मनुष्योंको भी भोजन देना आवश्यक है ॥ ५१ ॥

तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता ।
सतामेतानि गेहेषु नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥ ५२ ॥

भले मनुष्यके घरमें आसनके लिए तृण, रहनेके लिए स्थान, पैर धोनेके लिए जल और सन्तोष देनेके लिए मीठेवचन इनका कभी भी अभाव नहीं होता ॥ ५२ ॥

देयमार्तस्य शयनं स्थितश्रान्तस्य चासनम् ।
तृषितस्य च पानीयं क्षुधितस्य च भोजनम् ॥ ५३ ॥

गृहस्थ मनुष्य रोगीको शय्या, थकेमांदेको आसन, प्यासेको जल, और भूखेको भोजन दे ॥ ५३ ॥

चक्षुर्दद्यान्मनो दद्याद्वाचं दद्याच्च सूनृताम् ।
प्रत्युद्गम्याभिगमनं कुर्यान्न्यायेन चार्चनम् ॥ ५४ ॥

जो घरपर कोई अतिथि आवे तो उस पर स्नेहदृष्टि रखे, बडी श्रद्धासे मनही मनमें प्रसन्न होवे, मीठे वचनसे उसे सन्तुष्ट करे, उठकर उसके सन्मुख जाए और यथायोग्य उसकी पूजा करे ॥ ५४ ॥

अग्निहोत्रमनड्वांश्च ज्ञातयोऽतिथिबान्धवाः ।
पुत्रदारभृताश्चैव निर्दहेयुरपूजिताः ॥ ५५ ॥

अग्निहोत्र, गौ, ज्ञाति अतिथि, बन्धु, पुत्र, स्त्री और सेवक अपूजित होकर मनुष्यको भस्म कर देते हैं ॥ ५५ ॥

नात्मार्थं पाचयेदन्नं न वृथा घातयेत्पशून् ।
न च तत्स्वयमश्नीयाद्विधिवद्यन्न निर्वपेत् ॥ ५६ ॥

गृहस्थ मनुष्य केवल अपने लिए भोजन न पकाये और बेकार पशुओंको भी न मारे, तथा जो अन्न पितर, देवता और आतिथिको न दिया गया हो उसे स्वयं भी न खाये ॥ ५६ ॥

श्वभ्यश्च श्वपचेभ्यश्च वयोभ्यश्चावपेद्भुवि ।
वैश्वदेवं हि नामैतत्सायंप्रातर्विधीयते ॥ ५७ ॥

सायंकाल और प्रातःकाल कुत्ते, चाण्डाल और पक्षियोंके लिए पृथ्वी पर अन्न रखकर वैश्वदेव नामक बलि प्रदान करे ॥ ५७ ॥

विघसाशी भवेत्तस्मान्नित्यं चामृतभोजनः ।
विघसं भृत्यशेषं तु यज्ञशेषं तथामृतम् ॥ ५८ ॥

इसलिए मनुष्य सदा विघस और अमृतको खानेवाला बने । नौकरों आदियोंके द्वारा खानेके बाद बचे हुए अन्नको विघस और यज्ञमें डालनेके बाद बचे हुए अन्नको अमृत कहते हैं ॥ ५८ ॥

एतां यो वर्तते वृत्तिं वर्तमानो गृहाश्रमे ।
तस्य धर्मं परं प्राहुः कथं वा विप्र मन्यसे ॥ ५९ ॥

जो मनुष्य गृहस्थाश्रममें रहकर इस प्रकारसे आचारका पालन करता है, उसका धर्म श्रेष्ठ होता है; हे द्विजवर ! इस विषयमें आपका क्या मन्तव्य है ॥ ५९ ॥

शौनक उवाच

अहो बत महत्कष्टं विपरीतमिदं जगत् ।
येनापत्रपते साधुरसाधुस्तेन तुष्यति ॥ ६० ॥

शौनक बोले– हा महाकष्ट है कि इस संसारका स्वभावही उलटा है, सज्जन मनुष्य जिस कार्यसे लज्जित होता है, दुष्ट मनुष्य उसीसे प्रसन्न होता है ॥ ६० ॥

शिश्नोदरकृतेऽप्राज्ञः करोति विघसं बहु ।
मोहरागसमाक्रान्त इन्द्रियार्थवशानुगः ॥ ६१ ॥

बुद्धिहीन मनुष्य मोह, और प्रीतिके वशमें होकर तथा इन्द्रियोंके विषयमें फंसकर लिङ्ग और पेटके लिए अनेक लोगोंको अन्न और जलादि दिया करता है ॥ ६१ ॥

ह्रियते बुध्यमानोऽपि नरो हारिभिरिन्द्रियैः ।
विमूढसंज्ञो दुष्टाश्वैरुद्भ्रान्तैरिव सारथिः ॥ ६२ ॥

जैसे दुष्ट और बिगडे हुए घोडोंके द्वारा सारथी राहमें गिरा दिया जाता है, वैसे ही हरनेवाली इन्द्रियोंके द्वारा खिंचकर परमार्थज्ञानसे विहीन होकर ज्ञानी मनुष्य भी नष्ट हो जाता है ॥ ६२ ॥

षडिन्द्रियाणि विषयं समागच्छन्ति वै यदा ।
तदा प्रादुर्भवत्येषां पूर्वसंकल्पजं मनः ॥ ६३ ॥

छै इन्द्रियां जब अपने विषयकी ओर जाती हैं, उस समय मनुष्यका अन्तःकरण पूर्व संकल्पके अनुसार उसी विषयभोगकी कामना करता है ॥ ६३ ॥

मनो यस्येन्द्रियग्रामविषयं प्रति चोदितम् ।
तस्यौत्सुक्यं संभवति प्रवृत्तिश्चोपजायते ॥ ६४ ॥

इस प्रकार जिस मनुष्यकी इन्द्रियें और अन्तःकरण विषय भोगकी ओर दौडते हैं, उस मनुष्यकी उस विषयके भोगनेके प्रति औत्सुक्य और प्रवृत्ति उत्पन्न होती है ॥ ६४ ॥

ततः संकल्पवीर्येण कामेन विषयेषुभिः ।
विद्धः पतति लोभाग्नौ ज्योतिर्लोभात्पतङ्गवत् ॥ ६५ ॥

उस समय, जैसे पतङ्गा अग्निके रूपसे मोहित होकर उसमें गिरता है, उसी प्रकारसे विषय भोगके सङ्कल्परूपी शक्तिसे शक्तिशाली कामनाके बाणसे बिंधकर लोभकी अग्निमें गिरता है ॥ ६५ ॥

ततो विहारैराहारैर्मोहितश्च विशां पते ।
महामोहमुखे मग्नो नात्मानमवबुध्यते ॥ ६६ ॥

पश्चात्, हे प्रजाओंके स्वामिन् ! वह मूर्ख मनुष्य आहार विहारसे मोहित होकर महामोहके मुखमें पडकर आत्मतत्त्वको नहीं जान पाता ॥ ६६ ॥

एवं पतति संसारे तासु तास्विह योनिषु ।
अविद्याकर्मतृष्णाभिर्भ्राम्यमाणोऽथ चक्रवत् ॥ ६७ ॥

तब कर्म, अविद्या और विषयतृष्णासे चक्रके समान भ्रमित होकर इस संसारमें उन उन योनियोंमें जाकर गिरता है ॥ ६७ ॥

ब्रह्मादिषु तृणान्तेषु भूतेषु परिवर्तते ।
जले भुवि तथाकाशे जायमानः पुनः पुनः ॥ ६८ ॥

ब्रह्मासे लेकर तिनकेतक भूमिमें फिरनेवाले, आकाशमें चरनेवाले, और जलचर आदि योनियोंमें वारंवार जन्म लेता हुआ घूमता रहता है ॥ ६८ ॥

अबुधानां गतिस्त्वेषा बुधानामपि मे शृणु ।
ये धर्मे श्रेयसि रता विमोक्षरतयो जनाः ॥ ६९ ॥

महाराज ! अज्ञानी जीवोंकी तो ऐसी गति होती है, जो मनुष्य कल्याणकारी धर्मके आचरणमें रत रहकर मुक्ति पानेके कामोंमें मग्न रहते हैं, अब उन ज्ञानियोंकी गति सुनिये ॥ ६९ ॥

यदिदं वेदवचनं कुरु कर्म त्यजेति च ।
तस्माद्धर्मानिमान्सर्वान्नाभिमानात्समाचरेत् ॥ ७० ॥

कर्म करने चाहिए और कर्म त्यागने चाहिए, यह दोनों प्रकारके वेदवाक्य हैं, इस कारण इन सब धर्मोंका आचरण अभिमानपूर्वक न करे ॥ ७० ॥

इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं क्षमा दमः ।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः ॥ ७१ ॥

यज्ञ, वेद पढना, दान, तपस्या, सत्यका आचरण, क्षमा, इन्द्रियोंको जीतना और अलोभ यह आठ प्रकारका धर्मका मार्ग कहा गया है ॥ ७१ ॥

तत्र पूर्वश्चतुर्वर्गः पितृयानपथे स्थितः ।
कर्तव्यमिति यत्कार्यं नाभिमानात्समाचरेत् ॥ ७२ ॥

इनमेंसे पहिलेके चार अर्थात् यज्ञ, स्वाध्याय, दान और तप पितृलोकके मार्गपर ले जाते हैं, इस विषयमें जो कर्म करने योग्य हैं, उनको अभिमानसे युक्त होकर न करे ॥ ७२ ॥

उत्तरो देवयानस्तु सद्भिराचरितः सदा ।
अष्टाङ्गेनैव मार्गेण विशुद्धात्मा समाचरेत् ॥ ७३ ॥

तथा अन्तके चार अर्थात् सत्य, क्षमा, इन्द्रियनिग्रह और अलोभता देवयान मार्गमें ले जानेवाले हैं, इनका आचरण महात्मा लोग सदा ही किया करते हैं । विशुद्ध आत्मावाला इस अष्टाङ्ग धर्मके मार्गसे ही अपना आचरण करे ॥ ७३ ॥

सम्यक्संकल्पसंबन्धात्सम्यक्चेन्द्रियनिग्रहात् ।
सम्यग्व्रतविशेषाच्च सम्यक्च गुरुसेवनात् ॥ ७४ ॥

इस कारणसे जो मनुष्य संसारको जीतने अर्थात् मोक्ष पानेकी इच्छा रखते हों, वह अच्छी भावनासे, भली भांति इन्द्रियोंको जीतकर; भली भांति विशेष व्रतका आचरण कर, भली-भांति गुरुसेवासे ॥ ७४ ॥

सम्यगाहारयोगाच्च सम्यक्चाध्ययनागमात् ।
सम्यक्कर्मोपसंन्यासात्सम्यक्चित्तनिरोधनात् ।
एवं कर्माणि कुर्वन्ति संसारविजिगीषवः ॥ ७५ ॥

अच्छी प्रकार आहार विहारसे, भली भांति वेदोंको पढनेसे, भली भांति सकाम कर्मोंका त्याग कर और भली भांति चित्तको रोककर कर्मोंको करते हैं ॥ ७५ ॥

रागद्वेषविनिर्मुक्ता ऐश्वर्यं देवता गताः ।
रुद्राः साध्यास्तथादित्या वसवोऽथाश्विनावपि ।
योगैश्वर्येण संयुक्ता धारयन्ति प्रजा इमाः ॥ ७६ ॥

देवताओंने राग द्वेषसे रहित होकर ही ऐश्वर्यको पाया है। रुद्रगण, साध्यगण आदित्यगण, वसुगण और दोनों अश्विनीकुमार राग और द्वेषसे रहित होकर तथा योग और ऐश्वर्यसे युक्त होकर ही इन प्रजागणोंका पालन करते हैं ॥ ७६ ॥

तथा त्वमपि कौन्तेय शममास्थाय पुष्कलम् ।
तपसा सिद्धिमन्विच्छ योगसिद्धिं च भारत ॥ ७७ ॥

हे भारत कुन्तिनन्दन ! आप भी पूरी रीतिसे शममें तत्पर होकर तपकी सिद्धि और योगकी सिद्धिको प्राप्त करनेकी इच्छा कीजिए ॥ ७७ ॥

पितृमातृमयी सिद्धिः प्राप्ता कर्ममयी च ते ।
तपसा सिद्धिमन्विच्छ द्विजानां भरणाय वै ॥ ७८ ॥

आपने पितृऋणसे मुक्त होकर पिता मातारूपी सिद्धिको प्राप्त कर लिया है और यज्ञ आदि कर्मोंको करके कर्ममयी सिद्धिको भी पा लिया है, इस समय ब्राह्मणोंका पालन करनेके लिए तपस्यासे सिद्धि प्राप्त करनेकी इच्छा कीजिये ॥ ७८ ॥

सिद्धा हि यद्यदिच्छन्ति कुर्वते तदनुग्रहात् ।
तस्मात्तपः समास्थाय कुरुष्वात्ममनोरथम् ॥ ७९ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥ १२२ ॥

तपसे सिद्ध हुए मनुष्य जो जो इच्छा करते हैं तपके प्रभावसे वही प्राप्त कर सकते हैं । इस कारण तपस्याका आश्रय लेकर अपने मनोरथको पूरा कीजिये ॥ ७९ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दूसरा अध्याय समाप्त ॥ २ ॥ १२२ ॥

: ३ :

वैशम्पायन उवाच

शौनकेनैवमुक्तस्तु कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
पुरोहितमुपागम्य भ्रातृमध्येऽब्रवीदिदम् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर शौनकके इन सब वचनोंको सुनकर पुरोहितके पास जाकर भाइयोंके मध्यमें यह कहने लगे ॥ १ ॥

प्रस्थितं मानुयान्तीमे ब्राह्मणा वेदपारगाः ।
न चास्मि पालने शक्तो बहुदुःखसमन्वितः ॥ २ ॥

हे भगवान् ! वनको जानेके लिए उद्यत मेरे पीछे वेदपाठमें ये निपुण ब्राह्मण आना चाहते हैं, पर बहुत ही दुःखसे युक्त मैं इनका पालन करने समर्थ नहीं हूं ॥ २ ॥

परित्यक्तुं न शक्नोमि दानशक्तिश्च नास्ति मे ।
कथमत्र मया कार्यं भगवांस्तद्ब्रवीतु मे ॥ ३ ॥

पर इनको मै छोड भी नहीं सकता और इनको दान देनेकी शक्ति भी मेरे अन्दर नहीं है इसलिये अब मुझे क्या करना चाहिये, वह आप मुझे बताइए ॥ ३ ॥

मुहूर्तमिव स ध्यात्वा धर्मेणान्विष्य तां गतिम् ।
युधिष्ठिरमुवाचेदं धौम्यो धर्मभृतां वरः ॥ ४ ॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ पुरोहित धौम्य युधिष्ठिरके इस कथनको सुननेके पश्चात् एक मुहूर्तभर उस विषयका विचार कर तथा धर्मसे उस गति पर विचार करके युधिष्ठिरसे यह कहने लगे ॥ ४ ॥

पुरा सृष्टानि भूतानि पीडयन्ते क्षुधया भृशम् ।
ततोऽनुकम्पया तेषां सविता स्वपिता इव ॥ ५ ॥

पहिले समयमें सविता सूर्य उत्पन्न हुए सब प्राणियोंको भूखसे अत्यन्त दुःखी देखकर उन प्राणियों पर पिताके समान दयालु हुए ॥ ५ ॥

गत्वोत्तरायणं तेजोरसानुद्धृत्य रश्मिभिः ।
दक्षिणायनमावृत्तो महीं निविशते रविः ॥ ६ ॥

इसी हेतुसे उन्होंने उत्तरायणमें जाकर अपनी किरणोंसे जलोंको उठाया और दक्षिणायनमें आकर सूर्यने पृथ्वीमें उन जलोंको प्रविष्ट कराया ॥ ६ ॥

क्षेत्रभूते ततस्तस्मिन्नोषधीरोषधीपतिः ।
दिवस्तेजः समुद्धृत्य जनयामास वारिणा ॥ ७ ॥
इस प्रकार खेतके तैय्यार हो जानेपर औषधियोंके स्वामी चन्द्रमाने मेघरूपमें परिवर्तित सूर्यके तेजको प्रकट करके उन मेघोंके जलसे ओषधियोंको उत्पन्न किया ॥ ७ ॥

निषिक्तश्चन्द्रतेजोभिः सूयते भूगतो रविः ।
ओषध्यः षड्रसा मेध्यास्तदन्नं प्राणिनां भुवि ॥ ८ ॥
तब भूमिके अन्दर स्थित सूर्यही चन्द्रमाके तेजसे सिंचित होकर खेतोंके अंकुरके रूपमें निकल आये और छह रसयुक्त पवित्र औषधियोंके रूपमें उत्पन्न हुए. यह औषधिही संसारमें प्राणियोंका अन्न है ॥ ८ ॥

एवं भानुमयं ह्यन्नं भूतानां प्राणधारणम् ।
पितैष सर्वभूतानां तस्मात्तं शरणं व्रज ॥ ९ ॥
इस कारण सम्पूर्ण प्राणियोंके जीवनका आधार अन्न सूर्यमय ही होता है, और सूर्य ही सब प्राणियोंका पिता रूप है, इसी कारण आप सूर्यके ही शरणमें जाइए ॥ ९ ॥

राजानो हि महात्मानो योनिकर्मविशोधिताः ।
उद्धरन्ति प्रजाः सर्वास्तप आस्थाय पुष्कलम् ॥ १० ॥
उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए त।। उत्तम कर्म करनेवाले महात्मा राजा कठोर तपस्याका आश्रय करके ही प्रजाका दुःखसे उद्धार किया करते हैं ॥ १० ॥

भीमेन कार्तवीर्येण वैन्येन नहुषेण च ।
तपोयोगसमाधिस्थैरुद्धृता ह्यापदः प्रजाः ॥ ११ ॥
भीम, कार्तवीर्य, वैन्य और नहुष इन राजाओंने तपस्या और समाधिका अवलम्बन करके ही प्रजाको विपत्तिसे उबारा था ॥ ११ ॥

तथा त्वमपि धर्मात्मन्कर्मणा च विशोधितः ।
तप आस्थाय धर्मेण द्विजातीन्भर भारत ॥ १२ ॥
हे धर्मात्मन् ! आप भी शुद्ध कर्मवाले हैं, अतः, हे भारत ! उन्हींके समान धर्मसे तपस्या करके ब्राह्मणोंका पालन कीजिये ॥ १२ ॥

एवमुक्तस्तु धौम्येन तत्कालसदृशं वचः ।
धर्मराजो विशुद्धात्मा तप आतिष्ठदुत्तमम् ॥ १३ ॥
धौम्यके द्वारा उस समयके योग्य वचनोंके कहनेपर पवित्र आत्मावाले धर्मराज युधिष्ठिरने उत्तम तप किया ॥ १३ ॥

पुष्पोपहारैर्बलिभिरर्चयित्वा दिवाकरम् ।
योगमास्थाय धर्मात्मा वायुभक्षो जितेन्द्रियः ।
गाङ्गेयं वार्युपस्पृश्य प्राणायामेन तस्थिवान् ॥ १४ ॥

फूलोंके उपहार और बलियोंसे सूर्यकी पूजाकर जितेन्द्रिय धर्मात्मा युधिष्ठिर हवा पीते हुए तथा गंगाके पानीका सेवन करते हुए प्राणायामके द्वारा योग करने लगे ॥ १४ ॥

जनमेजय उवाच

कथं कुरूणामृषभः स तु राजा युधिष्ठिरः ।
विप्रार्थमाराधितवान्सूर्यमद्भुतविक्रमम् ॥ १५ ॥

जनमेजय बोले– ब्राह्मणोंके लिए कुरुकुलमें श्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरने अद्भुत विक्रमवाले सूर्यकी किस प्रकारसे आराधना की ? ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

शृणुष्वावहितो राजञ्शुचिर्भूत्वा समाहितः ।
क्षणं च कुरु राजेन्द्र सर्वं वक्ष्याम्यशेषतः ॥ १६ ॥

वैशम्पायन बोले– हे राजेन्द्र ! आप सावधानीसे सुनिये, मैं पूर्णरीतिसे उसका वर्णन करता हूं, आप शुद्ध और शान्त चित्तसे सुनिये आप धीरज रखें ॥ १६ ॥

धौम्येन तु यथा प्रोक्तं पार्थाय सुमहात्मने ।
नाम्नामष्टशतं पुण्यं तच्छृणुष्व महामते ॥ १७ ॥

हे महाबुद्धिमान् युधिष्ठिर ! धौम्य ऋषिने महात्मा युधिष्ठिरसे जो सूर्यके पुण्यशाली एकसौ आठ नाम बताये थे, उन्हें सुनिये ॥ १७ ॥

सूर्योऽर्यमा भगस्त्वष्टा पूषार्कः सविता रविः ।
गभस्तिमानजः कालो मृत्युर्धाता प्रभाकरः ॥ १८ ॥

सूर्य, अर्यमा, भग, त्वष्टा, पूषा, अर्क, सविता, रवि, गभस्तिमान्, अज, काल, मृत्यु, धाता, प्रभाकर, ॥ १८ ॥

पृथिव्यापश्च तेजश्च खं वायुश्च परायणम् ।
सोमो बृहस्पतिः शुक्रो बुधोऽङ्गारक एव च ॥ १९ ॥

पृथिवी, जल, तेज, आकाश, वायु, परायण, सोम, बृहस्पति, शुक्र, बुध और अङ्गारक, ॥ १९ ॥

इन्द्रो विवस्वान्दीप्तांशुः शुचिः शौरिः शनैश्चरः ।
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च स्कन्दो वैश्रवणो यमः ॥ २० ॥

इन्द्र, विवस्वान्, दीप्तांशु, शुचि, शौरि, शनैश्चर, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, स्कन्द, वैश्रवण, यम, ॥ २० ॥

वैद्युतो जाठरश्चाग्निरैन्धनस्तेजसां पतिः ।
धर्मध्वजो वेदकर्ता वेदाङ्गो वेदवाहनः ॥ २१ ॥

विद्युत्, जाठर अग्नि, भौतिक अग्नि, तेजःपति, धर्मध्वज, वेदकर्ता, वेदाङ्ग, वेदवाहन, ॥ २१ ॥

कृतं त्रेता द्वापरश्च कलिः सर्वामराश्रयः ।
कला काष्ठा मुहूर्ताश्च पक्षा मासा ऋतुस्तथा ॥ २२ ॥

सत्य, त्रेता, द्वापर, कलियुग, सब देवोंका आश्रय, कला, काष्ठा, मुहूर्त, पक्ष, मास, और ऋतु ॥ २२ ॥

संवत्सरकरोऽश्वत्थः कालचक्रो विभावसुः ।
पुरुषः शाश्वतो योगी व्यक्ताव्यक्तः सनातनः ॥ २३ ॥

संवत्सर करनेवाला, अश्वत्थ, कालचक्र, विभावसु, पुरुष, शाश्वत, योगी, व्यक्त अव्यक्त, सनातन, ॥ २३ ॥

लोकाध्यक्षः प्रजाध्यक्षो विश्वकर्मा तमोनुदः ।
वरुणः सागरोऽंशुश्च जीमूतो जीवनोऽरिहा ॥ २४ ॥

लोकोंका स्वामी, प्रजापति, विश्वकर्मा, तमोनाशक, वरुण, सागर, अंशु, जीमूत, जीवन, शत्रुनाशी, ॥ २४ ॥

भूताश्रयो भूतपतिः सर्वभूतनिषेवितः ।
मणिः सुवर्णो भूतादिः कामदः सर्वतोमुखः ॥ २५ ॥

भूतोंका आश्रय, भूतपति, सब प्राणियोंसे सेवा किए जाने योग्य, मणिः, सुवर्ण, भूतादि, कामनाको देनेवाला, सर्वत्र मुखवाला, ॥ २५ ॥

जयो विशालो वरदः शीघ्रगः प्राणधारणः ।
धन्वन्तरिर्धूमकेतुरादिदेवोऽदितेः सुतः ॥ २६ ॥

जय, विशाल, वरद, शीघ्रगामी, प्राणोंका आधार, धन्वन्तरि, धूमकेतु, आदिदेव, अदितिपुत्र, ॥ २६ ॥

द्वादशात्मारविन्दाक्षः पिता माता पितामहः ।
स्वर्गद्वारं प्रजाद्वारं मोक्षद्वारं त्रिविष्टपम् ॥ २७ ॥

द्वादशात्मा, अरविन्दाक्ष, पिता, माता, पितामह, स्वर्गद्वार, प्रजाद्वार, मुक्तिद्वार, त्रिविष्टप, ॥ २७ ॥

देहकर्ता[१०२] प्रशान्तात्मा[१०३] विश्वात्मा[१०४] विश्वतोमुखः[१०५] ।
चराचरात्मा[१०६] सूक्ष्मात्मा[१०७] मैत्रेण वपुषान्वितः[१०८] ॥ २८ ॥

देहकर्ता[१०२], प्रशान्तात्मा[१०३], विश्वात्मा[१०४], विश्वतोमुख[१०५], चराचरात्मा[१०६], सूक्ष्मात्मा[१०७], शरीरधारी[१०८] मैत्रेण ॥ २८ ॥

एतद्वै कीर्तनीयस्य सूर्यस्यैव महात्मनः ।
नाम्नामष्टशतं पुण्यं शक्रेणोक्तं महात्मना ॥ २९ ॥

प्रशंसनीय महात्मा सूर्यके ये पुण्यदायक एकसौ आठ नाम महात्मा इन्द्रने कहे थे ॥ २९॥

शक्राच्च नारदः प्राप्तो धौम्यश्च तदनन्तरम् ।
धौम्याद्युधिष्ठिरः प्राप्य सर्वान्कामानवाप्तवान् ॥ ३० ॥

इस नामावलिको इन्द्रसे नारदने प्राप्त किया, नारदसे धौम्यने प्राप्त किया और धौम्यसे युधिष्ठिरने प्राप्त करके अपनी सब कामनायें प्राप्त कीं ॥ ३० ॥

सुरपितृगणयक्षसेवितं ह्यसुरनिशाचरसिद्धवन्दितम् ।
वरकनकहुताशनप्रभं त्वमपि मनस्यभिधेहि भास्करम् ॥ ३१ ॥

देवता, पितर और यक्षलोग जिसकी सेवा करते हैं, असुर, निशाचर और सिद्धगण जिसकी वन्दना करते हैं, जो उत्तम सुवर्ण और अग्निके समान प्रकाशयुक्त हैं, ऐसे भास्करका तुम भी मनमें ध्यान करो ॥ ३१ ॥

सूर्योदये यस्तु समाहितः पठेत्स पुत्रलाभं धनरत्नसंचयान् ।
लभेत जातिस्मरतां सदा नरः स्मृतिं च मेधां च स विन्दते पराम् ॥३२॥

जो मनुष्य सूर्य निकलनेके समय एकाग्रचित्त होकर इस स्तोत्रको पढता है, वह मनुष्य पुत्र-लाभ, धन, रत्नसंचयोंको पाता है और पूर्वजन्म-स्मरण करनेकी शक्ति, तथा धारणा शक्तिः और उत्तम बुद्धिको पाता है ॥ ३२ ॥

इमं स्तवं देववरस्य यो नरः प्रकीर्तयेच्छुचिसुमनाः समाहितः ।
स मुच्यते शोकदवाग्निसागराल्लभेत कामान्मनसा यथेप्सितान् ॥ ३३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥ १५५ ॥

जो मनुष्य परमदेव सूर्यके इस स्तोत्रका शुद्ध होकर, उत्तम मन और स्थिरचित्तसे पाठ करे, वह शोकरूपी दावानलके सागरसे छूट सकता है और मनवाञ्छित सिद्धिको पा सकता है ॥ ३३ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें तीसरा अध्याय समाप्त ॥ ३ ॥ १५५ ॥

४

वैशम्पायन उवाच

ततो दिवाकरः प्रीतो दर्शयामास पाण्डवम्।
दीप्यमानः स्ववपुषा ज्वलन्निव हुताशनः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– इसके बाद सूर्यदेव उनपर प्रसन्न होकर जलती हुई अग्निके समान प्रकाशमान शरीरसे उनके सामने प्रकट हुए ॥ १ ॥

यत्तेऽभिलषितं राजन्सर्वमेतदवाप्स्यसि।
अहमन्नं प्रदास्यामि सप्त पञ्च च ते समाः ॥ २ ॥

और बोले– हे राजन्! तुम्हारे मनकी जो इच्छा है, उस सबको तुम प्राप्त करोगे, मैं सात और पांच अर्थात् बारह वर्षतक तुमको अन्न प्रदान करूंगा ॥ २ ॥

फलमूलामिषं शाकं संस्कृतं यन्महानसे।
चतुर्विधं तदन्नाद्यमक्षय्यं ते भविष्यति।
धनं च विविधं तुभ्यमित्युक्त्वान्तरधीयत ॥ ३ ॥

फल, मूल, साग और मांस जो कुछ रसोई घरमें बनेगा, ये चार प्रकारका अन्न तुम्हारे लिए अक्षय अर्थात् कभी न समाप्त होनेवाला होगा और अनेक तरहका धन भी तुम्हें प्राप्त होगा, ऐसा कहकर सूर्यदेव उसी स्थानपर अन्तर्ध्यान हो गये ॥ ३ ॥

लब्ध्वा वरं तु कौन्तेयो जलादुत्तीर्य धर्मवित्।
जग्राह पादौ धौम्यस्य भ्रातॄंश्चास्वजताच्युतः ॥ ४ ॥

धर्मको जाननेवाले अच्युत युधिष्ठिर सूर्यसे वर पाकर जलसे निकले और धौम्यके दोनों चरणोंकी वन्दना की, एवं भाइयोंको गलेसे लगाया ॥ ४ ॥

द्रौपद्या सह संगम्य पश्यमानोऽभ्ययात्प्रभुः।
महानसे तदान्नं तु साधयामास पाण्डवः ॥ ५ ॥

हे महाराज! पश्चात् वह पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर द्रौपदीके साथ रसोईघरमें गए और देखते हुए रसोई बनानेकी क्रियाको आरम्भ किया ॥ ५ ॥

संस्कृतं प्रसवं याति वन्यमन्नं चतुर्विधम्।
अक्षय्यं वर्धते चान्नं तेन भोजयते द्विजान् ॥ ६ ॥

फल-मूल-शाक और मांस ये चार प्रकारके अन्न बननेपर और ज्यादा होते थे, और अक्षय हो जाते थे, महाराज युधिष्ठिर उसी अन्नसे ब्राह्मणोंको भोजन कराते थे ॥ ६ ॥

भुक्तवत्सु च विप्रेषु भोजयित्वानुजानपि ।
शेषं विघससंज्ञं तु पश्चाद्भुङ्क्ते युधिष्ठिरः ।
युधिष्ठिरं भोजयित्वा शेषमश्नाति पार्षती ॥ ७ ॥

युधिष्ठिर ब्राह्मणोंको भोजन करानेके पश्चात् भाइयोंको भोजन कराते थे, फिर उनके खानेके बाद बचे हुए विघस नामके भोजनको स्वयं खाते थे, और युधिष्ठिरको खिलानेके बाद पृषद्वंशी द्रुपदकी पुत्री द्रौपदी भोजन करती थी ॥ ७ ॥

एवं दिवाकरात्प्राप्य दिवाकरसमद्युतिः ।
कामान्मनोभिलषितान्ब्राह्मणेभ्यो ददौ प्रभुः ॥ ८ ॥

सूर्यके समान तेजवाले महाराज युधिष्ठिरने सूर्यसे ऐसा वांछित वर पाकर मनोभिलषित कामनायें ब्राह्मणोंको प्रदान कीं ॥ ८ ॥

पुरोहितपुरोगाश्च तिथिनक्षत्रपर्वसु ।
यज्ञियार्थाः प्रवर्तन्ते विधिमन्त्रप्रमाणतः ॥ ९ ॥

पुरोहित और ऋत्विग्गण विधि और मंत्रके अनुसार यज्ञ करानेके लिए शुभ तिथि, नक्षत्र और पर्वोंमें युधिष्ठिरके पास आते थे ॥ ९ ॥

ततः कृतस्वस्त्ययना धौम्येन सह पाण्डवाः ।
द्विजसङ्घैः परिवृताः प्रययुः काम्यकं वनम् ॥ १० ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥ १६५ ॥

इसके पश्चात् वे पाण्डव स्वस्तिवाचन कराकर धौम्यके साथ ब्राह्मणोंसे घिरकर काम्यक वनको चले गये ॥ १० ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें चौथा अध्याय समाप्त ॥ ४ ॥ १६५ ॥ ॥

: ५ :

वैशम्पायन उवाच

वनं प्रविष्टेष्वथ पाण्डवेषु प्रज्ञाचक्षुस्तप्यमानोऽम्बिकेयः ।
धर्मात्मानं विदुरमगाधबुद्धिं सुखासीनो वाक्यमुवाच राजा ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– पाण्डवोंके वनको चले जानेपर सुखसे बैठे हुए अंबिकानन्दन, प्रज्ञाचक्षु अन्धे राजा धृतराष्ट्रने दुःखसे व्याकुल होकर महाबुद्धिमान् धर्मात्मा विदुरसे यह वचन कहे ॥ १ ॥

×

प्रज्ञा च ते भार्गवस्येव शुद्धा धर्मं च त्वं परमं वेत्थ सूक्ष्मम् ।
समश्च त्वं संमतः कौरवाणां पथ्यं चैषां मम चैव ब्रवीहि ॥ २ ॥

हे विदुर ! तुम्हारी बुद्धि शुक्राचार्यके समान शुद्ध है तुम धर्मके अतिसूक्ष्म तात्पर्यको जाननेवाले हो; कुरुकुलमें तुम्हारा एक समान सम्मान है, अतएव इस समय मुझे वही संमति दो, जिससे कौरवोंका और मेरा कल्याण हो ॥ २ ॥

एवं गते विदुर यदद्य कार्यं पौराश्चेमे कथमस्मान्भजेरन् ।
ते चाप्यस्मान्नोद्धरेयुः समूलान्न कामये तांश्च विनश्यमानान् ॥ ३ ॥

हे विदुर ! पाण्डवोंके इसप्रकार चले जानेपर आज हमें क्या करना चाहिये; ताकि किसी-प्रकार ये नगरनिवासी हमलोगोंपर विश्वास रखें तथा पाण्डवलोग हमको किसी रीतिसे जडसहित न उखाड सकें, साथ ही मैं उन पाण्डवोंको नष्ट होते नहीं देखना चाहता ॥ ३ ॥

विदुर उवाच

त्रिवर्गोऽयं धर्ममूलो नरेन्द्र राज्यं चेदं धर्ममूलं वदन्ति ।
धर्मे राजन्वर्तमानः स्वशक्त्या पुत्रान्सर्वान्पाहि कुन्तीसुतांश्च ॥ ४ ॥

विदुर बोले— हे महाराज ! मनुष्यके अर्थ, काम और मोक्ष इन त्रिवर्गोंका मूल धर्म है, पण्डित लोग राज्यका मूल भी धर्मको ही बताते हैं, इसलिये, हे राजन् ! आप धर्मके अनुगामी होकर अपनी शक्तिके अनुसार अपने सभी पुत्रों और कुन्तीके भी पुत्रोंका पालन कीजिये ॥ ४ ॥

स वै धर्मो विप्रलुप्तः सभायां पापात्मभिः सौबलेयप्रधानैः ।
आहूय कुन्तीसुतमक्षवत्यां पराजैषीत्सत्यसन्धं सुतस्ते ॥ ५ ॥

हे कुरुनन्दन ! आपके पुत्र दुर्योधनने शकुनि आदि मुख्यमुख्य पापी जनोंके साथ मिलकर सत्यवक्ता युधिष्ठिरको सभामें बुलाकर जुएमें हराया है, इसीसे वह आपका पुत्र धर्मसे रहित हो गया है ॥ ५ ॥

एतस्य ते दुष्प्रणीतस्य राजञ्शेषस्याहं परिपश्याम्युपायम् ।
यथा पुत्रस्तव कौरव्य पापान्मुक्तो लोके प्रतितिष्ठेत साधु ॥ ६ ॥

हे राजन् धृतराष्ट्र ! आपके इस पापको दूर करनेका केवल एक ही उपाय मैं देखता हूँ । हे कुरुवंशी धृतराष्ट्र ! जिसके करनेसे आपका पुत्र पापसे मुक्त होकर जगत्में अच्छीतरहसे प्रतिष्ठा पा सकेगा ॥ ६ ॥

तद्वै सर्वं पाण्डुपुत्रा लभन्तां यत्तद्राजन्नतिसृष्टं त्वयासीत् ।
एष धर्मः परमो यत्स्वकेन राजा तुष्येन्न परस्वेषु गृध्येत् ॥ ७ ॥

हे राजन् ! आपने जो पाण्डवोंको पहिले राज्य दिया था, वह सब राज्य पांडुके पुत्र फिर प्राप्त कर लें, तो आपके धर्मकी रक्षा हो । राजा अपने धनसे सन्तुष्ट रहे और पराये धनकी इच्छा न करे, राजा लोगोंके लिए यही परम धर्म लिखा है ॥ ७ ॥

एतत्कार्यं तव सर्वप्रधानं तेषां तुष्टिः शकुनेश्चावमानः ।
एवं शेषं यदि पुत्रेषु ते स्यादेतद्राजंस्त्वरमाणः कुरुष्व ॥ ८ ॥

इस समय जिसमें पाण्डवोंको सन्तोष हो और शकुनिका अपमान हो ऐसाही काम आपको सब कामोंसे मुख्य समझ कर करना होगा, ऐसा करनेसे यदि आपके पुत्रोंके भाग्यमें राज्य शेष होगा तो उन्हें वह मिल जाएगा, अतः, हे राजन् ! आप शीघ्रतासे इस कार्यको कीजिये ॥ ८ ॥

अथैतदेवं न करोषि राजन्ध्रुवं कुरूणां भविता विनाशः ।
न हि क्रुद्धो भीमसेनोऽर्जुनो वा शेषं कुर्याच्छात्रवाणामनीके ॥ ९ ॥

हे राजन् ! यदि मेरे बताये कर्मको आप न करेंगे तो अवश्यही कुरुकुलका नाश होगा, क्योंकि भीमसेन वा अर्जुन यदि क्रुद्ध होंगे तो युद्धमें शत्रुकुलका शेष न छोडेंगे ॥ ९ ॥

येषां योद्धा सव्यसाची कृतास्त्रो धनुर्येषां गाण्डिवं लोकसारम् ।
येषां भीमो बाहुशाली च योद्धा तेषां लोके किं नु न प्राप्यमस्ति ॥ १० ॥

हे राजन् ! अस्त्रविद्यामें निपुण और बायें और दाहिने दोनों हाथोंसे बाण चलानेमें समर्थ अर्जुन, जिनके योद्धा जिनका धनुष संसारका सार गाण्डीव, तथा जिनके योद्धा महाभुज भीम हैं उनको तीनों लोकोंमें कौनसा पदार्थ अप्राप्य है ? ॥ १० ॥

उक्तं पूर्वं जातमात्रे सुते ते मया यत्ते हितमासीत्तदानीम् ।
पुत्रं त्यजेममहितं कुलस्येत्येतद्राजन्न च तत्त्वं चकर्थ ।
इदानीं ते हितमुक्तं न चेत्त्वं कर्तासि राजन्परितप्तासि पश्चात् ॥ ११ ॥

महाराज ! आपके पुत्रके जन्मके समय, जो आपके लिए हितकारी था, वह उसी समय आपसे मैंने कह दिया था कि कुलका अहित करनेवाले इस पुत्रको त्याग दो, तब आपने, हे राजन् ! इस कार्यको नहीं किया । इस समय भी आपकी हित कामनासे पाण्डवोंके पाने योग्य राज्यको उनको दे देनेके लिए कहता हूं, यदि इसे आप न करेंगे तो पीछेसे, हे राजन् ! आपको दुःख भोगना पडेगा ॥ ११ ॥

यद्येतदेवमनुमन्ता सुतस्ते संप्रीयमाणः पाण्डवैरेकराज्यम् ।
तापो न ते वै भविता प्रीतियोगात्त्वं चेन्न गृह्णासि सुतं सहायैः ।
अथापरो भवति हि तं निगृह्य पाण्डोः पुत्रं प्रकुरुष्वाधिपत्ये ॥ १२ ॥

यदि आपका पुत्र पाण्डवोंके साथ मिलकर और प्रेमयुक्त होकर राज्य करनेमें सम्मत हो और आप भी अपने पुत्रकी बात नहीं मानेंगे, तो आगे चलकर आपको दुःख नहीं होगा अथवा इसका दूसरा भी उपाय है कि आप अपने पुत्र दुर्योधनको कैद करके पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको राज्यका अधिकार दे दीजिये ॥ १२ ॥

अजातशत्रुर्हि विमुक्तरागो धर्मेणेमां पृथिवीं शास्तु राजन् ।
ततो राजन्पार्थिवाः सर्व एव वैश्या इवास्मानुपतिष्ठन्तु सद्यः ॥ १३ ॥
हे राजन् धृतराष्ट्र ! अजातशत्रु युधिष्ठिर राग-द्वेषको छोडकर धर्मपूर्वक इस पृथ्वी पर शासन करें, और, हे राजन् ! सम्पूर्ण राजा तत्क्षणही बनियोंके समान हम लोगोंकी सेवा करने लगें ॥ १३ ॥

दुर्योधनः शकुनिः सूतपुत्रः प्रीत्या राजन्पाण्डुपुत्रान्भजन्ताम् ।
दुःशासनो याचतु भीमसेनं सभामध्ये द्रुपदस्यात्मजां च ॥ १४ ॥
हे राजन् ! दुर्योधन, सूतपूत्र कर्ण और शकुनि प्रसन्नतासे पाण्डवोंकी सेवामें नियुक्त हों, दुःशासन सभाके बीचमें भीमसेन और द्रुपदकी पुत्री द्रौपदीसे क्षमा मांगे ॥ १४ ॥

युधिष्ठिरं त्वं परिसान्त्वयस्व राज्ये चैनं स्थापयस्वाभिपूज्य ।
त्वया पृष्टः किमहमन्यद्वदेयमेतत्कृत्वा कृतकृत्योऽसि राजन् ॥ १५ ॥
आप युधिष्ठिरको सांत्वना दें और उनका आदर करके उनका अभिषेक करें । महाराज ! आपने जो मुझसे पूछा था उसमें इसके सिवाय और क्या कहूं, मैंने जो कहा उसको करने हीसे आप कृतकार्य होंगे ॥ १५ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

एतद्वाक्यं विदुर यत्ते सभायामिह प्रोक्तं पाण्डवान्प्राप्य मां च ।
हितं तेषामहितं मामकानामेतत्सर्वं मम नोपैति चेतः ॥ १६ ॥
धृतराष्ट्र बोले– हे विदुर ! तुमने पाण्डवोंके और हमारे सम्बन्धमें इस सभामें ये जो वाक्य कहे, वह तुम्हारे वाक्य पाण्डवोंके लिए हितकारी और हमारे लिए अहितकारी हैं, अतः वह मेरे मनमें अनुकूल नहीं लगे ॥ १६ ॥

इदं त्विदानीं कुत एव निश्चितं तेषामर्थे पाण्डवानां यदात्थ ।
तेनाद्य मन्ये नासि हितो ममेति कथं हि पुत्रं पाण्डवार्थे त्यजेयम् ॥ १७ ॥
तुमने इस समय किस कारणसे ऐसा निश्चय किया ? कि तुमने जो पाण्डवोंके कल्याणके निमित्त ऐसे वचन कहे । उससे मैं यह मानता हूँ, कि तुम हमारे हितकारी नहीं हो । मैं पाण्डवोंके लिए अपने पुत्रका त्याग कैसे कर दूं ? ॥ १७ ॥

असंशयं तेऽपि ममैव पुत्रा दुर्योधनस्तु मम देहात्प्रसूतः ।
स्वं वै देहं परहेतोस्त्यजेति को नु ब्रूयात्समतामन्ववेक्षन् ॥ १८ ॥
पाण्डव मेरे ही पुत्र हैं इसमें सन्देह नहीं, पर दुर्योधन मेरे शरीरसे उत्पन्न हुआ है, अतः पाण्डुपुत्र और मेरे पुत्र दोनोंको एकसा समझनेवाला कोई यह कैसे कह सकता है, कि दूसरेके हितके लिए अपने शरीरका त्याग कर दो ? ॥ १८ ॥

स मा जिह्मं विदुर सर्वं ब्रवीषि मानं च तेऽहमधिकं धारयामि ।
यथेच्छकं गच्छ वा तिष्ठ वा त्वं सुसान्त्व्यमानाप्यसती स्त्री जहाति ॥१९॥

हे विदुर ! मैं तुम्हारा बडा मान करता हूं, पर तुम मुझसे हमेशा कुटिलतापूर्ण वचन कहते हो, इसलिये जैसे असाध्वी स्त्री अनेक वचनोंसे समझाई जाने पर भी पतिका त्याग करती है, ऐसेही तुम यहीं रहो, या जहां तुम्हारी इच्छा हो वहां चल जाओ ॥ १९ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतावदुक्त्वा धृतराष्ट्रोऽन्वपद्यदन्तर्वेश्म सहसोत्थाय राजन् ।
नेदमस्तीत्यथ विदुरो भाषमाणः संप्राद्रवद्यत्र पार्था बभूवुः ॥ २० ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥ १८५ ॥

वैशम्पायन बोले– हे महाराज जनमेजय ! राजा धृतराष्ट्र ऐसा कहकर अचानक उठकर रनिवासको चले गये, पश्चात् विदुर भी यह कहकर कि इनका कुल अब नहीं बचेगा, जिस जगह पाण्डव थे, वहीं चले गये ॥ २० ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें पांचवां अध्याय समाप्त ॥ ५ ॥ १८५ ॥

॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच

पाण्डवास्तु वने वासमुद्दिश्य भरतर्षभाः ।
प्रययुर्जाह्नवीकूलात्कुरुक्षेत्रं सहानुगाः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ पाण्डव अपने सेवकोंके समेत वनवास करनेकी इच्छा करके गङ्गातीरसे कुरुक्षेत्रको चले ॥ १ ॥

सरस्वतीदृषद्वत्यौ यमुनां च निषेव्य ते ।
ययुर्वनेनैव वनं सततं पश्चिमां दिशम् ॥ २ ॥

सरस्वती, दृषद्वती और यमुनाके तटपर रहकर एक वनसे दूसरे वनमें गुजरते हुए वे निरन्तर पश्चिम दिशाकी ओर चले ॥ २ ॥

ततः सरस्वतीकूले समेषु मरुधन्वसु ।
काम्यकं नाम ददृशुर्वनं मुनिजनप्रियम् ॥ ३ ॥

तदनन्तर सरस्वतीके तटपर मारवाडके देशकी समभूमिमें मुनियोंके लिए प्रिय काम्यक नामक वनको उन्होंने देखा ॥ ३ ॥

तत्र ते न्यवसन्वीरा वने बहुमृगद्विजे।
अन्वास्यमाना मुनिभिः सान्त्व्यमानाश्च भारत ॥ ४ ॥

हे राजन् ! वे वीर अनेक मृग और पक्षियोंसे सेवित इस काम्यक वनमें मुनियोंसे सत्कृत होकर और सांत्वना पाकर रहने लगे ॥ ४ ॥

विदुरस्त्वपि पाण्डूनां तदा दर्शनलालसः।
जगामैकरथेनैव काम्यकं वनमृद्धिमत् ॥ ५ ॥

सदा पाण्डवोंके दर्शनकी इच्छा करनेवाले विदुर भी रथपर आरूढ होकर अकेले ही समृद्धि युक्त काम्यक वनमें आये ॥ ५ ॥

ततो यात्वा विदुरः काननं तच्छीघ्रैरश्वैर्वाहिना स्यन्दनेन।
ददर्शासीनं धर्मराजं विविक्ते सार्धं द्रौपद्या भ्रातृभिर्ब्राह्मणैश्च ॥ ६ ॥

तब विदुरने शीघ्रगामी अश्वोंके द्वारा खींचे जानेवाले रथसे काम्यक वनमें जाकर महाराज धर्मराजको एकान्तमें द्रौपदी, ब्राह्मण और भाईयोंके समेत बैठे हुए देखा ॥ ६ ॥

ततोऽपश्यद्विदुरं तूर्णमाराद्भ्यायान्तं सत्यसन्धः स राजा।
अथाब्रवीद्भ्रातरं भीमसेनं किं नु क्षत्ता वक्ष्यति नः समेत्य ॥ ७ ॥

तब सत्यका पालन करनेवाले उस राजा युधिष्ठिरने विदुरको अपनी तरफ शीघ्रतापूर्वक दूरसे आते हुए देखा और अपने भाई भीमसेनसे कहा– कि यह विदुर हमारे पास आकर क्या कहेंगे ? ॥ ७ ॥

कच्चिन्नायं वचनात्सौबलस्य समाह्वाता देवनायोपयाति।
कच्चित्क्षुद्रः शकुनिर्नायुधानि जेष्यत्यस्मान्पुनरेवाक्षवत्याम् ॥ ८ ॥.

कहीं ये शकुनिके कहनेपर हमें जुआ खेलनेके लिए बुलाने तो नहीं आ रहे हैं ? अथवा कहीं अब दुरात्मा शकुनि जुएमें हमारे शस्त्रोंको तो नहीं जीत लेगा ? ॥ ८ ॥

समाहूतः केनचिदाद्रवेति नाहं शक्तो भीमसेनापयातुम्।
गाण्डीवे वा संशयिते कथंचिद्राज्यप्राप्तिः संशयिता भवेन्नः ॥ ९ ॥

हे भीमसेन ! 'आओ खेलो' ऐसा यदि कोई मुझसे कहे, तो मैं उससे दूर भागनेमें असमर्थ हूँ। पर यदि गाण्डीवको हम जुएमें हार जायेंगे, तो फिर हमारी राज्यप्राप्ति भी संशयमें पड जाएगी ॥ ९ ॥

तत उत्थाय विदुरं पाण्डवेयाः प्रत्यगृह्णन्नृपते सर्व एव।
तैः सत्कृतः स च तानाजमीढो यथोचितं पाण्डुपुत्रान्समेयात् ॥ १० ॥

हे महाराज जनमेजय ! तब सब पाण्डवोंने खडे होकर विदुरका सत्कारपूर्वक स्वागत किया। अजमीढ वंशोद्भव विदुरने भी उनके द्वारा सत्कृत होकर पाण्डवोंको यथोचित आशीर्वाद दिया ॥ १० ॥

समाश्वस्तं विदुरं ते नरर्षभास्ततोऽपृच्छन्नागमनाय हेतुम् ।
स चापि तेभ्यो विस्तरतः शशंस यथावृत्तो धृतराष्ट्रोऽम्बिकेयः ॥ ११ ॥

जब विदुर स्वस्थ हुए तो नरसिंह पाण्डवोंने उनके आनेका कारण पूछा, विदुरने विस्तार पूर्वक सब समाचार जैसे अम्बिकापुत्र धृतराष्ट्रने इनके साथ कहा था, सुना दिया ॥ ११ ॥

विदुर उवाच

अवोचन्मां धृतराष्ट्रोऽनुगुप्तमजातशत्रो परिगृह्याभिपूज्य ।
एवं गते समतामभ्युपेत्य पथ्यं तेषां मम चैव ब्रवीहि ॥ १२ ॥

विदुर बोले– हे अजातशत्रो युधिष्ठिर ! रक्षा करनेवाले मेरा स्वागत और पूजा करके धृतराष्ट्रने मुझसे कहा कि पाण्डवोंके इस प्रकारसे चले जानेपर दोनोंको बराबर मानकर उनके और मेरे लिए जो हितकारी हो, उसे तुम कहो ॥ १२ ॥

मयाप्युक्तं यत्क्षमं कौरवाणां हितं पथ्यं धृतराष्ट्रस्य चैव ।
तद्वै पथ्यं तन्मनो नाभ्युपैति ततश्चाहं क्षममन्यन्न मन्ये ॥ १३ ॥

मैंने भी कौरव और धृतराष्ट्रको जो उचित और करने योग्य हितकारक और पथ्य था उसे कहा, परन्तु उनको मेरा कहना प्रीतिकारक न हुआ और मैंने इसके अलावा और किसी बातमें उनका कल्याण नहीं देखा ॥ १३ ॥

परं श्रेयः पाण्डवेया मयोक्तं न मे तच्च श्रुतवानाम्बिकेयः ।
यथातुरस्येव हि पथ्यमन्नं न रोचते स्मास्य तदुच्यमानम् ॥ १४ ॥

हे पाण्डवो ! जो परम कल्याणकी बात मैंने कही थी, उसे अम्बिकापुत्र धृतराष्ट्रने नहीं सुना, जैसे रोगीको पथ्यका अन्न अच्छा नहीं लगता है, वैसे ही उन्हें मेरा कहना अच्छा नहीं लगा ॥ १४ ॥

न श्रेयसे नीयतेऽजातशत्रो स्त्री श्रोत्रियस्येव गृहे प्रदुष्टा ।
ब्रुवन्न रुच्यै भरतर्षभस्य पतिः कुमार्या इव षष्टिवर्षः ॥ १५ ॥

हे अजातशत्रो ! जैसे वेदविद्के घरमें दुष्टा स्त्री कल्याणको नहीं प्राप्त करने देती, वैसे ही धृतराष्ट्र भी कल्याणको प्राप्त नहीं होंगे, जैसे अल्पवयस्का स्त्रीको साठवर्षका पति सुखदायक नहीं होता, वैसे ही अच्छी और हितकारी बातोंको कहनेवाला मैं धृतराष्ट्रको अच्छा नहीं लगता ॥ १५ ॥

ध्रुवं विनाशो नृप कौरवाणां न वै श्रेयो धृतराष्ट्रः परैति ।
यथा पर्णे पुष्करस्येव सिक्तं जलं न तिष्ठेत्पथ्यमुक्तं तथास्मिन् ॥ १६ ॥
हे राजन् ! अब कौरवोंका नाश निश्चित है और धृतराष्ट्र भी कल्याणको प्राप्त नहीं करेंगे, क्योंकि जैसे कमलके पत्तेमें रखा हुआ पानी नहीं ठहरता वैसे ही धृतराष्ट्रके मनमें पथ्यकी बात भी नहीं ठहरती ॥ १६ ॥

ततः क्रुद्धो धृतराष्ट्रोऽब्रवीन्मां यत्र श्रद्धा भारत तत्र याहि ।
नाहं भूयः कामये त्वां सहायं महीमिमां पालयितुं पुरं वा ॥ १७ ॥
हे भारत ! तब धृतराष्ट्रने मुझसे क्रोधमें आकर कहा, कि जहां तुम्हारी श्रद्धा हो, तुम वहीं चले जाओ; मैं अबसे नगर और इस पृथिवीके पालन करनेमें तुम्हारी सहायता नहीं चाहता हूं ॥ १७ ॥

सोऽहं त्यक्तो धृतराष्ट्रेण राजंस्त्वां शासितुमुपयातस्त्वरावान् ।
तद्वै सर्वं यन्मयोक्तं सभायां तद्धार्यतां यत्प्रवक्ष्यामि भूयः ॥ १८ ॥
हे राजन् युधिष्ठिर ! इस प्रकार धृतराष्ट्रसे त्यक्त होकर मैं तुम्हें उपदेश देनेको यहीं शीघ्रतासे आया हूं; मैंने जो कुछ सभामें कहा था और जो पुनः कहता हूं, उस सबको मनमें धारण करो ॥ १८ ॥

क्लेशैस्तीव्रैर्युज [illegible] सपत्नैः क्षमां कुर्वन्कालमुपासते यः ।
संवर्धयंस्तोकमिवाग्निमात्मवान्स वै भुङ्क्ते पृथिवीमेक एव ॥ १९ ॥
जो बैरियोंसे कठिन क्लेश पाकर भी क्षमा करता हुआ समयकी प्रतीक्षा करता है, वह आत्मवान् जैसे थोडी अग्नि बढकर सबको जलाती है, वैसे ही शत्रुओंको जलाकर अकेला सब पृथिवीका भोग करता है ॥ १९ ॥

यस्याविभक्तं वसु राजन्सहायैस्तस्य दुःखेऽप्यंश भाजः सहायाः ।
सहायानामेष संग्रहणेऽभ्युपायः सहायाप्तौ पृथिवीप्राप्तिमाहुः ॥ २० ॥
हे राजन् ! जिसका धन उसके सहायकोंमें बंटा हुआ नहीं है, अर्थात् जिसके धनको सहायक भी अपना ही समझकर भोगते हैं, वे सहायक ही उसके दुःखमें भी सहभागी होते हैं। यही उपाय सहायकोंको प्राप्त करनेका है और सहाय मिल जानेपर पृथिवी भी मिल जाती है ऐसा कहते हैं ॥ २० ॥

सत्यं श्रेष्ठं पाण्डव निष्प्रलापं तुल्यं चान्नं सह भोज्यं सहायैः ।
आत्मा चैषामग्रतो नातिवर्तेदेवंवृत्तिर्वर्धते भूमिपालः ॥ २१ ॥
हे पाण्डव ! अपने सहायकोंसे बड बड करनेकी अपेक्षा सत्य बोलना ही श्रेष्ठ है जो स्वयं खाये, वही उन्हें भी खिलाना चाहिए। उनके आगे अपनेको बडा न समझे; ऐसी वृत्तिका राजा ही वृद्धि प्राप्त करता है ॥ २१ ॥

युधिष्ठिर उवाच

एवं करिष्यामि यथा ब्रवीषि परां बुद्धिमुपगम्याप्रमत्तः ।
यच्चाप्यन्यद्देशकालोपपन्नं तद्वै वाच्यं तत्करिष्यामि कृत्स्नम् ॥ २२ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥ २०७ ॥

युधिष्ठिर बोले– आप जो कहते हैं, उसे मैं परमबुद्धि धारण कर सावधान होकर सब ऐसेही करूंगा, और भी देश और कालके अनुसार मेरे करने योग्य जो हो कहिये मैं सभी करूंगा ॥ २२ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें छठा अध्याय समाप्त ॥ ६ ॥ २०७ ॥

: ७ :

वैशम्पायन उवाच

गते तु विदुरे राजन्नाश्रमं पाण्डवान्प्रति ।
धृतराष्ट्रो महाप्राज्ञः पर्यतप्यत भारत ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– हे भरतवंशी राजन् जनमेजय ! जब विदुर पाण्डवोंके प्रति आश्रमको चले गये, तब महाबुद्धिमान् धृतराष्ट्रको बडा पश्चात्ताप हुआ ॥ १ ॥

स सभाद्वारमागम्य विदुरस्मारमोहितः ।
समक्षं पार्थिवेन्द्राणां पपाताविष्टचेतनः ॥ २ ॥

तब वे सभाके द्वारपर आकर और विदुरके स्मरणसे मोहित होकर राजाओंके सामने चेतना-शून्य होकर पृथिवीपर गिर पडे ॥ २ ॥

स तु लब्ध्वा पुनः संज्ञां समुत्थाय महीतलात् ।
समीपोपस्थितं राजा सञ्जयं वाक्यमब्रवीत् ॥ ३ ॥

पुनः संज्ञा प्राप्तकर और पृथिवीसे उठकर समीप खडे सञ्जयसे उस राजा धृतराष्ट्रने यह वचन कहा ॥ ३ ॥

भ्राता मम सुहृच्चैव साक्षाद्धर्म इवापरः ।
तस्य स्मृत्वाद्य सुभृशं हृदयं दीर्यतीव मे ॥ ४ ॥

मेरा विदुर भाई और मित्र और मानों साक्षात् दूसरा ही धर्मही था; उसे आज स्मरण करनेसे मेरा हृदय फटा जाता है ॥ ४ ॥

×

तमानयस्व धर्मज्ञं मम भ्रातरमाशु वै ।
इति ब्रुवन्स नृपतिः करुणं पर्यदेवयत् ॥ ५ ॥

तुम मेरे उस धर्मज्ञ भाईको शीघ्र ले आओ ऐसा कहते हुए राजा कारुणिक होकर बहुत दुःखी हुए ॥ ५ ॥

पश्चात्तापाभिसंतप्तो विदुरस्मारकर्शितः ।
भ्रातृस्नेहादिदं राजन्सञ्जयं वाक्यमब्रवीत् ॥ ६ ॥

हे राजन् ! पश्चात्तापसे जलते हुए, विदुरके स्मरणसे दुःखी राजाने भाईकी प्रीतिसे सञ्जयसे यह वाक्य कहा ॥ ६ ॥

गच्छ सञ्जय जानीहि भ्रातरं विदुरं मम ।
यदि जीवति रोषेण मया पापेन निर्धुतः ॥ ७ ॥

हे सञ्जय ! तुम शीघ्र जाओ और मेरे भाई विदुरके बारेमें जानो, कि मुझ पापीके द्वारा क्रोधमें आकर निकाला गया वह जीता भी है या नहीं ? ॥ ७ ॥

न हि तेन मम भ्रात्रा सुसूक्ष्ममपि किंचन ।
व्यलीकं कृतपूर्वं मे प्राज्ञेनामितबुद्धिना ॥ ८ ॥

उस पण्डित, अपार बुद्धिमान् मेरे भाई विदुरने पहले जराभी मेरा बुरा नहीं किया ॥ ८ ॥

स व्यलीकं कथं प्राप्तो मत्तः परमबुद्धिमान् ।
न जह्याज्जीवितं प्राज्ञस्तं गच्छानय संजय ॥ ९ ॥

वह परम बुद्धिमान् मुझसे अप्रिय कार्यको किस तरह प्राप्त हुआ ? हे बुद्धिमान् संजय ! जाओ, उसे तुम ले आवो, अन्यथा कहीं वह अपने प्राणको त्यांग न दे ॥ ९ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राज्ञस्तमनुमान्य च ।
संजयो बाढमित्युक्त्वा प्राद्रवत्काम्यकं वनम् ॥ १० ॥

महाराजके ऐसे वचन सुनकर और उनको मानकर ' बहुत अच्छा ' ऐसा कहकर सञ्जय काम्यक वनको चला ॥ १० ॥

सोऽचिरेण समासाद्य तद्वनं यत्र पाण्डवाः ।
रौरवाजिनसंवीतं ददर्शाथ युधिष्ठिरम् ॥ ११ ॥
विदुरेण सहासीनं ब्राह्मणैश्च सहस्रशः ।
भ्रातृभिश्चाभिसंगुप्तं देवैरिव शतक्रतुम् ॥ १२ ॥

सञ्जय शीघ्रही काम्यकवनमें जाकर जहां पाण्डव थे वहां पहुंचा और हरिणचर्म धारण किये विदुर तथा हजारों ब्राह्मणोंके सहित बैठे हुए, भाइयोंसे रक्षित, देवताओंसे घिरे हुए इन्द्रके समान बैठे हुए महाराज युधिष्ठिरको देखा ॥ ११-१२ ॥

युधिष्ठिरमथाभ्येत्य पूजयामास सञ्जयः ।
भीमार्जुनयमांश्चापि तदर्हं प्रत्यपद्यत ॥ १३ ॥

सञ्जयने युधिष्ठिरके पास जाकर उनकी पूजा की और भीम, अर्जुन, नकुल तथा सहदेवका भी यथायोग्य आदर किया ॥ १३ ॥

राज्ञा पृष्टः स कुशलं सुखासीनश्च सञ्जयः ।
शशंसागमने हेतुमिदं चैवाब्रवीद्वचः ॥ १४ ॥

जब कुशल प्रश्नके बाद वह संजय आरामसे बैठ गया तो राजासे पूछे जानेपर अपने आनेका कारण कहकर विदुरसे ऐसा कहने लगा ॥ १४ ॥

राजा स्मरति ते क्षत्तर्धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ।
तं पश्य गत्वा त्वं क्षिप्रं संजीवय च पार्थिवम् ॥ १५ ॥

हे क्षत्त ! अम्बिकाका पुत्र राजा धृतराष्ट्र तुम्हारा स्मरण करते हैं, अतः तुम शीघ्र चलकर उन्हें देखो और राजाको जिलाओ ॥ १५ ॥

सोऽनुमान्य नरश्रेष्ठान्पाण्डवान्कुरुनन्दनान् ।
नियोगाद्राजसिंहस्य गंतुमर्हसि मानद ॥ १६ ॥

हे सम्मानके योग्य विदुर ! तुम नरश्रेष्ठ कुरुनन्दन पाण्डवोंकी संमति लेकर और राजाओंमें सिंह धृतराष्ट्रकी आज्ञासे चले चलो ॥ १६ ॥

एवमुक्तस्तु विदुरो धीमान्स्वजनवत्सलः ।
युधिष्ठिरस्यानुमते पुनरायाद्गजाह्वयम् ॥ १७ ॥

सञ्जयके ऐसे वचन सुनकर बुद्धिमान् स्वजनके प्रिय विदुर युधिष्ठिरकी सम्मतिसे पुनः हस्तिनापुरको चले आये ॥ १७ ॥

तमब्रवीन्महाप्राज्ञं धृतराष्ट्रः प्रतापवान् ।
दिष्ट्या प्राप्तोऽसि धर्मज्ञ दिष्ट्या स्मरसि मेऽनघ ॥ १८ ॥

उन महाबुद्धिमान् विदुरको देखकर प्रतापी धृतराष्ट्र ऐसा कहने लगे— हे पापरहित ! हे धर्मज्ञ ! तुम सौभाग्यसे ही आये हो, और सौभाग्यसे ही तुम मुझे स्मरण करते हो ॥ १८ ॥

अद्य रात्रौ दिवा चाहं त्वत्कृते भरतर्षभ ।
प्रजागरे प्रपश्यामि विचित्रं देहमात्मनः ॥ १९ ॥

हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ ! आजकल तुम्हारे कारण दिनरात जागता रहता हूँ और अपने शरीरको विचित्र देखता हूँ ॥ १९ ॥

सोऽङ्कमादाय विदुरं मूर्ध्न्युपाघ्राय चैव ह ।
क्षम्यतामिति चोवाच यदुक्तोऽसि मया रुषा ॥ २० ॥

राजा धृतराष्ट्र विदुरको गलेसे लगाकर और माथा सूंघकर कहने लगे, कि मैंने क्रोधमें आकर जो कुछ तुम्हें कहा है उसके लिए मुझे क्षमा करो ॥ २० ॥

विदुर उवाच

क्षान्तमेव मया राजन्गुरुर्नः परमो भवान् ।
तथा ह्यस्म्यागतः क्षिप्रं त्वद्दर्शनपरायणः ॥ २१ ॥

विदुर बोले– हे महाराज ! आप हमारे बडे हैं, अतः मैंने सब क्षमाही कर दिया है, आपके दर्शनका अभिलाषी होकर मैं शीघ्र ही आ गया हूं ॥ २१ ॥

भवन्ति हि नरव्याघ्र पुरुषा धर्मचेतसः ।
दीनाभिपातिनो राजन्नात्र कार्या विचारणा ॥ २२ ॥

हे नरसिंह ! धर्मज्ञ लोग दीनोंके पक्षपाती होते ही हैं इसलिए, हे राजन् ! आपको इस विषयमें विचार करनेकी जरूरत नहीं है ॥ २२ ॥

पाण्डोः सुता यादृशा मे तादृशा मे सुतास्तव ।
दीना इति हि मे बुद्धिरभिपन्नाद्य तान्प्रति ॥ २३ ॥

मेरे लिए जैसे पाण्डुके पुत्र हैं, वैसेही मेरे लिये आपके पुत्र भी हैं, परन्तु वे पाण्डव दीन हैं, यह सोचकर ही उनका मैं पक्ष लेता हूं ॥ २३ ॥

वैशम्पायन उवाच

अन्योन्यमनुनीयैवं भ्रातरौ तौ महाद्युती ।
विदुरो धृतराष्ट्रश्च लेभाते परमां मुदम् ॥ २४ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि सप्तमोऽध्यायः॥ ७ ॥ २३१ ॥

वैशम्पायन बोले– इस प्रकार महातेजस्वी वे दोनों भाई विदुर और धृतराष्ट्र परस्पर अनुनय और विनय करके बहुत प्रसन्न हुए ॥ २४ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें सातवां अध्याय समाप्त ॥ ७ ॥ २३१ ॥

: ८ :

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा च विदुरं प्राप्तं राज्ञा च परिसान्त्वितम् ।
धृतराष्ट्रात्मजो राजा पर्यतप्यत दुर्मतिः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– जब दुर्मति धृतराष्ट्रके पुत्र राजा दुर्योधनने सुना कि विदुर पुनः आ गये हैं और राजाने उन्हें शान्त कर दिया है, तो वह महादुःखसे जलने लगा ॥ १ ॥

स सौबलं समानाय्य कर्णदुःशासनावपि ।
अब्रवीद्वचनं राजा प्रविश्याबुद्धिजं तमः ॥ २ ॥

तब राजा दुर्योधन शकुनि, कर्ण और दुःशासनको भी बुलाकर अबुद्धिरूपी अन्धकारमें प्रवेश करके ऐसे कहने लगा ॥ २ ॥

एष प्रत्यागतो मन्त्री धृतराष्ट्रस्य संमतः ।
विदुरः पाण्डुपुत्राणां सुहृद्विद्वान्हिते रतः ॥ ३ ॥

धृतराष्ट्रका प्रिय मन्त्री, पाण्डवोंका मित्र, उनके हितमें रत रहनेवाला विद्वान् विदुर लौट आया है ॥ ३ ॥

यावदस्य पुनर्बुद्धिं विदुरो नापकर्षति ।
पाण्डवानयने तावन्मन्त्रयध्वं हितं मम ॥ ४ ॥

जबतक पाण्डवोंके लौटा लानेके लिये विदुर इन राजाकी बुद्धिको न फेर दे तबतक मेरे हितके लिये आप कुछ मन्त्रणा करें ॥ ४ ॥

अथ पश्याम्यहं पार्थान्प्राप्तानिह कथंचन ।
पुनः शोषं गमिष्यामि निरासुर्निरवग्रह ॥ ५ ॥

यदि मैं किसी प्रकारसे पाण्डवोंको यहां आया हुआ देख लूंगा तो विना प्राणके निराहार होकर सूख जाऊंगा ॥ ५ ॥

विषमुद्बन्धनं वापि शस्त्रमग्निप्रवेशनम् ।
करिष्ये न हि तानृद्धान्पुनर्द्रष्टुमिहोत्सहे ॥ ६ ॥

विष खाकर, गलेमें फांसी डालकर, अथवा शस्त्रसे स्वयंको काटकर अथवा अग्निमें प्रवेश करके मर जाऊंगा, परंतु उन पाण्डवोंको फिरसे समृद्धशाली होते हुए नहीं देख सकूंगा ॥ ६ ॥

शकुनिरुवाच

किं बालिशां मतिं राजन्नास्थितोऽसि विशां पते ।
गतास्ते समयं कृत्वा नैतदेवं भविष्यति ॥ ७ ॥

शकुनि बोला– हे प्रजाओंके स्वामी राजन् ! तुम भी क्या मूर्खोंके समान बुद्धिमें पडे हुए हो ? पाण्डवलोग प्रण करके गये हैं, वे ऐसा नहीं करेंगे अर्थात् वे फिर वापस नहीं आएंगे ॥ ७ ॥

सत्यवाक्ये स्थिताः सर्वे पाण्डवा भरतर्षभ।
पितुस्ते वचनं तात न ग्रहीष्यन्ति कर्हिचित् ॥ ८ ॥

हे भरतश्रेष्ठ तात दुर्योधन ! सभी पाण्डव सत्यवाक्यमें स्थित हैं; तुम्हारे पिताके वचनको भी वे कदापि स्वीकार नहीं करेंगे ॥ ८ ॥

अथ वा ते ग्रहीष्यन्ति पुनरेष्यन्ति वा पुरम्।
निरस्य समयं भूयः पणोऽस्माकं भविष्यति ॥ ९ ॥

और यदि कदाचित् स्वीकार करके अपनी प्रतिज्ञा तोडकर पुनः नगरमें आही जाये, तो हम सब अपने कार्य व्यवहारका निश्चय कर लेंगे ॥ ९ ॥

सर्वे भवामो मध्यस्था राज्ञश्छन्दानुवर्तिनः।
छिद्रं बहु प्रपश्यन्तः पाण्डवानां सुसंवृताः ॥ १० ॥

हम सब बाहरसे तो राजाकी आज्ञामें रहते हुए राजाके कार्योंमें मध्यस्थ बने रहेंगे, पर गुप्त रूपसे पाण्डवोंके छिद्र-दोष देखते रहेंगे ॥ १० ॥

दुःशासन उवाच

एवमेतन्महाप्राज्ञ यथा वदसि मातुल।
नित्यं हि मे कथयतस्तव बुद्धिर्हि रोचते ॥ ११ ॥

दुःशासन बोला– हे मामा ! हे महाप्राज्ञ ! जो तुमने कहा सो सब ठीक है; तुम जो हमेशा कहते हो, मुझे बहुत पसन्द आता है ॥ ११ ॥

कर्ण उवाच

काममीक्षामहे सर्वे दुर्योधन तवेप्सितम्।
ऐकमत्यं हि नो राजन्सर्वेषामेव लक्ष्यते ॥ १२ ॥

कर्ण बोला– हे दुर्योधन ! हम सब यथायोग्य तुम्हारे हितको देखते रहते हैं; हे राजन् ! इस विषयमें हम सबका एक मत है; यही मुझे प्रतीत होता है ॥ १२ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु कर्णेन राजा दुर्योधनस्तदा।
नातिहृष्टमनाः क्षिप्रमभवत्स पराङ्मुखः ॥ १३ ॥

वैशम्पायन बोले– जब कर्णने राजा दुर्योधनसे ऐसा कहा, तब वह अति अप्रसन्न हुआ और जल्दी ही उसने अपना मुंह फेर लिया ॥ १३ ॥

उपलभ्य ततः कर्णो विवृत्य नयने शुभे ।
रोषाद्दुःशासनं चैव सौबलेयं च तावुभौ ॥ १४ ॥
उवाच परमक्रुद्ध उद्यम्यात्मानमात्मना ।
अहो मम मतं यत्तन्निबोधत नराधिपाः ॥ १५ ॥

तब दुर्योधनके आशयको समझकर कर्ण अपने शुभनेत्र फैलाकर क्रोधमें भरकर उन दोनों दुःशासन और शकुनीको देखकर और अपने अन्तःकरणको स्थिर करके बहुत क्रुद्ध होकर बोला– हे राजाओ ! इस विषयमें मेरा जो मत है, उसे सुनो ॥ १४-१५ ॥

प्रियं सर्वे चिकीर्षामो राज्ञः किंकरपाणयः ।
न चास्य शक्नुमः सर्वे प्रिये स्थातुमतन्द्रिताः ॥ १६ ॥

राजा दुर्योधनके दास हम सब राजाका प्रिय कार्य करना चाहता हैं पर हम सब आलस्य छोडकर इस दुर्योधनका प्रिय नहीं कर पाते ॥ १६ ॥

वयं तु शस्त्राण्यादाय रथानास्थाय दंशिताः ।
गच्छामः सहिता हन्तुं पाण्डवान्वनगोचरान् ॥ १७ ॥

हम सब तैयार होकर रथोंमें बैठकर शस्त्रोंको धारण करके सेना लेकर वनमें घूमनेवाले पाण्डवोंको मारनेको चलें ॥ १७ ॥

तेषु सर्वेषु शान्तेषु गतेष्वविदितां गतिम् ।
निर्विवादा भविष्यन्ति धार्तराष्ट्रास्तथा वयम् ॥ १८ ॥

वे सब जब शान्त होकर अविदित गतिको प्राप्त हो जाएंगे अर्थात् मर जायेंगे, तब धृतराष्ट्रके पुत्र और हम सब भी झगडोंसे दूर हो जायेंगे ॥ १८ ॥

यावदेव परिद्यूना यावच्छोकपरायणाः ।
यावन्मित्रविहीनाश्च तावच्छक्या मतं मम ॥ १९ ॥

जब तक पाण्डव दुःखी हैं, जब तक शोकसे युक्त हैं, जबतक मित्रोंसे हीन हैं, मेरे विचारमें तभी तक वे जीते जा सकते हैं ॥ १९ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा पूजयन्तः पुनः पुनः ।
बाढमित्येव ते सर्वे प्रत्यूचुः सूतजं तदा ॥ २० ॥

सूतपुत्र कर्णके यह वचन सुनकर उन सबने ही इसकी बार बार प्रशंसा की और उस सूतपुत्र कर्णसे सबने " बहुत अच्छा, बहुत अच्छा " ऐसा ही कहा ॥ २० ॥

एवमुक्त्वा तु संक्रुद्धा रथैः सर्वे पृथक्पृथक्।
निर्ययुः पाण्डवान्हन्तुं संघशः कृतनिश्चयाः ॥ २१ ॥
सब क्रोधित हुए हुए वे इसप्रकार कहकर और निश्चय करके सब इकट्ठे होकर अपने अपने रथोंपर चढकर पाण्डवोंको मारने चले ॥ २१ ॥

तान्प्रस्थितान्परिज्ञाय कृष्णद्वैपायनस्तदा।
आजगाम विशुद्धात्मा दृष्ट्वा दिव्येन चक्षुषा ॥ २२ ॥
अपने दिव्यनेत्रसे उन सबोंको जाते हुए जानकर भगवान् शुद्धात्मा कृष्णद्वैपायन व्यासमुनि उनके पास आये ॥ २२ ॥

प्रतिषिध्याथ तान्सर्वान्भगवाँल्लोकपूजितः।
प्रज्ञाचक्षुषमासीनमुवाचाभ्येत्य सत्वरः ॥ २३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥ २५४ ॥

लोकपूजित भगवान् व्यासमुनि उन सबको जानेसे मना करके शीघ्रही बैठे हुए अन्धे धृतराष्ट्रके पास जाकर ऐसा बोले ॥ २३ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें आठवां अध्याय समाप्त ॥ १९४ ॥ २५४ ॥

: ९ :

व्यास उवाच

धृतराष्ट्र महाप्राज्ञ निबोध वचनं मम।
वक्ष्यामि त्वा कौरवाणां सर्वेषां हितमुत्तमम् ॥ १ ॥
व्यास बोले– हे महाप्राज्ञ धृतराष्ट्र! सब कौरवोंका हित करनेवाला वचन जो हम तुमसे कहते हैं; उसे सुनो ॥ १ ॥

न मे प्रियं महाबाहो यद्गताः पाण्डवा वनम्।
निकृत्या निर्जिताश्चैव दुर्योधनवशानुगैः ॥ २ ॥
हे महाबाहो! दुर्योधनके वशमें रहनेवाले उसके अनुयायियोंके द्वारा छलपूर्वक जीते जाकर तथा अपमानित होकर पाण्डव जो वनको गए, वह मुझे अच्छा नहीं लगा ॥ २ ॥

ते स्मरन्तः परिक्लेशान्वर्षे पूर्णे त्रयोदशे।
विमोक्ष्यन्ति विषं क्रुद्धाः कौरवेयेषु भारत ॥ ३ ॥
हे भारत! वे लोग तेरह वर्ष पूरे होनेपर अपने क्लेशोंको स्मरण कर क्रोधित होकर कुरुकुल पर विष बरसायेंगे ॥ ३ ॥

तदयं किं नु पापात्मा तव पुत्रः सुमन्दधीः ।
पाण्डवान्नित्यसंक्रुद्धो राज्यहेतोर्जिघांसति ॥ ४ ॥

यह पापात्मा अत्यंत मंद बुद्धिवाला तुम्हारा पुत्र सदा क्रोधी दुर्योधन राज्यके निमित्त पाण्डवोंको मार डालना चाहता है ॥ ४ ॥

वार्यतां साध्वयं मूढः शमं गच्छतु ते सुतः ।
वनस्थांस्तानयं हन्तुमिच्छन्प्राणैर्विमोक्ष्यते ॥ ५ ॥

इसलिए अच्छा हो कि तुम इस मूर्खबुद्धिको रोक दो, तुम्हारा यह पुत्र शान्त हो; अन्यथा वनवासी पाण्डवोंको मारनेकी इच्छा करता हुआ यह दुर्योधन अपने ही प्राण खो बैठेगा ॥ ५ ॥

यथाह विदुरः प्राज्ञो यथा भीष्मो यथा वयम् ।
यथा कृपश्च द्रोणश्च तथा साधु विधीयताम् ॥ ६ ॥

जैसे महाबुद्धिमान् विदुर, भीष्म, हम, द्रोणाचार्य और कृपाचार्य कहते हैं, उसीप्रकार तुम भी करो ॥ ६ ॥

विग्रहो हि महाप्राज्ञ स्वजनेन विगर्हितः ।
अधर्म्यमयशस्यं च मा राजन्प्रतिपद्यथाः ॥ ७ ॥

हे महाप्राज्ञ ! अपने ही पुरुषोंसे लडना निन्दनीय, अधर्मको बढानेवाला और यशनाशक है, अतएव तुम उसे मत करो ॥ ७ ॥

समीक्षा यादृशी ह्यस्य पाण्डवान्प्रति भारत ।
उपेक्ष्यमाणा सा राजन्महान्तमनयं स्पृशेत् ॥ ८ ॥

हे भारत ! दुर्योधनके पाण्डवोंके प्रति जैसे विचार हैं, हे राजन् ! यदि तुम उसकी उपेक्षा करोगे, तो बडा अन्याय होगा ॥ ८ ॥

अथ वायं सुमन्दात्मा वनं गच्छतु ते सुतः ।
पाण्डवैः सहितो राजन्नेक एवासहायवान् ॥ ९ ॥

हे राजन् ! अथवा यह तुम्हारा मूर्ख पुत्र सहायहीन होकर अकेला ही वनको चला जाए और पाण्डवोंके साथ रहे ॥ ९ ॥

ततः संसर्गजः स्नेहः पुत्रस्य तव पाण्डवैः ।
यदि स्यात्कृतकार्योऽद्य भवेस्त्वं मनुजेश्वर ॥ १० ॥

तब तुम्हारे पुत्रमें पाण्डवोंके साथ रहनेसे उनके प्रति प्रेम उत्पन्न हो तो, हे नरनाथ ! तुम कृतकृत्य हो जावोगे ॥ १० ॥

×

अथ वा जायमानस्य यच्छीलमनुजायते।
श्रूयते तन्महाराज नामृतस्यापसर्पति ॥ ११ ॥

परन्तु यह भी असंभव है, क्योंकि, हे महाराज ! यह सुना है, कि उत्पन्न होनेके साथ ही जिसका जो स्वभाव होता है, वह मरनेतक नहीं छूटता ॥ ११ ॥

कथं वा मन्यते भीष्मो द्रोणो वा विदुरोऽपि वा।
भवान्वात्र क्षमं कार्यं पुरा चार्थोऽतिवर्तते ॥ १२ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥ २६६ ॥

भीष्म, द्रोण, विदुर और आपका इस कार्यमें क्या विचार है कहिए, जो योग्य हो उसे अभी करना चाहिए, अन्यथा आगे चलकर करना असंभव हो जाएगा ॥ १२ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें नौवां अध्याय समाप्त ॥ ९ ॥ २६६ ॥

: 10 :

धृतराष्ट्र उवाच

भगवन्नाहमप्येतद्रोचये द्यूतसंस्तवम्।
मन्ये तद्विधिनाक्रम्य कारितोऽस्मीति वै मुने ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले– हे भगवन् ! हे मुने ! यह जुआ मुझे भी प्रिय नहीं था; पर जान पडता है कि प्रारब्धने ही मुझपर प्रभाव डालकर मुझसे यह काम करवाया है ॥ १ ॥

नैतद्रोचयते भीष्मो न द्रोणो विदुरो न च।
गान्धारी नेच्छति द्यूतं तच्च मोहात्प्रवर्तितम् ॥ २ ॥

न भीष्म, न द्रोण, न विदुर और न यह गान्धारीको जुआ अच्छा लगा, परन्तु मोहसे यह हो गया ॥ २ ॥

परित्यक्तुं न शक्नोमि दुर्योधनमचेतनम्।
पुत्रस्नेहेन भगवञ्जानन्नपि यतव्रत ॥ ३ ॥

हे भगवन् ! हे व्रत करनेवाले ! मैं दुर्योधनको मूर्ख जानकर भी पुत्रस्नेहके कारण छोड नहीं सकता ॥ ३ ॥

व्यास उवाच

वैचित्रवीर्य नृपते सत्यमाह यथा भवान्।
दृढं वेद्मि परं पुत्रं परं पुत्रान्न विद्यते ॥ ४ ॥

व्यास बोले– हे विचित्रवीर्यके पुत्र राजन् ! आपने सत्य कहा, और मैं भी जानता हूं कि पुत्र परम प्रिय है और पुत्रसे अधिक प्रिय और कोई भी नहीं है ॥ ४ ॥

इन्द्रोऽप्यश्रुनिपातेन सुरभ्या प्रतिबोधितः ।
अन्यैः समृद्धैरप्यर्थैर्न सुतादृिद्यते परम्　　　　॥ ५ ॥

इन्द्रको भी जब सुरभीने आंसु बहाकर पुत्रप्रेमकी यह बात समझायी थी, तब इन्द्र भी यह बात समझ गया था कि अन्य समृद्धियों और ऐश्वर्योंके होनेपर भी पुत्रके समान कोई वस्तु नहीं है ॥ ५ ॥

अत्र ते वर्तयिष्यामि महदाख्यानमुत्तमम् ।
सुरभ्याश्चैव संवादमिन्द्रस्य च विशां पते　　　　॥ ६ ॥

हे प्रजापते ! यहां मैं इन्द्र और सुरभीका संवादरूप बहुत उत्तम कथा कहता हूँ ॥ ६ ॥

त्रिविष्टपगता राजन्सुरभिः प्रारुदत्किल ।
गवां माता पुरा तात तामिन्द्रोऽन्वकृपायत　　　　॥ ७ ॥

हे प्रिय राजन् ! प्राचीनकालमें एकबार गायोंकी माता सुरभी स्वर्गमें गई और रोने लगी। तब इन्द्रने उसके ऊपर कृपा की ॥ ७ ॥

इन्द्र उवाच

किमिदं रोदिषि शुभे कच्चित्क्षेमं दिवौकसाम् ।
मानुषेष्वथ वा गोषु नैतदल्पं भविष्यति　　　　॥ ८ ॥

इन्द्र बोले– हे शुभे ! तुम क्यों रोती हो; कहो, देवता, मनुष्य और गौओंमें कुशल तो है ? क्योंकि तुम्हारा रोना किसी छोटे कारण पर नहीं होता ॥ ८ ॥

सुरभिरुवाच

विनिपातो न वः कश्चिद्दृश्यते त्रिदशाधिप ।
अहं तु पुत्रं शोचामि तेन रोदिमि कौशिक　　　　॥ ९ ॥

सुरभी बोली– हे इन्द्र ! हे सुराधिप ! तुम्हारी कोई क्षति नहीं दिखाई देती है, मैं अपने पुत्रको देखकर शोक कर रही हूं और इसीलिये रोती हूं ॥ ९ ॥

पश्यैनं कर्षकं रौद्रं दुर्बलं मम पुत्रकम् ।
प्रतोदेनाभिनिघ्नन्तं लाङ्गलेन निपीडितम्　　　　॥ १० ॥

इस भयंकर किसानको देखो, जो मेरे दुर्बल पुत्रको कोडेसे मार रहा है और हलमें जोतकर पीडा दे रहा है ॥ १० ॥

एतं दृष्ट्वा भृशं श्रान्तं वध्यमानं सुराधिप ।
कृपाविष्टास्मि देवेन्द्र मनश्चोद्विजते मम　　　　॥ ११ ॥

हे सुराधिप देवेन्द्र ! बहुत थके हुए और पिटते हुए इसे देखकर मुझे दया आती है और मेरा मन दुःखी होता है ॥ ११ ॥

एकस्तत्र बलोपेतो धुरमुद्वहतेऽधिकाम् ।
अपरोऽल्पबलप्राणः कृशो धमनिसन्ततः ।
कृच्छ्रादुद्वहते भारं तं वै शोचामि वासव ॥ १२ ॥

हलमें दो बैल जुते हुए हैं, उनमें जो बलवान् है, वह तो भारी जुएमें जुता हुआ है, दूसरा जो दुर्बल और पतला और जिसकी शिरायें दीख रही हैं, हे वासव! वह कठिनतासे भारको लेजा पा रहा है। मैं इसीके लिए शोक करती हूं ॥ १२ ॥

वध्यमानः प्रतोदेन तुद्यमानः पुनः पुनः ।
नैव शक्नोति तं भारमुद्वोढुं पश्य वासव ॥ १३ ॥

हे इन्द्र! देखो, कोडेसे पिटनेपर भी और बारबार पीडा दिए जानेपर भी उस भारको नहीं ले जा पा रहा है ॥ १३ ॥

ततोऽहं तस्य दुःखार्ता विरौमि भृशदुःखिता ।
अश्रूण्यावर्तयन्ती च नेत्राभ्यां करुणायती ॥ १४ ॥

मैं उसीके दुःखसे अत्यन्त दुःखी होकर रो रही हूं, और मेरे नेत्रोंसे आंसू करुणासहित बह रहे हैं ॥ १४ ॥

इन्द्र उवाच

तव पुत्रसहस्रेषु पीडयमानेषु शोभने ।
किं कृपायितमस्त्यत्र पुत्र एकोऽत्र पीडयते ॥ १५ ॥

इन्द्र बोले– हे सुशोभने! तुम्हारे सहस्रों पुत्र पीडित हो रहे हैं, परन्तु तुम इस एक ही पुत्रको पीडित होता देखकर क्यों रोती हो? ॥ १५ ॥

सुरभिरुवाच

यदि पुत्रसहस्रं मे सर्वत्र सममेव मे ।
दीनस्य तु सतः शक्र पुत्रस्याभ्यधिका कृपा ॥ १६ ॥

सुरभी बोली– हे शक्र! यद्यपि मेरे लिए सहस्र पुत्र समान ही हैं, तथापि दीन पुत्रपर मुझे अधिक दया आती है ॥ १६ ॥

व्यास उवाच

तदिन्द्रः सुरभीवाक्यं निशम्य भृशविस्मितः ।
जीवितेनापि कौरव्य मेनेऽभ्यधिकमात्मजम् ॥ १७ ॥

व्यास बोले– हे कौरववंशी धृतराष्ट्र! सुरभीका यह वचन सुनकर इन्द्र अत्यन्त विस्मित हुए; हे राजन्! उन्होंने जाना कि पुत्र जीवनसे भी अधिक प्यारा होता है ॥ १७ ॥

प्रववर्ष च तत्रैव सहसा तोयमुल्बणम् ।
कर्षकस्याचरन्विघ्नं भगवान्पाकशासनः ॥ १८ ॥

उसी समय भगवान् इन्द्रने वहां पृथिवीपर अचानक ही बहुतसी जलवर्षा की और बैल जोतनेवाले किसानके काममें विघ्न डाल दिया ॥ १८ ॥

तद्यथा सुरभिः प्राह सममेवास्तु ते तथा ।
सुतेषु राजन्सर्वेषु दीनेष्वभ्यधिका कृपा ॥ १९ ॥

अतः जैसे सुरभीने कहा था, वैसे ही सभी पुत्रोंपर तुम्हारी समान कृपा रहे; पर, हे राजन्! जो पुत्र दीन हों उन पर अधिक कृपा हो ॥ १९ ॥

यादृशो मे सुतः पाण्डुस्तादृशो मेऽसि पुत्रक ।
विदुरश्च महाप्राज्ञः स्नेहादेतद्ब्रवीम्यहम् ॥ २० ॥

हे पुत्र ! जैसे पाण्डु मेरे पुत्र थे, वैसे ही तुम भी हो और वैसे ही महाबुद्धिमान् विदुर भी हैं, इसी स्नेहसे यह सब कहने आया हूं ॥ २० ॥

चिराय तव पुत्राणां शतमेकश्च पार्थिव ।
पाण्डोः पञ्चैव लक्ष्यन्ते तेऽपि मन्दाः सुदुःखिताः ॥ २१ ॥

इसके अलावा, हे राजन् ! तुम्हारे एकसौ एक पुत्र हैं, और पाण्डुके पांच ही दीखते हैं, वे भी दीन और दुःखी हैं ॥ २१ ॥

कथं जीवेयुरत्यन्तं कथं वर्धेयुरित्यपि ।
इति दीनेषु पार्थेषु मनो मे परितप्यते ॥ २२ ॥

ये लोग कैसे जीयेंगे और कैसे बढेंगे; यही सोचकर इन दुःखी पाण्डवोंके लिए मेरा चित्त दुःखी होता है ॥ २२ ॥

यदि पार्थिव कौरव्याञ्जीवमानानिहेच्छसि ।
दुर्योधनस्तव सुतः शमं गच्छतु पाण्डवैः ॥ २३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥ २८९ ॥

हे राजन् ! यदि तुम कौरवोंको यहां जिन्दा देखना चाहते हो, तो तुम्हारा पुत्र दुर्योधन पाण्डवोंके साथ शान्तिसे रहे ॥ २३ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दसवां अध्याय समाप्त ॥ १० ॥ २८९ ॥

: ११ :

धृतराष्ट्र उवाच

एवमेतन्महाप्राज्ञ यथा वदासि नो मुने।
अहं चैव विजानामि सर्वे चेमे नराधिपाः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले– हे महाप्राज्ञ मुने! जो आपने हमसे कहा है वह सब सत्य है, इस बातको मैं और यह सब राजा भी जानते हैं ॥ १ ॥

भवांस्तु मन्यते साधु यत्कुरूणां सुखोदयम्।
तदेव विदुरोऽप्याह भीष्मो द्रोणश्च मां मुने ॥ २ ॥

हे मुने! आप जिस प्रकारसे कुरुकुलका उदय अच्छी तरह चाहते हैं, वैसेही मुझसे भीष्म, विदुर और द्रोणने भी कहा था ॥ २ ॥

यदि त्वहमनुग्राह्यः कौरवेषु दया यदि।
अनुशाधि दुरात्मानं पुत्रं दुर्योधनं मम ॥ ३ ॥

यदि आप मुझे कृपापात्र समझते हैं, और कुरुकुलपर आपकी दया है, तो मेरे दुरात्मा दुर्योधन पुत्रको उपदेश दीजिये ॥ ३ ॥

व्यास उवाच

अयमायाति वै राजन्मैत्रेयो भगवानृषिः।
अन्वीय पाण्डवान्भ्रातॄनिहैवास्मद्दिदृक्षया ॥ ४ ॥

व्यास बोले– हे राजन्! पांचों भाई पाण्डवोंको उपदेश देकर भगवान् मैत्रेय ऋषि हमें देखनेकी अभिलाषासे यहीं चले आते हैं ॥ ४ ॥

एष दुर्योधनं पुत्रं तव राजन्महानृषिः।
अनुशास्ता यथान्यायं शमायास्य कुलस्य ते ॥ ५ ॥

हे राजन्! ये महाऋषि न्यायानुसार तुम्हारे इस कुलमें शान्तिके लिए तुम्हारे पुत्र दुर्योधनको उपदेश देंगे ॥ ५ ॥

ब्रूयाद्यदेष राजेन्द्र तत्कार्यमविशङ्कया।
अक्रियायां हि कार्यस्य पुत्रं ते शप्स्यते रुषा ॥ ६ ॥

हे राजेन्द्र! यह मुनि जो कहें, उसे शङ्कारहित होकर करना चाहिए, इनका कहा कार्य न करनेसे यह क्रोधयुक्त होकर तुम्हारे पुत्रको शाप दे देंगे ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा ययौ व्यासो मैत्रेयः प्रत्यदृश्यत ।
पूजया प्रतिजग्राह सपुत्रस्तं नराधिपः ॥ ७ ॥

वैशम्पायन बोले– ऐसा कहकर व्यास चले गए और मैत्रेयमुनि दिखाई दिए; पुत्रोंके समेत राजा धृतराष्ट्रने अर्घादिसे उनका स्वागत किया ॥ ७ ॥

दत्त्वार्घ्याद्याः क्रियाः सर्वा विश्रान्तं मुनिपुंगवम् ।
प्रश्रयेणाब्रवीद्राजा धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ॥ ८ ॥

अर्घ्य आदि सब क्रियाओंके किए जानेके बाद मुनियोंमें श्रेष्ठ मैत्रेय जब शान्त हुए तब अंबिकापुत्र धृतराष्ट्र विनयपूर्वक ऐसा बोले ॥ ८ ॥

सुखेनागमनं कच्चिद्भगवन्कुरुजाङ्गले ।
कच्चित्कुशलिनो वीरा भ्रातरः पञ्च पाण्डवाः ॥ ९ ॥

हे भगवन् ! कहिये, आप कुरुजांगल देशमें सुखसे तो आये, कहिये, पांचों भाई वीर पाण्डव कुशलसे तो हैं ? ॥ ९ ॥

समये स्थातुमिच्छन्ति कच्चिच्च पुरुषर्षभाः ।
कच्चित्कुरूणां सौभ्रात्रमव्युच्छिन्नं भविष्यति ॥ १० ॥

पुरुषोंमें श्रेष्ठ वे पाण्डव अपनी प्रतिज्ञामें तो रहना चाहते हैं, या नहीं ? कहिये, कुरुवंशमें भाईचारा तो न टूटेगा ? ॥ १० ॥

मैत्रेय उवाच

तीर्थयात्रामनुक्रामन्प्राप्तोऽस्मि कुरुजाङ्गलम् ।
यदृच्छया धर्मराजं दृष्टवान्काम्यके वने ॥ ११ ॥

मैत्रेय बोले– मैं तीर्थयात्रा करता हुआ कुरुजांगलदेशको प्राप्त हुआ हूं । हे प्रभो ! मैंने काम्यक वनमें भाग्यसे धर्मराजको देखा ॥ ११ ॥

तं जटाजिनसंवीतं तपोवननिवासिनम् ।
समाजग्मुर्महात्मानं द्रष्टुं मुनिगणाः प्रभो ॥ १२ ॥

जटा और मृगचर्म धारण किए हुए और तपोवनमें रहनेवाले उन महात्माको देखनेके निमित्त अनेक मुनियोंके समूह आये ॥ १२ ॥

तत्राश्रौषं महाराज पुत्राणां तव विभ्रमम् ।
अनयं द्यूतरूपेण महापायमुपस्थितम् ॥ १३ ॥

हे महाराज ! वहां आपके पुत्रोंका जुआरूपी अन्याय और भूल सुनी, वह अब महाभयके रूपमें उपस्थित है ॥ १३ ॥

ततोऽहं त्वामनुप्राप्तः कौरवाणामवेक्षया ।
सदा ह्यभ्यधिकः स्नेहः प्रीतिश्च त्वयि मे प्रभो 　　॥ १४ ॥

हे प्रभो ! आपमें मेरी सदा बहुतही प्रीति और स्नेह है, अतएव मैं कौरवोंके कल्याणार्थ वहांसे आपके पास आया हूं ॥ १४ ॥

नैतदौपयिकं राजंस्त्वयि भीष्मे च जीवति ।
यदन्योन्येन ते पुत्रा विरुध्यन्ते नराधिप 　　॥ १५ ॥

हे राजन् ! आप और भीष्मके जीतेजी यह उचित नहीं था कि, हे नराधिप ! आपके पुत्र एक दूसरेसे विरोध करें ॥ १५ ॥

मेढीभूतः स्वयं राजन्निग्रहे प्रग्रहे भवान् ।
किमर्थमनयं घोरमुत्पतन्तमुपेक्षसे 　　॥ १६ ॥

हे राजन् ! अभी तो आप स्वयंही युद्ध और अशुभके निवारण करनेके लिए पशुकी रस्सीके समान उपस्थित हैं । आप इस उत्पन्न हुए घोर अन्यायकी उपेक्षा क्यों कर रहे हैं ? ॥ १६ ॥

दस्यूनामिव यद्वृत्तं सभायां कुरुनन्दन ।
तेन न भ्राजसे राजंस्तापसानां समागमे 　　॥ १७ ॥

हे कुरुनन्दन ! आपने सभाके मध्यमें जो दस्युके जैसा काम किया, उससे आप मुनियोंके साथमें बैठकर शोभा नहीं पाते ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो व्यावृत्य राजानं दुर्योधनममर्षणम् ।
उवाच श्लक्ष्णया वाचा मैत्रेयो भगवानृषिः 　　॥ १८ ॥

वैशम्पायन बोले– तब भगवान् मैत्रेय ऋषि असहिष्णु राजा दुर्योधनकी ओर मुख करके मीठी वाणीसे बोले ॥ १८ ॥

दुर्योधन महाबाहो निबोध वदतां वर ।
वचनं मे महाप्राज्ञ ब्रुवतो यद्धितं तव 　　॥ १९ ॥

हे महाबाहो ! हे बोलनेवालोंमें श्रेष्ठ ! हे महाप्राज्ञ दुर्योधन ! मैं जो तुम्हारे हितके वचन कहता हूं, वह सुनो ॥ १९ ॥

मा द्रुहः पाण्डवान्राजन्कुरुष्व हितमात्मनः ।
पाण्डवानां कुरूणां च लोकस्य च नरर्षभ 　　॥ २० ॥

हे नरश्रेष्ठ राजन् ! पाण्डवोंसे द्वेष मत करो । अपना, पाण्डवोंका, कौरवोंका और सब लोकोंका हित करो ॥ २० ॥

ते हि सर्वे नरव्याघ्राः शूरा विक्रान्तयोधिनः ।
सर्वे नागायुतप्राणा वज्रसंहनना दृढाः ॥ २१ ॥

वे सब पाण्डुपुत्र पुरुषोंमें सिंहके समान पराक्रमी, शूर, तेजस्वी, महायुद्धकारी हैं और सभी दस हजार हाथियोंके बलवाले और वज्रके समान दृढ शरीरवाले हैं ॥ २१ ॥

सत्यव्रतपराः सर्वे सर्वे पुरुषमानिनः ।
हन्तारो देवशत्रूणां रक्षसां कामरूपिणाम् ।
हिडिम्बबकमुख्यानां किर्मीरस्य च रक्षसः ॥ २२ ॥

वे सब सत्यव्रत धारी, सभी अपने पराक्रमपर अभिमान करनेवाले, हिडिंब-बक आदि राक्षसोंमें मुख्य, कामरूपी देवशत्रु राक्षसोंको और किर्मीरको मारनेवाले हैं ॥ २२ ॥

इतः प्रच्यवतां रात्रौ यः स तेषां महात्मनाम् ।
आवृत्य मार्गं रौद्रात्मा तस्थौ गिरिरिवाचलः ॥ २३ ॥

जो अभी यहांसे जाते हुए रात्रिको पर्वतके समान अचल, भयानक शरीरवाला किर्मीर उन महात्माओंके मार्गको रोककर खडा हो गया था ॥ २३ ॥

तं भीमः समरश्लाघी बलेन बलिनां वरः ।
जघान पशुमारेण व्याघ्रः क्षुद्रमृगं यथा ॥ २४ ॥

तब युद्धप्रिय बलवानोंमें श्रेष्ठ भीमने अपने बलसे उसे पशुके समान, जैसे सिंह छोटे हरिणको मारता है उसी तरह मार डाला ॥ २४ ॥

पश्य दिग्विजये राजन्यथा भीमेन पातितः ।
जरासन्धो महेष्वासो नागायुतबलो युधि ॥ २५ ॥

हे राजन् ! दिग्विजयमें भीमसेनने दस हजार हाथियोंके समान बलवाले, महाधनुर्धारी जरासन्धको युद्धमें जिस प्रकार मार डाला था, उसे याद करो ॥ २५ ॥

संबन्धी वासुदेवश्च येषां श्यालश्च पार्षतः ।
कस्तान्युधि समासीत जरामरणवान्नरः ॥ २६ ॥

श्रीकृष्ण जिनके संबन्धी हैं; पृषत्वंशी धृष्टद्युम्न जिनका साला है, ऐसे उन पाण्डवोंसे जरा और मृत्युयुक्त कौन पुरुष युद्धमें लड सकता है ? ॥ २६ ॥

तस्य ते शम एवास्तु पाण्डवैर्भरतर्षभ ।
कुरु मे वचनं राजन्मा मृत्युवशमन्वगाः ॥ २७ ॥

हे भरतर्षभ ! उन पाण्डवोंके साथ तुम्हारी सन्धिही हो, हे राजन् ! मेरी बात मानो; क्रोधके वशमें मत हो ॥ २७ ॥

×

एवं तु ब्रुवतस्तस्य मैत्रेयस्य विशां पते।
ऊरुं गजकराकारं करेणाभिजघान सः ॥ २८ ॥

हे राजन्! इस प्रकार कहते हुए भगवान् मैत्रेयके सामने ही दुर्योधनने हाथीकी सूंडके समान आकारवाली अपनी जांघपर अपना हाथ मारा ॥ २८ ॥

दुर्योधनः स्मितं कृत्वा चरणेनालिखन्महीम्।
न किंचिदुक्त्वा दुर्मेधास्तस्थौ किंचिदवाङ्मुखः ॥ २९ ॥

दुर्योधन हंसकर चरणसे पृथिवीको खुरेदने लगा, दुर्बुद्धि दुर्योधन कुछ न बोला और थोडा सिर नीचा करके बैठ गया ॥ २९ ॥

तमशुश्रूषमाणं तु विलिखन्तं वसुन्धराम्।
दृष्ट्वा दुर्योधनं राजन्मैत्रेयं कोप आविशत् ॥ ३० ॥

हे राजन् जनमेजय! उस दुर्योधनको अपनी बात अनुसुनी करते तथा पैरके अंगूठेसे पृथ्वीको खुरेदते देखकर मैत्रेय क्रोधसे भर गए ॥ ३० ॥

स कोपवशमापन्नो मैत्रेयो मुनिसत्तमः।
विधिना संप्रयुक्तश्च शापायास्य मनो दधे ॥ ३१ ॥

मुनियोंमें श्रेष्ठ मैत्रेयने क्रोधके वशमें होकर और ब्रह्मासे प्रेरित होकर दुर्योधनको शाप देनेका विचार किया ॥ ३१ ॥

ततः स वार्युपस्पृश्य कोपसंरक्तलोचनः।
मैत्रेयो धार्तराष्ट्रं तमशपद्दुष्टचेतसम् ॥ ३२ ॥

तब क्रोधसे लालनेत्र करके उन मैत्रेयने जलस्पर्श किया और दुष्ट चित्तवाले धृतराष्ट्रके पुत्र दुर्योधनको मैत्रेयने शाप दिया ॥ ३२ ॥

यस्मात्त्वं मामनादृत्य नेमां वाचं चिकीर्षसि।
तस्मादस्याभिमानस्य सद्यः फलमवाप्नुहि ॥ ३३ ॥

जिस कारण तू मेरा अनादर करके मेरा यह वचन नहीं मानना चाहता, अतएव उस अभिमानका फल तू शीघ्रही प्राप्त कर ॥ ३३ ॥

त्वदभिद्रोहसंयुक्तं युद्धमुत्पत्स्यते महत्।
तत्र भीमो गदापातैस्तवोरुं भेत्स्यते बली ॥ ३४ ॥

तेरे किये द्रोहके कारण महायुद्ध उपस्थित होगा; उसमें बलवान् भीम गदाके प्रहारोंसे तेरी जांघको तोडेगा ॥ ३४ ॥

इत्येवमुक्ते वचने धृतराष्ट्रो महीपतिः ।
प्रसादयामास मुनिं नैतदेवं भवेदिति ॥ ३५ ॥

ऐसा वचन कहनेपर राजा धृतराष्ट्र मुनिको यह कहते हुए कि " यह बात ऐसी न हो," प्रसन्न करने लगे ॥ ३५ ॥

मैत्रेय उवाच

शमं यास्यति चेत्पुत्रस्तव राजन्यथा तथा ।
शापो न भविता तात विपरीते भविष्यति ॥ ३६ ॥

मैत्रेय बोले— हे राजन् ! यह तेरा पुत्र यदि शान्तिको प्राप्त होगा; तो, हे तात ! मेरा शाप सच न होगा, नहीं तो अवश्यही सच होगा ॥ ३६ ॥

वैशम्पायन उवाच

स विलक्षस्तु राजेन्द्र दुर्योधनपिता तदा ।
मैत्रेयं प्राह किर्मीरः कथं भीमेन पातितः ॥ ३७ ॥

वैशम्पायन बोले— हे राजेन्द्र जनमेजय ! तब दुर्योधनके पिता राजा धृतराष्ट्र भीमके बलको लक्ष्य करते हुए मैत्रेयसे कहने लगे, कि भीमने किर्मीरको कैसे मारा ॥ ३७ ॥

मैत्रेय उवाच

नाहं वक्ष्याम्यसूया ते न ते शुश्रूषते सुतः ।
एष ते विदुरः सर्वमाख्यास्यति गते मयि ॥ ३८ ॥

मैत्रेय बोले— अब मैं तुमसे इस विषयमें कुछ नहीं कहूँगा, क्योंकि तुम्हें पाण्डवोंसे ईर्ष्या है और तुम्हारा पुत्र भी कुछ सुनना नहीं चाहता, अतः मेरे चले जानेपर यह विदुर तुमसे सब कहेंगे ॥ ३८ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्त्वा मैत्रेयः प्रातिष्ठत यथागतम् ।
किर्मीरवधसंविग्नो बहिर्दुर्योधनोऽगमत् ॥ ३९ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥ समाप्तमारण्यकपर्व ॥ ३२८ ॥

वैशम्पायन बोले— ऐसा कहकर मैत्रेय मुनि जहांसे आये थे वहीं चले गये । किर्मीर-वधके समाचारको सुनकर उद्विग्न होकर दुर्योधन भी बाहर चला गया ॥ ३९ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें ग्यारहवां अध्याय समाप्त ॥ ११ ॥ आरण्यकपर्व समाप्त ॥ ३२८ ॥

: १२ :

धृतराष्ट्र उवाच

किर्मीरस्य वधं क्षत्तः श्रोतुमिच्छामि कथ्यताम्।
रक्षसा भीमसेनस्य कथमासीत्समागमः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले– हे विदुर ! मैं किर्मीरके मारे जानेकी कथा सुननेकी इच्छा करता हूँ; तुम कहो, कि उस राक्षससे भीमसेनका सामना कैसे हुआ ? ॥ १ ॥

विदुर उवाच

शृणु भीमस्य कर्मेदमतिमानुषकर्मणः।
श्रुतपूर्वं मया तेषां कथान्तेषु पुनः पुनः ॥ २ ॥

विदुर बोले– मनुष्योंमें अधिक कर्म करनेवाले भीमका यह कर्म, जो मैंने पहले उनकी कथाओंके अन्तमें बार बार सुना है, उसे सुनो ॥ २ ॥

इतः प्रयाता राजेन्द्र पाण्डवा द्यूतनिर्जिताः।
जग्मुस्त्रिभिरहोरात्रैः काम्यकं नाम तद्वनम् ॥ ३ ॥

हे राजेन्द्र ! पाण्डवलोग यहांसे जुएमें जीते जाकर जो चले, तो तीन दिनरातमें काम्यक नामक वनमें पहुंचे ॥ ३ ॥

रात्रौ निशीथे स्वाभीले गतेऽर्धसमये नृप।
प्रचारे पुरुषादानां रक्षसां भीमकर्मणाम् ॥ ४ ॥
तद्वनं तापसा नित्यं शेषाश्च वनचारिणः।
दूरात्परिहरन्ति स्म पुरुषादभयात्किल ॥ ५ ॥

हे नरनाथ ! रात्रिका आधा भाग बीत जाने और मनुष्यभक्षी और भयंकर कर्म करनेवाले राक्षसोंके विचरनेका समय होनेपर उस वनको मनुष्यभक्षी राक्षसोंके भयसे तपस्वी और शेष वनमें रहनेवाले दूरहीसे त्याग देते थे ॥ ४-५ ॥

तेषां प्रविशतां तत्र मार्गमावृत्य भारत।
दीप्ताक्षं भीषणं रक्षः सोल्मुकं प्रत्यदृश्यत ॥ ६ ॥

हे भारत धृतराष्ट्र ! पाण्डवोंने जब उस वनमें प्रवेश किया, तो उनके मार्गको रोक करके प्रज्वलित नेत्रवाला अति भयानक राक्षस मशाल लेकर खडा हो गया ॥ ६ ॥

बाहू महान्तौ कृत्वा तु तथास्यं च भयानकम् ।
स्थितमावृत्य पन्थानं येन यान्ति कुरूद्वहाः ॥ ७ ॥

वह अपने हाथोंको फैला करके और मुखको भयानक बनाकर जिस मार्गसे कुरुवंशको बढाने-वाले पाण्डव आ रहे थे उसे रोककर खडा हो गया ॥ ७ ॥

दष्टोष्ठदंष्ट्रं ताम्राक्षं प्रदीप्तोर्ध्वशिरोरुहम् ।
सार्करश्मितडिच्चक्रं सबलाकमिवाम्बुदम् ॥ ८ ॥

ओठदांतोंको काट करके, लाल नेत्रवाला, प्रकाशमान, ऊंचे केशयुक्त, सूर्यकिरण, बिजली और बक-पंक्तियुक्त मेघके समान ॥ ८ ॥

सृजन्तं राक्षसीं मायां महारावविराविणम् ।
मुञ्चन्तं विपुलं नादं सतोयमिव तोयदम् ॥ ९ ॥

भयानक राक्षसी मायाको फैलाता हुआ, महाशब्द करता हुआ, गरजते हुए पानीसे भरे हुए मेघके समान राक्षस आकर खडा हो गया ॥ ९ ॥

तस्य नादेन संत्रस्ताः पक्षिणः सर्वतोदिशम् ।
विमुक्तनादाः संपेतुः स्थलजा जलजैः सह ॥ १० ॥

उसके शब्दसे डरकर जलचर और स्थलचर पक्षी शब्द करते हुए सभी दिशाओंमें उड गए ॥ १० ॥

संप्रद्रुतमृगद्वीपिमहिषर्क्षसमाकुलम् ।
तद्वनं तस्य नादेन संप्रस्थितमिवाभवत् ॥ ११ ॥

उस समय उसके नादसे मृग, गेंडा, भैंसा, रीछ इधर उधर भागने लगे और वह वन मानों हिलने-सा लग गया ॥ ११ ॥

तस्योरुवाताभिहता ताम्रपल्लवबाहवः ।
विदूरजाताश्च लताः समाश्लिष्यन्त पादपान् ॥ १२ ॥

वनकी लतायें उसकी जांघकी हवासे घायल होकर मानों भयपूर्वक तांबेके रङ्गवाले पल्लव-रूपी हाथोंसे दूरके वृक्षका भी आलिंगन करने लगीं ॥ १२ ॥

तस्मिन्क्षणेऽथ प्रववौ मारुतो भृशदारुणः ।
रजसा संवृतं तेन नष्टर्क्षमभवन्नभः ॥ १३ ॥

उस समय बडी भयंकर वायु बहने लगी; धूलसे भर जानेके कारण आकाश ताराहीन-सा प्रतीत होने लगा ॥ १३ ॥

पञ्चानां पाण्डुपुत्राणामविज्ञातो महारिपुः ।
पञ्चानामिन्द्रियाणां तु शोकवेग इवातुलः ॥ १४ ॥
स दृष्ट्वा पाण्डवान्दूरात्कृष्णाजिनसमावृतान् ।
आवृणोत्तद्वनद्वारं मैनाक इव पर्वतः ॥ १५ ॥

जैसे पांच इन्द्रियोंके लिए अत्यन्त शोकका आवेग होता है, वैसे ही पांच पाण्डवोंका अज्ञातशत्रु राक्षस काले हरिणके चर्म पहने हुए पाण्डवोंको दूरसे ही देखकर मैनाक पर्वतके समान उस वनके मार्गको रोक करके खडा हो गया ॥ १४-१५ ॥

तं समासाद्य वित्रस्ता कृष्णा कमललोचना ।
अदृष्टपूर्वं संत्रासान्न्यमीलयत लोचने ॥ १६ ॥

उसको देखकर कमलनयनी द्रौपदी डर गई, उसने ऐसा भयानक रूप पहले कभी नहीं देखा था; इसलिए डरकर उसने अपनी आंखोंको बन्द कर लिया ॥ १६ ॥

दुःशासनकरोत्सृष्टविप्रकीर्णशिरोरुहा ।
पञ्चपर्वतमध्यस्था नदीवाकुलतां गता ॥ १७ ॥

दुःशासनके हाथसे खींचे हुए बिखरे केशोंवाली द्रौपदी पांच पर्वतोंके बीचमें बहनेवाली नदीके समान व्याकुल हो गयी ॥ १७.॥

मोमुह्यमानां तां तत्र जगृहुः पञ्च पाण्डवाः ।
इन्द्रियाणि प्रसक्तानि विषयेषु यथा रतिम् ॥ १८ ॥

मूर्छित होती हुई द्रौपदीको पांचों पाण्डवोंने ऐसे संभाल लिया, जैसे विषयोंमें लीन पांच इन्द्रियां रतिको ग्रहण करती हैं ॥ १८ ॥

अथ तां राक्षसीं मायामुत्थितां घोरदर्शनाम् ।
रक्षोघ्नैर्विविधैर्मन्त्रैर्धौम्यः सम्यक्प्रयोजितैः ।
पश्यतां पाण्डुपुत्राणां नाशयामास वीर्यवान् ॥ १९ ॥

तदनन्तर पाण्डवोंके देखते देखते ही उस राक्षसी घोर मायाको वीर्यवान् धौम्यने राक्षसोंके नाश करनेवाले विविध मन्त्रोंका भलीभांति प्रयोग करके नष्ट कर दिया ॥ १९ ॥

स नष्टमायोऽतिबलः क्रोधविस्फारितेक्षणः ।
कामसूर्तिधरः क्षुद्रः कालकल्पो व्यदृश्यत ॥ २० ॥

मायाके नष्ट होते ही क्रोधसे नेत्र फाडकर इच्छासे मूर्ति धरनेवाला वह महाबली क्षुद्र राक्षस कालके समान दीखने लगा ॥ २० ॥

तमुवाच ततो राजा दीर्घप्रज्ञो युधिष्ठिरः ।
को भवान्कस्य वा किं ते क्रियतां कार्यमुच्यताम् ॥ २१ ॥

तब महाबुद्धिमान् राजा युधिष्ठिरने उससे कहा– तुम कौन और किसके पुत्र हो, कहो, हम तुम्हारा क्या काम करें ? ॥ २१ ॥

प्रत्युवाचाथ तद्रक्षो धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
अहं बकस्य वै भ्राता किर्मीर इति विश्रुतः ॥ २२ ॥

तब धर्मराज युधिष्ठिरसे उस राक्षसने कहा– मैं बकका भाई हूं और किर्मीरके नामसे प्रसिद्ध हूं ॥ २२ ॥

वनेऽस्मिन्काम्यके शून्ये निवसामि गतज्वरः ।
युधि निर्जित्य पुरुषानाहारं नित्यमाचरन् ॥ २३ ॥

इस शून्य काम्यक वनमें चिन्ता और भय रहित होकर रहता हूं, मैं सदाही मनुष्योंको युद्धमें जीतकर उन्हें खा जाता हूं ॥ २३ ॥

के यूयमिह संप्राप्ता भक्ष्यभूता ममान्तिकम् ।
युधि निर्जित्य वः सर्वान्भक्षयिष्ये गतज्वरः ॥ २४ ॥

मेरा भोजनरूप होकर मेरे पास आये हुए तुम कौन हो ? अब मैं तुम सबको युद्धमें जीतकर निर्भय होकर खाऊंगा ॥ २४ ॥

युधिष्ठिरस्तु तच्छ्रुत्वा वचस्तस्य दुरात्मनः ।
आचचक्षे ततः सर्वं गोत्रनामादि भारत ॥ २५ ॥

हे भारत ! युधिष्ठिरने उस दुरात्माका यह वचन सुनकर अपना गोत्र और नाम आदि सब बताया ॥ २५ ॥

पाण्डवो धर्मराजोऽहं यदि ते श्रोत्रमागतः ।
सहितो भ्रातृभिः सर्वैर्भीमसेनार्जुनादिभिः ॥ २६ ॥

हृतराज्यो वने वासं वस्तुं कृतमतिस्ततः ।
वनमभ्यागतो घोरमिदं तव परिग्रहम् ॥ २७ ॥

मैं पाण्डुपुत्र धर्मराज हूँ, कदाचित् तुमने भी सुना हो; मैं भीमसेन और अर्जुनादि सब भाइयोंके साथ राज्य नष्ट होनेसे वनमें रहनेकी इच्छासे तुम्हारे द्वारा शासित इस घोर वनमें आया हूँ ॥ २६–२७ ॥

किर्मीरस्त्वब्रवीदेनं दिष्ट्या देवैरिदं मम ।
उपपादितमद्येह चिरकालान्मनोगतम् ॥ २८ ॥

यह सुनकर किर्मीर युधिष्ठिरसे बोला— बहुत समयसे मेरे मनमें स्थित यह बलि भाग्यसे आज देवताओंने भेजा है ॥ २८ ॥

भीमसेनवधार्थं हि नित्यमभ्युद्यतायुधः ।
चरामि पृथिवीं कृत्स्नां नैनमासादयाम्यहम् ॥ २९ ॥

मैं भीमसेनको मारनेके लिएही हमेशा शस्त्रोंको उठा करके सब पृथिवीमें घूमता था, परन्तु इसे नहीं पाता था ॥ २९ ॥

सोऽयमासादितो दिष्ट्या भ्रातृहा कांक्षितश्चिरम् ।
अनेन हि मम भ्राता बको विनिहतः प्रियः ॥ ३० ॥

सो आज इस अपने भाईके मारनेवाले तथा बहुत समयसे चाहे हुए भीमको सौभाग्यसे मैंने प्राप्त कर लिया है, इसीने मेरे प्यारे भाई बकको मारा था ॥ ३० ॥

वेत्रकीयगृहे राजन्ब्राह्मणच्छद्मरूपिणा ।
विद्याबलमुपाश्रित्य न ह्यस्त्यस्यौरसं बलम् ॥ ३१ ॥

हे राजन् ! इसीने पहले कपटसे ब्राह्मणका वेष धारण करके वैत्रकीय गृहमें मेरे भाईको विद्या और बलका आश्रय लेकर मार डाला था, इसका अपना बल कुछभी नहीं है ॥ ३१ ॥

हिडिम्बश्च सखा मह्यं दयितो वनगोचरः ।
हतो दुरात्मनानेन स्वसा चास्य हृता पुरा ॥ ३२ ॥

पूर्वकालमें मेरे प्रिय मित्र वनवासी हिडिम्बको भी इसी दुरात्माने मारा और उसकी बहन-कोभी छीन लिया ॥ ३२ ॥

सोऽयमभ्यागतो मूढो ममेदं गहनं वनम् ।
प्रचारसमयेऽस्माकमर्धरात्रे समास्थिते ॥ ३३ ॥

अब यह मूर्ख हमारे घूमनेके समय आधी रातके उपस्थित होनेपर मेरे इस घने और महावनमें आया है ॥ ३३ ॥

अद्यास्य यातयिष्यामि तद्वैरं चिरसंभृतम् ।
तर्पयिष्यामि च बकं रुधिरेणास्य भूरिणा ॥ ३४ ॥

अब मैं वह पुराना वैर इससे निकालूंगा और इसके बहुत रुधिरसे बकका तर्पण करूंगा ॥ ३४ ॥

अद्याहमनृणो भूत्वा भ्रातुः सख्युस्तथैव च ।
शान्तिं लब्धास्मि परमां हत्वा राक्षसकण्टकम् ॥ ३५ ॥

आज मैं अपने भाई और मित्रके ऋणसे युक्त होकर इस राक्षसोंके वैरीको मार कर परम शान्तिको प्राप्त करूंगा ॥ ३५ ॥

यदि तेन पुरा मुक्तो भीमसेनो बकेन वै ।
अथैनं भक्षयिष्यामि पश्यतस्ते युधिष्ठिर ॥ ३६ ॥

हे युधिष्ठिर ! यह भीमसेन पहले बकके द्वारा छोड दिया गया था; परन्तु, हे युधिष्ठिर ! आज तुम्हारे देखते ही देखते मैं इसे खा जाऊंगा ॥ ३६ ॥

एनं हि विपुलप्राणमद्य हत्वा वृकोदरम् ।
संभक्ष्य जरयिष्यामि यथागस्त्यो महासुरम् ॥ ३७ ॥

जैसे अगस्त्यने महासुर वातापीको खाकर पचा लिया था, वैसे ही आज मैं इस महापराक्रमी भीमसेनको मारकर और खाकर पचा जाऊंगा ॥ ३७ ॥

एवमुक्तस्तु धर्मात्मा सत्यसन्धो युधिष्ठिरः ।
नैतदस्तीति सक्रोधो भर्त्सयामास राक्षसम् ॥ ३८ ॥

इस प्रकारसे सुनकर धर्मात्मा सत्यशील युधिष्ठिरने क्रोधसे राक्षसको फटकार कर कहा कि " ऐसा नहीं हो सकता " ॥ ३८ ॥

ततो भीमो महाबाहुरारुज्य तरसा द्रुमम् ।
दशव्याममिवोद्विद्धं निष्पत्रमकरोत्तदा ॥ ३९ ॥

तब महाबाहु भीमसेनने जल्दीसे दस व्याम (दोनों हाथोंको फैलाकर जो माप हो उसे व्याम कहते हैं) के वृक्षको उखाडकर उसे पत्तारहित कर दिया ॥ ३९ ॥

चकार सज्यं गाण्डीवं वज्रनिष्पेषगौरवम् ।
निमेषान्तरमात्रेण तथैव विजयोऽर्जुनः ॥ ४० ॥

उसी समय क्षणमात्रमें ही विजयी अर्जुनने वज्रके समान गौरवशाली गाण्डीव धनुषको तैय्यार कर लिया ॥ ४० ॥

निवार्य भीमो जिष्णुं तु तद्रक्षो घोरदर्शनम् ।
अभिद्रुत्याब्रवीद्वाक्यं तिष्ठ तिष्ठेति भारत ॥ ४१ ॥

हे भारत ! भीमने अर्जुनको हटा करके उस घोर रूपवाले राक्षसकी तरफ दौडते हुए कहा– खडा रह खडा रह ॥ ४१ ॥

इत्युक्त्वैनमभिक्रुद्धः कक्ष्यामुत्पीड्य पाण्डवः ।
निष्पिष्य पाणिना पाणिं संदष्टोष्ठपुटो बली ।
तमभ्यधावद्वेगेन भीमो वृक्षायुधस्तदा ॥ ४२ ॥

ऐसा कहकर अपने कच्छको बांधकर बलवान् पाण्डुपुत्र भीम क्रोधसे होंठ चबाते हुए, हाथसे हाथको मलते हुए वृक्षको हाथमें लेकर वेगसे राक्षसकी ओर दौडे ॥ ४२ ॥

×

यमदण्डप्रतीकाशं ततस्तं तस्य मूर्धनि ।
पातयामास वेगेन कुलिशं मघवानिव ॥ ४३ ॥

तब उस यमदण्डके समान वृक्षको उस राक्षसके सिरपर वैसे ही जोरसे दे मारा जैसे इन्द्र वज्र मारता है ॥ ४३ ॥

असंभ्रान्तं तु तद्रक्षः समरे प्रत्यदृश्यत ।
चिक्षेप चोल्मुकं दीप्तमशनिं ज्वलितामिव ॥ ४४ ॥

उसके लगनेसे भी वह राक्षस युद्धमें अपीडित ही दिखाई दिया और तब उसने जलते हुए वज्रके समान जलती हुई मशाल भीमसेनपर फेंकी ॥ ४४ ॥

तदुदस्तमलातं तु भीमः प्रहरतां वरः ।
पदा सव्येन चिक्षेप तद्रक्षः पुनराव्रजत् ॥ ४५ ॥

उन योधाओंमें श्रेष्ठ भीमसेनने उस शक्तिको शीघ्रतासे बांये चरणसे पकडकर फेंका, जो पुनः राक्षसकी ओर लौट गया ॥ ४५ ॥

किर्मीरश्चापि सहसा वृक्षमुत्पाट्य पाण्डवम् ।
दण्डपाणिरिव क्रुद्धः समरे प्रत्ययुध्यत ॥ ४६ ॥

तब किर्मीर भी शीघ्र वृक्ष उखाडकर दण्डधारी यमके समान क्रुद्ध होकर युद्धमें भीमसे लडने लगा ॥ ४६ ॥

तद्वृक्षयुद्धमभवन्महीरुहविनाशनम् ।
वालिसुग्रीवयोर्भ्रात्रोर्यथा श्रीकांक्षिणोः पुरा ॥ ४७ ॥

उस समय दोनोंका वृक्षयुद्ध होने लगा, जिससे अन्य वृक्ष नष्ट होने लगे। उस समय इन दोनोंका ऐसा युद्ध हुआ, जैसे पहले राज्यलक्ष्मीकी अभिलाषा करनेवाले और सुग्रीवका हुआ था ॥ ४७ ॥

शीर्षयोः पतिता वृक्षा बिभिदुर्नैकधा तयोः ।
यथैवोत्पलपद्मानि मत्तयोर्द्विपयोस्तथा ॥ ४८ ॥

उनके सिरमें लगनेसे वृक्ष अनेक टुकडोंमें होकर उसी प्रकार गिरने लगे; जैसे दो मत्तवाले हाथियोंके शरीरमें लगनेसे कमलोंके टुकडे टुकडे हो जाते हैं ॥ ४८ ॥

मुञ्जवज्जर्जरीभूता बहवस्तत्र पादपाः ।
चीराणीव व्युदस्तानि रेजुस्तत्र महावने ॥ ४९ ॥

इन दोनोंके शरीरमें लग लगकर अनेक वृक्ष मुंजके समान टूट गये। उस वनमें वे वृक्ष ऐसी शोभा देने लगे कि मानों सब जगह कपडे फैले हुए हों ॥ ४९ ॥

तद्वृक्षयुद्धमभवत्सुमुहूर्तं विशां पते ।
राक्षसानां च मुख्यस्य नराणामुत्तमस्य च ॥ ५० ॥

हे प्रजाओंके स्वामिन् ! इस प्रकारसे राक्षसोंमें मुख्य किर्मीर और पुरुषोंमें श्रेष्ठ भीमसेनका वह वृक्षयुद्ध बहुत देरतक होता रहा ॥ ५० ॥

ततः शिलां समुत्क्षिप्य भीमस्य युधि तिष्ठतः ।
प्राहिणोद्राक्षसः क्रुद्धो भीमसेनश्चचाल ह ॥ ५१ ॥

तब राक्षसने क्रोधमें भरकर एक शिला उठाकर युद्धमें खडे हुए भीमकी तरफ फेंकी, उससे भीमसेन विचलित हो गए ॥ ५१ ॥

तं शिलाताडनजडं पर्यधावत्स राक्षसः ।
बाहुविक्षिप्तकिरणः स्वर्भानुरिव भास्करम् ॥ ५२ ॥

जब शिलाकी चोट लगनेपर भीम जडके समान हो गए, तब वह राक्षस भीमसेनकी ओर हाथ फैलाकर ऐसे दौडा, जैसे राहु अपने हाथोंसे किरणोंको हटाकर सूर्यकी ओर दौडता है ॥ ५२ ॥

तावन्योन्यं समाश्लिष्य प्रकर्षन्तौ परस्परम् ।
उभावपि चकाशेते प्रयुद्धौ वृषभाविव ॥ ५३ ॥

तब वे दोनों परस्पर युद्ध करते हुए एक दूसरेसे लिपटकर एक दूसरेको खींचने लगे । उस समय दोनों ऐसे शोभित हुए, जैसे बडे बैल लड रहे हों ॥ ५३ ॥

तयोरासीत्सुतुमुलः संप्रहारः सुदारुणः ।
नखदंष्ट्रायुधवतोर्व्याघ्रयोरिव दृप्तयोः ॥ ५४ ॥

उस समय उन दोनोंका ऐसा घोर दारुण भयानक बाहुयुद्ध हुआ कि जैसे नाखून और दांतरूपीशस्त्रवाले उन्मत्त दो व्याघ्रोंका युद्ध होता है ॥ ५४ ॥

दुर्योधननिकाराच्च बाहुवीर्याच्च दर्पितः ।
कृष्णानयनदृष्टश्च व्यवर्धत वृकोदरः ॥ ५५ ॥

वहां दुर्योधनके अपमानको याद करके, बाहुबलसे उन्मत्त और द्रौपदीके नयनोंके द्वारा देखे जानेपर क्रुद्ध भीमसेनका बल बढ गया ॥ ५५ ॥

अभिपत्याथ बाहुभ्यां प्रत्यगृह्णादमर्षितः ।
मातङ्ग इव मातङ्गं प्रभिन्नकरटामुखः ॥ ५६ ॥

जैसे मदके कारण फटे हुए गण्डस्थलवाला हाथी दूसरे मतवाले हाथीको पकडता है, वैसेही असहिष्णु उस भीमने उस राक्षसको जाकर क्रोधसे हाथोंसे पकड लिया ॥ ५६ ॥

तं चाप्यथ ततो रक्षः प्रतिजग्राह वीर्यवान्।
तमाक्षिपद्भीमसेनो बलेन बलिनां वरः ॥ ५७ ॥

तब बलवान् राक्षसने भी भीमको वैसेही पकड लिया। तब बलवानोंमें श्रेष्ठ भीमने उसे बलसे नीचे गिरा दिया ॥ ५७ ॥

तयोर्भुजविनिष्पेषादुभयोर्बलिनोस्तदा।
शब्दः समभवद्घोरो वेणुस्फोटसमो युधि ॥ ५८ ॥

तब युद्धमें उन दोनों बलवानोंकी भुजाओंके रगडे जानेसे ऐसा घोर शब्द हुआ, जैसे बांसोंके फटनेसे होता है ॥ ५८ ॥

अथैनमाक्षिप्य बलाद् गृह्य मध्ये वृकोदरः।
धूनयामास वेगेन वायुश्चण्ड इव द्रुमम् ॥ ५९ ॥

तब भीम बलसे उसे पटक कर और कमरसे पकडकर जैसे प्रबल वायु वृक्षको धुनती है, वैसेही धुनने लगे ॥ ५९ ॥

स भीमेन परामृष्टो दुर्बलो बलिना रणे।
व्यस्पन्दत यथाप्राणं विचकर्ष च पाण्डवम् ॥ ६० ॥

तब युद्धमें बलवान् भीमके द्वारा बलसे पीसा जाता हुआ वह दुर्बल राक्षस अपनी शक्तिके अनुसार भीमसे छूटनेकी कोशिश करने लगा और भीमको खींचने लगा ॥ ६० ॥

तत एनं परिश्रान्तमुपलभ्य वृकोदरः।
योक्त्रयामास बाहुभ्यां पशुं रशनया यथा ॥ ६१ ॥

तब भीमसेनने जान लिया कि यह राक्षस अब थक गया है; तब जैसे पशुको रस्सीसे बांधते हैं वैसेही भीमने अपनी भुजाओंसे उस राक्षसको कस दिया ॥ ६१ ॥

विनदन्तं महानादं भिन्नभेरीसमस्वनम्।
भ्रामयामास सुचिरं विस्फुरन्तमचेतसम् ॥ ६२ ॥

बजती हुई भेरीके समान शब्द करनेवाले, बडी आवाज करनेवाले, चिल्लाते हुए तथा टपटाते हुए राक्षसको बलवान् भीमने चेतनारहित करके बहुत देरतक घुमाया ॥ ६२ ॥

तं विषीदन्तमाज्ञाय राक्षसं पाण्डुनन्दनः।
प्रगृह्य तरसा दोर्भ्यां पशुमारममारयत् ॥ ६३ ॥

उस राक्षसको तडपता हुआ जानकर पाण्डुनन्दन भीमने बलपूर्वक बाहोंसे पकडकर पशुके समान मार डाला ॥ ६३ ॥

आक्रम्य च कटीदेशे जानुना राक्षसाधमम् ।
अपीडयत बाहुभ्यां कण्ठं तस्य वृकोदरः ॥ ६४ ॥

उस नीच राक्षसकी कमर घुटनोंसे दबाकर बाहोंसे वृकोदर भीमने उस राक्षसके गलेको दबाया ॥ ६४ ॥

अथ तं जडसर्वाङ्गं व्यावृत्तनयनोल्बणम् ।
भूतले पातयामास वाक्यं चेदमुवाच ह ॥ ६५ ॥

तब जिसका सारा शरीर जड हो गया है और जिसकी आंखें निकल आई हैं, ऐसे उस राक्षसको भीमने पृथ्वी पर गिराकर यह वाक्य कहा ॥ ६५ ॥

हिडिम्बबकयोः पाप न त्वमश्रुप्रमार्जनम् ।
करिष्यसि गतश्चासि यमस्य सदनं प्रति ॥ ६६ ॥

रे पापी ! तू यमके स्थानमें जाकर भी हिडम्ब और बकके आंसू न पोंछ सकेगा ॥ ६६ ॥

इत्येवमुक्त्वा पुरुषप्रवीरस्तं राक्षसं क्रोधविवृत्तनेत्रः ।
प्रस्रस्तवस्त्राभरणं स्फुरन्तमुद्भ्रान्तचित्तं व्यसुमुत्ससर्ज ॥ ६७ ॥

पुरुषोंमें श्रेष्ठ, वीर तथा क्रोधसे आंखें निकाले हुए भीमने यह कहकर अस्तव्यस्त भूषण और कपडोंवाले, तडफते हुए, भ्रान्तचित्त तथा बिना प्राणवाले उस राक्षसको छोड दिया ॥ ६७ ॥

तस्मिन्हते तोयदतुल्यरूपे कृष्णां पुरस्कृत्य नरेन्द्रपुत्राः ।
भीमं प्रशस्याथ गुणैरनेकैर्हृष्टास्ततो द्वैतवनाय जग्मुः ॥ ६८ ॥

उस मेघके समान रूपवाले राक्षसके मरनेपर द्रौपदीको आगे कर अनेक गुणोंसे भीमसेनकी प्रशंसा करते हुए राजपुत्र पाण्डव प्रसन्न होकर द्वैतवनको चले ॥ ६८ ॥

एवं विनिहतः संख्ये किर्मीरो मनुजाधिप ।
भीमेन वचनात्तस्य धर्मराजस्य कौरव ॥ ६९ ॥

हे नरनाथ कौरव धृतराष्ट्र ! उस धर्मराजकी आज्ञासे इस प्रकार भीमसेनने किर्मीरको युद्धमें मारा ॥ ६९ ॥

ततो निष्कण्टकं कृत्वा वनं तदपराजितः ।
द्रौपद्या सह धर्मज्ञो वसतिं तामुवास ह ॥ ७० ॥

इस प्रकारसे अपराजित युधिष्ठिरने उस वनको निष्कण्टक किया; तब द्रौपदीके साथ धर्मज्ञ पाण्डव उस वनको अपना वासस्थान बनाकर वहां रहे ॥ ७० ॥

समाश्वास्य च ते सर्वे द्रौपदीं भरतर्षभाः ।
प्रहृष्टमनसः प्रीत्या प्रशशंसुर्वृकोदरम् ॥ ७१ ॥

वे सब भरतश्रेष्ठ पाण्डव द्रौपदीको आश्वासन देकर प्रसन्न मनवाले होकर प्रेमपूर्वक भीमसेनकी प्रशंसा करने लगे ॥ ७१ ॥

भीमबाहुबलोत्पिष्टे विनष्टे राक्षसे ततः।
विविशुस्तद्वनं वीराः क्षेमं निहतकण्टकम् ॥ ७२ ॥

भीमसेनके बाहुबलसे पीसे जानेपर जब वह राक्षस नष्ट हो गया, तब वीर पाण्डवोंने सुखकारी और निष्कण्टक उस वनमें प्रवेश किया ॥ ७२ ॥

स मया गच्छता मार्गे विनिकीर्णो भयावहः।
वने महति दुष्टात्मा दृष्टो भीमबलाद्धतः ॥ ७३ ॥

मैंने मार्गमें जाते हुए उस भयानक महावनमें राक्षसको भीमके बलसे मरे हुए फैले पडे देखा ॥ ७३ ॥

तत्राश्रौषमहं चैतत्कर्म भीमस्य भारत।
ब्राह्मणानां कथयतां ये तत्रासन्समागताः ॥ ७४ ॥

हे भारत! वहां जो ब्राह्मण आये थे, उनके कहनेपर मैंने यह भीमके कामकी बात सुनी ॥ ७४ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं विनिहतं संख्ये किर्मीरं रक्षसोत्तमम्।
श्रुत्वा ध्यानपरो राजा निशश्वासार्तवत्तदा ॥ ७५ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥ समाप्तं किर्मीरवधपर्व ॥ ४०३ ॥

वैशम्पायन बोले— राक्षसोंमें श्रेष्ठ किर्मीरका वध इस प्रकार भीमने किया। यह सुनकर राजाने दुःखीके समान लम्बी सांस ली और भारी चिन्तामें डूब गए ॥ ७५ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें बारहवां अध्याय समाप्त ॥ १२ ॥ किर्मीरवधपर्व समाप्त ॥ ४०३ ॥

: १३ :

वैशम्पायन उवाच

भोजाः प्रव्रजिताञ्श्रुत्वा वृष्णयश्चान्धकैः सह।
पाण्डवान्दुःखसंतप्तान्समाजग्मुर्महावने ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— जब भोजवंशी, वृष्णिवंशी तथा अन्धकवंशियोंने सुना, कि पाण्डव लोग दुःखित होकर वनको गये हैं; तो वे सब वनमें आ गए ॥ १ ॥

पाञ्चालस्य च दायादा धृष्टकेतुश्च चेदिपः।
केकयाश्च महावीर्या भ्रातरो लोकविश्रुताः ॥ २ ॥

पांचाल राजकुमार धृष्टद्युम्न, चेदिके राजा धृष्टकेतु, लोकमें प्रसिद्ध महावीर केकयदेशीय सब भाई ॥ २ ॥

वने तेऽभिययुः पार्थान्क्रोधामर्षसमन्विताः ।
गर्हयन्तो धार्तराष्ट्रान्किं कुर्म इति चाब्रुवन् ॥ ३ ॥

वे क्रोध और अमर्षमें भरकर पाण्डवोंके पास गए और धृतराष्ट्रके पुत्रोंकी निन्दा करते हुए वे पाण्डवोंसे बोले कि अब हम क्या करें ? ॥ ३ ॥

वासुदेवं पुरस्कृत्य सर्वे ते क्षत्रियर्षभाः ।
परिवार्योपविविशुर्धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥ ४ ॥

क्षत्रियोंमें श्रेष्ठ वे सब श्रीकृष्णको आगे करके धर्मराज युधिष्ठिरको चारों ओरसे घेरकर बैठ गए ॥ ४ ॥

वासुदेव उवाच

दुर्योधनस्य कर्णस्य शकुनेश्च दुरात्मनः ।
दुःशासनचतुर्थानां भूमिः पास्यति शोणितम् ॥ ५ ॥

वासुदेव बोले– दुर्योधन, कर्ण, शकुनी और चौथे दुरात्मा दुःशासनका रुधिर भूमि पीयेगी ॥ ५ ॥

ततः सर्वेऽभिषिञ्चामो धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
निकृत्योपचरन्वध्य एष धर्मः सनातनः ॥ ६ ॥

इसके बाद हम सब धर्मराज युधिष्ठिरका राज्यपर अभिषेक करेंगे; क्योंकि नीच काम करनेवाला मारे जानेके योग्य है, यह सनातन धर्म है ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच

पार्थानामभिषङ्गेण तथा क्रुद्धं जनार्दनम् ।
अर्जुनः शमयामास दिधक्षन्तमिव प्रजाः ॥ ७ ॥

वैशम्पायन बोले– पाण्डवोंके निरादरसे, मानों प्रजाको भस्म कर देंगे ऐसे, कुपित श्रीकृष्णको अर्जुनने शान्त किया ॥ ७ ॥

संक्रुद्धं केशवं दृष्ट्वा पूर्वदेहेषु फल्गुनः ।
कीर्तयामास कर्माणि सत्यकीर्तेर्महात्मनः ॥ ८ ॥

अर्जुनने श्रीकृष्णको क्रोधयुक्त देखकर महात्मा और यथार्थ यशवाले श्रीकृष्णके पूर्व देहकृत कर्म कहने शुरु किए ॥ ८ ॥

पुरुषस्याप्रमेयस्य सत्यस्यामिततेजसः ।
प्रजापतिपतेर्विष्णोर्लोकनाथस्य धीमतः ॥ ९ ॥

सांख्यशास्त्रोक्त पुरुष, प्रमाणरहित, सत्य, अपारतेज और प्रजापतियोंके पति, विष्णु, लोकोंके नाथ बुद्धिमान् श्रीकृष्णके गुण अर्जुन इस प्रकार कहने लगे ॥ ९ ॥

अर्जुन उवाच

दश वर्षसहस्राणि यत्रसायंगृहो मुनिः।
व्यचरस्त्वं पुरा कृष्ण पर्वते गन्धमादने ॥ १० ॥

अर्जुन बोले– हे कृष्ण ! पहले आपने दस हजार वर्षतक गन्धमादन पर्वतपर यत्रसायंगृह मुनि+ होकर तप किया था ॥ १० ॥

दश वर्षसहस्राणि दश वर्षशतानि च।
पुष्करेष्ववसः कृष्ण त्वमपो भक्षयन्पुरा ॥ ११ ॥

और, हे कृष्ण ! आप दस हजार और दससौ अर्थात् ग्यारह हजार वर्षोंतक पुष्कर क्षेत्रमें केवल जलही पीकर रहे थे ॥ ११ ॥

ऊर्ध्वबाहुर्विशालायां बदर्यां मधुसूदन।
अतिष्ठ एकपादेन वायुभक्षः शतं समाः ॥ १२ ॥

हे मधुसूदन ! आप सौ वर्षोंतक वायु भक्षण करके और उर्ध्वबाहु होकर विशाल बदरिकाश्रममें एक पैरसे खडे रहे थे ॥ १२ ॥

अपकृष्टोत्तरासङ्गः कृशो धमनिसन्ततः।
आसीः कृष्ण सरस्वत्यां सत्रे द्वादशवार्षिके ॥ १३ ॥

हे कृष्ण ! उसी तरह आप उत्तरीय वस्त्र छोडकर मांसरहित केवल नाडीयुक्त शरीरसे सरस्वतीनदीके तटपर बारह वर्षके यज्ञमें रहे थे ॥ १३ ॥

प्रभासं चाप्यथासाद्य तीर्थं पुण्यजनोचितम्।
तथा कृष्ण महातेजा दिव्यं वर्षसहस्रकम्।
आतिष्ठस्तप एकेन पादेन नियमे स्थितः ॥ १४ ॥

हे कृष्ण ! वैसे ही पुण्यात्मा पुरुषोंके योग्य प्रभासक्षेत्रमें जाकर भी महातेजस्वी आप दिव्य सहस्रवर्षोंतक नियममें रहकर एक पैरपर खडे रहे थे ॥ १४ ॥

क्षेत्रज्ञः सर्वभूतानामादिरन्तश्च केशव।
निधानं तपसां कृष्ण यज्ञस्त्वं च सनातनः ॥ १५ ॥

हे कृष्ण ! आप क्षेत्रज्ञ हैं, सब जगत्के आदि हैं; हे केशव ! आप सबके अन्त हैं; आप तपके निधान हैं; आप ही सनातन यज्ञ हैं ॥ १५ ॥

निहत्य नरकं भौममाहृत्य मणिकुण्डले।
प्रथमोत्पादितं कृष्ण मेध्यमश्वमवासृजः ॥ १६ ॥

भूमिसे उत्पन्न नरक दैत्यको मारकर आप कुण्डल लाये थे; हे कृष्ण ! आपने प्रथम उत्पन्न घोडेको यज्ञके निमित्त छोडा था ॥ १६ ॥

+ यत्रसायंगृह मुनि उसको कहते हैं कि जहां सायंकाल हो जाए, वहीं घर समझकर रातभर रहे।

कृत्वा तत्कर्म लोकानामृषभः सर्वलोकजित् ।
अवधीस्त्वं रणे सर्वान्समेतान्दैत्यदानवान् ॥ १७ ॥

उससे यज्ञ करके लोकोंमें सिंहके सदृश और सब लोकोंके जीतनेवाले आपने युद्धमें आए हुए सब दैत्य और दानवोंको मारा ॥ १७ ॥

ततः सर्वेश्वरत्वं च संप्रदाय शचीपतेः ।
मानुषेषु महाबाहो प्रादुर्भूतोऽसि केशव ॥ १८ ॥

तब शचीके पति इन्द्रको सर्वेश्वर पद देकर, हे महाबाहो केशव ! आपने मनुष्यलोकमें जन्म लिया है ॥ १८ ॥

स त्वं नारायणो भूत्वा हरिरासीः परन्तप ।
ब्रह्मा सोमश्च सूर्यश्च धर्मो धाता यमोऽनलः ॥ १९ ॥

हे परन्तप ! हे पुरुषोत्तम ! सो आप नारायण होकर हरि हुये; ब्रह्मा, चन्द्र, सूर्य, धर्म, धाता, धारणकरनेवाले यम, अग्नि ॥ १९ ॥

वायुर्वैश्रवणो रुद्रः कालः खं पृथिवी दिशः ।
अजश्चराचरगुरुः स्रष्टा त्वं पुरुषोत्तम ॥ २० ॥

वायु, कुबेर, रुद्र, काल, आकाश, पृथिवी और दिशा भी आप ही हैं । आप उत्पन्न नहीं होते, आप चर और अचरके गुरु हैं, पुरुषोत्तम ! आप सृष्टि रचनेवाले हैं ॥ २० ॥

तुरायणादिभिर्देव क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः ।
अयजो भूरितेजा वै कृष्ण चैत्ररथे वने ॥ २१ ॥

हे कृष्ण ! हे देव ! अति तेजस्वी आपने चैत्ररथ वनमें बहुत दक्षिणावाले तुरायण आदि अनेक यज्ञोंसे यज्ञ किये थे ॥ २१ ॥

शतं शतसहस्राणि सुवर्णस्य जनार्दन ।
एकैकस्मिंस्तदा यज्ञे परिपूर्णानि भागशः ॥ २२ ॥

हे जनार्दन ! तब वहां एक एक यज्ञमें सौ सौ हजार अर्थात् एक करोड सुवर्णके भाग दिये थे ॥ २२ ॥

अदितेरपि पुत्रत्वमेत्य यादवनन्दन ।
त्वं विष्णुरिति विख्यात इन्द्रादवरजो भुवि ॥ २३ ॥

हे यदुनन्दन ! आप अदितिके पुत्र होकर जगत्में इन्द्रके छोटे भाई और विष्णुके नामसे प्रसिद्ध हुए थे ॥ २३ ॥

शिशुर्भूत्वा दिवं खं च पृथिवीं च परन्तप ।
त्रिभिर्विक्रमणैः कृष्ण क्रान्तवानसि तेजसा ॥ २४ ॥

हे शत्रुनाशक कृष्ण ! आपने बालक होकर द्यु, आकाश और पृथिवीको अपने तेजसे तीनही चरणसे लांघा था ॥ २४ ॥

×

संप्राप्य दिवमाकाशमादित्यसदने स्थितः ।
अत्यरोचश्च भूतात्मन्भास्करं स्वेन तेजसा ॥ २५ ॥

हे भूतात्मन् ! आप अपने तेजसे आकाश और स्वर्गमें प्राप्त होकर सूर्यके रथपर चढकर सूर्यको प्रकाशित करते हैं ॥ २५ ॥

सादिता मौरवाः पाशा निसुन्दनरकौ हतौ ।
कृतः क्षेमः पुनः पन्थाः पुरं प्राग्ज्योतिषं प्रति ॥ २६ ॥

आपने मुरुके पाशोंको काट दिया था और निसुंद और नरकासुरका नाश किया था और इस प्रकार प्राग्ज्योतिषपुरको जानेवाला मार्ग फिर सुखकारी कर दिया था ॥ २६ ॥

जारूथ्यामाहुतिः क्राथः शिशुपालो जनैः सह ।
भीमसेनश्च शैब्यश्च शतधन्वा च निर्जितः ॥ २७ ॥

जारुथी नगरमें आहुति और क्राथ पुरुषोंके सहित शिशुपाल, भीमसेन, शैब्य और शतधन्वा-को आपने जीता था ॥ २७ ॥

तथा पर्जन्यघोषेण रथेनादित्यवर्चसा ।
अवाक्षीर्महिषीं भोज्यां रणे निर्जित्य रुक्मिणम् ॥ २८ ॥

उसी प्रकार आपने सूर्यके समान तेजयुक्त और मेघके समान शब्दवाले रथपर चढकर भोजवंशोत्पन्न रुक्मीको युद्धमें जीतकर रुक्मिणीको अपनी पटरानी बनाया था ॥ २८ ॥

इन्द्रद्युम्नो हतः कोपाद्यवनश्च कशेरुमान् ।
हतः सौभपतिः शाल्वस्त्वया सौभं च पातितम् ॥ २९ ॥

आपने क्रोधसे इन्द्रद्युम्न और कशेरुमान् यवनको मारा और सौभ नगरके स्वामी शाल्वको मारकर उसके नगरको गिराया था ॥ २९ ॥

इरावत्यां तथा भोजः कार्तवीर्यसमो युधि ।
गोपतिस्तालकेतुश्च त्वया विनिहतावुभौ ॥ ३० ॥

कार्तवीर्यके समान बलशाली भोज तथा गोपति और तालकेतु दोनोंको आपने इरावतीके युद्धमें मारा ॥ ३० ॥

तां च भोगवतीं पुण्यामृषिकान्तां जनार्दन ।
द्वारकामात्मसात्कृत्वा समुद्रं गमयिष्यसि ॥ ३१ ॥

हे जनार्दन ! मुनियोंको प्रिय, पुण्य, भोगवती द्वारिकाको अपने वशमें करके उसे फिर समुद्रमें विलीन कर देंगे ॥ ३१ ॥

न क्रोधो न च मात्सर्यं नानृतं मधुसूदन ।
त्वयि तिष्ठति दाशार्ह न नृशंस्यं कुतोऽनृजु ॥ ३२ ॥

हे मधुसूदन ! हे दाशार्ह ! आपमें न क्रोध है, न ईर्ष्या है, न अनृत है, न निर्दयता है, और फिर जब ये दुर्गुण नहीं हैं, तो कुटिलता ही आपमें कहांसे रहेगी ? ॥ ३२ ॥

आसीनं चित्तमध्ये त्वां दीप्यमानं स्वतेजसा ।
आगम्य ऋषयः सर्वेऽयाचन्ताभयमच्युत ॥ ३३ ॥

हे अच्युत ! चित्तमें बैठे हुए अपने तेजसे प्रदीप्त होनेवाले आपके पास आकर सभी ऋषियोंने अभय मांगा था ॥ ३३ ॥

युगान्ते सर्वभूतानि संक्षिप्य मधुसूदन ।
आत्मन्येवात्मसात्कृत्वा जगदास्से परन्तप ॥ ३४ ॥

हे मधुसूदन ! हे परन्तप ! युगके अन्तमें सब प्राणियोंका नाश करके सबको अपनेमें ही मिलाकर आप जगत्‌रूप हो जाते हैं ॥ ३४ ॥

नैवं पूर्वे नापरे वा करिष्यन्ति कृतानि ते ।
कर्माणि यानि देव त्वं बाल एव महाद्युते ॥ ३५ ॥

हे अत्यन्त तेजस्वी कृष्ण ! जो कर्म बालकपनमें महाबलवाले आपने किये वैसे न अबतक किसीने किए, न करेंगे ही ॥ ३५ ॥

कृतवान्पुण्डरीकाक्ष बलदेवसहायवान् ।
वैराजभवने चापि ब्रह्मणा न्यवसः सह ॥ ३६ ॥

हे कमलके समान आंखोंवाले कृष्ण ! आपने बलदेवके साथ उत्तम काम किए और वैराज-भवनमें ब्राह्मणोंके साथ आप रहे थे ॥ ३६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा तदात्मानमात्मा कृष्णस्य पाण्डवः ।
तूष्णीमासीत्ततः पार्थमित्युवाच जनार्दनः ॥ ३७ ॥

वैशम्पायन बोले– कृष्णके आत्मस्वरूप पाण्डुपुत्र अर्जुन महात्मा कृष्णसे यह सब कहकर चुप हो गये; तब कृष्णने अर्जुनसे ऐसा कहा ॥ ३७ ॥

ममैव त्वं तवैवाहं ये मदीयास्तवैव ते ।
यस्त्वां द्वेष्टि स मां द्वेष्टि यस्त्वामनु स मामनु ॥ ३८ ॥

तुम मेरे हो और मैं तुम्हारा हूँ; जो मेरे भाव हैं, वे सब तुम्हारे हैं; जो तुमसे द्वेष करता है, वह मानों मुझसे भी द्वेष करता है; जो तुम्हारे अनुगामी हैं, वे मेरे भी अनुगामी हैं ॥ ३८ ॥

नरस्त्वमसि दुर्धर्ष हरिर्नारायणो ह्यहम्।
लोकाल्लोकमिमं प्राप्तौ नरनारायणावृषी ॥ ३९ ॥

हे दुर्धर्ष वीर अर्जुन! तुम नर हो और मैं हरि नारायण हूँ, हम दोनों नरनारायण ऋषि एक लोकसे दूसरे लोकको प्राप्त हुए हैं ॥ ३९ ॥

अनन्यः पार्थ मत्तस्त्वमहं त्वत्तश्च भारत।
नावयोरन्तरं शक्यं वेदितुं भरतर्षभ ॥ ४० ॥

हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ भारत अर्जुन! तुम मुझसे अभिन्न हो और मैं तुमसे अभिन्न हूं; कोई भी मेरे और तुम्हारे बीचमें भेद नहीं जान सकता ॥ ४० ॥

तस्मिन्वीरसमावाये संरब्धेष्वथ राजसु।
धृष्टद्युम्नमुखैर्वीरैर्भ्रातृभिः परिवारिता ॥ ४१ ॥

इसके बाद उस वीर समाजमें, जहां राजालोग उद्यत बैठे हुए थे, महावीर धृष्टद्युम्न आदि भाईयोंसे घिरी हुई ॥ ४१ ॥

पाञ्चाली पुण्डरीकाक्षमासीनं यादवैः सह।
अभिगम्याब्रवीत्कृष्णा शरण्यं शरणैषिणी ॥ ४२ ॥

शरणकी इच्छा करनेवाली द्रौपदी शरणपरायण यादवोंसे घिरे बैठे कमलके समान नेत्रवाले श्रीकृष्णके पास जाकर बोली ॥ ४२ ॥

पूर्वे प्रजानिसर्गे त्वामाहुरेकं प्रजापतिम्।
स्रष्टारं सर्वभूतानामसितो देवलोऽब्रवीत् ॥ ४३ ॥

मुझसे असित देवलमुनिने आपके विषयमें कहा है, कि पूर्वकालमें प्रजाओंके उत्पन्न होनेपर आपहीको प्रजापति कहते हैं, आप सब लोकोंके बनानेवाले हैं ॥ ४३ ॥

विष्णुस्त्वमसि दुर्धर्ष त्वं यज्ञो मधुसूदन।
यष्टा त्वमसि यष्टव्यो जामदग्न्यो यथाब्रवीत् ॥ ४४ ॥

हे दुर्द्धर्ष! दुःखसे धर्षण करने योग्य आप विष्णु हैं। हे मधु नामक दैत्यके नाशक! आप यज्ञस्वरूप हैं। जमदग्नि मुनिने जैसा कहा है, कि आप ही पूजक और आप ही पूजाके योग्य हैं ॥ ४४ ॥

ऋषयस्त्वां क्षमामाहुः सत्यं च पुरुषोत्तम।
सत्याद्यज्ञोऽसि संभूतः कश्यपस्त्वां यथाब्रवीत् ॥ ४५ ॥

ऋषियोंने आपको क्षमा रूप कहा है, हे पुरुषोंमें श्रेष्ठ! आप सत्यरूप हैं; कश्यपने जैसा कहा है कि यज्ञरूप आप सत्यसे उत्पन्न हुए हैं ॥ ४५ ॥

साध्यानामपि देवानां वसूनामीश्वरेश्वरः ।
लोकभावन लोकेश यथा त्वां नारदोऽब्रवीत् ॥ ४६ ॥

आप साध्य, देवता और वसु आदिके ईश्वर तथा प्राणियोंके नाथ और लोकोंके स्वामी हैं, ऐसा नारदने कहा है ॥ ४६ ॥

दिवं ते शिरसा व्याप्तं पद्भ्यां च पृथिवी विभो ।
जठरं ते इमे लोकाः पुरुषोऽसि सनातनः ॥ ४७ ॥

हे नाथ! आकाश आपके सिरसे, हे विभो! पृथिवी आपके चरणोंसे व्याप्त है, और यह लोक आपके पेटसे व्याप्त है; आप सनातन पुरुष हैं ॥ ४७ ॥

विद्यातपोभितप्तानां तपसा भावितात्मनाम् ।
आत्मदर्शनसिद्धानामृषीणामृषिसत्तम ॥ ४८ ॥
राजर्षीणां पुण्यकृतामाहवेष्वनिवर्तिनाम् ।
सर्वधर्मोपपन्नानां त्वं गतिः पुरुषोत्तम ॥ ४९ ॥

हे ऋषियोंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्ण! विद्या और तपसे तपकर आप तप द्वारा आत्माको भावित करनेवाले और आत्माके दर्शनसे सिद्ध, युद्धमेंसे न भागनेवाले, पुण्यात्मा, सब धर्मोंसे युक्त राजऋषियोंकी, हे पुरुषोत्तम! आप ही गति हैं ॥ ४८-४९ ॥

त्वं प्रभुस्त्वं विभुस्त्वं भूरात्मभूस्त्वं सनातनः ।
लोकपालाश्च लोकाश्च नक्षत्राणि दिशो दश ।
नभश्चन्द्रश्च सूर्यश्च त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ ५० ॥

हे पुरुषसिंह! आप प्रभु, आप ही विभु, आप ही भू और आप ही स्वयंभू तथा आप ही सनातन हैं लोकपाल, लोक, नक्षत्र, दसों दिशायें, आकाश, चन्द्रमा और सूर्य यह सब आपहीमें प्रतिष्ठित हैं ॥ ५० ॥

मर्त्यता चैव भूतानाममरत्वं दिवौकसाम् ।
त्वयि सर्वं महाबाहो लोककार्यं प्रतिष्ठितम् ॥ ५१ ॥

मर्त्यवासियोंमें मरणशीलता और देवताओंमें अमरता यह सब आपहीके अधीन है, हे महाबाहो! सब लोकोंके काम आपहीमें प्रतिष्ठित हैं ॥ ५१ ॥

सा तेऽहं दुःखमाख्यास्ये प्रणयान्मधुसूदन ।
ईशस्त्वं सर्वभूतानां ये दिव्या ये च मानुषाः ॥ ५२ ॥

हे मधुसूदन! वह मैं आपसे स्नेहपूर्वक अपने दुःखको कहती हूं, आप सब जगत्में, जो दिव्य और मानुष प्राणी हैं, उसके स्वामी हैं ॥ ५२ ॥

कथं नु भार्या पार्थानां तव कृष्ण सखी विभो।
धृष्टद्युम्नस्य भगिनी सभां कृष्येत मादृशी ॥ ५३ ॥
हे कृष्ण ! हे विभो ! मैं पाण्डवोंकी स्त्री, तुम्हारी सखी और धृष्टद्युम्नकी बहिन होती हुई भी मेरी ऐसी स्त्री किस प्रकार सभामें खींची गयी ? ॥ ५३ ॥

स्त्रीधर्मिणी वेपमाना रुधिरेण समुक्षिता।
एकवस्त्रा विकृष्टास्मि दुःखिता कुरुसंसदि ॥ ५४ ॥
कांपती हुई, रजस्वला, रुधिरसे भीगी हुई, एकवस्त्र धारिणी तथा दुःखित सभामें खींची गयी ॥ ५४ ॥

राजमध्ये सभायां तु रजसाभिसमीरिताम्।
दृष्ट्वा च मां धार्तराष्ट्राः प्राहसन्पापचेतसः ॥ ५५ ॥
सभामें राजाओंके मध्यमें मुझे रुधिरसे भीगी देखकर पापी चित्तवाले धृतराष्ट्रके पुत्र हंसने लगे ॥ ५५ ॥

दासीभावेन भोक्तुं मामीषुस्ते मधुसूदन।
जीवत्सु पाण्डुपुत्रेषु पाञ्चालेष्वथ वृष्णिषु ॥ ५६ ॥
हे मधुसूदन ! वे लोग मुझे दासी बनाकर पाण्डव, पाञ्चाल और यादवोंके जीतेजी मेरा भोग करना चाहते थे ॥ ५६ ॥

नन्वहं कृष्ण भीष्मस्य धृतराष्ट्रस्य चोभयोः।
स्नुषा भवामि धर्मेण साहं दासीकृता बलात् ॥ ५७ ॥
हे कृष्ण ! जो मैं धर्मसे भीष्म और धृतराष्ट्र दोनोंकी पुत्रवधू थी, उस मुझे उन्होंने बलसे दासी बनाया ॥ ५७ ॥

गर्हये पाण्डवांस्त्वेव युधि श्रेष्ठान्महाबलान्।
ये क्लिश्यमानां प्रेक्षन्ते धर्मपत्नीं यशस्विनीम् ॥ ५८ ॥
युद्धमें श्रेष्ठ महाबलवान् इन पाण्डवोंकी मैं निन्दा करती हूं, जो अपनी यशस्विनी धर्मपत्नीको दुःख पाते हुए देखते हैं ॥ ५८ ॥

धिग्बलं भीमसेनस्य धिक्पार्थस्य धनुष्मताम्।
यौ मां विप्रकृतां क्षुद्रैर्मर्षयेतां जनार्दन ॥ ५९ ॥
हे जनार्दन ! भीमके बलको धिक्कार है और अर्जुनके गाण्डीव धनुषको धिक्कार है, जो मुझे क्षुद्रोंसे अपमानित होती हुई देखकर भी सब सहन कर रहे हैं ॥ ५९ ॥

शाश्वतोऽयं धर्मपथः सद्भिराचरितः सदा ।
यद्भार्यां परिरक्षन्ति भर्तारोऽल्पबला अपि ॥ ६० ॥

यह महात्माओं द्वारा आचरित शाश्वत धर्ममार्ग है, कि थोडे बलवाले पतिभी अपनी स्त्रियोंकी रक्षा करते हैं ॥ ६० ॥

भार्यायां रक्ष्यमाणायां प्रजा भवति रक्षिता ।
प्रजायां रक्ष्यमाणायामात्मा भवति रक्षितः ॥ ६१ ॥

स्त्रीकी रक्षा होनेपर पतिकी सन्तान भी रक्षित होती है, और सन्तानकी रक्षा होनेपर अपनी आत्मा की भी रक्षा होती है ॥ ६१ ॥

आत्मा हि जायते तस्यां तस्माज्जाया भवत्युत ।
भर्ता च भार्यया रक्ष्यः कथं जायान्ममोदरे ॥ ६२ ॥

पतिकी आत्माही उस स्त्रीमें उत्पन्न होती है अतएव उसे "जाया" कहते हैं, अतः [यदि स्वामीकी रक्षा नहीं हुई तो] "पति मेरे उदरसे कैसे उत्पन्न होगा" इस विचारसे स्त्रीभी पतिकी रक्षा करती है ॥ ६२ ॥

नन्विमे शरणं प्राप्तान्न त्यजन्ति कदाचन ।
ते मां शरणमापन्नां नान्वपद्यन्त पाण्डवाः ॥ ६३ ॥

यह पाण्डव शरणागतको कदापि नहीं त्यागते, परन्तु शरणमें आई मेरी उन्होंने भी रक्षा न की ॥ ६३ ॥

पञ्चेमे पञ्चभिर्जाताः कुमाराश्चामितौजसः ।
एतेषामप्यवेक्षार्थं त्रातव्यास्मि जनार्दन ॥ ६४ ॥

मेरे पांचपतियोंसे महा तेजस्वी ये पांच पुत्र उत्पन्न हुए हैं, हे जनार्दन ! इनकी भी देखरेख करनेके लिए मैं रक्षा किये जाने योग्य हूं ॥ ६४ ॥

प्रतिविन्ध्यो युधिष्ठिरात्सुतसोमो वृकोदरात् ।
अर्जुनाच्छ्रुतकीर्तिस्तु शतानीकस्तु नाकुलिः ॥ ६५ ॥

युधिष्ठिरसे प्रतिविन्ध्य, भीमसे सुतसोम, अर्जुनसे श्रुतकीर्ति, नकुलसे शतानीक ॥ ६५ ॥

कनिष्ठाच्छ्रुतकर्मा तु सर्वे सत्यपराक्रमाः ।
प्रद्युम्नो यादृशः कृष्ण तादृशास्ते महारथाः ॥ ६६ ॥

और सहदेवसे श्रुतकर्मा पुत्र उत्पन्न हुए। ये भी सत्यपराक्रमी हैं। हे कृष्ण ! जैसे प्रद्युम्न हैं, वैसेही यह भी सब महारथी हैं ॥ ६६ ॥

नन्विमे धनुषि श्रेष्ठा अजेया युधि शात्रवैः ।
किमर्थं धार्तराष्ट्राणां सहन्ते दुर्बलीयसाम् ॥ ६७ ॥

यह सब धनुर्धारियोंमें श्रेष्ठ, युद्धमें शत्रुओंसे अजेय हैं, पर न जाने, यह सब दुर्बल धृतराष्ट्रके पुत्रोंको क्यों क्षमा कर रहे हैं ? ॥ ६७ ॥

अधर्मेण हृतं राज्यं सर्वे दासाः कृतास्तथा ।
सभायां परिकृष्टाहमेकवस्त्रा रजस्वला ॥ ६८ ॥

उन्होंने इनका राज्य अधर्मसे छीन लिया और इन सबको दास बनाया, एक वस्त्रधारिणी और रजस्वला मुझको सभामें खींच लाये ॥ ६८ ॥

नाधिज्यमपि यच्छक्यं कर्तुमन्येन गाण्डिवम् ।
अन्यत्रार्जुनभीमाभ्यां त्वया वा मधुसूदन ॥ ६९ ॥

हे मधुसूदन ! गाण्डीव धनुषपर अर्जुन, भीम तथा तुम्हारे विना जगत्में कोईभी डोरी नहीं चढा सकता ॥ ६९ ॥

धिग्भीमसेनस्य बलं धिक्पार्थस्य च गाण्डिवम् ।
यत्र दुर्योधनः कृष्ण मुहूर्तमपि जीवति ॥ ७० ॥

अतः, हे कृष्ण ! भीमके बलको धिक्कार है और अर्जुनके गाण्डीव धनुषको भी धिक्कार है, जो दुर्योधन इनके आगे मुहूर्त्त भरभी जीवित है ॥ ७० ॥

य एतानाक्षिपद्राष्ट्रात्सह मात्राविहिंसकान् ।
अधीयानान्पुरा बालान्व्रतस्थान्मधुसूदन ॥ ७१ ॥

हे मधुसूदन ! पहले इनकी ब्रह्मचर्यावस्थामें बालकपनमें पढते समय जिसने किसीकी भी हिंसा न करनेवाले इन पाण्डवोंको माताके समेत राज्यसे निकाल दिया था ॥ ७१ ॥

भोजने भीमसेनस्य पापः प्राक्षेपयद्विषम् ।
कालकूटं नवं तीक्ष्णं संभृतं लोमहर्षणम् ॥ ७२ ॥

जिस पापीने भीमसेनके भोजनमें रोमको खडाकरदेनेवाले, कालकूटके समान भयङ्कर नये और तीखे विषको मिला दिया था ॥ ७२ ॥

तज्जीर्णमविकारेण सहान्नेन जनार्दन ।
सशेषत्वान्महाबाहो भीमस्य पुरुषोत्तम ॥ ७३ ॥

उस विषको अन्नके सहित विना विकारकेही भीमने आयुशेष रहनेके कारण, हे महाबाहो पुरुषोत्तम जनार्दन ! पचा लिया था ॥ ७३ ॥

प्रमाणकोट्यां विश्वस्तं तथा सुप्तं वृकोदरम् ।
बद्ध्वैनं कृष्ण गङ्गायां प्रक्षिप्य पुनराव्रजत् ॥ ७४ ॥

हे कृष्ण ! प्रमाणकोटि नामक वट-वृक्षके नीचे विश्वासपूर्वक सोते हुए भीमसेनको बांधकर गङ्गामें डालकर वह आप नगरको चला गया था ॥ ७४ ॥

यदा विबुद्धः कौन्तेयस्तदा संछिद्य बन्धनम् ।
उदतिष्ठन्महाबाहुर्भीमसेनो महाबलः ॥ ७५ ॥

हे कृष्ण ! जब महाबली महाबाहु कुन्तीपुत्र भीमसेन जागे तब सब बन्धन तोडकर खडे हो गये ॥ ७५ ॥

आशीविषैः कृष्णसर्पैः सुप्तं चैनमदंशयत् ।
सर्वेष्वेवाङ्गदेशेषु न ममार च शत्रुहा ॥ ७६ ॥

हे कृष्ण ! सोते हुए भीमके सब अङ्गोंमें उस दुर्योधनने भयंकर विषैले काले सर्पोंसे कटवाया तथापि शत्रुनाशक भीम न मरे ॥ ७६ ॥

प्रतिबुद्धस्तु कौन्तेयः सर्वान्सर्पानपोथयत् ।
सारथिं चास्य दयितमपहस्तेन जघ्निवान् ॥ ७७ ॥

जब भीम जागे तो उन्होंने सब सर्पोंको मार डाला और उसके प्रिय सारथीको भी बायें हाथसे मार डाला ॥ ७७ ॥

पुनः सुप्तानुपाधाक्षीद्बालकान्वारणावते ।
शयानानार्यया सार्धं को नु तत्कर्तुमर्हति ॥ ७८ ॥

फिर बारणावतमें यह बालक अपनी माताके साथ जब सोये हुए थे तब उस दुर्योधनने सोते हुए इन पाण्डवोंको जला देना चाहा, भला ऐसा कौन कर सकता है ? ॥ ७८ ॥

यत्रार्या रुदती भीता पाण्डवानिदमब्रवीत् ।
महद्व्यसनमापन्ना शिखिना परिवारिता ॥ ७९ ॥

जहां महादुःखमें पडी हुई और आगसे घिरी रोती हुई तथा भयभीत आर्या कुन्तीने पाण्डवोंसे यह कहा ॥ ७९ ॥

हा हतास्मि कुतो न्वद्य भवेच्छान्तिरिहानलात् ।
अनाथा विनशिष्यामि बालकैः पुत्रकैः सह ॥ ८० ॥

हाय मैं मरी, अब कैसे इस आगसे बचना होगा, अनाथ मैं अपने बालक पुत्रोंके साथ यहीं नष्ट हो जाऊंगी ! ॥ ८० ॥

×

तत्र भीमो महाबाहुर्वायुवेगपराक्रमः।
आर्यामाश्वासयामास भ्रातॄंश्चापि वृकोदरः ॥ ८१ ॥

वहां वायुके समान् वेग और बलवाले महाबाहु भीमने कुन्ती और भाइयोंको आश्वासन दिया और कहा ॥ ८१ ॥

वैनतेयो यथा पक्षी गरुडः पततां वरः।
तथैवाभिपतिष्यामि भयं वो नेह विद्यते ॥ ८२ ॥

कि जैसे उडनेवाले पक्षियोंमें श्रेष्ठ गरुड उडता है, वैसे ही मैं भी उड जाऊंगा; आप लोगों को कुछभी भय नहीं है; ॥ ८२ ॥

आर्यामङ्केन वामेन राजानं दक्षिणेन च।
अंसयोश्च यमौ कृत्वा पृष्ठे बीभत्सुमेव च ॥ ८३ ॥
सहसोत्पत्य वेगेन सर्वानादाय वीर्यवान्।
भ्रातॄनार्यां च बलवान्मोक्षयामास पावकात् ॥ ८४ ॥

तब कुन्तीको बांई बगलमें, राजा युधिष्ठिरको दाहिनी बगलमें, नकुल और सहदेवको कन्धोंपर तथा अर्जुनको पीठपर चढाकर सबको एक साथ लेकर उडकर वीर्यवान् बलवान् भीमने भाईयों और माताको आगसे बचाया ॥ ८३-८४ ॥

ते रात्रौ प्रस्थिताः सर्वे मात्रा सह यशस्विनः।
अभ्यगच्छन्महारण्यं हिडिम्बवनमन्तिकात् ॥ ८५ ॥

तब यशस्वी पाण्डव अपनी माताके साथ वहांसे रातको चले, तो हिडिम्बराक्षसके वनके पास ही एक दूसरे महाघोर वनमें जा पहुंचे ॥ ८५ ॥

श्रान्ताः प्रसुप्तास्तत्रेमे मात्रा सह सुदुःखिताः।
सुप्तांश्चैनानभ्यगच्छद्धिडिम्बा नाम राक्षसी ॥ ८६ ॥

वहां थके हुए वे माताके समेत दुःखी होकर सो रहे थे; कि इन सोये हुओंके पास हिडम्बा नामकी राक्षसी आई ॥ ८६ ॥

भीमस्य पादौ कृत्वा तु स्व उत्सङ्गे ततो बलात्।
पर्यमर्दत संहृष्टा कल्याणी मृदुपाणिना ॥ ८७ ॥

और कल्याणी हिडिम्बाने बलपूर्वक भीमके चरण अपनी गोदमें लेकर प्रसन्न होकर कोमल हाथोंसे दबाना शुरु किया ॥ ८७ ॥

तामबुध्यदमेयात्मा बलवान्सत्यविक्रमः।
पर्यपृच्छच्च तां भीमः किमिहेच्छस्यनिन्दिते ॥ ८८ ॥

तब सत्य-पराक्रमशील महात्मा बलवान् भीमने जागकर उससे पूछा– हे अनिन्दिते ! तुम क्या चाहती हो ? ॥ ८८ ॥

तयोः श्रुत्वा तु कथितमागच्छद्राक्षसाधमः ।
भीमरूपो महानादान्विसृजन्भीमदर्शनः ॥ ८९ ॥

इन दोनोंका वार्तालाप सुनकर राक्षसोंमें नीच वह भयंकर रूपवाला और भयानक दर्शनवाला हिडिम्ब घोर शब्द करता हुआ वहां आया ॥ ८९ ॥

केन सार्धं कथयसि आनयैनं ममान्तिकम् ।
हिडिम्बे भक्षयिष्यावो न चिरं कर्तुमर्हसि ॥ ९० ॥

[वह बोला] हे हिडिम्बे ! तू किसके साथ बात कर रही है, इसको मेरे पास ले आ । हम दोनों इसको खायेंगे, तू विलम्ब मत कर ॥ ९० ॥

सा कृपासंगृहीतेन हृदयेन मनस्विनी ।
नैवमैच्छत्तदाख्यातुमनुक्रोशादनिन्दिता ॥ ९१ ॥

पर उस अनिन्दित और मनस्विनीके हृदयमें प्रेम उत्पन्न हो गया था, अतः इस प्रेमके कारण यह बात भीमसे उसने कहना नहीं चाहा ॥ ९१ ॥

स नादान्विनदन्घोरान्राक्षसः पुरुषादकः ।
अभ्यद्रवत वेगेन भीमसेनं तदा किल ॥ ९२ ॥

तब वह मनुष्यभक्षी राक्षस घोर शब्दोंको करता हुआ वेगसे भीमसेनकी ओर दौडा ॥ ९२ ॥

तमभिद्रुत्य संक्रुद्धो वेगेन महता बली ।
अगृह्णात्पाणिना पाणिं भीमसेनस्य राक्षसः ॥ ९३ ॥

क्रोधमें भरे हुए बली राक्षसने महावेगसे दौडकर अपने हाथसे भीमका हाथ पकड लिया ॥ ९३ ॥

इन्द्राशनिसमस्पर्शं वज्रसंहननं दृढम् ।
संहत्य भीमसेनाय व्याक्षिपत्सहसा करम् ॥ ९४ ॥

इन्द्रके वज्रके समान स्पर्शवाले तथा वज्रके समान दृढ हाथका मुक्का बांधकर उसने बलसे भीमसेनके मारा ॥ ९४ ॥

गृहीतं पाणिना पाणिं भीमसेनोऽथ रक्षसा ।
नामृष्यत महाबाहुस्तत्राक्रुध्यद्वृकोदरः ॥ ९५ ॥

भीमने जब देखा कि राक्षसने उनका हाथ पकड लिया है तो यह उन्होंने सहन नहीं किया और तब महाबाहु भीमसेन भी क्रोधित हो गए ॥ ९५ ॥

तत्रासीत्तुमुलं युद्धं भीमसेनहिडिम्बयोः ।
सर्वास्त्रविदुषोर्घोरं वृत्रवासवयोरिव ॥ ९६ ॥

तब सब शस्त्रोंको जाननेवाले भीम और हिडिम्बका वैसाही घोरयुद्ध हुआ जैसा इन्द्र और वृत्रासुरका हुआ था ॥ ९६ ॥

हत्वा हिडिम्बं भीमोऽथ प्रस्थितो भ्रातृभिः सह ।
हिडिम्बामग्रतः कृत्वा यस्यां जातो घटोत्कचः ॥ ९७ ॥

तब हिडिंबको मारकर भाईयोंके समेत हिडिम्बाको आगे कर भीमसेन वहांसे चले; आगे जाकर हिडिंबासे घटोत्कचका जन्म हुआ ॥ ९७ ॥

ततश्च प्राद्रवन्सर्वे सह मात्रा यशस्विनः ।
एकचक्रामभिमुखाः संवृता ब्राह्मणव्रजैः ॥ ९८ ॥

तब ये सब यशस्वी पाण्डव माताके साथ ब्राह्मणोंसे घिरे हुए एकचक्रापुरीकी ओर चले ॥ ९८ ॥

प्रस्थाने व्यास एषां च मन्त्री प्रियहितोऽभवत् ।
ततोऽगच्छन्नेकचक्रां पाण्डवाः संशितव्रताः ॥ ९९ ॥

मार्गमें इन पाण्डवोंको उत्तम सलाह देनेवाले व्यास इनके हितकारी कार्यमें नियुक्त हुए। तब ये व्रतधारी पाण्डव एकचक्रापुरीको गये ॥ ९९ ॥

तत्राप्यासादयामासुर्बकं नाम महाबलम् ।
पुरुषादं प्रतिभयं हिडिम्बेनैव संमितम् ॥ १०० ॥

वहां पाण्डवोंकी महाबलवान् बकासुरसे मुठभेड हुई, जो मनुष्यभक्षक भयानक हिडिम्बके समान ही था ॥ १०० ॥

तं चापि विनिहत्योग्रं भीमः प्रहरतां वरः ।
सहितो भ्रातृभिः सर्वैर्द्रुपदस्य पुरं ययौ ॥ १०१ ॥

इस भयानक राक्षसको भी मारनेवालोंमें श्रेष्ठ भीमने मार कर भाईयोंके साथ द्रुपदके पुरको गए ॥ १०१ ॥

लब्धाहमपि तत्रैव वसता सव्यसाचिना ।
यथा त्वया जिता कृष्ण रुक्मिणी भीष्मकात्मजा ॥ १०२ ॥

हे कृष्ण ! वहां निवास करते हुए अर्जुनने मुझे उसी प्रकार प्राप्त किया, जैसे तुमने युद्धमें भीष्मककी पुत्री रुक्मिणीको जीता था ॥ १०२ ॥

एवं सुयुद्धे पार्थेन जिताहं मधुसूदन ।
स्वयंवरे महत्कर्म कृत्वा नसुकरं परैः ॥ १०३ ॥

इस प्रकार, हे मधुसूदन ! अन्योंसे आसानीसे न किए जाने योग्य महान् कर्मको करके अर्जुनके द्वारा स्वयंवरमें और युद्धमें मैं जीती गई हूँ ॥ १०३ ॥

एवं क्लेशैः सुबहुभिः क्लिश्यमानाः सुदुःखिताः ।
निवसामार्यया हीनाः कृष्ण धौम्यपुरःसराः ॥ १०४ ॥
हे मधुसूदन ! इस प्रकार बहुत क्लेशोंसे क्लेशित होकर और दुःखित होकर मैं अपनी साससे रहित होकर धौम्यके सहित वनमें वास करती हूं ॥ १०४ ॥

त इमे सिंहविक्रान्ता वीर्येणाभ्यधिकाः परैः ।
विहीनैः परिक्लिश्यन्तीं समुपेक्षन्त मां कथम् ॥ १०५ ॥
यह सिंहके समान पराक्रमी वैरियोंसे अधिक बलवान् होनेपर भी हीनोंके द्वारा दुःखी की जाती हुई मुझे इस दशामें क्यों देख रहे हैं ? ॥ १०५ ॥

एतादृशानि दुःखानि सहन्ते दुर्बलीयसाम् ।
दीर्घकालं प्रदीप्तानि पापानां क्षुद्रकर्मणाम् ॥ १०६ ॥
दुर्बल और पापियों तथा नीच कर्म करनेवालोंके द्वारा बहुत कालसे दिए जानेवाले ऐसे दुःखोंको सह रहे हैं ॥ १०६ ॥

कुले महति जातास्मि दिव्येन विधिना किल ।
पाण्डवानां प्रिया भार्या स्नुषा पाण्डोर्महात्मनः ॥ १०७ ॥
मैं दिव्यविधिसे महाकुलमें उत्पन्न हुई हूं; पाण्डवोंकी प्यारी स्त्री और महात्मा पाण्डुकी पुत्रवधू हूं ॥ १०७ ॥

कचग्रहमनुप्राप्ता सास्मि कृष्ण वरा सती ।
पञ्चानामिन्द्रकल्पानां प्रेक्षतां मधुसूदन ॥ १०८ ॥
हे मधुसूदन कृष्ण ! मैं ऐसी श्रेष्ठ होनेपर भी इन्द्रके समान पांच पाण्डवोंके देखते देखते अन्य पुरुष द्वारा बालोंसे पकडके खींची गयी ॥ १०८ ॥

इत्युक्त्वा प्रारुदत्कृष्णा मुखं प्रच्छाद्य पाणिना ।
पद्मकोशप्रकाशेन मृदुना मृदुभाषिणी ॥ १०९ ॥
ऐसा कहकर मधुर बोलनेवाली द्रौपदी अपने पद्मके गर्भके सदृश कान्तिमान् और कोमल हाथसे मुखको छिपाकर रोने लगी ॥ १०९ ॥

स्तनावपतितौ पीनौ सुजातौ शुभलक्षणौ ।
अभ्यवर्षत पाञ्चाली दुःखजैरश्रुबिन्दुभिः ॥ ११० ॥
वह द्रौपदी न ढले हुए अर्थात् कसे हुए, मोटे और शुभलक्षणयुक्त स्तनोंको दुःखके कारण उत्पन्न हुए आंसुओंसे भिगोने लगी ॥ ११० ॥

चक्षुषी परिमार्जन्ती निःश्वसन्ती पुनः पुनः।
बाष्पपूर्णेन कण्ठेन क्रुद्धा वचनमब्रवीत् ॥ १११ ॥

आंखोंको पोंछती हुई बार बार सांस लेती हुई आंसुओंसे पूर्ण कण्ठसे क्रुद्ध द्रौपदी यह वचन बोली ॥ १११ ॥

नैव मे पतयः सन्ति न पुत्रा मधुसूदन।
न भ्रातरो न च पिता नैव त्वं न च बान्धवाः ॥ ११२ ॥

हे मधुसूदन! मेरे न पति हैं, न पुत्र हैं, न भाईलोग हैं, न बान्धव हैं, न पिता हैं और हे कृष्ण! आप भी नहीं हैं ॥ ११२ ॥

ये मां विप्रकृतां क्षुद्रैरुपेक्षध्वं विशोकवत्।
न हि मे शाम्यते दुःखं कर्णो यत्प्राहसत्तदा ॥ ११३ ॥

जो आप शोकरहित हुएके समान नीचोंके द्वारा अपमानित मेरे दुःखकी उपेक्षा कर रहे हैं। तब कर्णने जो मेरी हंसी उडाई थी, वह मेरा दुःख शान्त नहीं होता ॥ ११३ ॥

अथैनामब्रवीत्कृष्णस्तस्मिन्वीरसमागमे।
रोदिष्यन्ति स्त्रियो ह्येवं येषां क्रुद्धासि भामिनि ॥ ११४ ॥
बीभत्सुशरसंछन्नाञ्शोणितौघपरिप्लुतान्।
निहताञ्जीवितं त्यक्त्वा शयानान्वसुधातले ॥ ११५ ॥

तब उस वीर समागममें श्रीकृष्णने द्रौपदीसे कहा– भामिनि! तुम जिन पर क्रुद्ध हुई हो उनकी स्त्रियां भी अपने पतियोंको अर्जुनके बाणोंसे घिरे हुए, रुधिरसे सने हुए, मारे गए तथा जीवनको छोडकर पृथ्वीपर सोते हुए देखकर ऐसी ही रोयेंगी ॥ ११४-११५ ॥

यत्समर्थं पाण्डवानां तत्करिष्यामि मा शुचः।
सत्यं ते प्रतिजानामि राज्ञां राज्ञी भविष्यसि ॥ ११६ ॥

पाण्डव जो कुछ कर सकते हैं, वह मैं करूँगा, शोक मत करो; मैं सत्य प्रतिज्ञा कहता हूँ, तुम इन राजा पाण्डवोंकी पटरानी बनोगी ॥ ११६ ॥

पतेद् द्यौर्हिमवाञ्शीर्येत्पृथिवी शकलीभवेत्।
शुष्येत्तोयनिधिः कृष्णे न मे मोघं वचो भवेत् ॥ ११७ ॥

चाहे आकाश गिर जाये, हिमालयके टुकडे टुकडे हो जायें, भूमि खण्ड खण्ड हो जाये अथवा समुद्र सूख जाये परन्तु, हे द्रौपदी! मेरा वचन मिथ्या नहीं होगा ॥ ११७ ॥

धृष्टद्युम्न उवाच

अहं द्रोणं हनिष्यामि शिखण्डी तु पितामहम्।
दुर्योधनं भीमसेनः कर्णं हन्ता धनञ्जयः ॥ ११८ ॥

धृष्टद्युम्न बोले– मैं द्रोणाचार्यको मारूंगा, शिखण्डी भीष्मका नाश करेंगे, दुर्योधनको भीमसेन और कर्णको अर्जुन मारेंगे ॥ ११८ ॥

रामकृष्णौ व्यपाश्रित्य अजेयाः स्म शुचिस्मिते।
अपि वृत्रहणा युद्धे किं पुनर्धृतराष्ट्रजैः ॥ ११९ ॥

हे शुद्ध मुस्कराहटोंवाली! हम बलराम और श्रीकृष्णकी सहायतासे युद्धमें इन्द्रसे भी अजेय हैं, तब धृतराष्ट्रके पुत्रोंके बारेमें क्या कहना? ॥ ११९ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तेऽभिमुखा वीरा वासुदेवमुपस्थिताः।
तेषां मध्ये महाबाहुः केशवो वाक्यमब्रवीत् ॥ १२० ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि त्रयोदशोऽध्यायः॥ ॥ १३ ॥ ५२३ ॥

वैशम्पायन बोले– जब धृष्टद्युम्नने ऐसा कहा, तो सब वीरलोग श्रीकृष्णकी ओर देखने लगे। तब वीरोंके मध्यमें महाबाहु श्रीकृष्ण ऐसे वचन बोले ॥ १२० ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें तेरहवां अध्याय समाप्त ॥ १३ ॥ ५२३ ॥

: १४ :

वासुदेव उवाच

नेदं कृच्छ्रमनुप्राप्तो भवान्स्याद्वसुधाधिप।
यद्यहं द्वारकायां स्यां राजन्संनिहितः पुरा ॥ १ ॥

वासुदेव बोले– हे महाराज युधिष्ठिर! यदि मैं उस समय द्वारिकामें या उसके आसपास होता, तो आप इस महान् संकटमें न पडते ॥ १ ॥

आगच्छेयमहं द्यूतमनाहूतोऽपि कौरवैः।
आम्बिकेयेन दुर्धर्ष राज्ञा दुर्योधनेन च ॥ २ ॥

हे अजेय युधिष्ठिर! मैं अम्बिका पुत्र धृतराष्ट्र और राजा दुर्योधनके और कौरवोंके न बुलानेपर भी अवश्य द्यूतस्थानमें पहुंचता ॥ २ ॥

वारयेयमहं द्यूतं बहून्दोषान्प्रदर्शयन् ।
भीष्मद्रोणौ समानाय्य कृपं बाह्लीकमेव च ॥ ३ ॥
वैचित्रवीर्यं राजानमलं द्यूतेन कौरव ।
पुत्राणां तव राजेन्द्र त्वन्निमित्तमिति प्रभो ॥ ४ ॥

और मैं अनेक दोष दिखाकर जुएको न होने देता । तथा आपके लिए भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, बाह्लीक और महाराज विचित्रवीर्यके पुत्र धृतराष्ट्रको बुलाकर कहता— हे कौरव! इस जुएसे बस करो । हे प्रभो! यह तुम्हारे पुत्रोंके योग्य नहीं है ॥ ३-४ ॥

तत्र वक्ष्याम्यहं दोषान्यैर्भवानवरोपितः ।
वीरसेनसुतो यैश्च राज्यात्प्रभ्रंशितः पुरा ॥ ५ ॥

मैं वहां यह भी सब दोष दिखाता, जिनमें इस समय आप पडे हुए हैं, और वे दोष भी मैं दिखाता, जिनके कारण पूर्वकालमें वीरसेनके पुत्र (नल) राज्यसे नष्ट हुए थे ॥ ५ ॥

अभक्षितविनाशं च देवनेन विशां पते ।
सातत्यं च प्रसंगस्य वर्णयेयं यथातथम् ॥ ६ ॥

हे राजन्! जुआ खेलनेसे ऐसा विनाश अचानक ही आकर खडा हो जाता है कि जिसकी कल्पना भी नहीं जा सकती । इसके अलावा एक बार जुआ खेलनेपर उसे बार बार खेलनेकी आदत पड जाती है । इन सब बातोंका मैं यथार्थरूपसे वर्णन करता ॥ ६ ॥

स्त्रियोऽक्षा मृगया पानमेतत्कामसमुत्थितम् ।
व्यसनं चतुष्टयं प्रोक्तं यै राजन्भ्रश्यते श्रियः ॥ ७ ॥

यह चार दोष कामसे उत्पन्न होते हैं, स्त्रियोंमें अति प्रसक्ति, जुआ मृगया (शिकार) और मद्यपान यह चारोंही महादुःखदायी हैं, क्योंकि इनसे पुरुष लक्ष्मीहीन हो जाता है ॥७॥

तत्र सर्वत्र वक्तव्यं मन्यन्ते शास्त्रकोविदाः ।
विशेषतश्च वक्तव्यं द्यूते पश्यन्ति तद्विदः ॥ ८ ॥

यद्यपि शास्त्रदर्शी महात्मा इन चारोंहीको दोषस्थान कहते हैं, तथापि विशेषकर जुएको महान् आपत्तिका स्थान कहते हैं ॥ ८ ॥

एकाह्ना द्रव्यनाशोऽत्र ध्रुवं व्यसनमेव च ।
अभुक्तनाशश्चार्थानां वाक्पारुष्यं च केवलम् ॥ ९ ॥

क्योंकि इसमें एक ही दिनमें सब द्रव्यका नाश हो जाता है, और उसमें राज्यभ्रंशादि भी अवश्य ही हो जाता है, तथा इसमें विना भोग किये ही धनका नाश होता है और केवल कठोर वाणी ही सुननेको मिलती है ॥ ९ ॥

एतच्चान्यच्च कौरव्य प्रसङ्गि कटुकोदयम् ।
द्यूते ब्रूयां महाबाहो समासाद्याम्बिकासुतम् ॥ १० ॥

हे कौरव्य ! हे महाबाहो ! इस प्रकारकी तथा और भी दूसरी अनेकों कडुवी बातें जुएमें प्रसंग होनेपर मैं अम्बिकापुत्र धृतराष्ट्रके पास जाकर कहता ॥ १० ॥

एवमुक्तो यदि मया गृह्णीयाद्वचनं मम ।
अनामयं स्याद्धर्मस्य कुरूणां कुरुनन्दन ॥ ११ ॥

हे कुरुनन्दन ! मेरे द्वारा इस प्रकार कहे जानेपर मेरी इन बातोंको यदि वह धृतराष्ट्र मान लेते तो कुरुवंशमें कल्याणवृद्धि होती और धर्म होता ॥ ११ ॥

न चेत्स मम राजेन्द्र गृह्णीयान्मधुरं वचः ।
पथ्यं च भरतश्रेष्ठ निगृह्णीयां बलेन तम् ॥ १२ ॥

हे राजेन्द्र ! यदि वह मेरे पथ्यके समान मीठे वचनको न मानते; तो, हे भरतश्रेष्ठ युधिष्ठिर ! मैं उनको बलसे अपने वशमें करता ॥ १२ ॥

अथैनानभिनीयैवं सुहृदो नाम दुर्हृदः ।
सभासदश्च तान्सर्वान्भेदयेयं दुरोदरान् ॥ १३ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! इनके लडनेके समय यदि इनके दुष्टात्मा मित्रलोग और दुष्ट सभासद आते तो उन दुष्कर्मियोंको भी मैं मार डालता ॥ १३ ॥

असान्निध्यं तु कौरव्य ममानर्तेष्वभूत्तदा ।
येनेदं व्यसनं प्राप्ता भवन्तो द्यूनकारितम् ॥ १४ ॥

हे कौरव्य ! उस समय मैं आनर्त देशियोंके समीप नहीं था; अतएव आपलोग इस जुएके कारण उत्पन्न हुए इस महासंकटमें पड गये ॥ १४ ॥

सोऽहमेत्य कुरुश्रेष्ठ द्वारकां पाण्डुनन्दन ।
अश्रौषं त्वां व्यसनिनं युयुधानाद्यथातथम् ॥ १५ ॥

हे कुरुश्रेष्ठ ! हे पाण्डुनन्दन ! जब मैं द्वारका आया, तो सात्यकीसे महादुःखमें पडे हुए तुम्हारे बारेमें मैंने सुना ॥ १५ ॥

श्रुत्वैव चाहं राजेन्द्र परमोद्विग्नमानसः ।
तूर्णमभ्यागतोऽस्मि त्वां द्रष्टुकामो विशां पते ॥ १६ ॥

हे प्रजाओंके स्वामिन् राजेन्द्र ! मैं सुनते ही अत्यन्त उद्विग्नचित्त होकर आपको देखनेकी इच्छासे बहुत शीघ्र यहां चला आया ॥ १६ ॥

अहो कृच्छ्रमनुप्राप्ताः सर्वे स्म भरतर्षभ।
ये वयं त्वां व्यसनिनं पश्यामः सह सोदरैः ॥ १७ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥ ५४० ॥

हे भरतर्षभ ! हे महाराज ! हम सभी महादुःखमें पडे हुए हैं, क्योंकि हम आपको अपने भाईयोंके समेत इस दुःखमें देख रहे हैं ॥ १७ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें चौदहवां अध्याय समाप्त ॥ १४ ॥ ५४० ॥

: १५ :

युधिष्ठिर उवाच

असान्निध्यं कथं कृष्ण तवासीद्वृष्णिनन्दन।
क्व चासीद्विप्रवासस्ते किं वाकार्षीः प्रवासकः ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे वृष्णिनन्दन कृष्ण ! द्यूतक्रीडाके समय तुम द्वारिकामें क्यों नहीं थे ? तुम किस परदेशको गये थे और उस परदेशके प्रवासमें तुमने क्या कार्य किया ? ॥ १ ॥

कृष्ण उवाच

शाल्वस्य नगरं सौभं गतोऽहं भरतर्षभ।
विनिहन्तुं नरश्रेष्ठ तत्र मे शृणु कारणम् ॥ २ ॥

श्रीकृष्ण बोले– हे भरतर्षभ ! हे नरश्रेष्ठ ! शाल्वको मारनेके लिए मैं उसके सौभपुरमें गया था। उसका कारण सुनो ॥ २ ॥

महातेजा महाबाहुर्यः स राजा महायशाः।
दमघोषात्मजो वीरः शिशुपालो मया हतः ॥ ३ ॥
यज्ञे ते भरतश्रेष्ठ राजसूयेऽर्हणां प्रति।
स रोषवशसंप्राप्तो नामृष्यत दुरात्मवान् ॥ ४ ॥

महातेजस्वी महाबाहु महायशस्वी दमघोषका पुत्र जो वीर राजा शिशुपाल था, उस मैंने हे भरतश्रेष्ठ ! पूजाके कारण तुम्हारे राजसूय यज्ञमें जो मारा था, उसे वह दुरात्मा शाल्वराजा क्रोधके वशमें होकर सहन न कर सका ॥ ३-४ ॥

श्रुत्वा तं निहतं शाल्वस्तीव्ररोषसमन्वितः।
उपायाद्द्वारकां शून्यामिहस्थे मयि भारत ॥ ५ ॥

हे भारत ! जब मैं आपके पास आया था, तब उस शाल्वने शिशुपालका मरना सुनकर तीव्र क्रोधके वशमें होकर शून्य द्वारकापर आक्रमण कर दिया ॥ ५ ॥

स तत्र योधितो राजन्बालकैर्वृष्णिपुङ्गवैः ।
आगतः कामगं सौभमारुह्यैव नृशंसकृत् ॥ ६ ॥

जब वह अत्याचारी राजा इच्छाके अनुसार चलनेवाले अपने सौभपर चढकर द्वारिकामें आया; तो, हे राजन् ! वृष्णिवंशी बालकोंने उससे युद्ध किया ॥ ६ ॥

ततो वृष्णिप्रवीरांस्तान्बालान्हत्वा बहूंस्तदा ।
पुरोद्यानानि सर्वाणि भेदयामास दुर्मतिः ॥ ७ ॥

तब उस दुर्मतिने बहुत सारे बालकों और वृष्णिवंशियोंको मारकर नगरके सब उपवनोंको नष्ट कर दिया ॥ ७ ॥

उक्तवांश्च महाबाहो कासौ वृष्णिकुलाधमः ।
वासुदेवः सुमन्दात्मा वसुदेवसुतो गतः ॥ ८ ॥

हे महाबाहो । तब उसने कहा– कि वह दुष्टबुद्धि वसुदेवका पुत्र, वृष्णिकुलका अधम कृष्ण कहां चला गया है ? ॥ ८ ॥

तस्य युद्धार्थिनो दर्पं युद्धे नाशयितास्म्यहम् ।
आनर्ताः सत्यमाख्यात तत्र गन्तास्मि यत्र सः ॥ ९ ॥

मैं उस युद्ध करनेकी इच्छावालेके अभिमानका युद्धमें नाश करूंगा । हे आनर्तलोगो ! तुम सत्य कहो, वह जहां होगा, मैं वहीं जाऊंगा ॥ ९ ॥

तं हत्वा विनिवर्तिष्ये कंसकेशिनिषूदनम् ।
अहत्वा न निवर्तिष्ये सत्येनायुधमालभे ॥ १० ॥

उस कंस और केशीके मारनेवालेको मारकर लौटूंगा । मैं शस्त्रोंको छूकर सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूं, कि उसे विना मारे कदापि न लौटूंगा ॥ १० ॥

कासौ कासाविति पुनस्तत्र तत्र विधावति ।
मया किल रणे युद्धं कांक्षमाणः स सौभराट् ॥ ११ ॥

"वह कहां है, वह कहां है" ऐसे कहता हुआ सौभका राजा मुझसे युद्ध करनेकी इच्छासे इधर उधर दौडने लगा ॥ ११ ॥

अद्य तं पापकर्माणं क्षुद्रं विश्वासघातिनम् ।
शिशुपालवधामर्षाद्गमयिष्ये यमक्षयम् ॥ १२ ॥

और कहने लगा– कि शिशुपालके मारनेके क्रोधके कारण मैं आज उस पापी, विश्वासघाती, क्षुद्र, कृष्णको यमके घर भेजूंगा ॥ १२ ॥

मम पापस्वभावेन भ्राता येन निपातितः।
शिशुपालो महीपालस्तं वधिष्ये महीतले ॥ १३ ॥
जिस पाप स्वभाववालेने मेरे भाई राजा शिशुपालको मारा है, आज मैं उसको पृथ्वीपर मारूंगा ॥ १३ ॥

भ्राता बालश्च राजा च न च सङ्ग्राममूर्धनि।
प्रमत्तश्च हतो वीरस्तं हनिष्ये जनार्दनम् ॥ १४ ॥
जिस कृष्णने मेरे भाई बालक वीर प्रमत्त राजा शिशुपालको विना युद्धके मारा, मैं भी उस जनार्दनको मारूंगा ॥ १४ ॥

एवमादि महाराज विलप्य दिवमास्थितः।
कामगेन स सौभेन क्षिप्त्वा मां कुरुनन्दन ॥ १५ ॥
हे कुरुनन्दन राजन्! यह इस प्रकारसे विलाप करता हुआ और मुझपर आक्षेप करता हुआ अपने इच्छानुसार चलनेवाले सौभनगरसे वह आकाशमें स्थिर हो गया ॥ १५ ॥

तमश्रौषमहं गत्वा यथा वृत्तः सुदुर्मतिः।
मयि कौरव्य दुष्टात्मा मार्तिकावतको नृपः ॥ १६ ॥
हे कौरव्य! जब मैं आपके पाससे गया, तो उस दुर्बुद्धि "मार्त्तिकावत" देशी दुष्टात्मा राजा शाल्वने जो मेरे लिये कहा था, सो सब सुना ॥ १६ ॥

ततोऽहमपि कौरव्य रोषव्याकुललोचनः।
निश्चित्य मनसा राजन्वधायास्य मनो दधे ॥ १७ ॥
हे कौरव्य! तब मैं भी क्रोधसे व्याकुल आंखोंवाला होकर उसको मारनेका मनसे निश्चय करके उसको मारनेमें मैंने मन लगाया ॥ १७ ॥

आनर्तेषु विमर्दं च क्षेपं चात्मनि कौरव।
प्रवृद्धमवलेपं च तस्य दुष्कृतकर्मणः ॥ १८ ॥
हे कुरुवंशी युधिष्ठिर! मैं आनर्त देशका विनाश, अपना निरादर और उस दुष्कर्मीका बढा हुआ अभिमान ॥ १८ ॥

ततः सौभवधायाहं प्रतस्थे पृथिवीपते।
स मया सागरावर्ते दृष्ट आसीत्परीप्सता ॥ १९ ॥
इस सबका विचार कर, हे पृथिवीनाथ! मैं सौभका वध करनेके लिए चला। हे नरनाथ! मैंने जब खोज की तो उसे समुद्रके एक द्वीपमें देखा ॥ १९ ॥

ततः प्रध्माप्य जलजं पाञ्चजन्यमहं नृप ।
आहूय शाल्वं समरे युद्धाय समवस्थितः ॥ २० ॥

तब, हे राजन् ! मैंने पानीसे उत्पन्न पाञ्चजन्य शङ्खको बजाया और शाल्वको युद्धमें ललकारकर मैं तैय्यार हो गया ॥ २० ॥

सुमुहूर्तमभूद्युद्धं तत्र मे दानवैः सह ।
वशीभूताश्च मे सर्वे भूतले च निपातिताः ॥ २१ ॥

तब मेरा उन दानवोंसे मुहूर्त्त भर युद्ध हुआ । तब मैंने सबको वशमें कर लिया और पृथिवीपर गिरा दिया ॥ २१ ॥

एतत्कार्यं महाबाहो येनाहं नागमं तदा ।
श्रुत्वैव हास्तिनपुरं द्यूतं चाविनयोत्थितम् ॥ २२ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥ ५६२ ॥

हे महाबाहो ! इसी कारणसे मैं अन्यायमय द्यूतके बारेमें सुनकर भी उस समय हस्तिनापुर नहीं आ सका ॥ २२ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें पंद्रहवां अध्याय समाप्त ॥ १५ ॥ ५६२ ॥

: १६ :

युधिष्ठिर उवाच

वासुदेव महाबाहो विस्तरेण महामते ।
सौभस्य वधमाचक्ष्व न हि तृप्यामि कथ्यतः ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे वसुदेवनन्दन ! हे महाबाहो ! हे महामते ! इस बातको आपसे सुननेसे मेरी तृप्ति नहीं होती है, अत एव सौभवधको विस्तारपूर्वक कहिये ॥ १ ॥

वासुदेव उवाच

हतं श्रुत्वा महाबाहो मया श्रौतश्रवं नृपम् ।
उपायाद्भरतश्रेष्ठ शाल्वो द्वारवतीं पुरीम् ॥ २ ॥

वासुदेव बोले– हे भरतश्रेष्ठ ! हे महाबाहो ! मैंने श्रुतश्रवाके × पुत्र शिशुपालको मार दिया है, ऐसा सुनकर शाल्वने द्वारिकापुरी पर चढाई कर दी ॥ २ ॥

× श्रुतश्रवा शिशुपालकी माताका नाम था, यह श्रीकृष्णके पिता वसुदेवकी बहिन थी ।

अरुन्धत्तां सुदुष्टात्मा सर्वतः पाण्डुनन्दन।
शाल्वो वैहायसं चापि तत्पुरं व्यूह्य विष्ठितः ॥ ३ ॥

हे पाण्डुनन्दन ! उस दुष्टात्माने पुरीको चारों ओरसे घेर लिया और आकाशमें भी व्यूहकी रचना करके उस सौभनगरमें तैय्यार हो गया ॥ ३ ॥

तत्रस्थोऽथ महीपालो योधयामास तां पुरीम्।
अभिसारेण सर्वेण तत्र युद्धमवर्तत ॥ ४ ॥

और आकाशमें स्थिर होकर उस नगरमें रहकर सभी शस्त्रास्त्रोंसे युद्ध करने लगा और वहां बडा भारी युद्ध हुआ ॥ ४ ॥

पुरी समन्ताद्विहिता सपताका सतोरणा।
सचक्रा सहुडा चैव सयन्त्रखनका तथा ॥ ५ ॥

द्वारकापुरीमें चारों ओर द्वारोंमें तोरण बंधे हुए थे, चारों ओर पताकायें फहरा रही थीं। चारों ओर सैनिक चौकियां बनायी गई थीं। चारों ओर बुर्ज बनाये गए थे और उन बुर्जों पर तोप आदि यंत्र चढा दिए गए थे तथा सुरंग खोदनेवाले भी अपना काम कर रहे थे ॥ ५ ॥

सोपतल्पप्रतोलीका साट्टाट्टालकगोपुरा।
सकचग्रहणी चैव सोल्कालातावपोथिका ॥ ६ ॥

जगह जगह कांटे बिछा दिए गए थे। सभी अट्टालिकाओं और गोपुरोंमें पर्याप्त अन्नका संग्रह कर दिया गया था। शत्रुओंके कचग्रह, उल्काओं, अलात अर्थात् जलते हुए लोहेके गोलोंको भी नष्ट करनेवाले शस्त्रास्त्र सुसज्जित थे ॥ ६ ॥

सोष्ट्रिका भरतश्रेष्ठ सभेरीपणवानका।
समित्तृणकुशा राजन्सशतघ्नीकलाङ्गला ॥ ७ ॥

अनेक पात्र शस्त्रास्त्रोंसे भरे हुए थे, हे भरतश्रेष्ठ! ढोल, नगाडे आदि बाजे सर्वत्र बज रहे थे ईंधन, घास और कुशा आदियोंका अच्छा संग्रह किया गया था। हे राजन् ! वह द्वारिका नगरी शतघ्नी-तोप, लांगला ॥ ७ ॥

सभुशुण्ड्यश्मलगुडा सायुधा सपरश्वधा।
लोहचर्मवती चापि साग्निः सहुडश्रृङ्गिका ॥ ८ ॥

भुशुण्डी–बन्दूक, अश्म- शत्रुओंपर फेंकनेके लिए पत्थरके गोले, लाठियां, शस्त्रास्त्र, फरसे, चमडे और लोहेसे बने ढाल, तथा गोला-बारूदसे भरी हुई तोपोंसे युक्त थी ॥ ८ ॥

शास्त्रदृष्टेन विधिना संयुक्ता भरतर्षभ।
द्रव्यैरनेकैर्विविधैर्गदसाम्बोद्धवादिभिः ॥ ९ ॥
पुरुषैः कुरुशार्दूल समर्थैः प्रतिबाधने।
अभिख्यातकुलैर्वीरैर्दृष्टवीर्यैश्च संयुगे ॥ १० ॥

हे भरतश्रेष्ठ युधिष्ठिर! इस प्रकार शास्त्र-विधिके अनुसार द्वारिका अनेकों रक्षाके साधनोंसे सम्पन्न थी। इसी तरह वह नगरी अनेकों तरहके पदार्थोंसे तथा शत्रुओंको रोकनेमें समर्थ, प्रसिद्ध कुलवाले, युद्धमेंही जिनका पराक्रम देखा जा सकता है; ऐसे पुरुषार्थी गद, साम्ब और उद्धव आदि वीरोंसे वह द्वारिकापुरी अच्छी तरह सुरक्षित थी ॥ ९-१० ॥

मध्यमेन च गुल्मेन रक्षिता सारसंज्ञिता।
उत्क्षिप्तगुल्मैश्च तथा हयैश्चैव पदातिभिः ॥ ११ ॥

उस नगरके सभी महत्त्वपूर्ण स्थान मध्यम गुल्म, उत्तम गुल्म, घोडों और पैदल सैनिकोंसे सुरक्षित थे ॥ ११ ॥

आघोषितं च नगरे न पातव्या सुरेति ह।
प्रमादं परिरक्षद्भिरुग्रसेनोद्धवादिभिः ॥ १२ ॥

उसही समय प्रमादसे रक्षा करनेवाले उग्रसेन और उद्धवादिने नगरमें यह घोषणा करवा दी कि कोई भी पुरुष सुरा-मद्य न पीये ॥ १२ ॥

प्रमत्तेष्वभिघातं हि कुर्याच्छाल्वो नराधिपः।
इति कृत्वाप्रमत्तास्ते सर्वे वृष्ण्यन्धकाः स्थिताः ॥ १३ ॥

क्योंकि राजा शाल्व मतवालोंको मार डाल सकता है। यह सब करके वृष्णी और अन्धकवंशी वीर सावधानीसे युद्धके लिए तैय्यार हो गये ॥ १३ ॥

आनर्ताश्च तथा सर्वे नटनर्तकगायनाः।
बहिर्विवासिताः सर्वे रक्षद्भिर्वित्तसंचयान् ॥ १४ ॥

तब धनकी रक्षा करनेवाले आनर्तदेशवासी पुरुषोंने नट, नाटक करनेवाले, नाचनेवाले, गानेवाले पुरुषोंको शीघ्रही नगरसे बाहर जानेकी आज्ञा दे दी ॥ १४ ॥

संक्रमा भेदिताः सर्वे नावश्च प्रतिषेधिताः।
परिखाश्चापि कौरव्य कीलैः सुनिचिताः कृताः ॥ १५ ॥

सब पुल तोड दिये, नावोंको रोक दिया; और, हे कौरव्य! खाइयोंमें पैने पैने कांटे बिछा दिए गए ॥ १५ ॥

उदपानाः कुरुश्रेष्ठ तथैवाप्यम्बरीषकाः।
समन्तात्क्रोशमात्रं च कारिता विषमा च भूः ॥ १६ ॥

हे कुरुश्रेष्ठ ! एक कोस तक पर्वत, कुंए और बावडी भी जलरहित कर दी गई और भूमि नीची उंची कर दी गई ॥ १६ ॥

प्रकृत्या विषमं दुर्गं प्रकृत्या च सुरक्षितम्।
प्रकृत्या चायुधोपेतं विशेषेण तदानघ ॥ १७ ॥
सुरक्षितं सुगुप्तं च सर्वायुधसमन्वितम्।
तत्पुरं भरतश्रेष्ठ यथेन्द्रभवनं तथा ॥ १८ ॥

एक तो द्वारिका प्रकृति ही से कठिन दुर्गवाली, और प्रकृतिसे ही सुरक्षित और प्रकृतिसे शस्त्रसहित थी, परंतु, हे अनघ भरतश्रेष्ठ ! उस समय सभी सुरक्षित, गुप्त और शस्त्रोंके सहित वह नगरी ऐसी शोभित हुई जैसे इन्द्रका स्थान ॥ १७-१८ ॥

न चामुद्रोऽभिनिर्याति न चामुद्रः प्रवेश्यते।
वृष्ण्यन्धकपुरे राजंस्तदा सौभसमागमे ॥ १९ ॥

हे राजन् युधिष्ठिर ! सौभके आक्रमण करनेपर वृष्णियों और अन्धकोंके उस नगरमें बिना मुद्राके न कोई नगरमें जा सकता था और विना मुद्राके न कोई बाहर निकल ही सकता था ॥ १९ ॥

अनु रथ्यासु सर्वासु चत्वरेषु च कौरव।
बलं बभूव राजेन्द्र प्रभूतगजवाजिमत् ॥ २० ॥

उस समय छोटी गलियोंमें, हे कौरव ! सभी चौपालोंमें हाथी घोडेसे सम्पन्न सेना नियुक्त कर दी गई ॥ २० ॥

दत्तवेतनभक्तं च दत्तायुधपरिच्छदम्।
कृतापदानं च तदा बलमासीन्महाभुज ॥ २१ ॥

हे महाभुज ! वेतन, भोजन, शस्त्र, वस्त्र प्राप्त करके सब सेना यथोचित रीतिसे सन्नद्ध हो गई ॥ २१ ॥

न कुप्यवेतनी कश्चिन्न चातिक्रान्तवेतनी।
नानुग्रहभृतः कश्चिन्न चादृष्टपराक्रमः ॥ २२ ॥

उस सेनामें न कोई कम वेतनवाला था और न कोई बहुत ज्यादा वेतनवाला था, कोई भी सैनिक ऐसा नहीं था कि जिसे दयाके कारण भर्ती कर लिया गया हो, न कोई ऐसा था, कि जिसका बल देखा न गया हो ॥ २२ ॥

एवं सुविहिता राजन्द्वारका भूरिदक्षिणैः ।
आहुकेन सुगुप्ता च राज्ञा राजीवलोचन　　　　॥ २३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥ ५८५ ॥

हे कमलनयन राजन् ! इस प्रकार बहुत वेतन देकर तृप्त किए लोगोंसे वह नगरी भरी हुई थी और राजा उग्रसेनके कारण वह नगरी बडीही सुरक्षित थी ॥ २३ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें सोलहवां अध्याय समाप्त ॥ १६ ॥ ५८५ ॥

: १७ :

वासुदेव उवाच

तां तूपयात्वा राजेन्द्र शाल्वः सौभपतिस्तदा ।
प्रभूतनरनागेन बलेनोपविवेश ह　　　　॥ १ ॥

वासुदेव बोले– हे राजेन्द्र ! सौभपति शाल्वराजाने हाथी और घोडोंसे युक्त महासेना लेकर उस नगरी पर चढाई कर दी और उस नगरीके पास ही अपना खेमा गाड दिया ॥ १ ॥

समे निविष्टा सा सेना प्रभूतसलिलाशये ।
चतुरङ्गबलोपेता शाल्वराजाभिपालिता　　　　॥ २ ॥

तब पर्याप्त जलवाली तथा समतल जगह पर शाल्व राजाके द्वारा पालित हाथी, घोडे, रथ, और पदातिसेयुक्त सेनाने पडाव डाला ॥ २ ॥

वर्जयित्वा श्मशानानि देवतायतनानि च ।
वल्मीकांश्चैव चैत्यांश्च तन्निविष्टमभूद्बलम्　　　　॥ ३ ॥

श्मशान, देवताओंके स्थान, वल्मीक (बिल आदि) और चैत्योंको छोडकर और सब स्थानोंमें वह सेना भर गई ॥ ३ ॥

अनीकानां विभागेन पन्थानः षट्कृताभवन् ।
प्रवणा नव चैवासञ्शाल्वस्य शिबिरे नृप　　　　॥ ४ ॥

सेनाके छोटे छोटे टुकडोंमें बंट जानेके कारण वह सारी सेना छै टुकडियोंमें बंट गई, हे नरनाथ ! शाल्वके शिबिरमें नौ तरहके प्रवण थे ॥ ४ ॥

सर्वायुधसमोपेतं सर्वशस्त्रविशारदम् ।
रथनागाश्वकलिलं पदातिध्वजसंकुलम्　　　　॥ ५ ॥

सब शस्त्रोंसे संयुक्त, सब शस्त्रोंमें निपुण, रथ, हाथी, घोडे, पैदलोंसे पूर्ण, पताकायुक्त ॥ ५ ॥

×

तुष्टपुष्टजनोपेतं वीरलक्षणलक्षितम्।
विचित्रध्वजसंनाहं विचित्ररथकार्मुकम् ॥ ६ ॥
सन्तुष्ट और पुष्ट पुरुषोंसे युक्त, वीर लक्षणोंसे युक्त, विचित्र झण्डों और कवचोंसे युक्त, विचित्र रथ, विचित्र धनुषोंसे युक्त सेनाको ॥ ६ ॥

संनिवेश्य च कौरव्य द्वारकायां नरर्षभ।
अभिसारयामास तदा वेगेन पतगेन्द्रवत् ॥ ७ ॥
हे कौरव्य ! हे मनुष्योंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! द्वारकामें प्रविष्ट कराकर उसे शाल्वने जैसे वेगसे गरुड दौडता है वैसेही वेगसे नगरकी ओर चलाया ॥ ७ ॥

तदापतन्तं संदृश्य बलं शाल्वपतेस्तदा।
निर्याय योधयामासुः कुमारा वृष्णिनन्दनाः ॥ ८ ॥
तब उस राजा शाल्वकी सेनाको नगरकी ओर आता देखकर वृष्णिवंशके कुमार नगरसे बाहर निकलकर उनसे युद्ध करने लगे ॥ ८ ॥

असहन्तोऽभियानं तच्छाल्वराजस्य कौरव।
चारुदेष्णश्च साम्बश्च प्रद्युम्नश्च महारथः ॥ ९ ॥
हे कौरव ! शाल्व राजाके उस आक्रमणको न सहकर चारुदेष्ण, साम्ब और महारथी प्रद्युम्न ॥ ९ ॥

ते रथैर्दंशिताः सर्वे विचित्राभरणध्वजाः।
संसक्ताः शाल्वराजस्य बहुभिर्योधपुङ्गवैः ॥ १० ॥
यह लोग सनद्ध होकर रथोंपर चढकर विचित्र आभूषण और ध्वजाओंको धारण करके शाल्व राजाके अनेक श्रेष्ठ योधाओंसे युद्ध करने लगे ॥ १० ॥

गृहीत्वा तु धनुः साम्बः शाल्वस्य सचिवं रणे।
योधयामास संहृष्टः क्षेमवृद्धिं चमूपतिम् ॥ ११ ॥
साम्ब युद्धमें धनुषको ले करके शाल्वके सेनापति मन्त्री क्षेमवृद्धिसे प्रसन्न होकर युद्ध करने लगे ॥ ११ ॥

तस्य बाणमयं वर्षं जाम्बवत्याः सुतो महत्।
मुमोच भरतश्रेष्ठ यथा वर्षं सहस्रदृक् ॥ १२ ॥
हे भरतश्रेष्ठ ! जांबवतीके पुत्र सांबने उसपर ऐसी बाणोंकी ऐसी महान् वर्षा की, कि जैसे इन्द्र जल बरसाता है ॥ १२ ॥

तद्बाणवर्षं तुमुलं विषेहे स चमूपतिः ।
क्षेमवृद्धिर्महाराज हिमवानिव निश्चलः ॥ १३ ॥

हे महाराज ! उन महाबाणोंकी वर्षाको सेनापति क्षेमवृद्धि ऐसे निश्चल होकर सहने लगा कि जैसे वर्षाकी झडीको हिमालय सहता है ॥ १३ ॥

ततः साम्बाय राजेन्द्र क्षेमवृद्धिरपि स्म ह ।
मुमोच मायाविहितं शरजालं महत्तरम् ॥ १४ ॥

हे राजेन्द्र ! तव क्षेमवृद्धि सेनापतिने भी साम्बके प्रति मायासे युक्त महान् शरोंका जाल छोडा ॥ १४ ॥

ततो मायामयं जालं माययैव विदार्य सः ।
साम्बः शरसहस्रेण रथमस्याभ्यवर्षत ॥ १५ ॥

तब सांबने भी उसके मायामय शरजालको मायाहीसे विदार्ण किया और उसके रथपर हजार बाण छोडे ॥ १५ ॥

ततः स विद्धः साम्बेन क्षेमवृद्धिश्चमूपतिः ।
अपायाज्जवनैरश्वैः साम्बबाणप्रपीडितः ॥ १६ ॥

जब क्षेमवृद्धि सेनापति सांबके बाणोंसे विद्ध हुआ, तो वह साम्बके बाणोंसे पीडित होकर तेज घोडोंवाले रथसे युद्धको छोडकर भाग गया ॥ १६ ॥

तस्मिन्विप्रद्रुते क्रूरे शाल्वस्याथ चमूपतौ ।
वेगवान्नाम दैतेयः सुतं मेऽभ्यद्रवद्बली ॥ १७ ॥

जब शाल्वका वह क्रूर सेनापति भाग गया, तब वेगवान् नामक एक बलवान् दैत्य मेरे पुत्र साम्बकी तरफ दौडा ॥ १७ ॥

अभिपन्नस्तु राजेन्द्र साम्बो वृष्णिकुलोद्वहः ।
वेगं वेगवतो राजंस्तस्थौ वीरो विधारयन् ॥ १८ ॥

हे राजेन्द्र ! जब वृष्णिवंशी साम्बके पास वह आया; तो, हे राजन् ! वह वीर साम्ब भी उस वेगवान् दैत्यके वेगको सहन करते हुए स्थिर खडा रहा ॥ १८ ॥

स वेगवति कौन्तेय साम्बो वेगवतीं गदाम् ।
चिक्षेप तरसा वीरो व्याविध्य सत्यविक्रमः ॥ १९ ॥

हे कुन्तिपुत्र युधिष्ठिर ! तब सत्यपराक्रमी वीर साम्बने शीघ्रतासे अपनी वेगवाली गदाको घुमाकर वेगवान् पर दे मारा ॥ १९ ॥

तथा त्वभिहतो राजन्वेगवानपतद्भुवि।
वातरुग्ण इव क्षुण्णो जीर्णमूलो वनस्पतिः ॥ २० ॥

हे राजन् ! तब उसके लगनेसे वेगवान् मरकर पृथिवीपर ऐसे ही गिरा कि जैसे जीर्ण जडवाला पुराना वृक्ष वायुसे झकझोडे जानेपर गिर जाता है ॥ २० ॥

तस्मिन्निपतिते वीरे गदानुन्ने महासुरे।
प्रविश्य महतीं सेनां योधयामास मे सुतः ॥ २१ ॥

उस महाअसुर वीरके भयानक गदासे मारे जानेपर मेरे पुत्रने उस महासेनामें घुसकर महा युद्ध किया ॥ २१ ॥

चारुदेष्णेन संसक्तो विविन्ध्यो नाम दानवः।
महारथः समाज्ञातो महाराज महाधनुः ॥ २२ ॥

हे राजन् ! चारुदेष्णके साथ शाल्वकी आज्ञासे महारथी महाधनुर्धारी, विविंध्यनामक राक्षस युद्ध करने लगा ॥ २२ ॥

ततः सुतुमुलं युद्धं चारुदेष्णविविन्ध्ययोः।
वृत्रवासवयो राजन्यथा पूर्वं तथाभवत् ॥ २३ ॥

उस समय चारुदेष्ण और विविंध्यका ऐसा घोर युद्ध हुआ, कि जैसा प्राचीन समयमें वृत्रासुर और इन्द्रका हुआ था ॥ २३ ॥

अन्योन्यस्याभिसंक्रुद्धावन्योन्यं जघ्नतुः शरैः।
विनदन्तौ महाराज सिंहाविव महाबलौ ॥ २४ ॥

हे महाराज ! वे दोनों परस्पर एक दूसरेको क्रुद्ध होकर बाणोंसे मारने लगे, महा बलवान् सिंहोंके समान वे दोनों गर्जने लगे ॥ २४ ॥

रौक्मिणेयस्ततो बाणमग्न्यर्कोपमवर्चसम्।
अभिमन्त्र्य महास्त्रेण संदधे शत्रुनाशनम् ॥ २५ ॥

तब रुक्मिणीनन्दन चारुदेष्णने अग्नि और सूर्यके समान तेजवाले शत्रुनाशक बाणको महास्त्र मन्त्रसे अभिमन्त्रित करके धनुषपर चढाया ॥ २५ ॥

स विविन्ध्याय सक्रोधः समाहूय महारथः।
चिक्षेप मे सुतो राजन्स गतासुरथापतत् ॥ २६ ॥

हे राजन् ! महारथी चारुदेष्णने उस बाणको चढाकर क्रोधमें भरकर विविंध्यको ललकारके उसको मारा। विविंध्य उसके लगनेसे प्राणरहित होकर पृथिवीपर गिर पडा ॥ २६ ॥

विविन्ध्यं निहतं दृष्ट्वा तां च विक्षोभितां चमूम् ।
कामगेन स सौभेन शाल्वः पुनरुपागमत् ॥ २७ ॥

विविंध्यको मरा हुआ और सेनाको घबराई हुई देखकर शाल्व इच्छानुसार चलनेवाले सौभपर चढकर स्वयं ही आया ॥ २७ ॥

ततो व्याकुलितं सर्वं द्वारकावासि तद्बलम् ।
दृष्ट्वा शाल्वं महाबाहो सौभस्थं पृथिवीगतम् ॥ २८ ॥

हे नरनाथ ! सौभपर आरूढ शाल्वको पृथिवीपर आया देखकर द्वारिकाकी जितनी सेना थी, सब व्याकुल हो गयी ॥ २८ ॥

ततो निर्याय कौरव्य व्यवस्थाप्य च तद्बलम् ।
आनर्तानां महाराज प्रद्युम्नो वाक्यमब्रवीत् ॥ २९ ॥

हे कौरव्य ! हे महाराज ! तब प्रद्युम्नने निकलकर और यादवोंकी उस सेनाको स्थिर करके यह वाक्य कहा ॥ २९ ॥

सर्वे भवन्तस्तिष्ठन्तु सर्वे पश्यन्तु मां युधि ।
निवारयन्तं संग्रामे बलात्सौभं सराजकम् ॥ ३० ॥

आप सब लोग युद्धमें खडे रहिये और राजाके समेत सौभका बलपूर्वक युद्धमें निवारण करते हुए मुझे देखिए ॥ ३० ॥

अहं सौभपतेः सेनामायसैर्भुजगैरिव ।
धनुर्भुजविनिर्मुक्तैर्नाशयाम्यद्य यादवाः ॥ ३१ ॥

हे यादवो ! मैं सौभराज शाल्वकी सेनाको अभी धनुषसे छूटे हुए लोहेके सर्पोंके समान तीक्ष्ण बाणोंसे नष्ट कर देता हूं ॥ ३१ ॥

आश्वसध्वं न भीः कार्या सौभराडद्य नश्यति ।
मयाभिपन्नो दुष्टात्मा ससौभो विनशिष्यति ॥ ३२ ॥

आप लोग स्वस्थ रहिए, डर मत कीजिये; शाल्व अभी मर जाता है, मुझसे लडकर यह दुष्टात्मा सौभके सहित नष्ट हो जायेगा ॥ ३२ ॥

एवं ब्रुवति संहृष्टे प्रद्युम्ने पाण्डुनन्दन ।
विष्ठितं तद्बलं वीर युयुधे च यथासुखम् ॥ ३३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥ ६१८ ॥

हे वीर पाण्डुनन्दन ! जब प्रद्युम्नने प्रसन्न होकर ऐसा कहा, तो सब सेना फिरसे स्थिर हो गई और सुखपूर्वक युद्ध करने लगी ॥ ३३ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें सत्रहवां अध्याय समाप्त ॥ १७ ॥ ६१८ ॥

: १८ :

वासुदेव उवाच

एवमुक्त्वा रौक्मिणेयो यादवान्भरतर्षभ।
दंशितैर्हरिभिर्युक्तं रथमास्थाय काञ्चनम् ॥ १ ॥

श्रीकृष्ण बोले– हे भरतकुलसिंह! रुक्मिणीपुत्र प्रद्युम्न यादवोंसे ऐसा कहकर तैय्यार घोडोंसे युक्त सुवर्णमय रथपर चढकर ॥ १ ॥

उच्छ्रित्य मकरं केतुं व्यात्ताननमलंकृतम्।
उत्पतद्भिरिवाकाशं तैर्हयैरन्वयात्परान् ॥ २ ॥

मुंह फाडे हुए मगरके चिन्हवाली फहराती ध्वजासे युक्त, मानो आकाशको उड जाना चाहते हों ऐसे वेगवान् घोडोंवाले रथपर चढकर शत्रुकी सेनापर चढे दौडे ॥ २ ॥

विक्षिपन्नादयंश्चापि धनुःश्रेष्ठं महाबलः।
तूणखड्गधरः शूरो बद्धगोधांगुलित्रवान् ॥ ३ ॥

बलशाली प्रद्युम्न अपने श्रेष्ठ धनुषको खींचते हुए, बलसे टङ्कारध्वनि करते हुए, कवच, खड्ग, हाथ और अंगुलियोंमें लोहेके रक्षाजाल धारण किये ॥ ३ ॥

स विद्युच्चलितं चापं विहरन्वै तलात्तलम्।
मोहयामास दैतेयान्सर्वान्सौभनिवासिनः ॥ ४ ॥

विजलीके समान चंचल धनुषको ऊपर नीचे घुमाते हुए समस्त सौभवासी दैत्यगणको मोहित करने लगे ॥ ४ ॥

नास्य विक्षिपतश्चापं संदधानस्य चासकृत्।
अन्तरं ददृशे कश्चिन्निघ्नतः शात्रवान्रणे ॥ ५ ॥

उस समय युद्धमें शत्रुओंको मारते हुए प्रद्युम्न कब धनुषपर बाण चढाते हैं, कब खींचते हैं, और कब छोडते हैं, इन सब बातोंमें कोईभी कुछ भी फरक नहीं जान पाया ॥ ५ ॥

मुखस्य वर्णो न विकल्पतेऽस्य चेलुश्च गात्राणि न चापि तस्य।
सिंहोन्नतं चाप्यभिगर्जतोऽस्य शुश्राव लोकोऽद्भुतरूपमग्र्यम् ॥ ६ ॥

न इनके मुखका कुछ रंग बदला और न उनका शरीर चलायमान हुआ, केवल सिंहके समान इनका अद्भुत रूप और गरजनेका शब्द ही सबलोग देखते और सुनते थे ॥६॥

जलेचरः काञ्चनयष्टिसंस्थो व्यात्ताननः सर्वतिमिप्रमाथी।
वित्रासयन्राजति वाहमुख्ये शाल्वस्य सेनाप्रमुखे ध्वजाग्र्यः ॥ ७ ॥

सोनेके दण्डेमें लगा हुआ, सब जलचरोंको भयभीत करनेवाला, मुंह फाडे हुआ मगर सेनाके अग्रभागमें रहकर शाल्वकी सेनाको भयभीत करता हुआ ध्वजाके अग्रभागपर शोभा पा रहा था ॥ ७ ॥

ततः स तूर्णं निष्पत्य प्रद्युम्नः शत्रुकर्शनः ।
शाल्वमेवाभिदुद्राव विधास्यन्कलहं नृप ॥ ८ ॥

तब शत्रुनाशी प्रद्युम्न वेगसे आगे आकर शाल्वहीसे युद्ध करनेके लिए उसकी ओर दौडे ॥ ८ ॥

अभियानं तु वीरेण प्रद्युम्नेन महाहवे ।
नामर्षयत संक्रुद्धः शाल्वः कुरुकुलोद्वह ॥ ९ ॥

हे कुरुकुलको बढानेवाले नरनाथ ! उस महायुद्धमें वीर प्रद्युम्नके उस आक्रमणको क्रोधसे भरा हुआ शाल्व सह न सका ॥ ९ ॥

स रोषमदमत्तो वै कामगादवरुह्य च ।
प्रद्युम्नं योधयामास शाल्वः परपुरञ्जयः ॥ १० ॥

क्रोधके मदसे उन्मत्त शत्रुओंके नगरोंको जीतनेवाला वह शाल्व इच्छानुसार चलनेवाले सौभसे उतरकर प्रद्युम्नके साथ युद्ध करने लगा ॥ १० ॥

तयोः सुतुमुलं युद्धं शाल्ववृष्णिप्रवीरयोः ।
समेता ददृशुर्लोका बलिवासवयोरिव ॥ ११ ॥

उन दोनों वृष्णिवीरोंमें श्रेष्ठ प्रद्युम्न और शाल्वोंमें श्रेष्ठ शाल्वका युद्ध बलि और इन्द्रके समान होने लगा और उस युद्धको सब लोग देखने लगे ॥ ११ ॥

तस्य मायामयो वीर रथो हेमपरिष्कृतः ।
सध्वजः सपताकश्च सानुकर्षः सतूणवान् ॥ १२ ॥

हे वीर ! उस शाल्वका रथ मायामय, सोनेसे सजा, पताकाओं और ध्वजोंवाला उत्तम पहियोंसे युक्त तथा तरकससे युक्त था ॥ १२ ॥

स तं रथवरं श्रीमान्समारुह्य किल प्रभो ।
मुमोच बाणान्कौरव्य प्रद्युम्नाय महाबलः ॥ १३ ॥

वह श्रीमान्, महाबली शाल्वराज उस श्रेष्ठ रथपर चढकर, हे प्रभो ! हे कौरव्य ! प्रद्युम्नपर बाण बरसाने लगा ॥ १३ ॥

ततो बाणमयं वर्षं व्यसृजत्तरसा रणे ।
प्रद्युम्नो भुजवेगेन शाल्वं संमोहयन्निव ॥ १४ ॥

तब अपने बाहुओंके बलसे शाल्वको मोहित करते हुए प्रद्युम्नने शीघ्रतापूर्वक युद्धमें बाणों-की वर्षा की ॥ १४ ॥

स तैरभिहतः संख्ये नामर्षयत सौभराट् ।
शरान्दीप्ताग्निसंकाशान्मुमोच तनये मम ॥ १५ ॥

उन सब बाणोंसे घायल होकर शाल्व यह सहन न कर सका और मेरे पुत्रपर जलती हुई अग्निके समान बाणोंको छोडने लगा ॥ १५ ॥

स शाल्वबाणै राजेन्द्र विद्धो रुक्मिणिनन्दनः ।
मुमोच बाणं त्वरितो मर्मभेदिनमाहवे ॥ १६ ॥

हे राजेन्द्र ! शाल्वके बाणोंसे विद्ध होकर उस रुक्मिणीनन्दनने युद्धमें मर्मभेदी एक बाण शीघ्रतासे छोडा ॥ १६ ॥

तस्य वर्म विभिद्याशु स बाणो मत्सुतेरितः ।
बिभेद हृदयं पत्री स पपात मुमोह च ॥ १७ ॥

मेरे पुत्रके द्वारा छोडा गया वह पंखयुक्त बाण उस शाल्वके कवचको भेदकर हृदयमें प्रवेश कर गया, उससे वह मूर्च्छित होकर गिर पडा ॥ १७ ॥

तस्मिन्निपतिते वीरे शाल्वराजे विचेतसि ।
संप्राद्रवन्दानवेन्द्रा दारयन्तो वसुन्धराम् ॥ १८ ॥

उस वीर शाल्वराजके चेतनारहित होकर गिर जानेपर दैत्यलोग पृथिवीको फोडकर भागने लगे ॥ १८ ॥

हाहाकृतमभूत्सैन्यं शाल्वस्य पृथिवीपते ।
नष्टसंज्ञे निपतिते तदा सौभपतौ नृपे ॥ १९ ॥

हे पृथिवीनाथ ! तब राजा सौभपति शाल्वके चेतनारहित होकर गिर जानेपर शाल्वकी सेनामें हाहाकार मच गया ॥ १९ ॥

तत उत्थाय कौरव्य प्रतिलभ्य च चेतनाम् ।
मुमोच बाणं तरसा प्रद्युम्नाय महाबलः ॥ २० ॥

हे कौरव्य ! तब चैतन्य होकर और उठकर महाबली शाल्व वेगसे प्रद्युम्नपर बाण छोडने लगा ॥ २० ॥

तेन विद्धो महाबाहुः प्रद्युम्नः समरे स्थितः ।
जत्रुदेशे भृशं वीरो व्यवासीदद्रथे तदा ॥ २१ ॥

महाबाहु महावीर प्रद्युम्न समरमें उन बाणोंसे सन्धिस्थानोंमें पीडित होकर रथपर मूर्च्छित हो गए ॥ २१ ॥

तं स विद्ध्वा महाराज शाल्वो रुक्मिणिनन्दनम् ।
ननाद सिंहनादं वै नादेनापूरयन्महीम् ॥ २२ ॥

हे महाराज युधिष्ठिर ! उस रुक्मिणीनन्दनको मूर्च्छित करके शाल्व पृथिवीको शब्दसे पूर्ण करता हुआ सिंहनाद करने लगा ॥ २२ ॥

ततो मोहं समापन्ने तनये मम भारत ।
मुमोच बाणांस्त्वरितः पुनरन्यान्दुरासदान् ॥ २३ ॥

हे भारत ! जब मेरा पुत्र युद्धमें मूर्च्छित हो गया, तो भी शाल्वने बडे बडे और कठिन बाणोंको जल्दी जल्दीसे छोडे ॥ २३ ॥

स तैरभिहतो बाणैर्बहुभिस्तेन मोहितः ।
निश्चेष्टः कौरवश्रेष्ठ प्रद्युम्नोऽभूद्रणाजिरे ॥ २४ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥ ६४२ ॥

हे कौरवश्रेष्ठ ! तब युद्धमें उसके अनेक बाणोंसे पीडित होनेके कारण मोहित होकर प्रद्युम्न चेष्टारहित हो गये ॥ २४ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें अठारहवां अध्याय समाप्त ॥ १८ ॥ ६४२ ॥

: १९ :

वासुदेव उवाच

शाल्वबाणार्दिते तस्मिन्प्रद्युम्ने बलिनां वरे ।
वृष्णयो भग्नसंकल्पा विव्यथुः पृतनागताः ॥ १ ॥

वासुदेव बोले— बलवानोंमें श्रेष्ठ उस प्रद्युम्नके शाल्वके बाणोंसे पीडित होनेपर सेनाके सब वृष्णिवंशी लोग नष्टसंकल्पवाले होकर व्यथित हो गये ॥ १ ॥

हाहाकृतमभूत्सर्वं वृष्ण्यन्धकबलं तदा ।
प्रद्युम्ने पतिते राजन्परे च मुदिताभवन् ॥ २ ॥

उस समय समस्त वृष्णि और अन्धकोंकी सेनामें हाहाकार मच गया । परन्तु प्रद्युम्नको मूर्च्छित हुआ देखकर शत्रु बहुत प्रसन्न हो गए ॥ २ ॥

तं तथा मोहितं दृष्ट्वा सारथिर्जवनैर्हयैः ।
रणादपाहरत्तूर्णं शिक्षितो दारुकिस्ततः ॥ ३ ॥

उनको उस प्रकार मूर्च्छित हुआ देखकर दारुकका पुत्र शिक्षित सारथी वेगवान् घोडोंसे युक्त रथको युद्धसे शीघ्र बाहर ले गया ॥ ३ ॥

नातिदूरापयाते तु रथे रथवरप्रणुत् ।
धनुर्गृहीत्वा यन्तारं लब्धसंज्ञोऽब्रवीदिदम्　　　　॥ ४ ॥

जब रथ बहुत दूर नहीं जा पाया था तभी महारथियोंको जीतनेवाले प्रद्युम्न चैतन्य होकर और धनुष हाथमें लेकर सारथीसे ऐसा कहने लगे ॥ ४ ॥

सौते किं ते व्यवसितं कस्माद्यासि पराङ्मुखः ।
नैष वृष्णिप्रवीराणामाहवे धर्म उच्यते　　　　॥ ५ ॥

हे सूत ! तुमने क्या निश्चय किया है? तुम क्यों युद्धसे मुखफेरे लौट जाते हो? यह युद्धमें वृष्णिवंशियोंका धर्म नहीं कहा जाता ॥ ५ ॥

कच्चित्सौते न ते मोहः शाल्वं दृष्ट्वा महाहवे ।
विषादो वा रणं दृष्ट्वा ब्रूहि मे त्वं यथातथम्　　　　॥ ६ ॥

हे सूतपुत्र ! युद्धमें शाल्वको देखकर तुम्हें कुछ भ्रम तो नहीं हो गया है? या युद्धको देखकर कुछ दुःख तो नहीं हुआ है ? मुझसे सत्य कहो ॥ ६ ॥

सूत उवाच

जानार्दने न मे मोहो नापि मे भयमाविशत् ।
अतिभारं तु ते मन्ये शाल्वं केशवनन्दन　　　　॥ ७ ॥

सूत बोला– हे कृष्णपुत्र ! मुझे न मोह हुआ, न मुझे भय हुआ; परन्तु, हे केशवनन्दन ! मैंने यह समझा कि शाल्व आपसे भारी वीर है ॥ ७ ॥

सोऽपयामि शनैर्वीर बलवानेष पापकृत् ।
मोहितश्च रणे शूरो रक्ष्यः सारथिना रथी　　　　॥ ८ ॥

यह पापी बडा बलवान् है, इसीलिये धीरे धीरे युद्धसे हटा जाता हूं, क्योंकि यह नियम है कि युद्धमें सारथी मूर्च्छित रथी (रथमें बैठे योधा) की रक्षा करे ॥ ८ ॥

आयुष्मंस्त्वं मया नित्यं रक्षितव्यस्त्वयाप्यहम् ।
रक्षितव्यो रथी नित्यमिति कृत्वापयाम्यहम्　　　　॥ ९ ॥

हे आयुष्मन् ! मेरा धर्म आपकी रक्षा करना और आपका धर्म मेरी रक्षा करना है। सारथी रथीकी रक्षा हमेशा करे यह विचार कर मैं युद्धसे दूर जा रहा हूं ॥ ९ ॥

एकश्चासि महाबाहो बहवश्चापि दानवाः ।
नसमं रौक्मिणेयाहं रणे मत्वापयाम्यहम्　　　　॥ १० ॥

हे महाबाहो रुक्मिणीनन्दन ! मैंने सोचा, कि तुम अकेले हो और यह दानव अनेक हैं, यह युद्ध समान नहीं है, अतएव मैं युद्धसे दूर जा रहा हूं ॥ १० ॥

वासुदेव उवाच

एवं ब्रुवति सूते तु तदा मकरकेतुमान् ।
उवाच सूतं कौरव्य निवर्तय रथं पुनः ॥ ११ ॥

वासुदेव बोले– हे कौरव्य युधिष्ठिर ! सूतके ऐसे वचन सुनकर मकरकी ध्वजावाले प्रद्युम्नने सूतसे कहा– हे सूत ! तुम रथको पुनः लौटाओ ॥ ११ ॥

दारुकात्मज मैवं त्वं पुनः कार्षीः कथंचन ।
व्यपयानं रणात्सौते जीवतो मम कर्हिचित् ॥ १२ ॥

हे दारुकपुत्र ! तुम ऐसा काम फिर कभी मत करना, हे सूतपुत्र ! जीते हुए मुझे युद्धसे पुनः कभी हटाकर मत ले जाना ॥ १२ ॥

न स वृष्णिकुले जातो यो वै त्यजति संगरम् ।
यो वा निपतितं हन्ति तवास्मीति च वादिनम् ॥ १३ ॥

जो युद्धको त्याग दे ऐसा कोई भी पुरुष वृष्णिकुलमें आजतक उत्पन्न नहीं हुआ और गिरे हुएको, "हम तुम्हारे हैं" ऐसा कहते हुएको, जो मारता है, वह वृष्णिकुलमें नहीं उत्पन्न होता ॥ १३ ॥

तथा स्त्रियं वै यो हन्ति वृद्धं बालं तथैव च ।
विरथं विप्रकीर्णं च भग्नशस्त्रायुधं तथा ॥ १४ ॥

अथवा स्त्रीको, बालकको, वृद्धको, रथहीनको, घबराये हुएको, जिसके शस्त्र टूटे हों, ऐसे पुरुषोंको जो मारता है, वह वृष्णिकुलमें उत्पन्न नहीं हुआ है ॥ १४ ॥

त्वं च सूतकुले जातो विनीतः सूतकर्मणि ।
धर्मज्ञश्चासि वृष्णीनामाहवेष्वपि दारुके ॥ १५ ॥

हे दारुकपुत्र ! तुम सूतवंशमें उत्पन्न हुए हो, सूतकर्ममें कुशल हो और, हे दारुक ! युद्धमें यदुवंशियोंके धर्मको जाननेवाले हो ॥ १५ ॥

स जानंश्चरितं कृत्स्नं वृष्णीनां पृतनामुखे ।
अपयानं पुनः सौते मैवं कार्षीः कथंचन ॥ १६ ॥

हे सूत ! तुम सेनाके अग्रभागमें उपस्थित यदुवंशियोंका पूरा धर्म जानकर पुनः कभी इस प्रकारसे युद्ध छोडकर मत भागना ॥ १६ ॥

अपयातं हतं पृष्ठे भीतं रणपलायिनम् ।
गदाग्रजो दुराधर्षः किं मां वक्ष्यति माधवः । ॥ १७ ॥

युद्धसे भागे हुए, पीठपर घाव खाये, भयभीत और युद्धसे लौटा हुआ मुझे देखकर दुराधर्ष गदाग्रज, कृष्ण क्या कहेंगे ? ॥ १७ ॥

केशवस्याग्रजो वापि नीलवासा मदोत्कटः ।
किं वक्ष्यति महाबाहुर्बलदेवः समागतः ॥ १८ ॥
महाबाहु, मदसे भरे, नीलवस्त्रधारी कृष्णके बडे भाई बलदेव आकर मुझे क्या कहेंगे ? ॥ १८ ॥

किं वक्ष्यति शिनेर्नप्ता नरसिंहो महाधनुः ।
अपयातं रणात्सौते साम्बश्च समितिञ्जयः ॥ १९ ॥
युद्धसे भगा देखकर मुझे शिनीके पौत्र पुरुषसिंह महाधनुर्धारी सात्यकी और युद्धोंको जीतनेवाले साम्ब क्या कहेंगे ? ॥ १९ ॥

चारुदेष्णश्च दुर्धर्षस्तथैव गदसारणौ ।
अक्रूरश्च महाबाहुः किं मां वक्ष्यति सारथे ॥ २० ॥
हे सारथे ! दुर्धर्ष चारुदेष्ण, गद, सारण और महाबाहु अक्रूर मुझे क्या कहेंगे ? ॥ २० ॥

शूरं संभावितं सन्तं नित्यं पुरुषमानिनम् ।
स्त्रियश्च वृष्णिवीराणां किं मां वक्ष्यन्ति संगताः ॥ २१ ॥
हे सूत ! शूर, मानयुक्त, नित्यही अपने पराक्रम पर घमण्ड करनेवाले मुझे यदुवंशियोंकी स्त्रियां इकट्ठी होकर क्या कहेंगी ? ॥ २१ ॥

प्रद्युम्नोऽयमुपायाति भीतस्त्यक्त्वा महाहवम् ।
धिगेनमिति वक्ष्यन्ति न तु वक्ष्यन्ति साध्विति ॥ २२ ॥
"यह प्रद्युम्न भयसे महायुद्धको त्याग करके भागा आता है, इसे धिक्कार है;" यही वे सब कहेंगी, मुझे अच्छा कदापि न कहेंगी ॥ २२ ॥

धिग्वाचा परिहासोऽपि मम वा मद्विधस्य वा ।
मृत्युनाभ्यधिकः सौते स त्वं मा व्यपयाः पुनः ॥ २३ ॥
हे सूत ! मुझे और मेरे समान पुरुषोंको हंसीमें भी धिक्कार शब्द सुनना मृत्युसे भी अधिक दुःखदाई है; अतः तुम इस प्रकार युद्धसे कभी मत भागना ॥ २३ ॥

भारं हि मयि संन्यस्य यातो मधुनिहा हरिः ।
यज्ञं भरतसिंहस्य पार्थस्यामिततेजसः ॥ २४ ॥
मधुसूदन श्रीकृष्ण द्वारिकाका भार मेरे ऊपर डालकर भरतकुलसिंह तथा अत्यन्त तेजस्वी पृथानन्दन युधिष्ठिरके यज्ञमें गए हैं ॥ २४ ॥

कृतवर्मा मया वीरो निर्यास्यन्नेव वारितः ।
शाल्वं निवारयिष्येऽहं तिष्ठ त्वमिति सूतज ॥ २५ ॥
हे सूत ! महावीर कृतवर्मा युद्ध करनेके लिए आना चाहते थे, पर मैंने उन्हें "आप यहीं रहिये मैं शाल्वका निवारण करूंगा" यह कहकर आनेसे रोक दिया ॥ २५ ॥

स च संभावयन्मां वै निवृत्तो हृदिकात्मजः ।
तं समेत्य रणं त्यक्त्वा किं वक्ष्यामि महारथम् ॥ २६ ॥

हृदिकपुत्र कृतवर्मा भी मुझे समर्थ जानकर लौट गए। अतः मैं युद्धसे भागकर जब उस महारथीसे मिलूंगा, तब उससे क्या कहूंगा ? ॥ २६ ॥

उपयान्तं दुराधर्षं शङ्खचक्रगदाधरम् ।
पुरुषं पुण्डरीकाक्षं किं वक्ष्यामि महाभुजम् ॥ २७ ॥

जब दुराधर्ष शङ्खचक्र गदाधारी महाबाहु श्रीकृष्ण आवेंगे, तो मैं कमलरूपी नेत्रोंवाले श्रीकृष्णसे क्या कहूंगा ? ॥ २७ ॥

सात्यकिं बलदेवं च ये चान्येऽन्धकवृष्णयः ।
मया स्पर्धन्ति सततं किं नु वक्ष्यामि तानहम् ॥ २८ ॥

सात्यकी, बलदेव, तथा और अन्धक तथा वृष्णि वंशियोंसे, जो नित्य ही मेरे साथ मुका-बला करनेकी इच्छा किया करते हैं, भला मैं क्या कहूंगा ? ॥ २८ ॥

त्यक्त्वा रणमिमं सौते पृष्ठतोऽभ्याहतः शरैः ।
त्वयापनीतो विवशो न जीवेयं कथंचन ॥ २९ ॥

हे सूत ! इस युद्धसे भागे हुए और पीठपर बाणोंसे आहत हुए हुए मुझे तुम ले आये, पर मैं यह विवशतापूर्ण जीवन कभी नहीं जीऊंगा ॥ २९ ॥

स निवर्त रथेनाशु पुनर्दारुकनन्दन ।
न चैतदेवं कर्तव्यमथापत्सु कथंचन ॥ ३० ॥

हे सूतपुत्र ! तुम शीघ्र ही मेरे रथको लौटाओ और ऐसा फिर कभी आपत्तिमें भी मत करना ॥ ३० ॥

न जीवितमहं सौते बहु मन्ये कदाचन ।
अपयातो रणाद्भीतः पृष्ठतोऽभ्याहतः शरैः ॥ ३१ ॥

हे सूत ! मैं पीठ पर बाणोंसे आहत होकर तथा भयके कारण युद्धसे भागकर जीना उत्तम नहीं समझता ॥ ३१ ॥

कदा वा सूतपुत्र त्वं जानीषे मां भयार्दितम् ।
अपयातं रणं हित्वा यथा कापुरुषं तथा ॥ ३२ ॥

हे सूतपुत्र ! तुमने कभी मुझे कायरके समान समरसे व्याकुल होकर रणसे भागा हुआ देखा है ? ॥ ३२ ॥

न युक्तं भवता त्यक्तुं सङ्ग्रामं दारुकात्मज ।
मयि युद्धार्थिनि भृशं स त्वं याहि यतो रणम् ॥ ३२ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥ ६७५ ॥

हे दारुकात्मज ! मेरी युद्धकी इच्छा रहनेपर भी तुमने युद्ध छोड दिया, यह युद्ध छोडकर ठीक नहीं किया अतः तुम पुनः युद्धभूमिकी ओर चलो ॥ ३२ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें उन्नीसवां अध्याय समाप्त ॥ १९ ॥ ६७५ ॥

: २० :

वासुदेव उवाच

एवमुक्तस्तु कौन्तेय सूतपुत्रस्तदा मृधे ।
प्रद्युम्नमब्रवीच्छ्लक्ष्णं मधुरं वाक्यमञ्जसा ॥ १ ॥

वासुदेव बोले– हे कौन्तेय युधिष्ठिर ! जब सूतने युद्धमें प्रद्युम्नके ऐसे वचन सुने, तो वह प्रद्युम्नसे मीठी कोमल वाणीसे यह मधुर वाक्य बोला ॥ १ ॥

न मे भयं रौक्मिणेय सङ्ग्रामे यच्छतो हयान् ।
युद्धज्ञश्चास्मि वृष्णीनां नात्र किंचिदतोऽन्यथा ॥ २ ॥

हे रुक्मिणीनन्दन ! युद्धमें घोडोंको हांकनेमें मुझे कुछ भी भय नहीं है; और इसमें भी कुछ मिथ्या नहीं है कि मैं वृष्णिवंशियोंके युद्धको जानता हूँ ॥ २ ॥

आयुष्मन्नुपदेशस्तु सारथ्ये वर्ततां स्मृतः ।
सर्वार्थेषु रथी रक्ष्यस्त्वं चापि भृशपीडितः ॥ ३ ॥

परन्तु, हे आयुष्मन् ! सारथियोंके लिये यह उपदेश प्रसिद्ध है, कि हर तरहसे सारथिको रथीकी रक्षा करनी चाहिये, और आप अत्यधिक व्यथित हो गए थे ॥ ३ ॥

त्वं हि शाल्वप्रयुक्तेन पत्त्रिणाऽभिहतो भृशम् ।
कश्मलाभिहतो वीर ततोऽहमपयातवान् ॥ ४ ॥

हे वीर ! आप शाल्वके द्वारा छोडे गए बाणोंसे बहुत आहत होकर मूर्च्छित हो गए थे, अतः मैं युद्धसे आपको ले आया था ॥ ४ ॥

स त्वं सात्वतमुख्याद्य लब्धसंज्ञो यदृच्छया ।
पश्य मे हयसंयाने शिक्षां केशवनन्दन ॥ ५ ॥

हे यादवमुख्य केशवनन्दन ! अब आप अपनी इच्छानुसार मूर्च्छासे जागे हैं, अतः अब युद्धमें मेरी घोडे हांकनेकी विद्याको देखिये ॥ ५ ॥

दारुकेणाहमुत्पन्नो यथावच्चैव शिक्षितः ।
वीतभीः प्रविशाऽम्येतां शाल्वस्य महतीं चमूम् ॥ ६ ॥

मैं दारुकसे उत्पन्न हुआ हूं, और उन्हींसे मैंने यथायोग्य शिक्षा भी पाई है, अतः अब मैं निर्भय होकर शाल्वकी इस विस्तृत सेनामें प्रवेश करता हूं ॥ ६ ॥

एवमुक्त्वा ततो वीर हयान्संचोद्य सङ्गरे ।
रश्मिभिश्च समुद्यम्य जवेनाभ्यपतत्तदा ॥ ७ ॥

हे वीर ! तब सूतने ऐसा कहकर घोडोंको प्रेरित कर और उनकी रश्मि (लगाम) खींचकर युद्धकी ओर वेगसे चलाया ॥ ७ ॥

मण्डलानि विचित्राणि यमकानीतराणि च ।
सव्यानि च विचित्राणि दक्षिणानि च सर्वशः ॥ ८ ॥

उस समय सूतने अपनी ऐसी कुशलता प्रगट की, कि विचित्र मण्डलाकर गति, यमक, (सदृश सदृश अनेक मण्डल) अयमक (असदृश मण्डल) विचित्र वाम गति और दक्षिण गतिसे घोडोंको चलाने लगा ॥ ८ ॥

प्रतोदेनाहता राजन्रश्मिभिश्च समुद्यताः ।
उत्पतन्त इवाकाशं विबभुस्ते हयोत्तमाः ॥ ९ ॥

हे राजन् ! कोडेसे आहत होने और लगाम खींची जानेसे वे उत्तम घोडे ऐसे चले, मानो आकाशमें उड जायेंगे ॥ ९ ॥

ते हस्तलाघवोपेतं विज्ञाय नृप दारुकिम् ।
दह्यमाना इव तदा पस्पृशुश्चरणैर्महीम् ॥ १० ॥

हे नरनाथ ! उस समय घोडे सारथीके हाथोंकी कुशलता जानकर वेगसे चले और पृथिवीको वे अपने चरणोंसे ऐसे छूते थे, मानो इनके पैर जल रहे हों ॥ १० ॥

सोऽपसव्यां चमूं तस्य शाल्वस्य भरतर्षभ ।
चकार नातियत्नेन तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ११ ॥

हे भरतकुलसिंह ! उस समय सूतने थोडे ही यत्नसे शाल्वकी महासेनाको बाईं ओर कर दिया, यह देखकर सब लोगोंको बडा आश्चर्य हुआ ॥ ११ ॥

अमृष्यमाणोऽपसव्यं प्रद्युम्नेन स सौभराट् ।
यन्तारमस्य सहसा त्रिभिर्बाणैः समर्पयत् ॥ १२ ॥

जब प्रद्युम्नका रथ दाहिनी ओर आया तो शाल्वको यह सहन न हुआ और बल प्रकट करते हुए उसने रथके नियमन करनेवाले सारथिके तीन बाण मारे ॥ १२ ॥

दारुकस्य सुतस्तं तु बाणवेगमचिन्तयन्।
भूय एव महाबाहो प्रययौ हयसंमतः ॥ १३ ॥

हे महाबाहो! दारुकका पुत्र उसके बाणके वेगकी कुछ भी चिन्ता न करके अपने घोडोंको अपने अनुकूल बनाकर फिर आगे बढ गया ॥ १३ ॥

ततो बाणान्बहुविधान्पुनरेव स सौभराट्।
मुमोच तनये वीरे मम रुक्मिणिनन्दने ॥ १४ ॥

तब उस सौभराट् शाल्वने अनेक प्रकारके बाण मेरे वीर पुत्र रुक्मिणीनन्दनके ऊपर छोडे ॥ १४ ॥

तानप्राप्ताञ्शितैर्बाणैश्चिच्छेद परवीरहा।
रौक्मिणेयः स्मितं कृत्वा दर्शयन्हस्तलाघवम् ॥ १५ ॥

अपनी ओर आते हुए उन बाणोंको दूरहीसे शत्रुनाशक रुक्मिणिपुत्रने हंसते हंसते अपना हस्त-लाघवको दिखाते हुए तीक्ष्ण बाणोंसे काट दिया ॥ १५ ॥

छिन्नान्दृष्ट्वा तु तान्बाणान्प्रद्युम्नेन स सौभराट्।
आसुरीं दारुणीं मायामास्थाय व्यसृजच्छरान् ॥ १६ ॥

सौभराट् शाल्व अपने बाणोंको प्रद्युम्नके बाणोंसे कटा हुआ देखकर भयंकर राक्षसी मायाका आश्रय करके बाण छोडने लगा ॥ १६ ॥

प्रयुज्यमानमाज्ञाय दैतेयास्त्रं महाबलः।
ब्रह्मास्त्रेणान्तरा छित्त्वा मुमोचान्यान्पतत्रिणः ॥ १७ ॥

महाबली प्रद्युम्न राक्षसी मायाका प्रयोग जानकर उस दैत्य अस्त्रको ब्रह्मास्त्रसे काटकर और भी अनेक प्रकारके बाण छोडने लगे ॥ १७ ॥

ते तदस्त्रं विधूयाशु विव्यधू रुधिराशनाः।
शिरस्युरसि वक्त्रे च स मुमोह पपात च ॥ १८ ॥

वह रुधिर पीनेवाले बाण शाल्वके अस्त्रोंको काटकर उसके सिर, मुख, और हृदयमें प्रवेश कर गए; तब शाल्व मूर्च्छित हो गया और गिर पडा ॥ १८ ॥

तस्मिन्निपतिते क्षुद्रे शाल्वे बाणप्रपीडिते।
रौक्मिणेयोऽपरं बाणं संदधे शत्रुनाशनम् ॥ १९ ॥

बाणोंसे पीडित होकरके उस क्षुद्र शाल्वके गिर जानेपर रुक्मिणीनन्दनने दूसरा शत्रुनाशक बाण धनुषपर जोडा ॥ १९ ॥

तमर्चितं सर्वदाशार्हपूगैराशीर्भिरर्कज्वलनप्रकाशम् ।
दृष्ट्वा शरं ज्यामभिनीयमानं बभूव हाहाकृतमन्तरिक्षम् ॥ २० ॥

वह समस्त यदुवंशियोंसे पूजित, सर्पके समान तेज, जलती अग्निके समान प्रकाशित, बाणको धनुषपर चढाते देखकर आकाशमें महा हाहाकार मच गया ॥ २० ॥

ततो देवगणाः सर्वे सेन्द्राः सहधनेश्वराः ।
नारदं प्रेषयामासुः श्वसनं च महाबलम् ॥ २१ ॥

तब इन्द्र और धनेश्वर कुबेरके समेत सब देवताओंने शीघ्र ही महाबली वायु और नारदको प्रद्युम्नके समीप भेजा ॥ २१ ॥

तौ रौक्मिणेयमागम्य वचोऽब्रूतां दिवौकसाम् ।
नैष वध्यस्त्वया वीर शाल्वराजः कथंचन ॥ २२ ॥

उन दोनोंने आकर रुक्मिणीपुत्रसे देवताओंके वचन कहे– हे वीर ! यह शाल्वराज किसी प्रकार भी तुमसे मारे जाने योग्य नहीं है ॥ २२ ॥

संहरस्व पुनर्बाणमवध्योऽयं त्वया रणे ।
एतस्य च शरस्याजौ नावध्योऽस्ति पुमान्क्वचित् ॥ २३ ॥

और इस बाणसे कोई भी पुरुष युद्धमें अवध्य नहीं है, और यह शाल्व तुम्हारे द्वारा अवध्य है अतएव तुम इस बाणको लौटा लो ॥ २३ ॥

मृत्युरस्य महाबाहो रणे देवकिनन्दनः ।
कृष्णः संकल्पितो धात्रा तन्न मिथ्या भवेदिति ॥ २४ ॥

हे महाबाहो ! ब्रह्माने इसकी मृत्यु देवकीनन्दन कृष्णके द्वारा निश्चित की है, अतः ब्रह्माकी वह प्रतिज्ञा मिथ्या न हो ॥ २४ ॥

ततः परमसंहृष्टः प्रद्युम्नः शरमुत्तमम् ।
संजहार धनुःश्रेष्ठात्तूणे चैव न्यवेशयत् ॥ २५ ॥

यह सुनकर प्रद्युम्न अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने उस श्रेष्ठ बाणको श्रेष्ठ धनुषसे उतारकर तरकसमें रख लिया ॥ २५ ॥

तत उत्थाय राजेन्द्र शाल्वः परमदुर्मनाः ।
व्यपायात्सबलस्तूर्णं प्रद्युम्नशरपीडितः ॥ २६ ॥

हे राजेन्द्र ! इतनेमें शाल्व भी होशमें आकर परम दुःखी हो प्रद्युम्नके बाणोंसे पीडित होकर शीघ्रही सेना समेत भाग गया ॥ २६ ॥

*

स द्वारकां परित्यज्य क्रूरो वृष्णिभिरर्दितः ।
सौभमास्थाय राजेन्द्र दिवमाचक्रमे तदा ॥ २७ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥ ७०२ ॥

हे राजेन्द्र ! वह क्रूर शाल्व यादवोंके बाणोंसे पीडित हो द्वारिकाको छोड सौभपर बैठकर आकाशमें उड गया ॥ २७ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें बीसवां अध्याय समाप्त ॥ २० ॥ ७०२ ॥

२१

वासुदेव उवाच

आनर्तनगरं मुक्तं ततोऽहमगमं तदा ।
महाक्रतौ राजसूये निवृत्ते नृपते तव ॥ १ ॥

वासुदेव बोले– हे राजन् ! आपके महायज्ञ राजसूयके समाप्त हो जानेपर मैं शाल्वसे मुक्त द्वारका नगरीको गया ॥ १ ॥

अपश्यं द्वारकां चाहं महाराज हतत्विषम् ।
निःस्वाध्यायवषट्कारां निर्भूषणवरस्त्रियम् ॥ २ ॥

हे महाराज ! मैंने जाकर देखा तो द्वारिकाका तेज नष्ट हो गया था, उस नगरमें कहीं भी वेदोंका स्वाध्याय नहीं हो रहा था और न कहीं यज्ञ ही हो रहे थे, उस नगरकी सभी स्त्रियां भूषणोंसे रहित थीं ॥ २ ॥

अनभिज्ञेयरूपाणि द्वारकोपवनानि च ।
दृष्ट्वा शङ्कोपपन्नोऽहमपृच्छं हृदिकात्मजम् ॥ ३ ॥

और नगरके चारों ओरके बाग कुरूप हो जानेके कारण पहचाने नहीं जाते थे, मुझे यह सब देखकर शंका उत्पन्न हुई तो मैंने हृदिकपुत्र कृतवर्मासे पूछा ॥ ३ ॥

अस्वस्थनरनारीकमिदं वृष्णिपुरं भृशम् ।
किमिदं नरशार्दूल श्रोतुमिच्छामहे वयम् ॥ ४ ॥

हे नरशार्दूल ! वृष्णिवंशियोंका यह नगर घबडाये स्त्री पुरुषोंसे युक्त है, इसका कारण क्या है, यह हम तुमसे सुनना चाहते हैं ॥ ४ ॥

एवमुक्तस्तु स मया विस्तरेणेदमब्रवीत् ।
रोधं मोक्षं च शाल्वेन हार्दिक्यो राजसत्तम ॥ ५ ॥

हे राजसत्तम ! मेरे ऐसे पूछनेपर कृतवर्माने मुझसे जिस प्रकारसे शाल्वने नगरको घेरा था और जैसे छोडा था यह सब कथा विस्तारसे कही ॥ ५ ॥

ततोऽहं कौरवश्रेष्ठ श्रुत्वा सर्वमशेषतः ।
विनाशे शाल्वराजस्य तदैवाकरवं मतिम् ॥ ६ ॥

हे कुरुश्रेष्ठ ! मैंने यह सब सविस्तर सुनकर तभी शाल्वके नाश करनेका मनमें विचार किया ॥ ६ ॥

ततोऽहं भरतश्रेष्ठ समाश्वास्य पुरे जनम् ।
राजानमाहुकं चैव तथैवानकदुन्दुभिम् ।
सर्ववृष्णिप्रवीरांश्च हर्षयन्नब्रुवं तदा ॥ ७ ॥

हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! तब मैंने नगर निवासी प्रजा, तथा राजा उग्रसेन, और वसुदेवको धीरज देकर सब यदुवंशियोंको प्रसन्न करते हुए यह वचन कहा ॥ ७ ॥

अप्रमादः सदा कार्यो नगरे यादवर्षभाः ।
शाल्वराजविनाशाय प्रयातं मां निबोधत ॥ ८ ॥

हे यादवश्रेष्ठ ! आपको चाहिए कि नगरमें सदा सावधान रहें और शाल्वको मारनेके लिए जानेवाले मेरी बात सुने ॥ ८ ॥

नाहत्वा तं निवर्तिष्ये पुरीं द्वारवतीं प्रति ।
सशाल्वं सौभनगरं हत्वा द्रष्टास्मि वः पुनः ।
त्रिसामा हन्यतामेषा दुन्दुभिः शत्रुभीषणी ॥ ९ ॥

मैं अब विना उसको मारे द्वारिकापुरीको लौट कर नहीं आऊंगा, मैं सौभनगरके सहित शाल्वको नष्ट करके ही आपलोगोंको पुनः देखूंगा, अब शत्रुओंको भयभीत करनेवाली दुंदुभी तनि वार बजाई जाये ॥ ९ ॥

ते मयाश्वासिता वीरा यथावद्भरतर्षभ ।
सर्वे मामब्रुवन्हृष्टाः प्रयाहि जहि शात्रवान् ॥ १० ॥

हे भरतर्षभ ! जब मैंने सबको यथावत् धीरज दिया तो वे सब प्रसन्न होकर कहने लगे, कि आप जाइये और शत्रुओंको मारिये ॥ १० ॥

तैः प्रहृष्टात्मभिर्वीरैराशीर्भिरभिनन्दितः ।
वाचयित्वा द्विजश्रेष्ठान्प्रणम्य शिरसाहुकम् ॥ ११ ॥

उन प्रसन्न चित्तवाले वीरोंके आशीर्वादोंसे अभिनन्दित होकर ब्राह्मणश्रेष्ठोंसे स्वस्तिवाचन सुनकर और उग्रसेनको शिरसे प्रणाम करके ॥ ११ ॥

सैन्यसुग्रीवयुक्तेन रथेनानादयन्दिशः ।
प्रध्माप्य शङ्खप्रवरं पाञ्चजन्यमहं नृप ॥ १२ ॥

सैन्य और सुग्रीव घोडेसे युक्त रथ पर चढकर, हे महाराज ! सब दिशाओंको गुंजाता हुआ और श्रेष्ठशंख पाञ्चजन्यको बजाकर ॥ १२ ॥

प्रयातोऽस्मि नरव्याघ्र बलेन महता वृतः ।
कलत्रेन चतुरङ्गेण बलेन जितकाशिना ॥ १३ ॥

हे पुरुषव्याघ्र ! जयशील, सन्नद्ध, चतुरङ्गिणी महा सेनासे घिरकर मैं चला ॥ १३ ॥

समतीत्य बहून्देशान्गिरींश्च बहुपादपान् ।
सरांसि सरितश्चैव मार्तिकावतमासदम् ॥ १४ ॥

अनेक देश, पर्वत, वन, सर और नदियोंको पार कर मैं मार्त्तिकावत देशमें जा पहुंचा ॥१४॥

तत्राश्रौषं नरव्याघ्र शाल्वं नगरमन्तिकात् ।
प्रयातं सौभमास्थाय तमहं पृष्ठतोऽन्वयाम् ॥ १५ ॥

हे पुरुषव्याघ्र युधिष्ठिर ! वहां जाकर सुना कि शाल्व सौभनगरमें बैठकर पास ही गया है, तब मैं भी उसके पीछे पीछे वहां जा पहुंचा ॥ १५ ॥

ततः सागरमासाद्य कुक्षौ तस्य महोर्मिणः ।
समुद्रनाभ्यां शाल्वोऽभूत्सौभमास्थाय शत्रुहन् ॥ १६ ॥

हे शत्रुनाशक ! तब मैंने महातरङ्गवाले समुद्रके पास पहुंच करके देखा कि शाल्व सौभका आश्रय लेकर समुद्रके मध्यमें स्थित है ॥ १६ ॥

स समालोक्य दूरान्मां स्मयन्निव युधिष्ठिर ।
आह्वयामास दुष्टात्मा युद्धायैव मुहुर्मुहुः ॥ १७ ॥

हे युधिष्ठिर ! वह दुष्टात्मा मुझे दूरहीसे देखकर मुस्कराते हुए युद्धके लिए मुझे बारबार पुकारने लगा ॥ १७ ॥

तस्य शार्ङ्गविनिर्मुक्तैर्बहुभिर्मर्मभेदिभिः ।
पुरं नासाद्यत शरैस्ततो मां रोष आविशत् ॥ १८ ॥

तब मैंने अनेक मर्मभेदी बाण चलाये, परन्तु मेरे तीक्ष्णबाण शार्ङ्गसे छूटकर उसके नगर तक नहीं पहुंचते थे, अतएव मुझे महाक्रोध हो आया ॥ १८ ॥

स चापि पापप्रकृतिर्दैतेयापसदो नृप ।
मय्यवर्षत दुर्धर्षः शरधाराः सहस्रशः ॥ १९ ॥

हे राजन् ! वह भी पापी, दैत्योंमें नीच, दुर्धर्ष शाल्व सहस्रों बाणकी बरसात मुझपर करने लगा ॥ १९ ॥

सैनिकान्मम सूतं च हयांश्च समवाकिरत् ।
अचिन्तयन्तस्तु शरान्वयं युध्याम भारत ॥ २० ॥

उसने मेरे सैनिक, सूत, घोडे और रथको बाणोंसे भर दिया। हे भारत ! परन्तु हम लोग उसके बाणोंका विचार न करके युद्ध करते ही रहे ॥ २० ॥

ततः शतसहस्राणि शराणां नतपर्वणाम् ।
चिक्षिपुः समरे वीरा मयि शाल्वपदानुगाः ॥ २१ ॥

तब युद्धमें हमारे ऊपर शाल्वकी सेनाके वीर पुरुषोंने सैकडों और सहस्त्रों तीक्ष्णवाण छोडे ॥ २१ ॥

ते हयान्मे रथं चैव तदा दारुकमेव च ।
छादयामासुरसुरा बाणैर्मर्मविभेदिभिः ॥ २२ ॥

तब अपने उन तीक्ष्ण मर्मभेदी बाणोंसे मेरे घोडे, रथ और दारुक सारथीको राक्षसोंने ढक दिया ॥ २२ ॥

न हया न रथो वीर न यन्ता मम दारुकः ।
अदृश्यन्त शरैश्छन्नास्तथाहं सैनिकाश्च मे ॥ २३ ॥

हे वीर ! उन बाणोंसे ढक दिए जानेके कारण न घोडे दिखाई देते थे, न रथ, न मेरे घोडोंपर नियंत्रण करनेवाला मेरा सारथी दारुक, न मैं और न मेरे सैनिक अर्थात् कुछ भी दिखाई नहीं देता था ॥ २३ ॥

ततोऽहमपि कौन्तेय शराणामयुतान्बहून् ।
अभिमन्त्रितानां धनुषा दिव्येन विधिनाक्षिपम् ॥ २४ ॥

हे कुन्तीपुत्र ! तब मैंने भी हजारों बाण दिव्यमंत्रोंसे मन्त्रित करके दिव्य धनुषपर चढा-कर विधिपूर्वक चलाए ॥ २४ ॥

न तत्र विषयस्त्वासीन्मम सैन्यस्य भारत ।
खे विषक्तं हि तत्सौभं क्रोशमात्र इवाभवत् ॥ २५ ॥

हे भारत ! उस सौभके आकाशमें रहनेके कारण मैं और मेरे सैनिक कोई भी उसे न देख सकते थे, मानों वह एक कोस पर था ॥ २५ ॥

ततस्ते प्रेक्षकाः सर्वे रङ्गवाट इव स्थिताः ।
हर्षयामासुरुच्चैर्मां सिंहनादतलस्वनैः ॥ २६ ॥

तब उन सब सैनिकोंने ताली बजाकर और सिंहके समान शब्दोंसे मुझे प्रसन्न किया । वे लोग ऐसे प्रतीत होते थे मानो यह सब रङ्गगृहमें स्थित हों ॥ २६ ॥

मत्कार्मुकविनिर्मुक्ता दानवानां महारणे ।
अङ्गेषु रुधिराक्तास्ते विविशुः शलभा इव ॥ २७ ॥

खूनसे सने हुए तथा मेरे धनुषसे निकले हुए बाण युद्धमें दानवोंके शरीरमें ऐसे प्रवेश करने लगे जैसे अग्निमें पतंगे ॥ २७ ॥

ततो हलहलाशब्दः सौभमध्ये व्यवर्धत ।
वध्यतां विशिखैस्तीक्ष्णैः पततां च महार्णवे ॥ २८ ॥

तब मेरे तीक्ष्ण बाणोंसे मरते हुए और समुद्रमें गिरते हुए राक्षसोंका सौभमें हाहाकार शब्द हुआ ॥ २८ ॥

ते निकृत्तभुजस्कन्धाः कबन्धाकृतिदर्शनाः ।
नदन्तो भैरवान्नादान्निपतन्ति स्म दानवाः ॥ २९ ॥

कटे हाथ, कटे कन्धेवाले तथा कबन्धके समान दीखनेवाले वे दानव भयंकर रूपसे चिल्लाते हुए समुद्रमें गिरने लगे ॥ २९ ॥

ततो गोक्षीरकुन्देन्दुमृणालरजतप्रभम् ।
जलजं पाञ्चजन्यं वै प्राणेनाहमपूरयम् ॥ ३० ॥

तब मैंने, गायके दूध, कुंदपुष्प, चन्द्रमा, कमलकी डण्डी, तथा चांदीके समान श्वेत पाञ्चजन्य शङ्खको अपनी पूरी शक्ति लगाकर बजाया ॥ ३० ॥

तान्दृष्ट्वा पतितांस्तत्र शाल्वः सौभपतिस्तदा ।
मायायुद्धेन महता योधयामास मां युधि ॥ ३१ ॥

तब सौभपति शाल्व उन राक्षसोंको समुद्रमें गिरता हुआ देखकर, मायासे युक्त होकर रणमें मुझसे युद्ध करने लगा ॥ ३१ ॥

ततो हुडहुडाः प्रासाः शक्तिशूलपरश्वधाः ।
पट्टिशाश्च भुशुण्डयश्च प्रापतन्ननिशं मयि ॥ ३२ ॥

तब हुड, हुड, प्रास, परश्वध, शूल, शक्ति, पट्टिश, और भुशुण्डी मेरे ऊपर निरन्तर बरसने लगे ॥ ३२ ॥

तानहं माययैवाशु प्रतिगृह्य व्यनाशयम् ।
तस्यां हतायां मायायां गिरिशृङ्गैरयोधयत् ॥ ३३ ॥

तब मैंने उस मायाको मायाहीसे ग्रहण करके नष्ट कर दिया, जब वह माया नष्ट हो गयी तो वह शाल्व पर्वतकी चोटियोंको उठाकर युद्ध करने लगा ॥ ३३ ॥

ततोऽभवत्तम इव प्रभातमिव चाभवत् ।
दुर्दिनं सुदिनं चैव शीतमुष्णं च भारत ॥ ३४ ॥

तब, हे भारत ! अन्धकार हो गया और पुनः प्रकाश हुआ, पश्चात् सुदिन—मेघरहित दिन फिर दुर्दिन हो गया अर्थात् मेघोंमें सूर्य छिप गया, क्षणमें शीत और क्षणमात्रमें उष्ण होने लगा ॥ ३४ ॥

एवं मायां विकुर्वाणो योधयामास मां रिपुः।
विज्ञाय तदहं सर्वं माययैव व्यनाशयम्।
यथाकालं तु युद्धेन व्यधमं सर्वतः शरैः ॥ ३५ ॥

इस प्रकारसे माया करते हुए वह शत्रु मुझसे युद्ध करने लगा, तब वह सब जानकर मैंने मायाहीसे वह सब नष्ट कर दिया, तथा समय पाकर सब ओरसे बाणोंसे उसको बाँध डाला ॥ ३५ ॥

ततो व्योम महाराज शतसूर्यमिवाभवत्।
शतचन्द्रं च कौन्तेय सहस्रायुततारकम् ॥ ३६ ॥

हे महाराज ! उसी समय मैंने आकाशमें सौ सूर्यके समान प्रकाश देखा, थोडे कालमें देखा कि सौ चन्द्रमा और लाखों तारे निकल रहे हैं ॥ ३६ ॥

ततो नाज्ञायत तदा दिवारात्रं तथा दिशः।
ततोऽहं मोहमापन्नः प्रज्ञास्त्रं समयोजयम्।
ततस्तदस्त्रमस्त्रेण विधूतं शरतूलवत् ॥ ३७ ॥

हे कुन्तीपुत्र ! उस समय दिन है कि रात है, और कौनसी दिशा किधर है, यह कुछ भी नहीं जान पडा, हे कुन्तीनन्दन ! उस समय मुझे भ्रम हो गया, तब मैंने प्रज्ञा अस्त्र धनुष पर चढाया। तब शाल्वका वह माया अस्त्र मेरे प्रज्ञास्त्रसे ऐसे धुना गया जैसे रुई धुनी जाती है ॥ ३७ ॥

तथा तदभवद्युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम्।
लब्धालोकश्च राजेन्द्र पुनः शत्रुमयोधयम् ॥ ३८ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥ ७४० ॥

तब यह युद्ध महाघोर तथा रोंगटे खडे कर देनेवाला हुआ। जब मुझे प्रकाश दीखने लगा; तब, हे राजेन्द्र युधिष्ठिर ! मैं पुनः शाल्वसे युद्ध करने लगा ॥ ३८ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें इक्कीसवां अध्याय समाप्त ॥ २१ ॥ ७४० ॥

: २२ :

वासुदेव उवाच

एवं स पुरुषव्याघ्र शाल्वो राज्ञां महारिपुः।
युध्यमानो मया संख्ये वियदभ्यागमत्पुनः ॥ १ ॥

वासुदेव बोले– हे पुरुषोंमें सिंहके समान महाराज ! राजाओंका महाशत्रु वह शाल्वराज युद्धमें इस प्रकार मुझसे लडता हुआ पुनः आकाशमें ही चला गया ॥ १ ॥

ततः शतघ्नीश्च महागदाश्च दीप्तांश्च शूलान्मुसलानसींश्च ।
चिक्षेप रोषान्मयि मन्दबुद्धिः शाल्वो महाराज जयाभिकाङ्क्षी ॥ २ ॥
हे महाराज ! तव जयकी इच्छा रखनेवाला वह दुर्बुद्धि शाल्व क्रोधसे शतघ्नी महागदा, प्रकाशमान त्रिशूल, मूसल और खड्ग मेरे ऊपर बरसाने लगा ॥ २ ॥

तानाशुगैरापततोऽहमाशु निवार्य तूर्णं खगमान्ख एव ।
द्विधा त्रिधा चाच्छिनमाशु मुक्तैस्ततोऽन्तरिक्षे निनदो बभूव ॥ ३ ॥
तब मैंने भी वेगसे आते हुए उन सब गगनचारी शस्त्रोंको दूरही आकाशमें रोककरके शीघ्र ही अपने धनुषसे छोडे गए बाणोंसे उनके दो दो और तीन तीन टुकडे कर दिये; तब आकाशमें महा शब्द हुआ ॥ ३ ॥

ततः शतसहस्रेण शराणां नतपर्वणाम् ।
दारुकं वाजिनश्चैव रथं च समवाकिरत् ॥ ४ ॥
तब उसने तीक्ष्ण धारवाले सैंकडों और हजारों बाणोंसे मेरे घोडे, सारथी दारुक और रथको ढक दिया ॥ ४ ॥

ततो मामब्रवीद्वीर दारुको विह्वलन्निव ।
स्थातव्यमिति तिष्ठामि शाल्वबाणप्रपीडितः ॥ ५ ॥
हे वीर ! तब विद्ध होनेके कारण व्याकुल होकर दारुकने मुझसे कहा, कि मैं शाल्वके बाणोंसे अत्यन्त पीडित हो रहा हूं, परन्तु युद्धमें स्थिर रहना ही मेरा धर्म है, यही सोचकर मैं स्थिर हूं ॥ ५ ॥

इति तस्य निशम्याहं सारथेः करुणं वचः ।
अवेक्षमाणो यन्तारमपश्यं शरपीडितम् ॥ ६ ॥
इस प्रकार उस सारथिके करुणामय वचन सुनकर मैंने उस नियन्ताको देखा तो जान पडा, कि शाल्वके बाणोंसे इसे बहुत ही पीडा हुई है ॥ ६ ॥

न तस्योरसि नो मूर्ध्नि न काये न भुजद्वये ।
अन्तरं पाण्डवश्रेष्ठ पश्यामि नहतं शरैः ॥ ७ ॥
उसके न सिरमें, न हृदयमें, न शरीरमें और न दोनों हाथोंमें, हे पाण्डवश्रेष्ठ ! मैंने बाणसे बेबिंधा अंग न पाया ॥ ७ ॥

स तु बाणवरोत्पीडाद्विस्रवत्यसृगुल्बणम् ।
अभिवृष्टो यथा मेघैर्गिरिर्गैरिकधातुमान् ॥ ८ ॥
उस समय सारथीके शरीरोंमें बाण लगनेसे ऐसी रुधिरकी धारा बह रही थी जैसे वर्षा होनेसे पर्वतसे गेरुके झरने झरते हैं ॥ ८ ॥

अभीषुहस्तं तं दृष्ट्वा सीदन्तं सारथिं रणे ।
अस्तंभयं महाबाहो शाल्वबाणप्रपीडितम् ॥ ९ ॥

हे महाबाहो ! मैंने अपने सारथीको युद्धमें लगाम पकडे और शाल्वके बाणोंसे पीडित होकर दुःखी होते देखकर उसको आश्वासन किया ॥ ९ ॥

अथ मां पुरुषः कश्चिद्द्वारकानिलयोऽब्रवीत् ।
त्वरितो रथमभ्येत्य सौहृदादिव भारत ॥ १० ॥

हे भरतवंशी युधिष्ठिर ! इसी समय द्वारिकाका रहनेवाला कोई पुरुष शीघ्रतासहित मेरे रथके पास आकर मैत्रीभावसे बोला ॥ १० ॥

आहुकस्य वचो वीर तस्यैव परिचारकः ।
विषण्णः सन्नकण्ठो वै तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ ११ ॥

उग्रसेनका ही कोई सेवक दुःखी आवाजमें उसकी एक बात मुझसे कहने लगा, उसे, हे युधिष्ठिर ! तुम सुनो ॥ ११ ॥

द्वारकाधिपतिर्वीर आह त्वामाहुको वचः ।
केशवेह विजानीष्व यत्त्वां पितृसखोऽब्रवीत् ॥ १२ ॥

(वह सेवक बोला) द्वारिकापति वीर उग्रसेनने आपसे ऐसा कहा है, कि हे केशव ! तुम्हारे पिताका मित्र उग्रसेन तुमसे जो कहता है, उसे मानो ॥ १२ ॥

उपयात्वाद्य शाल्वेन द्वारकां वृष्णिनन्दन ।
विषक्ते त्वयि दुर्धर्ष हतः शूरसुतो बलात् ॥ १३ ॥

तुम द्वारिकाको लौट आओ । हे वृष्णिनन्दन ! जब तुम आकर यहां शाल्वके साथ युद्धमें लगे हुए थे, तो, हे दुर्धर्ष ! द्वारका जाकर शाल्वने वसुदेवको बलसे मार डाला ॥ १३ ॥

तदलं साधु युद्धेन निवर्तस्व जनार्दन ।
द्वारकामेव रक्षस्व कार्यमेतन्महत्तव ॥ १४ ॥

हे जनार्दन ! अतएव युद्ध करना बन्द करो, तुम लौट आओ, तुम द्वारिकाहीकी रक्षा करो, यही तुम्हारा परम कर्तव्य है ॥ १४ ॥

इत्यहं तस्य वचनं श्रुत्वा परमदुर्मनाः ।
निश्चयं नाधिगच्छामि कर्तव्यस्येतरस्य वा ॥ १५ ॥

मैं उसका यह वचन सुनकर अत्यन्त दुःखी होकर यह निश्चय न कर सका कि मुझे क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए ॥ १५ ॥

×

सात्यकिं बलदेवं च प्रद्युम्नं च महारथम्।
जगर्हे मनसा वीर तच्छ्रुत्वा विप्रियं वचः ॥ १६ ॥

हे वीर युधिष्ठिर! उस अप्रिय सन्देशको सुनकर मैं मनसे सात्यकी, बलदेव और महारथी प्रद्युम्नकी निन्दा करने लगा ॥ १६ ॥

अहं हि द्वारकायाश्च पितुश्च कुरुनन्दन।
तेषु रक्षां समाधाय प्रयातः सौभपातने ॥ १७ ॥

हे कुरुनन्दन! मैं इन तीनों वीरोंको द्वारिका और पिताकी रक्षा करनेके लिए छोडकर सौभनगरको नष्ट करनेके लिए आया था ॥ १७ ॥

बलदेवो महाबाहुः कच्चिज्जीवति शत्रुहा।
सात्यकी रौक्मिणेयश्च चारुदेष्णश्च वीर्यवान्।
साम्बप्रभृतयश्चैवेत्यहमासं सुदुर्मनाः ॥ १८ ॥

महाबाहु शत्रुनाशक बलदेव जीवित तो हैं? सात्यकी, प्रद्युम्न और वीर्यवान् चारुदेष्ण तथा साम्ब प्रभृति वीर जीवित हैं या नहीं? यह सोचकर मेरा मन महादुःखको प्राप्त हुआ ॥ १८ ॥

एतेषु हि नरव्याघ्र जीवत्सु न कथंचन।
शक्यः शूरसुतो हन्तुमपि वज्रभृता स्वयम् ॥ १९ ॥

हे नरव्याघ्र! मैंने सोचा कि इन सबके जीते जी साक्षात् वज्रधारी इन्द्रकी भी शक्ति नहीं है, कि वह शूरपुत्र वसुदेवको मार सके ॥ १९ ॥

हतः शूरसुतो व्यक्तं व्यक्तं ते च परासवः।
बलदेवमुखाः सर्वे इति मे निश्चिता मतिः ॥ २० ॥

इसलिए मेरा यह निश्चित विचार हो गया कि स्पष्ट है कि बलदेव आदि सभी प्रधान वीर मारे जा चुके हैं और स्पष्ट है कि वसुदेव भी मारे गए हैं ॥ २० ॥

सोऽहं सर्वविनाशं तं चिन्तयानो मुहुर्मुहुः।
सुविह्वलो महाराज पुनः शाल्वमयोधयम् ॥ २१ ॥

हे महाराज! इस प्रकारसे मैं अपने सर्वनाशपर बार बार विचार करता हुआ विकल होकर फिर शाल्वसे युद्ध करने लगा ॥ २१ ॥

ततोऽपश्यं महाराज प्रपतन्तमहं तदा।
सौभाच्छूरसुतं वीर ततो मां मोह आविशत् ॥ २२ ॥

हे वीर महाराज! तब मैंने अपने पिता शूरपुत्र वसुदेवको सौभसे गिरते देखा और तब मैं मोहके वशमें हो गया ॥ २२ ॥

तस्य रूपं प्रपततः पितुर्मम नराधिप ।
ययातेः क्षीणपुण्यस्य स्वर्गादिव महीतलम् ॥ २३ ॥

हे नरनाथ ! मेरे पिताके गिरते समय उनका ऐसा रूप प्रकट हो रहा था जैसे पुण्यके नाश होने पर स्वर्गसे पृथ्वीपर गिरनेवाले ययातिका था ॥ २३ ॥

विशीर्णगलितोष्णीषः प्रकीर्णाम्बरमूर्धजः ।
प्रपतन्दृश्यते ह स्म क्षीणपुण्य इव ग्रहः ॥ २४ ॥

मैली और खुली पगडी, फैले हुए वस्त्र और केशवाले मेरे पिता गिरते समय ऐसे लग रहे थे कि जैसे पुण्य-नाश होनेसे तारा टूट कर गिरता है ॥ २४ ॥

ततः शार्ङ्गं धनुःश्रेष्ठं करात्प्रपतितं मम ।
मोहात्सन्नश्च कौन्तेय रथोपस्थ उपाविशम् ॥ २५ ॥

तब धनुषोंमें उत्तम शार्ङ्ग मेरे हाथसे गिर पडा, हे कौंतेय ! मैं मोहसे व्याकुल होकर रथके अन्दर बैठ गया ॥ २५ ॥

ततो हाहाकृतं सर्वं सैन्यं मे गतचेतनम् ।
मां दृष्ट्वा रथनीडस्थं गतासुमिव भारत ॥ २६ ॥

हे भारत ! जब मेरी सेनाने मुझे रथमें प्राणसे रहित हुएके समान मूर्च्छित पडा देखा, तो मेरी सब सेना चेतनारहित होकर हाहाकार करने लगी ॥ २६ ॥

प्रसार्य बाहू पततः प्रसार्य चरणावपि ।
रूपं पितुरपश्यं तच्छकुनेः पततो यथा ॥ २७ ॥

दोनों हाथ और दोनों पैर फैलाकर गिरते हुए अपने पिताका रूप मैंने गिरते हुए पक्षीके समान देखा ॥ २७ ॥

तं पतन्तं महाबाहो शूलपट्टिशपाणयः ।
अभिघ्नन्तो भृशं वीर मम चेतो व्यकम्पयन् ॥ २८ ॥

हे महाबाहो वीर युधिष्ठिर ! शूल और पट्टिशधारी अनेक योधा गिरते हुए मेरे पिताको मारने लगे और इस प्रकार उन्होंने मेरे हृदयको कंपा दिया ॥ २८ ॥

ततो मुहूर्तात्प्रतिलभ्य संज्ञामहं तदा वीर महाविमर्दे ।
न तत्र सौभं न रिपुं न शाल्वं पश्यामि वृद्धं पितरं न चापि ॥ २९ ॥

हे वीर ! तब क्षणभरके बाद होशमें आकर मैंने उस महायुद्धमें न सौभको देखा, न शत्रु शाल्वको और न वृद्ध पिताको ही देखा ॥ २९ ॥

ततो ममासीन्मनसि मायेयमिति निश्चितम् ।
प्रबुद्धोऽस्मि ततो भूयः शतशो विकिरञ्शरान् ॥ ३० ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि द्वाविंशोऽध्यायः॥ ॥ २२ ॥ ७७० ॥

तब मेरे मनमें यह निश्चय हो गया, कि यह माया ही है, तब मैं पुनः बोधित हुआ, और सैकडों बाण छोडने लगा ॥ ३० ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें बाईसवां अध्याय समाप्त ॥ २२ ॥ ७७० ॥

॥ २३ ॥

वासुदेव उवाच

ततोऽहं भरतश्रेष्ठ प्रगृह्य रुचिरं धनुः ।
शरैरपातयं सौभाच्छिरांसि विबुधद्विषाम् ॥ १ ॥

वासुदेव बोले– हे भरतश्रेष्ठ ! तब मैं उत्तम धनुष ग्रहण करके अपने बाणोंसे विद्वानोंके द्वेषी राक्षसोंके सिरोंको सौभसे काटकाटकर गिराने लगा ॥ १ ॥

शरांश्चाशीविषाकारानूर्ध्वगांस्तिग्मतेजसः ।
अप्रैषं शाल्वराजाय शार्ङ्गमुक्तान्सुवाससः ॥ २ ॥

मैं सांपके समान विषैले, महा तेजस्वी, ऊर्ध्वगामी, उत्तम पंखवाले, बाण शार्ङ्गधनुषसे शाल्वको लक्ष्य करके छोडने लगा ॥ २ ॥

ततो नादृश्यत तदा सौभं कुरुकुलोद्वह ।
अन्तर्हितं माययाभूत्ततोऽहं विस्मितोऽभवम् ॥ ३ ॥

हे कुरुकुलोत्पन्न युधिष्ठिर ! तब सौभ मायासे ऐसा छिप गया, कि मैं उसे देख ही नहीं पाया, तब मुझे विस्मय हुआ ॥ ३ ॥

अथ दानवसंघास्ते विकृताननमूर्धजाः ।
उदक्रोशन्महाराज विष्ठिते मयि भारत ॥ ४ ॥

हे भरतवंशी महाराज ! जब मैं दृढ हो गया, तब विकृत हुए मुखों और बालोंवाले वे राक्षस चिल्लाने लगे ॥ ४ ॥

ततोऽस्त्रं शब्दसाहं वै त्वरमाणो महाहवे ।
अयोजयं तद्वधाय ततः शब्द उपारमत् ॥ ५ ॥

तब उस महायुद्धमें मैंने शीघ्रतापूर्वक उनको मारनेके लिए शब्दवेधी बाणको अपने धनुष पर चढाया, तो वह शब्द बन्द हो गया ॥ ५ ॥

हतास्ते दानवाः सर्वे यैः स शब्द उदीरितः ।
शरैरादित्यसङ्काशैर्ज्वलितैः शब्दसाधनैः ॥ ६ ॥

तब जो राक्षस वहां चिल्ला रहे थे उन सबको मैंने प्रकाशमान सूर्यके समान तेजवाले, शब्दवेधी बाणोंसे मार डाला ॥ ६ ॥

तस्मिन्नुपरते शब्दे पुनरेवान्यतोऽभवत् ।
शब्दोऽपरो महाराज तत्रापि प्राहरं शरान् ॥ ७ ॥

हे महाराज ! जब वह शब्द बंद हो गया तो पुनः दूसरी ओरसे शब्द हुआ, मैंने वहां भी बाणोंसे वैसे ही राक्षसोंको मारा ॥ ७ ॥

एवं दश दिशः सर्वास्तिर्यगूर्ध्वं च भारत ।
नादयामासुरसुरास्ते चापि निहता मया ॥ ८ ॥

हे भारत ! इस प्रकारसे दसों दिशाओं तथा नीचे और ऊपरकी दिशाओंमें भी वे असुर चिल्लाने लगे और मैं भी सब ओरके राक्षसोंको ऐसे ही मारता रहा ॥ ८ ॥

ततः प्राग्ज्योतिषं गत्वा पुनरेव व्यदृश्यत ।
सौभं कामगमं वीर मोहयन्मम चक्षुषी ॥ ९ ॥

हे वीर ! तब मैंने प्राग्ज्योतिषपुरमें जाकर पुनः स्वेच्छानुसार चलनेवाले सौभको अपने नेत्रोंको मोहित करते देखा ॥ ९ ॥

ततो लोकान्तकरणो दानवो वानराकृतिः ।
शिलावर्षेण सहसा महता मां समावृणोत् ॥ १० ॥

तब लोकके नाश करनेवाले, वानरके शरीरवाले दानवने पत्थरोंकी बडी बरसात करके मुझे ढक दिया ॥ १० ॥

सोऽहं पर्वतवर्षेण वध्यमानः समन्ततः ।
वल्मीक इव राजेन्द्र पर्वतोपचितोऽभवम् ॥ ११ ॥

हे महाराज ! मैं चारों ओरसे शिलावर्षणसे पीडित होकर पर्वतोंसे ढक दिया गया और उस समय ऐसा दीखने लगा, जैसा पहाडमें बिल ॥ ११ ॥

ततोऽहं पर्वतचितः सहयः ससारथिः ।
अप्रख्यातिमियां राजन्सध्वजः पर्वतैश्चितः ॥ १२ ॥

हे महाराज ! तब मैं घोडे और सारथी और ध्वजाके समेत पर्वतोंके मारे अदृश्य हो गया ॥ १२ ॥

ततो वृष्णिप्रवीरा ये ममासन्सैनिकास्तदा ।
ते भयार्ता दिशः सर्वाः सहसा विप्रदुद्रुवुः ॥ १३ ॥

तब मेरे जो वृष्णिवंशी सैनिक थे, वे भयसे व्याकुल होकर अचानक ही सभी दिशाओंमें भाग गए ॥ १३ ॥

ततो हाहाकृतं सर्वमभूत्किल विशां पते।
द्यौश्च भूमिश्च खं चैवादृश्यमाने तथा मयि ॥ १४ ॥

हे महाराज ! इस प्रकार मेरे अदृश्य हो जानेपर स्वर्ग, आकाश और भूमिमें सर्वत्र हाहाकार मच गया ॥ १४ ॥

ततो विषण्णमनसो मम राजन्सुहृज्जनाः।
रुरुदुश्चुक्रुशुश्चैव दुःखशोकसमन्विताः ॥ १५ ॥

हे राजन् ! तब मेरे मित्रलोग दुःख शोकसे भरकर मलिन-मनवाले होकर रोने और चिल्लाने लगे ॥ १५ ॥

द्विषतां च प्रहर्षोऽभूदार्तिश्चाद्विषतामपि।
एवं विजितवान्वीर पश्चादश्रौषमच्युत ॥ १६ ॥

हे अच्युत ! हे वीर ! शत्रु प्रसन्न हो गए और मेरे मित्र दुःखी हो गए, जब मुझे संज्ञा प्राप्त हुई तो यही शब्द सुना कि शाल्वने कृष्णको जीत लिया है ॥ १६ ॥

ततोऽहमस्त्रं दयितं सर्वपाषाणभेदनम्।
वज्रमुद्यम्य तान्सर्वान्पर्वतान्समशातयम् ॥ १७ ॥

तब मैंने सब पर्वतोंको तोड देनेवाले प्रिय शस्त्र वज्रका प्रयोग करके उन सब पर्वतोंका नाश कर दिया ॥ १७ ॥

ततः पर्वतभारार्ता मन्दप्राणविचेष्टिताः।
हया मम महाराज वेपमाना इवाभवन् ॥ १८ ॥

हे महाराज ! तब पर्वतके अधिक भारसे दुःखी होकर शिथिल प्राणवाले मेरे घोडे कांपनेसे लगे ॥ १८ ॥

मेघजालमिवाकाशे विदार्याभ्युदितं रविम्।
दृष्ट्वा मां बान्धवाः सर्वे हर्षमाहारयन्पुनः ॥ १९ ॥

जैसे आकाशमें मेघ-समूहको फाडकर सूर्य उदय होता है वैसे ही मुझे पर्वत-जालसे मुक्त हुआ देखकर मेरे सब बान्धव फिरसे प्रसन्न हुए ॥ १९ ॥

ततो मामब्रवीत्सूतः प्राञ्जलिः प्रणतो नृप।
साधु संपश्य वार्ष्णेय शाल्वं सौभपतिं स्थितम् ॥ २० ॥

हे राजन् युधिष्ठिर ! तब हाथ जोडकर नम्रतासे सूतने मुझसे कहा– आप भली प्रकारसे देखिये वह सौभनगरका स्वामी शाल्वराजा खडा हुआ है ॥ २० ॥

अलं कृष्णावमन्यैनं साधु यत्नं समाचर ।
मार्दवं सखितां चैव शाल्वादस्य व्यपाहर ॥ २१ ॥

हे कृष्ण ! अब इसकी उपेक्षा करना उचित नहीं है, उत्तम यत्न कीजिये, अब आप शाल्वसे कोमलता और मित्रताका व्यवहार करना छोड दीजिये ॥ २१ ॥

जहि शाल्वं महाबाहो मैनं जीवय केशव ।
सर्वैः पराक्रमैर्वीर वध्यः शत्रुरमित्रहन् ॥ २२ ॥

हे महाबाहो केशव ! शाल्वको मार दीजिए, इसे जीता न छोडिये; क्योंकि, हे शत्रुनाशी वीर कृष्ण ! सब तरहका पराक्रम प्रकट करके भी शत्रुको मारना ही चाहिए ॥ २२ ॥

न शत्रुरवमन्तव्यो दुर्बलोऽपि बलीयसा ।
योऽपि स्यात्पीठगः कश्चित्किं पुनः समरे स्थितः ॥ २३ ॥

बलवान्को चाहिए कि वह दुर्बल शत्रुकी भी उपेक्षा न करे । यदि शत्रु अपने घरपर भी बैठा हुआ हो तो भी उसे मार डालना चाहिए, फिर युद्धमें सामने आये हुएके बारेमें तो कहना ही क्या ? ॥ २३ ॥

स त्वं पुरुषशार्दूल सर्वयत्नैरिमं प्रभो ।
जहि वृष्णिकुलश्रेष्ठ मा त्वां कालोऽत्यगात्पुनः ॥ २४ ॥

हे वृष्णिकुलमें श्रेष्ठ ! हे पुरुषसिंह प्रभो कृष्ण ! अतएव आप इस शाल्वका सब यत्नोंसे नाश कीजिये, समय नष्ट मत कीजिये ॥ २४ ॥

नैव मार्दवसाध्यो वै मतो नापि सखा तव ।
येन त्वं योधितो वीर द्वारका चावमर्दिता ॥ २५ ॥

यह मृदु उपायसे वशमें नहीं आयेगा, न यह आपका मित्र ही है, इसने आपसे युद्ध किया और द्वारिकामें भी उपद्रव मचाया था ॥ २५ ॥

एवमादि तु कौन्तेय श्रुत्वाहं सारथेर्वचः ।
तत्त्वमेतदिति ज्ञात्वा युद्धे मतिमधारयम् ॥ २६ ॥
वधाय शाल्वराजस्य सौभस्य च निपातने ।
दारुकं चाब्रुवं वीर मुहूर्तं स्थीयतामिति ॥ २७ ॥

हे कुन्तीपुत्र ! मैंने सारथीके यह वचन सुनकर जाना, कि यह ठीक कहता है, तब मैंने युद्धमें शाल्वको मारने और सौभके गिरानेका निश्चय किया और सारथीसे कहा कि हे वीर ! तुम क्षणमात्र स्थिर रहो ॥ २६-२७ ॥

ततोऽप्रतिहतं दिव्यमभेद्यमतिवीर्यवत् ।
आग्नेयमस्त्रं दयितं सर्वसाहं महाप्रभम् ॥ २८ ॥

तब मैंने न चूकने योग्य, दिव्य, किसीसे भी अभेद्य, महाबलवान्, सब सहनेवाला, महा प्रकाशमान्, अत्यन्त श्रेष्ठ आग्नेय अस्त्रको छोडा ॥ २८ ॥

यक्षाणां राक्षसानां च दानवानां च संयुगे ।
राज्ञां च प्रतिलोमानां भस्मान्तकरणं महत् ॥ २९ ॥

वह आग्नेयास्त्र युद्धमें यक्षों, राक्षसों, दानवों और दुष्कर्मी राजाओंको भस्म करनेवाला ॥ २९ ॥

क्षुरान्तममलं चक्रं कालान्तकयमोपमम् ।
अभिमन्त्र्याहमतुलं द्विषतां च निबर्हणम् ॥ ३० ॥
जहि सौभं स्ववीर्येण ये चात्र रिपवो मम ।
इत्युक्त्वा भुजवीर्येण तस्मै प्राहिणवं रुषा ॥ ३१ ॥

जैसी छुरीकी धार होती है, वैसा निर्मल, काल और यमके समान भयंकर, शत्रुओंका नाशक था। ऐसे उस अद्वितीय आग्नेयास्त्र रूपी सुदर्शन चक्रको मैंने अभिमन्त्रित करके उससे कहा कि तुम अपने बलसे मेरे जो यहां शत्रु हैं, उनको और सौभको नष्ट कर दो। ऐसा कहकर मैंने क्रोधसे और हाथके बलसे उसको शाल्वकी ओर छोडा ॥ ३०-३१ ॥

रूपं सुदर्शनस्यासीदाकाशे पततस्तदा ।
द्वितीयस्येव सूर्यस्य युगान्ते परिविष्यतः ॥ ३२ ॥

उस समय आकाशमें उडते हुए उस सुदर्शन-चक्रका ऐसा रूप प्रकट हुआ, जैसे प्रलयकालमें चारों ओरसे जगको जलाते हुए दूसरे सूर्यका होता है ॥ ३२ ॥

तत्समासाद्य नगरं सौभं व्यपगतत्विषम् ।
मध्येन पाटयामास क्रकचो दार्विवोच्छ्रितम् ॥ ३३ ॥

उस चक्रके लगते ही सौभ तेजहीन हो गया; उस चक्रने ऊंचे आकाशमें स्थित सौभनगरको बीचसे ऐसा काट दिया, जैसे आरा वृक्षको काटता है ॥ ३३ ॥

द्विधा कृतं ततः सौभं सुदर्शनबलाद्धतम् ।
महेश्वरशरोद्धूतं पपात त्रिपुरं यथा ॥ ३४ ॥

जैसे शिवके बाणसे नष्ट होकर त्रिपुरासुरका नगर पृथिवीपर गिर पडा था वैसे ही मेरे सुदर्शन-चक्रकी शक्तिसे कटकर दो टुकडोंमें बंटकर वह सौभनगर पृथिवीपर गिर पडा ॥ ३४ ॥

तस्मिन्निपतिते सौभे चक्रमागात्करं मम।
पुनश्चोद्धूय वेगेन शाल्वायेत्यहमब्रुवम् ॥ ३५ ॥
जब वह नगर गिर गया, तो वह चक्र वेगसे पुनः मेरे हाथहीमें आ गया, तब मैंने उसे लेकर वेगसे पुनः शाल्वकी ओर चलाया और " शाल्वको मारो " ऐसा कहा ॥ ३५ ॥

ततः शाल्वं गदां गुर्वीमाविध्यन्तं महाहवे।
द्विधा चकार सहसा प्रजज्वाल च तेजसा ॥ ३६ ॥
तब शाल्वने उस महायुद्धमें एक भारी गदा चक्रमें मारी, परन्तु चक्रने उसके शाल्वके समेत दो टुकडे कर दिया और तेजसे प्रकाशित होने लगा ॥ ३६ ॥

तस्मिन्निपतिते वीरे दानवास्त्रस्तचेतसः।
हाहाभूता दिशो जग्मुरर्दिता मम सायकैः ॥ ३७ ॥
जब वीर शाल्व मर गया, तो भयभीत चित्तवाले दानव मेरे बाणोंसे पीडित होकर हाहाकार करते हुए सब दिशाओंमें भागने लगे ॥ ३७ ॥

ततोऽहं समवस्थाप्य रथं सौभसमीपतः।
शङ्खं प्रध्माप्य हर्षेण सुहृदः पर्यहर्षयम् ॥ ३८ ॥
तब मैंने अपने रथको सौभके समीप खडा करके आनन्दसे शंख बजाकर अपने मित्रोंको आनन्दित किया ॥ ३८ ॥

तन्मेरुशिखराकारं विध्वस्ताट्टालगोपुरम्।
दह्यमानमभिप्रेक्ष्य स्त्रियस्ताः संप्रदुद्रुवुः ॥ ३९ ॥
और सौभनगर मेरुके शिखरके समान जलने लगा, उसके गोपुर और अट्टालिकाओंको जलते देखकर वहांकी स्त्रियां भी भाग गयीं ॥ ३९ ॥

एवं निहत्य समरे शाल्वं सौभं निपात्य च।
आनर्तान्पुनरागम्य सुहृदां प्रीतिमावहम् ॥ ४० ॥
हे राजन् ! इस प्रकार मैंने युद्धमें शाल्वको मार और सौभनगरको गिराकर पुनः द्वारिकामें आकर अपने मित्रोंकी प्रसन्नताको प्राप्त किया ॥ ४० ॥

एतस्मात्कारणाद्राजन्नागमं नागसाह्वयम्।
यद्यगां परवीरघ्न न हि जीवेत्सुयोधनः ॥ ४१ ॥
हे शत्रुनाशक युधिष्ठिर ! यही कारण हुआ जो मैं जुएके समय हस्तिनापुरमें नहीं आ सका, यदि मैं आ जाता तो दुर्योधन जीता ही न बचता ॥ ४१ ॥

*

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा महाबाहुः कौरवं पुरुषोत्तमः।
आमन्त्र्य प्रययौ श्रीमान्पाण्डवान्मधुसूदनः ॥ ४२ ॥

वैशम्पायन बोले– महाबाहु पुरुषोत्तम श्रीमान् मधुदैत्यके नाशक श्रीकृष्ण युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर पाण्डवोंकी आज्ञा लेकर चलनेके लिए तैय्यार हुए ॥ ४२ ॥

अभिवाद्य महाबाहुर्धर्मराजं युधिष्ठिरम्।
राज्ञा मूर्धन्युपाघ्रातो भीमेन च महाभुजः ॥ ४३ ॥

महाबाहु कृष्णने धर्मराज युधिष्ठिर और भीमसेनको प्रणाम किया, तब राजा युधिष्ठिर और भीमने उन महाबाहुके माथेको सूंघा ॥ ४३ ॥

सुभद्रामभिमन्युं च रथमारोप्य काञ्चनम्।
आरुरोह रथं कृष्णः पाण्डवैरभिपूजितः ॥ ४४ ॥

तब कृष्णने सुभद्रा और अभिमन्युको सोनेके रथपर चढाया और पाण्डवोंसे पूजित होकर कृष्ण स्वयं भी रथपर चढे ॥ ४४ ॥

सैन्यसुग्रीवयुक्तेन रथेनादित्यवर्चसा।
द्वारकां प्रययौ कृष्णः समाश्वास्य युधिष्ठिरम् ॥ ४५ ॥

इस प्रकार युधिष्ठिरको सांत्वना देकर कृष्ण सूर्यके समान तेजयुक्त और सैन्य सुग्रीव नामक घोडोंसे युक्त रथपर चढकर द्वारिकाको चले गए ॥ ४५ ॥

ततः प्रयाते दाशार्हे धृष्टद्युम्नोऽपि पार्षतः।
द्रौपदेयानुपादाय प्रययौ स्वपुरं तदा ॥ ४६ ॥

तब श्रीकृष्णके चले जानेपर पृषत्पुत्र धृष्टद्युम्न भी द्रौपदीके पांचों पुत्रोंको अपने साथ लेकर अपने नगरको चले गए ॥ ४६ ॥

धृष्टकेतुः स्वसारं च समादायाथ चेदिराट्।
जगाम पाण्डवान्दृष्ट्वा रम्यां शुक्तिमतीं पुरीम् ॥ ४७ ॥

चेदिदेशका राजा धृष्टकेतु भी अपनी बहन करेणुमती (नकुलकी पत्नी) को लेकर पाण्डवोंसे मिलकर अपनी रम्य शुक्तिमती नगरीको चला गया ॥ ४७ ॥

कैकेयाश्चाप्यनुज्ञाताः कौन्तेयेनामितौजसा।
आमन्त्र्य पाण्डवान्सर्वान्प्रययुस्तेऽपि भारत ॥ ४८ ॥

उसके बाद, हे भारत! कैकेय राजकुमार भी महा तेजस्वी युधिष्ठिरकी आज्ञा लेकर और सब पाण्डवोंसे अनुमति लेकर अपने स्थानको चले गये ॥ ४८ ॥

ब्राह्मणाश्च विशश्चैव तथा विषयवासिनः ।
विसृज्यमानाः सुभृशं न त्यजन्ति स्म पाण्डवान् ॥ ४९ ॥

पर युधिष्ठिरके राज्यमें रहनेवाले ब्राह्मण, बनिये पाण्डवोंके बहुत कहनेपर भी पाण्डवोंको छोडते नहीं थे ॥ ४९ ॥

समवायः स राजेन्द्र सुमहाद्भुतदर्शनः ।
आसीन्महात्मनां तेषां काम्यके भरतर्षभ ॥ ५० ॥

हे महाराज ! हे भरतर्षभ जनमेजय ! यह उस काम्यक वनमें उन महात्माओंका अद्भुत दर्शनवाला महान् समागम हुआ ॥ ५० ॥

युधिष्ठिरस्तु विप्रांस्ताननुमान्य महामनाः ।
शशास पुरुषान्काले रथान्योजयतेति ह ॥ ५१ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥ ८५१ ॥

तब महाराज युधिष्ठिरने उन ब्राह्मणोंकी अनुमति ले करके अच्छे कालमें अपने पुरुषोंको आज्ञा दी कि हमारे रथोंको जोडो ॥ ५१ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें तेईसवां अध्याय समाप्त ॥ २३ ॥ ८२१ ॥

ः २४ ः

वैशम्पायन उवाच

तस्मिन्दशार्हाधिपतौ प्रयाते युधिष्ठिरो भीमसेनार्जुनौ च ।
यमौ च कृष्णा च पुरोहितश्च रथान्महार्हान्परमाश्वयुक्तान् ॥ १ ॥
आस्थाय वीराः सहिता वनाय प्रतस्थिरे भूतपतिप्रकाशाः ।
हिरण्यनिष्कान्वसनानि गाश्च प्रदाय शिक्षाक्षरमन्त्रविद्भ्यः ॥ २ ॥

वैशम्पायन बोले— कि जब दशार्हदेशके स्वामी श्रीकृष्ण चले गए, तब युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव, द्रौपदी और पुरोहित धौम्य, यह सब मूल्यवान् और उत्तम घोडोंसे युक्त रथोंपर चढकर शिवके समान तेजस्वी वे वीर पाण्डव वेद वेदांग जाननेवाले ब्राह्मणों-को सुवर्ण निष्क १०२ सुवर्णकी मुद्रा अथवा कण्ठभूषण विशेष, वस्त्र, और गौ देकर वनको चले ॥ १-२ ॥

प्रेष्याः पुरो विंशतिरात्तशस्त्रा धनूंषि वर्माणि शरांश्च पीतान्।
मौर्वीश्च यन्त्राणि च सायकांश्च सर्वे समादाय जघन्यमीयुः ॥ ३ ॥
उनके शस्त्रनिपुण, वीस कर्मचारी भी धनुष, कवच, तेजस्वी बाण, ज्या (डोरी) यन्त्र और सायक लेकर पहले ही पश्चिम दिशामें स्थित द्वारिकाको चले गए थे ॥ ३ ॥

ततस्तु वासांसि च राजपुत्र्या धात्र्यश्च दास्यश्च विभूषणं च।
तदिन्द्रसेनस्त्वरितं प्रगृह्य जघन्यमेवोपययौ रथेन ॥ ४ ॥
तत्पश्चात् राजकुमारी सुभद्राके वस्त्रों, धायों, दासियों और आभूषणोंको लेकर इन्द्रसेन जल्दी ही रथसे पश्चिम दिशामें स्थित द्वारिकाको चला गया ॥ ४ ॥

ततः कुरुश्रेष्ठमुपेत्य पौराः प्रदक्षिणं चक्रुरदीनसत्त्वाः।
तं ब्राह्मणाश्चाभ्यवदन्प्रसन्ना मुख्याश्च सर्वे कुरुजाङ्गलानाम् ॥ ५ ॥
तब कुरुकुलश्रेष्ठ धर्मराजके समीप जाकर सब उदार हृदयवाले पुरवासियोंने उनकी प्रदक्षिणा की। कुरुजांगल देशके रहनेवालोंमें श्रेष्ठ लोगोंने और ब्राह्मणोंने प्रसन्न होकर उनसे कुछ वार्तालाप किया ॥ ५ ॥

स चापि तानभ्यवदत्प्रसन्नः सहैव तैर्भ्रातृभिर्धर्मराजः।
तस्थौ च तत्राधिपतिर्महात्मा दृष्ट्वा जनौघं कुरुजाङ्गलानाम् ॥ ६ ॥
और धर्मराज युधिष्ठिरने भी भाइयोंके साथ प्रसन्न चित्तसे उन सबसे बात की और कुरुदेशमें रहनेवाले लोगोंके समूहको देखकर महात्मा महाराज युधिष्ठिर ठहर गए ॥ ६ ॥

पितेव पुत्रेषु स तेषु भावं चक्रे कुरूणामृषभो महात्मा।
ते चापि तस्मिन्भरतप्रबर्हे तदा बभूवुः पितरीव पुत्राः ॥ ७ ॥
कुरुकुलमें श्रेष्ठ महात्मा युधिष्ठिरने उन पुरुषोंसे वैसाही व्यवहार किया जैसा पिता पुत्रोंसे करता है और उन लोगोंने भी उन भरतश्रेष्ठ महाराजसे वैसाही व्यवहार किया जैसा पुत्र पितासे करते हैं ॥ ७ ॥

ततः समासाद्य महाजनौघाः कुरुप्रवीरं परिवार्य तस्थुः।
हा नाथ हा धर्म इति ब्रुवन्तो ह्रिया च सर्वेऽश्रुमुखा बभूवुः ॥ ८ ॥
तब वह जनसमुदाय उन कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिरके पास जाकर उनको घेरकर बैठ गया। और वे सब " हा नाथ, हा धर्मराज " इस प्रकार कहते हुए लज्जासे आंसुओंसे पूर्ण मुखवाले हो गए ॥ ८ ॥

वरः कुरूणामधिपः प्रजानां पितेव पुत्रानपहाय चास्मान् ।
पौरानिमाञ्जानपदांश्च सर्वान्हित्वा प्रयातः क्व नु धर्मराजः ॥ ९ ॥
वह लोग कहने लगे, कि कुरुवंशियोंमें श्रेष्ठ, प्रजाके स्वामी धर्मराज, हमारे पिताके समान हैं, हम उनके पुत्र समान हैं, वे पुत्रके समान हमें तथा अन्य नगर और देशनिवासियोंको छोडकर कहां जाते हैं ? ॥ ९ ॥

धिग्धार्तराष्ट्रं सुनृशंसबुद्धिं ससौबलं पापमतिं च कर्णम् ।
अनर्थमिच्छन्ति नरेन्द्र पापा ये धर्मनित्यस्य सतस्तवोग्राः ॥ १० ॥
हे नरनाथ ! जो पापी और कठोर हृदयवाले वे कौरव सदा धर्माचरण करनेवाले आपके निमित्त अनर्थ करते हैं, उस दुष्ट बुद्धिवाले धृतराष्ट्र-पुत्रको धिक्कार है, शकुनी और पापी बुद्धिवाले कर्णको धिक्कार है ॥ १० ॥

स्वयं निवेश्याप्रतिमं महात्मा पुरं महद्देवपुरप्रकाशम् ।
शतक्रतुप्रस्थममोघकर्मा हित्वा प्रयातः क्व नु धर्मराजः ॥ ११ ॥
जो महात्मा महान् देव इन्द्रके नगरके समान अद्वितीय इन्द्रप्रस्थनगर बसाकर रह रहे थे, उसे छोडकर वह व्यर्थके कामोंको न करनेवाले धर्मराज कहां जाते हैं ? ॥ ११ ॥

चकार यामप्रतिमां महात्मा सभां मयो देवसभाप्रकाशाम् ।
तां देवगुप्तामिव देवमायां हित्वा प्रयातः क्व नु धर्मराजः ॥ १२ ॥
जिस सभाको महात्मा मयने देवसभाके समान अद्वितीय बनाया था, देवोंद्वारा रक्षित देव-मायाके समान उस सभाको छोडकर धर्मराज कहां जाते हैं ? ॥ १२ ॥

तान्धर्मकामार्थविदुत्तमौजा बीभत्सुरुच्चैः सहितानुवाच ।
आदास्यते वासमिमं निरुष्य वनेषु राजा द्विषतां यशांसि ॥ १३ ॥
इस प्रकारसे कहते हुए प्रजाके मुख्य लोगोंसे अर्थ और धर्मके जाननेवाले, तेजस्वी अर्जुनने उच्च स्वरमें यों कहा— महाराज युधिष्ठिर इस वनमें निवास करके और शत्रुओंके यशका नाश करके पुनः उन वस्तुओंको ग्रहण करेंगे ॥ १३ ॥

द्विजातिमुख्याः सहिताः पृथक्च भवद्भिरासाद्य तपस्विनश्च ।
प्रसाद्य धर्मार्थविदश्च वाच्या यथार्थसिद्धिः परमा भवेन्नः ॥ १४ ॥
आपलोग इकट्ठे होकर तथा पृथक् पृथक् रूपसे भी श्रेष्ठ ब्राह्मणों, तपस्वियों और धर्म और अर्थको जाननेवाले विद्वानोंसे प्रार्थना करते रहें ताकि हमें उत्तम सिद्धि प्राप्त हो ॥ १४ ॥

इत्येवमुक्ते वचनेऽर्जुनेन ते ब्राह्मणाः सर्ववर्णाश्च राजन् ।
मुदाभ्यनन्दन्सहिताश्च चक्रुः प्रदक्षिणं धर्मभृतां वरिष्ठम् ॥ १५ ॥
हे जनमेजय ! अर्जुनके यह वचन कहनेपर उन ब्राह्मणों तथा सब वर्णके लोगोंने एक स्वरसे प्रशंसा की और धर्मधारियोंमें श्रेष्ठ महाराज युधिष्ठिरकी प्रदक्षिणा की ॥ १५ ॥

आमन्त्र्य पार्थं च वृकोदरं च धनञ्जयं याज्ञसेनीं यमौ च।
प्रतस्थिरे राष्ट्रमपेतहर्षा युधिष्ठिरेणानुमता यथास्वम् ॥ १६ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥ ॥ ८३७ ॥

इसके बाद वे प्रजाजन महाराज पृथापुत्र युधिष्ठिर भीमसेन, अर्जुन, द्रौपदी, नकुल, सहदेवसे आज्ञा लेकर और दुःखी होकर युधिष्ठिरकी आज्ञाका यथोचित पालन कर अपने अपने घरको चले गए ॥ १६ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें चौवीसवां अध्याय समाप्त ॥ २४ ॥ ॥ ८३७ ॥

: २५ :

वैशम्पायन उवाच

ततस्तेषु प्रयातेषु कौन्तेयः सत्यसङ्गरः।
अभ्यभाषत धर्मात्मा भ्रातॄन्सर्वान्युधिष्ठिरः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– जब वे प्रजागण चले गए तो सत्यपालक, धर्मात्मा, कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर सब भाइयोंसे ऐसा बोले ॥ १ ॥

द्वादशेमाः समास्माभिर्वस्तव्यं निर्जने वने।
समीक्षध्वं महारण्ये देशं बहुमृगद्विजम् ॥ २ ॥

इन बारह वर्षोंतक हम लोगोंको निर्जन वनमें वसना है, अतः तुम लोग इस महावनमें ऐसा स्थान ढूंढो जहां बहुत हरिण और पक्षी हों। ॥ २ ॥

बहुपुष्पफलं रम्यं शिवं पुण्यजनोचितम्।
यत्रेमाः शरदः सर्वाः सुखं प्रतिवसेमहि ॥ ३ ॥

जो स्थान बहुत पुष्पों और फलोंसे रम्य, कल्याणमय और पुण्यशालियोंके रहनेके योग्य हो, जहां इन सब वर्षोंको हम सुखसे बिता सकें ॥ ३ ॥

एवमुक्ते प्रत्युवाच धर्मराजं धनञ्जयः।
गुरुवन्मानवगुरुं मानयित्वा मनस्विनम् ॥ ४ ॥

मानवोंके गुरु मनस्वी धर्मराजके ऐसे वचन सुनकर अर्जुन उनका गुरुके समान सन्मान करके कहने लगे। ॥ ४ ॥

अर्जुन उवाच

भवानेव महर्षीणां वृद्धानां पर्युपासिता ।
अज्ञातं मानुषे लोके भवतो नास्ति किंचन ॥ ५ ॥

अर्जुन बोले– हे भरतर्षभ ! आप स्वयं ही बडे बूढे और ऋषियोंके साथ रहनेवाले हैं, अतएव मनुष्य लोकमें ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसे आप नहीं जानते हों ॥ ५ ॥

त्वया ह्युपासिता नित्यं ब्राह्मणा भरतर्षभ ।
द्वैपायनप्रभृतयो नारदश्च महातपाः ॥ ६ ॥
यः सर्वलोकद्वाराणि नित्यं संचरते वशी ।
देवलोकाद्ब्रह्मलोकं गन्धर्वाप्सरसामपि ॥ ७ ॥

हे भरतश्रेष्ठ युधिष्ठिर ! आपने व्यास आदि ब्राह्मणोंके साथ जो देवलोकसे ब्रह्मलोक और वहांसे गन्धर्वलोक और अप्सरालोक आदि सब लोकोंके द्वारों पर रोज जाते हैं, उन जितेन्द्रिय महातपस्वी नारदके साथ भी आप रहे हैं ॥ ६–७ ॥

सर्वा गतीर्विजानासि ब्राह्मणानां न संशयः ।
प्रभावांश्चैव वेत्थ त्वं सर्वेषामेव पार्थिव ॥ ८ ॥

इसमें कोई सन्देह नहीं कि आप ब्राह्मणोंकी सब गतियोंको जानते हैं । हे राजन् ! आप उन सबके प्रभावोंको भी जानते हैं ॥ ८ ॥

त्वमेव राजञ्जानासि श्रेयःकारणमेव च ।
यत्रेच्छसि महाराज निवासं तत्र कुर्महे ॥ ९ ॥

हे राजन् ! कल्याणके कारणोंको भी आपही जानते हैं; अतः, हे महाराज ! जहां आपकी इच्छा हो हम सब भी वहीं निवास करेंगे ॥ ९ ॥

इदं द्वैतवनं नाम सरः पुण्यजनोचितम् ।
बहुपुष्पफलं रम्यं नानाद्विजनिषेवितम् ॥ १० ॥

यह द्वैतवन नामक तडाग है, जो पवित्र मनुष्योंके वासके योग्य है । यह बहुतसे फूलों और फलोंसे युक्त तथा अनेक तरहके पक्षीगणोंसे सेवित होनेके कारण बहुत ही रम्य है ॥ १० ॥

अत्रेमा द्वादश समा विहरेमेति रोचये ।
यदि तेऽनुमतं राजन्किं वान्यन्मन्यते भवान् ॥ ११ ॥

मुझे यही अच्छा प्रतीत होता है, कि यदि आपकी अनुमति हो तो हमलोग बारह वर्षोंतक यहीं विहार करें, अथवा, हे महाराज ! इसके बारेमें आपका क्या विचार है ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर उवाच

मम्राप्येतन्मतं पार्थ त्वया यत्समुदाहृतम् ।
गच्छाम पुण्यं विख्यातं महद्‌द्वैतवनं सरः ॥ १२ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे अर्जुन ! तुमने जो कहा है वही मेरी भी इच्छा है, अतएव हम सब अब पवित्र द्वैतवन नामक तडागको चलें ॥ १२ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते प्रययुः सर्वे पाडवा धर्मचारिणः ।
ब्राह्मणैर्बहुभिः सार्धं पुण्यं द्वैतवनं सरः ॥ १३ ॥

वैशम्पायन बोले– तब धर्मका आचरण करनेवाले वे सब पाण्डव वहांसे अनेक ब्राह्मणोंको संग लेकर पुण्यमय द्वैतवन नामक तालावको चले गये ॥ १३ ॥

ब्राह्मणाः साग्निहोत्राश्च तथैव च निरग्नयः ।
स्वाध्यायिनो भिक्षवश्च सजपा वनवासिनः ॥ १४ ॥

वहां अग्निहोत्र करनेवाले उसी प्रकार अग्निहोत्र न करनेवाले ब्राह्मण पढने और पढानेवाले और वनमें रहनेवाले जप करनेवाले भिक्षुक लोग आये ॥ १४ ॥

बहवो ब्राह्मणास्तत्र परिवव्रुर्युधिष्ठिरम् ।
तपस्विनः सत्यशीलाः शतशः संशितव्रताः ॥ १५ ॥

सैकडों ब्राह्मण, तपसे तपस्वी सत्यशील व्रतीलोग वहां आकर युधिष्ठिरको घेरकर खडे हो गए ॥ १५ ॥

ते यात्वा पाण्डवास्तत्र बहुभिर्ब्राह्मणैः सह ।
पुण्यं द्वैतवनं रम्यं विविशुर्भरतर्षभाः ॥ १६ ॥

वे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ पाण्डव अनेक ब्राह्मणोंके साथ मिलकर वहां जाकर रम्य और पवित्र द्वैतवनमें प्रविष्ट हुए ॥ १६ ॥

तच्छालतालाम्रमधूकनीपकदम्बसर्जार्जुनकर्णिकारैः ।
तपात्यये पुष्पधरैरुपेतं महावनं राष्ट्रपतिर्ददर्श ॥ १७ ॥

वहां राजेश्वर युधिष्ठिरने ग्रीष्म ऋतुकी समाप्तिपर फूलोंको धारण करनेवाले साल, ताड, आम, महुवा, नीप, कदम्ब, राल, अर्जुन और कचनार आदि वृक्षोंसे युक्त उस वनको देखा ॥ १७ ॥

महाद्रुमाणां शिखरेषु तस्थुर्मनोरमां वाचमुदीरयन्तः ।
मयूरदात्यूहचकोरसंघास्तस्मिन्वने काननकोकिलाश्च ॥ १८ ॥

उस वनमें उन बडे बडे वृक्षोंकी चोटियोंपर मोर, चातक, चकोर, और वनकी कोकिला आदि पक्षियोंका समूह मीठी बोली बोलते हुए बैठा हुआ था ॥ १८ ॥

करेणुयूथैः सह यूथपानां मदोत्कटानामचलप्रमाणाम् ।
महान्ति यूथानि महाद्विपानां तस्मिन्वने राष्ट्रपतिर्ददर्श ॥ १९ ॥

हथिनियोंके झुण्डके साथ मतवाले पहाडके समान शरीरवाले यूथपति बडे बडे हाथियोंके अनेक झुण्ड राष्ट्रपति युधिष्ठिरने उस जंगलमें देखे ॥ १९ ॥

मनोरमां भोगवतीमुपेत्य धृतात्मनां चीरजटाधराणाम् ।
तस्मिन्वने धर्मभृतां निवासे ददर्श सिद्धर्षिगणाननेकान् ॥ २० ॥

तदनन्तर राजाने मनोरम भोगवती-सरस्वतीके पास जाकर जटावल्कलधारी, आत्मज्ञानी तपस्वी धर्मात्मोंके लिए निवासके योग्य उस वनमें अनेक सिद्ध और ऋषियोंके गणोंको देखा ॥ २० ॥

ततः स यानादवरुह्य राजा सभ्रातृकः सजनः काननं तत् ।
विवेश धर्मात्मवतां वरिष्ठस्त्रिविष्टपं शक्र इवामितौजाः ॥ २१ ॥

तब धर्मको धारण करनेवालोंमें श्रेष्ठ उस राजाने अपने भाइयों तथा अन्य मनुष्योंके साथ रथसे उतरकर उस जंगलमें उसी तरह प्रवेश किया कि जिस प्रकार अत्यन्त तेजस्वी इन्द्र स्वर्गमें प्रवेश करते हैं ॥ २१ ॥

तं सत्यसन्धं सहिताभिपेतुर्दिदृक्षवश्चारणसिद्धसंघाः ।
वनौकसश्चापि नरेन्द्रसिंहं मनस्विनं संपरिवार्य तस्थुः ॥ २२ ॥

तब उन सत्यशील महाराज युधिष्ठिरको देखनेकी इच्छासे सिद्ध और चारणोंके समूह इकट्ठे होकर आए, तथा और भी वनवासी तपस्वी आकर महाराजको चारों ओरसे घेरकर खडे हो गए ॥ २२ ॥

स तत्र सिद्धानभिवाद्य सर्वान्प्रत्यर्चितो राजवद्देववच्च ।
विवेश सर्वैः सहितो द्विजाग्र्यैः कृताञ्जलिर्धर्मभृतां वरिष्ठः ॥ २३ ॥

तब महाराजने सब सिद्धोंको प्रणाम किया और उन सिद्धोंने भी इनकी देवता और राजाके समान पूजा की । तब धर्म जाननेवालोंमें उत्तम युधिष्ठिरने हाथ जोडकर सब श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके सहित वनमें प्रवेश किया ॥ २३ ॥

स पुण्यशीलः पितृवन्महात्मा तपस्विभिर्धर्मपरैरुपेत्य ।
प्रत्यर्चितः पुष्पधरस्य मूले महाद्रुमस्योपविवेश राजा ॥ २४ ॥

तदनन्तर वह पुण्यात्मा महात्मा राजा धर्मशील महातपस्वियोंसे पिताके समान सत्कार पाकर पूजा ग्रहण करके एक फूलोंसे भरे हुए भारी वृक्षके नीचे उसकी जडके पास बैठ गये ॥ २४ ॥

×

भीमश्च कृष्णा च धनञ्जयश्च यमौ च ते चानुचरा नरेन्द्रम्।
विमुच्य वाहानवरुह्य सर्वे तत्रोपतस्थुर्भरतप्रबर्हाः ॥ २५ ॥

तब उनके बैठनेके पश्चात् भरतश्रेष्ठ भीमसेन, द्रौपदी, अर्जुन, नकुल, सहदेव तथा और सब लोग भी अपने अपने रथोंसे उतरकर और घोडोंको खोलकर उसी वृक्षके नीचे बैठ गये ॥ २५ ॥

लतावतानावनतः स पाण्डवैर्महाद्रुमः पञ्चभिरुग्रधन्विभिः।
बभौ निवासोपगतैर्महात्मभिर्महागिरिर्वारणयूथपैरिव ॥ २६ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥ ८६३ ॥

तब लताओंसे भरनेके कारण झुकी हुई शाखावाला वह वृक्ष, निवास करनेके लिए आए हुए, महा धनुर्धारी पांच महात्मा पाण्डवोंसे ऐसा शोभित हुआ, जैसे एक बडा पर्वत पांच यूथपाल हाथियोंके बैठनेसे शोभित होता है ॥ २६ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें पच्चीसवां अध्याय समाप्त ॥ २५ ॥ ८६३ ॥

२६

वैशम्पायन उवाच

तत्काननं प्राप्य नरेन्द्रपुत्राः सुखोचिता वासमुपेत्य कृच्छ्रम्।
विजह्रुरिन्द्रप्रतिमाः शिवेषु सरस्वतीशालवनेषु तेषु ॥ १ ॥

इन्द्रके समान तेजस्वी वे राजपुत्र पाण्डव सुख भोगनेके योग्य होकर भी वनवासके संकटमें पडकर उस जंगलमें गए और उस द्वैतवनमें जाकर सरस्वती नदीके किनारे उन मंगलकारी शालके वनोंमें घूमने लगे ॥ १ ॥

यतींश्च सर्वान्स मुनींश्च राजा तस्मिन्वने मूलफलैरुदग्रैः।
द्विजातिमुख्यानृषभः कुरूणां संतर्पयामास महानुभावः ॥ २ ॥

उस वनमें कुरुओंमें श्रेष्ठ महानुभाव राजा युधिष्ठिरने अत्यन्त उत्तम मूल और फलोंसे सब यतियों, मुनियों और द्विजोंमें श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको तृप्त किया ॥ २ ॥

इष्टीश्च पित्र्याणि तथाग्रियाणि महावने वसतां पाण्डवानाम्।
पुरोहितः सर्वसमृद्धतेजाश्चकार धौम्यः पितृवत्कुरूणाम् ॥ ३ ॥

उस महावनमें रहनेवाले पाण्डवोंके पुरोहित अत्यन्त तेजस्वी धौम्य पिताके समान उन कुरुओंसे यज्ञ-याग, श्राद्ध-तर्पण आदि क्रियायें कराते रहते थे ॥ ३ ॥

अपेत्य राष्ट्राद्वसतां तु तेषामृषिः पुराणोऽतिथिराजगाम ।
तमाश्रमं तीव्रसमृद्धतेजा मार्कण्डेयः श्रीमतां पाण्डवानाम् ॥ ४ ॥

राज्यसे भ्रष्ट हुए वनवासी श्रीमान् उन पाण्डवोंके उस आश्रममें, महातेजस्वी, पुरातन महर्षि मार्कण्डेय अतिथि होकर आए ॥ ४ ॥

स सर्वविद् द्रौपदीं प्रेक्ष्य कृष्णां युधिष्ठिरं भीमसेनार्जुनौ च ।
संस्मृत्य रामं मनसा महात्मा तपस्विमध्येऽस्मयतामितौजाः ॥ ५ ॥

उन सर्वज्ञ मुनिने कृष्णा द्रौपदी, युधिष्ठिर, भीमसेन और अर्जुनको देखकर मन ही मन रामचन्द्रजीका स्मरण किया और महात्मा महातेजस्वी मार्कण्डेय तपस्वी लोगोंके मध्यमें मुस्कराने लगे ॥ ५ ॥

तं धर्मराजो विमना इवाब्रवीत्सर्वे ह्रिया सन्ति तपस्विनोऽमी ।
भवानिदं किं स्मयतीव हृष्टस्तपस्विनां पश्यतां मामुदीक्ष्य ॥ ६ ॥

तब धर्मराजने कुछ दुःखी होकर उनसे कहा— यह सब मुनीश्वर तो मेरी अवस्था देखकर लज्जितसे हो रहे हैं, आप सब तपस्वियोंके सामने मुझे देखकर प्रसन्न होकर क्यों हंसते हैं ? ॥ ६ ॥

मार्कण्डेय उवाच

न तात हृष्यामि न च स्मयामि प्रहर्षजो मां भजते न दर्पः ।
तवापदं त्वद्य समीक्ष्य रामं सत्यव्रतं दाशरथिं स्मरामि ॥ ७ ॥

मार्कण्डेय बोले— हे तात ! मैं न प्रसन्न हूं, न हंसता हूं, न मुझे कुछ आनन्दका अभिमान ही है, मैं तो आज तुम्हारी इस आपत्तिको देखकर सत्यव्रत, दशरथपुत्र रामका स्मरण करता हूं ॥ ७ ॥

स चापि राजा सह लक्ष्मणेन वने निवासं पितुरेव शासनात् ।
धन्वी चरन्पार्थ पुरा मयैव दृष्टो गिरेर्ऋष्यमूकस्य सानौ ॥ ८ ॥

हे पृथापुत्र युधिष्ठिर ! वह राजा भी लक्ष्मणके समेत पिताकी आज्ञासे वनमें जाकर रहे थे, पहले मैंने उन्हें ऋष्यमूक पर्वतकी चोटीपर धनुष धारण किये हुए घूमते देखा था ॥ ८ ॥

सहस्रनेत्रप्रतिमो महात्मा मयस्य जेता नमुचेश्च हन्ता ।
पितुर्निदेशादनघः स्वधर्मं वने वासं दाशरथिश्चकार ॥ ९ ॥

मयको जीतनेवाले, नमुचीके नाशक सहस्रनेत्र इन्द्रके समान तेजस्वी महात्मा, पापरहित, धर्मपालक दशरथके पुत्र रामने अपने पिताकी आज्ञासे वनमें वास किया था ॥ ९ ॥

स चापि शक्रस्य समग्रभावो महानुभावः समरेष्वजेयः ।
विहाय भोगानचरद्वनेषु नेशो बलस्येति चरेदधर्मम् ॥ १० ॥
वह भी इन्द्रके समान प्रभावशाली महानुभाव, युद्धमें अजेय, राजा राम भी सब भोगोंको छोडकर वनमें विचरे थे, इसलिए अपनेको बलका स्वामी समझकर अधर्मका आचरण न करे ॥ १० ॥

नृपाश्च नाभागभगीरथादयो महीमिमां सागरान्तां विजित्य ।
सत्येन तेऽप्यजयंस्तात लोकान्नेशो बलस्येति चरेदधर्मम् ॥ ११ ॥
हे तात! नाभाग और भगीरथादि राजाओंने समुद्रतक इस पृथिवीको जीतकर सत्यसे परलोकको जीता। अतएव " मैं शक्तिमान् हूँ " यह सोचकर अधर्म न करे ॥ ११ ॥

अलर्कमाहुर्नरवर्य सन्तं सत्यव्रतं काशिकरूषराजम् ।
विहाय राष्ट्राणि वसूनि चैव नेशो बलस्येति चरेदधर्मम् ॥ १२ ॥
हे पुरुषश्रेष्ठ! काशी और करूषदेशोंके राजा अलर्क सत्यशील और सन्त थे, पर वे भी राज्य और धनको छोडकर वनमें रहे। अतएव मनुष्य 'मैं शक्तिशाली हूँ' यह सोचकर अधर्मका आचरण न करे ॥ १२ ॥

धात्रा विधिर्यो विहितः पुराणस्तं पूजयन्तो नरवर्य सन्तः ।
सप्तर्षयः पार्थ दिवि प्रभान्ति नेशो बलस्येति चरेदधर्मम् ॥ १३ ॥
हे नरश्रेष्ठ पृथापुत्र युधिष्ठिर! ब्रह्माने जो भाग्यमें लिख दिया है, उसका मान करते हुए तथा नियमका पालन करते हुए सन्त सप्त ऋषि भी आजतक आकाशमें प्रकाशित होते हैं, अतः मनुष्य 'मैं शक्तिशाली हूँ' यह सोचकर अधर्मका आचरण न करे ॥ १३ ॥

महाबलान्पर्वतकूटमात्रान्विषाणिनः पश्य गजान्नरेन्द्र ।
स्थितान्निदेशे नरवर्य धातुर्नेशो बलस्येति चरेदधर्मम् ॥ १४ ॥
हे पुरुषश्रेष्ठ नरेन्द्र! महाबलशाली, पर्वतके समान शरीरवाले, दांतवाले हाथियोंको देखिये वे भी ब्रह्माकी आज्ञाहीमें रहते हैं, अतः मनुष्य 'मैं शक्तिशाली हूँ' यह सोचकर अधर्मका आचरण न करे ॥ १४ ॥

सर्वाणि भूतानि नरेन्द्र पश्य यथा यथावद्विहितं विधात्रा ।
स्वयोनितस्तत्कुरुते प्रभावान्नेशो बलस्येति चरेदधर्मम् ॥ १५ ॥
हे नरेन्द्र! सब प्राणियोंको देखिए, यह वैसे ही स्थिर हैं, जैसे ब्रह्माने निश्चित कर दिया है। अपनी योनिकी योग्यताके अनुसार सदा ही कर्म करते हैं, अतः 'मैं बलशाली हूं' ऐसा सोचकर मनुष्य अधर्मका आचरण न करे ॥ १५ ॥

सत्येन धर्मेण यथार्हवृत्त्या ह्रिया तथा सर्वभूतान्यतीत्य ।
यशश्च तेजश्च तवापि दीप्तं विभावसोर्भास्करस्येव पार्थ ॥ १६ ॥

हे कुन्तीपुत्र ! सत्य, धर्म, उचित वृत्ति और लज्जा आदि उत्तम गुणोंके कारण तुम दूसरोंसे श्रेष्ठ हो, तुम्हारा यश और प्रदीप्त तेज अग्नि और सूर्यके समान प्रकाशित हो रहा है ॥ १६ ॥

यथाप्रतिज्ञं च महानुभाव कृच्छ्रं वने वासमिमं निरुष्य ।
ततः श्रियं तेजसा स्वेन दीप्तामादास्यसे पार्थिव कौरवेभ्यः ॥ १७ ॥

हे महानुभाव राजन् ! तुम प्रतिज्ञाके अनुसार वनमें कठिन निवासकी अवधिको पूरा करके अपने तेजसे प्रकाशित लक्ष्मीको कौरवोंसे प्राप्त करोगे ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच

तमेवमुक्त्वा वचनं महर्षिस्तपस्विमध्ये सहितं सुहृद्भिः ।
आमन्त्र्य धौम्यं सहितांश्च पार्थास्ततः प्रतस्थे दिशमुत्तरां सः ॥ १८ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥ ८८१ ॥

वैशम्पायन बोले– सुहृद लोगोंके सहित, तपस्वियोंके मध्यमें बैठे हुए युधिष्ठिरसे मार्कण्डेय महर्षि ऐसे वचन कहकर धौम्यके सहित पाण्डवोंसे पूछकर उत्तर दिशाकी तरफ चले गए ॥ १८ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें छब्बीसवां अध्याय समाप्त ॥ २६ ॥ ८८१ ॥

: २७ :

वैशम्पायन उवाच

वसत्स्वथ द्वैतवने पाण्डवेषु महात्मसु ।
अनुकीर्णं महारण्यं ब्राह्मणैः समपद्यत ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– तब महात्मा पाण्डवोंके उस द्वैतवनमें रहनेके कारण वह महावन ब्राह्मणोंसे पूर्ण हो गया ॥ १ ॥

ईर्यमाणेन सततं ब्रह्मघोषेण सर्वतः ।
ब्रह्मलोकसमं पुण्यमासीद्द्वैतवनं सरः ॥ २ ॥

उस समय उच्चारित होनेवाले वेदोंकी ध्वनिसे वह द्वैतवन सब ओरसे ब्रह्मलोकके समान पवित्र बन गया ॥ २ ॥

यजुषामृचां च साम्नां च गद्यानां चैव सर्वशः।
आसीदुच्चार्यमाणानां निस्वनो हृदयङ्गमः ॥ ३ ॥

वहां चारों ओर पढे जाते हुए ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और ब्राह्मण ग्रन्थोंकी हृदय हरनेवाली ध्वनि सुनाई पडती थी ॥ ३ ॥

ज्याघोषः पाण्डवेयानां ब्रह्मघोषश्च धीमताम्।
संसृष्टं ब्रह्मणा क्षत्रं भूय एव व्यरोचत ॥ ४ ॥

वहां पाण्डवोंके धनुषोंके टंकारकी ध्वनि और ब्राह्मणोंके वेदपाठकी ध्वनि दोनोंके मिलनेपर ऐसा प्रतीत होता था कि मानों ब्राह्मणत्वके साथ क्षत्रियत्वका संयोग हो रहा हो ॥४॥

अथाब्रवीद्बको दाल्भ्यो धर्मराजं युधिष्ठिरम्।
सन्ध्यां कौन्तेयमासीनमृषिभिः परिवारितम् ॥ ५ ॥

तदनन्तर एकदिन दल्मके पुत्र बक मुनि ब्राह्मणोंसे घिरकर संध्यामें करते हुए कुन्तीनन्दन धर्मराज युधिष्ठिरसे कहने लगे ॥ ५ ॥

पश्य द्वैतवने पार्थ ब्राह्मणानां तपस्विनाम्।
होमवेलां कुरुश्रेष्ठ संप्रज्वलितपावकाम् ॥ ६ ॥

हे कुरुश्रेष्ठ पृथापुत्र ! देखिये, इस द्वैतवनमें तपस्वी ब्राह्मणोंका अग्निहोत्रका समय है, सर्वत्र अग्नि जल रही है ॥ ६ ॥

चरन्ति धर्मं पुण्येऽस्मिंस्त्वया गुप्ता धृतव्रताः।
भृगवोऽङ्गिरसश्चैव वासिष्ठाः काश्यपैः सह ॥ ७ ॥

हे महाराज ! आपसे सुरक्षित होकर इस पुण्य क्षेत्र वनमें व्रतोंको धारण करनेवाले भृगुवंशी, अङ्गिरावंशी, वसिष्ठवंशोद्भव, काश्यपोंके साथ धर्मका आचरण करते हैं ॥ ७ ॥

आगस्त्याश्च महाभागा आत्रेयाश्चोत्तमव्रताः।
सर्वस्य जगतः श्रेष्ठा ब्राह्मणाः संगतास्त्वया ॥ ८ ॥

उसी प्रकार महाभाग अगस्त्यवंशी और उत्तम व्रतधारी अत्रि वंशोत्पन्न, व्रतधारी, जगत्के श्रेष्ठ ब्राह्मण आपके साथ रहते हैं ॥ ८ ॥

इदं तु वचनं पार्थ शृण्वेकाग्रमना मम।
भ्रातृभिः सह कौन्तेय यत्त्वा वक्ष्यामि कौरव ॥ ९ ॥

हे कौरव ! हे कौन्तेय ! मैं जो कहूँ उन मेरे वचनोंको तुम भाइयोंके समेत एकाग्र मनसे सुनो ॥ ९ ॥

ब्रह्म क्षत्रेण संसृष्टं क्षत्रं च ब्रह्मणा सह ।
उदीर्णौ दहतः शत्रून्वनानीवाग्निमारुतौ ॥ १० ॥

ब्राह्मण क्षत्रियोंसे और क्षत्रिय ब्राह्मणोंसे मिलकर प्रकाशित होकर शत्रुओंका वैसेही नाश कर सकते हैं, जैसे अग्नि और वायु मिलकर वनका नाश कर देते हैं ॥ १० ॥

नाब्राह्मणस्तात चिरं बुभूषेदिच्छन्निमं लोकममुं च जेतुम् ।
विनीतधर्मार्थमपेतमोहं लब्ध्वा द्विजं नुदति नृपः सपत्नान् ॥ ११ ॥

जो राजा इस लोक और परलोकको जीतना चाहता हो, वह दीर्घकालतक ब्राह्मणके विना ही रहनेकी इच्छा न करे । जो धर्म और अर्थको जानता है तथा जिसका मोह नष्ट हो गया है, ऐसे ब्राह्मणको पाकर राजा जल्दी ही अपने शत्रुओंको नष्ट कर देता है ॥ ११ ॥

चरन्नैःश्रेयसं धर्मं प्रजापालनकारितम् ।
नाध्यगच्छद्बलिर्लोके तीर्थमन्यत्र वै द्विजात् ॥ १२ ॥

प्रजापालन और उत्तम धर्म करते हुए राजा बलिको भी इस लोकमें ब्राह्मणको छोडकर दूसरा कोई तीर्थ नहीं प्राप्त हुआ ॥ १२ ॥

अनूनमासीदसुरस्य कामैर्वैरोचनेः श्रीरपि चाक्षयासीत् ।
लब्ध्वा महीं ब्राह्मणसंप्रयोगात्तेष्वाचरन्दुष्टमतो व्यनश्यत् ॥ १३ ॥

उस विरोचनके पुत्र असुर बलिके उपभोगोंमें कोई कमी नहीं थी और उसकी लक्ष्मी भी अक्षय थी, ब्राह्मणोंकी सहायतासे उसने पृथ्वीका राज्य प्राप्त किया था, पर जब वह दुष्ट-बुद्धि बलि उन ब्राह्मणोंसे दुष्ट आचरण करने लगा तो वह नष्ट हो गया ॥ १३ ॥

नाब्राह्मणं भूमिरियं सभूतिर्वर्णं द्वितीयं भजते चिराय ।
समुद्रनेमिर्नमते तु तस्मै यं ब्राह्मणः शास्ति नयैर्विनीतः ॥ १४ ॥

जो ब्राह्मणकी सेवा नहीं करता उसके पास ऐश्वर्योंसे भरी यह पृथ्वी अधिक समयतक नहीं रहती है । पर जिस अन्य वर्ण अर्थात् क्षत्रिय पर नीतिज्ञ तथा विनीत ब्राह्मण शासन करता है उसके सामने समुद्रतकका सारा जगत् नम्र हो जाता है ॥ १४ ॥

कुञ्जरस्येव संग्रामेऽपरिगृह्याङ्कुशग्रहम् ।
ब्राह्मणैर्विप्रहीणस्य क्षत्रस्य क्षीयते बलम् ॥ १५ ॥

जैसे हाथियोंके युद्धमें महावतके विना योद्धाका बल घट जाता है, वैसे ही ब्राह्मणसे रहित क्षत्रियका बल क्षीण हो जाता है ॥ १५ ॥

ब्रह्मण्यनुपमा दृष्टिः क्षात्रमप्रतिमं बलम्।
तौ यदा चरतः सार्धमथ लोकः प्रसीदति ॥ १६ ॥

ब्राह्मणकी उपमारहित विद्या और क्षत्रियका असामान्य बल, यह दोनों जब मिलकर कार्य करते हैं, तो लोकमें आनन्द होता है ॥ १६ ॥

यथा हि सुमहानग्निः कक्षं दहति सानिलः।
तथा दहति राजन्यो ब्राह्मणेन समं रिपून् ॥ १७ ॥

जैसे वायुकी सहायता पाकर अग्नि बडे भारी काष्ठ आदिके समूहको भी भस्म कर देती है, वैसे ही ब्राह्मणकी सहायतासे क्षत्रिय बडे बडे शत्रुको भी जला देता है ॥ १७ ॥

ब्राह्मणेभ्योऽथ मेधावी बुद्धिपर्येषणं चरेत्।
अलब्धस्य च लाभाय लब्धस्य च विवृद्धये ॥ १८ ॥

बुद्धिमान् क्षत्रिय, विना प्राप्त हुई वस्तुकी प्राप्ति और प्राप्त हुईकी वृद्धिके लिए ब्राह्मणोंसे ही अपनी बुद्धिको प्राप्त करे ॥ १८ ॥

अलब्धलाभाय च लब्धवृद्धये यथार्हतीर्थप्रतिपादनाय।
यशस्विनं वेदविदं विपश्चितं बहुश्रुतं ब्राह्मणमेव वासय ॥ १९ ॥

हे युधिष्ठिर! तुम अप्राप्त वस्तुकी प्राप्ति और प्राप्तिकी वृद्धिके ठीक ठीक उपायोंके बतानेके लिए यशस्वी, वेद जाननेवाले, पण्डित, बहुश्रुत, ब्राह्मणहीको अपने यहां बसाओ ॥ १९ ॥

ब्राह्मणेषूत्तमा वृत्तिस्तव नित्यं युधिष्ठिर।
तेन ते सर्वलोकेषु दीप्यते प्रथितं यशः ॥ २० ॥

हे युधिष्ठिर! तुम्हारी वृत्ति ब्राह्मणोंमें सदा बहुत ही उत्तम है, इसीलिए तुम्हारा विस्तृत यश सब लोकोंमें प्रकाशित हो रहा है ॥ २० ॥

ततस्ते ब्राह्मणाः सर्वे बकं दाल्भ्यमपूजयन्।
युधिष्ठिरे स्तूयमाने भूयः सुमनसोऽभवन् ॥ २१ ॥

जब बकदाल्भ्य मुनिने युधिष्ठिरकी ऐसी प्रशंसा की, तो सब मुनि पुनः प्रसन्न होकर बकदाल्भ्यकी पूजा करने लगे ॥ २१ ॥

द्वैपायनो नारदश्च जामदग्न्यः पृथुश्रवाः।
इन्द्रद्युम्नो भालुकिश्च कृतचेताः सहस्रपात् ॥ २२ ॥

द्वैपायन (व्यास), नारद, जामदग्नि पृथुश्रवा, इन्द्रद्युम्न, भालुकि, कृतचेता, सहस्रपात् ॥ २२ ॥

कर्णश्रवाश्च मुञ्जश्च लवणाश्वश्च काश्यपः।
हारीतः स्थूणकर्णश्च अग्निवेश्योऽथ शौनकः ॥ २३ ॥

कर्णश्रवा, मुञ्ज, लवणाश्व, काश्यप, हारीत, स्थूणकर्ण, अग्निवेश्य और शौनक ॥ २३ ॥

ऋतवाक्च सुवाक्चैव बृहदश्व ऋतावसुः ।
ऊर्ध्वरेता वृषामित्रः सुहोत्रो होत्रवाहनः ॥ २४ ॥

ऋतवाक्, सुवाक्, बृहदश्व, ऋतावसु, उर्ध्वरेता वृषामित्र, सुहोत्र और होत्रवाहन ॥ २४ ॥

एते चान्ये च बहवो ब्राह्मणाः संशितव्रताः ।
अजातशत्रुमानर्चुः पुरन्दरमिवर्षयः ॥ २५ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥ ९०६ ॥

ये तथा दूसरे भी अनेकों व्रतधारी ब्राह्मण अजातशत्रु महाराज युधिष्ठिरकी वैसे ही पूजा करने लगे, जैसे इन्द्रकी ऋषिलोग करते हैं ॥ २५ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें सत्ताईसवां अध्याय समाप्त ॥ २७ ॥ ९०६ ॥

ः २८ ः

वैशम्पायन उवाच

ततो वनगताः पार्थाः सायाह्ने सह कृष्णया ।
उपविष्टाः कथाश्चक्रुर्दुःखशोकपरायणाः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— तदनन्तर वनवासी शोक और दुःखसे भरे हुए पाण्डव संध्यासमय द्रौपदीके साथ बैठकर वार्तालाप करने लगे ॥ १ ॥

प्रिया च दर्शनीया च पण्डिता च पतिव्रता ।
ततः कृष्णा धर्मराजमिदं वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

तब प्रिय, सुन्दरी, पण्डिता, पतिव्रता द्रौपदी धर्मराजसे यह वचन कहने लगी ॥ २ ॥

न नूनं तस्य पापस्य दुःखमस्मासु किंचन ।
विद्यते धार्तराष्ट्रस्य नृशंसस्य दुरात्मनः ॥ ३ ॥

उस पापी, निर्लज्ज, दुरात्मा, धृतराष्ट्रके पुत्रके हृदयमें हमारे लिए थोडासा भी दुःख नहीं है ॥ ३ ॥

यस्त्वां राजन्मया सार्धमजिनैः प्रतिवासितम् ।
भ्रातृभिश्च तथा सर्वैर्नाभ्यभाषत किंचन ।
वनं प्रस्थाप्य दुष्टात्मा नान्वतप्यत दुर्मतिः ॥ ४ ॥

हे राजन् ! मेरे तथा सभी भाईयों सहित आपको मृगछाला पहनाकर भी जिस दुष्टबुद्धि और दुष्ट आत्मावाले दुर्योधनको जरा भी दुःख नहीं हुआ तथा हमारे वन जाते समय भी कुछ नहीं बोला ॥ ४ ॥

आयसं हृदयं नूनं तस्य दुष्कृतकर्मणः।
यस्त्वां धर्मपरं श्रेष्ठं रूक्षाण्यश्रावयत्तदा ॥ ५ ॥

जिसने धर्म परायण और श्रेष्ठ आपको रूखी बातें सुनायी, उस दुष्कर्म करनेवाले दुर्योधनका हृदय निश्चयसे लोहेका बना हुआ है ॥ ५ ॥

सुखोचितमदुःखार्हं दुरात्मा ससुहृद्गणः।
ईदृशं दुःखमानीय मोदते पापपूरुषः ॥ ६ ॥

वह पापी, दुरात्मा सुखके योग्य और दुःखके अयोग्य, आपको इस दुर्दशामें डालकर स्वयं बन्धुओंके सहित सुख भोगता है ॥ ६ ॥

चतुर्णामेव पापानामश्रु वै नापतत्तदा।
त्वयि भारत निष्क्रान्ते वनायाजिनवाससि ॥ ७ ॥
दुर्योधनस्य कर्णस्य शकुनेश्च दुरात्मनः।
दुर्भ्रातुस्तस्य चोग्रस्य तथा दुःशासनस्य च ॥ ८ ॥

हे भारत! जब आप हरिण चर्म धारण करके वन जानेके लिए निकले थे, उस समय दुर्योधन, कर्ण, दुरात्मा शकुनी और उस बुरे भाई दुष्ट दुःशासन, इन चारों पापियोंके नेत्रोंसे आंसू भी नहीं गिरे थे ॥ ७-८ ॥

इतरेषां तु सर्वेषां कुरूणां कुरुसत्तम।
दुःखेनाभिपरीतानां नेत्रेभ्यः प्रापतज्जलम् ॥ ९ ॥

हे कुरुसत्तम! और दूसरे दुःखसे भरे हुए कौरवोंकी आंखोंसे आंसू गिरने लगे थे ॥ ९ ॥

इदं च शयनं दृष्ट्वा यच्चासीत्ते पुरातनम्।
शोचामि त्वां महाराज दुःखानर्हं सुखोचितम् ॥ १० ॥

हे महाराज! आपके पहिले पलङ्गको स्मरण कर और इस शयनस्थानको देखकर मैं सुखके योग्य और दुःखके अयोग्य आपके बारेमें ही शोक करती हूं ॥ १० ॥

दान्तं यच्च सभामध्ये आसनं रत्नभूषितम्।
दृष्ट्वा कुशबृसीं चेमां शोको मां रुन्धयत्ययम् ॥ ११ ॥

वह हाथीदांतका बना हुआ, सभाके मध्यमें शोभित, रत्नोंसे जडा हुआ आपका सिंहासनका स्मरण करके और यह कुशाके आसनको देखकर मुझे शोक घेर लेता है ॥ ११ ॥

यदपश्यं सभायां त्वां राजभिः परिवारितम्।
तच्च राजन्नपश्यन्त्याः का शान्तिर्हृदयस्य मे ॥ १२ ॥

हे महाराज! मैंने जिस आपको सभाके मध्यमें राजाओंसे घिरा देखा था, आज उन्हीं आपको अकेले और दुःखी देखकर मेरे हृदयको शान्ति कैसे मिल सकती है? ॥ १२ ॥

या त्वाहं चन्दनादिग्धमपश्यं सूर्यवर्चसम् ।
सा त्वा पङ्कमलादिग्धं दृष्ट्वा मुह्यामि भारत ॥ १३ ॥

हे भारत ! जिस मैंने आपको चन्दनसे लिप्त-शरीरवाला तथा सूर्यके समान तेजयुक्त देखा है, वहीं मैं आज धूलसे भी मैले शरीरवाले आपको देखकर मूर्च्छितसी हुई जाती हूं ॥१३॥

या वै त्वा कौशिकैर्वस्त्रैः शुभ्रैर्बहुधनैः पुरा ।
दृष्टवत्यस्मि राजेन्द्र सा त्वा पश्यामि चीरिणम् ॥ १४ ॥

हे राजेन्द्र ! जिस मैंने आपको उत्तम निर्मल और बहु मुल्य रेशमके वस्त्रोंको धारण किये देखा था, वही मैं आज आपको चर्म ओढे देखती हूं ॥ १४ ॥

यच्च तद्रुक्मपात्रीभिर्ब्राह्मणेभ्यः सहस्रशः ।
ह्रियते ते गृहादन्नं संस्कृतं सार्वकामिकम् ॥ १५ ॥

हे महाराज ! जो सोनेके बर्त्तनमें रखकर सहस्रों ब्राह्मणोंको सब कामनायुक्त उत्तम संस्कार किया हुआ, अन्न आपके घरसे मिलता था ॥ १५ ॥

यतीनामगृहाणां ते तथैव गृहमेधिनाम् ।
दीयते भोजनं राजन्नतीव गुणवत्प्रभो ।
तच्च राजन्नपश्यन्त्याः का शान्तिर्हृदयस्य मे ॥ १६ ॥

हे प्रभो राजन् ! जो ब्रह्मचारी और घरमें रहनेवाले यतियोंको उत्तम गुणयुक्त भोजन दिया जाता था, हे राजन्! उस सबको अब न देखते हुए मेरे हृदयको शान्ति कैसे मिल सकती है ? ॥ १६ ॥

यांस्ते भ्रातॄन्महाराज युवानो मृष्टकुण्डलाः ।
अभोजयन्त मृष्टान्नैः सूदाः परमसंस्कृतैः ॥ १७ ॥

हे महाराज ! जिन आपके भाइयोंको कुण्डलधारी युवा रसोइये परम उत्तम संस्कार किये सुस्वादु अन्नका भोजन कराते थे ॥ १७ ॥

सर्वांस्तानद्य पश्यामि वने वन्येन जीवतः ।
अदुःखार्हान्मनुष्येन्द्र नोपशाम्यति मे मनः ॥ १८ ॥

उन्हीं सबको आज वनमें फल, मूल आदि खाकर जीते देखती हूं । हे नरनाथ ! तुम्हारे इन दुःखोंके अयोग्य भाइयोंकी यह दशा देखकर मेरा मन शान्त नहीं होता ॥ १८ ॥

भीमसेनमिमं चापि दुःखितं वनवासिनम् ।
ध्यायन्तं किं न मन्युस्ते प्राप्ते काले विवर्धते ॥ १९ ॥

हे महाराज ! इन भीमसेनको भी दुःखित और वनवासी देखकर इनके दुःखका ध्यान करके तथा काल प्राप्त होनेपर भी क्या आपका क्रोध नहीं बढता ? ॥ १९ ॥

भीमसेनं हि कर्माणि स्वयं कुर्वाणमच्युत।
सुखार्हं दुःखितं दृष्ट्वा कस्मान्मन्युर्न वर्धते ॥ २० ॥

हे अच्युत! सुखके योग्य इस भीमसेनको सब काम अपने हाथोंसे करते एवं दुःखित होते हुए देखकर भी आपका क्रोध क्यों नहीं बढता? ॥ २० ॥

सत्कृतं विविधैर्यानैर्वस्त्रैरुच्चावचैस्तथा।
तं ते वनगतं दृष्ट्वा कस्मान्मन्युर्न वर्धते ॥ २१ ॥

अनेक तरहके बहुमूल्य वस्त्रोंको पहनकर यानोंपर चढकर चलनेवाले उसी भीमसेनको आज वनमें पैदल चलता हुआ देखकर भी आपका क्रोध क्यों नहीं बढता? ॥ २१ ॥

कुरूनपि हि यः सर्वान्हन्तुमुत्सहते प्रभुः।
त्वत्प्रसादं प्रतीक्षंस्तु सहतेऽयं वृकोदरः ॥ २२ ॥

जो भीमसेन अकेलाही धृतराष्ट्रके सब पुत्रोंको नाश करनेकी शक्ति रखते हैं, यह केवल आपकी आज्ञाकी प्रतीक्षा करते हुए सब सह रहे हैं ॥ २२ ॥

योऽर्जुनेनार्जुनस्तुल्यो द्विबाहुर्बहुबाहुना।
शरातिसर्गे शीघ्रत्वात्कालान्तकयमोपमः ॥ २३ ॥

जो दो बाहुवाले अर्जुन सहस्र बाहुवाले कार्तवीर्य अर्जुनके तुल्य हैं, जो बाणोंको शीघ्र चलाने और शत्रुको मारनेमें काल, अन्तक और यमराजके समान भयंकर हैं ॥ २३ ॥

यस्य शस्त्रप्रतापेन प्रणताः सर्वपार्थिवाः।
यज्ञे तव महाराज ब्राह्मणानुपतस्थिरे ॥ २४ ॥

हे महाराज! जिनके शस्त्रके प्रतापसे सब राजालोग नम्र बनकर आपके यज्ञमें ब्राह्मणोंकी सेवा कर रहे थे ॥ २४ ॥

तमिमं पुरुषव्याघ्रं पूजितं देवदानवैः।
ध्यायन्तमर्जुनं दृष्ट्वा कस्मान्मन्युर्न वर्धते ॥ २५ ॥

देव और दानवोंसे पूजित उन इस नरसिंह अर्जुनको चिन्तायुक्त देखकर, हे महाराज! आपको क्रोध क्यों नहीं आता? ॥ २५ ॥

दृष्ट्वा वनगतं पार्थमदुःखार्हं सुखोचितम्।
न च ते वर्धते मन्युस्तेन मुह्यामि भारत ॥ २६ ॥

दुःख सहनेके अयोग्य, और सुख भोगनेके योग्य कुन्तीनन्दन अर्जुनको वनमें निवास करते देखकर भी आपको क्रोध नहीं आता इसीसे मुझे मोह होता है ॥ २६ ॥

योे देवांश्च मनुष्यांश्च सर्पांश्चैकरथोऽजयत्।
तं ते वनगतं दृष्ट्वा कस्मान्मन्युर्न वर्धते ॥ २७ ॥

जिन्होंने एक ही रथसे देवता, मनुष्य और सर्पोंको जीता था, उनको वनमें घूमते देखकर आपका क्रोध क्यों नहीं बढता? ॥ २७ ॥

यो यानैरद्भुताकारैर्हयैर्नागैश्च संवृतः।
प्रसह्य वित्तान्यादत्त पार्थिवेभ्यः परन्तपः ॥ २८ ॥

जिन शत्रुनाशक अर्जुनने अद्भुत रूपवाले रथों, हाथियों और घोडोंकी सेनासे राजाओंको हराकर उनसे धन छीन लिया था ॥ २८ ॥

क्षिपत्येकेन वेगेन पञ्च बाणशतानि यः।
तं ते वनगतं दृष्ट्वा कस्मान्मन्युर्न वर्धते ॥ २९ ॥

जो एक ही वारमें पांचसौ बाण छोडते हैं उन अर्जुनको वनमें घूमता देखकर आपका क्रोध क्यों नहीं बढता? ॥ २९ ॥

श्यामं बृहन्तं तरुणं चर्मिणामुत्तमं रणे।
नकुलं ते वने दृष्ट्वा कस्मान्मन्युर्न वर्धते ॥ ३० ॥

देखनेमें सुन्दर, उद्यमी, युवा और युद्धमें तलवार ढाल चलानेवालोंमें श्रेष्ठ नकुलको वनमें देखकर आपका क्रोध क्यों नहीं बढता? ॥ ३० ॥

दर्शनीयं च शूरं च माद्रीपुत्रं युधिष्ठिर।
सहदेवं वने दृष्ट्वा कस्मान्मन्युर्न वर्धते ॥ ३१ ॥

हे युधिष्ठिर! मनोहर रूपवाले, शूरवीर माद्रीपुत्र सहदेवको वनमें घूमता देखकर आपका क्रोध क्यों नहीं बढता? ॥ ३१ ॥

द्रुपदस्य कुले जातां स्नुषां पाण्डोर्महात्मनः।
मां ते वनगतां दृष्ट्वा कस्मान्मन्युर्न वर्धते ॥ ३२ ॥

हे राजन्! द्रुपदके कुलमें उत्पन्न हुई, महात्मा पाण्डुकी पुत्रवधू, मुझको वनमें फिरती देखकर भी आपका क्रोध क्यों नहीं बढता? ॥ ३२ ॥

नूनं च तव नैवास्ति मन्युर्भरतसत्तम।
यत्ते भ्रातॄंश्च मां चैव दृष्ट्वा न व्यथते मनः ॥ ३३ ॥

हे भरतवंशियों श्रेष्ठ! [इतने पर भी आपका क्रोध नहीं बढता, इससे] निश्चय होता है, कि यथार्थमें आपमें क्रोधही नहीं है। इसी कारण आपका मन अपने भाइयोंको और मुझे देखकर भी पीडित नहीं होता ॥ ३३ ॥

न निर्मन्युः क्षत्रियोऽस्ति लोके निर्वचनं स्मृतम् ।
तदद्य त्वयि पश्यामि क्षत्रिये विपरीतवत् ॥ ३४ ॥

लोकमें क्षत्रियकी परिभाषा ही यह है कि जिसमें क्रोध हो वही क्षत्रिय है और जिसमें क्रोध न हो वह क्षत्रिय नहीं है, आज मैं क्षत्रियकुलमें उत्पन्न आपमें उसका विपरीत भाव ही देखती हूं! ॥ ३४ ॥

यो न दर्शयते तेजः क्षत्रियः काल आगते ।
सर्वभूतानि तं पार्थ सदा परिभवन्त्युत ॥ ३५ ॥

हे पृथापुत्र! जो क्षत्रिय समयके आनेपर भी क्रोध नहीं प्रदर्शित करता है, सब प्राणी उसका सदा ही पराभव करते हैं ॥ ३५ ॥

तत्त्वया न क्षमा कार्या शत्रून्प्रति कथंचन ।
तेजसैव हि ते शक्या निहन्तुं नात्र संशयः ॥ ३६ ॥

इस कारण आपके शत्रुओंको कदापि क्षमा नहीं करना चाहिये, इसमें सन्देह नहीं है, कि वे शत्रु क्रोधसेही मारे जा सकेंगे ॥ ३६ ॥

तथैव यः क्षमाकाले क्षत्रियो नोपशाम्यति ।
अप्रियः सर्वभूतानां सोऽमुत्रेह च नश्यति ॥ ३७ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि अष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥ ९४२ ॥

इसी प्रकार जो क्षत्रिय क्षमाके योग्य समयमें शान्त नहीं रहता वह सब प्राणियोंका अप्रिय हो जाता है और उसके यह लोक और परलोक दोनों नष्ट हो जाते हैं ॥ ३७ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें अट्ठाईसवां अध्याय समाप्त ॥ २८ ॥ ९४२ ॥

२९

द्रौपद्युवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
प्रह्लादस्य च संवादं बलेर्वैरोचनस्य च ॥ १ ॥

द्रौपदी बोली– इस विषयमें इस पुराने इतिहासका लोग उदाहरण दिया करते हैं, जिसमें प्रह्लाद और विरोचनके पुत्र बलिका संवाद वर्णित है ॥ १ ॥

असुरेन्द्रं महाप्राज्ञं धर्माणामागतागमम् ।
बलिः पप्रच्छ दैत्येन्द्रं प्रह्लादं पितरं पितुः ॥ २ ॥

महाबुद्धिमान् धर्म-तत्त्वोंको जाननेवाले असुरोंके स्वामी दैत्येन्द्र तथा अपने पिताके पिता प्रह्लादसे बलिने पूछा ॥ २ ॥

क्षमा स्विच्छ्रेयसी तात उताहो तेज इत्युत ।
एतन्मे संशयं तात यथावद्ब्रूहि पृच्छते ॥ ३ ॥

हे तात ! मुझे एक बातमें बडा सन्देह है, कि क्षमा उत्तम है, वा क्रोध उत्तम है ? मैं आपसे पूछता हूं, आप यथार्थ रूपसे कहिये ॥ ३ ॥

श्रेयो यदत्र धर्मज्ञ ब्रूहि मे तदसंशयम् ।
करिष्यामि हि तत्सर्वं यथावदनुशासनम् ॥ ४ ॥

हे धर्मज्ञ ! जो इनमें उत्तम हो, उसे आप संशयरहित होकर मुझसे कहिये; आपकी जैसी आज्ञा होगी वैसा ही सब मैं करूंगा ॥ ४ ॥

तस्मै प्रोवाच तत्सर्वमेवं पृष्टः पितामहः ।
सर्वनिश्चयवित्प्राज्ञः संशयं परिपृच्छते ॥ ५ ॥

ऐसा प्रश्न करनेवाले बलिसे सबको निश्चयपूर्वक जाननेवाले पितामह प्रह्लादने सब बातें इस प्रकार कहीं ॥ ५ ॥

प्रह्लाद उवाच

न श्रेयः सततं तेजो न नित्यं श्रेयसी क्षमा ।
इति तात विजानीहि द्वयमेतदसंशयम् ॥ ६ ॥

प्रह्लाद बोले– न सदा क्रोध ही उत्तम है, और न सदा क्षमाही श्रेष्ठ है । हे प्रिय ! इनको तुम सन्देहरहित होकर समझ लो ॥ ६ ॥

यो नित्यं क्षमते तात बहून्दोषान्स विन्दति ।
भृत्याः परिभवन्त्येनमुदासीनास्तथैव च ॥ ७ ॥

हे तात ! जो सदा क्षमा किया करता है, उसे बहुत दुःख भोगने पडते हैं; उसके सेवक भी उसका अनादर करते हैं, और उससे उदासीन हो जाते हैं ॥ ७ ॥

सर्वभूतानि चाप्यस्य न नमन्ते कदाचन ।
तस्मान्नित्यं क्षमा तात पण्डितैरपवादिता ॥ ८ ॥

हे पुत्र ! क्षमावाले मनुष्यके आगे कोई भी प्राणी नम्र नहीं होता; इस कारण सदा ही क्षमा करनेकी बातको पण्डितोंने भी निंदित माना है ॥ ८ ॥

अवज्ञाय हि तं भृत्या भजन्ते बहुदोषताम् ।
आदातुं चास्य वित्तानि प्रार्थयन्तेऽल्पचेतसः ॥ ९ ॥

क्षमाशील मनुष्यके सेवक उसकी अवहेलना करके बहुतसे दोषोंको करते हैं और वे मन्द-बुद्धि सेवक उसके धनको भी हडप लेनेकी कोशिश करते हैं ॥ ९ ॥

यानं वस्त्राण्यलङ्कारान्शयनान्यासनानि च ।
भोजनान्यथ पानानि सर्वोपकरणानि च ॥ १० ॥
आददीरन्नधिकृता यथाकाममचेतसः ।
प्रदिष्टानि च देयानि न दद्युर्भर्तृशासनात् ॥ ११ ॥

विभिन्न पदोंपर नियुक्त हुए मूर्ख सेवक अपने क्षमाशील स्वामीके रथ, वस्त्र, अलंकार, शयन, आसन, खाने पीनेकी सामग्री तथा अन्यान्य पदार्थोंका इच्छानुसार उपयोग किया करते हैं तथा स्वामीकी आज्ञा होनेपर भी देने योग्य चीजोंको नहीं देते हैं ॥ १०-११ ॥

न चैनं भर्तृपूजाभिः पूजयन्ति कदाचन ।
अवज्ञानं हि लोकेऽस्मिन्मरणादपि गर्हितम् ॥ १२ ॥

सेवकलोग क्षमाशीलका मालिकके समान कभी आदर नहीं करते हैं और इस लोकमें अनादर मरणसे भी बुरा है ॥ १२ ॥

क्षमिणं तादृशं तात ब्रुवन्ति कटुकान्यपि ।
प्रेष्याः पुत्राश्च भृत्याश्च तथोदासीनवृत्तयः ॥ १३ ॥

सदा क्षमा करनेवाले मनुष्यसे, हे तात ! उसके अपने सेवक, पुत्र, भृत्य और उदासीन वृत्तिके लोग कडी बातें भी कह जाते हैं ॥ १३ ॥

अप्यस्य दारानिच्छन्ति परिभूय क्षमावतः ।
दाराश्चास्य प्रवर्तन्ते यथाकाममचेतसः ॥ १४ ॥

इस प्रकारके क्षमाशीलको हराकर लोग उसकी स्त्रियोंको भी भगा ले जाना चाहते हैं और उस मूर्खकी स्त्रियां भी स्वेच्छानुसार विहार करने लग जाती हैं ॥ १४ ॥

तथा च नित्यमुदिता यदि स्वल्पमपीश्वरात् ।
दण्डमर्हन्ति दुष्यन्ति दुष्टाश्चाप्यपकुर्वते ॥ १५ ॥

इस प्रकार उस क्षमाशीलकी स्त्रियां हमेशा मौज करनेवाली होनेके कारण यदि अपने स्वामीसे जरा-सा भी दण्डित होती हैं, तो वे और अधिक दुष्ट हो जाती हैं और दुष्ट होकर अपने स्वामीका अपकार करती हैं ॥ १५ ॥

एते चान्ये च बहवो नित्यं दोषाः क्षमावताम् ।
अथ वैरोचने दोषानिमान्विद्ध्यक्षमावताम् ॥ १६ ॥

हे विरोचननन्दन ! इन दोषोंके सिवाय और भी बहुतसे दोष क्षमाशील लोगोंको भोगने पडते हैं । अब क्रोधी लोगोंके दोषोंको सुनो ॥ १६ ॥

अस्थाने यदि वा स्थाने सततं रजसावृतः ।
क्रुद्धो दण्डान्प्रणयति विविधान्स्वेन तेजसा ॥ १७ ॥

उचित अथवा अनुचित स्थानमें हमेशा रजोगुणसे आवृत और क्रोधमें भरकर अपने आधीन पुरुषोंको जो दण्ड देता है ॥ १७ ॥

मित्रैः सह विरोधं च प्राप्नुते तेजसावृतः ।
प्राप्नोति द्वेष्यतां चैव लोकात्स्वजनतस्तथा ॥ १८ ॥

वह क्रोधके वशमें होनेके कारण अपने मित्रोंका विरोधी बनता है, और जगत्में अपने ही आदमियोंसे द्वेषको प्राप्त होता है, अर्थात् मित्रलोग उससे द्वेष रखने लगते हैं ॥ १८ ॥

सोऽवमानादर्थहानिमुपालम्भमनादरम् ।
संतापद्वेषलोभांश्च शत्रूंश्च लभते नरः ॥ १९ ॥

दूसरोंका सदा ही अपमान करनेके कारण उसकी हमेशा धनहानि होती है, सदा ही उपालम्भ सुनता और अपमानित होता है, ऐसा मनुष्य हमेशा दुःखी रहता है, द्वेष और लोभसे ग्रस्त रहता है, और शत्रुओंका निर्माण करता है ॥ १९ ॥

क्रोधाद्दण्डान्मनुष्येषु विविधान्पुरुषो नयन् ।
भ्रश्यते शीघ्रमैश्वर्यात्प्राणेभ्यः स्वजनादपि ॥ २० ॥

जो क्रोधके वशमें होकर अन्यायसे मनुष्योंको विविध दण्ड देता है, वह शीघ्र ही ऐश्वर्य, अपने मित्र और प्राणोंसे भी भ्रष्ट हो जाता है ॥ २० ॥

योऽपकर्तॄंश्च कर्तॄंश्च तेजसैवोपगच्छति ।
तस्मादुद्विजते लोकः सर्पाद्वेश्मगतादिव ॥ २१ ॥

जो अपने अपकारी और उपकारीके साथ क्रोधपूर्वक व्यवहार करता है, उससे लोग उसी तरह डरते हैं, जैसे घरमें बैठे हुए सांपसे ॥ २१ ॥

यस्मादुद्विजते लोकः कथं तस्य भवो भवेत् ।
अन्तरं ह्यस्य दृष्ट्वैव लोको विकुरुते ध्रुवम् ।
तस्मान्नात्युत्सृजेत्तेजो न च नित्यं मृदुर्भवेत् ॥ २२ ॥

और जिससे जगत्के लोग घबडाते हैं, उसका कल्याण कैसे हो सकता है ? यह निश्चय है, कि वही लोग समय देखकर उसकी हानि अवश्य करते हैं; अतएव सदा क्रोधहीमें नहीं रहना चाहिये और न नित्य मृदु होकर रहना ही उचित है ॥ २२ ॥

काले मृदुर्यो भवति काले भवति दारुणः ।
स वै सुखमवाप्नोति लोकेऽमुष्मिन्निहैव च ॥ २३ ॥
जो समयपर कोमल और समयपर क्रोधी होता है, वही इस लोक और परलोकमें सुखको प्राप्त करता है ॥ २३ ॥

क्षमाकालांस्तु वक्ष्यामि शृणु मे विस्तरेण तान् ।
ये ते नित्यमसंत्याज्या यथा प्राहुर्मनीषिणः ॥ २४ ॥
पण्डित लोगोंने जो क्षमाके समय कहे हैं; जिनको पुरुषोंको कदापि नहीं छोडना चाहिये, उनको मैं विस्तारसहित कहता हूँ तुम सुनो ॥ २४ ॥

पूर्वोपकारी यस्तु स्यादपराधेऽगरीयसि ।
उपकारेण तत्तस्य क्षन्तव्यमपराधिनः ॥ २५ ॥
जिसने पहिले कोई उपकार किया हो वह कभी छोटा-सा अपराध भी कर दे, तो उस अपराधीके पूर्व उपकारका स्मरण करके उसे क्षमा कर दे ॥ २५ ॥

अबुद्धिमाश्रितानां च क्षन्तव्यमपराधिनाम् ।
न हि सर्वत्र पाण्डित्यं सुलभं पुरुषेण वै ॥ २६ ॥
जो मूर्ख निर्बुद्धि होनेके कारण कोई अपराध कर दे, तो वह भी क्षमा करने योग्य है, क्योंकि पुरुष सर्वत्र पाण्डित्य प्राप्त कर ले, यह संभव नहीं ॥ २६ ॥

अथ चेद्बुद्धिजं कृत्वा ब्रूयुस्ते तदबुद्धिजम् ।
पापान्स्वल्पेऽपि तान्हन्यादपराधे तथानृजून् ॥ २७ ॥
पर जो दुष्टात्मा जानबूझकर थोडासा भी अपराध करे और कहे कि मैंने विना जाने किया है, तो उस जैसे कुटिल पापियोंको थोडासा अपराध होनेपर भी अवश्य ही मार डालना चाहिये ॥ २७ ॥

सर्वस्यैकोऽपराधस्ते क्षन्तव्यः प्राणिनो भवेत् ।
द्वितीये सति वध्यस्तु स्वल्पेऽप्यपकृते भवेत् ॥ २८ ॥
सब प्राणियोंका एक ही बार किया हुआ अपराध क्षमाके योग्य हो सकता है । पर यदि वही फिर दूसरी बार थोडा भी अपराध करे, तो उसे अवश्य मार देना चाहिए ॥ २८ ॥

अजानता भवेत्कश्चिदपराधः कृतो यदि ।
क्षन्तव्यमेव तस्याहुः सुपरीक्ष्य परीक्षया ॥ २९ ॥
यदि विना जाने कोई पुरुष किसी अपराधको कर दे, तो उसकी परीक्षा उत्तमरूपसे करके उसे क्षमा कर देना चाहिये ॥ २९ ॥

मृदुना मार्दवं हन्ति मृदुना हन्ति दारुणम् ।
नासाध्यं मृदुना किंचित्तस्मात्तीक्ष्णतरो मृदुः ॥ ३० ॥

क्योंकि क्षमाहीसे साधु मारे जाते हैं और कोमलतासे ही असाधु भी मारे जाते हैं; क्षमासे कुछ भी असाध्य नहीं है, अतएव क्षमा ही अत्यन्त तेज है ॥ ३० ॥

देशकालौ तु संप्रेक्ष्य बलाबलमथात्मनः ।
नादेशकाले किंचित्स्याद्देशः कालः प्रतीक्ष्यते ।
तथा लोकभयाच्चैव क्षन्तव्यमपराधिनः ॥ ३१ ॥

देशकाल तथा अपना बल और दुर्बलता देखकर सब कार्य करना उचित है, क्योंकि अयोग्य देश और अयोग्य कालमें कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता इसलिए योग्य देश और कालकी प्रतीक्षा करनी चाहिए । उसी प्रकार लोकके भयसे भी अपराधको क्षमा करना चाहिये ॥ ३१ ॥

एत एवंविधाः कालाः क्षमायाः परिकीर्तिताः ।
अतोऽन्यथानुवर्तत्सु तेजसः काल उच्यते ॥ ३२ ॥

इस प्रकारसे क्षमाके लिए योग्य समय कहे गए हैं इसके विपरीत जो उलटे मार्ग पर चलते हैं, उन्हें सीधे मार्गपर लानेके लिए तेज या क्रोधका अवसर ही बताया गया है ॥ ३२ ॥

द्रौपद्युवाच

तदहं तेजसः कालं तव मन्ये नराधिप ।
धार्तराष्ट्रेषु लुब्धेषु सततं चापकारिषु ॥ ३३ ॥

द्रौपदी बोली– अतः हे महाराज ! लोभी, आपका निरन्तर अपकार करनेवाले धृतराष्ट्रके पुत्रों पर आपका तेज प्रकट करनेका अवसर आ गया है, ऐसा मैं मानती हूँ ॥ ३३ ॥

न हि कश्चित्क्षमाकालो विद्यतेऽद्य कुरून्प्रति ।
तेजसश्चागते काले तेज उत्स्रष्टुमर्हसि ॥ ३४ ॥

अब कौरवोंके ऊपर क्षमा करनेका कोई समय नहीं है; अब तेजके कालके आ जानेपर आप उन पर तेज गिराइए ॥ ३४ ॥

मृदुर्भवत्यवज्ञातस्तीक्ष्णादुद्विजते जनः ।
काले प्राप्ते द्वयं ह्येतद्यो वेद स महीपतिः ॥ ३५ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥ ९७८ ॥

अत्यन्त कोमल राजाका अनादर होता है, और अत्यन्त क्रोधी राजासे पुरुष घबडाते हैं; जो समयके अनुसार कोमल और तेज होता है, वही राजा होनेके योग्य है ॥ ३५ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें उन्तीसवां अध्याय समाप्त ॥ २९ ॥ ९७८ ॥

: ३० :

युधिष्ठिर उवाच

क्रोधो हन्ता मनुष्याणां क्रोधो भावयिता पुनः।
इति विद्धि महाप्राज्ञे क्रोधमूलौ भवाभवौ ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे महाबुद्धिमती द्रौपदी ! क्रोधही पुरुषका नाश कर देता है, और उसे जीत लेनेपर वही क्रोध पुरुषकी उन्नति करनेवाला हो जाता है। अतः तुम निश्चयसे जानो कि क्रोधही हानि और लाभका मूल है ॥ १ ॥

यो हि संहरते क्रोधं भावस्तस्य सुशोभने।
यः पुनः पुरुषः क्रोधं नित्यं न सहते शुभे।
तस्याभावाय भवति क्रोधः परमदारुणः ॥ २ ॥

हे सुशोभने ! जो पुरुष क्रोधका नाश करता है, उसका कल्याण होता है। हे शुभे ! जो पुरुष सदा ही क्रोधके वेगको सहन नहीं कर पाता उसके नाशका कारण वही परम क्रोध हो जाता है ॥ २ ॥

क्रोधमूलो विनाशो हि प्रजानामिह दृश्यते।
तत्कथं मादृशः क्रोधमुत्सृजेल्लोकनाशनम् ॥ ३ ॥

इस संसारमें प्रजाओंके नाशका मूल क्रोध ही दिखाई देता है, अतः ऐसे लोक नाशक क्रोधको मेरे समान पुरुष कैसे कर सकता है ? ॥ ३ ॥

क्रुद्धः पापं नरः कुर्यात्क्रुद्धो हन्याद्गुरूनपि।
क्रुद्धः परुषया वाचा श्रेयसोऽप्यवमन्यते ॥ ४ ॥

क्रोधी पुरुष पापका आचरण कर सकता है, क्रुद्ध होकर गुरुजनोंके वधमें भी प्रवृत्त हो सकता है क्रुद्ध हुआ पुरुष कठोर बातसे माननीय पुरुषोंका भी निरादर कर देता है ॥ ४ ॥

वाच्यावाच्ये हि कुपितो न प्रजानाति कर्हिचित्।
नाकार्यमस्ति क्रुद्धस्य नावाच्यं विद्यते तथा ॥ ५ ॥

क्रोधी पुरुष यह नहीं जान सकता, कि यह बात कहनेके योग्य है या नहीं, क्रोधीके लिए न कुछ अकार्य है और न कुछ अवाच्य है ॥ ५ ॥

हिंस्यात्क्रोधादवध्यांश्च वध्यान्संपूजयेदपि।
आत्मानमपि च क्रुद्धः प्रेषयेद्यमसादनम् ॥ ६ ॥

क्रोधी अवध्यको भी मार सकता व और वध्यकी पूजा भी कर सकता है; पुरुष क्रुद्ध होकर अपनेको भी यमके घर भेज सकता है ॥ ६ ॥

एतान्दोषान्प्रपश्यद्भिर्जितः क्रोधो मनीषिभिः ।
इच्छद्भिः परमं श्रेय इह चामुत्र चोत्तमम् ॥ ७ ॥

यही सब दोष देखकर इस लोक और परलोकमें उत्तम कल्याणकी इच्छा करनेवाले महात्माओंने क्रोधको जीता है ॥ ७ ॥

तं क्रोधं वर्जितं धीरैः कथमस्मद्विधश्चरेत् ।
एतद्द्रौपदि संधाय न मे मन्युः प्रवर्धते ॥ ८ ॥

हे द्रौपदी ! पण्डितोंके द्वारा त्यागे गए उस क्रोधको हमारे जैसा पुरुष कैसे कर सकता है ? यही विचार करनेके कारण मेरा क्रोध नहीं बढता ॥ ८ ॥

आत्मानं च परं चैव त्रायते महतो भयात् ।
क्रुध्यन्तमप्रतिक्रुध्यन्द्वयोरेष चिकित्सकः ॥ ९ ॥

जो क्रोधीके ऊपर क्रोध नहीं करता, वह अपनेको और दूसरेको भी महाभयसे बचाता है, अतएव वह दोनोंका वैद्य है ॥ ९ ॥

मूढो यदि क्लिश्यमानः क्रुध्यतेऽशक्तिमान्नरः ।
बलीयसां मनुष्याणां त्यजत्यात्मानमन्ततः ॥ १० ॥

यदि दुर्बल मूर्ख मनुष्य दूसरोंके द्वारा क्लेश दिए जानेपर बलवान् क्रोधीके ऊपर क्रोध करे, तो वह अन्तमें अपने शरीरका ही नाश करता है ॥ १० ॥

तस्यात्मानं संत्यजतो लोका नश्यन्त्यनात्मनः ।
तस्माद् द्रौपद्यशक्तस्य मन्योर्नियमनं स्मृतम् ॥ ११ ॥

हे द्रौपदि ! अपने चित्तपर नियंत्रण न करनेवाला जो मनुष्य अपना नाश कर डालता है, उसके लोकों नाश हो। जाता अतएव दुर्बलको उचित है, कि वह अपने क्रोधको वशमें रखे ॥ ११ ॥

विद्वांस्तथैव यः शक्तः क्लिश्यमानो न कुप्यति ।
स नाशयित्वा क्लेष्टारं परलोके च नन्दति ॥ १२ ॥

उसी प्रकार जो विद्वान् बलवान् होनेपर भी क्लेश सहता है, पर क्रोधित नहीं होता, वह क्लेश देनेवालेका नाश करके स्वर्गमें आनंद प्राप्त करता है ॥ १२ ॥

तस्माद्बलवता चैव दुर्बलेन च नित्यदा ।
क्षन्तव्यं पुरुषेणाहुरापत्स्वपि विजानता ॥ १३ ॥

अतएव विद्वान्, दुर्बल वा बलवान् पुरुषको चाहिए कि वह आपत्कालमें भी क्षमा ही करे ॥ १३ ॥

मन्योर्हि विजयं कृष्णे प्रशंसन्तीह साधवः ।
क्षमावतो जयो नित्यं साधोरिह सतां मतम् ॥ १४ ॥

हे कृष्णे ! क्रोधपर विजय प्राप्त करनेकी साधु लोग प्रशंसा करते हैं। क्षमाशील सज्जनकी नित्य विजय होती है ऐसा साधुओंका मत है ॥ १४ ॥

सत्यं चानृततः श्रेयो नृशंसाच्चानृशंसता ।
तमेवं बहुदोषं तु क्रोधं साधुविवर्जितम् ।
मादृशः प्रसृजेत्कस्मात्सुयोधनवधादपि ॥ १५ ॥

झूठकी अपेक्षा सत्य कल्याणकारी है और निर्दयतासे सदयता अच्छी है। उस बहुत दोषोंसे भरे हुए तथा साधुओंसे निन्दित क्रोधको दुर्योधनके मारनेके निमित्त भी मेरे जैसा पुरुष कैसे प्रकट कर सकता है ? ॥ १५ ॥

तेजस्वीति यमाहुर्वै पण्डिता दीर्घदर्शिनः ।
न क्रोधोऽभ्यन्तरस्तस्य भवतीति विनिश्चितम् ॥ १६ ॥

दीर्घदर्शी पण्डित जिस पुरुषको तेजस्वी कहते हैं, निश्चय करके उस तेजस्वी पुरुषके हृदयमें क्रोध नहीं रहता ॥ १६ ॥

यस्तु क्रोधं समुत्पन्नं प्रज्ञया प्रतिबाधते ।
तेजस्विनं तं विद्वांसो मन्यन्ते तत्त्वदर्शिनः ॥ १७ ॥

जो उत्पन्न क्रोधको अपनी बुद्धिसे रोक देता है तत्त्वदर्शी विद्वान् लोग उसीको तेजस्वी कहते हैं ॥ १७ ॥

क्रुद्धो हि कार्यं सुश्रोणि न यथावत्प्रपश्यति ।
न कार्यं न च मर्यादां नरः क्रुद्धोऽनुपश्यति ॥ १८ ॥

हे सुश्रोणि ! क्रोधी पुरुष कार्यको ठीक ठीक नहीं जान पाता; क्रोधी पुरुष न अपने कार्यका ही निश्चय कर पाता है और न अपनी मर्यादाको ही नहीं जान पाता है ॥ १८ ॥

हन्त्यवध्यानपि क्रुद्धो गुरून्रूक्षैस्तुदत्यपि ।
तस्मात्तेजसि कर्तव्ये क्रोधो दूरात्प्रतिष्ठितः ॥ १९ ॥

क्रोधी पुरुष अवध्यको भी मार डालता है; मान्य पुरुषोंको भी कठोर वचनोंसे दुःख देता है, अतएव पुरुषको चाहिए कि वह तेजयुक्त काममें क्रोधको दूर ही रखे ॥ १९ ॥

दाक्ष्यं ह्यमर्षः शौर्यं च शीघ्रत्वमिति तेजसः ।
गुणाः क्रोधाभिभूतेन न शक्याः प्राप्तुमञ्जसा ॥ २० ॥

कार्यमें कुशलता, शत्रुओंका हानि-चिन्तन, शत्रुओंके जीतनेकी शक्ति तथा शीघ्रता यह जो तेजके गुण हैं, क्रोधसे अभिभूत मनुष्य सरलतासे प्राप्त नहीं कर सकता ॥ २० ॥

क्रोधं त्यक्त्वा तु पुरुषः सम्यक्तेजोऽभिपद्यते ।
कालयुक्तं महाप्राज्ञे क्रुद्धैस्तेजः सुदुःसहम् ॥ २१ ॥
हे महाप्राज्ञे ! जो पुरुष क्रोधको छोड देता है, उसका तेज भलीभांति बढता है । तेजस्वी पुरुषके देशकालानुरूप तेजको क्रोधी पुरुष भी नहीं सह सकते ॥ २१ ॥

क्रोधस्त्वपण्डितैः शश्वत्तेज इत्यभिधीयते ।
रजस्तल्लोकनाशाय विहितं मानुषान्प्रति ॥ २२ ॥
मूर्ख लोग क्रोधहीको तेज कहते हैं और मनुष्यमें रजोगुण लोकके नाशार्थही उत्पन्न किया गया है ॥ २२ ॥

तस्माच्छश्वत्त्यजेत्क्रोधं पुरुषः सम्यगाचरन् ।
श्रेयान्स्वधर्मानपगो न क्रुद्ध इति निश्चितम् ॥ २३ ॥
अतएव उत्तम आचरण करनेवाले पुरुषको क्रोध सदाके लिए छोड देना चाहिये । क्योंकि यह बात निश्चित है कि अपने धर्मको छोड देना उत्तम है, पर क्रुद्ध होना नहीं ॥ २३ ॥

यदि सर्वमबुद्धीनामतिक्रान्तममेधसाम् ।
अतिक्रमो मद्विधस्य कथं स्वित्स्यादनिन्दिते ॥ २४ ॥
यदि मूर्ख और अविवेकी पुरुष सद्गुणोंको अतिक्रमण कर जाते हैं; तो भी, हे अनिन्दिते ! मेरे जैसा पुरुष उन गुणोंका अतिक्रमण कैसे कर सकता है ॥ २४ ॥

यदि न स्युर्मनुष्येषु क्षमिणः पृथिवीसमाः ।
न स्यात्संधिर्मनुष्याणां क्रोधमूलो हि विग्रहः ॥ २५ ॥
यदि मनुष्योंमें पृथिवीके समान क्षमा करनेवाले पुरुष न हों, तो मनुष्योंकी परस्पर सन्धि ही न हो; क्योंकि क्रोध ही विग्रहका मूल है ॥ २५ ॥

अभिषक्तो ह्यभिषजेदाहन्याद्गुरुणा हतः ।
एवं विनाशो भूतानामधर्मः प्रथितो भवेत् ॥ २६ ॥
क्रोधी मनुष्य दूसरोंके कारण दुःख प्राप्त होनेपर बदला लेनेके लिए उन्हें भी दुःख देता है और गुरुके द्वारा मारे जानेपर गुरुको भी मारता है, इस प्रकार अधर्म फैलनेसे प्राणियोंका नाश हो सकता है ॥ २६ ॥

आक्रुष्टः पुरुषः सर्वः प्रत्याक्रोशेदनन्तरम् ।
प्रतिहन्याद्धतश्चैव तथा हिंस्याच्च हिंसितः ॥ २७ ॥
क्रोधी मनुष्य गाली देनेपर दूसरेको भी गाली देता है पीटे जानेपर पीटता है, मारे जानेपर मारता है ॥ २७ ॥

हन्युर्हि पितरः पुत्रान्पुत्राश्चापि तथा पितॄन् ।
हन्युश्च पतयो भार्याः पतीन्भार्यास्तथैव च ॥ २८ ॥

पिताको पुत्र, पुत्रको पिता, पतिको स्त्री और स्त्रीको पति क्रोधके वशमें होकर मार भी सकता है ॥ २८ ॥

एवं संकुपिते लोके जन्म कृष्णे न विद्यते ।
प्रजानां सन्धिमूलं हि जन्म विद्धि शुभानने ॥ २९ ॥

हे कृष्णे ! इस प्रकार लोकमें क्रोध फैलनेसे संसारमें जन्म होना बन्द हो जाएगा । हे शुभानने ! प्रजाओंके जन्मका मूल सन्धिहीको समझो ॥ २९ ॥

ताः क्षीयेरन्प्रजाः सर्वाः क्षिप्रं द्रौपदि तादृशे ।
तस्मान्मन्युर्विनाशाय प्रजानामभवाय च ॥ ३० ॥

हे द्रौपदि ! इस प्रकारका क्रोध होनेसे सब प्रजायें शीघ्र ही नष्ट हो जाएंगी, अतएव क्रोध नाशका और प्रजाके अनुत्पत्तिका मूल है ॥ ३० ॥

यस्मात्तु लोके दृश्यन्ते क्षमिणः पृथिवीसमाः ।
तस्माज्जन्म च भूतानां भवश्च प्रतिपद्यते ॥ ३१ ॥

चूंकि पृथिवीके समान क्षमावान् पुरुष लोकमें दीखते हैं, अतएव प्रजाका जन्म और कल्याण होता है ॥ ३१ ॥

क्षन्तव्यं पुरुषेणेह सर्वास्वापत्सु शोभने ।
क्षमा भवो हि भूतानां जन्म चैव प्रकीर्तितम् ॥ ३२ ॥

हे सुशोभने ! पुरुषको उचित है कि वह जगत्में रहकर सब आपत्तियोंमें भी क्षमा करता रहे, क्योंकि क्षमाहीसे जगत्में प्राणियोंका जन्म और कल्याण होता है ऐसा कहा गया है ॥ ३२ ॥

आक्रुष्टस्ताडितः क्रुद्धः क्षमते यो बलीयसा ।
यश्च नित्यं जितक्रोधो विद्वानुत्तमपूरुषः ॥ ३३ ॥

जो पुरुष बलवान्की गाली सुनकर, मार खाकर, क्रोधी होनेपर भी क्षमा करता है, जिसने सदा क्रोधको जीत लिया है, वही विद्वान् और उत्तम पुरुष है ॥ ३३ ॥

प्रभाववानपि नरस्तस्य लोकाः सनातनाः ।
क्रोधनस्त्वल्पविज्ञानः प्रेत्य चेह च नश्यति ॥ ३४ ॥

उस प्रभावशाली मनुष्यके लोक शाश्वत हो जाते हैं, पर जो मन्दबुद्धि क्रोधके वशमें रहता है, वह इस लोक और परलोकमें भी नष्ट हो जाता है ॥ ३४ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीमा गाथा नित्यं क्षमावताम् ।
गीताः क्षमावता कृष्णे काश्यपेन महात्मना ॥ ३५ ॥

हे कृष्णे ! क्षमावान् महात्मा काश्यपने क्षमावान् पुरुषोंकी जो कथा कही है, उसका उदाहरण पण्डितलोग इसी स्थानपर देते हैं ॥ ३५ ॥

क्षमा धर्मः क्षमा यज्ञः क्षमा वेदाः क्षमा श्रुतम् ।
यस्तामेवं विजानाति स सर्वं क्षन्तुमर्हति ॥ ३६ ॥

क्षमा ही धर्म है, क्षमाही यज्ञ है, क्षमाही वेद है और क्षमाही सुननेका फल है । जो पुरुष इसको अच्छी प्रकार जानता है वही सबको क्षमा करनेमें समर्थ है ॥ ३६ ॥

क्षमा ब्रह्म क्षमा सत्यं क्षमा भूतं च भावि च ।
क्षमा तपः क्षमा शौचं क्षमया चोद्धृतं जगत् ॥ ३७ ॥

क्षमाही ब्रह्म है, क्षमा सत्य है, क्षमाही भूत और क्षमाही भविष्य है; क्षमा तप है, क्षमाही पवित्रता है, और क्षमाहीसे जगत् धारण किया जाता है ॥ ३७ ॥

अति ब्रह्मविदां लोकानति चापि तपस्विनाम् ।
अति यज्ञविदां चैव क्षमिणः प्राप्नुवन्ति तान् ॥ ३८ ॥

जो लोक वेद जाननेवाले ब्रह्मवेत्ता और तपस्वियोंको मिलते हैं, तथा जो लोक यज्ञशीलोंको मिलते हैं, क्षमावान् पुरुष उन ही लोकोंको प्राप्त करता है ॥ ३८ ॥

क्षमा तेजस्विनां तेजः क्षमा ब्रह्म तपस्विनाम् ।
क्षमा सत्यं सत्यवतां क्षमा दानं क्षमा यशः ॥ ३९ ॥

तेजस्वी पुरुषोंका तेज क्षमा ही है । तपस्वियोंका ब्रह्मभी क्षमाही है । सत्यवान् पुरुषोंका सत्य क्षमाही है । क्षमाही दान और क्षमाही यश है ॥ ३९ ॥

तां क्षमामीदृशीं कृष्णे कथमस्मद्विधस्त्यजेत् ।
यस्यां ब्रह्म च सत्यं च यज्ञा लोकाश्च विष्ठिताः ।
भुज्यन्ते यज्वनां लोकाः क्षमिणामपरे तथा ॥ ४० ॥

हे कृष्णे ! जिस क्षमामें ब्रह्म, सत्य, यज्ञ और लोक प्रतिष्ठित हैं । ऐसी क्षमाको हमारे जैसा पुरुष किस प्रकार छोड सकता है ? यज्ञशील लोक दूसरे लोगोंका भोग करते हैं, और क्षमाशील दूसरे लोकोंका भोग करते हैं ॥ ४० ॥

क्षन्तव्यमेव सततं पुरुषेण विजानता ।
यदा हि क्षमते सर्वं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ ४१ ॥

अतएव जाननेवाले पुरुषको सदा क्षमाही करना उचित है । जब पुरुष सबकुछ क्षमा करता है, तब उसको ब्रह्म प्राप्त होता है ॥ ४१ ॥

×

क्षमावतामयं लोकः परश्चैव क्षमावताम् ।
इह संमानमृच्छन्ति परत्र च शुभां गतिम् ॥ ४२ ॥

क्षमावान्‌के निमित्त यह लोक है और क्षमाशीलोंके लिए परलोक भी सुखदायक है। इस लोकमें क्षमावान् पुरुषको सन्मान और परलोकमें उत्तम गति प्राप्त होती है ॥ ४२ ॥

येषां मन्युर्मनुष्याणां क्षमया निहतः सदा ।
तेषां परतरे लोकास्तस्मात्क्षान्तिः परा मता ॥ ४३ ॥

जिन पुरुषोंकी क्षमा क्रोधका नाश कर देती है, उनको उत्तम लोकोंकी प्राप्ति होती है; इसलिए क्षमा ही सर्वोत्तम गुण माना गया है ॥ ४३ ॥

इति गीताः काश्यपेन गाथा नित्यं क्षमावताम् ।
श्रुत्वा गाथाः क्षमायास्त्वं तुष्य द्रौपदि मा क्रुधः ॥ ४४ ॥

हे द्रौपदि ! क्षमावान् पुरुषोंकी यह कथा काश्यप मुनिने कही है, तुम यह क्षमाकी कथा सुनकर शान्त हो और क्रोध मत करो ॥ ४४ ॥

पितामहः शांतनवः शमं संपूजयिष्यति ।
आचार्यो विदुरः क्षत्ता शममेव वदिष्यतः ।
कृपश्च संजयश्चैव शममेव वदिष्यतः ॥ ४५ ॥

क्षमा करनेसे शन्तनुपुत्र हमारे दादा भीष्म प्रशंसा करेंगे; गुरु द्रोणाचार्य और विदुर भी शमकी ही प्रशंसा करेंगे। कृपाचार्य और सञ्जय भी क्षमाहीकी प्रशंसा करेंगे ॥ ४५ ॥

सोमदत्तो युयुत्सुश्च द्रोणपुत्रस्तथैव च ।
पितामहश्च नो व्यासः शमं वदति नित्यशः ॥ ४६ ॥

सोमदत्त, युयुत्सु तथा द्रोणपुत्र अश्वत्थामा और हमारे पितामह व्यासदेव नित्य क्षमाहीकी प्रशंसा करते हैं ॥ ४६ ॥

एतैर्हि राजा नियतं चोद्यमानः शमं प्रति ।
राज्यं दातेति मे बुद्धिर्न चेल्लोभान्नशिष्यति ॥ ४७ ॥

इन सबके द्वारा शमकी तरफ प्रेरित किए जाते हुए राजा धृतराष्ट्र हमको राज्य देंगे, हमारा विचार है। यदि वे न देंगे, तो लोभसे नष्ट हो जायेंगे ॥ ४७ ॥

कालोऽयं दारुणः प्राप्तो भरतानामभूतये ।
निश्चितं मे सदैवैतत्पुरस्तादपि भामिनि ॥ ४८ ॥

हे सुन्दरी ! मैं जैसे पहले निश्चय किया करता था, उसी तरह भरतकुलके नाशका यह दारुण समय प्राप्त हुआ है ॥ ४८ ॥

सुयोधनो नार्हतीति क्षमामेवं न विन्दति।
अर्हस्तस्याहमित्येव तस्मान्मां विन्दते क्षमा ॥ ४९ ॥

दुर्योधन क्षमा करनेमें असमर्थ है; अतएव वह क्षमा योग्य ही नहीं है। मैं क्षमाके योग्य हूं, अतएव क्षमा मेरा ही आश्रय लेती है ॥ ४९ ॥

एतदात्मवतां वृत्तमेष धर्मः सनातनः।
क्षमा चैवानृशंस्यं च तत्कर्तास्म्यहमञ्जसा ॥ ५० ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥ १०२८ ॥

यही आत्मशक्तिसे युक्त मनुष्योंका चरित्र है और यही सनातन धर्म है। मैं तत्त्वका विचार करके ही क्षमा और सुबुद्धिको धारण करता हूं ॥ ५० ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें तीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३० ॥ १०२८ ॥

: ३१ :

द्रौपद्युवाच

नमो धात्रे विधात्रे च यौ मोहं चक्रतुस्तव।
पितृपैतामहे वृत्ते वोढव्ये तेऽन्यथा मतिः ॥ १ ॥

द्रौपदी बोली— हे महाराज! मैं उस परमेश्वर और प्रारब्धको नमस्कार करती हूं, जिन्होंने आपमें मोह उत्पन्न कर दिया है और उसी कारण अपने पिता पितामहोंके आचारका भार वहन करनेके कार्यमें भी आपकी बुद्धिको विपरीत कर दिया है ॥ १ ॥

नेह धर्मानृशंस्याभ्यां न क्षान्त्या नार्जवेन च।
पुरुषः श्रियमाप्नोति न घृणित्वेन कर्हिचित् ॥ २ ॥

मनुष्य जगत्में धर्म, अहिंसा, क्षमा, साधुता या दयासे कदापि लक्ष्मीको प्राप्त नहीं कर सकता ॥ २ ॥

त्वां चेद्व्यसनमभ्यागादिदं भारत दुःसहम्।
यत्त्वं नार्हसि नापीमे भ्रातरस्ते महौजसः ॥ ३ ॥

हे भरतवंशावतंस! आप और आपके महातेजस्वी भाई जिस दुःखके योग्य नहीं थे, वही कठिन दुःख आपको प्राप्त हुआ है ॥ ३ ॥

न हि तेऽध्यगमज्ञातु तदानीं नाद्य भारत।
धर्मात्प्रियतरं किंचिदपि चेज्जीविताविह ॥ ४ ॥
हे भारत! मैं जानती हूं कि राज्यके समयमें और इस समय भी धर्मसे ज्यादा प्रिय आपके लिए और कुछ नहीं है, आप जीवनसे भी धर्मको अधिक मानते हैं ॥ ४ ॥

धर्मार्थमेव ते राज्यं धर्मार्थं जीवितं च ते।
ब्राह्मणा गुरवश्चैव जानन्त्यपि च देवताः ॥ ५ ॥
इसको ब्राह्मण, गुरु और देवता भी जानते हैं कि आपका राज्य धर्मके लिए ही है और आपका जीवन भी धर्मके लिए ही है ॥ ५ ॥

भीमसेनार्जुनौ चैव माद्रेयौ च मया सह।
त्यजेस्त्वमिति मे बुद्धिर्न तु धर्मं परित्यजेः ॥ ६ ॥
मुझे यह निश्चय है कि आप भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव और मुझको भी त्याग सकते हैं; परन्तु धर्मको नहीं छोड सकते ॥ ६ ॥

राजानं धर्मगोप्तारं धर्मो रक्षति रक्षितः।
इति मे श्रुतमार्याणां त्वां तु मन्ये न रक्षति ॥ ७ ॥
मैंने आर्य पुरुषोंके मुखसे यह सुना था कि धर्मरक्षक राजाकी रक्षित हुआ धर्म ही रक्षा करता है परन्तु जान पडता है, कि वह धर्म भी आपकी रक्षा नहीं कर रहा ॥ ७ ॥

अनन्या हि नरव्याघ्र नित्यदा धर्ममेव ते।
बुद्धिः सततमन्वेति छायेव पुरुषं निजा ॥ ८ ॥
हे पुरुषसिंह! आपकी बुद्धि सदैव धर्मके पीछे इस प्रकार घूमती रहती है, जैसे छाया पुरुषके पीछे फिरा करती है ॥ ८ ॥

नावमंस्था हि सदृशान्नावराञ्श्रेयसः कुतः।
अवाप्य पृथिवीं कृत्स्नां न ते शृङ्गमवर्धत ॥ ९ ॥
हे महाराज! सब पृथ्वीका राज्य प्राप्त होने पर भी आपने कभी अपने समान पुरुषोंका और अपनेसे छोटोंका भी अपमान नहीं किया, फिर बडोंके बारेमें तो कहना ही क्या? आपमें कभी अभिमान नहीं उत्पन्न हुआ ॥ ९ ॥

स्वाहाकारैः स्वधाभिश्च पूजाभिरपि च द्विजान्।
दैवतानि पितॄंश्चैव सततं पार्थ सेवसे ॥ १० ॥
हे महाराज! आपने निरन्तरही स्वाहाकार, स्वधाकार और पूजासे ब्राह्मण, देवता और पितरोंकी तृप्ति की है ॥ १० ॥

ब्राह्मणाः सर्वकामैस्ते सततं पार्थ तर्पिताः ।
यतयो मोक्षिणश्चैव गृहस्थाश्चैव भारत ॥ ११ ॥

हे पृथापुत्र भारत ! आप मोक्षकी इच्छा रखनेवाले संन्यासी और गृहस्थ ब्राह्मणोंको सदा हर तरहकी कामनाओंसे तृप्त करते रहे हैं ॥ ११ ॥

आरण्यकेभ्यो लौहानि भाजनानि प्रयच्छसि ।
नादेयं ब्राह्मणेभ्यस्ते गृहे किंचन विद्यते ॥ १२ ॥

आप वानप्रस्थियोंको भी सोनेके पात्र दिया करते थे । आपके घरमें कोई भी ऐसी वस्तु नहीं थी, जो ब्राह्मण लोगोंको न देने योग्य हो ॥ १२ ॥

यदिदं वैश्वदेवान्ते सायंप्रातः प्रदीयते ।
तद्दत्त्वातिथिभृत्येभ्यो राजञ्शेषेण जीवसि ॥ १३ ॥

हे राजन् ! यह जो बलि वैश्वदेव कर्मके अन्तमें सायंप्रातः दिया जाता है, इसमें अतिथियों और नौकरोंको देकर जो बचता है, उसीको खाकर आप जीवन निर्वाह करते हैं ॥ १३ ॥

इष्टयः पशुबन्धाश्च काम्यनैमित्तिकाश्च ये ।
वर्तन्ते पाकयज्ञाश्च यज्ञकर्म च नित्यदा ॥ १४ ॥

काम्य और नैमित्तिक पशु-बन्ध यज्ञ, पाकयज्ञ और और भी यज्ञकर्म भी आपके यहां नित्य होते रहते हैं ॥ १४ ॥

अस्मिन्नपि महारण्ये विजने दस्युसेविते ।
राष्ट्रादपेत्य वसतो धर्मस्ते नावसीदति ॥ १५ ॥

राज्य नष्ट होनेपर भी चारों भाइयोंके सहित इस निर्जन और लुटेरोंसे युक्त इसी महावनमें वास करके भी आप यज्ञादि करते हैं, इससे जान पडता है, कि धर्मको आपने अभीतक नहीं छोडा है ॥ १५ ॥

अश्वमेधो राजसूयः पुण्डरीकोऽथ गोसवः ।
एतैरपि महायज्ञैरिष्टं ते भूरिदक्षिणैः ॥ १६ ॥

हे महाराज ! आपने अश्वमेध, राजसूय और गोसव, पुण्डरीक आदि बहुत दक्षिणावाले महायज्ञोंसे आपने यागकर्म सम्पन्न किया है ॥ १६ ॥

राजन्परीतया बुद्ध्या विषमेऽक्षपराजये ।
राज्यं वसून्यायुधानि भ्रातॄन्मां चासि निर्जितः ॥ १७ ॥

और उस कपटसे युक्त जुएके पराजयके समय आपकी बुद्धि विपरीत हो गई थी, अतः राज्य, धन, आयुध, भाई और मुझे भी हार बैठे ॥ १७ ॥

ऋजोर्मृदोर्वदान्यस्य ह्रीमतः सत्यवादिनः ।
कथमक्षव्यसनजा बुद्धिरापतिता तव ॥ १८ ॥

सरल, कोमल, सीधे कहनेवालोंमें श्रेष्ठ । लज्जाशील सत्यवादी आपकी बुद्धि किस प्रकार जुएके व्यसनमें जा लगी ? ॥ १८ ॥

अतीव मोहमायाति मनश्च परिदूयते ।
निशाम्य ते दुःखमिदमिमां चापदमीदृशीम् ॥ १९ ॥

हे महाराज ! आपके ऊपर आए हुए इस दुःख और ऐसी आपत्तिको देखकर मैं बहुत ही मोहित हो रही हूं और मेरा मन बहुत ही दुःखी हो रहा है ॥ १९ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
ईश्वरस्य वशे लोकस्तिष्ठते नात्मनो यथा ॥ २० ॥

ईश्वरके वशमें ही सब लोक स्थित हैं, अपने वशमें नहीं । ऐसे स्थानपर एक पुराने इतिहासका उदाहरण देते हैं ॥ २० ॥

धातैव खलु भूतानां सुखदुःखे प्रियाप्रिये ।
दधाति सर्वमीशानः पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरन् ॥ २१ ॥

पहले कर्मके बीजका आश्रय लेकर ही ईश्वर सब प्राणियोंके सुख–दुःख, प्रिय और अप्रिय फलका विधान करते हैं ॥ २१ ॥

यथा दारुमयी योषा नरवीर समाहिता ।
ईरयत्यङ्गमङ्गानि तथा राजन्निमाः प्रजाः ॥ २२ ॥

हे नरवीर ! हे राजन् ! जिस प्रकार कठपुतली नचानेवाले पुरुषके वशमें रहती हुई अपने अंग प्रत्यंगोंको नचाती है, वैसे ही यह प्रजायें भी ईश्वरके वशमें रहतीं हैं ॥ २२ ॥

आकाश इव भूतानि व्याप्य सर्वाणि भारत ।
ईश्वरो विदधातीह कल्याणं यच्च पापकम् ॥ २३ ॥

हे भारत ! ईश्वर आकाशके समान सबमें व्याप्त होकर कल्याण और पापके फलको यथा-योग्य देते हैं ॥ २३ ॥

शकुनिस्तन्तुबद्धो वा नियतोऽयमनीश्वरः ।
ईश्वरस्य वशे तिष्ठन्नान्येषां नात्मनः प्रभुः ॥ २४ ॥

जैसे पक्षी डोरेमें बंधकर नियंत्रित हो जाता है, वैसे ही जगत् भी ईश्वरके वशमें रहता हुआ न अपना स्वामी है और न दूसरेका ॥ २४ ॥

मणिः सूत्र इव प्रोतो नस्योत इव गोवृषः ।
धातुरादेशमन्वेति तन्मयो हि तदर्पणः ॥ २५ ॥

जैसे सूत्रमें मणि तथा नाकमें रस्सी डालनेसे बैल वशमें हो जाता है, वैसे ही यह जगत् परमात्माके आदेशों पर चलता हुआ परमात्ममय होकर उसीके अर्पण हो जाता है ॥ २५ ॥

नात्माधीनो मनुष्योऽयं कालं भवति कंचन ।
स्रोतसो मध्यमापन्नः कूलाद्वृक्ष इव च्युतः ॥ २६ ॥

जैसे पानीकी धारामें आकर वृक्ष अपने किनारेसे टूटकर बहने लगता है, उसी प्रकार मनुष्य अपने अधीन होकर कदापि किसी समयमें कोई कार्य नहीं करता है ॥ २६ ॥

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं नरकमेव च ॥ २७ ॥

यह अज्ञ जीव अपने सुख दुःखका स्वामी नहीं है, ईश्वरहीकी प्रेरणासे यह स्वर्ग और नरकको प्राप्त करता है ॥ २७ ॥

यथा वायोस्तृणाग्राणि वशं यान्ति बलीयसः ।
धातुरेवं वशं यान्ति सर्वभूतानि भारत ॥ २८ ॥

हे भारत ! जिस प्रकारसे तिनकेके अग्रभाग बलवान् वायुके वशमें होकर हिलते हैं, वैसेही समस्त प्राणी भी ईश्वरके वशमें रहते हैं ॥ २८ ॥

आर्यकर्मणि युञ्जानः पापे वा पुनरीश्वरः ।
व्याप्य भूतानि चरते न चायमिति लक्ष्यते ॥ २९ ॥

ईश्वर सब प्राणियोंमें व्याप्त होकर उन्हें उत्तम और नीच कर्ममें लगाते हुए घूमता है, परन्तु वह किसीको दिखाई नहीं देता ॥ २९ ॥

हेतुमात्रमिदं धातुः शरीरं क्षेत्रसंज्ञितम् ।
येन कारयते कर्म शुभाशुभफलं विभुः ॥ ३० ॥

यह शरीर परमेश्वरका स्थान होनेपर भी उसका एक साधनमात्र है, जिसके द्वारा ईश्वर शुभ और अशुभ कर्म कराता है ॥ ३० ॥

पश्य मायाप्रभावोऽयमीश्वरेण यथा कृतः ।
यो हन्ति भूतैर्भूतानि मोहयित्वात्ममायया ॥ ३१ ॥

ईश्वरने जैसा किया है, उस मायाके प्रभावको देखो कि, जो अपनी मायासे मोहित करके एक प्राणीसे दूसरे प्राणीको मरवाता है ॥ ३१ ॥

अन्यथा परिदृष्टानि मुनिभिर्वेददर्शिभिः ।
अन्यथा परिवर्तन्ते वेगा इव नभस्वतः ॥ ३२ ॥

वेदवेत्ता मुनियोंकी दृष्टिमें उन प्राणियोंका स्वरूप दूसरे ही तरहका होता है, पर ईश्वरकी मायासे मोहित होनेके कारण वे दूसरे ही मार्गसे वायुके झोंकोंके समान वेगसे चलते हैं ॥ ३२ ॥

अन्यथैव हि मन्यन्ते पुरुषास्तानि तानि च ।
अन्यथैव प्रभुस्तानि करोति विकरोति च ॥ ३३ ॥

मनुष्य जिन जिन कामोंको दूसरी तरहसे मानते हैं, ईश्वर उन ही कामोंको दूसरे प्रकारसे बनाता है और बिगाडता है ॥ ३३ ॥

यथा काष्ठेन वा काष्ठमश्मानं चाश्मना पुनः ।
अयसा चाप्ययश्छिन्द्यान्निर्विचेष्टमचेतनम् ॥ ३४ ॥

जिस प्रकारसे चेतनारहित चेष्टाशून्य काष्ठको काष्ठसे, पत्थरको पत्थरसे और लोहेको लोहेसे काट देते हैं ॥ ३४ ॥

एवं स भगवान्देवः स्वयंभूः प्रपितामहः ।
हिनस्ति भूतैर्भूतानि छद्म कृत्वा युधिष्ठिर ॥ ३५ ॥

हे युधिष्ठिर ! उसी प्रकारसे वह सबका भगवान् देव प्रपितामह स्वयंभु भगवान् ब्रह्मा छल करके प्राणियोंको नष्ट करता है ॥ ३५ ॥

संप्रयोज्य वियोज्यायं कामकारकरः प्रभुः ।
क्रीडते भगवान्भूतैर्बालः क्रीडनकैरिव ॥ ३६ ॥

जिस प्रकारसे बालक खिलौनोंसे खेलता है, वैसे ही अपनी इच्छासे काम करनेवाले प्रभु परमेश्वर भी समस्त प्राणियोंका अपनी इच्छानुसार उनका संयोग और वियोग कराकर खेलता है ॥ ३६ ॥

न मातृपितृवद्राजन्धाता भूतेषु वर्तते ।
रोषादिव प्रवृत्तोऽयं यथायमितरो जनः ॥ ३७ ॥

हे राजन् ! जैसे माता और पिता आचरण करते हैं, वैसे सब प्राणियोंमें ब्रह्मा दयाका आचरण नहीं करता, अपितु जिस प्रकारसे सामान्य पुरुष क्रोधके वशमें होकर आचरण करते हैं, वैसा ही आचरण करता है ॥ ३७ ॥

आर्याञ्शीलवतो दृष्ट्वा ह्रीमतो वृत्तिकर्शितान् ।
अनार्यान्सुखिनश्चैव विह्वलामीव चिन्तया ॥ ३८ ॥

उत्तम आचरणयुक्त लज्जावान् श्रेष्ठ पुरुषोंको खानेके विषयमें भी दुःखी और चिन्तासे पीडित रहते और दुष्टोंको आनन्द करते देखकर मैं चिन्तासे विह्वल होती हूँ ॥ ३८ ॥

तवेमामापदं दृष्ट्वा समृद्धिं च सुयोधने।
धातारं गर्हये पार्थ विषमं योऽनुपश्यति ॥ ३९ ॥
आपकी यह आपत्ति और दुर्योधनकी समृद्धि देखकर, हे कुन्तीनन्दन ! मैं ब्रह्माकी निन्दा करती हूं जो सदा विषम दृष्टिसे देखता है ॥ ३९ ॥

आर्यशास्त्रातिगे क्रूरे लुब्धे धर्मापचायिनि ।
धार्तराष्ट्रे श्रियं दत्त्वा धाता किं फलमश्नुते ॥ ४० ॥
आर्यशास्त्रोंका उल्लंघन करनेवाले क्रूर, अधर्मी और लोभी धृतराष्ट्रपुत्रको लक्ष्मी देकर ब्रह्मा क्या फल पायेगा ? ॥ ४० ॥

कर्म चेत्कृतमन्वेति कर्तारं नान्यमृच्छति ।
कर्मणा तेन पापेन लिप्यते नूनमीश्वरः ॥ ४१ ॥
यदि किया हुआ कर्म कर्ताको छोडकर और किसीको प्राप्त नहीं होता, तो वह पाप कर्मका फल ईश्वरहीको प्राप्त होता होगा ॥ ४१ ॥

अथ कर्म कृतं पापं न चेत्कर्तारमृच्छति ।
कारणं बलमेवेह जनाञ्शोचामि दुर्बलान् ॥ ४२ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि इकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥ १०७० ॥

यदि किये हुए कर्मका पाप कर्ताको नहीं प्राप्त होता, तो इसमें बलही कारण है, अतएव दुर्बल मनुष्योंके लिए मुझे बडा ही शोक हो रहा है ॥ ४२ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकतीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३१ ॥ १०७० ॥

३२

युधिष्ठिर उवाच

वल्गु चित्रपदं श्लक्ष्णं याज्ञसेनि त्वया वचः ।
उक्तं तच्छ्रुतमस्माभिर्नास्तिक्यं तु प्रभाषसे ॥ १ ॥
युधिष्ठिर बोले– हे याज्ञसेनि ! तुमने जो उत्तम विचित्र पदवाला और कोमल वचन कहा, वह हमने सुना, परन्तु यह सब वेदके विरुद्ध होनेसे तुम नास्तिकोंके समान बोल रही हो ॥ १ ॥

नाहं कर्मफलान्वेषी राजपुत्रि चराम्युत ।
ददामि देयमित्येव यजे यष्टव्यमित्युत ॥ २ ॥
हे राजपुत्री ! मैं कर्मके फलकी इच्छासे कर्म नहीं करता, यह वस्तु देने योग्य है इसलिए देता हूं और यज्ञ इसलिए करता हूं चूंकि यह करने योग्य है ॥ २ ॥

अस्तु वात्र फलं मा वा कर्तव्यं पुरुषेण यत्।
गृहानावसता कृष्णे यथाशक्ति करोमि तत् ॥ ३ ॥

हे कृष्णे! गृहस्थ आश्रममें रहनेवाले एक पुरुषको जो कर्म करने चाहिए, उन्हें मैं यथाशक्ति करता हूं, उसका फल मुझे मिले या न मिले ॥ ३ ॥

धर्मं चरामि सुश्रोणि न धर्मफलकारणात्।
आगमाननतिक्रम्य सतां वृत्तमवेक्ष्य च।
धर्म एव मनः कृष्णे स्वभावाच्चैव मे धृतम् ॥ ४ ॥

हे सुश्रोणि! मैं धर्मशास्त्रोंका अतिक्रमण न करके उत्तम पुरुषोंका कर्म देखकर ही धर्म करता हूं उसके फलको प्राप्त करनेकी इच्छासे नहीं। हे कृष्णे! स्वाभाविकरूपसे ही मेरा मन धर्ममें लगा हुआ है ॥ ४ ॥

न धर्मफलमाप्नोति यो धर्मं दोग्धुमिच्छति।
यश्चैनं शङ्कते कृत्वा नास्तिक्यात्पापचेतनः ॥ ५ ॥

जो धर्मको दोहना चाहता है अर्थात् उसके फलकी इच्छा करता है, और जो पापी मनोवृत्तिवाला पुरुष नास्तिकतासे धर्म करके उसमें शङ्का करता है, वह धर्मके फलको नहीं प्राप्त होता ॥ ५ ॥

अतिवादान्मदाच्चैव मा धर्ममतिशङ्किथाः।
धर्मातिशंकी पुरुषस्तिर्यग्गतिपरायणः ॥ ६ ॥

तुम अतिवाद और मदसे धर्ममें शङ्का मत करो, क्योंकि धर्ममें शङ्का करनेवाले पुरुषको तिर्यग् गति अर्थात् पशुपक्षियोंकी गति प्राप्त होती है ॥ ६ ॥

धर्मो यस्यातिशंक्यः स्यादार्षं वा दुर्बलात्मनः।
वेदाच्छूद्र इवापेयात्स लोकादजरामरात् ॥ ७ ॥

जिस दुरात्मा पापीको धर्ममें अथवा ऋषि-प्रणीत पुस्तकोंमें शंका हो, वह जिस प्रकार शूद्र वेदाध्ययनसे दूर हो जाता है, उसी प्रकार सब अजर और अमर लोकोंसे दूर हो जाता है ॥ ७ ॥

वेदाध्यायी धर्मपरः कुले जातो यशस्विनि।
स्थविरेषु स योक्तव्यो राजभिर्धर्मचारिभिः ॥ ८ ॥

हे यशस्विनि! वेदका पढनेवाला, धर्मज्ञ, उत्तम कुलमें उत्पन्न हुआ, वह बालक भी क्यों न हो, तो भी धर्म करनेवाले राजाओंको उसे वृद्धोंमें गिनना चाहिये ॥ ८ ॥

पापीयान्हि स शूद्रेभ्यस्तस्करेभ्यो विशेषतः ।
शास्त्रातिगो मन्दबुद्धिर्यो धर्ममतिशङ्कते ॥ ९ ॥

जो पापी और मन्दबुद्धि शास्त्रको छोडकर धर्ममें शंका करता है, वह शूद्र और चोरोंसे भी नीच गिना जाता है ॥ ९ ॥

प्रत्यक्षं हि त्वया दृष्ट ऋषिर्गच्छन्महातपाः ।
मार्कण्डेयोऽप्रमेयात्मा धर्मेण चिरजीविताम् ॥ १० ॥

अभी यहांसे गए हुए अमेयात्मा, महातपस्वी मार्कण्डेय ऋषिको और धर्मके कारण उनके चिरजीवनको तुमने अपनी ही आंखोंसे प्रत्यक्ष देखा है ॥ १० ॥

व्यासो वसिष्ठो मैत्रेयो नारदो लोमशः शुकः ।
अन्ये च ऋषयः सिद्धा धर्मेणैव सुचेतसः ॥ ११ ॥

व्यास, वसिष्ठ, मैत्रेय, नारद, लोमश और शुक आदि तथा और भी अनेक महर्षि और सिद्ध धर्महीसे ज्ञानको प्राप्त हुए हैं ॥ ११ ॥

प्रत्यक्षं पश्यसि ह्येतान्दिव्ययोगसमन्वितान् ।
शापानुग्रहणे शक्तान्देवैरपि गरीयसः ॥ १२ ॥

तुम इन सबको प्रत्यक्ष देखती हो, कि यह लोग दिव्य योग-सहित शाप देने और अनुग्रह करनेमें समर्थ और देवताओंसे भी उत्तम हैं ॥ १२ ॥

एते हि धर्ममेवादौ वर्णयन्ति सदा मम ।
कर्तव्यममरप्रख्याः प्रत्यक्षागमबुद्धयः ॥ १३ ॥

अमर देवोंके सदृश ये ऋषिगण अपनी प्रत्यक्ष और आगमकी बुद्धिसे मेरे सामने धर्मको ही सर्वदा प्रथम कर्तव्य कर्मके रूपमें बताते हैं ॥ १३ ॥

अतो नार्हसि कल्याणि धातारं धर्ममेव च ।
रजोमूढेन मनसा क्षेप्तुं शङ्कितुमेव च ॥ १४ ॥

अतः, हे कल्याणि ! रजोगुणके कारण मोहित हुए मनसे ब्रह्मा और धर्म पर आक्षेप और शंका न करो ॥ १४ ॥

धर्मातिशङ्की नान्यस्मिन्प्रमाणमधिगच्छति ।
आत्मप्रमाण उन्नद्धः श्रेयसो ह्यवमन्यकः ॥ १५ ॥

धर्ममें शंका करनेवाला मनुष्य दूसरेकी बातको प्रमाण नहीं मानता और स्वयंको ही प्रमाण माननेवाला वह उद्दण्ड पुरुष कल्याणका अपमान करता है ॥ १५ ॥

इन्द्रियप्रीतिसंबद्धं यदिदं लोकसाक्षिकम् ।
एतावन्मन्यते बालो मोहमन्यत्र गच्छति ॥ १६ ॥

वह मूर्ख इतनाही समझता है, कि जो कुछ यह साक्षात् जगत् है वह इन्द्रियोंके सुखहीके निमित्त है, और दूसरे अप्रत्यक्ष पदार्थोंके बारेमें उसकी बुद्धि मोहमें पड जाती है ॥१६॥

प्रायश्चित्तं न तस्यास्ति यो धर्ममतिशङ्कते ।
ध्यायन्स कृपणः पापो न लोकान्प्रतिपद्यते ॥ १७ ॥

जो पापी, कृपण धर्म करनेमें शंका करता है, उसके लिए कोई प्रायश्चित्त भी नहीं है। अतः धर्म-विरोधी बातोंका विचार करनेवाला वह उत्तम लोकोंको भी नहीं पा सकता ॥१७॥

प्रमाणान्यतिवृत्तो हि वेदशास्त्रार्थनिन्दकः ।
कामलोभानुगो मूढो नरकं प्रतिपद्यते ॥ १८ ॥

जो पापी काम और लोभके वशमें होकर प्रमाणको छोडकर वेद और शास्त्रकी निन्दा करता है, वह नरकमें जाकर गिरता है ॥ १८ ॥

यस्तु नित्यं कृतमतिर्धर्ममेवाभिपद्यते ।
अशङ्कमानः कल्याणि सोऽमुत्रानन्त्यमश्नुते ॥ १९ ॥

हे कल्याणि ! जो उत्तम बुद्धिवाला पुरुष शंकारहित होकर सदा धर्मका ही आचरण करता रहता है वह इस लोकमें उत्तम और अन्तरहित सुखको भोगता है ॥ १९ ॥

आर्षं प्रमाणमुत्क्रम्य धर्मानपरिपालयन् ।
सर्वशास्त्रातिगो मूढः शं जन्मसु न विन्दति ॥ २० ॥

जो मूर्ख वेदके प्रमाणको लांघकर धर्मको नहीं पालता और शास्त्रकी मर्यादाको नहीं मानता, वह अनेक जन्मोंमें भी सुखको नहीं प्राप्त हो सकता ॥ २० ॥

शिष्टैराचरितं धर्मं कृष्णे मा स्मातिशंकिथाः ।
पुराणमृषिभिः प्रोक्तं सर्वज्ञैः सर्वदर्शिभिः ॥ २१ ॥

हे कृष्णे ! जिस धर्मका महात्मा लोग आचरण करते हैं, उसमें तुम शंका मत करो। यह प्राचीन धर्म सर्वज्ञ सर्वदर्शी महात्मा ऋषियोंने कहा है ॥ २१ ॥

धर्म एव प्लवो नान्यः स्वर्गं द्रौपदि गच्छताम् ।
सैव नौः सागरस्येव वणिजः पारमृच्छतः ॥ २२ ॥

हे द्रौपदि ! स्वर्ग जानेकी इच्छा करनेवाले मनुष्यके लिए धर्मही एक नाव है जैसे समुद्रसे पार जानेवाले बनियेके लिए नौका ॥ २२ ॥

अफलो यदि धर्मः स्याच्चरितो धर्मचारिभिः ।
अप्रतिष्ठे तमस्येतज्जगन्मज्जेदनिन्दिते ॥ २३ ॥

हे अनिन्दिते ! यदि धर्म करनेवाले पुरुषोंके द्वारा किया हुआ धर्म फलरहित होता, तो यह जगत् प्रतिष्ठाशून्यवाले अन्धकारमें डूब जाता ॥ २३ ॥

निर्वाणं नाधिगच्छेयुर्जीवेयुः पशुजीविकाम् ।
विघातेनैव युज्येयुर्न चार्थं किंचिदाप्नुयुः ॥ २४ ॥
तपश्च ब्रह्मचर्यं च यज्ञः स्वाध्याय एव च ।
दानमार्जवमेतानि यदि स्युरफलानि वै ॥ २५ ॥

यदि तप, ब्रह्मचर्य, यज्ञ, धर्मशास्त्रोंको पढना, दान, साधुता ये सब निष्फल होते तो कोई भी मोक्षको प्राप्त न होता, सब पशु-जीविकासे जीते, सभी दुःखसे युक्त होते और कोई भी धनको प्राप्त न करता ॥ २४-२५ ॥

नाचरिष्यन्परे धर्मं परे परतरे च ये ।
विप्रलम्भोऽयमत्यन्तं यदि स्युरफलाः क्रियाः ॥ २६ ॥

और सभी धार्मिक क्रियायें फलरहित होतीं और धर्म केवल वंचनामात्र होता, तो कोई भी हमसे पहिला, उनसे पहिला और पहिलेसे पहिला अर्थात् कोई भी हमारा पूर्वज धर्मका आचरण न करता ॥ २६ ॥

ऋषयश्चैव देवाश्च गन्धर्वासुरराक्षसाः ।
ईश्वराः कस्य हेतोस्ते चरेयुर्धर्ममादृताः ॥ २७ ॥

और ऋषि, देवता, गन्धर्व, असुर और राक्षस समर्थ होकर भी आदरसहित धर्मका आचरण क्यों करते ? ॥ २७ ॥

फलदं त्विह विज्ञाय धातारं श्रेयसि ध्रुवे ।
धर्मं ते ह्याचरन्कृष्णे तद्धि धर्मं सनातनम् ॥ २८ ॥

हे कृष्णे ! यह सब लोग ब्रह्माको निश्चित कल्याणरूपी फलको देनेवाला जानकर ही धर्म करते हैं और यही सनातन धर्म है ॥ २८ ॥

स चायं सफलो धर्मो न धर्मोऽफल उच्यते ।
दृश्यन्तेऽपि हि विद्यानां फलानि तपसां तथा ॥ २९ ॥

अतः यह धर्म फलदायक ही है, कोई भी धर्म फलरहित नहीं कहा जाता, क्योंकि जगत्में विद्या और तपके फल दीखते ही हैं ॥ २९ ॥

त्वयैतद्धि विजानीहि जन्म कृष्णे यथा श्रुतम् ।
वेत्थ चापि यथा जातो धृष्टद्युम्नः प्रतापवान् ॥ ३० ॥

हे कृष्णे ! तुम अपने इस विख्यात जन्मका स्मरण करो और यह भी जानती हो, कि प्रतापवान् धृष्टद्युम्न कैसे उत्पन्न हुए ! ॥ ३० ॥

एतावदेव पर्याप्तमुपमानं शुचिस्मिते ।
कर्मणां फलमस्तीति धीरोऽल्पेनापि तुष्यति ॥ ३१ ॥

हे शुचिस्मिते ! धीर पुरुष कर्मके फलको पाता है, और थोडेहीमें सन्तुष्ट भी हो जाता है, उसकी सिद्धिके लिए इसका उदाहरण जो मैंने दिया वही बहुत है ॥ ३१ ॥

बहुनापि त्वविद्वांसो नैव तुष्यन्त्यबुद्धयः ।
तेषां न धर्मजं किंचित्प्रेत्य शर्मास्ति कर्म वा ॥ ३२ ॥

मूर्ख, निर्बुद्धि लोग बहुत फल पाकर भी सन्तुष्ट नहीं होते, उनके मरनेके बाद उन्हें कोई भी धर्मका फल, सुख या कर्म नहीं मिलेगा ॥ ३२ ॥

कर्मणामुत पुण्यानां पापानां च फलोदयः ।
प्रभवश्चाप्ययश्चैव देवगुह्यानि भामिनि ॥ ३३ ॥

हे भामिनि ! पुण्य देनेवाले सत्कर्म और पाप देनेवाले दुष्कर्म इन दोनोंका उदय, प्रभाव और विनाश देवोंके लिए भी गुह्य हैं ॥ ३३ ॥

नैतानि वेद यः कश्चिन्मुह्यन्त्यत्र प्रजा इमाः ।
रक्ष्याण्येतानि देवानां गूढमाया हि देवताः ॥ ३४ ॥

इन फलोंको साधारण मनुष्य नहीं जान पाता और इस विषयमें प्रजायें भ्रान्त हो जाती हैं। यह विषय देवताओं द्वारा रक्षित है और देवताओंकी माया बहुत गूढ है ॥ ३४ ॥

कृशाङ्गाः सुव्रताश्चैव तपसा दग्धकिल्बिषाः ।
प्रसन्नैर्मानसैर्युक्ताः पश्यन्त्येतानि वै द्विजाः ॥ ३५ ॥

इनको तपके कारण कृश अंगोंवाले उत्तम व्रतोंका आचरण किए हुए तपसे पापको जलाये हुए तथा प्रसन्न मनोंसे युक्त ब्राह्मण ही देखते हैं ॥ ३५ ॥

न फलादर्शनाद्धर्मः शङ्कितव्यो न देवताः ।
यष्टव्यं चाप्रमत्तेन दातव्यं चानसूयता ॥ ३६ ॥

फल प्राप्त हुआ हुआ न देखकर धर्म और देवताओंमें शंका नहीं करनी चाहिये। प्रमाद-रहित होकर सदा यज्ञ करना चाहिए और असूयारहित होकर दान करना चाहिये ॥ ३६ ॥

कर्मणां फलमस्तीति तथैतद्धर्म शाश्वतम् ।
ब्रह्मा प्रोवाच पुत्राणां यदृषिर्वेद कश्यपः ॥ ३७ ॥

ब्रह्माने अपने पुत्रोंसे कहा था, कि कर्मोंका फल अवश्य मिलता है । यह सनातन धर्म है; इसका अर्थ कश्यप ऋषिने जाना था ॥ ३७ ॥

तस्मात्ते संशयः कृष्णे नीहार इव नश्यतु ।
व्यवस्य सर्वमस्तीति नास्तिक्यं भावमुत्सृज ॥ ३८ ॥

हे कृष्णे ! यह सब जानकर तुम्हारा संशय कुहरेके समान नष्ट हो जाना चाहिये । यह सब सत्य है, यह निश्चयकर तुम नास्तिक भावको त्याग दो ॥ ३८ ॥

ईश्वरं चापि भूतानां धातारं मा विचिक्षिपः ।
शिक्षस्वैनं नमस्वैनं मा ते भूद्बुद्धिरीदृशी ॥ ३९ ॥

सब जगत्के धारण करनेवाले ईश्वरपर आक्षेप मत करो । उनका ध्यान करो, उनको नमस्कार करो । तुम्हारी इस प्रकारकी नास्तिक बुद्धि न हो ॥ ३९ ॥

यस्य प्रसादात्तद्भक्तो मर्त्यो गच्छत्यमर्त्यताम् ।
उत्तमं दैवतं कृष्णे मातिवोचः कथंचन ॥ ४० ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥ १११० ॥

हे कृष्णे ! जिसकी कृपा भक्तिसे मरणशील पुरुष भी अमरताको प्राप्त करता है; तुम उस उत्तम देवताके बारेमें निन्दाके योग्य वचन कदापि मत कहो ॥ ४० ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें बत्तीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३२ ॥ १११० ॥

३३

द्रौपद्युवाच

नावमन्ये न गर्हे च धर्मं पार्थ कथंचन ।
ईश्वरं कुत एवाहमवमंस्ये प्रजापतिम् ॥ १ ॥

द्रौपदी बोली– हे कुन्तीनन्दन ! मैं धर्मका न अपमान करती हूं, न उसकी निन्दा करती हूँ और जगत्के स्वामी परमेश्वरका ही अपमान कहां करती हूं ? ॥ १ ॥

आर्ताहं प्रलपामीदमिति मां विद्धि भारत ।
भूयश्च विलपिष्यामि सुमनास्तन्निबोध मे ॥ २ ॥

हे भारत ! परन्तु मैं दुःखसे व्याकुल हूं, अतएव निरर्थक विलाप कर रही हूँ, ऐसा ही आप मुझे समझें और पुनः भी विलाप करूंगी, पर उसे आप अच्छे चित्तसे सुनिये ॥ २ ॥

कर्म खल्विह कर्तव्यं जातेनामित्रकर्शन ।
अकर्माणो हि जीवन्ति स्थावरा नेतरे जनाः ॥ ३ ॥

हे शत्रुनाशक! यह निश्चय है, कि जो उत्पन्न हुआ है उसे यहां संसारमें कर्म करना ही चाहिये, क्योंकि विना कर्म किये स्थावर ही जीते रह सकते हैं, दूसरे जन नहीं ॥ ३ ॥

आ मातृस्तनपानाच्च यावच्छय्योपसर्पणम् ।
जङ्गमाः कर्मणा वृत्तिमाप्नुवन्ति युधिष्ठिर ॥ ४ ॥

हे युधिष्ठिर! माताके दूध पीनेके समयसे लेकर धान्य खानेके समयतक अर्थात् जन्मसे लेकर मरणतक चलने फिरनेवाले प्राणी कर्मसे ही अपनी वृत्ति प्राप्त करते हैं॥ ४ ॥

जङ्गमेषु विशेषेण मनुष्या भरतर्षभ ।
इच्छन्ति कर्मणा वृत्तिमवाप्तुं प्रेत्य चेह च ॥ ५ ॥

हे भरतश्रेष्ठ! जङ्गमों-चलनेवालोंमें विशेषकर मनुष्य इस लोक और परलोकमें अपने कर्मसे फलोंको पानेकी इच्छा करते हैं ॥ ५ ॥

उत्थानमभिजानन्ति सर्वभूतानि भारत ।
प्रत्यक्षं फलमश्नन्ति कर्मणां लोकसाक्षिकम् ॥ ६ ॥

हे भारत! सब प्राणी उन्नतिकी ओर जाना चाहते हैं और कर्मके फलोंका जगत्के सामने प्रत्यक्ष भोग करते हैं ॥ ६ ॥

पश्यामि स्वं समुत्थानमुपजीवन्ति जन्तवः ।
अपि धाता विधाता च यथायमुदके बकः ॥ ७ ॥

मैं देखती हूँ कि धाता और विधाता भी कर्मके अनुसारही फल देते हैं। सब प्राणी अपने अपने प्रारब्धको भोगते हैं। देखो, यह बगुला भी जलमें अपने कर्मका फल भोग रहा है ॥ ७ ॥

स्वकर्म कुरु मा ग्लासीः कर्मणा भव दंशितः ।
कृत्यं हि योऽभिजानाति सहस्रे नास्ति सोऽस्ति वा ॥ ८ ॥

अतः तुम ग्लानि मत करो, अपने कर्मको करो। जो कर्म करता है वही फलको पाता है; कर्मके कवचसे सुरक्षित रहो। कर्मको यथावत् जो जानता हो, वह हजारोंमें भी होता है या नहीं? कहा नहीं जा सकता ॥ ८ ॥

तस्य चापि भवेत्कार्यं विवृद्धौ रक्षणे तथा ।
भक्ष्यमाणो ह्यनावापः क्षीयते हिमवानपि ॥ ९ ॥

धनको बढाने और उसकी रक्षा करनेके लिए भी कर्म करनेकी आवश्यकता होती ही है। क्योंकि यदि खर्च ही होता जाए और आय कुछ भी न हो, हिमालय जैसी धनकी राशि भी एक दिन समाप्त हो जाएगी ॥ ९ ॥

उत्सीदेरन्प्रजाः सर्वा न कुर्युः कर्म चेद्यदि ।
अपि चाप्यफलं कर्म पश्यामः कुर्वतो जनान् ।
नान्यथा ह्यभिजानन्ति वृत्तिं लोके कथंचन ॥ १० ॥

यदि जगत्में कर्म न करेंगी तो सब प्रजायें नष्ट हो जायेंगी। हम देखती हैं, कि संसारमें लोग बिना फलके भी काम किया करते हैं। पर बिना कर्म किए तो कोई अपनी आजीविकाकी वृत्ति प्राप्त ही नहीं कर सकता ॥ १० ॥

यश्च दिष्टपरो लोके यश्चायं हठवादकः ।
उभावपसदावेतौ कर्मबुद्धिः प्रशस्यते ॥ ११ ॥

जगत्में जो दैववादी हैं और जो हठवादी हैं, ये दोनों खराब हैं, कर्म बुद्धि ही प्रशंसनीय है ॥ ११ ॥

यो हि दिष्टमुपासीनो निर्विचेष्टः सुखं स्वपेत् ।
अवसीदेत्सुदुर्बुद्धिरामो घट इवाम्भसि ॥ १२ ॥

जो मूर्ख दैवके भरोसे रहकर बिना यत्न किये सुखसे सोते रहते हैं, वह वैसे ही नष्ट हो जाते हैं जैसे कच्चा घडा पानीमें पडनेपर गलकर नष्ट हो जाता है ॥ १२ ॥

तथैव हठबुद्धिर्यः शक्तः कर्मण्यकर्मकृत् ।
आसीत न चिरं जीवेदनाथ इव दुर्बलः ॥ १३ ॥

जो हठबुद्धिवाला कर्म करनेमें समर्थ होनेपर भी कर्म नहीं करता, वह दुर्बल अनाथके समान बहुतकाल नहीं जीता ॥ १३ ॥

अकस्मादपि यः कश्चिदर्थं प्राप्नोति पूरुषः ।
तं हठेनेति मन्यन्ते स हि यत्नो न कस्यचित् ॥ १४ ॥

जिस किसी पुरुषको अकस्मात् कहींसे धन मिल जाता है, वह हठसे ही मिला है ऐसा लोग मानते हैं क्योंकि उसमें किसीका यत्न नहीं होता ॥ १४ ॥

यच्चापि किंचित्पुरुषो दिष्टं नाम लभत्युत ।
दैवेन विधिना पार्थ तद्दैवमिति निश्चितम् ॥ १५ ॥

पुरुष देवोंकी पूजा आदिके द्वारा अपने प्रारब्धसे जो कुछ प्राप्त कर लेता है, उसे दैव कहते हैं ॥ १५ ॥

यत्स्वयं कर्मणा किंचित्फलमाप्नोति पूरुषः ।
प्रत्यक्षं चक्षुषा दृष्टं तत्पौरुषमिति स्मृतम् ॥ १६ ॥

जिस फलको जगत्में पुरुष अपना कर्म करके अपनी आंखोंसे देखकर प्रत्यक्ष प्राप्त करता है, उसे पुरुषार्थ कहते हैं ॥ १६ ॥

स्वभावतः प्रवृत्तोऽन्यः प्राप्नोत्यर्थानकारणात्।
तत्स्वभावात्मकं विद्धि फलं पुरुषसत्तम ॥ १७ ॥

हे पुरुषोत्तम ! कोई स्वभावतः किसी अन्य काममें प्रवृत्त होता है, पर विना कारण ही दूसरे अर्थोंको प्राप्त करता है उस फलको स्वाभाविक जानो ॥ १७ ॥

एवं हठाच्च दैवाच्च स्वभावात्कर्मणस्तथा।
यानि प्राप्नोति पुरुषस्तत्फलं पूर्वकर्मणः ॥ १८ ॥

इस प्रकारसे हठसे, दैवसे, स्वभावसे और कर्मसे पुरुषको जो जो फल प्राप्त होते हैं, वे सब पहले किए गए कर्मोंके ही फल हैं ॥ १८ ॥

धातापि हि स्वकर्मैव तैस्तैर्हेतुभिरीश्वरः।
विदधाति विभज्येह फलं पूर्वकृतं नृणाम् ॥ १९ ॥

सब विश्वको धारण करनेवाला परमेश्वर हठ आदि हेतुओंके आधारपर पुरुषोंके कर्मोंका विभाजन करके उनके पूर्वकृत कर्मोंके अनुसार उन्हें फल देता है ॥ १९ ॥

यद्ध्ययं पुरुषः किंचित्कुरुते वै शुभाशुभम्।
तद्धातृविहितं विद्धि पूर्वकर्मफलोदयम् ॥ २० ॥

इस जगत्में यह पुरुष जो कुछ शुभ और अशुभ कर्म करता है, वह सब ईश्वरके द्वारा निश्चित उस मनुष्यके पूर्वकृत कर्मोंका फल ही समझिए ॥ २० ॥

कारणं तस्य देहोऽयं धातुः कर्मणि कर्मणि।
स यथा प्रेरयत्येनं तथायं कुरुतेऽवशः ॥ २१ ॥

इस ब्रह्माके प्रत्येक कर्मका कारण देह ही है। ब्रह्मा प्राणिको जिस तरह प्रेरित करता है, वह उसको अवश होकर करता है ॥ २१ ॥

तेषु तेषु हि कृत्येषु विनियोक्ता महेश्वरः।
सर्वभूतानि कौन्तेय कारयत्यवशान्यपि ॥ २२ ॥

हे कुन्तीनन्दन ! परमेश्वर सब प्राणियोंको उन उन कर्मोंमें नियुक्त करता है, और इन प्राणियोंसे अवश होकर ईश्वर उन कर्मोंको करवाता है ॥ २२ ॥

मनसार्थान्विनिश्चित्य पश्चात्प्राप्नोति कर्मणा।
बुद्धिपूर्वं स्वयं धीरः पुरुषस्तत्र कारणम् ॥ २३ ॥

बुद्धिमान् मनुष्य बुद्धिपूर्वक पहिले मनमें अर्थोंका निश्चय करता है, पश्चात् उसीको कर्मसे प्राप्त करता है अतएव इसका कारण स्वयं पुरुष ही है ॥ २३ ॥

संख्यातुं नैव शक्यानि कर्माणि पुरुषर्षभ ।
अगारनगराणां हि सिद्धिः पुरुषहैतुकी ॥ २४ ॥

हे पुरुषसिंह ! कर्म गिनवाये नहीं जा सकते, परन्तु घर और नगरकी प्राप्ति या अच्छी वा बुरी सिद्धि यह पुरुषके कर्मका फल है ॥ २४ ॥

तिले तैलं गवि क्षीरं काष्ठे पावकमन्ततः ।
धिया धीरो विजानीयादुपायं चास्य सिद्धये ॥ २५ ॥

बुद्धिमान् पुरुषको इसकी सिद्धिका उपाय अपनी बुद्धिसे ऐसे ही निश्चय करना चाहिये— जैसे तिलमें तेल, गायमें दूध और काष्ठमें अग्नि है ॥ २५ ॥

ततः प्रवर्तते पश्चात्कारणेष्वस्य सिद्धये ।
तां सिद्धिमुपजीवन्ति कर्मणामिह जन्तवः ॥ २६ ॥

पश्चात् अनेक कारणोंसे उसकी सिद्धिमें पुरुषकी प्रवृत्ति होती है, और कर्मसे उत्पन्न होनेवाली उस सिद्धिको प्राणी प्राप्त करते हैं ॥ २६ ॥

कुशलेन कृतं कर्म कर्त्रा साधु विनिश्चितम् ।
इदं त्वकुशलेनेति विशेषादुपलभ्यते ॥ २७ ॥

कर्मको देखनेपर यह ज्ञात होता है कि अमुक कर्म कर्ताने अच्छीतरह निश्चित करके कुशलतासे किया है और अमुक कर्म कुशलतासे नहीं किया है ॥ २७ ॥

इष्टापूर्तफलं न स्यान्न शिष्यो न गुरुर्भवेत् ।
पुरुषः कर्मसाध्येषु स्याच्चेदयमकारणम् ॥ २८ ॥

यदि पुरुष कर्मसाध्य विषयमें कारण न होता, तो उसे यज्ञ और तडाग बनवाने आदि कर्मका फल कुछ न होता, और कोई किसीका गुरु शिष्य न होता ॥ २८ ॥

कर्तृत्वादेव पुरुषः कर्मसिद्धौ प्रशस्यते ।
असिद्धौ निन्द्यते चापि कर्मनाशः कथं त्विह ॥ २९ ॥

पुरुष कर्म करनेमें प्रधान है, अतएव कर्मकी सिद्धिमें उसकी प्रशंसा होती है और असिद्धिमें उसीकी निन्दा होती है । अतः कर्मका नाश कैसे होगा ? ॥ २९ ॥

सर्वमेव हठेनैके दिष्टेनैके वदन्त्युत ।
पुरुषप्रयत्नजं केचित्त्रैधमेतन्निरुच्यते ॥ ३० ॥

कोई हठसे, कोई प्रारब्धसे और कोई कोई पुरुषके प्रयत्नसे कर्मकी सिद्धि बतलाते हैं, यह तीन प्रकारका भेद कहा है ॥ ३० ॥

न चैवैतावता कार्यं मन्यन्त इति चापरे ।
अस्ति सर्वमदृश्यं तु दिष्टं चैव तथा हठः ।
दृश्यते हि हठाच्चैव दिष्टाच्चार्थस्य संततिः ॥ ३१ ॥

कोई कोई कहते हैं इतनेसे ही काम नहीं चल सकता, क्योंकि हठ और दैव दोनों ही अदृश्य हैं, किन्तु जगत्में अर्थ-प्राप्ति कुछ हठ और कुछ भाग्यसे होती है ॥ ३१ ॥

किंचिद्दैवाद्धठात्किंचित्किंचिदेव स्वकर्मतः ।
पुरुषः फलमाप्नोति चतुर्थं नात्र कारणम् ।
कुशलाः प्रतिजानन्ति ये तत्त्वविदुषो जनाः ॥ ३२ ॥

पुरुष कुछ फल भाग्यके कारण, कुछ हठके कारण, कुछ अपने कर्मोंसे पाता है। जो तत्त्वदर्शी कुशल पण्डित हैं वे जानते हैं, कि फलकी प्राप्तिमें इन तीनोंको छोडकर चौथा कारण और कुछ नहीं है ॥ ३२ ॥

तथैव धाता भूतानामिष्टानिष्टफलप्रदः ।
यदि न स्यान्न भूतानां कृपणो नाम कश्चन ॥ ३३ ॥

ईश्वर भी प्राणियोंको इसीके अनुसार इष्ट वा अनिष्ट फल देता है। यदि ऐसा न हो तो प्राणियोंमें कोई भी पुरुष दीन न हो ॥ ३३ ॥

यं यमर्थमभिप्रेप्सुः कुरुते कर्म पूरुषः ।
तत्तत्सफलमेव स्याद्यदि न स्यात्पुराकृतम् ॥ ३४ ॥

यदि पूर्वकर्म न हो, तो पुरुष जिस जिस कामकी इच्छासे जो कर्म करता है वह सब ही सिद्ध होने चाहिये ॥ ३४ ॥

त्रिद्वारामर्थसिद्धिं तु नानुपश्यन्ति ये नराः ।
तथैवानर्थसिद्धिं च यथा लोकास्तथैव ते ॥ ३५ ॥

जो पुरुष अपनी अर्थसिद्धि और अनर्थप्राप्तिमें हठ, दैव और स्वभावको कारण नहीं मानते, वे वैसे ही होते हैं, जैसे साधारण मूर्ख लोग ॥ ३५ ॥

कर्तव्यं त्वेव कर्मेति मनोरेष विनिश्चयः ।
एकान्तेन ह्यनीहोऽयं पराभवति पूरुषः ॥ ३६ ॥

भगवान् मनुका यह निश्चय है, कि सदा ही कर्म करना चाहिये, क्योंकि कर्म बिल्कुल न करनेसे पुरुष पराभूत हो जाता है ॥ ३६ ॥

कुर्वतो हि भवत्येव प्रायेणेह युधिष्ठिर ।
एकान्तफलसिद्धिं तु न विन्दत्यलसः क्वचित् ॥ ३७ ॥

हे युधिष्ठिर ! इस लोकमें कर्म करनेसे फलकी सिद्धि अवश्य ही होती है, परन्तु आलसी लोग इसको नहीं प्राप्त करते ॥ ३७ ॥

असंभवे त्वस्य हेतुः प्रायश्चित्तं तु लक्ष्यते ।
कृते कर्मणि राजेन्द्र तथानृण्यमवाप्यते ॥ ३८ ॥

हे राजेन्द्र ! यदि कर्म करनेसे भी सिद्धि न हो, तो उसको अपने पूर्वकर्मफलका प्रायश्चित समझे, तब उसके द्वारा वह ऋणरहित हो जाता है ॥ ३८ ॥

अलक्ष्मीराविशत्येनं शयानमलसं नरम् ।
निःसंशयं फलं लब्ध्वा दक्षो भूतिमुपाश्नुते ॥ ३९ ॥

जो आलसी पुरुष सोता रहता है, उसमें दरिद्रता प्रवेश कर जाती है और जो उद्योगी कर्म करता है, वह अवश्य उसके फलको प्राप्त करके ऐश्वर्य भोगता है ॥ ३९ ॥

अनर्थं संशयावस्थं वृण्वते मुक्तसंशयाः ।
धीरा नराः कर्मरता न तु निःसंशयं क्वचित् ॥ ४० ॥

संशययुक्त अवस्था अनर्थकारक है । संशयरहित लोग ही सिद्धि प्राप्त करते हैं । कर्म-परायण, संशयरहित धीर पुरुष निश्चय ही बहुत विरले होते हैं ॥ ४० ॥

एकान्तेन ह्यनर्थोऽयं वर्ततेऽस्मासु सांप्रतम् ।
न तु निःसंशयं न स्यात्त्वयि कर्मण्यवस्थिते ॥ ४१ ॥

आजकल हम अत्यन्त अनर्थमें पडे हुए हैं; यदि आप कर्मपरायण होकर पुरुषार्थी हो जावे तो हमारी यह अनर्थकी अवस्था निःसंशय न होती ॥ ४१ ॥

अथ वा सिद्धिरेव स्यान्महिमा तु तथैव ते ।
वृकोदरस्य बीभत्सोर्भ्रात्रोश्च यमयोरपि ॥ ४२ ॥

यदि आपके अनुष्ठित कर्मसे कार्य सिद्ध हो भी जाए तो वह भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव और आपके लिए गौरवकी बात होगी ॥ ४२ ॥

अन्येषां कर्म सफलमस्माकमपि वा पुनः ।
विप्रकर्षेण बुध्येत कृतकर्मा यथा फलम् ॥ ४३ ॥

कर्मोंके अन्तमें जैसा फल कर्ताको मिलता है, उसके आधारपर ही यह जाना जा सकता है कि दूसरोंका काम सफल हुआ या हमारा ॥ ४३ ॥

पृथिवीं लाङ्गलेनैव भित्त्वा बीजं वपत्युत ।
आस्तेऽथ कर्षकस्तूष्णीं पर्जन्यस्तत्र कारणम् ॥ ४४ ॥

जैसे हलसे भूमिको जोतकर किसान बीज बोता है, और पर्जन्यको कारण समझकर चुप चाप बैठा रहता है ॥ ४४ ॥

वृष्टिश्चेन्नानुगृह्णीयादनेनास्तत्र कर्षकः।
यदन्यः पुरुषः कुर्यात्कृतं तत्सकलं मया ॥ ४५ ॥

यदि वृष्टि न हो तो उसमें किसानका कोई दोष नहीं होता। क्योंकि वह किसान सोचता है कि इस खेतको बोनेमें जैसा परिश्रम दूसरा करता है, वैसा ही परिश्रम मैंने भी किया है ॥ ४५ ॥

तच्चेदफलमस्माकं नापराधोऽस्ति नः क्वचित्।
इति धीरोऽन्ववेक्ष्यैव नात्मानं तत्र गर्हयेत् ॥ ४६ ॥

भरपूर परिश्रम करनेके बावजूद भी कार्यकी सिद्धि न हो, तो इसमें मेरा कोई अपराध नहीं है, यह सोचकर बुद्धिमान् पुरुष स्वयंको कभी कोसे नहीं या स्वयंकी कभी निन्दा न करे ॥ ४६ ॥

कुर्वतो नार्थसिद्धिर्मे भवतीति ह भारत।
निर्वेदो नात्र गन्तव्यो द्वावेतौ ह्यस्य कर्मणः।
सिद्धिर्वाप्यथ वासिद्धिरप्रवृत्तिरतोऽन्यथा ॥ ४७ ॥

हे भरतवंशी युधिष्ठिर! कोई मनुष्य "मेरे कार्य करनेपर भी अर्थकी सिद्धि नहीं हो रही है" यह सोचकर कभी भी दुःखी न हो। क्योंकि कर्मके करनेपर दो विकल्पोंकी ही संभावना है, या तो कर्मकी सिद्धि ही होगी या असिद्धि। पर कर्ममें प्रवृत्त न होनेपर केवल एक ही संभावना रहती है अर्थात् वह अपने अर्थकी सिद्धि प्राप्त ही नहीं करता ॥४७॥

बहूनां समवाये हि भावानां कर्म सिध्यति।
गुणाभावे फलं न्यूनं भवत्यफलमेव वा।
अनारम्भे तु न फलं न गुणो दृश्यतेऽच्युत ॥ ४८ ॥

अनेक भावोंके मिलनेपर ही कर्मकी सिद्धि हुआ करती है। यदि पुरुषमें गुण ही न हों, तो या तो कर्मका फल थोडा होगा अथवा नहीं ही होगा, हे अच्युत युधिष्ठिर! और जब आरंभ ही न किया जाय, तो न फल ही दिखाई देता है और न उसका गुण ही ॥ ४८ ॥

देशकालावुपायांश्च मङ्गलं स्वस्ति वृद्धये।
युनक्ति मेधया धीरो यथाशक्ति यथाबलम् ॥ ४९ ॥

बुद्धिमान् पुरुष देश, काल, उपाय, और मंगल इन चारों बातोंका अपने कल्याणकी वृद्धिके लिए अपनी शक्ति और अपने बलके अनुसार उपयोग करता है ॥ ४९ ॥

अप्रमत्तेन तत्कार्यमुपदेष्टा पराक्रमः।
भूयिष्ठं कर्मयोगेषु सर्व एव पराक्रमः ॥ ५० ॥

अतः मनुष्य सावधान होकर अपने कामको करे, क्योंकि सब कर्मोंमें पराक्रम ही उपदेश करनेवाला है, सब कर्मोंके योगोंमें पराक्रम ही प्रधान है ॥ ५० ॥

यं तु धीरोऽन्ववेक्षेत श्रेयांसं बहुभिर्गुणैः ।
साम्नैवार्थं ततो लिप्सेत्कर्म चास्मै प्रयोजयेत् ॥ ५१ ॥

बुद्धिमान् पुरुष जहांपर अपने शत्रुको अनेक गुणोंके कारण अपनेसे बडा देखे, वहां सामके उपयोगसे अपनी कार्यसिद्धि करनेका प्रयत्न करे, पर उसको हरानेके काममें भी प्रयत्नशील रहे ॥ ५१ ॥

व्यसनं वास्य कांक्षेत विनाशं वा युधिष्ठिर ।
अपि सिन्धोर्गिरेर्वापि किं पुनर्मर्त्यधर्मिणः ॥ ५२ ॥

हे युधिष्ठिर ! यदि वह शान्तिसे वशमें न आवे तो शत्रुके दुःख और विनाशके समयकी प्रतीक्षा करता रहे, पराक्रमी पुरुष समुद्र और पर्वतको भी संकटमें डालनेका प्रयत्न करे, फिर मरणधर्मा मनुष्यके बारेमें तो कहना ही क्या ? ॥ ५२ ॥

उत्थानयुक्तः सततं परेषामन्तरैषणे ।
आनृण्यमाप्नोति नरः परस्यात्मन एव च ॥ ५३ ॥

शत्रुको हरानेकी संधि देखते ही उसके लिए उद्योग करनेवाला मनुष्य, भले ही उसका उद्योग सफल न हो फिर भी, अपना कर्तव्य करनेके कारण अपने व दूसरेके ऋणसे मुक्त हो जाता है ॥ ५३ ॥

√ न चैवात्मावमन्तव्यः पुरुषेण कदाचन ।
न ह्यात्मपरिभूतस्य भूतिर्भवति भारत ॥ ५४ ॥

पुरुषको उचित है, कि अपनेको कभी भी छोटा समझकर अपना अपमान न करे; क्योंकि, हे भारत ! अपना निरादर करनेवालेको कभी भी उत्तम ऐश्वर्यकी प्राप्त नहीं होती ॥ ५४ ॥

एवं संस्थितिका सिद्धिरियं लोकस्य भारत ।
चित्रा सिद्धिगतिः प्रोक्ता कालावस्थाविभागतः ॥ ५५ ॥

हे भारत ! इस प्रकार यह लोकोंके कर्मसिद्धिकी व्यवस्था कही है; काल और अवस्थाके विभागके अनुसार सिद्धिकी गति विचित्र है ॥ ५५ ॥

ब्राह्मणं मे पिता पूर्वं वासयामास पण्डितम् ।
सोऽस्मा अर्थमिमं प्राह पित्रे मे भरतर्षभ ॥ ५६ ॥

हे भरतश्रेष्ठ युधिष्ठिर ! बहुत पहले मेरे पिताने एक पण्डित ब्राह्मणको अपने घरमें बसाया था, उसीने ये अर्थपूर्ण बातें मेरे पितासे कही थीं ॥ ५६ ॥

नीतिं बृहस्पतिप्रोक्तां भ्रातॄन्मेऽग्राहयत्पुरा ।
तेषां सांकथ्यमश्रौषमहमेतत्तदा गृहे ॥ ५७ ॥

जब ब्राह्मण मेरे भाइयोंको बृहस्पतिकी कही हुई नीति पढाता था, तब मैंने भी घरमें अपने भाइयोंके पास बैठकर यह सब सुना था ॥ ५७ ॥

स मां राजन्कर्मवतीमागतामाह सान्त्वयन् ।
शुश्रूषमाणामासीनां पितुरङ्के युधिष्ठिर ॥ ५८ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥ ११६८ ॥

हे युधिष्ठिर ! जब एकबार किसी कामसे आई हुई मैं पिताकी गोदमें सुननेकी इच्छासे बैठी थी, तब उस ब्राह्मणने सान्त्वना देकर मुझको यह सब पढाया था ॥ ५८ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें तैतीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३३ ॥ ११६८ ॥

: ३४ :

वैशम्पायन उवाच

याज्ञसेन्या वचः श्रुत्वा भीमसेनोऽत्यमर्षणः ।
निःश्वसन्नुपसंगम्य क्रुद्धो राजानमब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– याज्ञसेनी द्रौपदीका यह वचन सुनकर परम क्रोधी भीमसेन लम्बी लम्बी सांसें लेते हुए क्रोधसे राजाके पास आकर ऐसा कहने लगे ॥ १ ॥

राज्यस्य पदवीं धर्म्यां व्रज सत्पुरुषोचिताम् ।
धर्मकामार्थहीनानां किं नो वस्तुं तपोवने ॥ २ ॥

सत्पुरुषोंके योग्य, धर्मसे युक्त राज्यकी पदवी प्राप्त कीजिये; धर्म, अर्थ और कामसे हीन होकर हम लोगोंको तपस्वियोंके समान वनमें रहनेसे क्या प्रयोजन ? ॥ २ ॥

नैव धर्मेण तद्राज्यं नार्जवेन न चौजसा ।
अक्षकूटमधिष्ठाय हृतं दुर्योधनेन नः ॥ ३ ॥

दुर्योधनने हमारे राज्यको न धर्मसे छीना है, न साधुतासे मांगकर लिया है और न वीरतासे ही लडकर लिया है, अपितु उसने अक्षोंके कपटसे हमारा राज्य हर लिया है ॥ ३ ॥

गोमायुनेव सिंहानां दुर्बलेन बलीयसाम् ।
आमिषं विघसाशेन तद्वद्राज्यं हि नो हृतम् ॥ ४ ॥

उस दुष्टने हमारे राज्यको इस प्रकारसे हर लिया, जैसे किसी बलवान् सिंहके भोजनको बचे हुए अन्नको खानेवाला कोई निर्बल सियार कपटसे ले लेता है ॥ ४ ॥

धर्मलेशप्रतिच्छन्नः प्रभवं धर्मकामयोः ।
अर्थमुत्सृज्य किं राजन्दुर्गेषु परितप्यसे ॥ ५ ॥

धर्मके अंशका आश्रय कर, धर्म और कामके उत्पादक अर्थको छोडकर, राजन् ! आप इन दुर्गम वनोंमें कष्ट क्यों उठा रहे हैं ॥ ५ ॥

भवतोऽनुविधानेन राज्यं नः पश्यतां हृतम् ।
अहार्यमपि शक्रेण गुप्तं गाण्डीवधन्वना ॥ ६ ॥

गाण्डीव धनुषको धारण करनेवाले अर्जुनके द्वारा सुरक्षित होनेके कारण इन्द्रके द्वारा भी छीने जानेके लिए अशक्य हमारा राज्य आपकी असावधानीसे हमलोगोंके देखते देखते हर लिया गया ॥ ६ ॥

कुणीनामिव बिल्वानि पंगूनामिव धेनवः ।
हृतमैश्वर्यमस्माकं जीवतां भवतः कृते ॥ ७ ॥

आपके कारण हमारे जीतेजी हमारा राज्य इस प्रकारसे छिन गया, जैसे लूलेका बेलफल और लंगडेकी गाय छिन जाती है ॥ ७ ॥

भवतः प्रियमित्येवं महद्व्यसनमीदृशम् ।
धर्मकामे प्रतीतस्य प्रतिपन्नाः स्म भारत ॥ ८ ॥

हे भारत ! धर्मकाममें विश्वास रखनेवाले आपको यह प्रिय है, यही जानकर हमलोग इस महादुःखको प्राप्त हुए हैं ॥ ८ ॥

कर्शयामः स्वमित्राणि नन्दयामश्च शात्रवान् ।
आत्मानं भवतः शास्त्रे नियम्य भरतर्षभ ॥ ९ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! स्वयंको आपकी आज्ञामें स्थापित करके हमलोग अपने मित्रोंको दुःखी और शत्रुओंको आनन्दित कर रहे हैं ॥ ९ ॥

यद्वयं न तदैवैतान्धार्तराष्ट्रान्निहन्महि ।
भवतः शास्त्रमादाय तन्नस्तपति दुष्कृतम् ॥ १० ॥

आपकी आज्ञाका पालन करनेके कारण हम जो धृतराष्ट्रके पुत्रोंको नहीं मारते, यह हमारे पापका कर्म हमें सन्ताप दे रहा है ॥ १० ॥

अथैनामन्ववेक्षस्व मृगचर्यामिवात्मनः ।
अवीराचरितां राजन्न बलस्थैर्निषेविताम् ॥ ११ ॥

आप अपनी इस हरिणोंके समान होनेवाली दुर्दशाको देखिये । हे राजन् ! यह दुर्बलोंकी-ही दशा है, बलवान् इस वनवासकी दशाको कभी पसन्द नहीं करते ॥ ११ ॥

यां न कृष्णो न बीभत्सुर्नाभिमन्युर्न सृञ्जयः।
न चाहमभिनन्दामि न च माद्रीसुतावुभौ ॥ १२ ॥

इस दशाको न कृष्ण, न अर्जुन, न अभिमन्यु, न समस्त सृञ्जयवंशी, न मैं, न नकुल और न सहदेव अर्थात् कोई भी अच्छा नहीं कहता ॥ १२ ॥

भवान्धर्मो धर्म इति सततं व्रतकर्शितः।
कच्चिद्राजन्न निर्वेदादापन्नः क्लीबजीविकाम् ॥ १३ ॥

हे राजन्! आप धर्म धर्म ऐसेही कहते हुए सदा व्रतोंसे कृश हो रहे हैं। यह नपुंसकोंका-सा जीवन कहीं वैराग्यके कारण तो आपने स्वीकार नहीं किया है? ॥ १३ ॥

दुर्मनुष्या हि निर्वेदमफलं सर्वघातिनम्।
अशक्ताः श्रियमाहर्तुमात्मनः कुर्वते प्रियम् ॥ १४ ॥

अपने ऐश्वर्यको प्राप्त करनेमें असमर्थ मनुष्य ही इस फलरहित एवं स्वार्थको नष्ट करनेवाले वैराग्यसे प्रेम करते हैं ॥ १४ ॥

स भवान्दृष्टिमाञ्शक्तः पश्यन्नात्मनि पौरुषम्।
आनृशंस्यपरो राजन्नानर्थमवबुध्यसे ॥ १५ ॥

हे राजन्! आप तो तत्त्वदर्शी हैं और अपने अन्दर स्थित पुरुषार्थको देखनेमें समर्थ हैं, फिर भी आप दयाको धारण करके अनर्थकी ओर दृष्टिपात नहीं करते ॥ १५ ॥

अस्मानमी धार्तराष्ट्राः क्षममाणानलं सतः।
अशक्तानेव मन्यन्ते तद्दुःखं नाहवे वधः ॥ १६ ॥

धृतराष्ट्रके पुत्र क्षमाशील हम लोगोंको समर्थ होनेपर भी असमर्थ समझते हैं; इतना दुःख तो युद्धमें मर जानेपर भी न होगा ॥ १६ ॥

तत्र चेद्युध्यमानानामजिह्ममनिवर्तिनाम्।
सर्वशो हि वधः श्रेयान्प्रेत्य लोकाँल्लभेमहि ॥ १७ ॥

युद्धमें जाकर पीछे न हटते हुए सरलतासे युद्ध करते हुए यदि हम सब मर भी जायें, तो उत्तम है, क्योंकि मरकर हम उत्तम लोकोंको प्राप्त करेंगे ॥ १७ ॥

अथ वा वयमेवैतान्निहत्य भरतर्षभ।
आददीमहि गां सर्वां तथापि श्रेय एव नः ॥ १८ ॥

हे भरतर्षभ! अथवा यदि उन सबको मारकर हम ही समस्त पृथ्वीको प्राप्त कर लें तो भी हमारा कल्याणही होगा ॥ १८ ॥

सर्वथा कार्यमेतन्नः स्वधर्ममनुतिष्ठताम् ।
कांक्षतां विपुलां कीर्तिं वैरं प्रतिचिकीर्षताम् ॥ १९ ॥

अधिक कीर्तिको पानेकी इच्छा करनेवाले, वैरका बदला लेनेकी इच्छावाले तथा अपने धर्ममें स्थिर रहनेवाले हमको सबतरहसे युद्धही करना चाहिये ॥ १९ ॥

आत्मार्थं युध्यमानानां विदिते कृत्यलक्षणे ।
अन्यैरपहृते राज्ये प्रशंसैव न गर्हणा ॥ २० ॥

दूसरोंके राज्य छीन लेनेपर कर्मका स्वरूप जानकर अपने निमित्त युद्ध करना भी प्रशंसा ही है, निन्दा नहीं ! ॥ २० ॥

कर्शनार्थो हि यो धर्मो मित्राणामात्मनस्तथा ।
व्यसनं नाम तद्राजन्न स धर्मः कुधर्म तत् ॥ २१ ॥

हे राजन् ! जो धर्म मित्रकी और अपनी हानि करनेवाला हो, वह धर्म नहीं है, वह तो एक दुःख है अथवा वह कुधर्म ही है ॥ २१ ॥

सर्वथा धर्मनित्यं तु पुरुषं धर्मदुर्बलम् ।
जहतस्तात धर्मार्थौ प्रेतं दुःखसुखे यथा ॥ २२ ॥

हे तात ! मनुष्य यदि पुरुषार्थका त्याग करके केवल धर्माचरण करे तो वह धर्म अर्थसाध्य होनेके कारण धर्माचरणमें असमर्थ बनता है, और तब उसे धर्म और अर्थ उसी प्रकार छोड देते हैं, जिस प्रकार एक मृतको सुखदुःख ॥ २२ ॥

यस्य धर्मो हि धर्मार्थं क्लेशभाङ्न स पण्डितः ।
न स धर्मस्य वेदार्थं सूर्यस्यान्धः प्रभामिव ॥ २३ ॥

जिसका धर्म केवल धर्महीके लिए है, वह पण्डित नहीं किन्तु क्लेशका भागी होता है, और वह धर्मका अर्थ उसी प्रकार नहीं जानता जैसे एक अन्धा सूर्यकी किरणको ॥ २३ ॥

यस्य चार्थार्थमेवार्थः स च नार्थस्य कोविदः ।
रक्षते भृतकोऽरण्यं यथा स्यात्तादृगेव सः ॥ २४ ॥

जिसका धन केवल धनके लिए ही है, धर्माचरणके लिए नहीं, उसे धनका ज्ञाता पण्डित नहीं कहा जाता । जैसे एक नौकर वनमें गायोंकी रक्षा किया करता है, उसी प्रकार वह मनुष्य भी धनकी रक्षामात्र करता है ॥ २४ ॥

अतिवेलं हि योऽर्थार्थी नेतरावनुतिष्ठति ।
स वध्यः सर्वभूतानां ब्रह्महेव जुगुप्सितः ॥ २५ ॥

जो धनका संग्रह करनेकी इच्छावाला मनुष्य सदा धनका संग्रह करनेमेंही लगा रहता है और धर्म तथा कामको नहीं देखता, वह ब्राह्मणको मारनेवालेके समान निन्दित और सब प्राणियोंके द्वारा मार डालनेके योग्य है ॥ २५ ॥

सततं यश्च कामार्थी नेतरावनुतिष्ठति ।
मित्राणि तस्य नश्यन्ति धर्मार्थाभ्यां च हीयते ॥ २६ ॥

जो निरन्तर कामहीको देखता है, अर्थ और धर्मपर दृष्टि नहीं देता, उसके मित्र नष्ट हो जाते हैं और वह भी अर्थ और धर्मसे भ्रष्ट हो जाता है ॥ २६ ॥

तस्य धर्मार्थहीनस्य कामान्ते निधनं ध्रुवम् ।
कामतो रममाणस्य मीनस्येवाम्भसः क्षये ॥ २७ ॥

कामपूर्वक रमनेवाले उस अर्थ और धर्मसे हीन पुरुषका कामके अन्त हो जानेपर निश्चयसे उसी प्रकार नाश हो जाता है, जैसे पानीके नष्ट हो जानेसे मछली मर जाती है ॥ २७ ॥

तस्माद्धर्मार्थयोर्नित्यं न प्रमाद्यन्ति पण्डिताः ।
प्रकृतिः सा हि कामस्य पावकस्यारणिर्यथा ॥ २८ ॥

इस कारण पण्डित कभी धर्म और अर्थकी तरफ दुर्लक्ष्य नहीं करते, जैसे अरणीसे आग उत्पन्न होती है, वैसेही धर्म और अर्थसे काम उत्पन्न होता है ॥ २८ ॥

सर्वथा धर्ममूलोऽर्थो धर्मश्चार्थपरिग्रहः ।
इतरेतरयोनी तौ विद्धि मेघोदधी यथा ॥ २९ ॥

धर्म अर्थका मूल है और अर्थसे धर्म होता है, इन दोनोंका ऐसा ही सम्बन्ध समझिये जैसे मेघ और समुद्रका ॥ २९ ॥

द्रव्यार्थस्पर्शसंयोगे या प्रीतिरुपजायते ।
स कामश्चित्तसंकल्पः शरीरं नास्य विद्यते ॥ ३० ॥

द्रव्य और धनकी प्राप्तिमें जो प्रीति होती है, वही चित्तका संकल्प या काम कहाता है, इस कामका कुछ शरीर नहीं है (इसीलिए यह काम अन्+अङ्ग = अनङ्ग कहलाता है) ॥ ३० ॥

अर्थार्थी पुरुषो राजन्बृहन्तं धर्ममृच्छति ।
अर्थमृच्छति कामार्थी न कामादन्यमृच्छति ॥ ३१ ॥

हे राजन् ! धनको पानेकी इच्छा करनेवाला मनुष्य महान् धर्मका आचरण करता है और कामको पानेकी अभिलाषा करनेवाला मनुष्य प्रथम अर्थ या धन प्राप्त करता है, पर कामसे किसी अन्य पदार्थकी प्राप्ति नहीं होती ॥ ३१ ॥

न हि कामेन कामोऽन्यः साध्यते फलमेव तत् ।
उपयोगात्फलस्येव काष्ठाद्भस्मेव पण्डितः ॥ ३२ ॥

कामसे दूसरा काम सिद्ध नहीं हो सकता ! पण्डितोंने कहा है, कि जैसे भस्म काष्ठसे होता है और उस भस्मसे फिर कोई पदार्थ नहीं बनता, वैसे ही कामसे दूसरा काम सिद्ध नहीं होता, क्योंकि काम स्वयं ही एक फल है ॥ ३२ ॥

इमाञ्शकुनिकान्राजन्हन्ति वैतंसिको यथा ।
एतद्रूपमधर्मस्य भूतेषु च विहिंसताम् ॥ ३३ ॥

हे राजन्! जिस प्रकारसे व्याध इन पक्षियोंको पकडकर मारता है, वैसेही हिंसा ही अधर्मका विशेष स्वरूप है ॥ ३३ ॥

कामाल्लोभाच्च धर्मस्य प्रवृत्तिं यो न पश्यति ।
स वध्यः सर्वभूतानां प्रेत्य चेह च दुर्मतिः ॥ ३४ ॥

जो दुर्बुद्धि काम और लोभके वशमें होकर धर्मकी ओर ध्यान नहीं देता, वह इस लोक और परलोकमें सब प्राणियों द्वारा मारे जाने योग्य है ॥ ३४ ॥

व्यक्तं ते विदितो राजन्नर्थो द्रव्यपरिग्रहः ।
प्रकृतिं चापि वेत्थास्य विकृतिं चापि भूयसीम् ॥ ३५ ॥

हे राजन्! धनसे उपभोगके साधन किस प्रकार प्राप्त होते हैं, यह आप अच्छी तरह जानते हैं, तथा इस धनप्राप्तिके कारणको तथा इससे सिद्ध होनेवाले अनेक कार्योंको भी आप जानते हैं ॥ ३५ ॥

तस्य नाशं विनाशं वा जरया मरणेन वा ।
अनर्थमिति मन्यन्ते सोऽयमस्मासु वर्तते ॥ ३६ ॥

उस धनके अभावसे, विनाशसे, बुढापेसे और मृत्युसे जो अवस्था प्राप्त होती है, उसे पण्डितजन अनर्थ कहते हैं। वही अनर्थकी अवस्था आज हमें प्राप्त हुई है ॥ ३६ ॥

इन्द्रियाणां च पञ्चानां मनसो हृदयस्य च ।
विषये वर्तमानानां या प्रीतिरुपजायते ।
स काम इति मे बुद्धिः कर्मणां फलमुत्तमम् ॥ ३७ ॥

पांचों इन्द्रियों मन और हृदयके विषयोंमें प्रवृत्त होनेसे जो आनन्द प्राप्त होता है, मेरी बुद्धिमें उसे ही काम कहते हैं, यह भी कर्महीका एक उत्तम फल है ॥ ३७ ॥

एवमेव पृथग्दृष्ट्वा धर्मार्थौ काममेव च ।
न धर्मपर एव स्यान्न चार्थपरमो नरः ।
न कामपरमो वा स्यात्सर्वान्सेवेत सर्वदा ॥ ३८ ॥

इस प्रकारसे धर्म, अर्थ और कामको पृथक् पृथक् विचारकर पुरुषको उचित है, कि वह केवल धर्मपर न हो, या केवल अर्थपर न हो या केवल कामपर न हो, अपितु सदैव सबका सेवन करता रहे ॥ ३८ ॥

धर्मं पूर्वं धनं मध्ये जघन्ये काममाचरेत्।
अहन्यनुचरेदेवमेष शास्त्रकृतो विधिः ॥ ३९ ॥

शास्त्रकी यही विधि है, कि दिनके पहले भागमें धर्म, मध्यमें धन और अन्तभागमें कामका उपभोग करना चाहिये, इसीप्रकार प्रतिदिन व्यवहार करे ॥ ३९ ॥

कामं पूर्वं धनं मध्ये जघन्ये धर्ममाचरेत्।
वयस्यनुचरेदेवमेष शास्त्रकृतो विधिः ॥ ४० ॥

और यह भी शास्त्रकी विधि है, कि अवस्थाके पहले भाग (युवावस्था) में काम, मध्य (प्रौढावस्था) में धन, और अन्त (वृद्धावस्था) में धर्मका सेवन करे ॥ ४० ॥

धर्मं चार्थं च कामं च यथावद्वदतां वर।
विभज्य काले कालज्ञः सर्वान्सेवेत पण्डितः ॥ ४१ ॥

हे वक्ताओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! समयको जाननेवाले पण्डितको चाहिए, कि वह अर्थ, धर्म और कामको समयके अनुसार बांटकर उनका यथायोग्य आचरण करे ॥ ४१ ॥

मोक्षो वा परमं श्रेय एष राजन्सुखार्थिनाम्।
प्राप्तिर्वा बुद्धिमास्थाय सोपायां कुरुनन्दन ॥ ४२ ॥

हे राजन् ! आत्यन्तिक सुखको पानेकी अभिलाषा करनेवाले मुमुक्षुके लिए जिस प्रकार मोक्ष ही परम कल्याणदायक है, उसी प्रकार, हे कुरुनन्दन युधिष्ठिर ! ऐहिक सुखकी अभिलाषा करनेवालोंके लिए धर्म, अर्थ, काम ये त्रिवर्ग कल्याणप्रद होते हैं ॥ ४२ ॥

तद्वाशु क्रियतां राजन्प्राप्तिर्वाप्यधिगम्यताम्।
जीवितं ह्यातुरस्येव दुःखमन्तरवर्तिनः ॥ ४३ ॥

हे राजन् ! आप या तो शीघ्र ही मोक्षका उपाय कीजिये या फिर राज्यकी प्राप्तिमें यत्न कीजिये; क्योंकि जो बीचमें रहता है अर्थात् जो न मोक्षप्राप्तिके लिए प्रयत्न करता है और न राज्यप्राप्तिके लिए, उसका जीवन रोगीके समान केवल दुःखहीका साधन है ॥ ४३ ॥

विदितश्चैव ते धर्मः सततं चरितश्च ते।
जानते त्वयि शंसन्ति सुहृदः कर्मचोदनाम् ॥ ४४ ॥

मैं आपके धर्म और चरित्रको जानता हूं; आपके सबकुछ जाननेपर भी आपके मित्रगण आपको कर्म करनेके लिए प्रेरित करते हैं ॥ ४४ ॥

दानं यज्ञः सतां पूजा वेदधारणमार्जवम्।
एष धर्मः परो राजन्फलवान्प्रेत्य चेह च ॥ ४५ ॥

हे राजन् ! इसलोक और परलोकमें दान, यज्ञ, पण्डितोंकी पूजा, वेद पढना और साधुता यही उत्तम बलवान् धर्म है और यही फलदायक होता है ॥ ४५ ॥

एव नार्थविहीनेन शक्यो राजन्निषेवितुम् ।
अखिलाः पुरुषव्याघ्र गुणाः स्युर्यद्यपीतरे ॥ ४६ ॥

हे पुरुषसिंह राजन् ! एक पुरुषमें भले ही सब इतर गुण हों, पर यदि उसके पास धन नहीं है, तो वह इस धर्मका आचरण नहीं कर सकता ॥ ४६ ॥

धर्ममूलं जगद्राजन्नान्यद्धर्माद्विशिष्यते ।
धर्मश्चार्थेन महता शक्यो राजन्निषेवितुम् ॥ ४७ ॥

हे राजन् ! जगत्का मूल धर्म है, धर्मसे उत्तम और कोई वस्तु नहीं है; पर, हे राजन् ! धर्मका आचरण महान् धनके आधारपर ही किया जा सकता है ॥ ४७ ॥

न चार्थो भैक्षचर्येण नापि क्लैब्येन कर्हिचित् ।
वेत्तुं शक्यः सदा राजन्केवलं धर्मबुद्धिना ॥ ४८ ॥

हे राजन् ! वह धन भीख मांगकर या नपुंसकताकी वृत्ति धारणकर या केवल धर्मकी बुद्धिका आश्रय लेकर प्राप्त नहीं किया जा सकता ॥ ४८ ॥

प्रतिषिद्धा हि ते याञ्चा यया सिध्यति वै द्विजः ।
तेजसैवार्थलिप्सायां यतस्व पुरुषर्षभ ॥ ४९ ॥

हे पुरुषशार्दूल ! जिस भिक्षासे ब्राह्मण अपनी अभिलाषाको सिद्ध करता है वह भिक्षावृत्ति आपके लिये निषिद्ध है । अतः आप तेज या वीरतासे ही धन प्राप्त करनेका प्रयत्न कीजिये ॥ ४९ ॥

भैक्षचर्या न विहिता न च विट्शूद्रजीविका ।
क्षत्रियस्य विशेषेण धर्मस्तु बलमौरसम् ॥ ५० ॥

क्षत्रियके लिए भीख मांगना या बनिये और शूद्रकी जीविकाका आश्रय लेना निषिद्ध है विशेष करके क्षत्रियका धर्म केवल अपना बल ही है ॥ ५० ॥

उदारमेव विद्वांसो धर्मं प्राहुर्मनीषिणः ।
उदारं प्रतिपद्यस्व नावरे स्थातुमर्हसि ॥ ५१ ॥

विद्वान् और बुद्धिमान् जन उदारताको ही धर्म कहते हैं, अतः आप उदार बनिए, क्योंकि आप इस नीच अवस्थामें रहनेके योग्य नहीं हैं ॥ ५१ ॥

अनुबुध्यस्व राजेन्द्र वेत्थ धर्मान्सनातनान् ।
क्रूरकर्माभिजातोऽसि यस्मादुद्विजते जनः ॥ ५२ ॥

हे राजेन्द्र ! आप सनातन धर्मको जानते हैं, आप अत्यन्त क्रूर कर्म करनेवाले क्षत्रियकुलमें उत्पन्न हुए हैं, जिससे सब जगत् कांपता है, अतः आप अपने स्वरूपको पहचानिये ॥ ५२ ॥

प्रजापालनसंभूतं फलं तव न गर्हितम् ।
एष ते विहितो राजन्धात्रा धर्मः सनातनः ॥ ५३ ॥

हे महाराज ! आपके लिये ब्रह्माने प्रजापालनका ही सनातन धर्म बनाया है, इसलिये प्रजाके पालनसे प्राप्त होनेवाला फल आपके लिये निन्दनीय नहीं है ॥ ५३ ॥

तस्माद्विचलितः पार्थ लोके हास्यं गमिष्यसि ।
स्वधर्माद्धि मनुष्याणां चलनं न प्रशस्यते ॥ ५४ ॥

हे पृथापुत्र युधिष्ठिर ! इस प्रजापालनरूप सनातन धर्मसे आपको विचलित होते देखकर लोग आपकी हंसी उडायेंगे, क्योंकि मनुष्योंका अपने धर्मसे विचलित होना उनकी प्रशंसाका कारण नहीं बनता ॥ ५४ ॥

स क्षात्रं हृदयं कृत्वा त्यक्त्वेदं शिथिलं मनः ।
वीर्यमास्थाय कौन्तेय धुरमुद्वह धुर्यवत् ॥ ५५ ॥

हे कुन्तीपुत्र ! अतः आप इस शिथिलताको छोडकर क्षत्रियोंका हृदय धारणकर बलका आश्रय लेकरके वीर पुरुषकी तरह युद्धके भारको धारण कीजिये ॥ ५५ ॥

न हि केवलधर्मात्मा पृथिवीं जातु कश्चन ।
पार्थिवो व्यजयद्राजन्न भूतिं न पुनः श्रियम् ॥ ५६ ॥

हे राजन् ! किसी राजाने केवल धर्मका आश्रय लेकर ही पृथ्वीको नहीं जीता, न ऐश्वर्यको प्राप्त किया है और न लक्ष्मीसुखको ही प्राप्त किया ॥ ५६ ॥

जिह्वां दत्त्वा बहूनां हि क्षुद्राणां लुब्धचेतसाम् ।
निकृत्या लभते राज्यमाहारमिव शल्यकः ॥ ५७ ॥

जैसे व्याध चारा देकर पक्षियोंको पकडता है, वैसे ही अनेक क्षुद्र लोभी लोगोंको भोजन देकर और छल करके राज्य बढाना चाहिये ॥ ५७ ॥

भ्रातरः पूर्वजाताश्च सुसमृद्धाश्च सर्वशः ।
निकृत्या निर्जिता देवैरसुराः पाण्डवर्षभ ॥ ५८ ॥

पहले उत्पन्न हुए और खूब समृद्धशाली अपने भाई दैत्योंको, हे पाण्डवश्रेष्ठ ! देवताओंने छलहीसे जीता था ॥ ५८ ॥

एवं बलवतः सर्वमिति बुद्ध्वा महीपते ।
जहि शत्रून्महाबाहो परां निकृतिमास्थितः ॥ ५९ ॥

हे महाबाहो राजन् ! बलवान्हीको सब पृथ्वी मिलती है, यह जानकर आप परम छलका सहारा लेकरके भी शत्रुओंको मारिये ॥ ५९ ॥

न ह्यर्जुनसमः कश्चिद्युधि योद्धा धनुर्धरः ।
भविता वा पुमान्कश्चिन्मत्समो वा गदाधरः ॥ ६० ॥

हे राजन् ! युद्धमें अर्जुनके समान धनुर्धारी योद्धा कोई नहीं है और मेरे समान गदाधर भी कोई पुरुष नहीं होगा ॥ ६० ॥

सत्त्वेन कुरुते युद्धं राजन्सुबलवानपि ।
न प्रमाणेन नोत्साहात्सत्त्वस्थो भव पाण्डव ॥ ६१ ॥

हे पाण्डुपुत्र राजन् युधिष्ठिर ! महा बलवान् पुरुष भी केवल शास्त्रोंके प्रमाण उद्धृत करते हुए अथवा केवल उत्साह प्रकट करते हुए युद्ध नहीं करता अपितु वह अपने बलका आश्रय लेकर ही युद्ध करता है, अतः आप अपने बलका ही आश्रय लीजिए ॥ ६१ ॥

सत्त्वं हि मूलमर्थस्य वितथं यदतोऽन्यथा ।
न तु प्रसक्तं भवति वृक्षच्छायेव हैमनी ॥ ६२ ॥

बल ही धनका मूल है, और कायरता इससे उलटा अर्थात् अनर्थका मूल है, जैसे हेमन्त ऋतुमें वृक्षकी छाया सुखदायी नहीं होती, उसी प्रकार अनर्थ सुखदायी नहीं होता ॥६२॥

अर्थत्यागो हि कार्यः स्यादर्थं श्रेयांसमिच्छता ।
बीजौपम्येन कौन्तेय मा ते भूदत्र संशयः ॥ ६३ ॥

हे कुन्तीपुत्र ! जिस प्रकार एक किसान अधिक धान्य प्राप्त करनेकी इच्छासे बीजके रूपमें थोडेसे धान्यका परित्याग कर देता है, इसी प्रकार कल्याणकारी महान् अर्थको प्रापको प्राप्त करनेके लिए अल्प अर्थका भी परित्याग कर देना पडता है, इस विषयमें आपको संशय न हो ॥ ६३ ॥

अर्थेन तु समोऽनर्थो यत्र लभ्येत नोदयः ।
न तत्र विपणः कार्यः खरकण्डूयितं हि तत् ॥ ६४ ॥

जिस कार्यमें उन्नति प्राप्त करनेकी संभावना न हो, वहां अर्थका उपयोग न करना भी एक अर्थ ही है । ऐसे धनको उन्नतिको प्राप्त न करानेवाले कार्यमें खर्च न करे, क्योंकि ऐसे कामोंमें धनका व्यय गधेके शरीरको खुजलानेके समान ही व्यर्थ होता है ॥ ६४ ॥

एवमेव मनुष्येन्द्र धर्मं त्यक्त्वाल्पकं नरः ।
बृहन्तं धर्ममाप्नोति स बुद्ध इति निश्चितः ॥ ६५ ॥

हे मनुष्येन्द्र ! जो पुरुष इस प्रकार थोडे धर्मको छोडकर भी बहुत बडे धर्मको प्राप्त होता है, वही निश्चित रूपसे पण्डित कहा जाता है ॥ ६५ ॥

अमित्रं मित्रसंपन्नं मित्रैर्भिन्दन्ति पण्डिताः ।
भिन्नैर्मित्रैः परित्यक्तं दुर्बलं कुरुते वशे ॥ ६६ ॥

पण्डितजन मित्रोंवाले शत्रुको उसके मित्रोंसे अलग कर देते हैं, अर्थात् उनमें फूट डाल देते तब मित्रोंसे पृथक् हुए और मित्रों द्वारा त्यागे हुए उस दुर्बल शत्रुको वशमें कर लेते हैं ॥ ६६ ॥

सत्त्वेन कुरुते युद्धं राजन्सुबलवानपि ।
नोद्यमेन न होत्राभिः सर्वाः स्वीकुरुते प्रजाः ॥ ६७ ॥

हे राजन् ! बलवाला पुरुष भी बलहीसे युद्ध करता है, क्योंकि उद्यम और प्रिय वाक्यसे राजाके वशमें प्रजा नहीं होती ॥ ६७ ॥

सर्वथा संहतैरेव दुर्बलैर्बलवानपि ।
अमित्रः शक्यते हन्तुं मधुहा भ्रमरैरिव ॥ ६८ ॥

हे राजन् ! जिस प्रकारसे बहुतसी मधुमक्खियां इकट्ठी होकर शहदको हरनेवाले पुरुषको मार देती हैं, उसी प्रकारसे दुर्बल लोग भी इकट्ठे होकर बलवान् शत्रुको मार सकते हैं ॥६८॥

यथा राजन्प्रजाः सर्वाः सूर्यः पाति गभस्तिभिः ।
अत्ति चैव तथैव त्वं सवितुः सदृशो भव ॥ ६९ ॥

हे महाराज ! जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणोंसे सब प्रजाकी रक्षा और नाश करता है, वैसे ही आप भी सूर्यके समान हो जाइए ॥ ६९ ॥

एतद्ध्यपि तपो राजन्पुराणमिति नः श्रुतम् ।
विधिना पालनं भूमेर्यत्कृतं नः पितामहैः ॥ ७० ॥

हे राजन् ! विधिपूर्वक प्रजाका पालन करना भी सनातन तप है, ऐसा हमने सुना है, और यही हमारे पितामहोंने भी किया था ॥ ७० ॥

अपेयात्किल भाः सूर्याल्लक्ष्मीश्चन्द्रमसस्तथा ।
इति लोको व्यवसितो दृष्ट्वेमां भवतो व्यथाम् ॥ ७१ ॥

आपकी इस आपत्तिको देखकर लोगोंको यह निश्चय-सा हो गया है, कि सूर्यसे तेज और चन्द्रमासे चांदनी भी दूर जा सकती है ॥ ७१ ॥

भवतश्च प्रशंसाभिर्निन्दाभिरितरस्य च ।
कथायुक्ताः परिषदः पृथग्राजन्समागताः ॥ ७२ ॥

हे राजन् ! आपकी प्रशंसा और दुर्योधनकी निन्दाकी अनेक कथायें प्रजायें आज भी सभाओंमें कहती हैं, अतः उसकी आपपर अभी भी भक्ति है ॥ ७२ ॥

इदमभ्यधिकं राजन्ब्राह्मणा गुरवश्च ते ।
समेताः कथयन्तीह मुदिताः सत्यसन्धताम् ॥ ७३ ॥

इससे भी बडी बात यह है कि सभी ब्राह्मण और गुरु भी एकत्रित होकर आनन्दसे आपको सत्यप्रतिज्ञ कहते हैं ॥ ७३ ॥

यन्न मोहान्न कार्पण्यान्न लोभान्न भयादपि ।
अनृतं किंचिदुक्तं ते न कामान्नार्थकारणात् ॥ ७४ ॥

आपने न मोहके कारण, न कृपणतासे, न लोभसे, न भयसे, न कामसे और न अर्थके कारण ही कभी झूठ बोला ॥ ७४ ॥

यदेनः कुरुते किंचिद्राजा भूमिमवाप्नुवन् ।
सर्वं तन्नुदते पश्चाद्यज्ञैर्विपुलदक्षिणैः ॥ ७५ ॥

हे राजन् ! पृथिवीको प्राप्त करनेमें राजा जो कुछ पाप करता है; वह सब पाप बादमें अधिक दक्षिणावाले यज्ञोंको करनेसे नष्ट हो जाता है ॥ ७५ ॥

ब्राह्मणेभ्यो ददद्ग्रामान्गाश्च राजन्सहस्रशः ।
मुच्यते सर्वपापेभ्यस्तमोभ्य इव चन्द्रमाः ॥ ७६ ॥

जिस प्रकार अन्धकारसे चन्द्रमा छूटता है, इसी प्रकारसे राजा भी ब्राह्मणोंको सहस्रों गांव और गौ देकर पापसे छूट जाता है ॥ ७६ ॥

पौरजानपदाः सर्वे प्रायशः कुरुनन्दन ।
सवृद्धबालाः सहिताः शंसन्ति त्वां युधिष्ठिर ॥ ७७ ॥

हे कुरुनन्दन युधिष्ठिर ! प्रायः सभी पुर और राज्यवासी बूढे और बालक मिलकर आपकी प्रशंसा कर रहे हैं ॥ ७७ ॥

श्वदृतौ क्षीरमासक्तं ब्रह्म वा वृषले यथा ।
सत्यं स्तेने बलं नार्यां राज्यं दुर्योधने तथा ॥ ७८ ॥

जिस प्रकार कुत्तेके चमडेकी कुप्पीमें दूध, जैसे शूद्रमें वेद, जैसे चोरमें सत्य और स्त्रीमें बल निन्दनीय होता है, वैसे ही दुर्योधनके अधीन राज्यका होना भी निन्दनीय है ॥ ७८ ॥

इति निर्वचनं लोके चिरं चरति भारत ।
अपि चैतत्स्त्रियो बालाः स्वाध्यायमिव कुर्वते ॥ ७९ ॥

इस तरहकी कहावत लोगोंमें चिरकालसे चल पडी है, और स्त्रियें और बच्चे इस कहावतका स्वाध्यायकी तरह अध्ययन करते हैं ॥ ७९ ॥

स भवान्रथमास्थाय सर्वोपकरणान्वितम् ।
त्वरमाणोऽभिनिर्यातु चिरमर्थोपपादकम् ॥ ८० ॥

हे महाराज ! अतः आप सब शस्त्रोंसे युक्त तथा चिरकालतक धन देनेवाले रथपर चढ करके वेग सहित युद्धके लिए चलिये ॥ ८० ॥

वाचयित्वा द्विजश्रेष्ठानद्यैव गजसाह्वयम् ।
अस्त्रविद्भिः परिवृतो भ्रातृभिर्दृढधन्विभिः ।
आशीविषसमैर्वीरैर्मरुद्भिरिव वृत्रहा ॥ ८१ ॥

सब अस्त्रोंके जाननेवाले, दृढ धनुषोंसे युक्त तथा भयंकर सांपके समान वीर भाईयोंके द्वारा मरुतोंसे घिरे हुए इन्द्रके समान, विप्रवर ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन करवाकर इस समय हस्तिनापुर पर चढाई कर दीजिये ॥ ८१ ॥

अमित्रांस्तेजसा मृद्नन्नसुरेभ्य इवारिहा ।
श्रियमादत्स्व कौन्तेय धार्तराष्ट्रान्महाबल ॥ ८२ ॥

जिस प्रकार अपने शत्रुओंको मारनेवाले इन्द्र अपने शत्रु असुरोंको जीतकर उनसे लक्ष्मी छीन लेते हैं, हे महाबल कुन्तीनन्दन ! वैसेही आप भी धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारकर लक्ष्मीको प्राप्त कीजिये ॥ ८२ ॥

न हि गाण्डीवमुक्तानां शराणां गार्ध्रवाससाम् ।
स्पर्शमाशीविषाभानां मर्त्यः कश्चन संसहेत् ॥ ८३ ॥

गाण्डीव धनुषसे छोडे गए, गिद्धके पंखोंसे युक्त, सांपके समान विषसे भरे हुए बाणोंके स्पर्शको जगत्में कोई भी मरणधर्मा पुरुष नहीं सह सकता ॥ ८३ ॥

न स वीरो न मातङ्गो न सदश्वोऽस्ति भारत ।
यः सहेत गदावेगं मम क्रुद्धस्य संयुगे ॥ ८४ ॥

हे भारत ! जगत्में न कोई ऐसा मनुष्य है, न हाथी है, और न कोई घोडा ही है जो युद्धमें क्रुद्ध हुए मेरे द्वारा वेगसे फेंकी गई गदाकी चोटको सह सके ॥ ८४ ॥

सृञ्जयैः सह कैकेयैर्वृष्णीनामृषभेण च ।
कथं स्विद्युधि कौन्तेय राज्यं न प्राप्नुयामहे ॥ ८५ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥ ॥ १२५२ ॥

सृञ्जय, केकय और वृष्णिकुलमें श्रेष्ठ श्रीकृष्णकी सहायता लेकर, हे कुन्तीपुत्र ! हम युद्धमें राज्यको किस तरह प्राप्त नहीं कर लेंगे ? ॥ ८५ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें चौंतीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३४ ॥ ॥ १२५२ ॥

: ३५ :

युधिष्ठिर उवाच

असंशयं भारत सत्यमेतद्यन्मा तुदन्वाक्यशल्यैः क्षिणोषि ।
न त्वा विगर्हे प्रतिकूलमेतन्ममानयाद्धि व्यसनं व आगात् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे भारत ! तुम जो वचनरूपी बाणोंसे मेरे शरीरको पीडा देते हुए क्षीण करते हो, वह निःसन्देह उचित ही है, तुम मेरे प्रतिकूल बोल रहे हो, फिर भी मैं तुम्हारी निन्दा नहीं करता, क्योंकि मेरी ही अनीतीके कारण तुम लोग दुःखमें पडे हो ॥ १ ॥

अहं ह्यक्षानन्वपद्यं जिहीर्षन्राज्यं सराष्ट्रं धृतराष्ट्रस्य पुत्रात् ।
तन्मा शठः कितवः प्रत्यदेवीत्सुयोधनार्थं सुबलस्य पुत्रः ॥ २ ॥

मैं धृतराष्ट्र-पुत्रसे राष्ट्रसहित राज्य लेनेकी इच्छा करके जुआ खेलने लगा था; परन्तु दुष्ट कपटी शकुनिने दुर्योधनके सुखकी इच्छासे मेरे सामने छलसे पांसे फेंके ॥ २ ॥

महामायः शकुनिः पार्वतीयः सदा सभायां प्रवपन्नक्षपूगान् ।
अमायिनं मायया प्रत्यदेवीत्ततोऽपश्यं वृजिनं भीमसेन ॥ ३ ॥

वह महामायाशाली पर्वतदेशीय महाबली शकुनीने अनेक पांसे फेंककर सभाके बीचमें मायारहित मुझको मायासे जीत लिया । हे भीमसेन ! इस निमित्त मुझे यह दुःख देखना पडा ॥ ३ ॥

अक्षान्हि दृष्ट्वा शकुनेर्यथावत्कामानुलोमानयुजो युजश्च ।
शक्यं नियन्तुमभविष्यदात्मा मन्युस्तु हन्ति पुरुषस्य धैर्यम् ॥ ४ ॥

सभामें शकुनिके विषम और सम पांसोंको उसकी इच्छाके अनुसार पडते देखकर भी यदि मैं अपनेको रोक लेता तो यह अनर्थ न होता, पर क्रोध पुरुषके धैर्यका नाश कर देता है (इसीलिए मैं स्वयं पर नियंत्रण नहीं रख पाया) ॥ ४ ॥

यन्तुं नात्मा शक्यते पौरुषेण मानेन वीर्येण च तात नद्धः ।
न ते वाचं भीमसेनाभ्यसूये मन्ये तथा तद्भवितव्यमासीत् ॥ ५ ॥

हे भीमसेन ! विषयमें बंधी हुई आत्माको पुरुषार्थ, अभिमान और वीर्यके द्वारा वशमें नहीं किया जा सकता; मैं तुम्हारे वचनकी निन्दा नहीं करता, मैं तो यही समझता हूँ कि यह बात ऐसी ही होनी थी इसीलिए ऐसी हुई ॥ ५ ॥

स नो राजा धृतराष्ट्रस्य पुत्रो न्यपातयद्व्यसने राज्यमिच्छन्।
दास्यं च नोऽगमयद्भीमसेन यत्राभवच्छरणं द्रौपदी नः ॥ ६ ॥

हे भीमसेन! उस धृतराष्ट्रके पुत्र राजा दुर्योधनने राज्यकी इच्छा करके हमको इस दुःखमें डाला और दास भी बनाया। जहां द्रौपदी ही हमारे लिए शरण अर्थात् हमें दास्यभावसे मुक्त करानेवाली हुई ॥ ६ ॥

त्वं चापि तद्वेत्थ धनञ्जयश्च पुनर्द्यूतायागतानां सभां नः
यन्माब्रवीद् धृतराष्ट्रस्य पुत्र एकग्लहार्थं भरतानां समक्षम् ॥ ७ ॥

पुनः जुआ खेलनेके लिए सभामें हमारे आनेपर धृतराष्ट्रके पुत्र दुर्योधनने भरतवंशियोंके सामने एक दांवके लिए जो कहा था उसे तुम और अर्जुन दोनों ही अच्छी तरह जानते हो ॥ ७ ॥

वने समा द्वादश राजपुत्र यथाकामं विदितमजातशत्रो।
अथापरं चाविदितं चरेथाः सर्वैः सह भ्रातृभिश्छद्मगूढः ॥ ८ ॥

(वह बाजी यह थी) "हे राजपुत्र! हे अजातशत्रो! अब एक ही दांवपर यह बाजी लगाओ कि यदि तुम हारो तो भाइयोंके सहित अपनी इच्छानुसार ज्ञात होकर बारह वर्ष वनमें वास करो, और तेरहवें वर्षमें सब भाइयोंके सहित गुप्त रूपसे किसीसे न जाते हुए रहो ॥ ८ ॥

त्वां चेच्छ्रुत्वा तात तथा चरन्तमवभोत्स्यन्ते भारतानां चराः स्म।
अन्यांश्चरेथास्तावतोऽब्दांस्ततस्त्वं निश्चित्य तत्प्रतिजानीहि पार्थ ॥ ९ ॥

हे भारत! हे तात! तुमको गुप्तरूपमें रहते हुए हमारे दूत तुम्हारा समाचार सुनकर तुम्हें ढूंढेंगे, यदि कहीं देख लेंगे, तो पुनः बारह वर्ष इसी प्रकार पुनः वनमें रहना होगा, हे कुन्तीकुमार! तुम निश्चय करके इसको समझ लो ॥ ९ ॥

चरैश्चेन्नोऽविदितः कालमेतं युक्तो राजन्मोहयित्वा मदीयान्।
ब्रवीमि सत्यं कुरुसंसदीह तवैव ता भारत पञ्च नद्यः ॥ १० ॥

हे भारत! यदि तुम हमारे दूतोंको छलकर उनकी पहचानमें न आओगे और एक वर्षतक बिना किसीसे पहचाने जाकर विचरोगे, तो मैं कौरवोंकी सभामें सत्य कहता हूँ, कि वे पांचों नदीयुक्त देश तुम्हारे ही होंगे ॥ १० ॥

वयं चैवं भ्रातरः सर्व एव त्वया जिताः कालमपास्य भोगान्।
वसेम इत्याह पुरा स राजा मध्ये कुरूणां स मयोक्तस्तथेति ॥ ११ ॥

हे भारत! यदि हम सब भाई जीत लिए जायेंगे तो हम भी इतने समयतक सारे भोगोंको छोडकर ऐसेही वनमें वास करेंगे," उस राजाने कौरवोंके आगे सभामें मुझसे ऐसा कहा था तब मैंने भी कहा था कि 'जो तुम कहते हो वैसा ही हो' ॥ ११ ॥

तत्र द्यूतमभवन्नो जघन्यं तस्मिञ्जिताः प्रव्रजिताश्च सर्वे ।
इत्थं च देशाननुसंचरामो वनानि कृच्छ्राणि च कृच्छ्ररूपाः ॥ १२ ॥
तब वह नीच जुआ सम्पन्न हुआ, उसमें हमलोग हार गये और सब राज्यसे निर्वासित कर दिए गए । इस प्रकार इन देशोंमें और दुर्गम कष्टदायक वनोंमें हम दुःखियोंके समान घूमते हैं ॥ १२ ॥

सुयोधनश्चापि न शान्तिमिच्छन्भूयः स मन्योर्वशमन्वगच्छत् ।
उद्योजयामास कुरूंश्च सर्वान्ये चास्य केचिद्वशमन्वगच्छन् ॥ १३ ॥
इतने परभी दुर्योधनको शान्ति प्राप्त न हुई और वह फिर क्रोधके वशमें हो गया और जितने कुछ राजा उसके वशमें थे, उन सब कुरुओंको उसने ऊंचे अधिकारोंपर नियुक्त कर दिया ॥ १३ ॥

तं सन्धिमास्थाय सतां सकाशे को नाम जह्यादिह राज्यहेतोः ।
आर्यस्य मन्ये मरणाद्गरीयो यद्धर्ममुत्क्रम्य महीं प्रशिष्यात् ॥ १४ ॥
इस कारण पण्डितोंके आगे उस सन्धि अर्थात् प्रतिज्ञाको करके कौन राज्यके कारण उसको तोड सकता है ? जो धर्मका नाशकर सम्पूर्ण पृथ्वीका राज्य करता है, उस राज्यको प्राप्त करनेकी अपेक्षा उत्तम पुरुषका मर जाना अच्छा है ऐसा मेरा मत है ॥ १४ ॥

तदैव चेद्वीरकर्माकरिष्यो यदा द्यूते परिघं पर्यमृक्षः ।
बाहू दिधक्षन्वारितः फल्गुनेन किं दुष्कृतं भीम तदाभविष्यत् ॥ १५ ॥
हे भीम ! द्यूतके समय जब तुम मेरे दोनोंही हाथ जला देना चाहते थे और अर्जुनने तुम्हें रोका था, तब तुमने अपनी गदापर हाथ फेरा था । उस समय यदि तुम शत्रुओंपर आघात कर देते, तो कितना अनर्थ हो जाता ? ॥ १५ ॥

प्रागेव चैवं समयक्रियायाः किं नाब्रवीः पौरुषमाविदानः ।
प्राप्तं तु कालं त्वभिपद्य पश्चात्किं मामिदानीमतिवेलमात्थ ॥ १६ ॥
तुम अपने पराक्रमको जानते ही थे तो फिर तुमने मेरे प्रतिज्ञा करनेसे पूर्व ही मुझे क्यों नहीं रोक दिया ? अब उस प्रतिज्ञाके बाद ऐसा कठिन समय आनेपर मुझे इस प्रकार अति कठोर बातें क्यों कहते हो ॥ १६ ॥

भूयोऽपि दुःखं मम भीमसेन दूये विषस्येव रसं विदित्वा ।
यद्याज्ञसेनीं परिकृष्यमाणां संदृश्य तत्क्षान्तमिति स्म भीम ॥ १७ ॥
हे भीम ! शत्रुओंके द्वारा द्रौपदीको पीडित होते हुए देखकर भी मैं शान्त रहा । यह दुःख मुझे अब जहरके रसके समान प्रतीत होता है; उसके कारण, हे भीम ! मैं और ज्यादा दुःखी हो रहा हूँ ॥ १७ ॥

न त्वद्य शक्यं भरतप्रवीर कृत्वा यदुक्तं कुरुवीरमध्ये ।
कालं प्रतीक्षस्व सुखोदयस्य पक्तिं फलानामिव बीजवापः ॥ १८ ॥

हे भरतवीर! कौरवोंकी सभाके बीचमें जो कुछ प्रतिज्ञा की है, उसको अब तोडनेमें मैं समर्थ नहीं हूँ। अतः जैसे खेतमें बीज बोनेवाला एक किसान बीज बोकर उसके फलनेकी प्रतीक्षा करता है, उसी प्रकार तुम भी अपने सुखप्राप्तिके समयकी प्रतीक्षा करो ॥ १८ ॥

यदा हि पूर्वं निकृतो निकृत्या वैरं सपुष्पं सफलं विदित्वा ।
महागुणं हरति हि पौरुषेण तदा वीरो जीवति जीवलोके ॥ १९ ॥

जब पहले छला गया वीर अपने शत्रुको फलता फूलता हुआ जानकर उसका नाश करता है, तो वह अपने बलसे उस शत्रुके गुणोंको हर लेता है, और तब वह वीर इस संसारमें जीवित रहता है ॥ १९ ॥

श्रियं च लोके लभते समग्रां मन्ये चास्मै शत्रवः संनमन्ते ।
मित्राणि चैनमतिरागाद्भजन्ते देवा इवेन्द्रमनुजीवन्ति चैनम् ॥ २० ॥

वही वीर जगत्में समस्त लक्ष्मीको प्राप्त करता है। शत्रु उसके सामने झुकते हैं। तब मित्र भी बडे प्रेमसे इसकी सेवा करते हैं और जैसे देवगण इन्द्रसे आजीविका प्राप्त करते हैं उसी तरह उसके मित्रगण भी उस वीरसे अपनी जीविका प्राप्त करते हैं ॥ २० ॥

मम प्रतिज्ञां च निबोध सत्यां वृणे धर्मममृताज्जीविताच्च ।
राज्यं च पुत्राश्च यशो धनं च सर्वं न सत्यस्य कलामुपैति ॥ २१ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥ १२७४ ॥

मेरी इस सत्य प्रतिज्ञाको सुनो, मैं अमृत और जीवनकी अपेक्षा धर्मको ही चुनूंगा। क्योंकि राज्य, पुत्र, यश, धन और सब वस्तु भी मिलकर धर्मकी एक कलाके समान भी नहीं हो सकते ॥ २१ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें पैंतीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३५ ॥ १२७४ ॥

: ३६ :

भीमसेन उवाच

संधिं कृत्वैव कालेन अन्तकेन पतत्रिणा ।
अनन्तेनाप्रमेयेन स्रोतसा सर्वहारिणा ॥ १ ॥
प्रत्यक्षं मन्यसे कालं मर्त्यः सन्कालबन्धनः ।
फेनधर्मा महाराज फलधर्मा तथैव च ॥ २ ॥

भीमसेन बोले—हे महाराज कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर ! आप कालसे बंधे हुए, फेनके समान शीघ्र ही विलीन हो जानेवाले, फलके समान शीघ्र गिर जानेवाले मरणशील मनुष्य हैं। तो भी सबका संहार करनेवाले, वेगवान्, अनन्त, अप्रमेय, स्रोतके समान प्रवाहशील, सबका हरण करनेवाले कालकी सहायतासे दुर्योधनसे सन्धि करके उस कालको आप प्रत्यक्ष हुआ हुआ मानते हैं ॥ १–२ ॥

निमेषादपि कौन्तेय यस्यायुरपचीयते ।
सूच्येवाञ्जनचूर्णस्य किमिति प्रतिपालयेत् ॥ ३ ॥

हे कुन्तीनन्दन ! जिस प्रकार सलाईसे बार बार उठानेपर सुरमा समाप्त हो जाता है, वैसे ही पुरुषकी आयु प्रतिक्षण नष्ट होती जाती है। तब पुरुष कालकी प्रतीक्षा किस प्रकार कर सकता है ? ॥ ३ ॥

यो नूनममितायुः स्यादथ वापि प्रमाणवित् ।
स कालं वै प्रतीक्षेत सर्वप्रत्यक्षदर्शिवान् ॥ ४ ॥

या तो जो पुरुष अनन्त आयुवाला हो या अपने आयुके कालको ठीक जाननेवाला हो, ऐसा सबको प्रत्यक्ष करनेवाला पुरुषही समयकी प्रतीक्षा कर सकता है ॥ ४ ॥

प्रतीक्षमाणान्कालो नः समा राजंस्त्रयोदश ।
आयुषोऽपचयं कृत्वा मरणायोपनेष्यति ॥ ५ ॥

हे राजन् ! तेरह वर्षतक जिस कालकी प्रतीक्षा करनी है, वही काल समयकी प्रतीक्षा करनेवाले हमारी आयुको क्षीण करके हमें मृत्युके पासतक ले जाएगा ॥ ५ ॥

शरीरिणां हि मरणं शरीरे नित्यमाश्रितम् ।
प्रागेव मरणात्तस्माद्राज्यायैव घटामहे ॥ ६ ॥

यह आप जानते हैं कि शरीरवालोंके शरीरमें ही मृत्यु आश्रित रहती है; अतएव हम मरनेके पहले ही राज्यप्राप्तिका यत्न करें ॥ ६ ॥

यो न याति प्रसंख्यानमस्पष्टो भूमिवर्धनः ।
अयातयित्वा वैराणि सोऽवसीदति गौरिव ॥ ७ ॥

जो भूमिके लिए भाररूप पुरुष इस मेरी बातको अनुचित मानता है, वह संसारमें अप्रसिद्ध ही रहता है और वह वैरका बदला न लेकर गायके समान दुःखी होता है ॥ ७ ॥

यो न यातयते वैरमल्पसत्त्वोद्यमः पुमान् ।
अफलं तस्य जन्माहं मन्ये दुर्जातजायिनः ॥ ८ ॥

जो पुरुष अल्पबलशाली अल्प उद्यमी होनेके कारण अपने वैरका बदला नहीं ले सकता, उस वृथा जन्मवालेका जन्म वृथा ही है । ऐसा मैं मानता हूँ ॥ ८ ॥

हैरण्यौ भवतो बाहू श्रुतिर्भवति पार्थिव ।
हत्वा द्विषन्तं संग्रामे भुक्त्वा बाहर्जितं वसु ॥ ९ ॥

हे राजन् ! आपके हाथ सुवर्णके स्वामी हैं यह बात प्रसिद्ध है । अतएव युद्धमें शत्रुको मारकर अपने हाथसे जीते हुए धनका भोग कीजिये ॥ ९ ॥

हत्वा चेत्पुरुषो राजन्निकर्तारमरिन्दम ।
अह्नाय नरकं गच्छेत्स्वर्गेणास्य स संमितः ॥ १० ॥

हे शत्रुनाशक राजन् ! जो पुरुष छली वैरियोंको मारनेके कारण शीघ्रही नरकमें जाता है, वह नरक भी उसके लिए स्वर्गके समान है ॥ १० ॥

अमर्षजो हि संतापः पावकाद्दीप्तिमत्तरः ।
येनाहमभिसंतप्तो न नक्तं न दिवा शये ॥ ११ ॥

हे महाराज ! क्रोधसे उत्पन्न हुआ दुःख अग्निके दाहसे भी ज्यादा कठोर है, जिससे जलता हुआ मैं न दिनको ही सोता हूं और न रातको ही ॥ ११ ॥

अयं च पार्थो बीभत्सुर्वरिष्ठो ज्याविकर्षणे ।
आस्ते परमसंतप्तो नूनं सिंह इवाशये ॥ १२ ॥

जो धनुषको खींचनेवाले वीरोंमें श्रेष्ठ है, वही यह पृथापुत्र अर्जुन अपनी गुफामें बैठे हुए दुःखी सिंहके समान पडा रहता है ॥ १२ ॥

योऽयमेकोऽभिमनुते सर्वाल्लोके धनुर्भृतः ।
सोऽयमात्मजमूष्माणं महाहस्तीव यच्छति ॥ १३ ॥

जो अकेले ही संसारके सभी धनुर्धारियोंको झुका देता है, वही यह अर्जुन अपने हृदयकी अग्निको बडे हाथीके समान हृदयहीमें छिपाकर रखता है ॥ १३ ॥

नकुलः सहदेवश्च वृद्धा माता च वीरसूः ।
तवैव प्रियमिच्छन्त आसते जडमूकवत् ॥ १४ ॥

नकुल सहदेव और वीर-प्रसविनी बूढी माता कुन्ती भी आपहीका प्रिय चाहते हुए मूर्ख और गूंगेके समान बैठी हुई हैं ॥ १४ ॥

सर्वे ते प्रियमिच्छन्ति बान्धवाः सह सृञ्जयैः ।
अहमेकोऽभिसंतप्तो माता च प्रतिविन्ध्यतः ॥ १५ ॥

सृञ्जयोंके समेत सभी बन्धु-बान्धव आपहीका प्रिय चाहते हैं। केवल मैं और प्रतिविन्ध्यकी माता द्रौपदी ही दुःखसे पीडित हैं ॥ १५ ॥

प्रियमेव तु सर्वेषां यद्ब्रवीम्युत किंचन ।
सर्वे हि व्यसनं प्राप्ताः सर्वे युद्धाभिनन्दिनः ॥ १६ ॥

मैं जो कुछ कहता हूं, वह सभीको प्रिय ही है। क्योंकि हम सभी दुःखको प्राप्त किए हुए हैं और सभी युद्धकी इच्छा रखनेवाले हैं ॥ १६ ॥

नेतः पापीयसी काचिदापद्राजन्भविष्यति ।
यन्नो नीचैरल्पबलै राज्यमाच्छिद्य भुज्यते ॥ १७ ॥

हे राजन् ! नीच और थोडे बलवाले दुष्टलोग भी हमारे राज्यको छीनकर उसका भोग कर रहे हैं इससे अधिक पापयुक्त आपत्ति और कोई नहीं होगी ॥ १७ ॥

शीलदोषाद्घृणाविष्ट आनृशंस्यात्परन्तप ।
क्लेशांस्तितिक्षसे राजन्नान्यः कश्चित्प्रशंसति ॥ १८ ॥

हे परन्तप राजन् ! आप शीलरूपी दोषके और कोमलताके कारण दयाभावको प्राप्त होकर क्लेशोंको सह रहे हैं, अतः आपकी कोई भी प्रशंसा नहीं करता ॥ १८ ॥

घृणी ब्राह्मणरूपोऽसि कथं क्षत्रे अजायथाः ।
अस्यां हि योनौ जायन्ते प्रायशः क्रूरबुद्धयः ॥ १९ ॥

आप दयासे युक्त होकर ब्राह्मणके समान बन गये हैं, अतः आपने क्षत्रियोंमें जन्म क्यों लिया ? क्योंकि इस क्षत्रियकुलमें तो प्रायः कठोर बुद्धिवाले पुरुष ही जन्म लेते हैं ॥ १९ ॥

अश्रौषीस्त्वं राजधर्मान्यथा वै मनुरब्रवीत् ।
क्रूरान्निकृतिसंयुक्तान्विहितानशमात्मकान् ॥ २० ॥

हे युधिष्ठिर ! आपने, जिस प्रकार मनुने कहा था उस प्रकारके क्रूरता, छलकपटसे युक्त, हिंसात्मक और शान्तिसे रहित राजधर्मोंको सुना ही है ॥ २० ॥

कर्तव्ये पुरुषव्याघ्र किमास्से पीठसर्पवत् ।
बुद्‍ध्या वीर्येण संयुक्तः श्रुतेनाभिजनेन च ॥ २१ ॥

आप शास्त्र, उत्तम जन्म, बुद्धि और वीर्यसे युक्त होनेपर भी करने योग्य कार्यके उपस्थित होनेपर भी, हे पुरुषसिंह ! अजगरकी तरह क्यों चुपचाप बैठे हुए हैं ? ॥ २१ ॥

तृणानां मुष्टिनैकेन हिमवन्तं तु पर्वतम् ।
छन्नमिच्छसि कौन्तेय योऽस्मान्संवर्तुमिच्छसि ॥ २२ ॥

हे कौन्तेय ! जो आप अज्ञातवासके समय हमें छुपाकर रखना चाहते हैं, तो यही समझ लीजिए कि आप एक मुठी घाससे हिमालय पर्वतको ढकना चाहते हैं ॥ २२ ॥

अज्ञातचर्या गूढेन पृथिव्यां विश्रुतेन च ।
दिवीव पार्थ सूर्येण न शक्या चरितुं त्वया ॥ २३ ॥

हे पृथापुत्र ! जैसे सूर्य आकाशमें छिपकर नहीं घूम सकता है, वैसे ही जगत्में विख्यात आप भी अपना रूप छिपाकर अज्ञातवासको नहीं कर सकते ॥ २३ ॥

बृहच्छाल इवानूपे शाखापुष्पपलाशवान् ।
हस्ती श्वेत इवाज्ञातः कथं जिष्णुश्चरिष्यति ॥ २४ ॥

बडी बडी शाखाओं और फूलसे युक्त महाशाल वृक्ष जैसे बहुत जलवाले देशमें नहीं छिप सकता या जिस प्रकार सफेद हाथी जगत्में नहीं छिप सकता, उसी प्रकार अर्जुन छिपकर किस तरह विचरण करेगा ? ॥ २४ ॥

इमौ च सिंहसङ्काशौ भ्रातरौ सहितौ शिशू ।
नकुलः सहदेवश्च कथं पार्थ चरिष्यतः ॥ २५ ॥

हे पृथापुत्र युधिष्ठिर ! यह सिंहके समान बलवान् भाई बालक नकुल और सहदेव किस प्रकार छिपकर घूम सकेंगे ? ॥ २५ ॥

पुण्यकीर्ती राजपुत्री द्रौपदी वीरसूरियम् ।
विश्रुता कथमज्ञाता कृष्णा पार्थ चरिष्यति ॥ २६ ॥

हे पार्थ ! यह जगत्में प्रसिद्ध वीरपुत्रोंको पैदा करनेवाली राजपुत्री उत्तम कीर्तिवाली सुन्दरी द्रौपदी अज्ञात होकर कैसे विचरेगी ? ॥ २६ ॥

मां चापि राजञ्जानन्ति आकुमारमिमाः प्रजाः ।
अज्ञातचर्यां पश्यामि मेरोरिव निगूहनम् ॥ २७ ॥

हे राजन् ! यह समस्त प्रजा मुझको भी बालकपनसे ही जानती है; अतः मैं अपना छिपकर रहना भी ऐसे ही समझता हूं, जैसे मेरु पर्वतको छिपाना ॥ २७ ॥

तथैव बहवोऽस्माभी राष्ट्रेभ्यो विप्रवासिताः ।
राजानो राजपुत्राश्च धृतराष्ट्रमनुव्रताः ॥ २८ ॥

हे राजन् ! इसके अलावा हमने अनेक राजा और राजपुत्रोंको उनके राज्योंसे निकाल दिया था, वे अब धृतराष्ट्रके अनुगामी हो गए हैं ॥ २८ ॥

न हि तेऽप्युपशाम्यन्ति निकृतानां निराकृताः ।
अवश्यं तैर्निकर्तव्यमस्माकं तत्प्रियैषिभिः ॥ २९ ॥

जिनका हमने अपकार किया है, वे अब शान्त होकर बैठे नहीं रहेंगे । वह लोग अवश्य ही अब दुर्योधनकी प्रिय करनेकी इच्छासे हमसे बदला लेंगे ॥ २९ ॥

तेऽप्यस्मासु प्रयुञ्जीरन्प्रच्छन्नान्सुबहूञ्जनान् ।
आचक्षीरंश्च नो ज्ञात्वा तन्नः स्यात्सुमहद्भयम् ॥ ३० ॥

वह लोग भी अवश्य हम लोगोंको ढूंढनेके निमित्त बहुतसे छिपे हुए मनुष्योंको नियुक्त करेंगे । जब वे लोग हमको जानकर हमारा भेद देंगे, तब हमारे सामने बडा भारी भय आकर खडा हो जाएगा ॥ ३० ॥

अस्माभिरुषिताः सम्यग्वने मासास्त्रयोदश ।
परिमाणेन तान्पश्य तावतः परिवत्सरान् ॥ ३१ ॥

अभीतक हमको वनमें रहते हुए तेरह ही महीने बीते हैं, अतः इन्हींको आप परिमाणसे तेरह वर्षके समान समझ लीजिए ॥ ३१ ॥

अस्ति मासः प्रतिनिधिर्यथा प्राहुर्मनीषिणः ।
पूतीकानिव सोमस्य तथेदं क्रियतामिति ॥ ३२ ॥

पण्डितलोगोंने कहा है, कि जैसे सोमकी प्रतिनिधि पूतिका होती है, वैसेही एक वर्षका प्रतिनिधि एक मास होता है ॥ ३२ ॥

अथ वानडुहे राजन्साधवे साधुवाहिने ।
सौहित्यदानादेकस्मादेनसः प्रतिमुच्यते ॥ ३३ ॥

अथवा, हे राजन् ! अच्छी तरह बोझा ढोनेवाले उत्तम बैलको भोजन देनेसे इस प्रतिज्ञा भंगरूपी पापसे मुक्त हुआ जा सकता है ॥ ३३ ॥

तस्माच्छत्रुवधे राजन्क्रियतां निश्चयस्त्वया ।
क्षत्रियस्य तु सर्वस्य नान्यो धर्मोऽस्ति संयुगात् ॥ ३४ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥ १३०८ ॥

अतएव, हे महाराज ! आप शत्रुओंके मारनेके कार्यका निश्चय कीजिये, क्योंकि सब क्षत्रियोंके लिए युद्धसे बढकर धर्म और कोई नहीं है ॥ ३४ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें छत्तीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३६ ॥ १३०८ ॥

: ३७ :

वैशम्पायन उवाच

भीमसेनवचः श्रुत्वा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
निःश्वस्य पुरुषव्याघ्रः संप्रदध्यौ परन्तपः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– पुरुषोंमें सिंहके समान श्रेष्ठ, शत्रुनाशक कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर भीमसेनके ऐसे वचन सुनकर सांस लेकर विचार करने लगे ॥ १ ॥

स मुहूर्तमिव ध्यात्वा विनिश्चित्येतिकृत्यताम् ।
भीमसेनमिदं वाक्यमपदान्तरमब्रवीत् ॥ २ ॥

इस प्रकार वह युधिष्ठिर एक मुहूर्तमात्र ध्यान करके और अपने मनमें अपने कर्तव्यका निश्चय करके भीमसेनसे यह निश्चित बात कहने लगे ॥ २ ॥

एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि भारत ।
इदमन्यत्समाधत्स्व वाक्यं मे वाक्यकोविद ॥ ३ ॥

हे वचनोंके तत्त्वको जाननेवाले, भरतवंशी महाबाहु भीम ! तुमने जो कुछ कहा, वह सब ऐसे ही है, अर्थात् सच है परन्तु मेरे इस दूसरे वचनको भी सुनो ॥ ३ ॥

महापापानि कर्माणि यानि केवलसाहसात् ।
आरभ्यन्ते भीमसेन व्यथन्ते तानि भारत ॥ ४ ॥

हे भीमसेन ! हे भारत ! जो पापके कर्म केवल साहस ही से प्रारंभ किये जाते हैं, वे कर्त्ताको दुःख ही देते हैं ॥ ४ ॥

सुमन्त्रिते सुविक्रान्ते सुकृते सुविचारिते ।
सिध्यन्त्यर्था महाबाहो दैवं चात्र प्रदक्षिणम् ॥ ५ ॥

हे महाबाहो ! और जो कर्म खूब विचारकर, उत्तम पुरुषोंसे पूछकर अपनी पूरी शक्ति लगाकर अच्छी तरह किये जाते हैं, उसका प्रयोजन अवश्य सिद्ध होता है; और ऐसे कार्योंमें भाग्य भी दाईं ओर अर्थात् अनुकूल हो जाता है ॥ ५ ॥

त्वं तु केवलचापल्याद्बलदर्पोच्छ्रितः स्वयम् ।
आरब्धव्यमिदं कर्म मन्यसे शृणु तत्र मे ॥ ६ ॥

तुम जो केवल चञ्चलता और बलके अभिमानसे घमण्डी होकर इस महाकर्मका आरम्भ करना चाहिए, ऐसा जो मानते हो उस विषयमें मेरा विचार सुनो ॥ ६ ॥

भूरिश्रवाः शलश्चैव जलसन्धश्च वीर्यवान् ।
भीष्मो द्रोणश्च कर्णश्च द्रोणपुत्रश्च वीर्यवान् ॥ ७ ॥

उन कौरवोंकी ओर भूरिश्रवा, शल, बलवान् जलसन्ध, भीष्म, द्रोण, कर्ण और बलवान् अश्वत्थामा ॥ ७ ॥

धार्तराष्ट्रा दुराधर्षा दुर्योधनपुरोगमाः ।
सर्व एव कृतास्त्राश्च सततं चाततायिनः ॥ ८ ॥

और दुर्योधन आदि धृतराष्ट्रके पुत्र दुःखसे जीतने योग्य, अस्त्र शस्त्रोंको जाननेवाले, सदैव युद्ध करनेवाले आततायी हैं ॥ ८ ॥

राजानः पार्थिवाश्चैव येऽस्माभिरुपतापिताः ।
संश्रिताः कौरवं पक्षं जातस्नेहाश्च सांप्रतम् ॥ ९ ॥

और जो राजा और राजपुत्र हम लोगोंके द्वारा संतापित हुए हैं, वे अब कौरवोंके पक्षमें जा मिले हैं, उनसे उनका प्रेम बहुत बढ गया है ॥ ९ ॥

दुर्योधनहिते युक्ता न तथास्मासु भारत ।
पूर्णकोशा बलोपेताः प्रयतिष्यन्ति रक्षणे ॥ १० ॥

हे भारत ! वे सब जैसा दुर्योधनका हित करेंगे, वैसा हमारा नहीं । वे लोग धन और बलसे पूर्ण होकर अपनी रक्षा करनेका प्रयत्न करेंगे ॥ १० ॥

सर्वे कौरवसैन्यस्य सपुत्रामात्यसैनिकाः ।
संविभक्ता हि मात्राभिर्भोगैरपि च सर्वशः ॥ ११ ॥

मंत्रियों और पुत्रोंके सहित कौरवसेनाके सभी सैनिकोंमें दुर्योधनने उनकी योग्यताके अनुसार धन तथा अन्य उपभोगके पदार्थ बांट दिए हैं ॥ ११ ॥

दुर्योधनेन ते वीरा मानिताश्च विशेषतः ।
प्राणांस्त्यक्ष्यन्ति संग्रामे इति मे निश्चिता मतिः ॥ १२ ॥

उन वीरोंका दुर्योधनने अधिक सम्मान किया है; अतएव मुझे निश्चय है, कि वे लोग दुर्योधनके लिए युद्धमें अपने प्राणतक भी दे देंगे ॥ १२ ॥

समा यद्यपि भीष्मस्य वृत्तिरस्मासु तेषु च ।
द्रोणस्य च महाबाहो कृपस्य च महात्मनः ॥ १३ ॥

हे महाबाहु ! यद्यपि भीष्म, द्रोण और महात्मा कृपाचार्यकी वृत्ति उनमें और हममें समान है ॥ १३ ॥

अवश्यं राजपिण्डस्तैर्निर्वेश्य इति मे मतिः ।
तस्मात्त्यक्ष्यन्ति संग्रामे प्राणानपि सुदुस्त्यजान् ॥ १४ ॥

तथापि मेरा विचार यही है कि वे लोग भी राजा दुर्योधनके द्वारा अबतक दिए गए अन्नका ऋण जरूर चुकायेंगे अतएव वे लोग दुर्योधनके लिए दुःखसे देने योग्य अपने प्राणोंको भी युद्धमें दे देंगे ॥ १४ ॥

सर्वे दिव्यास्त्रविद्वांसः सर्वे धर्मपरायणाः ।
अजेयाश्चेति मे बुद्धिरपि देवैः सवासवैः ॥ १५ ॥

हे महाबाहो ! वे सब दिव्य शस्त्रोंको भी जाननेवाले हैं और सभी धर्मपरायण हैं, अतः इन्द्रके सहित देवता भी उनको नहीं जीत सकते ऐसा मेरा विचार है ॥ १५ ॥

अमर्षी नित्यसंहृष्टस्तत्र कर्णो महारथः ।
सर्वास्त्रविदनाधृष्य अभेद्यकवचावृतः ॥ १६ ॥

उनमें भी महारथी कर्ण सदा ही क्रोध करनेवाला, युद्धमें हर्षित होनेवाला, सभी अस्त्रोंमें पण्डित, अभेद्य कवचसे संयुक्त और जीतनेके अयोग्य है ॥ १६ ॥

अनिर्जित्य रणे सर्वानेतान्पुरुषसत्तमान् ।
अशक्यो ह्यसहायेन हन्तुं दुर्योधनस्त्वया ॥ १७ ॥

हे भीम ! इन सब पुरुषश्रेष्ठोंको युद्धमें बिना जीते ही सहायहीन तुम दुर्योधनको नहीं मार सकते ॥ १७ ॥

न निद्रामधिगच्छामि चिन्तयानो वृकोदर ।
अति सर्वान्धनुर्ग्राहान्सूतपुत्रस्य लाघवम् ॥ १८ ॥

हे वृकोदर ! इसी बातकी और कर्णका हस्तलाघव और उसकी सब धनुर्धारियोंसे श्रेष्ठताकी चिन्ता करनेके कारण रात और दिन मुझे नींद नहीं आती ॥ १८ ॥

एतद्वचनमाज्ञाय भीमसेनोऽत्यमर्षणः ।
बभूव विमनास्त्रस्तो न चैवोवाच किंचन ॥ १९ ॥

महाराज युधिष्ठिरके यह वचन सुनकर क्रोधी भीमसेन उदास और दुःखी हो गये और कुछ नहीं बोले ॥ १९ ॥

तयोः संवदतोरेवं तदा पाण्डवयोर्द्वयोः ।
आजगाम महायोगी व्यासः सत्यवतीसुतः ॥ २० ॥

जब पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर और भीमसेन इस प्रकारसे बात कर रहे थे, तब सत्यवतीके पुत्र महायोगीश्वर व्यासदेव वहां आ पहुंचे ॥ २० ॥

सोऽभिगम्य यथान्यायं पाण्डवैः प्रतिपूजितः ।
युधिष्ठिरमिदं वाक्यमुवाच वदतां वरः ॥ २१ ॥

वहां आनेके बाद पाण्डवोंसे यथायोग्य पूजा पाकर बोलनेवालोंमें श्रेष्ठ व्यासदेव युधिष्ठिरसे ऐसा कहने लगे ॥ २१ ॥

युधिष्ठिर महाबाहो वेद्मि ते हृदि मानसम् ।
मनीषया ततः क्षिप्रमागतोऽस्मि नरर्षभ ॥ २२ ॥

हे युधिष्ठिर ! हे महाबाहो ! मैं ध्यानके द्वारा तुम्हारे हृदयकी बातको जानता हूं, हे नरश्रेष्ठ ! यही विचारकर तुम्हारे पास शीघ्रतासे आया हूं ॥ २२ ॥

भीष्माद्द्रोणात्कृपात्कर्णाद्द्रोणपुत्राच्च भारत ।
यत्ते भयममित्रघ्न हृदि संपरिवर्तते ॥ २३ ॥

तत्तेऽहं नाशयिष्यामि विधिदृष्टेन हेतुना ।
तच्छ्रुत्वा धृतिमास्थाय कर्मणा प्रतिपादय ॥ २४ ॥

हे शत्रुनाशी ! भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, कर्ण और द्रोणपुत्र अश्वत्थामाके कारण जो भय तुम्हारे हृदयमें हुआ है, उसका मैं विधिपूर्वक नाश करूंगा, तुम उसको सुनकर और धीरज धारण करके अपने कर्मसे ठीक करो ॥ २३-२४ ॥

तत एकान्तमुन्नीय पाराशर्यो युधिष्ठिरम् ।
अब्रवीदुपपन्नार्थमिदं वाक्यविशारदः ॥ २५ ॥

तब वाक्यमें विशारद पराशरके पुत्र महात्मा व्यास युधिष्ठिरको एकान्तमें ले जाकर उत्तम अर्थ सहित इस वचनको कहने लगे ॥ २५ ॥

श्रेयसस्ते परः कालः प्राप्तो भरतसत्तम ।
येनाभिभविता शत्रून्रणे पार्थो धनञ्जयः ॥ २६ ॥

हे भरतसत्तम ! तुम्हारे परम कल्याणका समय आ पहुंचा है, जिससे धनुर्धारी पृथापुत्र अर्जुन युद्धमें सब शत्रुओंको जीतेंगे ॥ २६ ॥

गृहाणेमां मया प्रोक्तां सिद्धिं मूर्तिमतीमिव ।
विद्यां प्रतिस्मृतिं नाम प्रपन्नाय ब्रवीमि ते ।
यामवाप्य महाबाहुरर्जुनः साधयिष्यति ॥ २७ ॥

मेरे द्वारा कही हुई मूर्तिमती सिद्धि जैसी इस विद्याको ग्रहण करो । इस विद्याका नाम प्रतिस्मृति है, तुमको दुःखी जानकर देता हूं, जिसको प्राप्त करके महाभुज अर्जुन इसको सिद्ध करेंगे ॥ २७ ॥

अस्त्रहेतोर्महेन्द्रं च रुद्रं चैवाभिगच्छतु ।
वरुणं च धनेशं च धर्मराजं च पाण्डव ।
शक्तो ह्येष सुरान्द्रष्टुं तपसा विक्रमेण च ॥ २८ ॥

अस्त्र शस्त्र लेनेके निमित्त अर्जुन इन्द्र, शिव, वरुण, धनके स्वामी कुबेर और धर्मराजके पास भी जायें, हे पाण्डव ! अपने तप और पराक्रमके कारण अर्जुन देवताओंको भी देखनेमें भी समर्थ हैं ॥ २८ ॥

ऋषिरेष महातेजा नारायणसहायवान्।
पुराणः शाश्वतो देवो विष्णोरंशः सनातनः ॥ २९ ॥

यह महातेजस्वी अर्जुन नर नामक ऋषि हैं; नारायण सदा ही इनके सहायक हैं, ये पुराने अमर सनातन और विष्णुके अंश हैं ॥ २९ ॥

अस्त्राणीन्द्राच्च रुद्राच्च लोकपालेभ्य एव च।
समादाय महाबाहुर्महत्कर्म करिष्यति ॥ ३० ॥

यह महाबाहु अर्जुन इन्द्र, शिव तथा अन्य लोकपालोंसे शस्त्र प्राप्त कर बडे बडे कर्मको सिद्ध करेंगे ॥ ३० ॥

वनादस्माच्च कौन्तेय वनमन्यद्विचिन्त्यताम्।
निवासार्थाय यद्युक्तं भवेद्वः पृथिवीपते ॥ ३१ ॥

हे पृथिवीनाथ! हे कुन्तीपुत्र! निवासके लिए इस वनको छोडकर किसी दूसरे वनको जो आप लोगोंके लिए योग्य हो, ढूंढ लें ॥ ३१ ॥

एकत्र चिरवासो हि न प्रीतिजननो भवेत्।
तापसानां च शान्तानां भवेदुद्वेगकारकः ॥ ३२ ॥

क्योंकि एक स्थानमें बहुत दिनतक रहना प्रीतिजनक नहीं होता, और शान्तिसे रहनेवाले ऋषिलोगोंके लिए भी आप लोगोंका एक जगह चिरकाल रहना उद्वेगकारक है ॥ ३२ ॥

मृगाणामुपयोगश्च वीरुदोषधिसंक्षयः।
बिभर्षि हि बहून्विप्रान्वेदवेदाङ्गपारगान् ॥ ३३ ॥

हरिण, वृक्ष, और औषधियोंका भी नाश हो जायेगा, क्योंकि आप वेद वेदांगोंके ज्ञाता अनेक ब्राह्मणोंको भोजन देते हैं ॥ ३३ ॥

एवमुक्त्वा प्रपन्नाय शुचये भगवान्प्रभुः।
प्रोवाच योगतत्त्वज्ञो योगविद्यामनुत्तमाम् ॥ ३४ ॥

इस प्रकारसे योगतत्त्वको जाननेवाले भगवान् प्रभु व्यासने कहकर पवित्र और दुःखी धर्मराजको उत्तमयोग विद्या दी ॥ ३४ ॥

धर्मराज्ञे तदा धीमान्व्यासः सत्यवतीसुतः।
अनुज्ञाय च कौन्तेयं तत्रैवान्तरधीयत ॥ ३५ ॥

तब बुद्धिमान्, सत्यवतीके पुत्र व्यासदेव कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरको आज्ञा देकर वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ ३५ ॥

युधिष्ठिरस्तु धर्मात्मा तद्ब्रह्म मनसा यतः ।
धारयामास मेधावी काले काले समभ्यसन् ॥ ३६ ॥

प्रयत्नशील धर्मात्मा और मेधावी युधिष्ठिरने उस विद्याको मनसे स्मरण करके समय समयपर उसका अभ्यास करके उस विद्याको धारण भी कर लिया ॥ ३६ ॥

स व्यासवाक्यमुदितो वनाद्द्वैतवनात्ततः ।
ययौ सरस्वतीतीरे काम्यकं नाम काननम् ॥ ३७ ॥

तब वे सब पाण्डव व्यासके वचनसे प्रसन्न होकर उस द्वैतवनसे सरस्वतीके तटवाले काम्यक नामक वनको चले ॥ ३७ ॥

तमन्वयुर्महाराज शिक्षाक्षरविदस्तथा ।
ब्राह्मणास्तपसा युक्ता देवेन्द्रमृषयो यथा ॥ ३८ ॥

हे महाराज ! तब जिस प्रकार इन्द्रके पीछे ऋषिलोग चलते हैं, वैसे ही शिक्षाशास्त्र तथा अक्षरशास्त्रको जाननेवाले तथा तपस्यासे सम्पन्न सहस्रों ब्राह्मण उनके पीछे चले ॥ ३८ ॥

ततः काम्यकमासाद्य पुनस्ते भरतर्षभाः ।
न्यविशन्त महात्मानः सामात्याः सपदानुगाः ॥ ३९ ॥

इसके बाद वे भरतश्रेष्ठ महात्मा पाण्डव अपने मन्त्री और दल बलके समेत काम्यक वनमें पहुंचकर वहां निवास करने लगे ॥ ३९ ॥

तत्र ते न्यवसन्राजन्कंचित्कालं मनस्विनः ।
धनुर्वेदपरा वीराः शृण्वाना वेदमुत्तमम् ॥ ४० ॥

हे राजन् ! वे मनस्वी और वीर पाण्डव धनुर्वेदका अभ्यास करते हुए और उत्तम वेदको सुनते हुए उस वनमें कुछ समयतक रहे ॥ ४० ॥

चरन्तो मृगयां नित्यं शुद्धैर्बाणैर्मृगार्थिनः ।
पितृदैवतविप्रेभ्यो निर्वपन्तो यथाविधि ॥ ४१ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥ १३४९ ॥

और शिकार करनेकी इच्छावाले वे शुद्धबाणोंसे मृगया करते हुए विधिके अनुसार पितर और देवताओंका तर्पण करने लगे ॥ ४१ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें सैंतीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३७ ॥ १३४९ ॥

: ३८ :

वैशम्पायन उवाच

कस्यचित्त्वथ कालस्य धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
संस्मृत्य मुनिसंदेशमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥
विविक्ते विदितप्रज्ञमर्जुनं भरतर्षभम् ।
सान्त्वपूर्वं स्मितं कृत्वा पाणिना परिसंस्पृशन् ॥ २ ॥

वैशम्पायन बोले— हे पुरुषसिंह जनमेजय! कुछ समयके पश्चात् एक दिन बैठे हुए धर्मराज युधिष्ठिर महात्मा व्यासकी बातको याद करके विख्यात प्रज्ञावाले, भरतश्रेष्ठ अर्जुनसे उसे हाथसे सहलाते हुए मुस्कराकर एकान्तमें यह वाक्य बोले ॥ १–२ ॥

स मुहूर्तमिव ध्यात्वा वनवासमरिन्दमः ।
धनञ्जयं धर्मराजो रहसीदमुवाच ह ॥ ३ ॥

शत्रुनाशी धर्मराज वनवासके वनमें मुहूर्तमात्र ध्यान करते रहे; तदनन्तर एकान्तमें अर्जुनसे कहने लगे ॥ ३ ॥

भीष्मे द्रोणे कृपे कर्णे द्रोणपुत्रे च भारत ।
धनुर्वेदश्चतुष्पाद एतेष्वद्य प्रतिष्ठितः ॥ ४ ॥

हे अर्जुन! इस समय भीष्म, द्रोण, कृप, कर्ण और अश्वत्थामामें चारों चरणसे युक्त धनुर्वेद प्रतिष्ठित है ॥ ४ ॥

ब्राह्मं दैवमासुरं च स प्रयोगचिकित्सितम् ।
सर्वास्त्राणां प्रयोगं च तेऽभिजानन्ति कृत्स्नशः ॥ ५ ॥

वे लोग सभी ब्राह्म, दैव और आसुर अस्त्र-प्रयोगोंको यत्न और चिकित्साके समेत पूर्णरूपसे जानते हैं ॥ ५ ॥

ते सर्वे धृतराष्ट्रस्य पुत्रेण परिसान्त्विताः ।
संविभक्ताश्च तुष्टाश्च गुरुवत्तेषु वर्तते ॥ ६ ॥

उन सब लोगोंकी धृतराष्ट्रके पुत्र दुर्योधनने खूब सेवा की है; दुर्योधनने उन सबका विभाग करके उन्हें सन्तुष्ट किया है, और उनके साथ गुरुके समान व्यवहार करता है ॥ ६ ॥

सर्वयोधेषु चैवास्य सदा वृत्तिरनुत्तमा ।
शक्तिं न हापयिष्यन्ति ते काले प्रतिपूजिताः ॥ ७ ॥

दुर्योधनकी प्रीति सब योद्धाओंमें अति अधिक है, अतः पूजित होकर वह लोग युद्धके समयमें अपनी शक्तिसे कुछ भी उठा न रखेंगे ॥ ७ ॥

अद्य चेयं मही कृत्स्ना दुर्योधनवशानुगा ।
त्वयि व्यपाश्रयोऽस्माकं त्वयि भारः समाहितः ।
तत्र कृत्यं प्रपश्यामि प्राप्तकालमरिन्दम　　　॥ ८ ॥

इस समय सारी पृथ्वी दुर्योधनके वशमें है । ऐसी अवस्थामें तुम ही हमारे सहारे हो और यह बोझ भी तुम्हारे ही ऊपर है; अतः, हे शत्रुनाशक अर्जुन! इस समय जो करनेके लायक काम है, वह तुमसे कहता हूँ ॥ ८ ॥

कृष्णद्वैपायनात्तात गृहीतोपनिषन्मया ।
तया प्रयुक्तया सम्यग्जगत्सर्वं प्रकाशते　　　॥ ९ ॥

हे तात! कृष्णद्वैपायनसे मैंने यह मन्त्र लिया है, जिसका उत्तम रीतिसे प्रयोग करनेसे यह समस्त जगत् प्रकाशित होता है ॥ ९ ॥

तेन त्वं ब्रह्मणा तात संयुक्तः सुसमाहितः ।
देवतानां यथाकालं प्रसादं प्रतिपालय ।　　　॥ १० ॥

हे तात! तुम उसी मन्त्रको लेकर ध्यानावस्थित होकरके समयके अनुसार देवताओंकी प्रसन्नताको प्राप्त करो ॥ १० ॥

तपसा योजयात्मानमुग्रेण भरतर्षभ ।
धनुष्मान्कवची खड्गी मुनिः सारसमन्वितः ।
न कस्यचिद्ददन्मार्गं गच्छ तातोत्तरां दिशम्　　　॥ ११ ॥

हे भरतर्षभ! उग्र तपस्यामें स्वयंको लगाओ और धनुष, कवच और खड्गको धारण करके मुनिके समान होकर अपने जानेका स्थान किसीको न बताते हुए उत्तरकी दिशाको चले जाओ ॥ ११ ॥

इन्द्रे ह्यस्त्राणि दिव्यानि समस्तानि धनञ्जय ।
वृत्राद्भीतैस्तदा देवैर्बलमिन्द्रे समर्पितम् ।
तान्येकस्थानि सर्वाणि ततस्त्वं प्रतिपत्स्यसे ।　　　॥ १२ ॥

हे धनञ्जय! इन्द्रके पास सब दिव्य अस्त्र हैं, क्योंकि वृत्रासुरसे डरकर देवताओंने सब शस्त्र इन्द्रको दे दिये थे, तुम उन सब शस्त्रोंको एक ही स्थानमें पा जाओगे ॥ १२ ॥

शक्रमेव प्रपद्यस्व स तेऽस्त्राणि प्रदास्यति ।
दीक्षितोऽद्यैव गच्छ त्वं द्रष्टुं देवं पुरन्दरम्　　　॥ १३ ॥

तुम इन्द्रकी उपासना करो, वह तुमको सब शस्त्र देंगे। दीक्षित होकर तुम आज ही इन्द्र-देवको देखने चले जाओ ॥ १३ ॥

एवमुक्त्वा धर्मराजस्तमध्यापयत प्रभुः
दीक्षितं विधिना तेन यतवाक्कायमानसम् ।
अनुजज्ञे ततो वीरं भ्राता भ्रातरमग्रजः ॥ १४ ॥

सामर्थ्यशाली धर्मराज युधिष्ठिरने ऐसा कहकर अर्जुनको वह मन्त्र बता दिया और उन युधिष्ठिरने वाणी और मनसे प्रयत्न करनेवाले उस अर्जुनको विधिपूर्वक दीक्षा दी, पश्चात् बडे भाई युधिष्ठिरने छोटे भाई वीर अर्जुनको जानेकी आज्ञा दी ॥ १४ ॥

निदेशाद्धर्मराजस्य द्रष्टुं देवं पुरन्दरम् ।
धनुर्गाण्डीवमादाय तथाक्षय्यौ महेषुधी ॥ १५ ॥

अर्जुन धर्मराजकी आज्ञासे इन्द्रको देखनेके लिए गाण्डीव धनुष, अक्षय दो तूणीर लेकर ॥ १५ ॥

कवची सतलत्राणो बद्धगोधांगुलित्रवान् ।
हुत्वाग्निं ब्राह्मणान्निष्कैः स्वस्ति वाच्य महाभुजः ॥ १६ ॥

कवच तलत्राण, अंगुलित्राण पहनकर तथा हवनकर, द्रव्यसे ब्राह्मणोंकी पूजा कर उनसे उन महाभुज अर्जुनने स्वस्तिवाचन कराया ॥ १६ ॥

प्रातिष्ठत महाबाहुः प्रगृहीतशरासनः ।
वधाय धार्तराष्ट्राणां निःश्वस्योर्ध्वमुदीक्ष्य च ॥ १७ ॥

दीर्घ सांस लेकर और ऊपरकी ओर देखकर धृतराष्ट्रपुत्रोंके मारनेके लिए महाबाहु अर्जुन धनुष लेकर चल पडे ॥ १७ ॥

तं दृष्ट्वा तत्र कौन्तेयं प्रगृहीतशरासनम् ।
अब्रुवन्ब्राह्मणाः सिद्धा भूतान्यन्तर्हितानि च ।
क्षिप्रं प्राप्नुहि कौन्तेय मनसा यद्यदिच्छसि ॥ १८ ॥

कुन्तीपुत्र अर्जुनको धनुष लेकर जाते हुए देखकर ब्राह्मण, सिद्ध और अदृश्य देवता कहने लगे, हे कुन्तीपुत्र ! तुम जो मनसे चाहते हो, उसे शीघ्र प्राप्त करो ॥ १८ ॥

तं सिंहमिव गच्छन्तं शालस्कन्धोरुमर्जुनम् ।
मनांस्यादाय सर्वेषां कृष्णा वचनमब्रवीत् ॥ १९ ॥

शालके वृक्षके समान विशाल कंधोंवाले अर्जुनको सिंहके समान जाते हुए देखकर सबके मनको अपनी ओर आकर्षित करती हुई द्रौपदी यह वचन कहने लगी ॥ १९ ॥

यत्ते कुन्ती महाबाहो जातस्यैच्छद्धनञ्जय ।
तत्तेऽस्तु सर्वं कौन्तेय यथा च स्वयमिच्छसि ॥ २० ॥

द्रौपदी बोली– हे कुन्तीनन्दन महाबाहो धनंजय ! तुम्हारे उत्पन्न होनेके समयमें तुम्हारे निमित्त कुन्तीने जो कुछ चाहा था, वह सब सिद्ध हो, और तुम भी जो कुछ चाहते हो वह भी सिद्ध हो ॥ २० ॥

मास्माकं क्षत्रियकुले जन्म कश्चिदवाप्नुयात् ।
ब्राह्मणेभ्यो नमो नित्यं येषां युद्धे न जीविका ॥ २१ ॥

हम क्षत्रियोंके वंशमें कोई भी उत्पन्न न हों; जिनकी युद्धमें जीविका नहीं है, अर्थात् जो युद्धसे अपनी जीविका नहीं चलाते हैं, उन ब्राह्मणोंको नमस्कार ॥ २१ ॥

नूनं ते भ्रातरः सर्वे त्वत्कथाभिः प्रजागरे ।
रंस्यन्ते वीरकर्माणि कीर्तयन्तः पुनः पुनः ॥ २२ ॥

आजसे तुम्हारे सब भाई जागरण कालमें तुम्हारे ही वीरतापूर्ण कर्मोंकी कथाको वारबार कहकर समय वितायेंगे ॥ २२ ॥

नैव नः पार्थ भोगेषु न धने नोत जीविते ।
तुष्टिर्बुद्धिर्भवित्री वा त्वयि दीर्घप्रवासिनि ॥ २३ ॥

कुन्तीनन्दन ! तुम्हारे दीर्घकालतकके लिए प्रवासपर चले जानेपर हम लोगोंको न भोगसे, न धनसे और न जीविकासे सन्तोषकी बुद्धि प्राप्त होगी ॥ २३ ॥

त्वयि नः पार्थ सर्वेषां सुखदुःखे समाहिते ।
जीवितं मरणं चैव राज्यमैश्वर्यमेव च ।
आपृष्टो मेऽसि कौन्तेय स्वस्ति प्राप्नुहि पाण्डव ॥ २४ ॥

क्योंकि हमारा सबका सुखदुःख तुम्हारे ही अधीन है, और हमारा जीना, मरना, राज्य और ऐश्वर्य भी तुम्हारे ही अधीन है। हे कुन्तीनन्दन अर्जुन ! तुम्हें अनुमति है, तुम जाओ, और कल्याणको प्राप्त करो ॥ २४ ॥

नमो धात्रे विधात्रे च स्वस्ति गच्छ ह्यनामयम् ।
स्वस्ति तेऽस्त्वान्तरिक्षेभ्यः पार्थिवेभ्यश्च भारत ।
दिव्येभ्यश्चैव भूतेभ्यो ये चान्ये परिपन्थिनः ॥ २५ ॥

मैं धाता और विधाताको नमस्कार करती हूं, तुम कुशल होकर कल्याणपूर्वक जाओ, हे कुन्तीनन्दन ! आकाश और भूमिमें फिरनेवाले प्राणियोंसे तुम्हारा कल्याण हो, द्युलोकके प्राणी तथा और भी जो विघ्नकारी जन्तु हैं वे सभी तुम्हारी कुशल करें ॥ २५ ॥

ततः प्रदक्षिणं कृत्वा भ्रातॄन्धौम्यं च पाण्डवः ।
प्रातिष्ठत महाबाहुः प्रगृह्य रुचिरं धनुः ॥ २६ ॥
तदनन्तर अपने भाईयों और धौम्यकी प्रदक्षिणा करके महाबाहु पाण्डुपुत्र अर्जुन उत्तम धनुषको धारण करके चल दिये ॥ २६ ॥

तस्य मार्गादपाक्रामन्सर्वभूतानि गच्छतः ।
युक्तस्यैन्द्रेण योगेन पराक्रान्तस्य शुष्मिणः ॥ २७ ॥
इन्द्रके अंशको धारण करनेवाले तेजस्वी बलवान् अर्जुनके चलनेसे मार्गके जितने प्राणी थे, सब हट गये ॥ २७ ॥

सोऽगच्छत्पर्वतं पुण्यमेकाह्नैव महामनाः ।
मनोजवगतिर्भूत्वा योगयुक्तो यथानिलः ॥ २८ ॥
महात्मा अर्जुन योगसे युक्त होकर मनके समान तेज गति धारण करके हवाके समान एक ही दिनमें पवित्र हिमाचल पर्वत पर पहुंच गये ॥ २८ ॥

हिमवन्तमतिक्रम्य गन्धमादनमेव च ।
अत्यक्रामत्स दुर्गाणि दिवारात्रमतन्द्रितः ॥ २९ ॥
तदनन्तर उन्होंने हिमाचल और गन्धमादनको पार करके निद्रासे रहित होकर रातदिन चलते हुए अनेक दुर्गसे पर्वतोंको पार किया ॥ २९ ॥

इन्द्रकीलं समासाद्य ततोऽतिष्ठद्धनञ्जयः ।
अन्तरिक्षे हि शुश्राव तिष्ठेति स वचस्तदा ॥ ३० ॥
तदनन्तर जब अर्जुन इन्द्रकील नामक स्थानपर जाकर रुक गए, तो उन्होंने अन्तरिक्षमें एक वाणी सुनी कि यहीं ठहरो ॥ ३० ॥

ततोऽपश्यत्सव्यसाची वृक्षमूले तपस्विनम् ।
ब्राह्मया श्रिया दीप्यमानं पिङ्गलं जटिलं कृशम् ॥ ३१ ॥
इस वाणीको सुनकर अर्जुनने जब चारों ओर नजर डाली, तब सव्यसाची अर्जुनने वृक्षकी जडमें बैठे हुए तपके तेजसे प्रकाशमान, पिङ्गल वर्णयुक्त, जटाधारी कृश एक तपस्वीको देखा ॥ ३१ ॥

सोऽब्रवीदर्जुनं तत्र स्थितं दृष्ट्वा महातपाः ।
कस्त्वं तातेह संप्राप्तो धनुष्मान्कवची शरी ।
निबद्धासितलत्राणः क्षत्रधर्ममनुव्रतः ॥ ३२ ॥
उस महातपस्वीने वहां खडे हुए अर्जुनको देखकर कहा, हे तात ! धनुप कवच, वाण, अंगुलित्राण और तरकस धारण किये क्षत्रियोंके धर्ममें स्थित तुम कौन हो, और यहां क्यों आये हो ? ॥ ३२ ॥

नेह शस्त्रेण कर्तव्यं शान्तानामयमालयः ।
विनीतक्रोधहर्षाणां ब्राह्मणानां तपस्विनाम् ॥ ३३ ॥

यह स्थान हर्ष और क्रोधसे रहित और तपस्वी तथा शान्त ब्राह्मणोंका है, अतः यहां धनुषका कुछ भी प्रयोजन नहीं है ॥ ३३ ॥

नेहास्ति धनुषा कार्यं न संग्रामेण कर्हिचित् ।
निक्षिपैतद्धनुस्तात प्राप्तोऽसि परमां गतिम् ॥ ३४ ॥

यहां धनुषका कुछ प्रयोजन नहीं, यहां कभी युद्ध नहीं होता । हे तात ! तुम इस धनुषको फेंक दो; क्योंकि तुम परम गतिको प्राप्त हुए हो ॥ ३४ ॥

इत्यनन्तौजसं वीरं यथा चान्यं पृथग्जनम् ।
तथा वाचमथाभीक्ष्णं ब्राह्मणोऽर्जुनमब्रवीत् ।
न चैनं चालयामास धैर्यात्सुदृढनिश्चयम् ॥ ३५ ॥

हे वीर ! जिस प्रकार कोई दूसरा साधारण पुरुष नहीं बोल सकता, वैसे ही तेज और बलसे भरी हुई वाणी वह ब्राह्मण अर्जुनसे बोला, परन्तु अर्जुनका धैर्य और निश्चय उसके कहनेसे जरा भी चलित न हुआ ॥ ३५ ॥

तमुवाच ततः प्रीतः स द्विजः प्रहसन्निव ।
वरं वृणीष्व भद्रं ते शक्रोऽहमरिसूदन ॥ ३६ ॥

तदनन्तर वह ब्राह्मण प्रसन्न होकर हंसता हुआ अर्जुनसे ऐसा बोला— हे शत्रुनाशन ! तुम्हारा कल्याण हो, मैं इन्द्र हूं; जो तुम्हारी इच्छा हो वह वरदान मांगो ॥ ३६ ॥

एवमुक्तः प्रत्युवाच सहस्राक्षं धनञ्जयः ।
प्राञ्जलिः प्रणतो भूत्वा शूरः कुरुकुलोद्वहः ॥ ३७ ॥

तब इन्द्रके इस प्रकार कहनेपर कुरुकुलको बढानेवाले शूरवीर अर्जुन हाथ जोडकर और नम्र होकर सहस्राक्ष इन्द्रसे ऐसा बोले ॥ ३७ ॥

ईप्सितो ह्येष मे कामो वरं चैनं प्रयच्छ मे ।
त्वत्तोऽद्य भगवन्नस्त्रं कृत्स्नमिच्छामि वेदितुम् ॥ ३८ ॥

हे भगवन् ! मेरी यही इच्छा है और यही वरदान मुझको दीजिये, मैं आपसे आज सब शस्त्रोंको जाननेकी इच्छा करता हूँ ॥ ३८ ॥

प्रत्युवाच महेन्द्रस्तं प्रीतात्मा प्रहसन्निव ।
इह प्राप्तस्य किं कार्यमस्त्रैस्तव धनञ्जय ।
कामान्वृणीष्व लोकांश्च प्राप्तोऽसि परमां गतिम् ॥ ३९ ॥

तब प्रसन्न होकर हंसते हुए इन्द्र उससे बोले, हे धनञ्जय ! इस स्थानपर पहुंचे हुए तुम्हें शस्त्रोंसे क्या प्रयोजन है ? तुम परमगतिको प्राप्त हुए हो, अतएव जिस लोकमें जानेकी इच्छा हो, उसे मांग लो ॥ ३९ ॥

एवमुक्तः प्रत्युवाच सहस्राक्षं धनञ्जयः ।
न लोकान्न पुनः कामान्न देवत्वं कुतः सुखम् ॥ ४० ॥

ऐसा कहनेपर अर्जुन इन्द्रसे बोले, हे देवराज ! मैं न लोकोंको चाहता हूँ, न कामनाओंको चाहता हूं और न देवपद ही चाहता हूँ, फिर सांसारिक सुखके लिए तो कहना ही क्या ? ॥ ४० ॥

न च सर्वामरैश्वर्यं कामये त्रिदशाधिप ।
भ्रातॄंस्तान्विपिने त्यक्त्वा वैरमप्रतियात्य च ।
अकीर्तिं सर्वलोकेषु गच्छेयं शाश्वतीः समाः ॥ ४१ ॥

हे देवोंके राजा इन्द्र ! मैं सम्पूर्ण देवोंके ऐश्वर्यको भी नहीं चाहता । मैं अपने भाइयोंको वनमें छोड और वैरका बदला विना लिये यदि किसी लोकमें जाकर सुख भोगूं, तो अनेक वर्षोंतक अपकीर्त्तिको प्राप्त होऊं ॥ ४१ ॥

एवमुक्तः प्रत्युवाच वृत्रहा पाण्डुनन्दनम् ।
सान्त्वयञ्श्लक्ष्णया वाचा सर्वलोकनमस्कृतः ॥ ४२ ॥

वृत्रासुरके मारनेवाले सब लोकोंके द्वारा पूजित इन्द्र पाण्डुपुत्रकी यह बात सुनकर, कोमल वाणीसे अर्जुनको सांत्वना देते हुए ऐसा बोले ॥ ४२ ॥

यदा द्रक्ष्यसि भूतेशं त्र्यक्षं शूलधरं शिवम् ।
तदा दातास्मि ते तात दिव्यान्यस्त्राणि सर्वशः ॥ ४३ ॥

हे तात ! जब तुम शूलधारी, तीन नेत्रवाले, भूतोंके स्वामी, शिवका दर्शन करोगे, तब मैं तुमको सब दिव्य अस्त्र सब तरहसे दूंगा ॥ ४३ ॥

क्रियतां दर्शने यत्नो देवस्य परमेष्ठिनः ।
दर्शनात्तस्य कौन्तेय संसिद्धः स्वर्गमेष्यसि ॥ ४४ ॥

हे कुन्तीनन्दन ! अब तुम परमेश्वर शिवके दर्शन करनेका यत्न करो, उनका दर्शन होनेसे सिद्धिको प्राप्त होकर स्वर्गमें आओगे ॥ ४४ ॥

इत्युक्त्वा फल्गुनं शक्रो जगामादर्शनं ततः ।
अर्जुनोऽप्यथ तत्रैव तस्थौ योगसमन्वितः ॥ ४५ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि अष्टात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥ १२९४ ॥

अर्जुनसे ऐसा कहकर इन्द्र वहीं अन्तर्द्धान हो गये । और अर्जुन भी वहीं बैठकर योग करने लगे ॥ ४५ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें अडतीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३८ ॥ १२९४ ॥

: ३९ :

जनमेजय उवाच

भगवञ्श्रोतुमिच्छामि पार्थस्याक्लिष्टकर्मणः ।
विस्तरेण कथामेतां यथास्त्राण्युपलब्धवान् ॥ १ ॥

जनमेजय बोले– हे भगवन् ! अनायास ही कठिन कर्म करनेवाले अर्जुनको जिस प्रकार अस्त्र प्राप्त हुए उस कथाको मैं विस्तारसे सुनना चाहता हूं ॥ १ ॥

कथं स पुरुषव्याघ्रो दीर्घबाहुर्धनञ्जयः ।
वनं प्रविष्टस्तेजस्वी निर्मनुष्यमभीतवत् ॥ २ ॥

किस प्रकारसे वह तेजस्वी, पुरुषसिंह, महाबाहु अर्जुन मनुष्यरहित वनमें निर्भयके समान गये ॥ २ ॥

किं च तेन कृतं तत्र वसता ब्रह्मवित्तम ।
कथं च भगवान्स्थाणुर्देवराजश्च तोषितः ॥ ३ ॥

हे ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ ! वहां रहते हुए उन्होंने क्या किया, और भगवान् शिव और देवराज इन्द्रको किस प्रकार प्रसन्न किया ? ॥ ३ ॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं त्वत्प्रसादाद्द्विजोत्तम ।
त्वं हि सर्वज्ञ दिव्यं च मानुषं चैव वेत्थ ह ॥ ४ ॥

हे सर्वज्ञ ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ ! मैं यह सब कथा आपकी कृपासे सुननेकी इच्छा करता हूँ, क्योंकि आप देवता और मनुष्योंकी सब बातोंको जानते हैं ॥ ४ ॥

अत्यद्भुतं महाप्राज्ञ रोमहर्षणमर्जुनः ।
भवेन सह संग्रामं चकाराप्रतिमं किल ।
पुरा प्रहरतां श्रेष्ठः संग्रामेष्वपराजितः ॥ ५ ॥

हे महाप्राज्ञ ! हमने सुना है, कि पहले युद्ध करनेवालोंमें श्रेष्ठ युद्धोंमें अपराजित अर्जुनने शिवके साथ महाघोर, अद्वितीय, लोमहर्षक युद्ध किया था ॥ ५ ॥

यच्छ्रुत्वा नरसिंहानां दैन्यहर्षातिविस्मयात् ।
शूराणामपि पार्थानां हृदयानि चकम्पिरे ॥ ६ ॥

जिस कथाको सुनकर पुरुषश्रेष्ठ, शूरवीर पाण्डवोंके हृदय भी दैन्य, हर्ष और अत्यन्त विस्मयके कारण कांप गए थे ॥ ६ ॥

यच्चच कृतवानन्यत्पार्थस्तदखिलं वद ।
न ह्यस्य निन्दितं जिष्णोः सुसूक्ष्ममपि लक्षये ।
चरितं तस्य शूरस्य तन्मे सर्वं प्रकीर्तय ॥ ७ ॥

अर्जुनने दूसरेभी जो जो कर्म किये, वह सब कहिये, क्योंकि अर्जुनके चरित्रमें थोडा भी निन्दाके योग्य भाग मुझे नहीं दीख पडता, अतएव उस शूरवीरके सब चरित्रको मुझसे कहिये ॥ ७ ॥

वैशम्पायन उवाच

कथयिष्यामि ते तात कथामेतां महात्मनः ।
दिव्यां कौरवशार्दूल महतीमद्भुतोपमाम् ॥ ८ ॥

वैशम्पायन बोले– हे कुरुवंशियोंमें शार्दूल तात जनमेजय ! महात्मा अर्जुनकी इस अद्भुत दिव्य और महान् कथाको मैं तुमसे कहता हूं ॥ ८ ॥

गात्रसंस्पर्शसंबन्धं त्र्यम्बकेण सहानघ ।
पार्थस्य देवदेवेन शृणु सम्यक्समागमम् ॥ ९ ॥

जिस प्रकार गात्रसे संस्पर्श हुएके समान देवाधिदेव शिवसे अर्जुनका समागम हुआ, उस कथाको मैं भली भांति कहता हूं । हे पापरहित ! तुम सुनो ॥ ९ ॥

युधिष्ठिरनियोगात्स जगामामितविक्रमः ।
शक्रं सुरेश्वरं द्रष्टुं देवदेवं च शंकरम् ॥ १० ॥
दिव्यं तद्धनुरादाय खड्गं च पुरुषर्षभः ।
महाबलो महाबाहुरर्जुनः कार्यसिद्धये ।
दिशं ह्युदीचीं कौरव्यो हिमवच्छिखरं प्रति ॥ ११ ॥

महाराज युधिष्ठिरकी आज्ञासे देवराज इन्द्र और देवाधिदेव शिवको देखनेकी इच्छासे दिव्य धनुष और खड्गको लेकर महाबलवान्, महाबाहु, पुरुषश्रेष्ठ कौरववंशी अमित पराक्रमी अर्जुन कार्यको सिद्ध करनेके लिए उत्तरदिशामें स्थित हिमाचलके शिखरकी ओर चले ॥ १०-११ ॥

ऐन्द्रिः स्थिरमना राजन्सर्वलोकमहारथः ।
त्वरया परया युक्तस्तपसे धृतनिश्चयः
वनं कण्टकितं घोरमेक एवान्वपद्यत ॥ १२ ॥
नानापुष्पफलोपेतं नानापक्षिनिषेवितम् ।
नानामृगगणाकीर्णं सिद्धचारणसेवितम् ॥ १३ ॥

हे राजन् ! स्थिर मनवाले, सब लोकोंमें सुप्रसिद्ध महारथी इन्द्रपुत्र अर्जुन तपस्या करनेका निश्चय करके अत्यन्त वेगवान् गतिसे अनेक तरहके फूलों और फलोंसे सम्पन्न नाना तरहके पक्षियोंसे सेवित, अनेक तरहके मृगों तथा अन्य पशुओंसे व्याप्त, सिद्धों और चारणोंसे सेवित पर कांटोंसे भरे भयंकर वनमें अकेले ही जा पहुंचे ॥ १२-१३ ॥

ततः प्रयाते कौन्तेये वनं मानुषवर्जितम् ।
शङ्खानां पटहानां च शब्दः समभवद्दिवि ॥ १४ ॥

तब कुन्तीपुत्र अर्जुनके मनुष्यसे रहित उस वनमें जानेपर आकाशमें शंख और पटहका शब्द होने लगा ॥ १४ ॥

पुष्पवर्षं च सुमहन्निपपात महीतले ।
मेघजालं च विततं छादयामास सर्वतः ॥ १५ ॥

आकाशसे पृथ्वीपर फूलोंकी महान् वर्षा हुई। बादलोंके समूहने आकाशको सब ओरसे छा लिया ॥ १५ ॥

अतीत्य वनदुर्गाणि संनिकर्षे महागिरेः ।
शुशुभे हिमवत्पृष्ठे वसमानोऽर्जुनस्तदा ॥ १६ ॥

तब अर्जुन कठिन कठिन वनोंको पारकर महापर्वत हिमाचलके शिखरपर रहते हुए शोभित हुए ॥ १६ ॥

तत्रापश्यद् द्रुमान्फुल्लान्विहगैर्वल्गु नादितान् ।
नदीश्च विपुलावर्ता नीलवैडूर्यसंनिभाः ॥ १७ ॥

वहां उन्होंने फूले हुए वृक्षोंके ऊपर मीठे शब्द करनेवाले पक्षियों और नीले वैडूर्यके समान निर्मल जलवाली तथा अनेक भवरोंवाली नदियोंको देखा ॥ १७ ॥

हंसकारण्डवोद्गीताः सारसाभिरुतास्तथा ।
पुंस्कोकिलरुताश्चैव क्रौञ्चबर्हिणनादिताः ॥ १८ ॥

उसके तटपर हंस, कारण्डव पक्षी शब्द कर रहे थे, तथा सारसके शब्द कोकिलाका कूजन, मयूर और क्रौञ्च आदि पक्षियोंके आनन्दमय शब्द हो रहे थे ॥ १८ ॥

मनोहरवनोपेतास्तस्मिन्नतिरथोऽर्जुनः ।
पुण्यशीतामलजलाः पश्यन्प्रीतमनाभवत् ॥ १९ ॥

महारथी अर्जुन उस मनोहर वनमें पवित्र ठण्डे और निर्मल जलवाली नदियोंको देखकर प्रसन्न मनवाले हुए ॥ १९ ॥

रमणीये वनोद्देशे रममाणोऽर्जुनस्तदा ।
तपस्युग्रे वर्तमान उग्रतेजा महामनाः ॥ २० ॥

तब उस रमणीय वनमें रमते हुए और उग्र तपको करते हुए महा तेजस्वी मनस्वी अर्जुनने ॥ २० ॥

दर्भचीरं निवस्याथ दण्डाजिनविभूषितः।
पूर्णे पूर्णे त्रिरात्रे तु मासमेकं फलाशनः।
द्विगुणेनैव कालेन द्वितीयं मासमत्यगात् ॥ २१ ॥

दर्भका वस्त्र, हरिणका चमडा और दण्डहीको आभूषण बनाया। वे एक महीनेतक तीन तीन दिनमें एक एक फल खाते रहे, दूसरे महीनेमें उससे दुगने समय अर्थात् छः छः दिनमें एक एक फल खाने लगे ॥ २१ ॥

तृतीयमपि मासं स पक्षेणाहारमाचरन्।
शीर्णं च पतितं भूमौ पर्णं समुपयुक्तवान् ॥ २२ ॥

तीसरे महीनेमें पक्ष पक्षमें एक एक फल खाकर समय विताया, तदनन्तर सूखकर वृक्षसे भूमिपर गिरे हुए पत्ते खाने लगे ॥ २२ ॥

चतुर्थे त्वथ संप्राप्ते मासि पूर्णे ततः परम्।
वायुभक्षो महाबाहुरभवत्पाण्डुनन्दनः।
ऊर्ध्वबाहुर्निरालम्बः पादाङ्गुष्ठाग्रविष्ठितः। ॥ २३ ॥

उसके बाद तीसरे मासके पूर्ण होनेपर जब चौथा महीना प्राप्त हुआ, महाबाहु पाण्डुनन्दन अर्जुन उर्ध्वबाहु होकर बिना किसी आश्रयके केवल चरणके अंगुठे ही पर खडे होकर तथा वायु पीकर तपस्या करने लगे ॥ २३ ॥

सदोपस्पर्शनाच्चास्य बभूवुरमितौजसः।
विद्युदम्भोरुहनिभा जटास्तस्य महात्मनः ॥ २४ ॥

महात्मा महातेजस्वी अर्जुनकी जटा नित्य स्नान करनेके कारण बिजली और कमलके समान कान्तिवाली हो गई ॥ २४ ॥

ततो महर्षयः सर्वे जग्मुर्देवं पिनाकिनम्।
शितिकण्ठं महाभागं प्रणिपत्य प्रसाद्य च।
सर्वे निवेदयामासुः कर्म तत्फल्गुनस्य ह ॥ २५ ॥

तब सब मुनीश्वर पिनाकधारी देव शिवके पास गए और महाभाग शितिकण्ठ शिवको प्रणाम कर और प्रसन्न करके अर्जुनके कर्मोंको बताने लगे ॥ २५ ॥

एष पार्थो महातेजा हिमवत्पृष्ठमाश्रितः।
उग्रे तपसि दुष्पारे स्थितो धूमाययन्दिशः ॥ २६ ॥

कि यह महातेजस्वी कुन्तीपुत्र हिमालयकी चोटीपर बैठकर दिशाओंको धूमाच्छादित करते हुए अपार और उग्र तपमें स्थित रहे हैं ॥ २६ ॥

तस्य देवेश न वयं विद्मः सर्वे चिकीर्षितम् ।
संतापयति नः सर्वानसौ साधु निवार्यताम् ॥ २७ ॥

हे देवताओंके नाथ ! हम सब उनकी इच्छाको नहीं जानते , वे हमें संतप्त कर रहे हैं, अतः आप साधुतापूर्वक उनको इस तपस्यासे निवृत्त कीजिए ॥ २७ ॥

महेश्वर उवाच

शीघ्रं गच्छत संहृष्टा यथागतमतन्द्रिताः ।
अहमस्य विजानामि संकल्पं मनसि स्थितम् ॥ २८ ॥

महेश्वर बोले– जैसे आये हो, वैसे ही सुखसे आलस्यरहित होकर शीघ्र चले जाओ । मैं उसके मनमें स्थित संकल्पको जानता हूं ॥ २८ ॥

नास्य स्वर्गस्पृहा काचिन्नैश्वर्यस्य न चायुषः ।
यत्त्वस्य काङ्क्षितं सर्वं तत्करिष्येऽहमद्य वै ॥ २९ ॥

उसको न स्वर्गकी इच्छा है, न ऐश्वर्यकी इच्छा है और न आयु बढानेकी इच्छा है; जो कुछ उसकी इच्छा है, मैं उसे अभी पूर्ण करता हूं ॥ २९ ॥

वैशम्पायन उवाच

ते श्रुत्वा शर्ववचनमृषयः सत्यवादिनः ।
प्रहृष्टमनसो जग्मुर्यथास्वं पुनराश्रमान् ॥ ३० ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥ १४२४ ॥

वैशम्पायन बोले– शिवके ऐसे वचन सुनकर सत्यवादी मुनि प्रसन्न मनवाले होकर अपने अपने आश्रमोंको चले गये ॥ ३० ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें उन्तालीसवां अध्याय समाप्त ॥ ३९ ॥ १४२४ ॥

: ४० :

वैशम्पायन उवाच

गतेषु तेषु सर्वेषु तपस्विषु महात्मसु ।
पिनाकपाणिर्भगवान्सर्वपापहरो हरः ॥ १ ॥
कैरातं वेषमास्थाय काञ्चनद्रुमसंनिभम् ।
विभ्राजमानो वपुषा गिरिर्मेरुरिवापरः ॥ २ ॥

वैशम्पायन बोले– उन सब महात्मा तपस्वीलोगोंके अपने अपने घरोंको चले जानेपर सब पापोंके नाश करनेवाले धनुर्धारी भगवान् शिव सोनेके वृक्षके समान तेजस्वी किरातका वेष धारण करके दूसरे मेरु पर्वतके समान तेजस्वी शरीरसे युक्त हो ॥ १–२ ॥

श्रीमद्धनुरुपादाय शरांश्चाशीविषोपमान् ।
निष्पपात महार्चिष्मान्दहन्कक्षमिवानलः ॥ ३ ॥

उत्तम धनुष और सर्पके समान भयंकर बाणोंको धारण करके वनोंको जलाती हुई और बडी बडी ज्वालाओंवाली अग्निके समान वेगसे चले ॥ ३ ॥

देव्या सहोमया श्रीमान्समानव्रतवेषया।
नानावेषधरैर्हृष्टैर्भूतैरनुगतस्तदा ॥ ४ ॥
किरातवेषप्रच्छन्नः स्त्रीभिश्चानु सहस्रशः ।
अशोभत तदा राजन्स देवोऽतीव भारत ॥ ५ ॥

अपने समान व्रत और वेषको धारण करनेवाली उमाके साथ और नाना रूपधारी भूतोंसे अनुगत होते हुए श्रीमान् शिवदेव किरात वेषधारी होने तथा अनेक स्त्रियोंके कारण, हे भारत! हे महाराज ! अत्यन्त शोभित हुए ॥ ४–५ ॥

क्षणेन तद्वनं सर्वं निःशब्दमभवत्तदा ।
नादः प्रस्रवणानां च पक्षिणां चाप्युपारमत् ॥ ६ ॥

तब क्षणमात्रमें वह सारा वन शब्दरहित हो गया, उस समय पक्षी और झरनोंका शब्द भी बन्द हो गया ॥ ६ ॥

स संनिकर्षमागम्य पार्थस्याक्लिष्टकर्मणः ।
मूकं नाम दितेः पुत्रं ददर्शाद्भुतदर्शनम् ॥ ७ ॥

उन्होंने कठिन कर्मको अनायास ही करनेवाले अर्जुनके पास आकर अद्भुत दर्शनवाले मूक नामक दितिके पुत्रको देखा ॥ ७ ॥

वाराहं रूपमास्थाय तर्कयन्तमिवार्जुनम् ।
हन्तुं परमदुष्टात्मा तमुवाचाथ फल्गुनः ॥ ८ ॥
गाण्डीवं धनुरादाय शरांश्चाशीविषोपमान् ।
सज्यं धनुर्वरं कृत्वा ज्याघोषेण निनादयन् ॥ ९ ॥

वह दुष्टात्मा राक्षस सुअरका वेष बनाये हुए क्रोधसे दीप्त, मारनेकी इच्छासे अर्जुनको देख रहा था, तब अर्जुनने विषके समान भयंकर गाण्डीव धनुष और सर्पके समान बाण लेकर उत्तम धनुषपर डोरी चढाकर उस डोरीके शब्दसे वनको गुंजाते हुए उस राक्षससे कहा ॥ ८-९ ॥

यन्मां प्रार्थयसे हन्तुमनागसमिहागतम् ।
तस्मात्त्वां पूर्वमेवाहं नेष्यामि यमसादनम् ॥ १० ॥

तू जो यहां आए हुए निरपराध मुझे मारनेकी इच्छा करता है, इसलिये पहले मैं ही तुझको यमके घरमें पहुंचाऊंगा ॥ १० ॥

तं दृष्ट्वा प्रहरिष्यन्तं फल्गुनं दृढधन्विनम् ।
किरातरूपी सहसा वारयामास शंकरः ॥ ११ ॥

जब किरातरूपी महादेवने उस सुअर रूपधारी राक्षसपर प्रहार करनेवाले दृढ धनुषधारी अर्जुनको देखा, तो उनको निवारण करके वे कहने लगे ॥ ११ ॥

मयैष प्रार्थितः पूर्वं नीलमेघसमप्रभः ।
अनादृत्यैव तद्वाक्यं प्रजहाराथ फल्गुनः ॥ १२ ॥

हे नील मेघके समान कांतिवाले! इसको मारनेकी इच्छा पहले मैंने की है, परन्तु अर्जुनने उनके वचनका निरादर करके उसको बाण मारा ॥ १२ ॥

किरातश्च समं तस्मिन्नेकलक्ष्ये महाद्युतिः ।
प्रमुमोचाशनिप्रख्यं शरमग्निशिखोपमम् ॥ १३ ॥

ठीक उसी समय उसीको लक्ष्य करके महा तेजस्वी किरातने भी वज्र और अग्निकी ज्वालाके समान तीक्ष्ण बाण मारा ॥ १३ ॥

तौ मुक्तौ सायकौ ताभ्यां समं तत्र निपेततुः ।
मूकस्य गात्रे विस्तीर्णे शैलसंहनने तदा ॥ १४ ॥

उन दोनोंके द्वारा छोडे गए वे दोनों बाण एक ही समयमें मूक राक्षसके पर्वतके समान विशाल शरीरमें जा लगे ॥ १४ ॥

यथाशनिविनिष्पेषो वज्रस्येव च पर्वते ।
तथा तयोः संनिपातः शरयोरभवत्तदा ॥ १५ ॥

जिस प्रकार एक ही समय बिजलीके गिरने और वज्रके लगनेसे पर्वतमें शब्द होता है, वैसा ही शब्द उसके शरीरमें दो बाणोंके लगनेसे हुआ ॥ १५ ॥

स विद्धो बहुभिर्बाणैर्दीप्तास्यैः पन्नगैरिव ।
ममार राक्षसं रूपं भूयः कृत्वा विभीषणम् ॥ १६ ॥

वह राक्षस अनेक प्रकाशमान मुंहवाले सांपोंके समान भयंकर बाणोंके लगनेसे अपने राक्षसी रूपको और भयंकर बनाकर मर गया ॥ १६ ॥

ददर्शाथ ततो जिष्णुः पुरुषं काञ्चनप्रभम् ।
किरातवेषप्रच्छन्नं स्त्रीसहायममित्रहा ।
तमब्रवीत्प्रीतमनाः कौन्तेयः प्रहसन्निव ॥ १७ ॥

तब शत्रुनाशक अर्जुनने स्त्रियोंके सहित किरात रूपधारी सोनेके समान वर्णवाले एक पुरुषको देखा और कुन्तीपुत्रने प्रसन्नचित्तसे हंसकर उससे पूछा ॥ १७ ॥

*

को भवानटसे शून्ये वने स्त्रीगणसंवृतः ।
न त्वमस्मिन्वने घोरे बिभेषि कनकप्रभ ॥ १८ ॥

तुम कौन हो जो इस निर्जन वनमें स्त्रियोंके झुण्डके साथ घूम रहे हो ? हे सोनेके रङ्गवाले पुरुष ! तुम क्या इस घोर वनमें घूमते हुए डरते नहीं हो ? ॥ १८ ॥

किमर्थं च त्वया विद्धो मृगोऽयं मत्परिग्रहः ।
ममाभिपन्नः पूर्वं हि राक्षसोऽयमिहागतः ॥ १९ ॥

और तुमने मेरे हाथमें आए हुए इस प्राणीको क्यों मारा ? इस राक्षसको यहां आनेपर पहिले मैंने ही मारा था ॥ १९ ॥

कामात्परिभवाद्वापि न मे जीवन्विमोक्ष्यसे ।
न ह्येष मृगयाधर्मो यस्त्वयाद्य कृतो मयि ।
तेन त्वां भ्रंशयिष्यामि जीवितात्पर्वताश्रय ॥ २० ॥

तुमने इसे चाहे कामसे मारा हो या मेरा निरादर करनेकी इच्छासे, परन्तु तुम मुझसे जीते हुए अब नहीं बच सकते; क्योंकि तुमने मेरे साथ जो यह कर्म किया, यह मृगयाधर्मके विरुद्ध है; अतः, हे पर्वतके निवासी ! इस कारण मैं तुमको जीवनसे अभी मुक्त कर दूंगा ॥ २० ॥

इत्युक्तः पाण्डवेयेन किरातः प्रहसन्निव ।
उवाच श्लक्ष्णया वाचा पाण्डवं सव्यसाचिनम् ॥ २१ ॥

पाण्डुपुत्रके ऐसे वचन सुनकर किरातने हंसकर मीठी वाणीसे सव्यसाची अर्जुनसे ऐसा कहा ॥ २१ ॥

ममैवायं लक्ष्यभूतः पूर्वमेव परिग्रहः ।
ममैव च प्रहारेण जीविताद्व्यवरोपितः ॥ २२ ॥

पहले मैंने ही इसको लक्ष्य बनाया था और मेरे ही बाणसे यह जीवनसे मुक्त हुआ है, इसलिये यह मेरा ही धन है ॥ २२ ॥

दोषान्स्वान्नार्हसेऽन्यस्मै वक्तुं स्वबलदर्पितः ।
अभिषक्तोऽस्मि मन्दात्मन्न मे जीवन्विमोक्ष्यसे ॥ २३ ॥

हे मूर्ख ! बलके अभिमानमें आकर अपने दोष दूसरोंपर मढना तुम्हारे लिए उचित नहीं है। अब तुम कदापि मुझसे जीते हुए नहीं बचोगे ॥ २३ ॥

स्थिरो भवस्व मोक्ष्यामि सायकानशनीनिव ।
घटस्व परया शक्त्या मुञ्च त्वमपि सायकान् ॥ २४ ॥

अब मैं वज्रके समान तीक्ष्ण बाणोंको छोडता हूं; तुम स्थिर हो जाओ। अपनी परमशक्तिसे यत्न करो; और अपने बाणोंको भी तुम छोडो ॥ २४ ॥

ततस्तौ तत्र संरब्धौ गर्जमानौ मुहुर्मुहुः ।
शरैराशीविषाकारैस्ततक्षाते परस्परम् ॥ २५ ॥

तब वे दोनों बार बार क्रोध करते हुए और बार बार गर्जते हुए परस्पर एक दूसरेको सांपके समान विषसे भरे बाणोंसे मारने लगे ॥ २५ ॥

ततोऽर्जुनः शरवर्षं किराते समवासृजत् ।
तत्प्रसन्नेन मनसा प्रतिजग्राह शंकरः ॥ २६ ॥

तब अर्जुनने किरातपर बाणोंकी वर्षा बरसाई और शिव भी प्रसन्न चित्तसे उस बाणोंकी वर्षाको सहने लगे ॥ २६ ॥

मुहूर्तं शरवर्षं तत्प्रतिगृह्य पिनाकधृक् ।
अक्षतेन शरीरेण तस्थौ गिरिरिवाचलः ॥ २७ ॥

पिनाकधारी शिव एक मुहूर्त्तमात्र उस बाणवर्षाको सह करके भी पर्वतके समान अचल ही खडे रहे और शरीरमें एक घाव भी न हुआ ॥ २७ ॥

स दृष्ट्वा बाणवर्षं तन्मोघीभूतं धनञ्जयः ।
परमं विस्मयं चक्रे साधु साध्विति चाब्रवीत् ॥ २८ ॥

जब अर्जुनने अपनी बाणोंकी वर्षाको व्यर्थ हुआ हुआ देखा तब परम आश्चर्यमें आकर साधु ! साधु ! कहने लगे ॥ २८ ॥

अहोऽयं सुकुमाराङ्गो हिमवच्छिखरालयः ।
गाण्डीवमुक्तान्नाराचान्प्रतिगृह्णात्यविह्वलः ॥ २९ ॥

(और आश्चर्यसे बोले) अहो ! यह हिमाचलके शिखरका वासी और कोमल अङ्गोंवाला पुरुष गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए बाणोंको विना व्याकुल हुए सह रहा है ॥ २९ ॥

कोऽयं देवो भवेत्साक्षाद्रुद्रो यक्षः सुरेश्वरः ।
विद्यते हि गिरिश्रेष्ठे त्रिदशानां समागमः । ॥ ३० ॥

यह कौन है ? क्या ये साक्षात् भगवान् शिव हैं ? अथवा कोई यक्ष है, या स्वयं देवराज इन्द्र हैं ? क्योंकि इस श्रेष्ठ पर्वतपर देवोंका सम्मेलन होता ही है ॥ ३० ॥

न हि मद्बाणजालानामुत्सृष्टानां सहस्रशः ।
शक्तोऽन्यः सहितुं वेगमृते देवं पिनाकिनम् ॥ ३१ ॥

मेरे धनुषसे छूटे हुए सहस्रों बाणोंके जालके वेगको देव पिनाकधारी शिवको छोडकर और कोई भी नहीं सह सकता ॥ ३१ ॥

देवो वा यदि वा यक्षो रुद्रादन्यो व्यवस्थितः।
अहमेनं शरैस्तीक्ष्णैर्नयामि यमसादनम् ॥ ३२ ॥

जो हो यदि यह शिवको छोडकर देवता वा कोई यक्ष ही क्यों न हो, अब मैं इसको तीक्ष्ण बाणोंसे यमके घरमें पहुंचाऊंगा ॥ ३२ ॥

ततो हृष्टमना जिष्णुर्नाराचान्मर्मभेदिनः।
व्यसृजच्छतधा राजन्मयूखानिव भास्करः ॥ ३३ ॥

हे राजन् जनमेजय! ऐसा सोचकर अर्जुनने प्रसन्नचित्तसे मर्मको तोडनेवाले सैंकडों बाणोंको इस प्रकार छोडा, जैसे सूर्य अपनी किरणोंको छोडता है ॥ ३३ ॥

तान्प्रसन्नेन मनसा भगवाँल्लोकभावनः।
शूलपाणिः प्रत्यगृह्णाच्छिलावर्षमिवाचलः ॥ ३४ ॥

किन्तु भगवान् शूलधारी, लोकनाथ शिव उन बाणोंको भी प्रसन्नचित्तसे इस प्रकार ग्रहण करने लगे, जैसे शिलाकी वर्षाको पर्वत सहता है ॥ ३४ ॥

क्षणेन क्षीणबाणोऽथ संवृत्तः फल्गुनस्तदा।
वित्रासं च जगामाथ तं दृष्ट्वा शरसंक्षयम् ॥ ३५ ॥

हे राजन्! तब क्षणभरमें ही अर्जुनके बाण समाप्त हो गये और तब अपने बाणोंको समाप्त हुआ देखकर अर्जुन भयभीत हो गए ॥ ३५ ॥

चिन्तयामास जिष्णुस्तु भगवन्तं हुताशनम्।
पुरस्तादक्षयौ दत्तौ तूणौ येनास्य खाण्डवे ॥ ३६ ॥

तब अर्जुनने उसी भगवान् अग्निका ध्यान किया, जिसने इनको पहले खाण्डव वनमें दो अक्षय तूणीर दिये थे ॥ ३६ ॥

किं नु मोक्ष्यामि धनुषा यन्मे बाणाः क्षयं गताः।
अयं च पुरुषः कोऽपि बाणान्ग्रसति सर्वशः ॥ ३७ ॥

(और सोचने लगे) अब मेरे सब बाण समाप्त हो गये, अतः धनुषसे अब क्या छोडूँ! और यह कोई पुरुष मेरे सब बाणोंको निगले जाता है ॥ ३७ ॥

अहमेनं धनुष्कोट्या शूलाग्रेणेव कुञ्जरम्।
नयामि दण्डधारस्य यमस्य सदनं प्रति ॥ ३८ ॥

जिस प्रकार भालेसे हाथीको मारते हैं, वैसे ही अब मैं भी इसको गाण्डीव धनुषके आगेके भागसे दण्डधारी यमराजके स्थानको पहुंचाऊंगा ॥ ३८ ॥

संप्रायुध्यद्धनुष्कोटया कौन्तेयः परवीरहा ।
तदप्यस्य धनुर्दिव्यं जग्रास गिरिगोचरः　　॥ ३९ ॥

कुन्तीनन्दन शत्रुनाशक अर्जुन तब इस प्रकार धनुषके अग्रभागसे युद्ध करने लगे, परन्तु पर्वतके समान दीखनेवाले किरातने इनके दिव्य धनुषको भी निगल लिया ॥ ३९ ॥

ततोऽर्जुनो ग्रस्तधनुः खड्गपाणिरतिष्ठत ।
युद्धस्यान्तमभीप्सन्वै वेगेनाभिजगाम तम्　　॥ ४० ॥

धनुषके नष्ट होनेके पश्चात् अर्जुन हाथमें तलवार लेकर खडे हो गए और युद्धको समाप्त करनेकी इच्छासे तलवार लेकर वेगसे उस किरातकी तरफ दौडे ॥ ४० ॥

तस्य मूर्ध्नि शितं खड्गमसक्तं पर्वतेष्वपि ।
मुमोच भुजवीर्येण विक्रम्य कुरुनन्दनः ।
तस्य मूर्धानमासाद्य पफालासिवरो हि सः　　॥ ४१ ॥

जो पर्वतको भी काट सकता था उस तेज खड्गको कुरुनन्दन अर्जुनने अपने भुजाके बलसे पराक्रम करके किरातके शिरमें मारा, परन्तु उसके सिरमें लगनेसे वह उत्तम खड्ग भी टूट गया ॥ ४१ ॥

ततो वृक्षैः शिलाभिश्च योधयामास फल्गुनः ।
यथा वृक्षान्महाकायः प्रत्यगृह्णादथो शिलाः　　॥ ४२ ॥
किरातरूपी भगवांस्ततः पार्थो महाबलः ।
मुष्टिभिर्वज्रसंस्पर्शैर्धूममुत्पादयन्मुखे ।
प्रजहार दुराधर्षं किरातसमरूपिणं　　॥ ४३ ॥

तब अर्जुन शिला और वृक्षोंको मारकर युद्ध करने लगे, परन्तु महाशरीरधारी किरातरूपी भगवान् शिव उन शिला और वृक्षोंको भी निगलने लगे । तदनन्तर महाबली अर्जुनके मुखसे मारे क्रोधके धुआं निकलने लगा, और वे दुराधर्ष भगवान् किरात रूपधारी शिवके शरीरमें वज्रके समान मुक्के मारने लगे ॥ ४२–४३ ॥

ततः शक्राशनिसमैर्मुष्टिभिर्भृशदारुणैः ।
किरातरूपी भगवानर्दयामास फल्गुनम्　　॥ ४४ ॥

तब किरातरूपी भगवान् शिव भी इन्द्रके वज्रके समान अत्यन्त दारुण मुक्कोंसे अर्जुनको मारने लगे ॥ ४४ ॥

ततश्चटचटाशब्दः सुघोरः समजायत ।
पाण्डवस्य च मुष्टीनां किरातस्य च युध्यतः ॥ ४५ ॥

उस अर्जुन और किरातके युद्धमें दोनोंके मुक्कोंका चटचट करता हुआ महान् शब्द होने लगा ॥ ४५ ॥

सुमुहूर्तं महद्युद्धमासीत्तल्लोमहर्षणम् ।
भुजप्रहारसंयुक्तं वृत्रवासवयोरिव ॥ ४६ ॥

थोडी देरतक दोनोंकी भुजाओंके प्रहारसे युक्त, रोंगटेको खडा कर देनेवाला वह युद्ध वृत्रासुर और इन्द्रके युद्धके समान हुआ ॥ ४६ ॥

जहाराथ ततो जिष्णुः किरातमुरसा बली ।
पाण्डवं च विचेष्टन्तं किरातोऽप्यहनद्बलात् ॥ ४७ ॥

तब बलवान् अर्जुनने किरातके हृदयमें मारा और किरातने भी अत्यन्त प्रयत्न करनेवाले अर्जुनको बलसे मारा ॥ ४७ ॥

तयोर्भुजविनिष्पेषात्संघर्षेणोरसोस्तथा ।
समजायत गात्रेषु पावकोऽङ्गारधूमवान् ॥ ४८ ॥

उन दोनोंके भुजाओंकी रगड और हृदयके घिसनेसे शरीरमेंसे अंगारे और धुंएके सहित अग्नि निकलने लगी ॥ ४८ ॥

तत एनं महादेवः पीडय गात्रैः सुपीडितम् ।
तेजसा व्याक्रमद्रोषाच्चेतस्तस्य विमोहयन् ॥ ४९ ॥

तब महादेवजीने पीडित अर्जुनको अपने शरीरसे दबाकर और ज्यादा पीडा देकर अपने तेजसे उनके तेजको खींचकर उनके चित्तको मोहित कर दिया ॥ ४९ ॥

ततो निपीडितैर्गात्रैः पिण्डीकृत इवाबभौ ।
फल्गुनो गात्रसंरुद्धो देवदेवेन भारत ॥ ५० ॥

हे भारत ! देवोंके देव महादेवसे अवरुद्ध होकर तथा अपने शरीरके अंगोंके पीडित होनेके कारण अर्जुन पिण्डके समान हो गये ॥ ५० ॥

निरुच्छ्वासोऽभवच्चैव संनिरुद्धो महात्मना ।
ततः पपात संमूढस्ततः प्रीतोऽभवद्भवः ॥ ५१ ॥

तदनन्तर महादेवसे पीडित होकर अर्जुनकी सांस भी बन्द हो गयी, तब अर्जुन मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पडे, यह देखकर शिव प्रसन्न हो गए ॥ ५१ ॥

भगवानुवाच

भो भो फल्गुन तुष्टोऽस्मि कर्मणाप्रतिमेन ते ।
शौर्येणानेन धृत्या च क्षत्रियो नास्ति ते समः ॥ ५२ ॥

भगवान् बोले– हे फल्गुन ! मैं तुम्हारे इस असाधारण काम, शूरवीरता और धैर्यको देखकर प्रसन्न हूँ, तुम्हारे समान क्षत्रिय और कोई नहीं है ॥ ५२ ॥

समं तेजश्च वीर्यं च ममाद्य तव चानघ ।
प्रीतस्तेऽहं महाबाहो पश्य मां पुरुषर्षभ ॥ ५३ ॥

हे पापरहित ! आजसे तुम्हारा पराक्रम और तेज मेरे समान हो गया है; हे महाभुज ! हे पुरुषोंमें श्रेष्ठ ! मैं तुमसे प्रसन्न हूं । मुझे देखो ॥ ५३ ॥

ददानि ते विशालाक्ष चक्षुः पूर्वऋषिर्भवान् ।
विजेष्यसि रणे शत्रूनपि सर्वान्दिवौकसः ॥ ५४ ॥

हे विशाल आंखोंवाले अर्जुन ! मैं तुम्हें दिव्य दृष्टि देता हूं, तुम पूर्व समयके ऋषि हो; तुम युद्धमें सब शत्रुओंको जीतोगे; तुम्हारे शत्रु चाहे देवता भी हों तो भी तुमसे पराजित होंगे ॥५४॥

वैशम्पायन उवाच

ततो देवं महादेवं गिरिशं शूलपाणिनम् ।
ददर्श फल्गुनस्तत्र सह देव्या महाद्युतिम् ॥ ५५ ॥

वैशम्पायन बोले– तब वहां त्रिशूलधारी देवोंके देव महातेजस्वी महादेवको पार्वतीके सहित अर्जुनने देखा ॥ ५५ ॥

स जानुभ्यां महीं गत्वा शिरसा प्रणिपत्य च ।
प्रसादयामास हरं पार्थः परपुरञ्जयः ॥ ५६ ॥

घुटनोंको पृथ्वीमें लगाकर शिरसे प्रणाम करके शत्रुओंके नगरको जीतनेवाले उस अर्जुनने महादेवको प्रसन्न किया ॥ ५६ ॥

अर्जुन उवाच

कपर्दिन्सर्वभूतेश भगनेत्रनिपातन ।
व्यतिक्रमं मे भगवन्क्षन्तुमर्हसि शंकर ॥ ५७ ॥

अर्जुन बोले– हे जटाधारी ! हे सब प्राणियोंके स्वामी ! हे भगनेत्र अर्थात् कामदेवके नाशक ! हे भगवन् ! हे कल्याणकारिन् ! मेरी विपरीत बुद्धिको क्षमा कीजिये ॥ ५७ ॥

भगवद्दर्शनाकांक्षी प्राप्तोऽस्मीमं महागिरिम् ।
दयितं तव देवेश तापसालयमुत्तमम् ॥ ५८ ॥

हे भगवन् ! मैं आपके दर्शनकी इच्छासे ही इस महापर्वतपर आया हूं। हे देवेश ! यह पर्वत तपस्वियोंका स्थान और आपका प्यारा है ॥ ५८ ॥

प्रसादये त्वां भगवन्सर्वभूतनमस्कृत ।
न मे स्यादपराधोऽयं महादेवातिसाहसात् ॥ ५९ ॥

हे सब लोकों द्वारा पूज्य भगवन् ! मैं आपको प्रसन्न करता हूँ। हे महादेव ! अति साहसके कारण मैंने जो यह काम किया है, वह मेरा दोष न हो ॥ ५९ ॥

कृतो मया यदज्ञानाद्विमर्दोऽयं त्वया सह ।
शरणं संप्रपन्नाय तत्क्षमस्वाद्य शंकर ॥ ६० ॥

क्योंकि मैंने अज्ञानसे आपके साथ यह युद्ध किया है, हे शंकर ! मैं आपकी शरण आया हूं, अतः आज मेरा अपराध क्षमा कीजिये ॥ ६० ॥

वैशम्पायन उवाच

तमुवाच महातेजाः प्रहस्य वृषभध्वजः ।
प्रगृह्य रुचिरं बाहुं क्षान्तमित्येव फल्गुनम् ॥ ६१ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥ १४८५ ॥

वैशम्पायन बोले– वृषभध्वज महातेजस्वी महादेव अर्जुनका सुन्दर हाथ पकडकर हंसते हुए बोले, कि हे तेजस्वी ! तुम्हें मैंने क्षमा कर ही दिया है ॥ ६१ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें चालिसवां अध्याय समाप्त ॥ ४० ॥ १४८५ ॥

: ४१ :

भगवानुवाच

नरस्त्वं पूर्वदेहे वै नारायणसहायवान् ।
बदर्यां तप्तवानुग्रं तपो वर्षायुतान्बहून् ॥ १ ॥

भगवान् बोले– पूर्वजन्ममें तुम नर नामक ऋषि थे, नारायण तुम्हारे साथी थे। बदरिकाश्रममें हजारों वर्ष तुमने कठिन तपस्या की थी ॥ १ ॥

त्वयि वा परमं तेजो विष्णौ वा पुरुषोत्तमे ।
युवाभ्यां पुरुषाग्र्याभ्यां तेजसा धार्यते जगत् ॥ २ ॥

या तो तुममें परम तेज है, या पुरुषोत्तम विष्णुमें तेज है, तुम्हीं दोनों उत्तम पुरुषोंके द्वारा अपने तेजसे यह जगत् धारण किया जाता है ॥ २ ॥

शक्राभिषेके सुमहद्धनुर्जलदनिस्वनम् ।
प्रगृह्य दानवाः शस्तास्त्वया कृष्णेन च प्रभो ॥ ३ ॥

हे प्रभो ! तुमने और कृष्णने इन्द्रके राज्याभिषेकके समय मेघके गर्जनके समान टंकार-वाले धनुषको ग्रहण करके दानवोंको मारा था ॥ ३ ॥

एतत्तदेव गाण्डीवं तव पार्थ करोचितम् ।
मायामास्थाय यद्ग्रस्तं मया पुरुषसत्तम ।
तूणौ चाप्यक्षयौ भूयस्तव पार्थ यथोचितौ ॥ ४ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ पृथापुत्र अर्जुन ! मायाका सहारा लेकर जो मैंने निगल लिया था, वह यह गाण्डीव धनुष तुम्हारे ही हाथके योग्य है; तुम्हारे अक्षय तरकस भी तुम्हारे योग्य ही हैं ॥४॥

प्रीतिमानस्मि वै पार्थ तव सत्यपराक्रम ।
गृहाण वरमस्मत्तः कांक्षितं यन्नरर्षभ ॥ ५ ॥

हे सत्य पराक्रमी तथा पुरुषोंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! मैं तुमसे प्रसन्न हूं, जो तुम्हारी इच्छा हो, वह वर मुझसे मांगो ॥ ५ ॥

न त्वया पुरुषः कश्चित्पुमान्मर्त्येषु मानद ।
दिवि वा विद्यते क्षत्रं त्वत्प्रधानमरिन्दम ॥ ६ ॥

हे मानद ! तुमसे मर्त्य लोकमें वा स्वर्गमें कोई पुरुष श्रेष्ठ न होगा । हे शत्रुओंका दमन करनेवाले ! तुम क्षत्रियोंमें प्रधान गिने जाओगे ॥ ६ ॥

अर्जुन उवाच

भगवन्ददासि चेन्मह्यं कामं प्रीत्या वृषध्वज ।
कामये दिव्यमस्त्रं तद्घोरं पाशुपतं प्रभो ॥ ७ ॥

अर्जुन बोले— हे बैलकी ध्वजावाले भगवन् ! यदि आप मुझपर प्रसन्न होकर मुझे वर देते हैं; तो, हे प्रभो ! मैं उस घोर और दिव्य पाशुपतास्त्रको मांगता हूं ॥ ७ ॥

यत्तद्ब्रह्मशिरो नाम रौद्रं भीमपराक्रमम् ।
युगान्ते दारुणे प्राप्ते कृत्स्नं संहरते जगत् ॥ ८ ॥

जो ब्रह्मशिर नामक भयानक, बडा पराक्रमी शस्त्र भयंकर प्रलयमें सब जगत्का नाश करता है, उसी अस्त्रको मैं लेना चाहता हूं ॥ ८ ॥

दहेयं येन संग्रामे दानवान्राक्षसांस्तथा ।
भूतानि च पिशाचांश्च गन्धर्वानथ पन्नगान् ॥ ९ ॥

जिसके प्रतापसे मैं युद्धमें दानव, राक्षस, भूत, पिचाश, गन्धर्व और सर्पोंको भस्म कर सकूं ॥ ९ ॥

यतः शूलसहस्राणि गदाश्चोग्रप्रदर्शनाः ।
शराश्चाशीविषाकाराः संभवन्त्यनुमन्त्रिताः ॥ १० ॥
जिसको अभिमंत्रित करनेसे जिससे सहस्रों भाले, तेज दर्शनेवाली गदायें और विषैले सर्पके समान बाण उत्पन्न होते हैं ॥ १० ॥

युध्येयं येन भीष्मेण द्रोणेन च कृपेण च ।
सूतपुत्रेण च रणे नित्यं कटुकभाषिणा ॥ ११ ॥
मैं जिससे भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य और सदा ही कठोर बोलनेवाले कर्णसे रणमें युद्ध कर सकूँ ॥ ११ ॥

एष मे प्रथमः कामो भगवन्भगनेत्रहन् ।
त्वत्प्रसादाद्विनिर्वृत्तः समर्थः स्यामहं यथा ॥ १२ ॥
हे भगनेत्रहारी भगवन् ! यह मेरी प्रथम इच्छा है, अतः आपकी कृपासे कृतकृत्य होकर मैं समर्थ हो जाऊं ॥ १२ ॥

भगवानुवाच
ददानि तेऽस्त्रं दयितमहं पाशुपतं महत् ।
समर्थो धारणे मोक्षे संहारे चापि पाण्डव ॥ १३ ॥
भगवान् बोले– हे विभो पाण्डव ! मैं तुमको अपना प्यारा पाशुपतास्त्र देता हूँ, क्योंकि तुम इसे चलाने, वापस लौटा लाने और धारण करनेमें समर्थ हो ॥ १३ ॥

नैतद्वेद महेन्द्रोऽपि न यमो न च यक्षराट् ।
वरुणो वाथ वा वायुः कुतो वेत्स्यन्ति मानवाः ॥ १४ ॥
इसको न इंद्र, न यम, न यक्षराज वरुण और न वायु भी जानते हैं, तो मनुष्य कहांसे जानेंगे ? ॥ १४ ॥

न त्वेतत्सहसा पार्थ मोक्तव्यं पुरुषे क्वचित् ।
जगद्विनिर्दहेत्सर्वमल्पतेजासि पातितम् ॥ १५ ॥
हे कुन्तीनन्दन ! इस शस्त्रको कदापि कहीं भी साहससे किसी पुरुषके ऊपर मत छोडना, क्योंकि थोडे तेजवाले मनुष्य पर छोडे जानेपर यह सब जगत्को भस्म कर सकता है ॥ १५ ॥

अवध्यो नाम नास्त्यस्य त्रैलोक्ये सचराचरे ।
मनसा चक्षुषा वाचा धनुषा च निपात्यते ॥ १६ ॥
चर और अचरवाले तीनों लोकोंमें कोई ऐसा नहीं, जो इससे न मर सके, इसके चलानेके समय इसको मन, वचन, नेत्र और धनुषसे चलाना चाहिये ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच
तच्छ्रुत्वा त्वरितः पार्थः शुचिर्भूत्वा समाहितः ।
उपसंगृह्य विश्वेशमधीष्वेति च सोऽब्रवीत् ॥ १७ ॥

वैशम्पायन बोले– कुन्तीनन्दन अर्जुन शिवके ऐसे वचन सुनकर जल्दी ही पवित्र और ध्यानावस्थित हो विश्वेशके पास बैठे और शिव बोले "ग्रहण करो" ॥ १७ ॥

ततस्त्वध्यापयामास सरहस्यनिवर्तनम् ।
तदस्त्रं पाण्डवश्रेष्ठं मूर्तिमन्तमिवान्तकम् ॥ १८ ॥

तब शिवजीने मूर्तिधारी कालके समान उस अस्त्रको चलाने और निवृत्त करनेकी गुप्त क्रियाओंके समेत पाण्डवश्रेष्ठ अर्जुनको पढाया ॥ १८ ॥

उपतस्थे महात्मानं यथा त्र्यक्षमुमापतिम् ।
प्रतिजग्राह तच्चापि प्रीतिमानर्जुनस्तदा ॥ १९ ॥

वह शस्त्र जिस प्रकार पार्वतिनाथ त्रिनेत्र महात्मा शिवकी सेवामें उपस्थित हुआ था, वैसे ही अर्जुनकी सेवामें भी उपस्थित हो गया और तब अर्जुनने भी प्रसन्न चित्तसे उसे ग्रहण किया ॥ १९ ॥

ततश्चचाल पृथिवी सपर्वतवनद्रुमा ।
ससागरवनोद्देशा सग्रामनगराकरा ॥ २० ॥

उस समय ग्राम, नगर, समुद्र, खान, पर्वत, वन, वृक्ष, और देशोंके समेत संपूर्ण पृथ्वी हिलने लगी ॥ २० ॥

शङ्खदुन्दुभिघोषाश्च भेरीणां च सहस्रशः ।
तस्मिन्मुहूर्ते संप्राप्ते निर्घातश्च महानभूत् ॥ २१ ॥

उस समयके प्राप्त होनेपर आकाशमें सहस्रों शंख नगाडे और भेरियां बजने लगीं और उनके कारण महान् ध्वनि होने लगी ॥ २१ ॥

अथास्त्रं जाज्वलद्घोरं पाण्डवस्यामितौजसः ।
मूर्तिमद्विष्ठितं पार्श्वे ददृशुर्देवदानवाः ॥ २२ ॥

महातेजवाले अर्जुनके पास जलता हुआ घोर शस्त्र मूर्त्ति धारण करके वहां आया, इसको सब देव और दानवोंने देखा ॥ २२ ॥

स्पृष्टस्य च त्र्यम्बकेन फल्गुनस्यामितौजसः ।
यत्किंचिदशुभं देहे तत्सर्वं नाशमेयिवत् ॥ २३ ॥

महादेव महाराजने महातेजस्वी अर्जुनको अपने हाथसे स्पर्श किया, तब उसके शरीरमें जितना भी कुछ पाप था, वह सब नष्ट हो गया ॥ २३ ॥

स्वर्गं गच्छेत्यनुज्ञातस्त्र्यम्बकेन तदार्जुनः।
प्रणम्य शिरसा पार्थः प्राञ्जलिर्देवमैक्षत ॥ २४ ॥

अर्जुनने सिरसे प्रणाम कर हाथ जोडकर शिवकी ओर देखा, तब शिवने आज्ञा दी, कि तुम स्वर्गको जाओ ॥ २४ ॥

ततः प्रभुस्त्रिदिवनिवासिनां वशी महामतिर्गिरिश उमापतिः शिवः।
धनुर्महद्दितिजपिशाचसूदनं ददौ भवः पुरुषवराय गाण्डिवम् ॥ २५ ॥

तब पुरुषोंमें श्रेष्ठ अर्जुनको स्वर्गवासियोंके स्वामी, जितेन्द्रिय, महाबुद्धिमान्, पर्वतपर सोनेवाले, पार्वतीनाथ, जगत्के उत्पन्न करनेवाले, शिवने पिशाच और राक्षसोंका नाश करनेवाला महाधनुष गाण्डीव दिया ॥ २५ ॥

ततः शुभं गिरिवरमीश्वरस्तदा सहोमया सिततटसानुकन्दरम्।
विहाय तं पतगमहर्षिसेवितं जगाम खं पुरुषवरस्य पश्यतः ॥ २६ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥ १५११ ॥

तब पुरुषोंमें श्रेष्ठ अर्जुनके देखते देखते ही उमाके साथ शिव सफेद चोटी और कन्दरावाले, पक्षी और महर्षियोंसे सेवित उस शुभ पर्वतको छोडकर आकाशको चले गये ॥ २६ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें इकतालीसवां अध्याय समाप्त ॥ ४१ ॥ १५११ ॥

: ४२ :

वैशम्पायन उवाच

तस्य संपश्यतस्त्वेव पिनाकी वृषभध्वजः।
जगामादर्शनं भानुर्लोकस्येवास्तमेयिवान् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– जिस प्रकार सब जगत्के देखते देखते सूर्य अस्त हो जाता है, वैसे ही भगवान् वृषभध्वज पिनाकधारी शिव भी अर्जुनके देखते देखते अन्तर्धान हो गये ॥ १ ॥

ततोऽर्जुनः परं चक्रे विस्मयं परवीरहा।
मया साक्षान्महादेवो दृष्ट इत्येव भारत ॥ २ ॥

हे भारत जनमेजय! तब मैंने साक्षात् शिवको देखा, ऐसा विचारकर शत्रुनाशी अर्जुन बार बार आश्चर्य करने लगे ॥ २ ॥

धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि यन्मया त्र्यम्बको हरः ।
पिनाकी वरदो रूपी दृष्टः स्पृष्टश्च पाणिना ॥ ३ ॥

अहा ! मैं धन्य हूं, मैं कृपाका पात्र हूं, जो मैंने साक्षात् तीननेत्रवाले भक्तोंके दुःखनाशक वरदान-दाता पिनाक धनुषको धारण करनेवाले शिवको देखा और उनके हाथसे छुआ गया ॥ ३ ॥

कृतार्थं चावगच्छामि परमात्मानमात्मना ।
शत्रूंश्च विजितान्सर्वान्निर्वृत्तं च प्रयोजनम् ॥ ४ ॥

अब मैं कृतार्थ हुआ; मैंने आत्माके द्वारा परमात्माको जान लिया । मैंने सब शत्रुओंको जीत लिया और मेरे सब प्रयोजन सिद्ध हो गये ॥ ४ ॥

ततो वैडूर्यवर्णाभो भासयन्सर्वतो दिशः ।
यादोगणवृतः श्रीमानाजगाम जलेश्वरः ॥ ५ ॥

तब जलचर जन्तुओंसे घिरे हुए वैडूर्य रत्नके समान कांतिवाले श्रीमान् जलेश्वर वरुण सब दिशाओंको प्रकाशित करते हुए वहां आये ॥ ५ ॥

नागैर्नदैर्नदीभिश्च दैत्यैः साध्यैश्च दैवतैः ।
वरुणो यादसां भर्ता वशी तं देशमागमत् ॥ ६ ॥

इन्द्रियजित् जलजन्तुओंके स्वामी वरुण पर्वत, नद, नदी, दैत्य, साध्य, देवता और जल-जन्तुके साथ उस स्थानपर आये ॥ ६ ॥

अथ जाम्बूनदवपुर्विमानेन महार्चिषा ।
कुबेरः समनुप्राप्तो यक्षैरनुगतः प्रभुः ॥ ७ ॥

तदनन्तर सोनेके समान वर्णवाले शरीरसे युक्त, यक्षोंके समेत भगवान् कुबेर महातेजस्वी विमानमें बैठकर वहां आये ॥ ७ ॥

विद्योतयन्निवाकाशमद्भुतोपमदर्शनः ।
धनानामीश्वरः श्रीमानर्जुनं द्रष्टुमागतः ॥ ८ ॥

अपने आगमनसे आकाशको प्रकाशमान करते हुए अद्भुत दर्शनवाले श्रीमान् धनेश्वर कुबेर अर्जुनको देखनेके लिए आए ॥ ८ ॥

तथा लोकान्तकृच्छ्रीमान्यमः साक्षात्प्रतापवान् ।
मूर्त्यमूर्तिधरैः सार्धं पितृभिर्लोकभावनैः ॥ ९ ॥

उसके पश्चात् सब लोकोंका नाश करनेवाले श्रीमान्, प्रतापवान् साक्षात् यमराज भी रूप और विनारूपवाले लोकभावन पितरोंको साथमें लेकर वहां आये ॥ ९ ॥

दण्डपाणिरचिन्त्यात्मा सर्वभूतविनाशकृत्।
वैवस्वतो धर्मराजो विमानेनावभासयन् ॥ १० ॥
त्रींल्लोकान्गुह्यकांश्चैव गन्धर्वांश्च सपन्नगान्।
द्वितीय इव मार्तण्डो युगान्ते समुपस्थिते ॥ ११ ॥

दण्ड धारण किये हुए भगवान् अचिन्त्यरूपवाले सब प्राणियोंके नाश करनेवाले सूर्यके पुत्र यमराज तीनों लोकोंको प्रकाशित करते हुए विमानके द्वारा गुह्यक, गन्धर्व और सर्पोंको साथमें लेकर प्रलयकालके उपस्थित होनेपर जिस प्रकार दूसरा सूर्य तेज धारण करता है, उसी प्रकारका तेज धारण करके वहां आये ॥ १०-११ ॥

भानुमन्ति विचित्राणि शिखराणि महागिरेः।
समास्थायार्जुनं तत्र ददृशुस्तपसान्वितम् ॥ १२ ॥

वे सब लोग हिमालयके प्रकाशमान और विचित्र शिखरपर आकर वहां तपस्यासे युक्त अर्जुनको देखने लगे ॥ १२ ॥

ततो मुहूर्ताद्भगवानैरावतशिरोगतः।
आजगाम सहेन्द्राण्या शक्रः सुरगणैर्वृतः ॥ १३ ॥

थोडे क्षण बाद ऐरावतके ऊपर बैठकर इन्द्राणीके साथ देवताओंसे घिरकर भगवान् इन्द्र भी वहां आये ॥ १३ ॥

पाण्डुरेणातपत्रेण ध्रियमाणेन मूर्धनि।
शुशुभे तारकाराजः सितमभ्रमिवास्थितः ॥ १४ ॥

उनके सिरपर सफेद छत्र रखा हुआ था, उस समय उनकी शोभा ऐसी जान पडती थी, जैसे सफेद बादलोंके बीचमें नक्षत्रोंका राजा चन्द्रमा ॥ १४ ॥

संस्तूयमानो गन्धर्वैर्ऋषिभिश्च तपोधनैः।
शृङ्गं गिरेः समासाद्य तस्थौ सूर्य इवोदितः ॥ १५ ॥

जिस प्रकारसे उदय हुआ सूर्य प्रकाशित होता है, वैसे ही भगवान् इन्द्र भी देवता और तपोधन ऋषियोंसे स्तुति सुनते हुए पर्वतके शिखरपर आकर बैठ गए ॥ १५ ॥

अथ मेघस्वनो धीमान्व्याजहार शुभां गिरम्।
यमः परमधर्मज्ञो दक्षिणां दिशमास्थितः ॥ १६ ॥

तब दक्षिण दिशामें बैठे हुए सब धर्मके जाननेवाले श्रीमान् यमराज मेघके समान गंभीर वाणीसे अच्छे वचन बोले ॥ १६ ॥

अर्जुनार्जुन पश्यास्माँल्लोकपालान्समागतान् ।
दृष्टिं ते वितराम्योऽद्य भवानर्हो हि दर्शनम् ॥ १७ ॥

हे अर्जुन, हे अर्जुन ! तुम आये हुए हम सब लोकपालोंको देखो, हम तुमको दिव्य दृष्टि देते हैं, तुम हमारे दर्शन करनेके लिए योग्य हो ॥ १७ ॥

पूर्वर्षिरमितात्मा त्वं नरो नाम महाबलः ।
नियोगाद्ब्रह्मणस्तात मर्त्यतां समुपागतः ।
त्वं वासवसमुद्भूतो महावीर्यपराक्रमः ॥ १८ ॥

हे तात ! तुम पहले महाबलशाली नरनामक अपरिमित आत्मशक्तिवाले ऋषि थे, अब, हे तात ! ब्रह्माकी आज्ञासे मनुष्य योनिको प्राप्त हुए, हे महावीर्य ! तुम इन्द्रके द्वारा उत्पन्न होनेके कारण बडे पराक्रमी हो ॥ १८ ॥

क्षत्रं चाग्निसमस्पर्शं भारद्वाजेन रक्षितम् ।
दानवाश्च महावीर्या ये मनुष्यत्वमागताः ।
निवातकवचाश्चैव संसाध्याः कुरुनन्दन ॥ १९ ॥

भरद्वाजके पुत्र द्रोणाचार्यसे रक्षित होनेके कारण अग्निके समान स्पर्शवाली क्षत्रियोंकी सेना, महापराक्रमी दानव जो मनुष्य बने हैं, हे कुरुनन्दन ! निवातकवच दानव ये सब तुम्हारे द्वारा मारे जाएंगे ॥ १९ ॥

पितुर्ममांशो देवस्य सर्वलोकप्रतापिनः ।
कर्णः स सुमहावीर्यस्त्वया वध्यो धनञ्जय ॥ २० ॥

और, हे धनंजय ! जो सब लोकको तपानेवाले मेरे पिता सूर्य देवके तेजसे महावीर कर्ण उत्पन्न हुआ है, उसको भी तुम्हीं मारोगे ॥ २० ॥

अंशाश्च क्षितिसंप्राप्ता देवगन्धर्वरक्षसाम् ।
त्वया निपातिता युद्धे स्वकर्मफलनिर्जिताम् ।
गतिं प्राप्स्यन्ति कौन्तेय यथास्वमरिकर्शन ॥ २१ ॥

हे धनंजय ! और भी जो अनेक देव गंधर्व और राक्षसोंके अंश पृथ्वीपर उत्पन्न हुए हैं, हे शत्रुनाशन कुन्तीनन्दन ! वे सब अपने अपने कर्मके अनुसार तुम्हारे हाथसे युद्धमें मरकर गति पायेंगे ॥ २१ ॥

अक्षया तव कीर्तिश्च लोके स्थास्यति फल्गुन ।
त्वया साक्षान्महादेवस्तोषितो हि महामृधे ।
लघ्वी वसुमती चापि कर्तव्या विष्णुना सह ॥ २२ ॥

हे फल्गुन ! तुमने साक्षात् महादेवको महायुद्धमें प्रसन्न किया है, इसलिये तुम्हारी कीर्त्ति जगत्में अक्षय होकर स्थिर रहेगी। तुम कृष्णकी सहायतासे पृथ्वीके भारको भी हल्का करोगे ॥ २२ ॥

गृहाणास्त्रं महाबाहो दण्डमप्रतिवारणम् ।
अनेनास्त्रेण सुमहत्त्वं हि कर्म करिष्यसि ॥ २३ ॥

हे महाबाहो ! अब यह मेरे किसीके द्वारा न रोके जाने योग्य दण्ड नामक अस्त्रको ग्रहण करो; इस अस्त्रसे तुम बडे बडे कर्म करोगे ॥ २३ ॥

प्रतिजग्राह तत्पार्थो विधिवत्कुरुनन्दनः ।
समन्त्रं सोपचारं च समोक्षं सनिवर्तनम् ॥ २४ ॥

तब कुरुनन्दन अर्जुनने छोडने और लौटानेकी विधि मन्त्र और सब क्रियाओंके समेत उस अस्त्रको ग्रहण किया ॥ २४ ॥

ततो जलधरश्यामो वरुणो यादसां पतिः ।
पश्चिमां दिशमास्थाय गिरमुच्चारयन्प्रभुः ॥ २५ ॥

तब मेघके समान श्याम वर्णवाले, जलजन्तुओंके स्वामी भगवान् वरुण पश्चिम दिशामें बैठकर ऐसा बोले ॥ २५ ॥

पार्थ क्षत्रियमुख्यस्त्वं क्षत्रधर्मे व्यवस्थितः ।
पश्य मां पृथुताम्राक्ष वरुणोऽस्मि जलेश्वरः ॥ २६ ॥

हे कुन्तीनन्दन ! हे बडे और लालनेत्रवाले ! तुम क्षत्रियोंमें श्रेष्ठ हो और क्षत्रियोंके धर्ममें रहनेवाले हो, मुझे देखो, मैं जलका स्वामी वरुण हूँ ॥ २६ ॥

मया समुद्यतान्पाशान्वारुणाननिवारणान् ।
प्रतिगृह्णीष्व कौन्तेय सरहस्यनिवर्तनान् ॥ २७ ॥

हे कौन्तेय ! मेरे द्वारा हाथमें लिए हुए यह निवारण करनेके अयोग्य पाशोंको तुम चलाने और लौटानेके रहस्यके साथ ग्रहण करो ॥ २७ ॥

एभिस्तदा मया वीर संग्रामे तारकामये ।
दैतेयानां सहस्राणि संयतानि महात्मनाम् ॥ २८ ॥

हे वीर ! मैंने इनसे तारकामय युद्धमें इकट्ठे हुए हजारों महात्मा राक्षसोंको बांधा था ॥ २८ ॥

तस्मादिमान्महासत्त्व मत्प्रसादात्समुत्थितान् ।
गृहाण न हि ते मुच्येदन्तकोऽप्याततायिनः ॥ २९ ॥

अतः, हे महाबल ! इन तैय्यार पाशोंको मेरे प्रसादसे ग्रहण करो, तुम्हें क्रोध आनेपर इससे यम भी नहीं छूट सकता ॥ २९ ॥

अनेन त्वं यदास्त्रेण संग्रामे विचरिष्यसि ।
तदा निःक्षत्रिया भूमिर्भविष्यति न संशयः ॥ ३० ॥

जब तुम इस अस्त्रको लेकर युद्धमें घुमोगे, तो निःसन्देह यह पृथ्वी क्षत्रियोंसे सूनी हो जायेगी ॥ ३० ॥

ततः कैलासनिलयो धनाध्यक्षोऽभ्यभाषत ।
दत्तेष्वस्त्रेषु दिव्येषु वरुणेन यमेन च ॥ ३१ ॥

जब अर्जुनको वरुण और यम दिव्य शस्त्र दे चुके तो कैलासवासी धनके स्वामी कुबेर बोले ॥३१॥

सव्यसाचिन्महाबाहो पूर्वदेव सनातन ।
सहास्माभिर्भवाञ्श्रान्तः पुराकल्पेषु नित्यशः ॥ ३२ ॥

हे सव्यसाचिन् ! हे महाबाहो ! हे पूर्वदेव सनातन ! पहले कल्पमें हमारे साथ तुमने तप करके बहुत श्रम उठाया था ॥ ३२ ॥

मत्तोऽपि त्वं गृहाणास्त्रमन्तर्धानं प्रियं मम ।
ओजस्तेजोद्युतिहरं प्रस्वापनमरातिहन् ॥ ३३ ॥

इस शत्रुनाशी, ओज और तेजको देनेवाले, मुझे अत्यन्त प्रिय तथा शत्रुओंको सुलानेवाले अन्तर्धान नामक शस्त्रको मुझसे भी लो ॥ ३३ ॥

ततोऽर्जुनो महाबाहुर्विधिवत्कुरुनन्दनः ।
कौबेरमपि जग्राह दिव्यमस्त्रं महाबलः ॥ ३४ ॥

तब महाबाहु महाबलशाली कुरुनन्दन अर्जुनने कुबेरके दिव्य शस्त्रको विधिपूर्वक ग्रहण किया ॥ ३४ ॥

ततोऽब्रवीद्देवराजः पार्थमक्लिष्टकारिणम् ।
सान्त्वयञ्श्लक्ष्णया वाचा मेघदुन्दुभिनिस्वनः ॥ ३५ ॥

तब बादल और नगाडेकी तरह गंभीर आवाजवाले देवराज इन्द्र सुन्दर और चिकनी वाणीसे कठिन कामको भी अनायास ही करनेवाले अर्जुनको शान्त करते हुए ऐसा बोले ॥ ३५ ॥

कुन्तीमातर्महाबाहो त्वमीशानः पुरातनः ।
परां सिद्धिमनुप्राप्तः साक्षाद्देवगतिं गतः ॥ ३६ ॥

हे कुन्तीपुत्र महाबाहो अर्जुन ! तुम सनातन और पुरातन देव हो, अब तुम उत्तम सिद्धिको प्राप्त हुए हो और साक्षात् देवोंकी गतिको भी प्राप्त हुए हो ॥ ३६ ॥

×

देवकार्यं हि सुमहत्त्वया कार्यमरिन्दम ।
आरोढव्यस्त्वया स्वर्गः सज्जीभव महाद्युते ॥ ३७ ॥

हे महातेजस्वी ! हे शत्रुनाशक ! अब तुम्हें स्वर्ग चलना है, तैय्यार हो जाओ, क्योंकि तुम्हें देवताओंका बडा भारी कार्य करना है ॥ ३७ ॥

रथो मातलिसंयुक्त आगन्ता त्वत्कृते महीम् ।
तत्र तेऽहं प्रदास्यामि दिव्यान्यस्त्राणि कौरव ॥ ३८ ॥

हे कौरव ! तुम्हारे निमित्त मातलिके सहित रथ पृथ्वीपर आनेवाला है, वहां चलकर तुमको मैं शस्त्र दूंगा ॥ ३८ ॥

तान्दृष्ट्वा लोकपालांस्तु समेतान्गिरिमूर्धनि ।
जगाम विस्मयं धीमान्कुन्तीपुत्रो धनञ्जयः ॥ ३९ ॥

उस पर्वतके ऊपर सब लोकपालोंको इकट्ठे देखकर बुद्धिमान् कुन्तीपुत्र अर्जुन आश्चर्य प्रकट करने लगे ॥ ३९ ॥

ततोऽर्जुनो महातेजा लोकपालान्समागतान् ।
पूजयामास विधिवद्वाग्भिरद्भिः फलैरपि ॥ ४० ॥

तब महातेजस्वी अर्जुनने आये हुए लोकपालोंकी वचन, जल और फलोंसे विधिपूर्वक पूजा की ॥ ४० ॥

ततः प्रतिययुर्देवाः प्रतिपूज्य धनञ्जयम् ।
यथागतेन विबुधाः सर्वे काममनोजवाः ॥ ४१ ॥

तब मनके समान गतिसे इच्छानुसार सर्वत्र जानेवाले ज्ञानी देवता भी अर्जुनका सत्कार करके अपने अपने आये हुए मार्गोंसे चले गये ॥ ४१ ॥

ततोऽर्जुनो मुदं लेभे लब्धास्त्रः पुरुषर्षभः ।
कृतार्थमिव चात्मानं स मेने पूर्णमानसः ॥ ४२ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥ समाप्तं कैरातपर्व ॥ १५५३ ॥

तब पुरुषसिंह अर्जुनने आनन्दसे शस्त्र प्राप्त करके अपनेको कृतार्थ और पूर्ण आनन्दयुक्त माना ॥ ४२ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें बयालीसवां अध्याय समाप्त ॥ ४२ ॥ कैरातपर्व समाप्त ॥ १५५३ ॥

: ४३ :

वैशम्पायन उवाच

गतेषु लोकपालेषु पार्थः शत्रुनिबर्हणः ।
चिन्तयामास राजेन्द्र देवराजरथागमम् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– हे राजेन्द्र जनमेजय ! लोकपालोंके जानेके पश्चात् शत्रुनाशक अर्जुन इन्द्रके रथके आनेकी प्रतीक्षा करने लगे ॥ १ ॥

ततश्चिन्तयमानस्य गुडाकेशस्य धीमतः ।
रथो मातलिसंयुक्त आजगाम महाप्रभः ॥ २ ॥
नभो वितिमिरं कुर्वञ्जलदान्पाटयन्निव ।
दिशः संपूरयन्नादैर्महामेघरवोपमैः ॥ ३ ॥

तब बुद्धिमान् गुडाकेश अर्जुनके विचारते ही मातलिसे युक्त अत्यन्त तेजस्वी रथ आकाशको अन्धकारसे शून्य करता, बादलोंको फाडता और महामेघके गरजके समान शब्दसे दिशाओंको पूरित करता हुआ आया ॥ २-३ ॥

असयः शक्तयो भीमा गदाश्चोग्रप्रदर्शनाः ।
दिव्यप्रभावाः प्रासाश्च विद्युतश्च महाप्रभाः ॥ ४ ॥

उसमें खड्ग, भयानक शक्ति, भयंकर दीखनेवाली गदायें दिव्य प्रभाववाले प्रास, महा-तेजवाली बिजलियां ॥ ४ ॥

तथैवाशनयस्तत्र चक्रयुक्ता हुडागुडाः ।
वायुस्फोटाः सनिर्घाता बर्हिमेघनिभस्वनाः ॥ ५ ॥

उसी प्रकार उस रथमें अशनी, गोलोंके समेत यन्त्र हुडा, गुडा, वायुसे चलनेवाली बन्दूक और मोर तथा मेघकीसी आवाज करनेवाले स्फोटक पदार्थ थे ॥ ५ ॥

तत्र नागा महाकाया ज्वलितास्याः सुदारुणाः ।
सिताभ्रकूटप्रतिमाः संहताश्च यथोपलाः ॥ ६ ॥

उस रथमें भारी शरीरवाले, अत्यन्त भयंकर, जलते मुखवाले सर्प थे तथा सफेद बादलोंके समूहके समान सफेद पत्थर एकत्रित करके रखे हुए थे ॥ ६ ॥

दश वाजिसहस्राणि हरीणां वातरंहसाम् ।
वहन्ति यं नेत्रमुषं दिव्यं मायामयं रथम् ॥ ७ ॥

उस रथको बलवान् वायुके समान वेगवाले दस हजार घोडे खींचते थे, जिसको देखकर देखनेवालोंकी दृष्टि बन्द हो जाती थी, वह रथ दिव्य और मायासे भरा हुआ था ॥ ७ ॥

तत्रापश्यन्महानीलं वैजयन्तं महाप्रभम् ।
ध्वजमिन्दीवरश्यामं वंशं कनकभूषणम् ॥ ८ ॥

उस रथपर नील कमलके समान सुन्दर अत्यन्त नीली और अत्यन्त कान्तिवाली 'वैजयन्त' ध्वजाको एक सोनेसे मढे हुए डण्डेपर फहराते हुए अर्जुनने देखा ॥ ८ ॥

तस्मिन्रथे स्थितं सूतं तप्तहेमविभूषितम् ।
दृष्ट्वा पार्थो महाबाहुर्देवमेवान्वतर्कयत् ॥ ९ ॥

तब रथमें बैठे हुए तपे हुए सोनेके अलंकारोंसे सजे हुए सूतको देखकर महाबाहु अर्जुनने उस मातलिको कोई देवता ही समझा ॥ ९ ॥

तथा तर्कयतस्तस्य फल्गुनस्याथ मातलिः ।
संनतः प्रश्रितो भूत्वा वाक्यमर्जुनमब्रवीत् ॥ १० ॥

ऐसे विचारमें पडे हुए उस अर्जुनके पास आकर मातलिने नम्र होकर विनयपूर्वक अर्जुनसे यह वाक्य कहे ॥ १० ॥

भो भो शक्रात्मज श्रीमाञ्शक्रस्त्वां द्रष्टुमिच्छति ।
आरोहतु भवाञ्शीघ्रं रथमिन्द्रस्य संमतम् ॥ ११ ॥

हे इंद्रपुत्र ! श्रीमान् इन्द्र आपको देखना चाहते हैं, आप शीघ्र ही इस इन्द्रके प्रिय रथपर चढिये ॥ ११ ॥

आह माममरश्रेष्ठः पिता तव शतक्रतुः ।
कुन्तीसुतमिह प्राप्तं पश्यन्तु त्रिदशालयाः ॥ १२ ॥

आपके पिता, देवताओंमें श्रेष्ठ शतक्रतु इन्द्रने मुझसे ऐसा कहा है, कि कुन्तीपुत्र अर्जुनको सब देवता लोग यहां आया हुआ देखें ॥ १२ ॥

एष शक्रः परिवृतो देवैर्ऋषिगणैस्तथा ।
गन्धर्वैरप्सरोभिश्च त्वां दिदृक्षुः प्रतीक्षते ॥ १३ ॥

यह देखिये ! देवता, ऋषि, गन्धर्व और अप्सराओंसे घिरकर इन्द्र आपको देखनेकी इच्छासे आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं ॥ १३ ॥

अस्माल्लोकाद्देवलोकं पाकशासनशासनात् ।
आरोह त्वं मया सार्धं लब्धास्त्रः पुनरेष्यसि ॥ १४ ॥

अब आप इन्द्रकी आज्ञासे इस लोकसे देवलोकको मेरे साथ चालिये। अस्त्र ग्रहण करके पुनः इसी लोकमें आप आ जायेंगे ॥ १४ ॥

अर्जुन उवाच

मातले गच्छ शीघ्रं त्वमारोहस्व रथोत्तमम् ।
राजसूयाश्वमेधानां शतैरपि सुदुर्लभम् ॥ १५ ॥

अर्जुन बोले— हे मातले ! आप जल्दी चलिए, अब आप इस रथपर चढ़िए जो सैंकड़ों राजसूय और अश्वमेध यज्ञोंसे भी अत्यन्त दुर्लभ है ॥ १५ ॥

पार्थिवैः सुमहाभागैर्यज्वभिर्भूरिदक्षिणैः ।
दैवतैर्वा समारोढुं दानवैर्वा रथोत्तमम् ॥ १६ ॥

तथा जिस उत्तम रथपर बहुत दक्षिणायुक्त महायज्ञ करनेवाले महाभाग्यवान् राजा, देवता और दानव भी नहीं चढ सकते ॥ १६ ॥

नातप्ततपसा शक्य एष दिव्यो महारथः ।
द्रष्टुं वाप्यथ वा स्प्रष्टुमारोढुं कुत एव तु ॥ १७ ॥

इस दिव्य रथको बिना तपसे तपा हुआ मनुष्य देख और छू नहीं सकता, फिर चढनेकी तो कथा ही क्या ॥ १७ ॥

त्वयि प्रतिष्ठिते साधो रथस्थे स्थिरवाजिनि ।
पश्चादहमथारोक्ष्ये सुकृती सत्पथं यथा ॥ १८ ॥

हे साधो ! जब आप इस रथपर चढकर और स्थिरतापूर्वक बैठकर घोडोंको स्थिर करेंगे, तब मैं भी इस रथपर उसी प्रकार चढूंगा, जिस प्रकार एक पुण्यात्मा सन्मार्गपर आरूढ होता है ? ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा मातलिः शक्रसारथिः ।
आरुरोह रथं शीघ्रं हयान्येमे च रश्मिभिः ॥ १९ ॥

वैशम्पायन बोले— इन्द्रके सारथी मातलि उस अर्जुनके यह वचन सुनकर शीघ्रता सहित रथपर चढे और उन्होंने लगाम पकडकर घोडोंको ठीक किया ॥ १९ ॥

ततोऽर्जुनो हृष्टमना गङ्गायामाप्लुतः शुचिः ।
जजाप जप्यं कौन्तेयो विधिवत्कुरुनन्दनः ॥ २० ॥

तब कुरुनन्दन कुन्तीपुत्र अर्जुनने प्रसन्न चित्त होकर गङ्गामें स्नान कर और पवित्र होकर विधिवत् मन्त्रका जप किया ॥ २० ॥

ततः पितॄन्यथान्यायं तर्पयित्वा यथाविधि ।
मन्दरं शैलराजं तमाप्रष्टुमुपचक्रमे ॥ २१ ॥

तदनन्तर विधि और न्यायपूर्वक पितरोंका तर्पण करके उस पर्वतराज मन्दराचलकी प्रार्थना करने लगे ॥ २१ ॥

साधूनां पुण्यशीलानां मुनीनां पुण्यकर्मणाम्।
त्वं सदा संश्रयः शैल स्वर्गमार्गाभिकांक्षिणाम् ॥ २२ ॥

हे पर्वत! तुम स्वर्ग प्राप्तिकी इच्छा रखनेवाले साधु पुण्यात्मा, पुण्यकर्मा मुनियोंके लिए सदा आश्रय हो ॥ २२ ॥

त्वत्प्रसादात्सदा शैल ब्राह्मणाः क्षत्रिया विशः।
स्वर्गं प्राप्ताश्चरन्ति स्म देवैः सह गतव्यथाः ॥ २३ ॥

हे शैल! तुम्हारे प्रसादसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य स्वर्गमें जाकर दुःखरहित होकर देवताओंके साथ आनन्द करते हैं ॥ २३ ॥

अद्रिराज महाशैल मुनिसंश्रय तीर्थवन्।
गच्छाम्यामन्त्रयामि त्वां सुखमस्म्युषितस्त्वयि ॥ २४ ॥

हे पर्वतराज! हे महाशैल! हे मुनियोंके आश्रय! हे तीर्थवाले! मैं तुमपर सुखसे रहा, और अब मैं जाना चाहता हूँ और तुम्हारी आज्ञा चाहता हूँ ॥ २४ ॥

तव सानूनि कुञ्जाश्च नद्यः प्रस्रवणानि च।
तीर्थानि च सुपुण्यानि मया दृष्टान्यनेकशः ॥ २५ ॥

तुम्हारे शिखरपर अनेक कुंज, नदियां, झरने और पुण्यतीर्थ मैंने अनेक वार देखे ॥२५॥

एवमुक्त्वार्जुनः शैलमामन्त्र्य परवीरहा।
आरुरोह रथं दिव्यं द्योतयन्निव भास्करः ॥ २६ ॥

शत्रुओंके मारनेवाले अर्जुन पर्वतसे इस प्रकार कहकर और उससे आज्ञा लेकर दिव्य रथके ऊपर ऐसे चढे जैसे सूर्य अपने रथपर प्रकाश करते हुए चढते हैं ॥ २६ ॥

स तेनादित्यरूपेण दिव्येनाद्भुतकर्मणा।
ऊर्ध्वमाचक्रमे धीमान्प्रहृष्टः कुरुनन्दनः ॥ २७ ॥

आदित्यके समान तेजस्वी अद्भुत कर्मयुक्त दिव्यरूप उस रथपर चढकर बुद्धिमान् कुरुनन्दन अर्जुन प्रसन्न मनसे आकाशको चले ॥ २७ ॥

सोऽदर्शनपथं यात्वा मर्त्यानां भूमिचारिणाम्।
ददर्शाद्भुतरूपाणि विमानानि सहस्रशः ॥ २८ ॥

भूमि पर विचरण करनेवाले मनुष्योंके दृष्टिपथसे दूर जाकर उन्होंने आकाशमें अद्भुतरूपवाले सहस्रों विमान घूमते हुए देखे ॥ २८ ॥

न तत्र सूर्यः सोमो वा द्योतते न च पावकः।
स्वयैव प्रभया तत्र द्योतन्ते पुण्यलब्धया ॥ २९ ॥

उस लोकमें न सूर्य, न चन्द्रमा और न अग्नि प्रकाशित होते हैं। अपितु पुण्यात्मा लोग पुण्यसे प्राप्त अपने प्रकाशसे आप ही प्रकाशित होते हैं ॥ २९ ॥

तारारूपाणि यानीह दृश्यन्ते द्युतिमन्ति वै।
दीपवद्विप्रकृष्टत्वादणूनि सुमहान्त्यपि ॥ ३० ॥

वहां जो छोटे और बडे प्रकाशमान तारा लोक दीखते हैं, वे बडे बडे होनेपर भी बहुत दूर होनेके कारण दीपके समान छोटे छोटे दिखाई दे रहे थे ॥ ३० ॥

तानि तत्र प्रभास्वन्ति रूपवन्ति च पाण्डवः।
ददर्श स्वेषु धिष्ण्येषु दीप्तिमन्ति स्वयार्चिषा ॥ ३१ ॥

अपने अपने स्थानोंपर प्रभावाले और रूपवाले अपने प्रकाशसे चमकनेवाले उन तारोंको पाण्डव अर्जुनने देखा ॥ ३१ ॥

तत्र राजर्षयः सिद्धा वीराश्च निहता युधि।
तपसा च जितस्वर्गाः संपेतुः शतसंघशः ॥ ३२ ॥

आगे जाकर देखा, कि राजाओंमें ऋषि, सिद्ध और युद्धमें मरे हुए वीर तथा सहस्रों पुरुष अपने पुण्यसे स्वर्गको जीतकर चले आते हैं ॥ ३२ ॥

गन्धर्वाणां सहस्राणि सूर्यज्वलनतेजसाम्।
गुह्यकानामृषीणां च तथैवाप्सरसां गणाः ॥ ३३ ॥

वहां सूर्यके समान तेजवाले सहस्रों गन्धर्वों, गुह्यकों, ऋषियों और अप्सराओंके गणोंको देखा ॥ ३३ ॥

लोकानात्मप्रभान्पश्यन्फल्गुनो विस्मयान्वितः।
पप्रच्छ मातलिं प्रीत्या स चाप्येनमुवाच ह ॥ ३४ ॥

अपने प्रभावसे प्रज्वलित होनेवाले लोकोंको देखकर विस्मित हुए अर्जुनने मातलि सारथिसे इन सब लोकोंका वृत्तान्त पूछा और उसने भी प्रसन्न होकर अर्जुनसे कहा ॥ ३४ ॥

एते सुकृतिनः पार्थ स्वेषु धिष्ण्येष्ववस्थिताः।
यान्दृष्टवानसि विभो तारारूपाणि भूतले ॥ ३५ ॥

हे कुन्तीपुत्र ! यह सब पुण्यशाली लोक पुण्यके प्रतापसे स्थित हैं, हे विभो ! जिनको आप पृथ्वीपरसे तारारूपमें देखते हैं ॥ ३५ ॥

ततोऽपश्यत्स्थितं द्वारि सितं वैजयिनं गजम्।
ऐरावतं चतुर्दन्तं कैलासमिव शृङ्गिणम् ॥ ३६ ॥

इसके अनन्तर अर्जुनने वहां जयशील चार दांतवाले कैलासपर्वतके शिखरके समान ऊंचे ऐरावत हाथीको इन्द्रलोकके द्वारपर देखा ॥ ३६ ॥

स सिद्धमार्गमाक्रम्य कुरुपाण्डवसत्तमः ।
व्यरोचत यथा पूर्वं मान्धाता पार्थिवोत्तमः ॥ ३७ ॥

उस सिद्धमार्गको पार करनेके बाद कौरवों और पाण्डवोंमें श्रेष्ठ अर्जुन उसी प्रकार सुशोभित हुए, जिस प्रकार राजाश्रेष्ठ मान्धाता पहले शोभित हुए थे ॥ ३७ ॥

अतिचक्राम लोकान्स राज्ञां राजीवलोचनः ।
ततो ददर्श शक्रस्य पुरींताममरावतीम् ॥ ३८ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥ १५९१ ॥

इस प्रकार कमलके समान नेत्रवाले अर्जुन राजाओंके लोकोंको पार कर गए और तब उन्होंने इन्द्रकी उस अमरावती पुरीको देखा ॥ ३८ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें तैतालिसवां अध्याय समाप्त ॥ ४३ ॥ १५९१ ॥

: ४४ :

वैशम्पायन उवाच

स ददर्श पुरीं रम्यां सिद्धचारणसेविताम् ।
सर्वर्तुकुसुमैः पुण्यैः पादपैरुपशोभिताम् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– अर्जुनने सिद्ध और चारणोंसे सेवित और सब ऋतुओंमें फूलनेवाले पुष्पोंसे तथा सुन्दर सुन्दर वृक्षोंसे सुशोभित रमणीय अमरावती पुरीको देखा ॥ १ ॥

तत्र सौगन्धिकानां स द्रुमाणां पुण्यगन्धिनाम् ।
उपवीज्यमानो मिश्रेण वायुना पुण्यगन्धिना ॥ २ ॥

वहां सुगंधित कमलों तथा पवित्र गंधवाले पेडोंसे निकलकर बहती हुई पवित्र गंधवाली हवा पंखा डुला रही थी ॥ २ ॥

नन्दनं च वनं दिव्यमप्सरोगणसेवितम् ।
ददर्श दिव्यकुसुमैराह्वयद्भिरिव द्रुमैः ॥ ३ ॥

उन्होंने अप्सराओंके गणोंसे सेवित दिव्य नन्दनवनको देखा, जो मानों दिव्य फूलोंसे भरपूर पेडोंसे उन्हें अपने पास बुला रहा था ॥ ३ ॥

नातप्ततपसा शक्यो द्रष्टुं नानाहिताग्निना ।
स लोकः पुण्यकर्तॄणां नापि युद्धपराङ्मुखैः ॥ ४ ॥

पुण्यशालियोंका लोक तपसे न तपे हुए और अग्निहोत्रको न करनेवालों, पुण्यहीन पापी, युद्धसे भागनेवालोंके द्वारा नहीं देखा जा सकता ॥ ४ ॥

नायज्वभिर्नाव्रतकैर्न वेदश्रुतिवर्जितैः ।
नानाप्लुताङ्गैस्तीर्थेषु यज्ञदानबहिष्कृतैः ॥ ५ ॥

वह लोक न यज्ञ करनेवालोंके द्वारा, न व्रतहीनोंके द्वारा, न वेद और श्रुतियोंसे हीन, न जिन लोगोंने तीर्थमें स्नान नहीं किया, न यज्ञ और दानसे विमुख लोगोंके द्वारा ही देखा जा सकता है ॥ ५ ॥

नापि यज्ञहनैः क्षुद्रैर्द्रष्टुं शक्यः कथंचन ।
पानपैर्गुरुतल्पैश्च मांसादैर्वा दुरात्मभिः ॥ ६ ॥

उस पवित्र लोकको यज्ञका नाश करनेवाले, क्षुद्र, मदिरा पीनेवाले, गुरुपत्नीके साथ समागम करनेवाले, मांस खानेवाले और दुरात्मा लोग कदापि नहीं देख सकते ॥ ६ ॥

स तद्दिव्यं वनं पश्यन्दिव्यगीतनिनादितम् ।
प्रविवेश महाबाहुः शक्रस्य दयितां पुरीम् ॥ ७ ॥

महाबाहु अर्जुनने दिव्य गीतोंसे गुंजायमान उस दिव्य नन्दनवनको देखते हुए इन्द्रकी प्रिय पुरीमें प्रवेश किया ॥ ७ ॥

तत्र देवविमानानि कामगानि सहस्रशः ।
संस्थितान्यभियातानि ददर्शायुतशस्तदा ॥ ८ ॥

वहां जाकर विशालबाहु अर्जुनने देखा, कि सहस्रों देवोंके विमान मनकी इच्छानुसार घूम रहे हैं, सहस्रों बैठे हैं और सहस्रों जानेको तैय्यार हैं ॥ ८ ॥

संस्तूयमानो गन्धर्वैरप्सरोभिश्च पाण्डवः ।
पुष्पगन्धवहैः पुण्यैर्वायुभिश्चानुवीजितः ॥ ९ ॥

गन्धर्वों और अप्सराओंसे स्तुति सुनते हुए और फूलोंकी सुगन्धिसे भरे हुए वायुसे पंखा डुलवाते हुए पाण्डुपुत्र अर्जुनने उस नगरीमें प्रवेश किया ॥ ९ ॥

ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः ।
हृष्टाः संपूजयामासुः पार्थमक्लिष्टकारिणम् ॥ १० ॥

वहां तब अनेक देवताओं, गन्धर्वों, सिद्ध और महर्षियोंने प्रसन्न चित्तसे कठिन कामको भी सरलतासे करनेवाले अर्जुनकी पूजा की ॥ १० ॥

आशीर्वादैः स्तूयमानो दिव्यवादित्रनिस्वनैः ।
प्रतिपेदे महाबाहुः शङ्खदुन्दुभिनादितम् ॥ ११ ॥

तदनन्तर ऋषियोंके आशीर्वादोंसे प्रशंसित होते हुए तथा दिव्य बाजोंके शब्द सुनते हुए महाबाहु अर्जुनने शंख और नगाडोंसे शब्दित उस मार्गमें प्रवेश किया ॥ ११ ॥

नक्षत्रमार्गं विपुलं सुरवीथीति विश्रुतम्।
इन्द्राज्ञया ययौ पार्थः स्तूयमानः समन्ततः ॥ १२ ॥
जो नक्षत्रोंका विशाल मार्ग जगत्में देवमार्गके नामसे विख्यात है उस मार्गसे चारों ओरसे प्रशंसित होते हुए अर्जुन इन्द्रकी आज्ञासे चले ॥ १२ ॥

तत्र साध्यास्तथा विश्वे मरुतोऽथाश्विनावपि।
आदित्या वसवो रुद्रास्तथा ब्रह्मर्षयोऽमलाः ॥ १३ ॥
उस मार्गमें साध्य, सभी मरुत, अश्विनीकुमार, आदित्य, वसु, रुद्र तथा निर्मल ब्रह्मर्षि ॥ १३ ॥

राजर्षयश्च बहवो दिलीपप्रमुखा नृपाः।
तुम्बुरुर्नारदश्चैव गन्धर्वौ च हहाहुहू ॥ १४ ॥
राजा दिलीप आदि अनेक राजर्षि, तुम्बुरु, नारद और हहाहूहू गन्धर्व मिले ॥ १४ ॥

तान्सर्वान्स समागम्य विधिवत्कुरुनन्दनः।
ततोऽपश्यद्देवराजं शतक्रतुमरिन्दमम् ॥ १५ ॥
कुरुनन्दन अर्जुनने इन सबसे यथायोग्य भेंट करके अनन्तर शत्रुनाशक देवराज इन्द्रको देखा ॥ १५ ॥

ततः पार्थो महाबाहुरवतीर्य रथोत्तमात्।
ददर्श साक्षाद्देवेन्द्रं पितरं पाकशासनम् ॥ १६ ॥
तब महाबाहु कुन्तीनन्दन अर्जुनने उत्तम रथसे उतरकर अपने पिता साक्षात् देवराज इन्द्रको देखा ॥ १६ ॥

पाण्डुरेणातपत्रेण हेमदण्डेन चारुणा।
दिव्यगन्धाधिवासेन व्यजनेन विधूयता ॥ १७ ॥
वे इन्द्र सोनेके सुन्दर दण्डवाले सफेद छत्रसे शोभित, दिव्य गन्धसे भरे हुए पंखेसे सेवा किए जाते हुए ॥ १७ ॥

विश्वावसुप्रभृतिभिर्गन्धर्वैः स्तुतिवन्दनैः।
स्तूयमानं द्विजाग्र्यैश्च ऋग्यजुःसामसंस्तवैः ॥ १८ ॥
विश्वावसु आदि स्तुति करनेवाले गंधर्वों और मुख्य ब्राह्मणोंसे ऋक्, यजु, सामवेदके मन्त्रोंसे स्तुति सुनते हुए बैठे थे ॥ १८ ॥

ततोऽभिगम्य कौन्तेयः शिरसाभ्यनमद्बली।
स चैनमनुवृत्ताभ्यां भुजाभ्यां प्रत्यगृह्णत ॥ १९ ॥
तब बलवान् कुन्तीनन्दनने उनके पास जाकर सिरसे प्रणाम किया, तब इन्द्रने अपने लम्बे और मोटे हाथोंसे उनको पकड़ा ॥ १९ ॥

ततः शक्रासने पुण्ये देवराजर्षिपूजिते ।
शक्रः पाणौ गृहीत्वैनमुपावेशयदन्तिके ॥ २० ॥

तब देवता और राजर्षियोंसे पूजित पवित्र इन्द्रासनपर इन्द्रने अर्जुनके दोनों हाथोंको पकड़कर अपने पास बिठलाया ॥ २० ॥

मूर्ध्नि चैनमुपाघ्राय देवेन्द्रः परवीरहा ।
अंकमारोपयामास प्रश्रयावनतं तदा ॥ २१ ॥

और शत्रुओंके वीरोंका नाश करनेवाले इन्द्रने अर्जुनके माथेको सूंघकर नम्रताके कारण सिर झुकाये अर्जुनको अपनी गोदमें बिठलाया ॥ २१ ॥

सहस्राक्षनियोगात्स पार्थः शक्रासनं तदा ।
अध्यक्रामदमेयात्मा द्वितीय इव वासवः ॥ २२ ॥

तब अद्वितीय आत्मशक्तिवाले अर्जुन इन्द्रकी आज्ञासे पवित्र इन्द्रासन पर दूसरे इन्द्रके समान तेजस्वी बनकर बैठे ॥ २२ ॥

ततः प्रेम्णा वृत्रशत्रुरर्जुनस्य शुभं मुखम् ।
पस्पर्श पुण्यगन्धेन करेण परिसान्त्वयन् ॥ २३ ॥

तब वृत्रके शत्रु इन्द्रने अर्जुनको सांत्वना देते हुए पवित्र सुगन्धसे भरे हुए हाथसे प्रेमसे अर्जुनका उत्तम मुख छुआ ॥ २३ ॥

परिमार्जमानः शनकैर्बाहू चास्यायतौ शुभौ ।
ज्याशरक्षेपकठिनौ स्तम्भाविव हिरण्मयौ ॥ २४ ॥

तदनन्तर ज्या और बाण खींचनेसे कठोर हुए हुए, सोनेके खंभेके समान विशाल अर्जुनके लम्बे और सुन्दर हाथोंको धीरे धीरे छूने लगे ॥ २४ ॥

वज्रग्रहणचिह्नेन करेण बलसूदनः ।
मुहुर्मुहुर्वज्रधरो बाहू संस्फालयञ्शनैः ॥ २५ ॥

वज्रको धारण करनेके कारण चिह्नयुक्त हाथोंसे बलासुरको मारनेवाले वज्रधारी इन्द्रने धीरे धीरे बारबार अर्जुनके हाथोंको सहलाया ॥ २५ ॥

स्मयन्निव गुडाकेशं प्रेक्षमाणः सहस्रदृक् ।
हर्षेणोत्फुल्लनयनो न चातृप्यत वृत्रहा ॥ २६ ॥

वृत्रको मारनेवाले तथा हजारों आंखोंवाले इन्द्र मुस्कराते हुए प्रसन्न हुए नेत्रोंसे अर्जुनको देखकर तृप्त नहीं होते थे ॥ २६ ॥

एकासनोपविष्टौ तौ शोभयाञ्चक्रतुः सभाम्।
सूर्याचन्द्रमसौ व्योम्नि चतुर्दश्यामिवोदितौ ॥ २७॥

एक ही आसनपर बैठे हुए उन दोनोंने उस देवसभाको उसी प्रकार सुशोभित किया कि जिसप्रकार कृष्णपक्षकी चतुर्दशीके दिन एक साथ उदय हुए सूर्य और चन्द्रमा आकाशको सुशोभित करते हैं ॥ २७ ॥

तत्र स्म गाथा गायन्ति साम्ना परमवल्गुना।
गन्धर्वास्तुम्बुरुश्रेष्ठाः कुशला गीतसामसु ॥ २८ ॥

उस समय सामको गानेमें कुशल तुम्बुरु आदि श्रेष्ठ गन्धर्व अत्यन्त सुन्दरतासे साम द्वारा गीत गाने लगे ॥ २८ ॥

घृताची मेनका रम्भा पूर्वचित्तिः स्वयंप्रभा।
उर्वशी मिश्रकेशी च डुण्डुर्गौरी वरूथिनी ॥ २९ ॥

और घृताची, मेनका, रंभा, पूर्वचित्ती, स्वयंप्रभा, उर्वशी, मिश्रकेशी, डुण्डगौरी, वरूथिनी ॥ २९ ॥

गोपाली सहजन्या च कुम्भयोनिः प्रजागरा।
चित्रसेना चित्रलेखा सहा च मधुरस्वरा ॥ ३० ॥

गोपाली, सहजन्या, कुम्भयोनी, प्रजागरा, चित्रसेना, चित्रलेखा और मीठे स्वरवाली सहा ॥ ३० ॥

एताश्चान्याश्च ननृतुस्तत्र तत्र वराङ्गनाः।
चित्तप्रमथने युक्ताः सिद्धानां पद्मलोचनाः ॥ ३१ ॥
महाकटितटश्रोण्यः कम्पमानैः पयोधरैः।
कटाक्षहावमाधुर्यैश्चेतोबुद्धिमनोहराः ॥ ३२ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥ १६२३ ॥

ये तथा दूसरी अनेकों सुन्दर अवयवोंवाली, कमलके समान आंखोंवाली, सिद्धोंके भी चित्तोंको मथनेमें समर्थ, विशाल कमर और नितम्बोंवाली, नाचते समय कांपते हुए बडे बडे स्तनोंवाली अपने कटाक्ष और हावभावकी मधुरतासे देखनेवालोंके चित्त, बुद्धि और मनको हरनेवाली अप्सरायें नाचने लगीं ॥ ३१-३२ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें चौवालिसवां अध्याय समाप्त ॥ ४४ ॥ १६२३ ॥

॥ ४५ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो देवाः सगन्धर्वाः समादायार्घ्यमुत्तमम्।
शक्रस्य मतमाज्ञाय पार्थमानर्चुरञ्जसा ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– तदनन्तर इन्द्रकी इच्छा जानकर देवता और गन्धर्वोंने शीघ्रता सहित उत्तम अर्घ्य लेकर अर्जुनकी पूजा की ॥ १ ॥

पाद्यमाचमनीयं च प्रतिग्राह्य नृपात्मजम्।
प्रवेशयामासुरथो पुरन्दरनिवेशनम् ॥ २ ॥

तब पाण्डुपुत्र अर्जुनको पाद्य और आचमनीय देकर उन्हें इन्द्रके स्थानमें पहुंचा दिया ॥ २ ॥

एवं संपूजितो जिष्णुरुवास भवने पितुः।
उपशिक्षन्महास्त्राणि ससंहाराणि पाण्डवः ॥ ३ ॥

अर्जुन इस प्रकारसे पूजित होकर चलाने और रोकनेकी क्रियाके समेत शस्त्रोंको सीखते हुए अपने पिताके घरमें रहने लगे ॥ ३ ॥

शक्रस्य हस्तादयितं वज्रमस्त्रं दुरुत्सहम्।
अशनीश्च महानादा मेघबर्हिणलक्षणाः ॥ ४ ॥

अर्जुनने इन्द्रके हाथसे उनके प्रिय, दुःखसे सहने योग्य वज्र नामक अस्त्र, मेघ और मयूरके समान लक्षणवाले महा ध्वनिवाले अशनी शस्त्रोंको ग्रहण किया ॥ ४ ॥

गृहीतास्त्रस्तु कौन्तेयो भ्रातॄन्सस्मार पाण्डवः।
पुरन्दरनियोगाच्च पञ्चाब्दमवसत्सुखी ॥ ५ ॥

इस प्रकार इन्द्रकी आज्ञासे पांच वर्ष अर्जुन वहां सुखपूर्वक रहे, अनन्तर अस्त्रोंको सीखकर कुन्तीपुत्रने अपने भाईयोंको स्मरण किया ॥ ५ ॥

ततः शक्रोऽब्रवीत्पार्थं कृतास्त्रं काल आगते।
नृत्तं गीतं च कौन्तेय चित्रसेनादवाप्नुहि ॥ ६ ॥

तब समय आनेपर शस्त्र सीखे हुए अर्जुनसे इन्द्रने कहा, कि हे कुन्तीनन्दन! अब तुम चित्रसेन गन्धर्वसे नाचना और गाना सीखो ॥ ६ ॥

वादित्रं देवविहितं नृलोके यन्न विद्यते।
तदर्जयस्व कौन्तेय श्रेयो वै ते भविष्यति ॥ ७ ॥

और, हे कुन्तीपुत्र! देवोंके द्वारा बजाये जानेवाले जो बाजे मर्त्य लोकमें नहीं हैं, उनको अच्छे प्रकार सीखो; उससे तुम्हारा कल्याण होगा ॥ ७ ॥

सखायं प्रददौ चास्य चित्रसेनं पुरन्दरः।
स तेन सह संगम्य रेमे पार्थो निरामयः ॥ ८ ॥

ऐसा कहकर इन्द्रने अर्जुनको अपने मित्र चित्रसेनके हाथोंमें सौंप दिया। अर्जुन उनके पास जाकर सुखपूर्वक रहने लगे ॥ ८ ॥

कदाचिदटमानस्तु महर्षिरुत लोमशः।
जगाम शक्रभवनं पुरन्दरदिदृक्षया ॥ ९ ॥

एक समय इन्द्रको देखनेकी इच्छासे घूमते हुए महर्षि लोमश इन्द्रके घर गये ॥ ९ ॥

स समेत्य नमस्कृत्य देवराजं महामुनिः।
ददर्शार्धासनगतं पाण्डवं वासवस्य ह ॥ १० ॥

वहां जाकर महामुनिने देवराज इन्द्रको नमस्कार किया और इन्द्रके आधे आसनपर बैठे हुए अर्जुनको देखा ॥ १० ॥

ततः शक्राभ्यनुज्ञात आसने विष्टरोत्तरे।
निषसाद द्विजश्रेष्ठः पूज्यमानो महर्षिभिः ॥ ११ ॥

तब इन्द्रके द्वारा दिये हुए उत्तम आसनपर ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ लोमश महर्षियोंसे पूजित होकर बैठे ॥ ११ ॥

तस्य दृष्ट्वाभवद्बुद्धिः पार्थमिन्द्रासने स्थितम्।
कथं नु क्षत्रियः पार्थः शक्रासनमवाप्तवान् ॥ १२ ॥

अनन्तर अर्जुनको इन्द्रके आसनपर बैठा हुआ देखकर लोमश सोचने लगे कि क्षत्रिय कुलमें जन्मे इस पृथापुत्र अर्जुनने इस इन्द्रासनको किस तरह प्राप्त किया? ॥ १२ ॥

किं त्वस्य सुकृतं कर्म लोका वा के विनिर्जिताः।
य एवमुपसंप्राप्तः स्थानं देवनमस्कृतम् ॥ १३ ॥

इसने कौनसा ऐसा पुण्य कार्य किया है, इसने कौनसे लोकोंको जीता है, कौनसे पुण्यसे इसने देवताओंसे नमस्कार करने योग्य स्थानको प्राप्त किया? ॥ १३ ॥

तस्य विज्ञाय संकल्पं शक्रो वृत्रनिषूदनः।
लोमशं प्रहसन्वाक्यमिदमाह शचीपतिः ॥ १४ ॥

वृत्रासुरके नाशक शचीके स्वामी इन्द्रने लोमशके मनकी बात जानकर हंसकरके लोमशसे ऐसे वचन कहे ॥ १४ ॥

ब्रह्मर्षे श्रूयतां यत्ते मनसैतद्विवक्षितम्।
नायं केवलमर्त्यो वै क्षत्रियत्वमुपागतः ॥ १५ ॥

हे ब्रह्मर्षे! आपके मनमें जो सन्देह हुआ है, उसका समाधान सुनिये, ये क्षत्रियकुलमें उत्पन्न हुए अर्जुन केवल मरणधर्मा मनुष्य नहीं हैं ॥ १५ ॥

महर्षे मम पुत्रोऽयं कुन्त्यां जातो महाभुजः ।
अस्त्रहेतोरिह प्राप्तः कस्माच्चित्कारणान्तरात् ॥ १६ ॥

हे महर्षे ! यह महाभुज अर्जुन कुन्तीमें मेरे वीर्यसे उत्पन्न मेरा पुत्र है, अस्त्र सीखने तथा और किसी दूसरे कारणसे यहां आया है ॥ १६ ॥

अहो नैनं भवान्वेत्ति पुराणमृषिसत्तमम् ।
शृणु मे वदतो ब्रह्मन्योऽयं यच्चास्य कारणम् ॥ १७ ॥

हे ब्रह्मन् ! हमको आश्चर्य है, कि आप इस पुराने ऋषिश्रेष्ठको भी नहीं जानते हैं । जो यह है, उसे और उसके कारणको मैं कहता हूं, तुम सुनो ॥ १७ ॥

नरनारायणौ यौ तौ पुराणावृषिसत्तमौ ।
ताविमावभिजानीहि हृषीकेशधनञ्जयौ ॥ १८ ॥

जो पुराने ऋषियोंमें उत्तम नर और नारायण थे, वेही दोनों अब क्रमशः अर्जुन और कृष्ण हुए हैं, ऐसा आप समझें ॥ १८ ॥

यन्न शक्यं सुरैर्द्रष्टुमृषिभिर्वा महात्मभिः ।
तदाश्रमपदं पुण्यं बदरी नाम विश्रुतम् ॥ १९ ॥

हे विप्र ! जिस पवित्र आश्रमको देवता और महात्मा मुनि भी नहीं देख सकते हैं, वही पवित्र आश्रमका स्थान बदरीके नामसे विख्यात है ॥ १९ ॥

स निवासोऽभवद्विप्र विष्णोर्जिष्णोस्तथैव च ।
यतः प्रववृते गङ्गा सिद्धचारणसेविता ॥ २० ॥

हे विप्र ! वही आश्रम इन नर-नारायण या अर्जुन और कृष्णका निवासस्थान है, जहांसे सिद्ध चारणोंसे सेवित गङ्गा निकली हैं ॥ २० ॥

तौ मन्नियोगाद्ब्रह्मर्षे क्षितौ जातौ महाद्युती ।
भूमेर्भारावतरणं महावीर्यौ करिष्यतः ॥ २१ ॥

हे ब्रह्मर्षे ! महातेजस्वी ये दोनों मेरी ही आज्ञासे पृथ्वीमें उत्पन्न हुए हैं । यह दोनों महा बलवान् भूमिके भारको उतारेंगे ॥ २१ ॥

उद्वृत्ता ह्यसुराः केचिन्निवातकवचा इति ।
विप्रियेषु स्थितास्माकं वरदानेन मोहिताः ॥ २२ ॥

निवातकवच नामक कुछ राक्षस वरदानसे मोहित होकर अत्यन्त उच्छृंखल हो गए हैं और हमारे अप्रिय कार्योंमें प्रवृत्त हैं ॥ २२ ॥

तर्कयन्ते सुरान्हन्तुं बलदर्पसमन्विताः ।
देवान्न गणयन्ते च तथा दत्तवरा हि ते ॥ २३ ॥
वे वरदान पाकर बल और अभिमानसे युक्त होकर देवोंको मारनेका उपाय करते हैं और देवोंको कुछ नहीं समझते हैं ॥ २३ ॥

पातालवासिनो रौद्रा दनोः पुत्रा महाबलाः ।
सर्वे देवनिकाया हि नालं योधयितुं स्म तान् ॥ २४ ॥
वे महाबलवान् घोर दनुके पुत्र पातालमें रहते हैं, उनसे युद्ध करनेमें कोई भी देवोंका समूह समर्थ नहीं है ॥ २४ ॥

योऽसौ भूमिगतः श्रीमान्विष्णुर्मधुनिषूदनः ।
कपिलो नाम देवोऽसौ भगवानजितो हरिः ॥ २५ ॥
जो महात्मा कपिल नामक मधुको मारनेवाले श्रीमान् विष्णु देव थे, वही जीतनेके अयोग्य, भगवान् हरि पृथ्वीमें उत्पन्न हुए हैं ॥ २५ ॥

येन पूर्वं महात्मानः खनमाना रसातलम् ।
दर्शनादेव निहताः सगरस्यात्मजा विभो ॥ २६ ॥
हे विभो! जिन्होंने पहले समयमें रसातलको खोदते हुए महाबलवान् सगरके पुत्रोंको देखने-मात्रसे भस्म कर दिया था ॥ २६ ॥

तेन कार्यं महत्कार्यमस्माकं द्विजसत्तम ।
पार्थेन च महायुद्धे समेताभ्यामसंशयम् ॥ २७ ॥
हे द्विजश्रेष्ठ! वे विष्णु महायुद्धमें अर्जुनके साथ मिलकर हमारा बडा कार्य करेंगे, निस्संशय वे दोनों हमारा महान् कार्य करेंगे ॥ २७ ॥

अयं तेषां समस्तानां शक्तः प्रतिसमासने ।
तान्निहत्य रणे शूरः पुनर्यास्यति मानुषान् ॥ २८ ॥
अतएव यही वीर अर्जुन उन सब निवातकवचोंको मारनेमें समर्थ हैं; यह शूरवीर युद्धमें उनको मारकर पुनः मनुष्योंके बीच चले जायेंगे ॥ २८ ॥

भवांश्चास्मन्नियोगेन यातु तावन्महीतलम् ।
काम्यके द्रक्ष्यसे वीरं निवसन्तं युधिष्ठिरम् ॥ २९ ॥
और आप तबतक हमारी आज्ञासे पृथ्वीपर जाइए और वहां काम्यक-वनमें रहते हुए वीर युधिष्ठिरसे भेंट कीजिए ॥ २९ ॥

स वाच्यो मम सन्देशाद्धर्मात्मा सत्यसंगरः।
नोत्कण्ठा फल्गुने कार्या कृतास्त्रः शीघ्रमेष्यति ॥ ३० ॥

हमारे वचनसे सत्यवादी धर्मात्मा युधिष्ठिरसे यह कहना, कि तुम अर्जुनके निमित्त कुछ भी चिन्ता मत करो, वह शीघ्र ही शस्त्र सीखकर आवेंगे ॥ ३० ॥

नाशुद्धबाहुवीर्येण नाकृतास्त्रेण वा रणे।
भीष्मद्रोणादयो युद्धे शक्याः प्रतिसमासितुम् ॥ ३१ ॥

क्योंकि न अशुद्ध अर्थात् कम बाहुबलवाला तथा न अस्त्रोंमें अकुशल कोई पुरुष भीष्म और द्रोणादिकोंको युद्धमें जीतनेको समर्थ है ॥ ३१ ॥

गृहीतास्त्रो गुडाकेशो महाबाहुर्महामनाः।
नृत्तवादित्रगीतानां दिव्यानां पारमेयिवान् ॥ ३२ ॥

अब महाबाहु और महामनस्वी अर्जुन शस्त्रोंको सीखकर देवोंके नाचने गाने और बाजेकी विद्यामें निपुण हो गये हैं ॥ ३२ ॥

भवानपि विविक्तानि तीर्थानि मनुजेश्वर।
भ्रातृभिः सहितः सर्वैर्द्रष्टुमर्हत्यरिन्दम ॥ ३३ ॥

हे नरनाथ! हे शत्रुओंके नाशक! जबतक अर्जुन यहां हैं, तबतक आप भी सब भाईयोंके समेत अलग अलग उत्तम तीर्थोंको देख सकते हैं ॥ ३३ ॥

तीर्थेष्वाप्लुत्य पुण्येषु विपाप्मा विगतज्वरः।
राज्यं भोक्ष्यसि राजेन्द्र सुखी विगतकल्मषः ॥ ३४ ॥

हे राजेन्द्र! पुण्य तीर्थोंमें स्नानकर दुःख और पापसे रहित होकर सुखसे निष्पाप होकर राज्यका भोग कर सकेंगे ॥ ३४ ॥

भवांश्चैनं द्विजश्रेष्ठ पर्यटन्तं महीतले।
त्रातुमर्हति विप्राग्र्य तपोबलसमन्वितः ॥ ३५ ॥

हे विप्रोंमें अग्रणी द्विजश्रेष्ठ! और आप तपरूपी बलसे युक्त होकर पृथ्वीमें घूमते हुए उनकी रक्षा कीजियेगा ॥ ३५ ॥

गिरिदुर्गेषु हि सदा देशेषु विषमेषु च।
वसन्ति राक्षसा रौद्रास्तेभ्यो रक्षेत्सदा भवान् ॥ ३६ ॥

नीचे ऊंचे, दुःखसे जाने योग्य प्रदेशों और पर्वतोंमें सदा भयंकर राक्षस रहते हैं, आप उनसे सदा उनको बचाइये ॥ ३६ ॥

स तथेति प्रतिज्ञाय लोमशः सुमहातपाः ।
काम्यकं वनमुद्दिश्य समुपायान्महीतलम् ॥ ३७ ॥

महातपस्वी लोमश "मै ऐसा ही करूंगा" यह प्रतिज्ञा करके काम्यक वनको जानेकी इच्छासे पृथ्वीकी ओर चले ॥ ३७ ॥

ददर्श तत्र कौन्तेयं धर्मराजमरिन्दमम् ।
तापसैर्भ्रातृभिश्चैव सर्वतः परिवारितम् ॥ ३८ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५ ॥ १६६१ ॥

काम्यक वनमें जाकर शत्रुनाशन कुन्तीपुत्र धर्मराज युधिष्ठिरको भाई और तपस्वियोंसे घिरे हुए बैठे देखा ॥ ३८ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें पैंतालिसवां अध्याय समाप्त ॥ ४५ ॥ १६६१ ॥

: ४६ :

जनमेजय उवाच

अत्यद्भुतमिदं कर्म पार्थस्यामिततेजसः ।
धृतराष्ट्रो महातेजाः श्रुत्वा विप्र किमब्रवीत् ॥ १ ॥

जनमेजय बोले— विप्र ! अपार तेजवाले अर्जुनका यह अद्भुत कर्म सुनकर महातेजस्वी धृतराष्ट्रने क्या कहा ? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

शक्रलोकगतं पार्थं श्रुत्वा राजाम्बिकासुतः ।
द्वैपायनादृषिश्रेष्ठात्संजयं वाक्यमब्रवीत् ॥ २ ॥

वैशम्पायन बोले— हे राजन् ! ऋषियोंमें श्रेष्ठ व्यासदेवसे अर्जुनको इन्द्रलोकमें गया हुआ सुनकर अम्बिकाके पुत्र राजा धृतराष्ट्र सञ्जयसे ऐसा कहने लगे ॥ २ ॥

श्रुतं मे सूत कार्त्स्न्येन कर्म पार्थस्य धीमतः ।
कच्चित्तवापि विदितं यथातथ्येन सारथे ॥ ३ ॥

हे सूत ! हे सारथे ! मैंने बुद्धिमान् अर्जुनका सब कर्म सुना, कहो, तुमने भी कहीं कुछ सत्य समाचार सुना है ? ॥ ३ ॥

प्रमत्तो ग्राम्यधर्मेषु मन्दात्मा पापनिश्चयः ।
मम पुत्रः सुदुर्बुद्धिः पृथिवीं घातयिष्यति ॥ ४ ॥

विषयभोगोंमें फंसकर उन्मत्त हुआ, आत्मशक्तिसे रहित, पाप कर्म करनेवाला, दुष्ट बुद्धिवाला मेरा पुत्र पृथ्वीका नाश करेगा ॥ ४ ॥

यस्य नित्यमृता वाचः स्वैरेष्वपि महात्मनः ।
त्रैलोक्यमपि तस्य स्याद्योद्धा यस्य धनञ्जयः ॥ ५ ॥

जिस महात्मा युधिष्ठिरकी वाणी खेलमें सदा ही सत्ययुक्त होती है, जिसकी ओर लडनेवाला अर्जुन है, वही युधिष्ठिर तीनों लोकोंका भी राजा हो सकता है ॥ ५ ॥

अस्यतः कर्णिनाराचांस्तीक्ष्णाग्रांश्च शिलाशितान् ।
कोऽर्जुनस्याग्रतस्तिष्ठेदपि मृत्युर्जरातिगः ॥ ६ ॥

मृत्यु और बुढापेको भी पारकर जानेवाला ऐसा कौन पुरुष है, जो पङ्खवाले पत्थरपर घिसनेके कारण तेजधारयुक्त तेज बाणोंको चलाते समय अर्जुनके आगे युद्धमें ठहर सके ? ॥ ६ ॥

मम पुत्रा दुरात्मानः सर्वे मृत्युवशं गताः ।
येषां युद्धं दुराधर्षैः पाण्डवैः प्रत्युपस्थितम् ॥ ७ ॥

जिनका युद्ध अजेय पाण्डवोंसे होनेवाला है वे मेरे सभी दुष्टात्मा पुत्र मृत्युके वशमें हो गए हैं ॥ ७ ॥

तस्यैव च न पश्यामि युधि गाण्डीवधन्वनः ।
अनिशं चिन्तयानोऽपि य एनमुदियाद्रथी ॥ ८ ॥

मैं रात दिन यही सोचा करता हूँ, फिर भी किसीको मैं युद्धमें गाण्डीव धनुषको धारण करनेवाले अर्जुनके समान नहीं देखता और ना ही ऐसा कोई महारथी पुरुष मुझे दीखता है कि जो इस अर्जुनका मुकाबला कर सके ॥ ८ ॥

द्रोणकर्णौ प्रतीयातां यदि भीष्मोऽपि वा रणे ।
महान्स्यात्संशयो लोके न तु पश्यामि नो जयम् ॥ ९ ॥

यदि द्रोण और कर्ण भी युद्धमें अर्जुनका सामना करें, अथवा यदि भीष्म भी युद्धमें अर्जुनसे लोहा लें, तो भी मेरे मनमें बडा भारी संशय है । मुझे स्पष्ट दीखता है कि इस संसारमें हमारी जीत नहीं होगी ॥ ९ ॥

घृणी कर्णः प्रमादी च आचार्यः स्थविरो गुरुः ।
अमर्षी बलवान्पार्थः संरम्भी दृढविक्रमः ॥ १० ॥

कर्ण दयालु और प्रमादी है, और गुरु द्रोण बूढे हैं । उधर अर्जुन पूरा पराक्रमी, उद्योगी, बलवान् और महाक्रोधी है ॥ १० ॥

भवेत्सुतुमुलं युद्धं सर्वशोऽप्यपराजितम् ।
सर्वे ह्यस्त्रविदः शूराः सर्वे प्राप्ता महद्यशः ॥ ११ ॥

यह बडा भारी युद्ध होगा, उसमें पाण्डव अपराजित ही रहेंगे क्योंकि उनकी तरफ सभी शूर और अस्त्रविद्यामें निपुण और महान् यशस्वी हैं ॥ ११ ॥

अपि सर्वेश्वरत्वं हि न वाञ्छेरन्पराजिताः ।
वधे नूनं भवेच्छान्तिस्तेषां वा फल्गुनस्य वा ॥ १२ ॥

यदि कोई उन्हें पराजित करके उन्हें तीनों लोकोंका राज्य भी देना चाहे, तो वे उस सर्वेश्वरत्वको पानेकी इच्छा नहीं करेंगे। अतः उन कर्ण द्रोण आदिके अथवा अर्जुनके मारे जानेपर ही शान्ति स्थापित हो सकती है ॥ १२ ॥

न तु हन्तार्जुनस्यास्ति जेता वास्य न विद्यते ।
मन्युस्तस्य कथं शाम्येन्मन्दान्प्रति समुत्थितः ॥ १३ ॥

परन्तु संसारमें न अर्जुनको मारनेवाला ही कोई है और न इसे जीतनेवाला ही है । अतः मेरे मूर्ख पुत्रोंके प्रति उत्पन्न हुआ उसका यह क्रोध शान्त किस प्रकार हो ? ॥ १३ ॥

त्रिदशेशसमो वीरः खाण्डवेऽग्निमतर्पयत् ।
जिगाय पार्थिवान्सर्वान्राजसूये महाक्रतौ ॥ १४ ॥

देवराज इन्द्रके समान वीर उस अर्जुनने खाण्डव वनमें अग्निको सन्तुष्ट किया था, उसीने महायज्ञ राजसूयके अवसरपर यज्ञमें सब राजाओंको जीता था ॥ १४ ॥

शेषं कुर्याद्गिरेर्वज्रं निपतन्मूर्ध्नि संजय ।
न तु कुर्युः शराः शेषमस्तास्तात किरीटिना ॥ १५ ॥

हे सञ्जय ! यदि वज्र पहाडकी चोटीपर गिर जाए, तो भी उस पहाडका कुछ शेष रह सकता है; पर, हे तात ! किरीटधारी अर्जुनके द्वारा छोडे हुए बाण मेरे सब पुत्रोंका शेष भी रहने न देंगे ॥ १५ ॥

यथा हि किरणा भानोस्तपन्तीह चराचरम् ।
तथा पार्थभुजोत्सृष्टाः शरास्तप्स्यन्ति मे सुतान् ॥ १६ ॥

जैसे सूर्यकी किरणें इस चराचर जगत्को जलाती हैं, वैसे ही अर्जुनके हाथसे छूटे हुए बाण मेरे पुत्रोंको जला देंगे ॥ १६ ॥

अपि वा रथघोषेण भयार्ता सव्यसाचिनः ।
प्रतिभाति विदीर्णेव सर्वतो भारती चमूः ॥ १७ ॥

मुझको अभीसे भरतवंशी कौरवोंकी यह सेना अर्जुनके रथके शब्दसे डरी हुई और नष्ट हुईके समान प्रतीत होती है ॥ १७ ॥

यदुद्वपन्प्रवपंश्चैव बाणान्स्थातातताय्री समरे किरीटी ।
सृष्टोऽन्तकः सर्वहरो विधात्रा भवेद्यथा तद्वदपारणीयः ॥ १८ ॥

जब बाणोंको निकालते और चलाते हुए आततायी अर्जुन युद्धमें खडा होगा, तब वह परमेश्वर निर्मित सर्वविनाशी कालके समान दिखाई देगा और उस समय वह अजेय होगा ॥ १८ ॥

सञ्जय उवाच

यदेतत्कथितं राजंस्त्वया दुर्योधनं प्रति।
सर्वमेतद्यथातथ्यं नैतन्मिथ्या महीपते ॥ १९ ॥

सञ्जय बोले– हे राजन्! हे पृथ्वीनाथ! आपने जो दुर्योधनके विषयमें कहा वह सब सत्य है, उसमें जरा भी मिथ्या नहीं है ॥ १९ ॥

मन्युना हि समाविष्टाः पाण्डवास्तेऽमितौजसः।
दृष्ट्वा कृष्णां सभां नीतां धर्मपत्नीं यशस्विनीम् ॥ २० ॥

यशस्विनी धर्मपत्नी द्रौपदीको सभामें लाई हुई देखकर अत्यन्त तेजस्वी वे पाण्डव क्रोधके वशमें हो गए हैं ॥ २० ॥

दुःशासनस्य ता वाचः श्रुत्वा ते दारुणोदयाः।
कर्णस्य च महाराज न स्वप्स्यन्तीति मे मतिः ॥ २१ ॥

दुःशासन और कर्णके भयंकरताको उत्पन्न करनेवाले उन वचनोंको स्मरण करके पांडव सोयेंगे नहीं, ऐसा मेरा विचार है ॥ २१ ॥

श्रुतं हि ते महाराज यथा पार्थेन संयुगे।
एकादशतनुः स्थाणुर्धनुषा परितोषितः ॥ २२ ॥

हे महाराज! जैसा कि मैंने यह सुना है, कि वाराह रूपधारी शिवको अर्जुनने महायुद्धमें धनुषसे प्रसन्न किया है ॥ २२ ॥

कैरातं वेषमास्थाय योधयामास फल्गुनम्।
जिज्ञासुः सर्वदेवेशः कपर्दी भगवान्स्वयम् ॥ २३ ॥

जटाधारी सब देवोंके स्वामी भगवान् शिवने अर्जुनकी भक्तिको जाननेकी इच्छासे आप ही किरातका वेष धारण करके अर्जुनसे युद्ध किया था ॥ २३ ॥

तत्रैनं लोकपालास्ते दर्शयामासुरर्जुनम्।
अस्त्रहेतोः पराक्रान्तं तपसा कौरवर्षभम् ॥ २४ ॥

अस्त्रोंको प्राप्त करनेके लिए तपसे पराक्रम करते हुए कौरवोंमें श्रेष्ठ इस अर्जुनको लोकपालोंने साक्षात् दर्शन दिए थे ॥ २४ ॥

नैतदुत्सहतेऽन्यो हि लब्धुमन्यत्र फल्गुनात्।
साक्षाद्दर्शनमेतेषामीश्वराणां नरो भुवि ॥ २५ ॥

हे महाराज! अर्जुनको छोडकर और कोई भी पुरुष जगत्में इन ईश्वरोंके साक्षात् दर्शन करनेमें समर्थ नहीं हो सकता ॥ २५ ॥

महेश्वरेण यो राजन्न जीर्णो ग्रस्तमूर्तिमान्।
कस्तमुत्सहते वीरं युद्धे जरयितुं पुमान् ॥ २६ ॥

हे राजन्! जो अर्जुन साक्षात् ग्रस्त हो जानेपर भी शिवसे युद्धमें नहीं हारे, कौन वीर पुरुष उस वीर अर्जुनको मारनेमें समर्थ होगा॥ २६ ॥

आसादितमिदं घोरं तुमुलं लोमहर्षणम्।
द्रौपदीं परिकर्षद्भिः कोपयद्भिश्च पाण्डवान् ॥ २७ ॥

यह रोमोंको खडा करनेवाला अत्यन्त भयानक युद्धरूपी संकट सभामें द्रौपदीको खींचनेवाले, पाण्डवोंको क्रोधित करनेवाले तुम्हारे पुत्रोंके सामने आकर उपस्थित हो गया है ॥ २७ ॥

यत्र विस्फुरमाणोष्ठो भीमः प्राह वचो महत्।
दृष्ट्वा दुर्योधनेनोरू द्रौपद्या दर्शितावुभौ ॥ २८ ॥

जब दुर्योधनने द्रौपदीको अपनी दोनों जंघायें दिखाई थीं, तब क्रोधसे फडकते हुए ओठवाले भीमसेनने महान् वाणी कही थी ॥ २८ ॥

ऊरू भेत्स्यामि ते पाप गदया वज्रकल्पया।
त्रयोदशानां वर्षाणामन्ते दुर्द्यूतदेविनः ॥ २९ ॥

रे पापी! मैं तेरह वर्षके बीतनेके बाद वज्रके समान भयंकर इस गदासे कपटसे द्यूत खेलने वाले तेरी जङ्घाको तोडूंगा ॥ २९ ॥

सर्वे प्रहरतां श्रेष्ठाः सर्वे चामिततेजसः।
सर्वे सर्वास्त्रविद्वांसो देवैरपि सुदुर्जयाः ॥ ३० ॥

वे सब पाण्डव प्रहार करनेवालोंमें श्रेष्ठ हैं। सभी अपरिमित तेजस्वी हैं। सभी सब शास्त्रोंको जाननेवाले होनेके कारण देवोंसे भी जीते जाने योग्य नहीं हैं ॥ ३० ॥

मन्ये मन्युसमुद्धूताः पुत्राणां तव संयुगे।
अन्तं पार्थाः करिष्यन्ति वीर्यामर्षसमन्विताः ॥ ३१ ॥

वीर्य और क्रोधसे सम्पन्न वे पृथापुत्र पाण्डव क्रोधसे प्रेरित होकर युद्धमें आपके पुत्रोंका विनाश अवश्य करेंगे, ऐसा मेरा विचार है ॥ ३१ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

किं कृतं सूत कर्णेन वदता परुषं वचः।
पर्याप्तं वैरमेतावद्यत्कृष्णा सा सभां गता ॥ ३२ ॥

धृतराष्ट्र बोले– हे सूत! कठोर बात बोलनेवाले कर्णने क्या काम किया? द्रौपदीको सभामें बुलाकर ले जाना ही वैरके लिए पर्याप्त था ॥ ३२ ॥

अपीदानीं मम सुतास्तिष्ठेरन्मन्दचेतसः ।
येषां भ्राता गुरुर्ज्येष्ठो विनये नावतिष्ठते ॥ ३३ ॥

जिनका बडा भाई विनयमें रह नहीं रहा है, ऐसे मेरे मन्दबुद्धि पुत्र अब भी शान्त होकर बैठे रह सकेंगे क्या ? ॥ ३३ ॥

ममापि वचनं सूत न शुश्रूषति मन्दभाक् ।
दृष्ट्वा मां चक्षुषा हीनं निर्विचेष्टमचेतनम् ॥ ३४ ॥

हे सूत ! दुष्ट दुर्योधन मुझको आंखों और चेष्टासे रहित होनेके कारण अचेतन अर्थात् मजबूर देखकर मेरे वचनको भी नहीं सुनना चाहता ॥ ३४ ॥

ये चास्य सचिवा मन्दाः कर्णसौबलकादयः ।
तेऽप्यस्य भूयसो दोषान्वर्धयन्ति विचेतसः ॥ ३५ ॥

और जो कर्ण, शकुनि आदि मूर्ख और पापी इसके मन्त्री हैं, वे उस मूर्खके दोषोंको और ज्यादा बढाते चले जाते हैं ॥ ३५ ॥

स्वैरमुक्ता अपि शराः पार्थेनामिततेजसा ।
निर्दहेयुर्मम सुतान्किं पुनर्मन्युनेरिताः ॥ ३६ ॥

खेल खेलमें भी अत्यन्त तेजस्वी अर्जुन द्वारा छोडे गए बाण मेरे पुत्रोंको भस्म कर सकते हैं, फिर क्रोधमें छोडे गये बाणोंकी तो कथा ही क्या है ? ॥ ३६ ॥

पार्थबाहुबलोत्सृष्टा महाचापविनिःसृताः ।
दिव्यास्त्रमन्त्रमुदिताः सादयेयुः सुरानपि ॥ ३७ ॥

अर्जुनके भुजाबलसे छोडे गए और महाधनुषसे छूटे हुए दिव्यमन्त्रसे मन्त्रित बाण देवोंका भी नाश कर सकते हैं ॥ ३७ ॥

यस्य मन्त्री च गोप्ता च सुहृच्चैव जनार्दनः ।
हरिस्त्रैलोक्यनाथः स किं नु तस्य न निर्जितम् ॥ ३८ ॥

साक्षात् तीनों लोकोंके नाथ जनार्दन कृष्ण जिसके मन्त्री, रक्षा करनेवाले और मित्र हैं, वह किसको नहीं जीत सकता ? ॥ ३८ ॥

इदं च सुमहच्चित्रमर्जुनस्येह सञ्जय ।
महादेवेन बाहुभ्यां यत्समेत इति श्रुतिः ॥ ३९ ॥

हे सञ्जय ! यह बडे आश्चर्यकी बात है, जो सुनते हैं कि अर्जुनने अपनी भुजाओंसे महादेवसे युद्ध किया ॥ ३९ ॥

प्रत्यक्षं सर्वलोकस्य खाण्डवे यत्कृतं पुरा ।
फल्गुनेन सहायार्थे वह्नेर्दामोदरेण च ॥ ४० ॥

और पहले खाण्डववनमें अग्निकी सहायताके लिए अर्जुन और श्रीकृष्णने जो कुछ किया वह सब लोगोंके लिए प्रत्यक्ष ही है, अर्थात् उसे सब जानते ही हैं ॥ ४० ॥

सर्वथा नास्ति मे पुत्रः सामात्यः सहबान्धवः ।
क्रुद्धे पार्थे च भीमे च वासुदेवे च सात्वते ॥ ४१ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥ १७०८ ॥

मुझे निश्चय है, कि मेरा पुत्र दुर्योधन अपने बन्धु, बांधव और मन्त्रियोंके समेत भीम, अर्जुन और सात्वत कुलोद्भव कृष्णके क्रोधित होनेपर बिल्कुल जीवित न रह सकेगा ॥ ४१ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें छियालीसवां अध्याय समाप्त ॥ ४६ ॥ १७०२ ॥

: ४७ :

जनमेजय उवाच

यदिदं शोचितं राज्ञा धृतराष्ट्रेण वै मुने ।
प्रव्राज्य पाण्डवान्वीरान्सर्वमेतन्निरर्थकम् ॥ १ ॥

जनमेजय बोले– हे महामुने ! राजा धृतराष्ट्रने वीर पाण्डवोंको वन भेजकर जो कुछ यह शोक किया, वह सब व्यर्थ ही था ॥ १ ॥

कथं हि राजा पुत्रं स्वमुपेक्षेताल्पचेतसम् ।
दुर्योधनं पाण्डुपुत्रान्कोपयानं महारथान् ॥ २ ॥

राजा धृतराष्ट्रने महारथी पाण्डुपुत्रोंको क्रोधित करनेवाले अपने अल्पबुद्धिवाले पुत्र दुर्योधनकी उपेक्षा कैसे की ? ॥ २ ॥

किमासीत्पाण्डुपुत्राणां वने भोजनमुच्यताम् ।
वानेयमथ वा कृष्टमेतदाख्यातु मे भवान् ॥ ३ ॥

अब आप हमसे यह कहिये, कि पाण्डव वनमें रहकर क्या भोजन करते थे ? आप हमें यह बताइये कि पाण्डव खेतीसे उत्पन्न धान्यादि खाते थे अथवा वनमें उत्पन्न कन्दमूल आदि ? ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

वानेयं च मृगांश्चैव शुद्धैर्बाणैर्निपातितान् ।
ब्राह्मणानां निवेद्याग्रमभुञ्जन्पुरुषर्षभाः ॥ ४ ॥

वैशम्पायन बोले– वे पुरुषश्रेष्ठ पाण्डव वनमें उत्पन्न हुए अन्न और शुद्ध बाणोंसे मारे हुए हरिण ब्राह्मणोंको पहले खिलाकर फिर स्वयं खाते थे ॥ ४ ॥

तांस्तु शूरान्महेष्वासांस्तदा निवसतो वने ।
अन्वयुर्ब्राह्मणा राजन्साग्नयोऽनग्नयस्तथा ॥ ५ ॥

हे राजन् ! महाधनुर्धारी महावीर पाण्डवके वनमें वसते हुए अग्निहोत्र करनेवाले तथा अग्निहोत्र न करनेवाले अनेक ब्राह्मण उनके साथ साथ रहते थे ॥ ५ ॥

ब्राह्मणानां सहस्राणि स्नातकानां महात्मनाम् ।
दश मोक्षविदां तद्वद्यान्बिभर्ति युधिष्ठिरः ॥ ६ ॥

महाराज युधिष्ठिर जिनका पालन करते थे, उन ब्राह्मणों, स्नातकों और मोक्षवेत्ता महात्माओंकी संख्या दस हजार थी ॥ ६ ॥

रुरून्कृष्णमृगांश्चैव मेध्यांश्चान्यान्वनेचरान् ।
बाणैरुन्मथ्य विधिवद्ब्राह्मणेभ्यो न्यवेदयत् ॥ ७ ॥

अपने पवित्र बाणोंसे वनमें रहनेवाले महाराज युधिष्ठिर रुरु और काले हरिणोंको मारकर तथा अन्य खाने योग्य प्राणियोंको बाणोंसे मारकर ब्राह्मणोंको खिलाया करते थे ॥ ७ ॥

न तत्र कश्चिद्दुर्वर्णो व्याधितो वाप्यदृश्यत ।
कृशो वा दुर्बलो वापि दीनो भीतोऽपि वा नरः ॥ ८ ॥

उनके पास वनमें कोई भी बुरे रङ्गवाला, रोगी, दुबला, बलहीन, दुःखी और डरा हुआ मनुष्य नहीं दिखाई पडता था ॥ ८ ॥

पुत्रानिव प्रियान्ज्ञातीन्भ्रातॄनिव सहोदरान् ।
पुपोष कौरवश्रेष्ठो धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ९ ॥

कौरवोंमें श्रेष्ठ महाराज धर्मराज युधिष्ठिर अपने प्रिय करनेवालोंको पुत्रके समान और जाति-बांधवोंको अपने सगे भाईयोंके समान पालते थे ॥ ९ ॥

पतींश्च द्रौपदी सर्वान्द्विजांश्चैव यशस्विनी ।
मातेव भोजयित्वाग्रे शिष्टमाहारयत्तदा ॥ १० ॥

यशस्विनी द्रौपदी अपने सब पतियोंको और अन्य ब्राह्मणोंको माताके समान पहले भोजन कराकर बादमें बचा हुआ भोजन स्वयं खाती थी ॥ १० ॥

प्राचीं राजा दक्षिणां भीमसेनो यमौ प्रतीचीमथ वाप्युदीचीम् ।
धनुर्धरा मांसहेतोर्मृगाणां क्षयं चक्रुर्नित्यमेवोपगम्य ॥ ११ ॥

धनुषको धारण करनेवाला राजा युधिष्ठिर पूर्वकी ओर, भीमसेन दक्षिणकी ओर सहदेव और नकुल पश्चिम तथा उत्तरकी ओर रोज जाकर मांसके लिए हरिणोंका नाश करते थे ॥ ११ ॥

तथा तेषां वसतां काम्यके वै विहीनानामर्जुनेनोत्सुकानाम्।
पञ्चैव वर्षाणि तदा व्यतीयुरधीयतां जपतां जुह्वतां च ॥ १२ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥ १७१४ ॥

इसप्रकार अर्जुनसे बिछुड जानेके कारण उनसे मिलनेके लिए उत्सुक उन पाण्डवोंके स्वाध्याय करते हुए, जप करते हुए और अग्निहोत्र करते हुए और उस काम्यक वनमें निवास करते हुए पांच वर्ष बीत गए ॥ १२ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें सैंतालीसवां अध्याय समाप्त ॥ ४७ ॥ १७१४ ॥

: ४८ :

वैशम्पायन उवाच

सुदीर्घमुष्णं निःश्वस्य धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः।
अब्रवीत्सञ्जयं सूतमामन्त्र्य भरतर्षभ ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले- हे पुरुषसिंह जनमेजय ! अम्बिकापुत्र राजा धृतराष्ट्र लम्बी और गर्म सांस लेकर सञ्जयसे मन्त्रणा करते हुए ऐसे बोले ॥ १ ॥

देवपुत्रौ महाभागौ देवराजसमद्युती।
नकुलः सहदेवश्च पाण्डवौ युद्धदुर्मदौ ॥ २ ॥

देवराज इन्द्रके समान तेजस्वी देवोंके पुत्र महाभाग्यशाली नकुल और सहदेव ये दोनों पांडुपुत्र युद्धमें भयंकर हैं ॥ २ ॥

दृढायुधौ दूरपातौ युद्धे च कृतनिश्चयौ।
शीघ्रहस्तौ दृढक्रोधौ नित्ययुक्तौ तरस्विनौ ॥ ३ ॥

वे दोनों ही दृढ धनुषवाले, दूरतक बाण फेंकनेवाले, सदाही युद्धमें स्थिर रहनेवाले, जल्दी बाण चलानेवाले, महाक्रोधी, सदा सावधान रहनेवाले और शीघ्रता करनेवाले हैं ॥ ३ ॥

भीमार्जुनौ पुरोधाय यदा तौ रणमूर्धनि।
स्थास्येते सिंहविक्रान्तावश्विनाविव दुःसहौ।
न शेषमिह पश्यामि तदा सैन्यस्य सञ्जय ॥ ४ ॥

सिंहके समान पराक्रमी और अश्विनीकुमारोंके समान असह्य वे दोनों जब भीम और अर्जुनको आगे करके युद्धमें आवेंगे; तब तो, हे सञ्जय ! मेरी सेनाका नाश ही हो जाएगा, ऐसा ही मैं समझता हूँ ॥ ४ ॥

तौ ह्यप्रतिरथौ युद्धे देवपुत्रौ महारथौ ।
द्रौपद्यास्तं परिक्लेशं न क्षंस्येते त्वमर्षिणौ ॥ ५ ॥

देवोंके पुत्र वह दोनों वीर महारथी और युद्धमें असामान्य हैं; असहनशील वे दोनों द्रौपदीके उस दुःखको स्मरण करके कौरवोंको कदापि क्षमा नहीं करेंगे ॥ ५ ॥

वृष्णयो वा महेष्वासा पाञ्चाला वा महौजसः ।
युधि सत्याभिसन्धेन वासुदेवेन रक्षिताः ।
प्रधक्ष्यन्ति रणे पार्थाः पुत्राणां मम वाहिनीम् ॥ ६ ॥

महाधनुर्धारी वृष्णिवंशी और महातेजस्वी पाञ्चालदेशी क्षत्रिय लोग तथा सत्यवादी, महात्मा कृष्णसे रक्षित होकर पाण्डव युद्धमें मेरे पुत्रोंकी सेनाको जला डालेंगे ॥ ६ ॥

रामकृष्णप्रणीतानां वृष्णीनां सूतनन्दन ।
न शक्यः सहितुं वेगः पर्वतैरपि संयुगे ॥ ७ ॥

हे सूतनन्दन ! बलराम और कृष्णके द्वारा शिक्षित वृष्णिवंशी सेनाके वेगको युद्धमें पर्वत भी नहीं सह सकते ॥ ७ ॥

तेषां मध्ये महेष्वासो भीमो भीमपराक्रमः ।
शैक्यया वीरघातिन्या गदया विचरिष्यति ॥ ८ ॥

उन लोगोंके बीचमें महापराक्रमी धनुषधारी भीम वीरोंका नाश करनेवाली, पातालको फोडनेवाली गदाको लेकर युद्धमें घूमेगा ॥ ८ ॥

तथा गाण्डीवनिर्घोषं विस्फूर्जितमिवाशनेः ।
गदावेगं च भीमस्य नालं सोढुं नराधिपाः ॥ ९ ॥

गाण्डीव धनुषका गिरती हुई बिजलीके समान घोर शब्द और भीमकी गदाका वेग कोई भी राजा सहनेमें समर्थ नहीं होगा ॥ ९ ॥

ततोऽहं सुहृदां वाचो दुर्योधनवशानुगः ।
स्मरणीयाः स्मरिष्यामि मया या न कृताः पुरा ॥ १० ॥

उस समय दुर्योधनके वशमें हुआ हुआ मैं अपने मित्रोंकी स्मरण करने योग्य बातोंका स्मरण करूंगा, जिन्हें मैं पहले कर न सका ॥ १० ॥

सञ्जय उवाच

व्यतिक्रमोऽयं सुमहांस्त्वया राजन्नुपेक्षितः ।
समर्थेनापि यन्मोहात्पुत्रस्ते न निवारितः ॥ ११ ॥

सञ्जय बोले– हे महाराज ! आपने यह बडी भारी भूल की है, जो समर्थ होनेपर भी अपने पुत्रको मोहसे नहीं रोका और अपने पुत्रके दोषोंकी उपेक्षा की ॥ ११ ॥

श्रुत्वा हि निर्जितान्द्यूते पाण्डवान्मधुसूदनः ।
त्वरितः काम्यके पार्थान्समभावयदच्युतः ॥ १२ ॥

जब अच्युत और मधु नामक असुरके नाशक श्रीकृष्णने सुना, कि पाण्डव लोग जुएमें हार गये, तो तुरन्त ही काम्यक वनमें पाण्डवोंके पास आये ॥ १२ ॥

द्रुपदस्य तथा पुत्रा धृष्टद्युम्नपुरोगमाः ।
विराटो धृष्टकेतुश्च केकयाश्च महारथाः ॥ १३ ॥

धृष्टद्युम्नको आगे करके द्रुपदके पुत्र, विराट, धृष्टकेतु और महारथी कैकय लोग यह सब युधिष्ठिरके पास वनमें गये थे ॥ १३ ॥

तैश्च यत्कथितं तत्र दृष्ट्वा पार्थान्पराजितान् ।
चारेण विदितं सर्वं तन्मया वेदितं च ते ॥ १४ ॥

उन्होंने हारे हुए पाण्डवोंको देखकर जो कुछ उनसे कहा वह सब मैंने दूतोंसे सुना है और वह सब आपसे मैंने कह दिया है ॥ १४ ॥

समागम्य वृतस्तत्र पाण्डवैर्मधुसूदनः ।
सारथ्ये फल्गुनस्याजौ तथेत्याह च तान्हरिः ॥ १५ ॥

वहां जानेपर जब पाण्डवोंने मधु दैत्यके विनाशक कृष्णको घेरकर युद्धमें अर्जुनका सारथ्य कर्म करनेकी प्रार्थना की, तो भगवान् कृष्णने उन पाण्डवोंसे 'तथास्तु' कहकर स्वीकार कर लिया ॥ १५ ॥

अमर्षितो हि कृष्णोऽपि दृष्ट्वा पार्थांस्तथागतान् ।
कृष्णाजिनोत्तरासङ्गानब्रवीच्च युधिष्ठिरम् ॥ १६ ॥

उस दीन दशाको प्राप्त होनेके कारण काले मृगचर्मको ओढे हुए उन पाण्डवोंको देखकर कृष्ण भी क्रोधित हो गए और वे युधिष्ठिरसे बोले ॥ १६ ॥

या सा समृद्धिः पार्थानामिन्द्रप्रस्थे बभूव ह ।
राजसूये मया दृष्टा नृपैरन्यैः सुदुर्लभा ॥ १७ ॥

हे महाराज! पहले मैंने जो राजसूय यज्ञके समयमें इन्द्रप्रस्थमें पाण्डवोंकी लक्ष्मी देखी थी, वह दूसरे राजाओंको दुर्लभ है ॥ १७ ॥

यत्र सर्वान्महीपालाञ्शस्त्रतेजोभयार्दितान् ।
सवङ्गाङ्गान्सपौण्ड्रोड्रान्सचोलद्रविडान्ध्रकान् ॥ १८ ॥

जिस महायज्ञमें शस्त्र, भय और तेजसे पीडित अङ्ग, वङ्ग, पौण्ड्र, उड्र, चोल, द्रविड और अन्धक आदि सब राजाओंको ॥ १८ ॥

सागरानूपगांश्चैव ये च पत्तनवासिनः ।
सिंहलान्बर्बरान्म्लेच्छान्ये च जाङ्गलवासिनः ॥ १९ ॥

समुद्रवासी बहुत जलवाले देशोंके निवासी और सब नगरोंके राजा, सिंहल तथा बर्बरके और म्लेच्छोंके उत्तम राजा तथा जांगलके राजा ॥ १९ ॥

पश्चिमानि च राज्यानि शतशः सागरान्तिकान् ।
पह्लवान्दरदान्सर्वान्किरातान्यवनाञ्शकान् ॥ २० ॥

पश्चिमके सब राजा, समुद्रके बीचमें रहनेवाले सैकडों राजा, पह्लव, दरद, सब किरात, यवन, शक ॥ २० ॥

हारहूणांश्च चीनांश्च तुखारान्सैन्धवांस्तथा ।
जागुडान्रामठान्मुण्डान्स्त्रीराज्यनथ तङ्गणान् ॥ २१ ॥

हार, हूण, चीन, तुखार, सैन्धव, जागुड, रामठ, मुण्ड, स्त्रीराज्य, तङ्गण ॥ २१ ॥

एते चान्ये च बहवो ये च ते भरतर्षभ ।
आगतानहमद्राक्षं यज्ञे ते परिवेषकान् ॥ २२ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! ये तथा दूसरे भी बहुतसे राजाओंको उस अभिषेकमें आये हुए और भोजन गृहमें सबको भोजन परोसनेका काम करते हुए मैंने देखा था ॥ २२ ॥

सा ते समृद्धिर्यैरात्ता चपला प्रतिसारिणी ।
आदाय जीवितं तेषामाहरिष्यामि तामहम् ॥ २३ ॥

हे महाराज ! वह आपकी चलनेवाली और चञ्चल लक्ष्मी जिन्होंने छीन ली है, मैं उनके प्राणोंका हरणकर साथ ही उस लक्ष्मीको भी छीन लाऊंगा ॥ २३ ॥

रामेण सह कौरव्य भीमार्जुनयमैस्तथा ।
अक्रूरगदसाम्बैश्च प्रद्युम्नेनाहुकेन च ।
धृष्टद्युम्नेन वीरेण शिशुपालात्मजेन च ॥ २४ ॥

हे कौरव्य ! मैं, बलराम, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव, अक्रूर, गद, साम्ब, प्रद्युम्न, उग्रसेन, महावीर धृष्टद्युम्न और शिशुपालपुत्र धृष्टकेतु इन सबोंके साथ मिलकर ॥ २४ ॥

दुर्योधनं रणे हत्वा सद्यः कर्णं च भारत ।
दुःशासनं सौबलेयं यश्चान्यः प्रतियोत्स्यते ॥ २५ ॥

शीघ्र ही युद्धमें दुर्योधन, कर्ण, दुःशासन और सुबलराज शकुनि और जो दुसरे युद्ध करेंगे, उन सबको मारकर लक्ष्मीको छीन लाऊंगा ॥ २५ ॥

ततस्त्वं हास्तिनपुरे भ्रातृभिः सहितो वसन्।
धार्तराष्ट्रीं श्रियं प्राप्य प्रशाधि पृथिवीमिमाम् ॥ २६ ॥

हे भारत! तब आप अपने सब भाईयोंके साथ धृतराष्ट्रकी लक्ष्मीको प्राप्त करके हस्तिनापुरमें वसते हुए सब पृथ्वीपर राज्य कीजिये ॥ २६ ॥

अथैनमब्रवीद्राजा तस्मिन्वीरसमागमे।
शृण्वत्सु तेषु सर्वेषु धृष्टद्युम्नमुखेषु च ॥ २७ ॥

तब उस वीरसमाजमें जहां महावीर धृष्टद्युम्न आदि अनेक वीर बैठे थे, वहां उनको सुनानेके लिये राजा युधिष्ठिर ऐसा कहने लगे ॥ २७ ॥

प्रतिगृह्णामि ते वाचं सत्यामेतां जनार्दन।
अमित्रान्मे महाबाहो सानुबन्धान्हनिष्यसि ॥ २८ ॥

हे जनार्दन! हम तुम्हारी सच्ची प्रतिज्ञाको स्वीकार करते हैं, हे महाबाहो! आप हमारे शत्रुओंको सेनाके समेत अवश्य ही मारेंगे ॥ २८ ॥

वर्षात्त्रयोदशादूर्ध्वं सत्यं मां कुरु केशव।
प्रतिज्ञातो वने वासो राजमध्ये मया ह्ययम् ॥ २९ ॥

परन्तु मैंने राजाओंके बीचमें तेरह वर्षतक वनमें रहनेकी प्रतिज्ञा की है, अतः आप तेरह वर्षके पश्चात् ही इस अपनी प्रतिज्ञाको सत्य कीजियेगा ॥ २९ ॥

तद्धर्मराजवचनं प्रतिश्रुत्य सभासदः।
धृष्टद्युम्नपुरोगास्ते शमयामासुरञ्जसा।
केशवं मधुरैर्वाक्यैः कालयुक्तैरमर्षितम् ॥ ३० ॥

धर्मराजके ऐसे वचनको सुनकर धृष्टद्युम्न आदि उन सभासदोंने शीघ्रही क्रोधयुक्त कृष्णको शीघ्र ही समयानुसार मीठे वचन कहकर शान्त किया ॥ ३० ॥

पाञ्चालीं चाहुरक्लिष्टां वासुदेवस्य शृण्वतः।
दुर्योधनस्तव क्रोधाद्देवि त्यक्ष्यति जीवितम्।
प्रतिजानीम ते सत्यं मा शुचो वरवर्णिनि ॥ ३१ ॥

सब वीरोंने श्रीकृष्णके सुनते हुए क्लेशको कुछ न समझनेवाली द्रौपदीसे यह प्रतिज्ञा की, कि हे देवि! तुम्हारे क्रोधसे दुर्योधन अपने प्राणका त्याग करेगा। हे सुन्दरी! तुम शोक मत करो और हम तुम्हारे सामने यह सत्य प्रतिज्ञा करते हैं ॥ ३१ ॥

ये स्म ते कुपितां कृष्णे दृष्ट्वा त्वां प्राहसंस्तदा।
मांसानि तेषां खादन्तो हसिष्यन्ति मृगद्विजाः ॥ ३२ ॥

जो तुमको क्रोधित होते देखकर उस समय हंसे थे, उनके मांस पशु और पक्षी खाते हुए खुश होंगे ॥ ३२ ॥

पास्यन्ति रुधिरं तेषां गृध्रा गोमायवस्तथा।
उत्तमाङ्गानि कर्षन्तो यैस्त्वं कृष्टा सभातले ॥ ३३ ॥

जिन्होंने तुम्हें सभाके मध्यमें खींचा था, उन्हींके उत्तम अंगोंको खींचते हुए गिद्ध और सियार उनका रुधिर पीयेंगे ॥ ३३ ॥

तेषां द्रक्ष्यसि पाञ्चालि गात्राणि पृथिवीतले।
क्रव्यादैः कृष्यमाणानि भक्ष्यमाणानि चासकृत् ॥ ३४ ॥

हे पाञ्चालि! जिन्होंने तुमको दुःख दिया है, उनके शरीरोंको पृथ्वीमें मांस खानेवाले पशुओं द्वारा खींचे जाते हुए और बार बार खाये जाते हुए तुम देखोगी ॥ ३४ ॥

परिक्लिष्टासि यैस्तत्र यैश्चापि समुपेक्षिता।
तेषामुत्कृत्तशिरसां भूमिः पास्यति शोणितम् ॥ ३५ ॥

जिनके द्वारा तुम्हें बहुत कष्ट दिए गए हैं, और जिन्होंने तुम्हारी उपेक्षा की है, उन कटे हुए सिरवालोंका खून यह भूमि पीयेगी ॥ ३५ ॥

एवं बहुविधा वाचस्तदोचुः पुरुषर्षभाः।
सर्वे तेजस्विनः शूराः सर्वे चाहतलक्षणाः ॥ ३६ ॥

उस समय उन सब महातेजस्वी शूरवीर, सब लक्षणोंसे भरे हुए पुरुषोंमें श्रेष्ठ वीरोंने इस प्रकार धर्मराजके सामने अनेक तरहकी बातें कहीं ॥ ३६ ॥

ते धर्मराजेन वृता वर्षादूर्ध्वं त्रयोदशात्।
पुरस्कृत्योपयास्यन्ति वासुदेवं महारथाः ॥ ३७ ॥

तदनन्तर धर्मराजने उन सबको तेरह वर्षके पश्चात् युद्धके निमित्त निमन्त्रण दिया, कि वे सब महारथी श्रीकृष्णको आगे करके युद्धमें आवें ॥ ३७ ॥

रामश्च कृष्णश्च धनञ्जयश्च प्रद्युम्नसाम्बौ युयुधानभीमौ।
माद्रीसुतौ केकयराजपुत्राः पाञ्चालपुत्रैः सह धर्मराज्ञा ॥ ३८ ॥

धर्मराज युधिष्ठिरके साथ बलराम, कृष्ण, अर्जुन, प्रद्युम्न, साम्ब, सात्यकी, भीमसेन, नकुल, सहदेव, काश्मीरके राजाके पुत्र, पांचाल राजके पुत्र आयेंगे ॥ ३८ ॥

एतान्सर्वाँल्लोकवीरानजेयान्महात्मनः सानुबन्धान्ससैन्यान्।
को जीवितार्थी समरे प्रत्युदीयात्क्रुद्धान्सिंहान्केसरिणो यथैव ॥ ३९ ॥

ये सब लोकमें प्रसिद्ध वीर और अजेय हैं। ये महात्मा लोग महासेना और बन्धु बान्धवोंके सहित धर्मराजकी सहायता करेंगे। कौन ऐसा वीर है, जो जीते रहनेकी इच्छा करते हुए भी इन केसरी सिंहके समान क्रोधित वीरोंके साथ युद्ध करेगा? ॥ ३९ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

यन्माब्रवीद्विदुरो द्यूतकाले त्वं पाण्डवाञ्जेष्यसि चेन्नरेन्द्र।

ध्रुवं कुरूणामयमन्तकालो महाभयो भविता शोणितौघः ॥ ४० ॥

धृतराष्ट्र बोले– मुझसे जो विदुरने जुएके समय कहा था; कि हे नरनाथ! यदि आप पाण्डवोंको जुएमें हराइयेगा तो निश्चयसे कुरुवंशका अन्त हो जाएगा, बडा भारी भय उपस्थित होगा और पृथ्वीमें रुधिरकी धारा बहेगी ॥ ४० ॥

मन्ये तथा तद्भवितेति सूत यथा क्षत्ता प्राह वचः पुरा माम्।

असंशयं भविता युद्धमेतद्गते काले पाण्डवानां यथोक्तम् ॥ ४१ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥ १७५५ ॥

हे सूत! मुझसे विदुरने पहले जो बात कही थी, निश्चयसे वह वैसा ही होगा ऐसा मैं मानता हूँ। इसमें कोई सन्देह नहीं, कि तेरह वर्ष बीतनेपर जैसा कहा था, वैसा ही यह महायुद्ध होगा ॥ ४१ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें अडतालीसवां अध्याय समाप्त ॥ ४८ ॥ १७५५ ॥

४९

जनमेजय उवाच

अस्त्रहेतोर्गते पार्थे शक्रलोकं महात्मनि।

युधिष्ठिरप्रभृतयः किमकुर्वन्त पाण्डवाः ॥ १ ॥

जनमेजय बोले– महात्मा अर्जुन जब शस्त्र लेनेके लिए इन्द्रलोकको गये तो युधिष्ठिर आदि पाण्डवोंने क्या किया? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

अस्त्रहेतोर्गते पार्थे शक्रलोकं महात्मनि।

न्यवसन्कृष्णया सार्धं काम्यके पुरुषर्षभाः ॥ २ ॥

वैशम्पायन बोले– जब महात्मा अर्जुन शस्त्र लेनेकी इच्छासे इन्द्रलोकको चले चले गये, तो पुरुषोंमें श्रेष्ठ पाण्डव द्रौपदीके साथ काम्यक वनमें वास करने लगे ॥ २ ॥

ततः कदाचिदेकान्ते विविक्त इव शाद्वले।

दुःखार्ता भरतश्रेष्ठा निषेदुः सह कृष्णया।

धनञ्जयं शोचमानाः साश्रुकण्ठाः सुदुःखिताः ॥ ३ ॥

तब एक दिन दुःखसे व्याकुल वे भरतश्रेष्ठ पाण्डव धनंजय अर्जुनके बारेमें सोचते हुए अत्यन्त दुःखी होनेके कारण आंसुओंसे रुंधे हुए कण्ठवाले होकर द्रौपदीके साथ एकान्तमें घासपर बैठे हुए थे ॥ ३ ॥

तद्वियोगाद्धितान्सर्वाञ्छोकः समभिपुप्लुवे ।
धनञ्जयवियोगाच्च राज्यनाशाच्च दुःखिताः ॥ ४ ॥

अर्जुनके वियोग और राज्यके नाशसे महादुःखित सभी पाण्डवोंको अर्जुनके वियोगसे उत्पन्न शोकने आ घेरा ॥ ४ ॥

अथ भीमो महाबाहुर्युधिष्ठिरमभाषत ।
निदेशात्ते महाराज गतोऽसौ पुरुषर्षभः ।
अर्जुनः पाण्डुपुत्राणां यस्मिन्प्राणाः प्रतिष्ठिताः ॥ ५ ॥

तब युधिष्ठिरसे महाबाहु भीमसेन ऐसा बोले— हे महाराज ! जिसमें हम पाण्डुपुत्रोंके प्राण स्थिर हैं, वह पुरुषसिंह अर्जुन आपकी आज्ञासे तप करनेको गये हैं ॥ ५ ॥

यस्मिन्विनष्टे पाञ्चालाः सह पुत्रैस्तथा वयम् ।
सात्यकिर्वासुदेवश्च विनश्येयुरसंशयम् ॥ ६ ॥

जिसके नाश होनेसे पुत्रोंके समेत पाञ्चाललोग हम, सात्यकी और श्रीकृष्ण निःसन्देह मर जायेंगे ॥ ६ ॥

योऽसौ गच्छति तेजस्वी बहून्क्लेशानचिन्तयन् ।
भवन्नियोगाद्बीभत्सुस्ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ७ ॥

जो यह तेजस्वी अर्जुन आपकी आज्ञासे बिना कुछ सोचे विचारे वनमें जाकर अनेक क्लेशोंको सह रहा है, उससे अधिक दुःख और क्या होगा ? ॥ ७ ॥

यस्य बाहू समाश्रित्य वयं सर्वे महात्मनः ।
मन्यामहे जितानाजौ परान्प्राप्तां च मेदिनीम् ॥ ८ ॥

जिसके बाहुबलका आश्रय करके हम सब महात्मा युद्धमें शत्रुओंको जीता हुआ और पृथ्वीको प्राप्त हुआ ही समझते हैं ॥ ८ ॥

यस्य प्रभावान्न मया सभामध्ये धनुष्मतः ।
नीता लोकममुं सर्वे धार्तराष्ट्राः ससौबलाः ॥ ९ ॥

जिस धनुर्धारीके भरोसे रहकर मैंने सभामें शकुनिके सहित सब धृतराष्ट्र–पुत्रोंको उस लोकमें नहीं पहुंचा दिया ॥ ९ ॥

ते वयं बाहुबलिनः क्रोधमुत्थितमात्मनः ।
सहामहे भवन्मूलं वासुदेवेन पालिताः ॥ १० ॥

वे हम सब श्रीकृष्णसे रक्षित और बाहुबली होनेपर भी केवल आपकी आज्ञा पालनेके निमित्त इस उत्पन्न क्रोधको सह रहे हैं ॥ १० ॥

वयं हि सह कृष्णेन हत्वा कर्णमुखान्परान् ।
स्वबाहुविजितां कृत्स्नां प्रशासेम वसुन्धराम् ॥ ११ ॥

हम सब श्रीकृष्णकी सहायतासे कर्ण आदि शत्रुओंको मारकर अपने बाहुबलसे जीती हुई पृथ्वीका राज्य करेंगे ॥ ११ ॥

भवतो द्यूतदोषेण सर्वे वयमुपप्लुताः ।
अहीनपौरुषा राजन्बलिभिर्बलवत्तमाः ॥ १२ ॥

पर, हे राजन् ! केवल आपहीके जुएरूपी दोषके कारण पौरुषसे युक्त तथा बलवानोंमें भी अत्यन्त बलवान् हम इस आपत्तिमें पडे हुए हैं ॥ १२ ॥

क्षात्रं धर्मं महाराज समवेक्षितुमर्हसि ।
न हि धर्मो महाराज क्षत्रियस्य वनाश्रयः ।
राज्यमेव परं धर्मं क्षत्रियस्य विदुर्बुधाः ॥ १३ ॥

हे महाराज ! आपको क्षत्रियोंके धर्मकी ओर देखना चाहिये । हे महाराज ! वनमें रहना क्षत्रियोंका धर्म नहीं है, पण्डितोंने राज्य-प्राप्तिको ही क्षत्रियोंका परम धर्म कहा है ॥ १३ ॥

स क्षत्रधर्मविद्राजन्मा धर्म्यान्नीनशः पथः ।
प्राग्द्वादश समा राजन्धार्तराष्ट्रान्निहन्महि ॥ १४ ॥

हे राजन् युधिष्ठिर ! क्षत्रधर्मको जाननेवाले आप उस धर्मके मार्गसे दूर न जायें। हे राजन् ! बारह वर्षसे पूर्व ही हम धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मार दें ॥ १४ ॥

निवर्त्य च वनात्पार्थमानाय्य च जनार्दनम् ।
व्यूढानीकान्महाराज जवेनैव महाहवे ।
धार्तराष्ट्रानमुं लोकं गमयामि विशां पते ॥ १५ ॥

अर्जुनको वनसे बुलाकर और श्रीकृष्णको साथमें लेकर, हे महाराज ! हे प्रजानाथ ! मैं सेनाका उत्तम व्यूह बनाकर महायुद्धमें उपस्थित हुए उन धृतराष्ट्रके पुत्रोंको वेगसे यमलोकको भेज दूंगा ॥ १५ ॥

सर्वानहं हनिष्यामि धार्तराष्ट्रान्ससौबलान् ।
दुर्योधनं च कर्णं च यो वान्यः प्रतियोत्स्यते ॥ १६ ॥

शकुनिके सहित धृतराष्ट्रके सब पुत्र, कर्ण, दुर्योधन या और जो युद्ध करनेको आयेगा, उन सबको मैं अकेला ही मार दूंगा ॥ १६ ॥

मया प्रशमिते पश्चात्त्वमेष्यसि वनात्पुनः ।
एवं कृते न ते दोषो भविष्यति विशां पते ॥ १७ ॥

हे महाराज ! जब मैं इन सबको मार चुकूंगा, तब आप वनसे नगरको आईये, ऐसा करनेसे हे प्रजाओंके स्वामिन् ! आपका कोई दोष नहीं होगा ॥ १७ ॥

यज्ञैश्च विविधैस्तात कृतं पापमरिन्दम।
अवधूय महाराज गच्छेम स्वर्गमुत्तमम् ॥ १८ ॥
हे तात ! हे शत्रुनाशन ! फिर हमलोग अनेक यज्ञोंसे अपने किए हुए सब पापोंका नाश करके उत्तम स्वर्गको प्राप्त करेंगे ॥ १८ ॥

एवमेतद्भवेद्राजन्यदि राजा न बालिशः।
अस्माकं दीर्घसूत्रः स्याद्भवान्धर्मपरायणः ॥ १९ ॥
हे महाराज ! यदि हमारे राजा आप बालकोंके समान हठी और दीर्घसूत्री, आलसी और धर्मपरायण न हों, तो यह सब काम ऐसे ही हो सकता है ॥ १९ ॥

निकृत्या निकृतिप्रज्ञा हन्तव्या इति निश्चयः।
न हि नैकृतिकं हत्वा निकृत्या पापमुच्यते ॥ २० ॥
ऐसा कहा है, कि छलियोंको छलहीसे मारना चाहिये, क्योंकि छलीको छलके द्वारा मारने से पाप नहीं होता ॥ २० ॥

तथा भारत धर्मेषु धर्मज्ञैरिह दृश्यते।
अहोरात्रं महाराज तुल्यं संवत्सरेण हि ॥ २१ ॥
हे महाराज ! हे भारत ! धर्मज्ञ लोगोंने धर्मके विषयमें कहा है, कि एक-दिन रात एक वर्षके बराबर होता है ॥ २१ ॥

तथैव वेदवचनं श्रूयते नित्यदा विभो।
संवत्सरो महाराज पूर्णो भवति कृच्छ्रतः ॥ २२ ॥
हे महाराज ! हे विभो ! रोज हम यही वेद वचन सुनते हैं कि कृच्छ्रव्रतके अनुष्ठानसे एक वर्ष पूर्ण हो जाता है ॥ २२ ॥

यदि वेदाः प्रमाणं ते दिवसादूर्ध्वमच्युत।
त्रयोदश समाः कालो ज्ञायतां परिनिष्ठितः ॥ २३ ॥
यदि आप वेदको प्रमाण मानते हैं; तो, हे अच्युत ! समझ लीजिए कि तेरहवें दिनके बाद ही हमारे तेरह वर्षका समय बीत गया है ॥ २३ ॥

कालो दुर्योधनं हन्तुं सानुबन्धमरिन्दम।
एकाग्रां पृथिवीं सर्वां पुरा राजन्करोति सः ॥ २४ ॥
हे राजन् ! हे शत्रुनाशन ! सेनाके समेत दुर्योधनको मारनेका यही समय है। वह दुर्योधन सारी पृथ्वीपर अपना अधिकार कर ले, इससे पूर्व ही यह काम करना चाहिए ॥ २४ ॥

एवं ब्रुवाणं भीमं तु धर्मराजो युधिष्ठिरः।
उवाच सान्त्वयन्राजा मूर्ध्न्युपाघ्राय पाण्डवम् ॥ २५ ॥
इसप्रकार कहते हुए पाण्डव भीमको धर्मराज राजा युधिष्ठिरने शान्त करके उनका माथा सूंघकर उनसे ऐसे वचन कहे ॥ २५ ॥

असंशयं महाबाहो हनिष्यसि सुयोधनम्।
वर्षात्त्रयोदशादूर्ध्वं सह गाण्डीवधन्वना ॥ २६ ॥

हे महाबाहो ! इसमें कोई सन्देह नहीं, कि तुम अर्जुनके साथ तेरहवर्षके पश्चात् दुर्योधनको मारोगे ॥ २६ ॥

यच्च मा भाषसे पार्थ प्राप्तः काल इति प्रभो।
अनृतं नोत्सहे वक्तुं न ह्येतन्मयि विद्यते ॥ २७ ॥

हे कुन्तीनन्दन ! तुम जो कहते हो, कि समय आ गया है यह ठीक भी हो, पर मैं झूठ बोलनेका साहस नहीं कर सकता, क्योंकि झूठ बोलनेकी शक्ति मेरे अन्दर नहीं है ॥ २७ ॥

अन्तरेणापि कौन्तेय निकृतिं पापनिश्चयम्।
हन्ता त्वमसि दुर्धर्ष सानुबन्धं सुयोधनम् ॥ २८ ॥

हे दुर्द्धर्ष कुन्तीपुत्र ! यह समय बीतनेके पश्चात् तुम छलके विना भी पापी दुर्योधनका सेना सहित नाश कर सकते हो ॥ २८ ॥

एवं ब्रुवति भीमं तु धर्मराजे युधिष्ठिरे।
आजगाम महाभागो बृहदश्वो महानृषिः ॥ २९ ॥

जब धर्मराज युधिष्ठिर भीमसेनसे ऐसा कह रहे थे; उसी समय महाभाग बृहदश्व नामक एक महान् ऋषि वहां आये ॥ २९ ॥

तमभिप्रेक्ष्य धर्मात्मा संप्राप्तं धर्मचारिणम्।
शास्त्रवन्मधुपर्केण पूजयामास धर्मराट् ॥ ३० ॥

धर्मात्मा धर्मराज युधिष्ठिरने उन धर्मका आचरण करनेवाले मुनिको वहां आया देखकर शास्त्रविधिके अनुसार मधुपर्क आदिसे उनकी पूजा की ॥ ३० ॥

आश्वस्तं चैनमासीनमुपासीनो युधिष्ठिरः।
अभिप्रेक्ष्य महाबाहुः कृपणं बह्वभाषत ॥ ३१ ॥

उनको सुखसे बैठा हुआ देखकर बैठे हुए महाबाहु युधिष्ठिर अनेक दीन वचन कहने लगे ॥ ३१ ॥

अक्षद्यूतेन भगवन्धनं राज्यं च मे हृतम्।
आहूय निकृतिप्रज्ञैः कितवैरक्षकोविदैः ॥ ३२ ॥

हे भगवन् ! छलकपटकी बुद्धिसे युक्त और पांसोंकी विद्यामें प्रवीण जुआरीयोंने मुझे बुलाकर जुएसे मेरे राज्य और धनको छीन लिया ॥ ३२ ॥

अनक्षज्ञस्य हि सतो निकृत्या पापनिश्चयैः ।
भार्या च मे सभां नीता प्राणेभ्योऽपि गरीयसी ॥ ३३ ॥

छलको न जाननेवाले धर्मात्मा मेरी प्राणसे भी अधिक प्यारी स्त्रीको पापमें निश्चयवाले वे कौरव छलसे सभामें ले गए ॥ ३३ ॥

अस्ति राजा मया कश्चिदल्पभाग्यतरो भुवि ।
भवता दृष्टपूर्वो वा श्रुतपूर्वोऽपि वा भवेत् ।
न मत्तो दुःखिततरः पुमानस्तीति मे मतिः ॥ ३४ ॥

मेरे विचारमें मुझसे अधिक दुःखी पुरुष और कोई नहीं है । क्या संसारमें मेरी अपेक्षा भी ज्यादा अल्प भाग्यवाला कोई पुरुष है, जिसे आपने कभी पहले देखा हो या पहले सुना हो ? ॥ ३४ ॥

बृहदश्व उवाच

यद्ब्रवीषि महाराज न मत्तो विद्यते क्वचित् ।
अल्पभाग्यतरः कश्चित्पुमानस्तीति पाण्डव ॥ ३५ ॥

बृहदश्व बोले— हे पाण्डव ! हे राजन् ! आप जो कहते हैं, कि मुझसेभी अधिक दुर्भाग्यशाली पुरुष और कोई नहीं है ॥ ३५ ॥

अत्र ते कथयिष्यामि यदि शुश्रूषसेऽनघ ।
यस्त्वत्तो दुःखिततरो राजासीत्पृथिवीपते ॥ ३६ ॥

हे पापरहित पृथ्वीपते ! यदि आप सुननेकी इच्छा करें, तो उस राजाकी कथा कहूं, जो आपसे भी अधिक दुःखी हुआ है ॥ ३६ ॥

वैशम्पायन उवाच

अथैनमब्रवीद्राजा ब्रवीतु भगवानिति ।
इमामवस्थां संप्राप्तं श्रोतुमिच्छामि पार्थिवम् ॥ ३७ ॥

वैशम्पायन बोले— महाराज युधिष्ठिरने उनके ऐसे वचन सुनकर उनसे कहा, कि मैं इस दुःखकी दशाको प्राप्त हुए राजाकी कथा सुननेकी बहुत इच्छा करता हूं, आप कहिये ॥ ३७ ॥

बृहदश्व उवाच

शृणु राजन्नवहितः सह भ्रातृभिरच्युत ।
यस्त्वत्तो दुःखिततरो राजासीत्पृथिवीपते ॥ ३८ ॥

बृहदश्व बोले— हे पृथिवीपते ! हे अच्युत ! आप भाइयोंके साथ एकाग्रचित्त होकर, जो राजा आपसे भी ज्यादा दुःखी हुआ है, उसकी कथा सुनिये ॥ ३८ ॥

निषधेषु महीपालो वीरसेन इति स्म ह।
तस्य पुत्रोऽभवन्नाम्ना नलो धर्मार्थदर्शिवान् ॥ ३९ ॥

निषधदेशमें वीरसेन नामक एक राजा हुआ था। उसके नल नामका एक पुत्र था; जो धर्म और धनका पण्डित था ॥ ३९ ॥

स निकृत्या जितो राजा पुष्करेणेति नः श्रुतम्।
वनवासमदुःखार्हो भार्यया न्यवसत्सह ॥ ४० ॥

हमने सुना है, कि उसको भी पुष्करने छलसे जुएमें जीत लिया था, दुःखके अयोग्य होकर भी उसने स्त्रीके सहित वनमें निवास किया था ॥ ४० ॥

न तस्याश्वो न च रथो न भ्राता न च बान्धवाः।
वने निवसतो राजञ्शिष्यन्ते स्म कदाचन ॥ ४१ ॥

हे राजन्! वनमें रहते हुए उसके साथ न घोडा था, न रथ था, न भाई था और न कोई बांधव ही उसके साथ कभी रहे ॥ ४१ ॥

भवान्हि संवृतो वीरैर्भ्रातृभिर्देवसंमितैः।
ब्रह्मकल्पैर्द्विजाग्र्यैश्च तस्मान्नार्हसि शोचितुम् ॥ ४२ ॥

आप तो देवोंके समान वीरभाईयों और ब्रह्मतुल्य ब्राह्मणश्रेष्ठोंके सहित वनमें वास कर रहे हैं, अतः आप शोक न करें ॥ ४२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

विस्तरेणाहमिच्छामि नलस्य सुमहात्मनः।
चरितं वदतां श्रेष्ठ तन्ममाख्यातुमर्हसि ॥ ४३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि एकोनपञ्चाशोऽध्यायः ॥ ४९ ॥ १७९८ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे कहनेवालोंमें श्रेष्ठ ऋषे! मैं महात्मा नलके चरित्रको विस्तारसे सुनना चाहता हूं, अतः उसे आप कहिये ॥ ४३ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें उनञ्चासवाँ अध्याय समाप्त ॥ ४९ ॥ १७९८ ॥

५०

बृहदश्व उवाच

आसीद्राजा नलो नाम वीरसेनसुतो बली।
उपपन्नो गुणैरिष्टै रूपवानश्वकोविदः ॥ १ ॥

बृहदश्व बोले– वीरसेनके पुत्र सब गुणोंसे सम्पन्न, रूपवान्, घोडेकी विद्यामें पण्डित और बलवान् नल नामक राजा हुए ॥ १ ॥

अतिष्ठन्मनुजेन्द्राणां मूर्ध्नि देवपतिर्यथा।
उपर्युपरि सर्वेषामादित्य इव तेजसा ॥ २ ॥

जिसप्रकार इन्द्र सब देवोंके सिरमौर हैं, उसी तरह राजा नल भी सभी राजाओंके सिर-मौर थे, जैसे सूर्य अपने तेजसे सबके ऊपर रहते हैं वैसे ही राजा नल भी सब राजाओंके ऊपर थे ॥ २ ॥

ब्रह्मण्यो वेदविच्छूरो निषधेषु महीपतिः।
अक्षप्रियः सत्यवादी महानक्षौहिणीपतिः ॥ ३ ॥

वे ब्राह्मणोंके पूजक, वेदके जाननेवाले, वीर निषधदेशके राजा, जुएके प्यारे, सत्यवादी, अनेकों अक्षौहिणी सेनाओंके स्वामी ॥ ३ ॥

ईप्सितो वरनारीणामुदारः संयतेन्द्रियः।
रक्षिता धन्विनां श्रेष्ठः साक्षादिव मनुः स्वयम् ॥ ४ ॥

और श्रेष्ठ स्त्रियोंके प्रिय, उदार, इन्द्रियजित्, रक्षा करनेवाले, धनुर्धारियोंमें श्रेष्ठ नल साक्षात् मनुके समान थे ॥ ४ ॥

तथैवासीद्विदर्भेषु भीमो भीमपराक्रमः।
शूरः सर्वगुणैर्युक्तः प्रजाकामः स चाप्रजः ॥ ५ ॥

वैसे ही विदर्भ देशमें महापराक्रमी शूर, सब गुणोंसे युक्त राजा भीम थे। वे सन्तानहीन होनेके कारण सन्तान प्राप्तिकी इच्छा करते थे ॥ ५ ॥

स प्रजार्थे परं यत्नमकरोत्सुसमाहितः।
तमभ्यगच्छद्ब्रह्मर्षिर्दमनो नाम भारत ॥ ६ ॥

उन्होंने सन्तानके निमित्त एकाग्रचित्त होकर अनेक यत्न किये, हे भारत! एक दिन उनके पास दमन नामक महर्षि आये ॥ ६ ॥

तं स भीमः प्रजाकामस्तोषयामास धर्मवित्।
महिष्या सह राजेन्द्र सत्कारेण सुवर्चसम् ॥ ७ ॥

हे राजेन्द्र! धर्मजाननेवाले तथा सन्तानकी इच्छा करनेवाले उस राजा भीमने रानीके सहित उन तेजस्वी ऋषिको सत्कारसे सन्तुष्ट किया ॥ ७ ॥

तस्मै प्रसन्नो दमनः सभार्याय वरं ददौ।
कन्यारत्नं कुमारांश्च त्रीनुदारान्महायशाः ॥ ८ ॥

तब प्रसन्न होकर दमनऋषिने स्त्री सहित राजाको यह वरदान दिया, कि तुम्हारे एक कन्यारत्न और महायशस्वी और उदार तीन पुत्र होंगे अनन्तर वैसे ही हुआ ॥ ८ ॥

दमयन्तीं दमं दान्तं दमनं च सुवर्चसम् ।
उपपन्नान्गुणैः सर्वैर्भीमान्भीमपराक्रमान् ॥ ९ ॥

राजाने पुत्र और पुत्रीके नाम रखे; कन्याका नाम दमयन्ती, पुत्रोंके नाम दम, दान्त और दमन। यह सब तेजस्वी, सब गुणोंमें पूर्ण, महा पराक्रमी हुए ॥ ९ ॥

दमयन्ती तु रूपेण तेजसा यशसा श्रिया ।
सौभाग्येन च लोकेषु यशः प्राप सुमध्यमा ॥ १० ॥

सुन्दरी दमयन्ती रूप, तेज, यश, लक्ष्मी और सौभाग्यसे लोकोंमें विख्यात हुई ॥ १० ॥

अथ तां वयसि प्राप्ते दासीनां समलंकृतम् ।
शतं सखीनां च तथा पर्युपास्ते शचीमिव ॥ ११ ॥

उसके यौवनावस्था प्राप्त होनेपर उसकी सजी सजाई सैकडों दासियां और सखियां उसे इन्द्राणीके समान घेरे रहती थीं ॥ ११ ॥

तत्र स्म भ्राजते भैमी सर्वाभरणभूषिता ।
सखीमध्येऽनवद्याङ्गी विद्युत्सौदामिनी यथा ।
अतीव रूपसम्पन्ना श्रीरिवायतलोचना ॥ १२ ॥

वह अनिन्दित अंगोंवाली भीमकी पुत्री दमयन्ती सब भूषण पहनकर सखियोंके बीचमें मेघोंमें बिजलीके समान शोभित होती थी ; वह विशालनेत्रवाली दमयन्ती अत्यन्त रूपवती होनेके कारण लक्ष्मीके समान शोभित हुई ॥ १२ ॥

न देवेषु न यक्षेषु तादृग्रूपवती क्वचित् ।
मानुषेष्वपि चान्येषु दृष्टपूर्वा न च श्रुता ।
चित्तप्रमाथिनी बाला देवानामपि सुन्दरी ॥ १३ ॥

उसके समान रूपवती न देवोंमें, न यक्षोंमें और न मनुष्योंमें किसीने देखी और न सुनी। वह सुन्दरी बाला देवोंके चित्तको भी मथनेवाली थी ॥ १३ ॥

नलश्च नरशार्दूलो रूपेणाप्रतिमो भुवि ।
कन्दर्प इव रूपेण मूर्तिमानभवत्स्वयम् ॥ १४ ॥

और पुरुषोंमें सिंह नल भी अपने सुन्दर रूपमें पृथ्वीमें अद्वितीय थे। वे इतने सुन्दर थे कि उनके रूपमें मानों साक्षात् कामदेवहीने रूप धारण किया हो ॥ १४ ॥

तस्याः समीपे तु नलं प्रशशंसुः कुतूहलात् ।
नैषधस्य समीपे तु दमयन्तीं पुनः पुनः ॥ १५ ॥

दमयन्तीकी सखियां दमयन्तीके आगे आश्चर्यसे नलके रूपका और पुरुष नलके आगे दमयन्तीके रूपका वर्णन किया करते थे ॥ १५ ॥

तयोरदृष्टकामोऽभूच्छृण्वतोः सततं गुणान्।
अन्योन्यं प्रति कौन्तेय स व्यवर्धत हृच्छयः ॥ १६ ॥

हे कुन्तीपुत्र ! इस प्रकारसे उन दोनोंमें विना रूपको देखे भी केवल गुणोंको सुनकर ही एक दूसरेकी ओर उनका प्रेम बढ गया और साथ ही कामदेव भी बढने लगा ॥ १६ ॥

अशक्नुवन्नलः कामं तदा धारयितुं हृदा।
अन्तःपुरसमीपस्थे वन आस्ते रहोगतः ॥ १७ ॥

तब नल अपने हृदयसे कामदेवको सहनेमें असमर्थ होकर रनिवासके समीपके बागमें अकेले ही एकान्तमें रहने लगे ॥ १७ ॥

स ददर्श तदा हंसाञ्जातरूपपरिच्छदान्।
वने विचरतां तेषामेकं जग्राह पक्षिणम् ॥ १८ ॥

तब एक दिन उन्होंने उस उपवनमें सोनेके पंखवाले हंसोंको देखा और उस वनमें विचरते हुए उन हंसोंमेंसे एक पक्षीको पकड लिया ॥ १८ ॥

ततोऽन्तरिक्षगो वाचं व्याजहार तदा नलं।
न हन्तव्योऽस्मि ते राजन्करिष्यामि हि ते प्रियम् ॥ १९ ॥

तब उस अन्तरिक्षमें उडनेवाले हंसने नलसे यह वाक्य कहा– हे राजन् ! मैं तुम्हारा बहुत प्रिय काम करूंगा, अत तुम मुझको मत मारो ॥ १९ ॥

दमयन्तीसकाशे त्वां कथयिष्यामि नैषध।
यथा त्वदन्यं पुरुषं न सा मंस्यति कर्हिचित् ॥ २० ॥

हे नैषध ! मैं दमयन्तीके पास जाकर तुम्हारी प्रशंसा इस प्रकारसे करूंगा, कि जिससे वह तुमको छोडकर कदापि दूसरे पुरुषकी इच्छा नहीं करेगी ॥ २० ॥

एवमुक्तस्ततो हंसमुत्ससर्ज महीपतिः।
ते तु हंसाः समुत्पत्य विदर्भानगमंस्ततः ॥ २१ ॥

राजाने हंसकी यह बात सुनकर उसे छोड दिया, तब वे सब हंस उडकर विदर्भ पहुंचे ॥ २१ ॥

विदर्भनगरीं गत्वा दमयन्त्यास्तदान्तिके।
निपेतुस्ते गरुत्मन्तः सा ददर्शाथ तान्खगान् ॥ २२ ॥

तब विदर्भ नगरीमें जाकर वे हंस दमयन्तीके पास जाकर उतरे, तब दमयन्तीने उन पक्षियोंको देखा ॥ २२ ॥

सा तानद्भुतरूपान्वै दृष्ट्वा सखिगणावृता।
हृष्टा ग्रहीतुं खगमांस्त्वरमाणोपचक्रमे ॥ २३ ॥
सखियोंसे घिरी हुई वह दमयन्ती उन अद्भुत रूपवाले पक्षियोंको देखकर प्रसन्न होकर उन पक्षियोंको शीघ्रतासे पकडनेके लिए दौडी ॥ २३ ॥

अथ हंसा विससृपुः सर्वतः प्रमदावने।
एकैकशस्ततः कन्यास्तान्हंसान्समुपाद्रवन् ॥ २४ ॥
तब सब हंस प्रमदावनमें इधर उधर भागने लगे। तब एक एक हंसके पीछे एक एक कन्या दौडने लगी ॥ २४ ॥

दमयन्ती तु यं हंसं समुपाधावदन्तिके।
स मानुषीं गिरं कृत्वा दमयन्तीमथाब्रवीत् ॥ २५ ॥
जिस हंसके पीछे दमयन्ती दौडी, वह जब पास आ गया, तब वह मनुष्योंकी बोलीमें दमयन्तीसे ऐसा बोला ॥ २५ ॥

दमयन्ति नलो नाम निषधेषु महीपतिः।
अश्विनोः सदृशो रूपे न समास्तस्य मानुषाः ॥ २६ ॥
हे दमयन्ति ! निषध देशमें नल नामक राजा अश्विनीकुमारके समान रूपवान् हैं। उसके समान सुन्दर कोई भी पुरुष नहीं है ॥ २६ ॥

तस्य वै यदि भार्या त्वं भवेथा वरवर्णिनि।
सफलं ते भवेज्जन्म रूपं चेदं सुमध्यमे ॥ २७ ॥
हे उत्तम रङ्गवाली ! हे सुमध्यमे ! यदि तुम उसकी स्त्री बन जाओ तो तुम्हारा यह जन्म और रूप सफल हो जाए ॥ २७ ॥

वयं हि देवगन्धर्वमनुष्योरगराक्षसान्।
दृष्टवन्तो न चास्माभिर्दृष्टपूर्वस्तथाविधः ॥ २८ ॥
हमने सब देवों, गन्धर्वों, मनुष्यों, सर्पों और राक्षसोंको देखा है, परन्तु नल जैसा सुन्दर हमने पहले कभी नहीं देखा ॥ २८ ॥

त्वं चापि रत्नं नारीणां नरेषु च नलो वरः।
विशिष्टाया विशिष्टेन संगमो गुणवान्भवेत् ॥ २९ ॥
तुम भी स्त्रियोंमें रत्न हो और नल भी पुरुषोंमें श्रेष्ठ हैं, उत्तमसे उत्तमहीका संयोग विशेष गुण युक्त होता है ॥ २९ ॥

एवमुक्ता तु हंसेन दमयन्ती विशां पते।
अब्रवीत्तत्र तं हंसं तमप्येवं नलं वद ॥ ३० ॥
हे राजन् ! हंसकी ऐसी बात सुनकर दमयन्तीने उस हंससे कहा, कि तुम जाकर नलसे भी ऐसा ही कह दो ॥ ३० ॥

तथेत्युक्त्वाण्डजः कन्यां वैदर्भस्य विशां पते।
पुनरागम्य निषधान्नले सर्वं न्यवेदयत् ॥ ३१ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि पञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५० ॥ १८२९ ॥

हे प्रजाओंके स्वामिन्! विदर्भ राजकन्याकी बातको स्वीकार करके अंडज हंस वहांसे चला और निषध देशमें आकर उसने नलसे सब कह दिया ॥ ३१ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें पचासवां अध्याय समाप्त ॥ ५० ॥ १८२९ ॥

: ५१ :

बृहदश्व उवाच

दमयन्ती तु तच्छ्रुत्वा वचो हंसस्य भारत।
तदा प्रभृति नस्वस्था नलं प्रति बभूव सा ॥ १ ॥

बृहदश्व बोले– हे भारत! हंसकी उस वाणीको सुनकर दमयन्ती उसी दिनसे नलके प्रति अस्वस्थ रहने लगी ॥ १ ॥

ततश्चिन्तापरा दीना विवर्णवदना कृशा।
बभूव दमयन्ती तु निःश्वासपरमा तदा ॥ २ ॥

उसी दिनसे दमयन्ती चिन्तासे व्याप्त, दीन, दुर्बल हो गई, मुखका रङ्ग बदल गया; बार-बार सांस लेने लगी ॥ २ ॥

ऊर्ध्वदृष्टिर्ध्यानपरा बभूवोन्मत्तदर्शना।
न शय्यासनभोगेषु रतिं विन्दति कर्हिचित् ॥ ३ ॥

उसकी दृष्टि सदा ऊपरकी तरफ ही लगी रहकर वह सदा नलके ध्यानमें ही लगी रहती थी। वह उन्मत्त-सी दिखाई देने लगी। उसे सेज और आसनभोगमें आनन्द नहीं मिलता था ॥ ३ ॥

न नक्तं न दिवा शेते हा हेति वदती मुहुः।
तामस्वस्थां तदाकारां सख्यस्ता जज्ञुरिङ्गितैः ॥ ४ ॥

वह दमयन्ती न रातमें सोती थी न दिनमें सोती थी, केवल बार-बार हा हा करती थी। दमयन्तीकी इस शोचनीय दशा और वैसी आकृतिको देखकर उसकी सखियोंने चिन्होंसे जान लिया ॥ ४ ॥

ततो विदर्भपतये दमयन्त्याः सखीगणः ।
न्यवेदयत नस्वस्थां दमयन्तीं नरेश्वर ॥ ५ ॥

तब, हे नरेश्वर ! दमयन्तीकी सखियोंने दमयन्तीकी उस अस्वस्थताकी बात विदर्भराज भीमसे कह दी ॥ ५ ॥

तच्छ्रुत्वा नृपतिर्भीमो दमयन्तीसखीगणात् ।
चिन्तयामास तत्कार्यं सुमहत्स्वां सुतां प्रति ॥ ६ ॥

राजा भीमने दमयन्तीकी सखियोंके मुखसे अपनी पुत्रीकी यह सब दशा सुनकर अपनी पुत्रीके प्रति महान् कार्य करनेका विचार करने लगे ॥ ६ ॥

स समीक्ष्य महीपालः स्वां सुतां प्राप्तयौवनाम् ।
अपश्यदात्मनः कार्यं दमयन्त्याः स्वयंवरम् ॥ ७ ॥

अपनी पुत्रीको राजाने यौवन अवस्थामें देखकर दमयंतीके स्वयंवररूप अपने कार्यपर ध्यान दिया ॥ ७ ॥

स संनिपातयामास महीपालान्विशां पते ।
अनुभूयतामयं वीराः स्वयंवर इति प्रभो ॥ ८ ॥

हे प्रजाओंके स्वामिन् ! तब सब राजाओंको निमन्त्रण दिया और कहला भेजा, कि हे वीर लोगो ! इस स्वयंवरमें आकर आनन्दका अनुभव करो ॥ ८ ॥

श्रुत्वा तु पार्थिवाः सर्वे दमयन्त्याः स्वयंवरम् ।
अभिजग्मुस्तदा भीमं राजानो भीमशासनात् ॥ ९ ॥
हस्त्यश्वरथघोषेण नादयन्तो वसुन्धराम् ।
विचित्रमाल्याभरणैर्बलैर्दृश्यैः स्वलंकृतैः ॥ १० ॥

सभी राजा दमयन्तीके स्वयंवरके बारेमें सुनकर राजा भीमकी आज्ञाके अनुसार हाथी, घोडे और रथोंके शब्दसे पृथ्वीको गुंजाते हुए तथा विचित्र मालाओंका धारण करनेवाले, उत्तम रीतिसे सजे धजे होनेके कारण सुन्दर दिखाई देनेवाले सैनिकोंसे घिरकर भीम राजाके पास आए ॥ ९-१० ॥

एतस्मिन्नेव काले तु पुराणावृषिसत्तमौ ।
अटमानौ महात्मानाविन्द्रलोकमितो गतौ ॥ ११ ॥

इसी बीचमें देवऋषियोंमें मुख्य महात्मा पर्वत और नारद नगरोंमें घूमते हुए पृथ्वीसे इन्द्रलोकमें गये ॥ ११ ॥

नारदः पर्वतश्चैव महात्मानौ महाव्रतौ ।
देवराजस्य भवनं विविशाते सुपूजितौ ॥ १२ ॥
महा व्रतधारी और महात्मा वे दोनों नारद और पर्वत पूजित होकर इन्द्रके भवनमें गये ॥ १२॥

तावर्चित्वा सहस्राक्षस्ततः कुशलमव्ययम् ।
पप्रच्छानामयं चापि तयोः सर्वगतं विभुः ॥ १३ ॥
तब भगवान् इन्द्रने इन दोनोंकी पूजा करके कुशलता नीरोगता पूछकर सब जगत्की कुशलताके बारेमें पूछा ॥ १३ ॥

नारद उवाच

आवयोः कुशलं देव सर्वत्रगतमीश्वर ।
लोके च मघवन्कृत्स्ने नृपाः कुशलिनो विभो ॥ १४ ॥
नारद बोले– हे देव ! हे ईश्वर ! हे मघवन् ! हम लोग सदा ही कुशल हैं; हे विभो ! सब जगत्के राजा भी आनन्दसे हैं ॥ १४ ॥

बृहदश्व उवाच

नारदस्य वचः श्रुत्वा पप्रच्छ बलवृत्रहा ।
धर्मज्ञाः पृथिवीपालास्त्यक्तजीवितयोधिनः ॥ १५ ॥
बृहदश्व बोले– नारदके ऐसे वचन सुनकर बलासुर और वृत्रासुरको मारनेवाले इन्द्रने पूछा; हे मुने ! जो क्षत्रिय, धर्मज्ञ, पृथ्वीके स्वामी, प्राण देकर भी युद्ध करनेवाले हैं ॥ १५ ॥

शस्त्रेण निधनं काले ये गच्छन्त्यपराङ्मुखाः ।
अयं लोकोऽक्षयस्तेषां यथैव मम कामधुक् ॥ १६ ॥
जो समयपर युद्धमें बिना पीठ दिखाये शस्त्रसे मृत्युको प्राप्त होते हैं; यह लोक जिस तरह मेरे लिये अक्षत और कामनाओंको पूर्ण करनेवाला है, उसी प्रकार उनके लिए भी है ॥१६॥

क्व नु ते क्षत्रियाः शूरा न हि पश्यामि तानहम् ।
आगच्छतो महीपालानतिथीन्दयितान्मम ॥ १७ ॥
उन अपने प्रिय शूरवीर क्षत्रियोंको जो अतिथि होकर मेरे यहां आते थे, आजकल नहीं देखता वे सब शूरवीर क्षत्रिय कहां हैं ? ॥ १७ ॥

एवमुक्तस्तु शक्रेण नारदः प्रत्यभाषत ।
शृणु मे भगवन्येन न दृश्यन्ते महीक्षितः ॥ १८ ॥
इन्द्रके ऐसा कहनेपर नारद कहने लगे– हे भगवन् ! जिस कारणसे आजकल क्षत्रिय दिखाई नहीं देते उसका कारण मुझसे आप सुनिये ॥ १८ ॥

विदर्भराजदुहिता दमयन्तीति विश्रुता।
रूपेण समतिक्रान्ता पृथिव्यां सर्वयोषितः ॥ १९ ॥

विदर्भराजकी पुत्री दमयन्तीके नामसे प्रसिद्ध है, उसने अपने रूपसे पृथ्वीभरकी सब स्त्रियोंको हरा दिया है ॥ १९ ॥

तस्याः स्वयंवरः शक्र भविता नचिरादिव।
तत्र गच्छन्ति राजानो राजपुत्राश्च सर्वशः ॥ २० ॥

इन्द्र! उसका स्वयंवर शीघ्र ही होनेवाला है। वहीं सब राजा और राजपुत्र जा रहे हैं ॥ २० ॥

तां रत्नभूतां लोकस्य प्रार्थयन्तो महीक्षितः।
काङ्क्षन्ति स्म विशेषेण बलवृत्रनिषूदन ॥ २१ ॥

हे बल और वृत्रके नाशक इन्द्र! पृथ्वीमें रत्नरूप उसी दमयन्तीको प्राप्त करनेकी इच्छा सभी राजा और राजपुत्र करते हैं ॥ २१ ॥

एतस्मिन्कथ्यमाने तु लोकपालाश्च साग्निकाः।
आजग्मुर्देवराजस्य समीपममरोत्तमाः ॥ २२ ॥

इसप्रकार कहते हुए ही इन्द्रके पास अग्निके साथ देवताओंमें श्रेष्ठ समस्त लोकपाल आए ॥ २२ ॥

ततस्तच्छुश्रुवुः सर्वे नारदस्य वचो महत्।
श्रुत्वा चैवाब्रुवन्हृष्टा गच्छामो वयमप्युत ॥ २३ ॥

उन्होंने भी नारदके इस महान् वचनको सुना और सुनकर खुश होकर बोले कि हम भी वहां जाएंगे ॥ २३ ॥

ततः सर्वे महाराज सगणाः सहवाहनाः।
विदर्भानभितो जग्मुर्यत्र सर्वे महीक्षितः ॥ २४ ॥

हे महाराज! तब वे सब देव अपने अपने साथियोंको लेकर वाहनोंपर चढकर उस विदर्भ नगरको आये, जहां सब राजा गए हुए थे ॥ २४ ॥

नलोऽपि राजा कौन्तेय श्रुत्वा राज्ञां समागमम्।
अभ्यगच्छददीनात्मा दमयन्तीमनुव्रतः ॥ २५ ॥

हे कुन्तीनन्दन! राजा नल भी सब राजाओंको स्वयंवरके लिए इकट्ठा हुआ हुआ सुनकर दमयन्तीमें अनुरक्त होकर प्रसन्न चित्तसे स्वयंवरमें आये ॥ २५ ॥

अथ देवाः पथि नलं ददृशुर्भूतले स्थितम्।
साक्षादिव स्थितं मूर्त्या मन्मथं रूपसंपदा ॥ २६ ॥

मार्गमें देवताओंने पृथ्वीमें स्थित नलको ऐसा देखा, कि मानो साक्षात् कामदेव ही सम्पदाओंके सहित रूप धारण करके आया हो ॥ २६ ॥

तं दृष्ट्वा लोकपालास्ते भ्राजमानं यथा रविम् ।
तस्थुर्विगतसंकल्पा विस्मिता रूपसंपदा ॥ २७ ॥

लोकपालक उन्हें सूर्यके समान तेजस्वी देखकर और उनके रूपसे विस्मित होकर दमयन्तीको पानेका संकल्प छोड बैठे ॥ २७ ॥

ततोऽन्तरिक्षे विष्टभ्य विमानानि दिवौकसः ।
अब्रुवन्नैषधं राजन्नवतीर्य नभस्तलात् ॥ २८ ॥

तब सब देवताओंने अपने अपने विमानोंको अन्तरिक्षमें रोककर आकाशसे पृथ्वीपर आकर नलसे कहा ॥ २८ ॥

भो भो नैषध राजेन्द्र नल सत्यव्रतो भवान् ।
अस्माकं कुरु साहाय्यं दूतो भव नरोत्तम ॥ २९ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि एकपञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५१ ॥ १८५८ ॥

हे नैषध ! हे राजेन्द्र ! आप सत्यव्रतधारी हैं, अतः हमारी सहायता कीजिए । हे पुरुषोंमें श्रेष्ठ ! आप हमारे दूत बनिए ॥ २९ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें इक्यावनवां अध्याय समाप्त ॥ ५१ ॥ १८५८ ॥

५२

बृहदश्व उवाच

तेभ्यः प्रतिज्ञाय नलः करिष्य इति भारत ।
अथैनान्परिपप्रच्छ कृताञ्जलिरवस्थितः ॥ १ ॥

बृहदश्व बोले– हे भारत ! देवताओंके ऐसे वचन सुनकर नलने देवोंसे प्रतिज्ञा की, कि मैं आप लोगोंका कार्य करूंगा और हाथ जोडकर खडे हो गए, फिर नलने उन देवोंसे पूछा ॥ १ ॥

के वै भवन्तः कश्चासौ यस्याहं दूत ईप्सितः ।
किं च तत्र मया कार्यं कथयध्वं यथातथम् ॥ २ ॥

आप लोग कौन हैं ? और जिसके पास मुझको भेजना चाहते हैं, वह कौन है ? और यह भी सच सच कहिये कि मुझे आप लोगोंका क्या काम करना है ? ॥ २ ॥

एवमुक्तं नैषधेन मघवान्प्रत्यभाषत।
अमरान्वै निबोधास्मान्दमयन्त्यर्थमागतान् ॥ ३ ॥

नलके ऐसे कहनेपर इन्द्र बोले— कि हमें दमयन्तीके निमित्त यहां आये हुए देवता समझो ॥ ३ ॥

अहमिन्द्रोऽयमग्निश्च तथैवायमपांपतिः।
शरीरान्तकरो नृणां यमोऽयमपि पार्थिव ॥ ४ ॥

मैं इन्द्र हूँ, यह अग्नि और यह जलोंके स्वामी वरुण हैं; हे महाराज! यह सब मनुष्योंका नाश करनेवाले यमराज हैं ॥ ४ ॥

स वै त्वमागतानस्मान्दमयन्त्यै निवेदय।
लोकपालाः सहेन्द्रास्त्वां समायान्ति दिदृक्षवः ॥ ५ ॥

तुम दमयन्तीसे हम लोगोंके आनेका समाचार ऐसे कहना कि इन्द्र आदि सब लोकपाल तुम्हें देखनेके लिए आ रहे हैं ॥ ५ ॥

प्राप्तुमिच्छन्ति देवास्त्वां शक्रोऽग्निर्वरुणो यमः।
तेषामन्यतमं देवं पतित्वे वरयस्व ह ॥ ६ ॥

इन्द्र, अग्नि, वरुण और यमदेव तुमको प्राप्त करनेकी इच्छा करते हैं। अतः इन्द्र, अग्नि, वरुण और यम इनमेंसे किसी एक देवको अपना पति चुन लो ॥ ६ ॥

एवमुक्तः स शक्रेण नलः प्राञ्जलिरब्रवीत्।
एकार्थसमवेतं मां न प्रेषयितुमर्हथ ॥ ७ ॥

इन्द्रके ऐसे कहनेपर नल हाथ जोडकर बोले— आपलोग एक ही प्रयोजन अर्थात् दमयन्ती-प्राप्तिके लिये आये हुए मुझको दूत बनाकर न भेजिए ॥ ७ ॥

देवा ऊचुः

करिष्य इति संश्रुत्य पूर्वमस्मासु नैषध।
न करिष्यसि कस्मात्त्वं व्रज नैषध माचिरम् ॥ ८ ॥

देवता बोले— हे नैषध! आपने पहले हमारे सामने प्रतिज्ञा की थी, कि मैं इस कार्यको करूंगा, तो अब क्यों न करेंगे, अतः जाइये, देर मत कीजिये ॥ ८ ॥

बृहदश्व उवाच

एवमुक्तः स देवैस्तैर्नैषधः पुनरब्रवीत्।
सुरक्षितानि वेश्मानि प्रवेष्टुं कथमुत्सहे ॥ ९ ॥

बृहदश्व बोले— निषधराज देवोंके ऐसे वचन कहनेपर पुनः बोले— कि दमयन्तीके रहनेके स्थान बहुत रक्षित हैं, अतः मैं वहां कैसे जा सकूंगा? ॥ ९ ॥

प्रवेक्ष्यसीति तं शक्रः पुनरेवाभ्यभाषत ।
जगाम स तथेत्युक्त्वा दमयन्त्या निवेशनम् ॥ १० ॥

इन्द्रने पुनः कहा कि आप वहां प्रवेश कर सकेंगे । तब नल 'तथास्तु' कहकर उनके वचनको स्वीकार करके दमयन्तीके गृहमें गये ॥ १० ॥

ददर्श तत्र वैदर्भीं सखीगणसमावृताम् ।
देदीप्यमानां वपुषा श्रिया च वरवर्णिनीम् ॥ ११ ॥

वहां सखियोंसे घिरी हुई, अपने शरीरकी शोभा और तेजसे प्रकाशमान होती हुई विदर्भराज पुत्री सुन्दरी दमयन्तीको देखा ॥ ११ ॥

अतीव सुकुमाराङ्गीं तनुमध्यां सुलोचनाम् ।
आक्षिपन्तीमिव च भाः शशिनः स्वेन तेजसा ॥ १२ ॥

बहुत सुकुमारी, पतली कमर और अच्छे नेत्रोंवाली वह दमयन्ती मानों अपने तेजसे चन्द्रमाकी कान्तिका निरादर करती हुई सुशोभित हो रही थी ॥ १२ ॥

तस्य दृष्ट्वैव ववृधे कामस्तां चारुहासिनीम् ।
सत्यं चिकीर्षमाणस्तु धारयामास हृच्छयम् ॥ १३ ॥

उस उत्तम हंसनेवालीको देखते ही नलके शरीरमें कामदेव बढने लगा; परन्तु सत्यका पालन करनेकी इच्छावाले उन नलने हृदयमें बढनेवाले कामको रोक रखा ॥ १३ ॥

ततस्ता नैषधं दृष्ट्वा संभ्रान्ताः परमाङ्गनाः ।
आसनेभ्यः समुत्पेतुस्तेजसा तस्य धर्षिताः ॥ १४ ॥

तब दमयन्तीकी सुन्दर अंगोंवाली सखियां नलको देखकर चकित हो गईं और उनके तेजसे घबडाकर अपने अपने आसनोंसे उठ पडीं ॥ १४ ॥

प्रशशंसुश्च सुप्रीता नलं ता विस्मयान्विताः ।
न चैनमभ्यभाषन्त मनोभिस्त्वभ्यचिन्तयन् ॥ १५ ॥

आश्चर्यचकित हुई वे स्त्रियां प्रसन्न होकर नलकी प्रशंसा करने लगीं, परन्तु कोई उनसे बोली नहीं, केवल मन मनहीमें पूजा करने लगीं ॥ १५ ॥

अहो रूपमहो कान्तिरहो धैर्यं महात्मनः ।
कोऽयं देवो नु यक्षो नु गन्धर्वो नु भविष्यति ॥ १६ ॥

अहो ! इनका रूप कितना सुन्दर है, अहा ! इनकी कान्ति कितनी अच्छी है । अहा ! इन महात्माका धैर्य भी कितना महान् है । यह कौन हैं ? जरूर यह कोई देव होंगे, या यक्ष होंगे या गन्धर्व होंगे ॥ १६ ॥

न त्वेनं शक्नुवन्ति स्म व्याहर्तुमपि किंचन ।
तेजसा धर्षिताः सर्वा लज्जावत्यो वराङ्गनाः ॥ १७ ॥

वे सब उत्तम स्त्रियां उनके तेजसे घबराकर और लज्जाके वशमें होकर नलसे कुछ भी न कह सकीं ॥ १७ ॥

अथैनं स्मयमानेव स्मितपूर्वाभिभाषिणी ।
दमयन्ती नलं वीरमभ्यभाषत विस्मिता ॥ १८ ॥

तब विस्मित हुई हंसकर बात करनेवाली दमयन्ती वीर नलसे मुस्कराती हुई बोली ॥१८॥

कस्त्वं सर्वानवद्याङ्ग मम हृच्छयवर्धन ।
प्राप्तोऽस्यमरवद्वीर ज्ञातुमिच्छामि तेऽनघ ॥ १९ ॥

हे पापरहित ! हे उत्तम शरीरवाले ! हे मेरे कामदेवको बढानेवाले ! यहां देवताके समान तुम आये हो, तुम कौन हो ? यह मैं जानना चाहती हूँ ॥ १९ ॥

कथमागमनं चेह कथं चासि न लक्षितः ।
सुरक्षितं हि मे वेश्म राजा चैवोग्रशासनः ॥ २० ॥

तुम यहां कैसे आये हो, आते हुए तुमको किसीने क्यों नहीं देखा ? क्योंकि मेरा स्थान बहुत ही सुरक्षित है, और राजाकी आज्ञा भी कठोर है ॥ २० ॥

एवमुक्तस्तु वैदर्भ्या नलस्तां प्रत्युवाच ह ।
नलं मां विद्धि कल्याणि देवदूतमिहागतम् ॥ २१ ॥

विदर्भराजपुत्रीके ऐसे वचन कहनेपर नल उससे कहने लगे— हे कल्याणि ! मुझे नल समझो, मैं देवताओंका दूत बनकर यहां आया हूं ॥ २१ ॥

देवास्त्वां प्राप्तुमिच्छन्ति शक्रोऽग्निर्वरुणो यमः ।
तेषामन्यतमं देवं पतिं वरय शोभने ॥ २२ ॥

इन्द्र, अग्नि, वरुण और यम तुमको प्राप्त करना चाहते हैं; अतः, हे सुन्दरी ! तुम उनमेंसे किसी एकको पति चुन लो ॥ २२ ॥

तेषामेव प्रभावेन प्रविष्टोऽहमलक्षितः ।
प्रविशन्तं हि मां कश्चिन्नापश्यन्नाप्यवारयत् ॥ २३ ॥

उन्हींकी शक्तिसे मैं किसीसे न देखे जाते हुए यहां घुस आया हूं, मुझको यहां घुसते हुए न किसीने देखा और न किसीने रोका ॥ २३ ॥

एतदर्थमहं भद्रे प्रेषितः सुरसत्तमैः ।
एतच्छ्रुत्वा शुभे बुद्धिं प्रकुरुष्व यथेच्छसि ॥ २४ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि द्विपञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५२ ॥ १८८९ ॥

हे भद्रे ! हे शुभे ! इसीलिये मुझको देवताओंने भेजा है । यह सुनकर अब जैसी तुम्हारी इच्छा हो वैसा करो ॥ २४ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें बावनवां अध्याय समाप्त ॥ ५२ ॥ १८८९ ॥

: ५३ :

बृहदश्व उवाच

सा नमस्कृत्य देवेभ्यः प्रहस्य नलमब्रवीत् ।
प्रणयस्व यथाश्रद्धं राजन्किं करवाणि ते ॥ १ ॥

बृहदश्व बोले– दमयन्ती नलके वचन सुनते ही देवताओंको श्रद्धापूर्वक प्रणाम करके हंसकर नलसे कहने लगी– कि हे राजन् ! आप ही मुझसे विवाह कीजिये, कहिये, मैं आपका कौनसा कार्य करूं ? ॥ १ ॥

अहं चैव हि यच्चान्यन्ममास्ति वसु किंचन ।
सर्वं तत्तव विश्रब्धं कुरु प्रणयमीश्वर ॥ २ ॥

हे महाराज ! मैं और दूसरा मेरा जो कुछ धन है, वह सब आपहीका है । हे नाथ ! आप विश्वासपूर्वक मुझसे विवाह कीजिये ॥ २ ॥

हंसानां वचनं यत्तत्तन्मां दहति पार्थिव ।
त्वत्कृते हि मया वीर राजानः संनिपातिताः ॥ ३ ॥

वीर ! हे राजन् ! हंसोंने आपके बारेमें जो भी प्रशंसात्मक वचन कहे थे, (उससे कामाग्नि बढकर) वह मुझे जलाये डाल रहे हैं । मैंने केवल आपहीको बुलानेकी इच्छासे इन सब राजाओंको बुलाया है ॥ ३ ॥

यदि चेद्भजमानां मां प्रत्याख्यास्यसि मानद ।
विषमग्निं जलं रज्जुमास्थास्ये तव कारणात् ॥ ४ ॥

हे मानद ! यदि आपको भजनेवाली मुझको ग्रहण करनेसे आप इन्कार करेंगे, तो मैं आपके कारण विष, अग्नि, जल अथवा रस्सीके प्रयोगसे मर जाऊंगी ॥ ४ ॥

एवमुक्तस्तु वैदर्भ्या नलस्तां प्रत्युवाच ह ।
तिष्ठत्सु लोकपालेषु कथं मानुषमिच्छसि ॥ ५ ॥

दमयन्तीके ये वचन कहनेपर नल उससे बोले– लोकपालोंके उपस्थित होनेपर भी तुम एक मनुष्यकी इच्छा क्यों करती हो ? ॥ ५ ॥

येषामहं लोककृतामीश्वराणां महात्मनाम् ।
न पादरजसा तुल्यो मनस्ते तेषु वर्तताम् ॥ ६ ॥

मैं जिन महात्मा ईश्वर लोकपालोंकी चरणधूलिके समान भी नहीं हूं; उन्हीं लोकपालोंमें तुम अपने चित्तको लगाओ ॥ ६ ॥

विप्रियं ह्याचरन्मर्त्यो देवानां मृत्युमृच्छति ।
त्राहि मामनवद्याङ्गि वरयस्व सुरोत्तमान् ॥ ७ ॥

क्योंकि देवताओंका अप्रिय करनेवाला पुरुष नष्ट हो जाता है; अतएव, हे सुन्दरि ! तुम मेरी रक्षा करो, किसी उत्तम देवताको ही पति चुन लो ॥ ७ ॥

ततो बाष्पकलां वाचं दमयन्ती शुचिस्मिता ।
प्रव्याहरन्ती शनकैर्नलं राजानमब्रवीत् ॥ ८ ॥

तब पवित्र मुस्कराहटोंवाली दमयन्ती आंसुओंके कारण गद्गद हुई वाणीका उच्चारण करती हुई राजा नलसे धीरेसे बोली ॥ ८ ॥

अस्त्युपायो मया दृष्टो निरपायो नरेश्वर ।
येन दोषो न भविता तव राजन्कथंचन ॥ ९ ॥

हे नरनाथ ! हे राजन् ! मैंने एक आपत्तिरहित उपाय सोचा है, जिसके करनेसे आपको कुछ दोष न लगेगा ॥ ९ ॥

त्वं चैव हि नरश्रेष्ठ देवाश्चाग्निपुरोगमाः ।
आयान्तु सहिताः सर्वे मम यत्र स्वयंवरः ॥ १० ॥

हे नरश्रेष्ठ ! मेरा जहां स्वयंवर हो, वहां अग्नि आदि देवता आवें और आप भी आइये ॥ १० ॥

ततोऽहं लोकपालानां संनिधौ त्वां नरेश्वर ।
वरयिष्ये नरव्याघ्र नैवं दोषो भविष्यति ॥ ११ ॥

हे नरव्याघ्र ! हे नरश्रेष्ठ ! तब सब लोकपालोंके आगे मैं आपहीको वरूंगी, ऐसा करनेसे आपके कुछ भी दोष न लगेगा ॥ ११ ॥

एवमुक्तस्तु वैदर्भ्या नलो राजा विशां पते ।
आजगाम पुनस्तत्र यत्र देवाः समागताः ॥ १२ ॥

हे प्रजापालक युधिष्ठिर ! विदर्भराजपुत्री नलसे जब ऐसा कह चुकी, तब राजा नल उसी स्थानपर आ गये, कि जहां देवता थे ॥ १२ ॥

तमपश्यंस्तथायान्तं लोकपालाः सहेश्वराः ।
दृष्ट्वा चैनं ततोऽपृच्छन्वृत्तान्तं सर्वमेव तत्   ॥ १३ ॥

ईश्वर सहित लोकपालोंने नलको आते हुए देखा। और उसे देखकर सब वृत्तान्त पूछने लगे ॥ १३ ॥

देवा ऊचुः

कच्चिद्दृष्टा त्वया राजन्दमयन्ती शुचिस्मिता ।
किमब्रवीच्च नः सर्वान्वद भूमिपतेऽनघ   ॥ १४ ॥

देव बोले– हे पापरहित राजन् ! तुमने क्या उत्तम मुस्कराहटोंवाली दमयन्तीको देखा है ? बताओ, उसने हम लोगोंके बारेमें क्या कहा ? ॥ १४ ॥

नल उवाच

भवद्भिरहमादिष्टो दमयन्त्या निवेशनम् ।
प्रविष्टः सुमहाकक्ष्यं दण्डिभिः स्थविरैर्वृतम्   ॥ १५ ॥

नल बोले– मैं आप लोगोंकी आज्ञासे दमयन्तीके महलमें घुसकर उस महान् भवनमें गया, जो चारों ओर दण्डधारी वृद्धोंसे घिरा हुआ है ॥ १५ ॥

प्रविशन्तं च मां तत्र न कश्चिद्दृष्टवान्नरः ।
ऋते तां पार्थिवसुतां भवतामेव तेजसा   ॥ १६ ॥

आप ही लोगोंके प्रतापसे उस महलमें प्रविष्ट होते हुए मुझे उस विदर्भ-राजपुत्री दमयन्तीके सिवाय वहां किसी पुरुष नहीं देखा ॥ १६ ॥

सख्यश्चास्या मया दृष्टास्ताभिश्चाप्युपलक्षितः ।
विस्मिताश्चाभवन्दृष्ट्वा सर्वा मां विबुधेश्वराः   ॥ १७ ॥

पश्चात् मैंने सखियोंको देखा और उन्होंने भी मुझे पहिचाना। हे देवपतिगण ! वह सब मुझे देखकर आश्चर्य करने लगीं ॥ १७ ॥

वर्ण्यमानेषु च मया भवत्सु रुचिरानना ।
मामेव गतसंकल्पा वृणीते सुरसत्तमाः   ॥ १८ ॥

हे देवगण ! मैंने सुन्दर मुखवाली दमयन्तीके सामने आप लोगोंका वर्णन किया, तो भी, हे देवो ! वह मुझमें ही अपनी अभिलाषा रखकर मुझे ही पति चुनना चाहती है ॥ १८ ॥

अब्रवीच्चैव मां बाला आयान्तु सहिताः सुराः ।
त्वया सह नरश्रेष्ठ मम यत्र स्वयंवरः   ॥ १९ ॥

और उस बालाने मुझसे कहा– हे नरश्रेष्ठ ! सब देव मिलकर आपके साथ वहां आवें, जहां मेरा स्वयंवर होगा ॥ १९ ॥

तेषामहं संनिधौ त्वां वरयिष्ये नरोत्तम ।
एवं तव महाबाहो दोषो न भवितेति ह ॥ २० ॥

हे नरश्रेष्ठ ! मैं उनके सामने ही आपको वरूंगी । हे महाभुज ! ऐसा करनेसे आपका कोई दोष नहीं होगा ॥ २० ॥

एतावदेव विबुधा यथावृत्तमुदाहृतम् ।
मयाशेषं प्रमाणं तु भवन्तस्त्रिदशेश्वराः ॥ २१ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि त्रिपञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५३ ॥ १९०३ ॥

हे लोकपालो ! वहां जो बात हुई थी, उसे मैंने पूरी तरह ठीक ठीक सुना दिया, अब जो आप लोगोंकी इच्छा हो वही ठीक है ॥ २१ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें तिरेप्पनवां अध्याय समाप्त ॥ ५३ ॥ १९०३ ॥

: ५४ :

बृहदश्व उवाच

अथ काले शुभे प्राप्ते तिथौ पुण्ये क्षणे तथा ।
आजुहाव महीपालान्भीमो राजा स्वयंवरे ॥ १ ॥

बृहदश्व बोले– इसके बाद राजा भीमने शुभकाल, पवित्र मुहूर्त और तिथिमें राजाओंको स्वयंवरकी सभामें बुलाया ॥ १ ॥

तच्छ्रुत्वा पृथिवीपालाः सर्वे हृच्छयपीडिताः ।
त्वरिताः समुपाजग्मुर्दमयन्तीमभीप्सवः ॥ २ ॥

उसे जानकर सब राजा कामबाणसे पीडित हो, दमयन्तीको पानेकी इच्छासे शीघ्रताके साथ स्वयंवरकी सभामें आये ॥ २ ॥

कनकस्तम्भरुचिरं तोरणेन विराजितम् ।
विविशुस्ते महारङ्गं नृपाः सिंहा इवाचलम् ॥ ३ ॥

जिस रीतिसे सिंहका झुण्ड पर्वतमें जाता है, उसी प्रकारसे वे राजा तोरण और वन्दनवारसे सजे हुए सोनेके खंभोंसे शोभायमान रङ्गमण्डपमें पहुंचे ॥ ३ ॥

तत्रासनेषु विविधेष्वासीनाः पृथिवीक्षितः ।
सुरभिस्रग्धराः सर्वे सुमृष्टमणिकुण्डलाः ॥ ४ ॥

उत्तम मणिजटित कुण्डलोंको धारण किये, सुगन्धसे सनी मालाओंको पहने राजा अनेक प्रकारके आसनोंपर आकर बैठ गए ॥ ४ ॥

तां राजसमितिं पूर्णां नागैर्भोगवतीमिव ।
संपूर्णां पुरुषव्याघ्रैर्व्याघ्रैर्गिरिगुहामिव ॥ ५ ॥

नागोंसे भरी हुई भोगवती पुरीके समान अथवा सिंहोंसे पूर्ण पहाडकी गुफाके समान वह पुरुषोंमें सिंहरूप भूपालोंसे पूरित सभा शोभाको प्राप्त हुई ॥ ५ ॥

तत्र स्म पीना दृश्यन्ते बाहवः परिघोपमाः ।
आकारवन्तः सुश्लक्ष्णाः पञ्चशीर्षा इवोरगाः ॥ ६ ॥

परिघके समान मोटी मोटी, सुन्दर आकारवाली और चिकनी बहुतसी भुजायें पांच फनधारी सर्पोंके समान प्रतीत होती थीं ॥ ६ ॥

सुकेशान्तानि चारूणि सुनासानि शुभानि च ।
मुखानि राज्ञां शोभन्ते नक्षत्राणि यथा दिवि ॥ ७ ॥

इस प्रकार जैसे अन्तरिक्षमें तारागण शोभायमान होते हैं, वैसे ही सुंदरकेशयुक्त तथा उत्तम आंख नाकसे युक्त राजाओंके मुखकी शोभा दीख पडने लगी ॥ ७ ॥

दमयन्ती ततो रङ्गं प्रविवेश शुभानना ।
मुष्णन्ती प्रभया राज्ञां चक्षूंषि च मनांसि च ॥ ८ ॥

इसके अनन्तर सुन्दर मुखवाली दमयन्ती अपने रूप और लावण्यसे राजाओंके नेत्र और मनको चुराती हुई राजसभामें आई ॥ ८ ॥

तस्या गात्रेषु पतिता तेषां दृष्टिर्महात्मनाम् ।
तत्र तत्रैव सक्ताभून्न चचाल च पश्यताम् ॥ ९ ॥

उन सब महात्मा राजाओंकी दृष्टि दमयन्तीके जिस जिस अङ्गपर पडी, वहीं वहीं आसक्त होकर रह गयी, वहांसे विचलित न हो सकी ॥ ९ ॥

ततः संकीर्त्यमानेषु राज्ञां नामसु भारत ।
ददर्श भैमी पुरुषान्पञ्च तुल्याकृतीनिव ॥ १० ॥

हे भारत ! इसके पश्चात् सभामें बैठे हुए राजाओंके नाम और कुलोंका वर्णन होनेके पश्चात् दमयन्तीने एक ही आकृतिके पांच पुरुषोंको सभामें बैठे देखा ॥ १० ॥

तान्समीक्ष्य ततः सर्वान्निर्विशेषाकृतीन्स्थितान् ।
संदेहादथ वैदर्भी नाभ्यजानान्नलं नृपम् ।
यं यं हि ददृशे तेषां तं तं मेने नलं नृपम् ॥ ११ ॥

तब विदर्भराजपुत्री दमयन्ती उन सबको समान आकृतिमें बैठे हुए देखकर सन्देहमें पडी और राजा नलको न पहचान सकी । वह सुन्दरी उन पांचोंमेंसे जिसको देखती थी उसीको नल समझती थी ॥ ११ ॥

सा चिन्तयन्ती बुद्ध्याथ तर्कयामास भामिनी।
कथं नु देवाञ्जानीयां कथं विद्यां नलं नृपम् ॥ १२ ॥

वह सुन्दरी दमयन्ती इस प्रकार सोचते हुए बुद्धिपूर्वक विचार करने लगी, कि मैं किस प्रकारसे देवताओंको पहचानूं और कैसे राजा नलको समझूं ? ॥ १२ ॥

एवं संचिन्तयन्ती सा वैदर्भी भृशदुःखिता।
श्रुतानि देवलिङ्गानि तर्कयामास भारत ॥ १३ ॥

हे भारत ! विदर्भराजाकी नन्दिनी दमयन्ती ऐसा विचारकर बहुत ही व्याकुल हुई। उसने जो पहले देवताओंके लक्षण सुने थे, उनको याद करके मनमें कहने लगी ॥ १३ ॥

देवानां यानि लिङ्गानि स्थविरेभ्यः श्रुतानि मे।
तानीह तिष्ठतां भूमावेकस्यापि न लक्षये ॥ १४ ॥

कि वृद्धोंसे जो मैंने देवताओंके चिन्ह सुने हैं, उनमेंसे एक भी चिन्ह यहां भूमिपर बैठे हुए इन देवताओंमें मैं नहीं देखती ॥ १४ ॥

सा विनिश्चित्य बहुधा विचार्य च पुनः पुनः।
शरणं प्रति देवानां प्राप्तकालममन्यत ॥ १५ ॥

ऐसे बारबार विचार करके उसने निश्चय करके यह समझ लिया कि इस समय देवताओंकी शरणमें जानेके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है ॥ १५ ॥

वाचा च मनसा चैव नमस्कारं प्रयुज्य सा।
देवेभ्यः प्राञ्जलिर्भूत्वा वेपमानेदमब्रवीत् ॥ १६ ॥

तब हाथ जोडकर वाणीसे और मनसे देवताओंको नमस्कार करके दमयन्तीने कांपते हुए यह कहा ॥ १६ ॥

हंसानां वचनं श्रुत्वा यथा मे नैषधो वृतः।
पतित्वे तेन सत्येन देवास्तं प्रदिशन्तु मे ॥ १७ ॥

कि मैंने जिस समयसे हंसोंकी वाणी सुनी थी, तभीसे निषध देशके राजा नलको पति बनानेका सङ्कल्प कर लिया था। मेरे इसी सत्यके प्रभावसे वे मुझे नलको बता दें ॥१७॥

वाचा च मनसा चैव यथा नाभिचराम्यहम्।
तेन सत्येन विबुधास्तमेव प्रदिशन्तु मे ॥ १८ ॥

मैंने यदि मन और वाणीसे भी कभी व्यभिचारकी इच्छा न की हो, तो मेरे सत्यके प्रतापसे मुझे देवता नलको बतला दें ॥ १८ ॥

यथा देवैः स मे भर्ता विहितो निषधाधिपः ।
तेन सत्येन मे देवास्तमेव प्रदिशन्तु मे ॥ १९ ॥

जिन देवताओंने उस निषधके राजा नलको मेरा पति बना दिया है, वही देवतालोग सत्यकी रक्षा करनेके लिए नलको मुझे बता दें ॥ १९ ॥

स्वं चैव रूपं पुष्यन्तु लोकपालाः सहेश्वराः ।
यथाहमभिजानीयां पुण्यश्लोकं नराधिपम् ॥ २० ॥

देवराज इन्द्रके साथ लोकपाल अपने अपने रूपको धारण कर लें, ताकि मैं पुण्यकीर्त्ति राजा नलको पहचान लूं ॥ २० ॥

निशम्य दमयन्त्यास्तत्करुणं परिदेवितम् ।
निश्चयं परमं तथ्यमनुरागं च नैषधे ॥ २१ ॥
मनोविशुद्धिं बुद्धिं च भक्तिं रागं च भारत ।
यथोक्तं चक्रिरे देवाः सामर्थ्यं लिङ्गधारणे ॥ २२ ॥

देवता विदर्भ-राजपुत्रीके शोक और विलापसे भरे उन वाक्योंको सुनकर और राजा नलमें उसकी सच्ची प्रीति, शुद्ध प्रेम, मनकी शुद्धि, बुद्धि, भक्ति और अनुरागको देखकर उन्होंने दमयन्तीमें ऐसा सामर्थ्य उत्पन्न कर दिया, ताकि वह देवोंके लक्षणोंको जान ले ॥ २१-२२ ॥

सापश्यद्विबुधान्सर्वानस्वेदान्स्तब्धलोचनान् ।
हृषितस्रग्रजोहीनान्स्थितानस्पृशतः क्षितिम् ॥ २३ ॥

तब दमयन्तीने देवताओंको छायारहित, पसीनारहित, पलकके खोलने और बन्द करनेसे रहित नेत्रवाले, न मुर्झानेवाली माला पहने तथा भूमिको न छूते हुए देखा ॥ २३ ॥

छायाद्वितीयो म्लानस्रग्रजःस्वेदसमन्वितः ।
भूमिष्ठो नैषधश्चैव निमेषेण च सूचितः ॥ २४ ॥

और राजा नलको छाया-सहित, मुर्झानेवाली माला पहने, पसीनायुक्त, पलक मारते नेत्रयुक्त, भूमिमें स्थित देखा ॥ २४ ॥

सा समीक्ष्य ततो देवान्पुण्यश्लोकं च भारत ।
नैषधं वरयामास भैमी धर्मेण भारत ॥ २५ ॥

हे भरतवंशी पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर ! तब देवताओंको और पुण्ययशवाले राजा नलको पहचानकर भीम-पुत्री दमयन्तीने धर्मपूर्वक नलको चुना ॥ २५ ॥

विलज्जमाना वस्त्रान्ते जग्राहायतलोचना ।
स्कन्धदेशेऽसृजच्चास्य स्रजं परमशोभनाम् ।
वरयामास चैवैनं पतित्वे वरवर्णिनी ॥ २६ ॥

और लज्जित होती हुई उस दीर्घनेत्रवाली दमयन्तीने वस्त्रमें रखी हुई माला निकाली और उस अति सुन्दर मालाको इस नलके कंधेपर डाल दिया और इस प्रकार उस सुन्दरवर्णवाली दमयन्तीने उसे पतिके रूपमें चुन लिया ॥ २६ ॥

ततो हा हेति सहसा शब्दो मुक्तो नराधिपैः ।
देवैर्महर्षिभिश्चैव साधु साध्विति भारत ।
विस्मितैरीरितः शब्दः प्रशंसद्भिर्नलं नृपम् ॥ २७ ॥

हे भारत ! तब अन्य राजा अचानक हा हा करते हुए कोलाहल करने लगे और महर्षि तथा देव आश्चर्यचकित होकर 'बहुत अच्छा, बहुत अच्छा' कहते हुए तथा नलकी प्रशंसा करते हुए उत्तम वाणीको प्रकट करने लगे ॥ २७ ॥

वृते तु नैषधे भैम्या लोकपाला महौजसः ।
प्रहृष्टमनसः सर्वे नलायाष्टौ वरान्ददुः ॥ २८ ॥

भीमपुत्रीके द्वारा नलको चुननेके बाद बडे प्रतापी लोकपालोंने प्रसन्न होकर राजा नलको आठ वर दिये ॥ २८ ॥

प्रत्यक्षदर्शनं यज्ञे गतिं चानुत्तमां शुभाम् ।
नैषधाय ददौ शक्रः प्रीयमाणः शचीपतिः ॥ २९ ॥

शचीपति इंद्रने प्रसन्न होकर नलको यज्ञमें प्रत्यक्ष दर्शन देने और शुभ गति पानेका वर दिया ॥ २९ ॥

अग्निरात्मभवं प्रादाद्यत्र वाञ्छति नैषधः ।
लोकानात्मप्रभांश्चैव ददौ तस्मै हुताशनः ॥ ३० ॥

हविष्यको खानेवाले अग्निदेवने यह वर दिया कि जहां इच्छा करोगे वहीं अग्नि प्रत्यक्ष होगी और उसे अपने समान ही तेजस्वी लोक प्रदान किए ॥ ३० ॥

यमस्त्वन्नरसं प्रादाद्धर्मे च परमां स्थितिम् ।
अपांपतिरपां भावं यत्र वाञ्छति नैषधः ॥ ३१ ॥

यमने वर दिया, कि अन्नके उत्तम रसको जानोगे तथा धर्ममें तुम्हारी मति रहेगी। वरुणने कहा, कि जहां इच्छा करोगे वहीं जल तुम्हें प्राप्त होगा ॥ ३१ ॥

स्रजं चोत्तमगन्धाढ्यां सर्वे च मिथुनं ददुः।
वरानेवं प्रदायास्य देवास्ते त्रिदिवं गताः ॥ ३२ ॥

एवं सुगन्धभरी मालायें भी दीं। इस प्रकार लोकपालोंने दो दो वरदान दिये। इस प्रकार वरोंको देकर वे देव स्वर्गको चले गये ॥ ३२ ॥

पार्थिवाश्चानुभूयास्या विवाहं विस्मयान्विताः।
दमयन्त्याः प्रमुदिताः प्रतिजग्मुर्यथागतम् ॥ ३३ ॥

अन्य राजा नल भी और दमयन्तीके विवाहके आनन्दका अनुभव लेकर विस्मित और प्रसन्न होकर अपने अपने स्थानको चले गए ॥ ३३ ॥

अवाप्य नारीरत्नं तत्पुण्यश्लोकोऽपि पार्थिवः।
रेमे सह तया राजा शच्येव बलवृत्रहा ॥ ३४ ॥

हे राजन्! जैसे बलासुर और वृत्रासुरके नाशक इन्द्र शचीके साथ विलास करते हैं, वैसे ही पुण्यकीर्तिवाले वह राजा नल उस नारियोंमें रत्नरूप दमयन्तीको पाकर उसके साथ विलास करने लगे ॥ ३४ ॥

अतीव मुदितो राजा भ्राजमानोंऽशुमानिव।
अरञ्जयत्प्रजा वीरो धर्मेण परिपालयन् ॥ ३५ ॥

सूर्यके समान प्रतापी राजा नल प्रसन्न होकर प्रजाका धर्मपूर्वक प्रतिपालन करते हुए उनके मनको प्रसन्न रखने लगे ॥ ३५ ॥

ईजे चाप्यश्वमेधेन ययातिरिव नाहुषः।
अन्यैश्च क्रतुभिर्धीमान्बहुभिश्चाप्तदक्षिणैः ॥ ३६ ॥

वह बुद्धिमान् राजा नहुषके पुत्र ययातिके समान अश्वमेध तथा और बहुत दक्षिणायुक्त यज्ञोंको करने लगे ॥ ३६ ॥

पुनश्च रमणीयेषु वनेषूपवनेषु च।
दमयन्त्या सह नलो विजहारामरोपमः ॥ ३७ ॥

एवं देवके समान वन और उपवन आदि मनोहर स्थानोंमें दमयन्तीके सहित विहार करने लगे ॥ ३७ ॥

एवं स यजमानश्च विहरंश्च नराधिपः।
ररक्ष वसुसंपूर्णां वसुधां वसुधाधिपः ॥ ३८ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि चतुःपञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५४ ॥ १९४१ ॥

हे पृथ्वीनाथ! यह मनुष्यों और पृथ्वीके स्वामी राजा नल समय समयपर यज्ञ और विहार करते हुए धनभरी पृथ्वीका पालन करने लगे ॥ ३८ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें चौवनवां अध्याय समाप्त ॥ ५४ ॥ १९४१ ॥

: ५५ :

बृहदश्व उवाच

धृते तु नैषधे भैम्या लोकपाला महौजसः।
यान्तो ददृशुरायान्तं द्वापरं कलिना सह ॥ १ ॥

बृहदश्व बोले– भीमपुत्री दमयन्तीके राजा नलको वरनेके पश्चात् महातेजस्वी लोकपाल स्वर्गको जा रहे थे, कि उन्होंने रास्तेमें द्वापरके सहित कलियुगको आते देखा ॥ १ ॥

अथाब्रवीत्कलिं शक्रः संप्रेक्ष्य बलवृत्रहा।
द्वापरेण सहायेन कले ब्रूहि क यास्यसि ॥ २ ॥

बल और वृत्रासुरको मारनेवाले इन्द्रने उसे देखकर कहा, कि हे कलियुग ! तुम द्वापरके सहित कहां जा रहे हो ? ॥ २ ॥

ततोऽब्रवीत्कलिः शक्रं दमयन्त्याः स्वयंवरम्।
गत्वाहं वरयिष्ये तां मनो हि मम तद्गतम् ॥ ३ ॥

तब कलियुगने इन्द्रसे कहा, कि मेरा मन दमयन्तीमें आसक्त हो गया है, इसलिये उसके स्वयंवरमें जाकर उसे वरूँगा ॥ ३ ॥

तमब्रवीत्प्रहस्येन्द्रो निर्वृत्तः स स्वयंवरः।
वृतस्तया नलो राजा पतिरस्मत्समीपतः ॥ ४ ॥

तब इन्द्रने हंसकर उससे कहा, कि वह स्वयंवर तो समाप्त भी हो गया। भीमपुत्रीने हम लोगोंके सामने ही राजा नलको पति बनाया है ॥ ४ ॥

एवमुक्तस्तु शक्रेण कलिः कोपसमन्वितः।
देवानामन्त्र्य तान्सर्वानुवाचेदं वचस्तदा ॥ ५ ॥

इन्द्रके ऐसे कहते ही कलियुगने क्रोधसे युक्त होकर सब देवोंको बुलाकरके यह बात कही ॥ ५ ॥

देवानां मानुषं मध्ये यत्सा पतिमविन्दत।
ननु तस्या भवेन्न्याय्यं विपुलं दण्डधारणम् ॥ ६ ॥

लोकपाल देवताओंके बीचमें उस दमयन्तीने एक मनुष्यको पति बनाया है, इसी निमित्त उसको कठिन दण्ड देना ही न्यायोचित है ॥ ६ ॥

एवमुक्ते तु कलिना प्रत्यूचुस्ते दिवौकसः।
अस्माभिः समनुज्ञातो दमयन्त्या नलो वृतः ॥ ७ ॥

कलियुगकी इस बातको सुनकर उन देवोंने उत्तर दिया, कि दमयन्तीने हमारी आज्ञाके अनुसार ही नलको पति बनाया है ॥ ७ ॥

कश्च सर्वगुणोपेतं नाश्रयेत नलं नृपम्।
यो वेद धर्मानखिलान्यथावच्चरितव्रतः ॥ ८ ॥

कौन ऐसा है कि जो सब गुणसे सम्पन्न नलका आश्रय न लेना चाहे। जिसने सम्पूर्ण व्रत किये हैं और जो सभी धर्मोंको जानता है ॥ ८ ॥

यस्मिन्सत्यं धृतिर्दानं तपः शौचं दमः शमः।
ध्रुवाणि पुरुषव्याघ्रे लोकपालसमे नृपे ॥ ९ ॥

लोकपालोंके समान पराक्रमी, जिस पुरुषसिंह राजामें सत्य, धैर्य, ज्ञान, तपस्या दम और शम सर्वदा ही स्थिर रहते हैं ॥ ९ ॥

आत्मानं स शपेन्मूढो हन्याच्चात्मानमात्मना।
एवंगुणं नलं यो वै कामयेच्छपितुं कले ॥ १० ॥

हे कलियुग! ऐसे सर्वगुणसम्पन्न नलको जो शाप देनेकी इच्छा करता है, वह मूर्ख मानों स्वयंको ही शाप देता है, तथा अपने आपका ही विनाश करता है ॥ १० ॥

कृच्छ्रे स नरके मज्जेदगाधे विपुलेऽह्रदे।
एवमुक्त्वा कलिं देवा द्वापरं च दिवं ययुः ॥ ११ ॥

हे कलियुग! ऐसे गुणयुक्त पुरुषको जो शाप देनेकी इच्छा करता है वह अगाध नरक कुण्डमें डूबता है देवता कलियुग और द्वापरसे इस प्रकार कहकर स्वर्गको चले गये ॥ ११ ॥

ततो गतेषु देवेषु कलिर्द्वापरमब्रवीत्।
संहर्तुं नोत्सहे कोपं नले वत्स्यामि द्वापर ॥ १२ ॥

तब देवोंके चले जानेपर कलियुगने द्वापरसे कहा, हे द्वापर! नलपर जो मेरा क्रोध उत्पन्न हुआ है, उसे मैं नहीं रोक सकता, अतः अब मैं जाकर नलमें निवास करूंगा ॥ १२ ॥

भ्रंशयिष्यामि तं राज्यान्न भैम्या सह रंस्यते।
त्वमप्यक्षान्समाविश्य कर्तुं साहाय्यमर्हसि ॥ १३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि पञ्चपञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५५ ॥ १९५४ ॥

मैं उसे राज्यसे भ्रष्ट कर दूंगा, वह दमयन्तीके साथ रमण नहीं कर सकेगा, तुम भी पासोंमें प्रविष्ट होकर मेरी सहायता करनेकी चेष्टा करो ॥ १३ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें पचपनवां अध्याय समाप्त ॥ ५५ ॥ १९५४ ॥

५९

बृहदश्व उवाच

एवं स समयं कृत्वा द्वापरेण कलिः सह ।
आजगाम ततस्तत्र यत्र राजा स नैषधः ॥ १ ॥

बृहदश्व बोले– पश्चात् कलियुग द्वापरसे ऐसी प्रतिज्ञा करके वहां आया जहां वह निषधराजा थे ॥ १ ॥

स नित्यमन्तरप्रेक्षी निषधेष्ववसच्चिरम् ।
अथास्य द्वादशे वर्षे ददर्श कलिरन्तरम् ॥ २ ॥

नलके छिद्रको देखनेकी अभिलाषासे वह कलि बहुत दिनोंतक नगरमें निवास करता रहा, तब कहीं बारह वर्षके पश्चात् कलियुगने राजा नलका एक छिद्र देखा ॥ २ ॥

कृत्वा मूत्रमुपस्पृश्य सन्ध्यामास्ते स्म नैषधः ।
अकृत्वा पादयोः शौचं तत्रैनं कलिराविशत् ॥ ३ ॥

कि राजा नलने एकवार मूत्रत्याग करके विना पैर धोये आचमन करके सन्ध्योपासन किया, कलियुग उसका यह छिद्र देखकर उसके शरीरमें प्रवेश कर गया ॥ ३ ॥

स समाविश्य तु नलं समीपं पुष्करस्य ह ।
गत्वा पुष्करमाहेदमेहि दीव्य नलेन वै ॥ ४ ॥

वह एक रूपसे नलके शरीरमें घुसकर दूसरे रूपसे राजा नलके भाई पुष्करके पास गया और यह बोला, हे पुष्कर ! आओ, तुम नलके साथ जुआ खेलो ॥ ४ ॥

अक्षद्यूते नलं जेता भवान्हि सहितो मया ।
निषधान्प्रतिपद्यस्व जित्वा राजन्नलं नृपम् ॥ ५ ॥

तुम मेरी सहायतासे पांसोंके जुएमें नलको जीतोगे । हे राजन् ! राजा नलको जीतकर निषध देशका राज्य प्राप्त करो ॥ ५ ॥

एवमुक्तस्तु कलिना पुष्करो नलमभ्ययात् ।
कलिश्चैव वृषो भूत्वा गवां पुष्करमभ्ययात् ॥ ६ ॥

कलियुगके ऐसे कहनेपर पुष्कर नलके पास गया और कलियुग भी गायोंमें सांड बनकर पुष्करके साथ चला ॥ ६ ॥

आसाद्य तु नलं वीरं पुष्करः परवीरहा ।
दीव्यावेत्यब्रवीद्भ्राता वृषेणेति मुहुर्मुहुः ॥ ७ ॥

शत्रुओंके वीरोंका नाशक पुष्कर वीर नलके पास जाके बारबार कहने लगा, आओ भाई ! हम तुम दोनों इस श्रेष्ठ पांसेसे जुआ खेलें ॥ ७ ॥

न चक्षमे ततो राजा समाह्वानं महामनाः।
वैदर्भ्याः प्रेक्षमाणायाः पणकालममन्यत ॥ ८ ॥

महामनस्वी राजा नल दमयन्तीके सामने वारवार पुष्करके बुलानेको न सह सके और उस समयको जुएके योग्य समझा ॥ ८ ॥

हिरण्यस्य सुवर्णस्य यानयुग्यस्य वाससाम्।
आविष्टः कलिना द्यूते जीयते स्म नलस्तदा ॥ ९ ॥

कलियुगके प्रतापसे राजा नल उस समय जुएमें प्रवृत्त होकर पुष्करसे क्रम क्रमसे सोना, चांदी, सवारी, वस्त्र दांवपर रखकर हारने लगे ॥ ९ ॥

तमक्षमदसंमत्तं सुहृदां न तु कश्चन।
निवारणेऽभवच्छक्तो दीव्यमानमचेतसम् ॥ १० ॥

शत्रुनाशी राजा नल जुएमें ऐसे मतवाले हुए, कि कोई भी मित्र खेलते हुए और मूर्ख उनको उस कर्मसे रोक न सका ॥ १० ॥

ततः पौरजनः सर्वो मन्त्रिभिः सह भारत।
राजानं द्रष्टुमागच्छन्निवारयितुमातुरम् ॥ ११ ॥

हे भारत युधिष्ठिर ! तब मंत्रियोंके सहित सभी नगरनिवासी राजाको देखने और उस जुएमें व्यस्त राजाको रोकनेके लिए राजभवनमें आये ॥ ११ ॥

ततः सूत उपागम्य दमयन्त्यै न्यवेदयत्।
एष पौरजनः सर्वो द्वारि तिष्ठति कार्यवान् ॥ १२ ॥

तब सारथीने महारानी दमयन्तीके पास आकर प्रार्थना की, कि किसी कार्यसे सभी नगर-निवासी द्वारपर खडे हुए हैं ॥ १२ ॥

निवेद्यतां नैषधाय सर्वाः प्रकृतयः स्थिताः।
अमृष्यमाणा व्यसनं राज्ञो धर्मार्थदर्शिनः ॥ १३ ॥

इसलिए आप महाराजसे जाकर कहिए कि प्रजा धर्म और अर्थको चाहनेवाले महाराजके इस दुर्व्यसनको नहीं सह सकती; इसलिये द्वारपर खडी है ॥ १३ ॥

ततः सा बाष्पकलया वाचा दुःखेन कर्शिता।
उवाच नैषधं भैमी शोकोपहतचेतना ॥ १४ ॥

तब भीमपुत्री शोकसे व्याकुल होकर आंसुओंसे भारी वाणीसे शोकसे चेतनारहित सी होकर बोली ॥ १४ ॥

राजन्पौरजनो द्वारि त्वां दिदृक्षुरवस्थितः ।
मन्त्रिभिः सहितः सर्वै राजभक्तिपुरस्कृतः ॥
तं द्रष्टुमर्हसीत्येवं पुनः पुनरभाषत ॥ १५ ॥

हे महाराज ! मन्त्रीगणके सहित नगरकी प्रजा राजभक्तिसे पूर्ण होकर आपके दर्शन करनेके लिए राज-भवनके द्वारपर खडी है, आपको उन्हें दर्शन देना उचित है। इस प्रकार वह बार बार बोली ॥ १५ ॥

तां तथा रुचिरापाङ्गीं विलपन्तीं सुमध्यमाम् ।
आविष्टः कलिना राजा नाभ्यभाषत किंचन ॥ १६ ॥

सुन्दर अंगवाली सुन्दरी दमयन्तीके बारबार विलाप करनेपर भी कलियुगके वशमें होनेसे राजाने दमयन्तीको कुछ उत्तर न दिया ॥ १६ ॥

ततस्ते मन्त्रिणः सर्वे ते चैव पुरवासिनः ।
नायमस्तीति दुःखार्ता व्रीडिता जग्मुरालयान् ॥ १७ ॥

तब वह मन्त्री और पुरवासी यह कहते हुए कि 'यह वह राजा नल नहीं है' दुःखित और लज्जित होकर अपने अपने घर चले गये ॥ १७ ॥

तथा तदभवद् द्यूतं पुष्करस्य नलस्य च ।
युधिष्ठिर बहून्मासान्पुण्यश्लोकस्त्वजीयत ॥ १८ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि षट्पञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५६ ॥ १९७२ ॥

हे युधिष्ठिर ! तब नल और पुष्करका जुआ कई महीनोंतक होता रहा; किन्तु पुण्यकीर्तिवाले नल ही उसमें हारे ॥ १८ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें छप्पनवां अध्याय समाप्त ॥ ५६ ॥ १९७२ ॥

: ५७ :

बृहदश्व उवाच

दमयन्ती ततो दृष्ट्वा पुण्यश्लोकं नराधिपम् ।
उन्मत्तवदनुन्मत्ता देवने गतचेतसम् ॥ १ ॥

बृहदश्व बोले— उत्तम कीर्तिवाले महाराज नलको अच्छी दशावाली दमयन्तीने पागलके समान जुएमें अत्यन्त आसक्त देखा ॥ १ ॥

भयशोकसमाविष्टा राजन्भीमसुता ततः ।
चिन्तयामास तत्कार्यं सुमहत्पार्थिवं प्रति ॥ २ ॥

तब, हे राजन् ! भीमपुत्री दमयन्ती भय और शोकसे व्याकुल होकर राजाके प्रति कल्याणकी चिन्ता करने लगी ॥ २ ॥

सा शङ्कमाना तत्पापं चिकीर्षन्ती च तत्प्रियम् ।
नलं च हृतसर्वस्वमुपलभ्येदमब्रवीत् ॥ ३ ॥

जुएको देखकर दमयन्तीको यह शंका हो गई कि राजाके ऊपर कोई बडी भारी विपत्ति आनेवाली है, तब उसका प्रिय करनेकी इच्छासे वह सर्वस्व हारे हुए नलके पास आकर (अपनी धायसे) यह बोली ॥ ३ ॥

बृहत्सेने व्रजामात्यानानाय्य नलशासनात् ।
आचक्ष्व यद्धृतं द्रव्यमवशिष्टं च यद्वसु ॥ ४ ॥

हे बृहत्सेने ! तू जा और नलकी आज्ञासे सब मन्त्रियोंको बुला ला और पूछ कि जुएमें धन कितना गया और कितना अभी शेष है ? ॥ ४ ॥

ततस्ते मन्त्रिणः सर्वे विज्ञाय नलशासनम् ।
अपि नो भागधेयं स्यादित्युक्त्वा पुनराव्रजन् ॥ ५ ॥

तब वे सब मन्त्री नलकी आज्ञा सुनकर " हमारा अहोभाग्य है " यह कहकर वहां फिर आये ॥ ५ ॥

तास्तु सर्वाः प्रकृतयो द्वितीयं समुपस्थिताः ।
न्यवेदयद्भीमसुता न च तत्प्रत्यनन्दत ॥ ६ ॥

तब भीमपुत्री दमयन्तीने जाकर नलसे कहा कि " आपकी सभी प्रजायें दूसरी बार उपस्थित हुई हैं, " पर नलने उसके कहनेपर ध्यान नहीं दिया ॥ ६ ॥

वाक्यमप्रतिनन्दन्तं भर्तारमभिवीक्ष्य सा ।
दमयन्ती पुनर्वेश्म व्रीडिता प्रविवेश ह ॥ ७ ॥

वह अपने वचनका अभिनन्दन न करनेवाले अपने पतिको उस अवस्थामें देखकर लज्जित हो फिर अपने घरमें घुस गई ॥ ७ ॥

निशम्य सततं चाक्षान्पुण्यश्लोकपराङ्मुखान् ।
नलं च हृतसर्वस्वं धात्रीं पुनरुवाच ह ॥ ८ ॥

वहां जाकर सुना, कि पांसे पुण्यकीर्तिवाले नलसे विमुख हो गये हैं और राजा सब कुछ हार गये हैं, तब दमयन्तीने धायसे पुनः कहा ॥ ८ ॥

बृहत्सेने पुनर्गच्छ वार्ष्णेयं नलशासनात्।
सूतमानय कल्याणि महत्कार्यमुपस्थितम् ॥ ९ ॥

हे बृहत्सेने ! तू शीघ्र जा और राजा नलकी आज्ञासे सारथी वार्ष्णेयको बुला ला। हे कल्याणि ! बडा घोर समय आ गया है ॥ ९ ॥

बृहत्सेना तु तच्छ्रुत्वा दमयन्त्याः प्रभाषितम्।
वार्ष्णेयमानयामास पुरुषैराप्तकारिभिः ॥ १० ॥

वह बृहत्सेना दमयन्तीके वचन सुनकर उत्तम पुरुषोंके सहित वार्ष्णेयको बुला ले आई ॥ १० ॥

वार्ष्णेयं तु ततो भैमी सान्त्वयञ्श्लक्ष्णया गिरा।
उवाच देशकालज्ञा प्राप्तकालमनिन्दिता ॥ ११ ॥

आये हुए वार्ष्णेयसे देश कालको जाननेवाली अनिन्दिता दमयन्ती मीठे वचनसे सांत्वना देती हुई यह समयोचित वचन बोली ॥ ११ ॥

जानीषे त्वं यथा राजा सम्यग्वृत्तः सदा त्वयि।
तस्य त्वं विषमस्थस्य साहाय्यं कर्तुमर्हसि ॥ १२ ॥

हे सूत ! तुम यह जानते ही हो, कि राजा तुम्हारे साथ सदा ही अच्छा आचरण किया करते थे, अतः अब आपत्तिमें पडे हुए उस राजाकी तुम सहायता करो ॥ १२ ॥

यथा यथा हि नृपतिः पुष्करेणेह जीयते।
तथा तथास्य द्यूते वै रागो भूयोऽभिवर्धते ॥ १३ ॥

राजा नल पुष्करके द्वारा जुआ खेलनेमें ज्यों ज्यों हारते जा रहे हैं, त्यों त्यों इनकी इच्छा जुएमें और ज्यादा बढती जाती है ॥ १३ ॥

यथा च पुष्करस्याक्षा वर्तन्ते वशवर्तिनः।
तथा विपर्ययश्चापि नलस्याक्षेषु दृश्यते ॥ १४ ॥

जैसे जैसे पासे पुष्करके वशमें होते जाते हैं, त्यों त्यों नलके पासे उल्टे पडते हुए दिखाई देते हैं ॥ १४ ॥

सुहृत्स्वजनवाक्यानि यथावन्न शृणोति च।
नूनं मन्ये न शेषोऽस्ति नैषधस्य महात्मनः ॥ १५ ॥

राजा मोहके वशमें होकर अपने सुहृत् पुरुषोंकी बात भी ठीक तरह नहीं सुनते, अतः मेरा विचार है कि महात्मा नलका कुछ भी शेष नहीं बचेगा अर्थात् सब हार जाएंगे ॥ १५ ॥

यन्न मे वचनं राजा नाभिनन्दति मोहितः ।
शरणं त्वां प्रपन्नास्मि सारथे कुरु मद्वचः ।
न हि मे शुध्यते भावः कदाचिद्विनशेदिति ॥ १६ ॥

मोहित होकर राजा मेरे वचनोंपर ध्यान नहीं देते; अतः, हे सारथे! मैं तुम्हारी शरण हूँ, मेरी बात सुनो। क्योंकि पता नहीं कब हमारा विनाश हो जाए, इस कारण मैं उसम स्थितिमें नहीं हूँ ॥ १६ ॥

नलस्य दयितानश्वान्योजयित्वा महाजवान् ।
इदमारोप्य मिथुनं कुण्डिनं यातुमर्हसि ॥ १७ ॥

तुम नलके प्रिय और महावेगवान् घोडोंको जोडकर रथमें चढाकर इस लडकी लडकेको लेकर कुण्डिननगर चले जाओ ॥ १७ ॥

मम ज्ञातिषु निक्षिप्य दारकौ स्यन्दनं तथा ।
अश्वांश्चैतान्यथाकामं वस वान्यत्र गच्छ वा ॥ १८ ॥

इन बच्चे, रथ और घोडोंको मेरे पिताके यहां छोडकर तुम वहीं रहना, या जहां इच्छा हो वहीं चले जाना ॥ १८ ॥

दमयन्त्यास्तु तद्वाक्यं वार्ष्णेयो नलसारथिः ।
न्यवेदयदशेषेण नलामात्येषु मुख्यशः ॥ १९ ॥

नलके सारथी वार्ष्णेयने दमयन्तीके उस वचनको सुनकर नलके मुख्य मन्त्रियोंसे सब बातें कह सुनाईं ॥ १९ ॥

तैः समेत्य विनिश्चित्य सोऽनुज्ञातो महीपते ।
ययौ मिथुनमारोप्य विदर्भांस्तेन वाहिना ॥ २० ॥

हे राजन्! उन्होंने एक मतसे निश्चय करके उसको वैसी ही आज्ञा दी। तब सारथी लडकी लडकेको रथपर चढाकर विदर्भनगरको चला गया ॥ २० ॥

हयांस्तत्र विनिक्षिप्य सूतो रथवरं च तम् ।
इन्द्रसेनां च तां कन्यामिन्द्रसेनं च बालकम् ॥ २१ ॥
आमन्त्र्य भीमं राजानमार्तः शोचन्नलं नृपम् ।
अटमानस्ततोऽयोध्यां जगाम नगरीं तदा ॥ २२ ॥

उस लडकी इन्द्रसेना, लडके इन्द्रसेन, घोडे और उस उत्तम रथको वहीं छोडकर सारथि राजा भीमकी आज्ञा ले नलके शोकसे व्याकुल हो घूमता हुआ अयोध्या नगरीमें आया ॥ २१-२२ ॥

ऋतुपर्णं स राजानमुपतस्थे सुदुःखितः।
भृतिं चोपययौ तस्य सारथ्येन महीपतेः ॥ २३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि सप्तपञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५७ ॥ १९९५ ॥

हे राजन् युधिष्ठिर ! तब वह सारथि बहुत दुःखी होकर ऋतुपर्ण राजाके पास पहुंचा और वहां सारथिकी नौकरी करने लगा ॥ २३ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें सत्तावनवां अध्याय समाप्त ॥ ५७ ॥ १९९५ ॥

: ५८ :

बृहदश्व उवाच

ततस्तु याते वार्ष्णेये पुण्यश्लोकस्य दीव्यतः।
पुष्करेण हृतं राज्यं यच्चान्यद्वसु किंचन ॥ १ ॥

बृहदश्व बोले– वार्ष्णेय सूतके जानेके बाद पुण्यकीर्तिवाले नलके खेलते हुए उनसे पुष्करने सारा राज्य तथा और भी जो कुछ धन था, सब हर लिया ॥ १ ॥

हृतराज्यं नलं राजन्प्रहसन्पुष्करोऽब्रवीत्।
द्यूतं प्रवर्ततां भूयः प्रतिपाणोऽस्ति कस्तव ॥ २ ॥

तब राज्य हारे हुए नलसे पुष्कर हंसकर बोला, कि फिर जुआ खेलो। अब तुम किसको दांवपर लगाओगे? ॥ २ ॥

शिष्टा ते दमयन्त्येका सर्वमन्यद्धृतं मया।
दमयन्त्याः पणः साधु वर्ततां यदि मन्यसे ॥ ३ ॥

तुम्हारा सब धन मैंने जीत लिया; परन्तु एक दमयन्ती ही तुम्हारी रह गई है। यदि तुम अच्छा जानो, तो दमयन्तीकी बाजीको भी जुएपर लगा दो ॥ ३ ॥

पुष्करेणैवमुक्तस्य पुण्यश्लोकस्य मन्युना।
व्यदीर्यतेव हृदयं न चैनं किंचिदब्रवीत् ॥ ४ ॥

पुष्करके वचन सुनते ही उत्तम कीर्तिमान् नलका हृदय क्रोधसे फटने लगा, परन्तु वे कुछ कह न सके ॥ ४ ॥

ततः पुष्करमालोक्य नलः परममन्युमान्।
उत्सृज्य सर्वगात्रेभ्यो भूषणानि महायशाः ॥ ५ ॥

तब महाक्रोधी, महायशस्वी नलने पुष्करको देखकर अपने सब शरीरसे आभूषण उतार दिए ॥ ५ ॥

एकवासा असंवीतः सुहृच्छोकविवर्धनः ।
निश्चक्राम तदा राजा त्यक्त्वा सुविपुलां श्रियम् ॥ ६ ॥

केवल एक धोती ही पहनकर तथा अपने मित्रोंके शोकको बढाते हुए राजा सब विशाल राजलक्ष्मीको छोडकर वनको चले ॥ ६ ॥

दमयन्त्येकवस्त्रा तं गच्छन्तं पृष्ठतोऽन्वियात् ।
स तया बाह्यतः सार्धं त्रिरात्रं नैषधोऽवसत् ॥ ७ ॥

दमयन्ती भी एक धोती पहनकर वनको जानेवाले उनके पीछे चली । नल दमयन्तीको साथ लेकर तीन दिन नगरके बाहर रहे ॥ ७ ॥

पुष्करस्तु महाराज घोषयामास वै पुरे ।
नले यः सम्यगातिष्ठेत्स गच्छेद्वध्यतां मम ॥ ८ ॥

तब, हे महाराज ! पुष्करने नगरमें ढिंढोरा पिटवा दिया, कि जो नलके साथ अच्छा बर्ताव रखेगा, वह मेरे द्वारा मार डाला जाएगा ॥ ८ ॥

पुष्करस्य तु वाक्येन तस्य विद्वेषणेन च ।
पौरा न तस्मिन्सत्कारं कृतवन्तो युधिष्ठिर ॥ ९ ॥

हे युधिष्ठिर ! पुष्करके ऐसे वचन सुनकर और उसका क्रोध नलपर देखकर किसी नगर निवासीने नलका सत्कार नहीं किया ॥ ९ ॥

स तथा नगराभ्याशे सत्कारार्हो न सत्कृतः ।
त्रिरात्रमुषितो राजा जलमात्रेण वर्तयन् ॥ १० ॥

सत्कारके योग्य होनेपर भी राजा नल सत्कारको न पाकर तीन दिनतक केवल जल पीकर नगरके समीप रहे ॥ १० ॥

क्षुधा संपीड्यमानस्तु नलो बहुतिथेऽहनि ।
अपश्यच्छकुनान्कांश्चिद्धिरण्यसदृशच्छदान् ॥ ११ ॥

बहुत दिनोंके बीत जानेपर एक दिन राजा नल भूखसे अत्यन्त व्याकुल हुये, तब उन्होंने कुछ सोनेके समान पंखोंवाले पक्षियोंको देखा ॥ ११ ॥

स चिन्तयामास तदा निषधाधिपतिर्बली ।
अस्ति भक्षो ममाद्यायं वसु चेदं भविष्यति ॥ १२ ॥

तब बलवान् निषधदेशके राजा नलने विचार किया कि आज ये पक्षी मेरे भक्ष्य भी होंगे एवं ये धन भी देनेवाले होंगे ॥ १२ ॥

ततस्तानन्तरीयेण वाससा समवास्तृणोत्।
तस्यान्तरीयमादाय जग्मुः सर्वे विहायसा ॥ १३ ॥
तब अपने अन्तरीय वस्त्रसे नलने उनको ढक दिया, पर वे सब पक्षी नलका अन्तरीय वस्त्र लेकर आकाशमें उड गये ॥ १३ ॥

उत्पतन्तः खगास्ते तु वाक्यमाहुस्तदा नलम्।
दृष्ट्वा दिग्वाससं भूमौ स्थितं दीनमधोमुखम् ॥ १४ ॥
और तब आकाशमें उडते हुए वे पक्षी नङ्ग, दीन, नीचेको मुख करके पृथ्वीपर बैठे हुए नलसे यह वाक्य बोले ॥ १४ ॥

वयमक्षाः सुदुर्बुद्धे तव वासो जिहीर्षवः।
आगता न हि नः प्रीतिः सवाससि गते त्वयि ॥ १५ ॥
रे दुर्बुद्धे! तेरे वस्त्रको हरकर ले जानेकी इच्छा करनेवाले हम वे ही पांसे हैं, जिनको तुमने खेला था, तुमको वस्त्रसहित जाते देखकर हम प्रसन्न नहीं थे ॥ १५ ॥

तान्समीक्ष्य गतानक्षानात्मानं च विवाससम्।
पुण्यश्लोकस्ततो राजा दमयन्तीमथाब्रवीत् ॥ १६ ॥
हे राजन्! उन पांसोंको अदृश्य होते और अपनेको नङ्गा देखकर उत्तमयशस्वी राजा नल दमयन्तीसे कहने लगे ॥ १६ ॥

येषां प्रकोपादैश्वर्यात्प्रच्युतोऽहमनिन्दिते।
प्राणयात्रां न विन्दे च दुःखितः क्षुधयार्दितः ॥ १७ ॥
हे अनिन्दिते! जिन पांसोंके कोपसे मैं राज्य और ऐश्वर्यसे भ्रष्ट हुआ, वह मैं अत्यन्त भूखसे व्याकुल हूं और अपने प्राणोंको बचानेके लिए भी मुझे कुछ प्राप्त नहीं होता ॥ १७ ॥

येषां कृते न सत्कारमकुर्वन्मयि नैषधाः।
त इमे शकुना भूत्वा वासोऽप्यपहरन्ति मे ॥ १८ ॥
हे भीरु! जिनके कारण किसी भी निषधनगरके निवासीने मेरा सत्कार नहीं किया, वे ही पांसे आज पक्षी होकर मेरा वस्त्र भी छीने लिये जा रहे हैं ॥ १८ ॥

वैषम्यं परमं प्राप्तो दुःखितो गतचेतनः।
भर्ता तेऽहं निबोधेदं वचनं हितमात्मनः ॥ १९ ॥
हे देवि! मैं बडी कठोर आपत्तिको प्राप्त होनेके कारण दुःखी होकर मूर्च्छित-सा हुआ जा रहा हूँ। मैं तुम्हारा पति हूँ अतः मैं जो कुछ कहता हूँ, उन अपने लिए हितकारी मेरे वचनोंको सुनो ॥ १९ ॥

एते गच्छन्ति बहवः पन्थानो दक्षिणापथम् ।
अवन्तीमृक्षवन्तं च समतिक्रम्य पर्वतम् ॥ २० ॥

ये अनेक मार्ग ऋक्षवान् पर्वत और अवन्ती (उज्जैन) को पार करके दक्षिणापथको जा रहे हैं ॥ २० ॥

एष विन्ध्यो महाशैलः पयोष्णी च समुद्रगा ।
आश्रमाश्च महर्षीणाममी पुष्पफलान्विताः ॥ २१ ॥

यही समुद्रमें जानेवाली पयोष्णी नदी और महान् पर्वत विन्ध्याचल है । फल और फूलोंसे भरे हुए ये ऋषियोंके आश्रम हैं ॥ २१ ॥

एष पन्था विदर्भाणामयं गच्छति कोसलान् ।
अतः परं च देशोऽयं दक्षिणे दक्षिणापथः ॥ २२ ॥

यह मार्ग विदर्भ देशको जाता है और यह कोसलदेशका मार्ग है । इसके आगे दक्षिण देश है और यह दक्षिणका मार्ग है ॥ २२ ॥

ततः सा बाष्पकलया वाचा दुःखेन कर्शिता ।
उवाच दमयन्ती तं नैषधं करुणं वचः ॥ २३ ॥

तब दमयन्ती आंसुओंसे भरे हुए कण्ठसे रोती हुई दुःखसे व्याकुल होकर निषध-राजसे दीनता भरे हुए वचन बोली ॥ २३ ॥

उद्वेपते मे हृदयं सीदन्त्यङ्गानि सर्वशः ।
तव पार्थिव संकल्पं चिन्तयन्त्याः पुनः पुनः ॥ २४ ॥

हे महाराज! आपके संकल्पका बारबार विचार करके मेरा हृदय घबडाता है और सब अंग बारबार शिथिल हुए जाते हैं ॥ २४ ॥

हृतराज्यं हृतधनं विवस्त्रं क्षुच्छ्रमान्वितम् ।
कथमुत्सृज्य गच्छेयमहं त्वां विजने वने ॥ २५ ॥

हे महाराज ! राज्यहीन, वस्त्रहीन और धनसे हीन भूख और श्रमसे पीडित आपको इस निर्जनमें अकेला छोडकर मैं कैसे चली जाऊं ? ॥ २५ ॥

श्रान्तस्य ते क्षुधार्तस्य चिन्तयानस्य तत्सुखम् ।
वने घोरे महाराज नाशयिष्यामि ते क्लमम् ॥ २६ ॥

हे महाराज ! इस घोर वनमें चलते चलते जब आप थक जायेंगे, भूख प्यास और चिन्तासे व्याकुल होंगे, तब मैं आपके सुखके निमित्त आपके परिश्रमको दूर करूंगी ! ॥ २६ ॥

न च भार्यासमं किंचिद्विद्यते भिषजां मतम्।
औषधं सर्वदुःखेषु सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥ २७ ॥

मैं आपसे सत्य कहती हूं, कि वैद्योंके मतमें सब दुःखोंमें स्त्रीके समान औषध और कुछ नहीं है ॥ २७ ॥

नल उवाच

एवमेतद्यथात्थ त्वं दमयन्ति सुमध्यमे।
नास्ति भार्यासमं मित्रं नरस्यार्तस्य भेषजम् ॥ २८ ॥

नल बोले– हे सुमध्यमे दमयन्ती! तुम जो कहती हो, वह सब सत्य है। दुःखी पुरुषके लिये स्त्रीके समान और दूसरी कोई औषधि नहीं है ॥ २८ ॥

न चाहं त्यक्तुकामस्त्वां किमर्थं भीरु शङ्कसे।
त्यजेयमहमात्मानं न त्वेव त्वामनिन्दिते ॥ २९ ॥

हे अनिन्दिते! मेरी भी इच्छा तुम्हें छोडनेकी नहीं है, मैं अपने प्राणको छोड सकता हूं, परन्तु तुम्हें नहीं। अतः, हे भीरु! तुम शङ्का मत करो ॥ २९ ॥

दमयन्त्युवाच

यदि मां त्वं महाराज न विहातुमिहेच्छसि।
तत्किमर्थं विदर्भाणां पन्थाः समुपदिश्यते ॥ ३० ॥

दमयन्ती बोली– हे महाराज! यदि आप मुझे छोडनेकी इच्छा नहीं करते हैं, तो विदर्भ-नगरका मार्ग आप क्यों बता रहे हैं? ॥ ३० ॥

अवैमि चाहं नृपते न त्वं मां त्यक्तुमर्हसि।
चेतसा त्वपकृष्टेन मां त्यजेथा महीपते ॥ ३१ ॥

हे राजन्! मैं जानती हूं कि आप मुझको नहीं छोडेंगे, परन्तु, हे राजन्! आपका चित्त इस घोर आपत्तिने छीन लिया है, अतः आप मुझे छोड भी सकते हैं ॥ ३१ ॥

पन्थानं हि ममाभीक्ष्णमाख्यासि नरसत्तम।
अतोनिमित्तं शोकं मे वर्धयस्यमरप्रभ ॥ ३२ ॥

हे नरोत्तम! आप मुझको जो वारवार विदर्भदेशका मार्ग दिखला रहे हैं। इसीके कारण, हे देवके समान तेजस्वी! मेरा शोक आप बढा रहे हैं ॥ ३२ ॥

यदि चायमभिप्रायस्तव राजन्व्रजेदिति।
सहितावेव गच्छावो विदर्भान्यदि मन्यसे ॥ ३३ ॥

हे राजन्! यदि आपकी यह इच्छा हो कि यह अपने पिताके यहां चली जाये, तो यदि आप ठीक समझें तो हम दोनों साथ ही साथ विदर्भदेशको चलें ॥ ३३ ॥

विदर्भराजस्तत्र त्वां पूजयिष्यति मानद ।
तेन त्वं पूजितो राजन्सुखं वत्स्यसि नो गृहे ॥ ३४ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि अष्टपञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५८ ॥ २०२९ ॥

हे माननीय ! मेरे पिता विदर्भराज आपका बहुत सत्कार करेंगे और उनसे पूजित होकर आप मेरे घरमें सुखसे रहें ॥ ३४ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें अट्ठावनवां अध्याय समाप्त ॥ ५८ ॥ २०२९ ॥

: ५९ :

नल उवाच

यथा राज्यं पितुस्ते तत्तथा मम न संशयः ।
न तु तत्र गमिष्यामि विषमस्थः कथंचन ॥ १ ॥

नल बोले– हे दमयन्ती ! यह ठीक है, कि विदर्भका राज्य जैसे तुम्हारे पिताका है, वैसे ही मेरा भी है, परन्तु आपत्तिसे ग्रस्त होकर मैं वहां कदापि नहीं जाऊंगा ॥ १ ॥

कथं समृद्धो गत्वाहं तव हर्षविवर्धनः ।
परिद्यूनो गमिष्यामि तव शोकविवर्धनः ॥ २ ॥

मैं अत्यन्त ऋद्धिसे सम्पन्न होकर वहां जाकर तुम्हारे आनन्दको बढाता था, अब राज्यादिकसे भ्रष्ट होनेके कारण दुःखी होकर वहां जाकर तुम्हारे शोकको कैसे बढाऊंगा ? ॥ २ ॥

बृहदश्व उवाच

इति ब्रुवन्नलो राजा दमयन्तीं पुनः पुनः ।
सान्त्वयामास कल्याणीं वाससोऽर्धेन संवृताम् ॥ ३ ॥

बृहदश्व बोले– हे युधिष्ठिर ! राजा नल ऐसा कहते हुए आधे वस्त्रसे अपने शरीरको ढकी हुई कल्याणी दमयन्तीको बारबार शान्त करने लगे ॥ ३ ॥

तावेकवस्त्रसंवीतावटमानावितस्ततः ।
क्षुत्पिपासापरिश्रान्तौ सभां कांचिदुपेयतुः ॥ ४ ॥

वे दोनों भूख और प्यास और थकावटसे व्याकुल होकर एक ही वस्त्र ओढे हुए इधर उधर घूमते हुए किसी स्थानमें पहुंचे और थककर वहीं ठहर गये ॥ ४ ॥

तां सभामुपसंप्राप्य तदा स निषधाधिपः ।
वैदर्भ्या सहितो राजा निषसाद महीतले ॥ ५ ॥

तब निषधदेशके महाराज उस स्थानपर पहुंचकर विदर्भराजकी पुत्रीके सहित जमीनपर बैठ गए ॥ ५ ॥

स वै विवस्त्रो मलिनो विकचः पांसुगुण्ठितः ।
दमयन्त्या सह श्रान्तः सुष्वाप धरणीतले ॥ ६ ॥

वस्त्र और बिछौनेसे हीन, धूलमें भरे हुए, खुले बालोंवाले महाराज नल थकावटसे व्याकुल होकर दमयन्तीके साथ पृथ्वीपर ही सो गये ॥ ६ ॥

दमयन्त्यपि कल्याणी निद्रयापहृता ततः ।
सहसा दुःखमासाद्य सुकुमारी तपस्विनी ॥ ७ ॥

तदनन्तर कल्याणी, तपस्विनी, कोमलाङ्गी दमयन्ती भी इस दुःखके अचानक ही प्राप्त हो जानेके कारण व्याकुल होकर गाढ निद्राके वशमें हो गई ॥ ७ ॥

सुप्तायां दमयन्त्यां तु नलो राजा विशां पते ।
शोकोन्मथितचित्तात्मा न स्म शेते यथा पुरा ॥ ८ ॥

हे प्रजानाथ ! दमयन्ती तो सो गई; परन्तु नलको शोकसे व्याकुल चित्त और आत्मावाले होनेके कारण पहलेके समान निद्रा न आई ॥ ८ ॥

स तद्राज्यापहरणं सुहृत्त्यागं च सर्वशः ।
वने च तं परिध्वंसं प्रेक्ष्य चिन्तामुपेयिवान् ॥ ९ ॥

वह राज्यका अपहरण, सब बन्धुओंसे छूटना और वनमें रहना इत्यादि आपत्तियोंको देखकर चिन्तासे व्याकुल हो गये ॥ ९ ॥

किं नु मे स्यादिदं कृत्वा किं नु मे स्यादकुर्वतः ।
किं नु मे मरणं श्रेयः परित्यागो जनस्य वा ॥ १० ॥

नल सोचने लगे कि यदि मैं यह करूं तो क्या होगा ? और यदि न करूं तो क्या होगा ? मेरा मर जाना उत्तम है अथवा अपने जन इस दमयन्तीका त्याग उत्तम है ? ॥ १० ॥

मामियं ह्यनुरक्तेदं दुःखमाप्नोति मत्कृते ।
मद्विहीना त्वियं गच्छेत्कदाचित्स्वजनं प्रति ॥ ११ ॥

क्योंकि यह मुझमें अनुरक्त होनेके कारण मेरे लिए इतने दुःखमें पडी हुई है। अतः मेरे द्वारा छोड दिये जानेपर शायद यह अपने पिताके यहां चली जाये ॥ ११ ॥

मया निःसंशयं दुःखमियं प्राप्स्यत्यनुत्तमा ।
उत्सर्गे संशयः स्यात्तु विन्देतापि सुखं क्वचित् ॥ १२ ॥

यह अत्यन्त उत्तम दमयन्ती मेरे ही कारण दुःख पायेगी इसमें कोई संशय नहीं है। पर इसे त्याग देनेपर इसका दुःख पाना संशयित हो सकता है कदाचित् कहीं इसे सुख मिल ही जाये ॥ १२ ॥

स विनिश्चित्य बहुधा विचार्य च पुनः पुनः ।
उत्सर्गेऽमन्यत श्रेयो दमयन्त्या नराधिपः ॥ १३ ॥

राजा नलने बारबार विचारकर निश्चय किया और उसने दमयन्तीको छोडनेहीमें कल्याण समझा ॥ १३ ॥

सोऽवस्त्रतामात्मनश्च तस्याश्चाप्येकवस्त्रताम् ।
चिन्तयित्वाध्यगाद्राजा वस्त्रार्धस्यावकर्तनम् ॥ १४ ॥

राजाने अपनेको वस्त्रहीन और उसको एक वस्त्र ओढे देख उसका आधा वस्त्र फाडनेका विचार किया ॥ १४ ॥

कथं वासो विकर्तेयं न च बुध्येत मे प्रिया ।
चिन्त्यैवं नैषधो राजा सभां पर्यचरत्तदा ॥ १५ ॥

वस्त्र फाडते समय राजाने विचार किया मैं अपनी प्रियतमाका आधा वस्त्र कैसे फाडूं? ताकि यह जाग न सके, ऐसा विचार करते हुए राजा उस स्थानमें इधर उधर घूमने लगे ॥ १५ ॥

परिधावन्नथ नल इतश्चेतश्च भारत ।
आससाद सभोद्देशे विकोशं खड्गमुत्तमम् ॥ १६ ॥

हे भारत ! उस वनमें इधर उधर घूमते हुए राजा नलने बिना म्यानके एक उत्तम तलवार-को प्राप्त किया ॥ १६ ॥

तेनार्धं वाससश्छित्त्वा निवस्य च परन्तपः ।
सुप्तामुत्सृज्य वैदर्भीं प्राद्रवद्गतचेतनः ॥ १७ ॥

हे राजन् ! तब शत्रुनाशक राजा नलने उस खड्गसे दमयन्तीका आधा वस्त्र काट लिया और उसको पहनकर विदर्भ-राजपुत्री दमयन्तीको अचेत सोते ही छोडकर चल दिये ॥ १७ ॥

ततो निबद्धहृदयः पुनरागम्य तां सभाम् ।
दमयन्तीं तथा दृष्ट्वा रुरोद निषधाधिपः ॥ १८ ॥

थोडी दूर जाकर दमयन्तीसे बंधे हुए हृदयवाले होनेके कारण नल फिर उस जगह लौटे और दमयन्तीको उस अवस्थामें देखकर निषधदेशके माहराज खूब रोये ॥ १८ ॥

यां न वायुर्न चादित्यः पुरा पश्यति मे प्रियाम् ।
सेयमद्य सभामध्ये शेते भूमावनाथवत् ॥ १९ ॥

और सोचने लगे, जिस मेरी प्रिया दमयन्तीको पहले सूर्य और वायु भी नहीं देख सकते थे, वही आज अनाथके समान वनमें भूमिपर सो रही है ॥ १९ ॥

इयं वस्त्रावकर्तेन संवीता चारुहासिनी ।
उन्मत्तेव वरारोहा कथं बुद्ध्वा भविष्यति ॥ २० ॥

यह उत्तमतासे हंसनेवाली, सुन्दर मुखवाली अपने आधे वस्त्रको लपेटकर सो रही है। अब यह जागेगी तो अपनी स्थितिको देखकर किस प्रकार पागलोंके समान हो जाएगी ॥२०॥

कथमेका सती भैमी मया विरहिता शुभा ।
चरिष्यति वने घोरे मृगव्यालनिषेविते ॥ २१ ॥

यह कल्याणी पतिव्रता राजा भीमकी पुत्री दमयन्ती मुझसे अलग होकर इस हिंसक पशुओं और सांपोंसे भरे हुए घोर वनमें अकेली कैसे घूमेगी ? ॥ २१ ॥

गत्वा गत्वा नलो राजा पुनरेति सभां मुहुः ।
आकृष्यमाणः कलिना सौहृदेनापकृष्यते ॥ २२ ॥

राजा नल कलिसे खींचे जाते हुए पहले दूर दूर चले जाते थे और फिर प्रेमसे आकृष्ट होकर बारबार उस जगहपर आ जाते थे ॥ २२ ॥

द्विधेव हृदयं तस्य दुःखितस्याभवत्तदा ।
दोलेव मुहुरायाति याति चैव सभां मुहुः ॥ २३ ॥

उस समय दुःखी राजा नलका हृदय फटकर दो टुकडोंमें हुआ जाता था। जैसे कोई झूला कभी इधर आता है तो कभी उधर जाता है, उसीतरह राजा नल भी कभी दूर चले जाते थे तो कभी दमयन्तीके प्रेममें खिंचकर फिर वहीं आ जाते थे ॥ २३ ॥

सोऽपकृष्टस्तु कलिना मोहितः प्राद्रवन्नलः ।
सुप्तामुत्सृज्य तां भार्यां विलप्य करुणं बहु ॥ २४ ॥

अन्तमें कलियुगके द्वारा खिंचकर एवं मोहित होकर राजा नल प्यारी स्त्रीको वनमें सोती हुई छोडकर करुणापूर्वक रोते हुए चले गये ॥ २४ ॥

नष्टात्मा कलिना स्पृष्टस्तत्तद्विगणयन्नृपः ।
जगामैव वने शून्ये भार्यामुत्सृज्य दुःखितः ॥ २५ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि एकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥ ५९ ॥ २०५४ ॥

हे राजन् ! नष्ट बुद्धिवाले, कलियुगके वशमें होकर दुःखी राजा नल अपने मनमें उठते हुए विचारोंकी परवाह न करते हुए अपनी स्त्रीको शून्य वनमें अकेली छोडकर चले गये ॥२५॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें उनसठवां अध्याय समाप्त ॥ ५९ ॥ २०५४ ॥

: ६० :

बृहदश्व उवाच

अपक्रान्ते नले राजन्दमयन्ती गतक्लमा ।

अबुध्यत वरारोहा संत्रस्ता विजने वने ॥ १ ॥

बृहदश्व बोले– हे राजन् युधिष्ठिर ! नलके जानेके पश्चात् परिश्रम दूर होनेपर उत्तम मुखवाली दमयन्ती जागी और उस निर्जन वनमें स्वयंको अकेली पाकर डर गई ॥ १ ॥

अपश्यमाना भर्तारं दुःखशोकसमन्विता ।

प्राक्रोशदुच्चैः संत्रस्ता महाराजेति नैषधम् ॥ २ ॥

उस वनमें अपने पतिको न देखकर डर गई और शोक और दुःखसे व्याकुल होकर " हे महाराज ! हे महाराज ! हे नैषधेश्वर ! " कहकर जोर जोरसे चिल्लाने लगी ॥ २ ॥

हा नाथ हा महाराज हा स्वामिन्किं जहासि माम् ।

हा हतास्मि विनष्टास्मि भीतास्मि विजने वने ॥ ३ ॥

हा नाथ ! हा महाराज ! हा स्वामी ! आपने क्यों मुझको छोड दिया ? हा मैं मर गई, हा मैं विनष्ट हो गई, मैं इस निर्जन वनमें डर रही हूँ ॥ ३ ॥

ननु नाम महाराज धर्मज्ञः सत्यवागसि ।

कथमुक्त्वा तथासत्यं सुप्तामुत्सृज्य मां गतः ॥ ४ ॥

हे महाराज ! आप धर्मज्ञ और सत्यवादी हैं । फिर आप ऐसे असत्य बचन कह कर मुझ सोती हुईको छोडकर कैसे चले गए ? ॥ ४ ॥

कथमुत्सृज्य गन्तासि वश्यां भार्यामनुव्रताम् ।

विशेषतोऽनपकृते परेणापकृते सति ॥ ५ ॥

इस शून्य वनमें अपने वशमें रहनेवाली, पतिव्रता अपनी स्त्रीको छोडकर कैसे चले गये ? हे महाराज ! मैंने आपका कोई भी अपकार नहीं किया था, दूसरोंने ही आपका अपकार किया है ॥ ५ ॥

शक्ष्यसे ता गिरः सत्याः कर्तुं मयि नरेश्वर ।

यास्त्वया लोकपालानां संनिधौ कथिताः पुरा ॥ ६ ॥

हे महाराज ! हे नरनाथ ! पहले आपने लोकपालोंके सामने मेरे विषयमें जो वचन कहे थे, उन वचनोंको सत्य कीजिये ॥ ६ ॥

पर्याप्तः परिहासोऽयमेतावान्पुरुषर्षभ ।

भीताहमस्मि दुर्धर्ष दर्शयात्मानमीश्वर ॥ ७ ॥

हे पुरुषसिंह ! हे दुर्द्धर्ष ! यह हंसी अब पर्याप्त हो गई । अब मैं इस वनमें बहुत डर गई हूं, अतः शीघ्र ही अपना दर्शन दीजिये ॥ ७ ॥

दृश्यसे दृश्यसे राजन्नेष तिष्ठसि नैषध ।
आवार्य गुल्मैरात्मानं किं मां न प्रतिभाषसे ॥ ८ ॥
हे नैषधराज ! आप दिखाई देते हैं, आप दिखाई देते हैं; आप यहीं कहीं छिपकर बैठे हुए हैं आप लताओंसे स्वयंको छिपाकर मुझसे बात क्यों नहीं करते ? ॥ ८ ॥

नृशंसं बत राजेन्द्र यन्मामेवंगतामिह ।
विलपन्तीं समालिङ्ग्य नाश्वासयासि पार्थिव ॥ ९ ॥
हे महाराज ! आप बहुत निर्दयी हैं, जो यहां इस प्रकार आई हुई और रोती हुई मुझे आलिंगन करके क्यों धैर्य नहीं देते ? ॥ ९ ॥

न शोचाम्यहमात्मानं न चान्यदपि किंचन ।
कथं नु भवितास्येक इति त्वां नृप शोचिमि ॥ १० ॥
हे राजेन्द्र ! मुझे अपने अथवा और किसी वस्तुके बारेमें शोक नहीं है, परन्तु आप अकेले किस दशामें पडे होंगे, इसीका शोक है ॥ १० ॥

कथं नु राजंस्तृषितः क्षुधितः श्रमकर्शितः ।
सायाह्ने वृक्षमूलेषु मामपश्यन्भविष्यसि ॥ ११ ॥
हे महाराज ! भूख, प्यास और थकावटसे व्याकुल होकर जब आप सन्ध्यासमय किसी वृक्षकी जडमें बैठेंगे, तब वहां मुझको न देखकर आपकी क्या दशा होगी ? ॥ ११ ॥

ततः सा तीव्रशोकार्ता प्रदीप्तेव च मन्युना ।
इतश्चेतश्च रुदती पर्यधावत दुःखिता ॥ १२ ॥
तदनन्तर दमयन्ती महा शोकसे व्याकुल होकर क्रोधसे प्रदीप्त हुई हुईके समान, दुःखी होकर इधर उधर रोती हुई दौडने लगी ॥ १२ ॥

मुहुरुत्पतते बाला मुहुः पतति विह्वला ।
मुहुरालीयते भीता मुहुः क्रोशति रोदिति ॥ १३ ॥
वह बाला दमयन्ती कभी उठती तो कभी व्याकुल होकर गिर जाती और कभी भयसे छिप जाती, कभी रोती और कभी आक्रोश करती थी ॥ १३ ॥

सा तीव्रशोकसंतप्ता मुहुर्निःश्वस्य विह्वला ।
उवाच भैमी निष्क्रम्य रोदमाना पतिव्रता ॥ १४ ॥
इस प्रकार तीव्र शोकसे व्याकुल होकर पतिव्रता भीमपुत्री बारबार विह्वल होकर एवं ऊंचे सांस लेकर रोती हुई वनसे निकलकर ऐसा कहने लगी ॥ १४ ॥

यस्याभिशापाद्दुःखार्तो दुःखं विन्दति नैषधः ।
तस्य भूतस्य ताद्दुःखाद्दुःखमभ्यधिकं भवेत् ॥ १५ ॥
जिसके अभिशापसे दुःखी नैषधको इतना दुःख भोगना पड रहा है उसे नलको होनेवाले दुःखसे भी अधिक दुःख प्राप्त हो ॥ १५ ॥

अपापचेतसं पापो य एवं कृतवान्नलम् ।
तस्माद्दुःखतरं प्राप्य जीवत्वसुखजीविकाम् ॥ १६ ॥
जिस पापीने निष्पाप नलको इतना दुःख दिया है, वह भी मेरे शापसे इससे ज्यादा दुःख प्राप्त करके दुःखी जीवन व्यतीत करे ॥ १६ ॥

एवं तु विलपन्ती सा राज्ञो भार्या महात्मनः ।
अन्वेषति स्म भर्तारं वने श्वापदसेविते ॥ १७ ॥
वह महात्मा महाराज नलकी स्त्री इस प्रकार विलाप करती हुई उस सिंहादि जन्तुओंसे भरे हुए वनमें अपने पतिको ढूंढने लगी ॥ १७ ॥

उन्मत्तवद्भीमसुता विलपन्ती ततस्ततः ।
हा हा राजन्निति मुहुरितश्चेतश्च धावति ॥ १८ ॥
उस समय भीमपुत्री उन्मत्तके समान रोती हुई बारबार ' हा महाराज ! हा महाराज ! ' ऐसा कहती हुई उस वनमें क्षणमें इधर क्षणमें उधर घूमने लगी ॥ १८ ॥

तां शुष्यमाणामत्यर्थं कुररीमिव वाशतीम् ।
करुणं बहु शोचन्तीं विलपन्तीं मुहुर्मुहुः ॥ १९ ॥
सहसाभ्यागतां भैमीमभ्याशपरिवर्तिनीम् ।
जग्राहाजगरो ग्राहो महाकायः क्षुधान्वितः ॥ २० ॥
कुररीके समान रोती हुई, अत्यधिक शोक करती हुई, घूमती हुई तथा बारबार करुणासे विलाप करती हुई तथा उस जंगलमें आई हुई तथा पासमें विचरती हुई उस भीमपुत्रीको भूखसे व्याकुल एक बडे शरीरवाले अजगरने पकड लिया ॥ १९-२० ॥

सा ग्रस्यमाना ग्राहेण शोकेन च पराजिता ।
नात्मानं शोचति तथा यथा शोचति नैषधम् ॥ २१ ॥
अजगरके द्वारा निगली जाती हुई तथा शोकसे व्याकुल दमयन्ती अपने लिए भी उतना शोक नहीं करती थी, जितना कि नलके लिए ॥ २१ ॥

हा नाथ मामिह वने ग्रस्यमानामनाथवत् ।
ग्राहेणानेन विपिने किमर्थं नाभिधावसि ॥ २२ ॥

हे नाथ ! इस वनमें इस अजगरके द्वारा अनाथके समान निगली जाती हुई मेरी रक्षाके लिए आप क्यों नहीं भागकर आते ? ॥ २२ ॥

कथं भविष्यसि पुनर्मामनुस्मृत्य नैषध ।
पापान्मुक्तः पुनर्लब्ध्वा बुद्धिं चेतो धनानि च ॥ २३ ॥

हे महाराज नल ! जब आप इस पापसे छूटकर अपने धन, राज्य और बुद्धिको प्राप्त कर लेंगे, तब आप जीवित किस प्रकार रहेंगे ? ॥ २३ ॥

श्रान्तस्य ते क्षुधार्तस्य परिग्लानस्य नैषध ।
कः श्रमं राजशार्दूल नाशयिष्यति मानद ॥ २४ ॥

हे मानके योग्य, पुरुषोंमें सिंह के समान राजन् ! तब थके हुए, भूखसे पीडित तथा ग्लानिको प्राप्त आपके श्रमका नाश कौन करेगा ? ॥ २४ ॥

तामकस्मान्मृगव्याधो विचरन्गहने वने ।
आक्रन्दतीमुपाश्रुत्य जवेनाभिससार ह ॥ २५ ॥

इस प्रकार रोती हुई दमयन्तीके वचन सुनकर उस घोर वनमें घूमता हुआ कोई व्याध वेगसे उसकी ओर दौडा ॥ २५ ॥

तां स दृष्ट्वा तथा ग्रस्तामुरगेणायतेक्षणाम् ।
त्वरमाणो मृगव्याधः समभिक्रम्य वेगितः ॥ २६ ॥

उस विशाल नयनोंवालीको अजगरसे निगली जाता देखकर व्याध और भी वेगसे दौडकर वहां पहुंचा ॥ २६ ॥

मुखतः पाटयामास शस्त्रेण निशितेन ह ।
निर्विचेष्टं भुजङ्गं तं विशस्य मृगजीवनः ॥ २७ ॥

और उसने अपने तीक्ष्ण शस्त्रसे सर्पको सिरसे काट दिया । तदनन्तर मृगोंको मारकर अपनी जीविका चलानेवाले उस शिकारीने उस प्राणरहित सांपको काट कर ॥ २७ ॥

मोक्षयित्वा च तां व्याधः प्रक्षाल्य सलिलेन च ।
समाश्वास्य कृताहारामथ पप्रच्छ भारत ॥ २८ ॥

कस्य त्वं मृगशावाक्षि कथं चाभ्यागता वनम् ।
कथं चेदं महत्कृच्छ्रं प्राप्तवत्यसि भामिनि ॥ २९ ॥

और, हे भारत ! उस दमयन्तीको सांपके मुखसे छुडाके स्नान कराकर कुछ खिलाकर और धैर्य देकर उससे पूछा— हे मृगछौनेके समान सुन्दर आंखोंवाली ! तू किसकी है, और इस घोर वनमें क्यों आई है ? हे भामिनि ! तू इस घोर आपत्तिमें कैसे आ पडी ॥ २८-२९ ॥

दमयन्ती तथा तेन पृच्छयमाना विशां पते ।
सर्वमेतद्यथावृत्तमाचचक्षेऽस्य भारत ॥ ३० ॥

हे प्रजाओंके स्वामी भारत ! दमयन्तीने उसके ऐसे पूछनेपर उससे अपना सब वृत्तान्त पूरा कह सुनाया ॥ ३० ॥

तामर्धवस्त्रसंवीतां पीनश्रोणिपयोधराम् ।
सुकुमारानवद्याङ्गीं पूर्णचन्द्रनिभाननाम् ॥ ३१ ॥
अरालपक्ष्मनयनां तथा मधुरभाषिणीम् ।
लक्षयित्वा मृगव्याधः कामस्य वशमेयिवान् ॥ ३२ ॥

इसके बाद उस आधे वस्त्रवाली, बडे बडे स्तनोंवाली, सुन्दर नितम्बोंवाली, कोमलांगी, अनिन्दित शरीरवाली, पूर्णचन्द्रमाके समान मुखवाली, घुंघराले बालोंवाली और टेढी भौंहवाली तथा मधुर बोलनेवाली दमयन्तीको देखकर व्याध कामदेवके वशमें हो गया ॥ ३१-३२ ॥

तामथ श्लक्ष्णया वाचा लुब्धको मृदुपूर्वया ।
सान्त्वयामास कामार्तस्तदबुध्यत भामिनी ॥ ३३ ॥

तदनन्तर कामसे व्याकुल व्याध दमयन्तीको मीठी और चिकनी वाणीसे बारबार सांत्वना देने लगा । तब दमयन्ती भी उस व्याधकी इच्छाको भांप गई ॥ ३३ ॥

दमयन्ती तु तं दुष्टमुपलभ्य पतिव्रता ।
तीव्ररोषसमाविष्टा प्रजज्वालेव मन्युना ॥ ३४ ॥

तब पतिव्रता दमयन्ती भी उस दुष्टको कामसे व्याकुल देखकर तीव्र क्रोधसे युक्त होकर मानों क्रोधसे जलने लग गई ॥ ३४ ॥

स तु पापमतिः क्षुद्रः प्रधर्षयितुमातुरः ।
दुर्धर्षां तर्कयामास दीप्तामग्निशिखामिव ॥ ३५ ॥

वह दुष्टात्मा, क्षुद्र, पापबुद्धि, शिकारी उसपर बलात्कार करनेके लिए व्याकुल हो गया, पर वह दमयन्ती उसे जलती हुई अग्निकी ज्वालाके समान दुर्धर्ष प्रतीत हुई ॥ ३५ ॥

दमयन्ती तु दुःखार्ता पतिराज्यविनाकृता ।
अतीतवाक्पथे काले शशापैनं रुषा किल ॥ ३६ ॥

तब दुःखसे भरी और पति और राज्यसे पृथक् हुई दमयन्तीने उस दुष्टको उपदेशके अयोग्य जानकर क्रोधमें भरकर शाप दिया ॥ ३६ ॥

यथाहं नैषधादन्यं मनसापि न चिन्तये ।
तथायं पततां क्षुद्रः परासुर्मृगजीवनः ॥ ३७ ॥

यदि मैंने निषधराजके सिवा अपने चित्तसे भी दूसरेकी इच्छा न की हो, तो यह नीच शिकारी अभी प्राणहीन होकर पृथ्वीपर गिर पडे ॥ ३७ ॥

×

उक्तमात्रे तु वचने तया स मृगजीवनः ।
व्यसुः पपात मेदिन्यामग्निदग्ध इव द्रुमः ॥ ३८ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥ २०९२ ॥

उस दमयन्तीके यह वचन कहते ही पशुओंपर अपनी जीविका चलानेवाला वह व्याध अग्निसे जले हुए वृक्षके समान बिना प्राणका होकर पृथ्वीपर गिर पडा ॥ ३८ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें साठवाँ अध्याय समाप्त ॥ ६० ॥ २०९२ ॥

: ६१ :

बृहदश्व उवाच

सा निहत्य मृगव्याधं प्रतस्थे कमलेक्षणा ।
वनं प्रतिभयं शून्यं झिल्लिकागणनादितम् ॥ १ ॥

बृहदश्व बोले– हे महाराज ! कमलके समान सुन्दर आंखोंवाली वह दमयन्ती उस व्याधको मारकर भयसे व्याकुल हो मनुष्योंसे शून्य और झीं गुरोंके शब्दसे भरे हुए वनमें घूमने लगी ॥ १ ॥

सिंहव्याघ्रवराहर्क्षरुरुद्वीपिनिषेवितम् ।
नानापक्षिगणाकीर्णं म्लेच्छतस्करसेवितम् ॥ २ ॥

वह वन सिंह, बाघ, सुअर, रीछ, गैंडा आदिओंसे भरा हुआ अनेक प्रकारके पक्षियोंसे संयुक्त, म्लेच्छ और चोरोंसे सेवित था ॥ २ ॥

शालवेणुधवाश्वत्थतिन्दुकेंगुदकिंशुकैः ।
अर्जुनारिष्टसंछन्नं चन्दनैश्च सशाल्मलैः ॥ ३ ॥

तथा साल, बांस, धव, पीपल, तेंदू, इंगुदी, कचनार, अर्जुन, अरिष्टसे आच्छादित तथा चन्दन, सेमर ॥ ३ ॥

जम्ब्वाम्रलोध्रखदिरशाकवेत्रसमाकुलम् ।
काश्मर्यामलकप्लक्षकदम्बोदुम्बरावृतम् ॥ ४ ॥

जामुन, आम, लोध, खैर, वेंतके वृक्षोंसे युक्त तथा काश्मारी आंवला, पाकर, कदम्ब, गूलरसे घिरा ॥ ४ ॥

बदरीबिल्वसंछन्नं न्यग्रोधैश्च समाकुलम् ।
प्रियालतालखर्जूरहरीतकबिभीतकैः ॥ ५ ॥

बेर, बेलसे आवृत और बरगदके पेडोंसे युक्त, प्रियाल, ताड, खजूर, हरड, बहेडा आदि वृक्षोंसे भरा हुआ ॥ ५ ॥

नानाधातुशतैर्नद्धान्विविधानपि चाचलान् ।
निकुञ्जान्पक्षिसंघुष्टान्दरीश्चाद्भुतदर्शनाः ।
नदीः सरांसि वापीश्च विविधांश्च मृगद्विजान् ॥ ६ ॥

अनेक प्रकारकी धातुओंसे चित्रित विविध पर्वत, अति सघन कुञ्ज, अद्भुत दीखनेवाली गुफायें, नदी, तडाग, अनेक प्रकारकी बावडियां, तरह तरहके पक्षी और हरिणोंसे युक्त था ॥ ६ ॥

सा बहून्भीमरूपांश्च पिशाचोरगराक्षसान् ।
पल्वलानि तडागानि गिरिकूटानि सर्वशः ।
सरितः सागरांश्चैव ददर्शाद्भुतदर्शनान् ॥ ७ ॥

ऐसे वनों तथा घोर रूपवाले अनेक पिशाच, सर्प और राक्षसोंको और थोडे जलवाली पोखरों तथा बहुत जलवाले तालाबों, पर्वतोंके समूह, अद्भुत दर्शनवाले झरने और नदियोंको दमयन्तीने देखा ॥ ७ ॥

यूथशो ददृशे चात्र विदर्भाधिपनन्दिनी ।
महिषान्वराहान्गोमायूनृक्षवानरपन्नगान् ॥ ८ ॥

इस वनमें विदर्भराजनन्दिनीने भैंसे, सुअर, रीछ, वानर और सर्पोंके झुण्डके झुण्ड देखे ॥ ८ ॥

तेजसा यशसा स्थित्या श्रिया च परया युता ।
वैदर्भी विचरत्येका नलमन्वेषती तदा ॥ ९ ॥

तेज, यश और सौन्दर्य और परम धैर्यसे युक्त दमयन्ती इस प्रकार नलको खोजती हुई वनमें अकेली घूमने लगी ॥ ९ ॥

नाबिभ्यत्सा नृपसुता भैमी तत्राथ कस्यचित् ।
दारुणामटवीं प्राप्य भर्तृव्यसनकर्शिता ॥ १० ॥

पतिके शोकसे पीडित विदर्भ-राजपुत्री भीमनन्दिनी दमयंती इसप्रकार घोरवनमें घूमती हुई भी किसीसे नहीं डरी ॥ १० ॥

विदर्भतनया राजन्विललाप सुदुःखिता ।
भर्तृशोकपरीताङ्गी शिलातलसमाश्रिता ॥ ११ ॥

हे राजन् युधिष्ठिर ! एक दिन शोकसे अत्यन्त व्याकुल शरीरवाली वह विदर्भ-राजपुत्री एक शिलाके ऊपर बैठकर इस प्रकार विलाप करने लगी ॥ ११ ॥

दमयन्त्युवाच

सिंहोरस्क महाबाहो निषधानां जनाधिप ।
क नु राजन्गतोऽसीह त्यक्त्वा मां निर्जने वने ॥ १२ ॥

दमयन्ती बोली— हे निषधोंके राज ! सिंहके समान ऊंचे कन्धेवाले महाबाहो राजन् ! आप मुझको इस निर्जन वनमें अकेली छोडकर कहां चले गये ? ॥ १२ ॥

अश्वमेधादिभिर्वीर क्रतुभिः स्वाप्तदक्षिणैः।
कथमिष्ट्वा नरव्याघ्र मयि मिथ्या प्रवर्तसे ॥ १३ ॥

हे नरव्याघ्र वीर ! आप भारी दक्षिणावाले अश्वमेधादि यज्ञ करके मुझसे यह अनुचित और मिथ्या व्यवहार क्यों कर रहे हैं ? ॥ १३ ॥

यत्त्वयोक्तं नरव्याघ्र मत्समक्षं महाद्युते।
कर्तुमर्हसि कल्याण तदृतं पार्थिवर्षभ ॥ १४ ॥

हे नरव्याघ्र ! सबका कल्याण करनेवाले राजाओंमें तथा मनुष्योंमें श्रेष्ठ महातेजस्वी नल ! आपने जो मेरे सामने कहा था, उस वचनको आप पूरा कीजिये ॥ १४ ॥

यथोक्तं विहगैर्हंसैः समीपे तव भूमिप।
मत्सकाशे च तैरुक्तं तदवेक्षितुमर्हसि ॥ १५ ॥

हे पृथ्वीनाथ ! जो कुछ हंस पक्षियोंने आपसे कहा था और उन्होंने मेरे सामने जो कुछ कहा था, उसका स्मरण कीजिये ॥ १५ ॥

चत्वार एकतो वेदाः साङ्गोपाङ्गाः सविस्तराः।
स्वधीता मानवश्रेष्ठ सत्यमेकं किलैकतः ॥ १६ ॥

हे मनुष्योंमें श्रेष्ठ ! यह निश्चय है कि अङ्ग और उपाङ्ग तथा विस्तारके सहित चारों वेदोंको पढनेका फल एक ओर और अकेला सत्य एक ओर होता है ॥ १६ ॥

तस्मादर्हसि शत्रुघ्न सत्यं कर्तुं नरेश्वर।
उक्तवानसि यद्वीर मत्सकाशे पुरा वचः ॥ १७ ॥

हे शत्रुनाशन ! हे नरनाथ ! हे वीर ! इसलिये आपने मेरे सामने जो वचन पहले कहे थे उन वचनोंको अब सत्य कीजिये ॥ १७ ॥

हा वीर ननु नामाहमिष्टा किल तवानघ।
अस्यामटव्यां घोरायां किं मां न प्रतिभाषसे ॥ १८ ॥

हा वीर नल ! मैं आपकी अत्यन्त प्रिय थी; फिर, हे पापरहित ! इस घोरवनमें आकर आप मुझसे क्यों नहीं बोलते ? ॥ १८ ॥

भर्त्सयत्येष मां रौद्रो व्यात्तास्यो दारुणाकृतिः।
अरण्यराट् क्षुधाविष्टः किं मां न त्रातुमर्हसि ॥ १९ ॥

भूखसे व्याकुल भयानक शरीरवाला घोर राजा वनोंका सिंह मुंह फाडे हुए मुझे डरा रहा है, आप क्यों नहीं मेरी रक्षा करते ? ॥ १९ ॥

न मे त्वदन्या सुभगे प्रिया इत्यब्रवीस्तदा।
तामृतां कुरु कल्याण पुरोक्तां भारतीं नृप ॥ २० ॥

हे कल्याणकारी महाराज ! आप पहले मुझसे कहा करते थे; कि, हे उत्तमभाग्यवाली ! तेरे सिवा मेरी प्रिय और कोई नहीं है। अब उन पहले कहे वचनोंको सत्य कीजिये ॥ २० ॥

उन्मत्तां विलपन्तीं मां भार्यामिष्टां नराधिप।
ईप्सितामीप्सितो नाथ किं मां न प्रतिभाषसे ॥ २१ ॥

हे नरनाथ ! मैं आपकी प्यारी स्त्री इस घोर वनमें उन्मत्तके समान रोती फिरती हूं। आप सदा ही मुझको चाहते थे, अब मैं आपको देखना चाहती हूं तो अब मुझसे आप क्यों नहीं बोलते ? ॥ २१ ॥

कृशां दीनां विवर्णां च मलिनां वसुधाधिप।
वस्त्रार्धप्रावृतामेकां विलपन्तीमनाथवत् ॥ २२ ॥

हे पृथ्वीनाथ ! आज आधे वस्त्रको पहने हुई, रोती हुई, दुर्बल, दीन, पीले वर्णवाली, मलिन अनाथके समान अकेली वनमें घूमती हुई और विलाप करती हुई मुझसे क्यों नहीं बोलते ? ॥ २२ ॥

यूथभ्रष्टामिवैकां मां हरिणीं पृथुलोचन।
न मानयसि मानार्ह रुदतीमरिकर्शन ॥ २३ ॥

हे मानके योग्य शत्रुओंके नाशक तथा बडी बडी आंखोंवाले राजन् ! झुण्डसे भटककर अलग हुई हुई हिरणीके समान रोती हुई मेरी सहायता आप क्यों नहीं करते ? ॥ २३ ॥

महाराज महारण्ये मामिहैकाकिनीं सतीम्।
आभाषमाणां स्वां पत्नीं किं मां न प्रतिभाषसे ॥ २४ ॥

महाराज ! इस महावनमें अकेली आपको पुकारती हुई अपनी पतिव्रता पत्नी मुझे आप उत्तर क्यों नहीं देते ? ॥ २४ ॥

कुलशीलोपसंपन्नं चारुसर्वाङ्गशोभनम्।
नाद्य त्वामनुपश्यामि गिरावस्मिन्नरोत्तम।
वने चास्मिन्महाघोरे सिंहव्याघ्रनिषेविते ॥ २५ ॥

हे नरोत्तम ! उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए शीलयुक्त उत्तम अंगोंवाले आपको आज मैं इस पर्वतमें अथवा सिंह और व्याघ्रोंसे भरे हुए इस भयंकर वनमें नहीं देखती ॥ २५ ॥

शयानमुपविष्टं वा स्थितं वा निषधाधिप।
प्रस्थितं वा नरश्रेष्ठ मम शोकविवर्धन ॥ २६ ॥
कं नु पृच्छामि दुःखार्ता त्वदर्थे शोककर्शिता।
कच्चिद्दृष्टस्त्वयारण्ये संगत्येह नलो नृपः ॥ २७ ॥

हे मेरे शोकको बढानेवाले नरश्रेष्ठ निषधराज नल ! आप कहां सोये हुए हैं ? कहां बैठे हुए हैं ? कहां खडे हुए हैं ? अथवा कहीं चले गए हैं ? यह बात दुःखसे अत्यन्त व्याकुल तथा आपके लिए शोकसे कृश हुई हुई मैं किससे पूछूं और यह भी किससे पूछूं कि तुमने नलसे मिलकर उन्हें कहीं देखा क्या ॥ २६-२७ ॥

को नु मे कथयेदद्य वनेऽस्मिन्विष्ठितं नलम्।
अभिरूपं महात्मानं परव्यूहविनाशनम् ॥ २८ ॥

और कौन मुझसे कहेगा कि ' हां मैंने इस वनमें कहीं सुन्दर रूपवाले, महात्मा, शत्रुओंके व्यूहोंके नाशक उस नलको वहां बैठे हुए देखा है ॥ २८ ॥

यमन्वेषसि राजानं नलं पद्मनिभेक्षणम्।
अयं स इति कस्याद्य श्रोष्यामि मधुरां गिरम् ॥ २९ ॥

हे दमयन्ती ! कमलके समान आंखोंवाले जिस नलको तुम ढूंढ रही हो वह नल ये ही हैं ' ऐसी मधुरवाणी मैं आज किससे सुनूंगी ॥ २९ ॥

अरण्यराडयं श्रीमांश्चतुर्दंष्ट्रो महाहनुः।
शार्दूलोऽभिमुखः प्रैति पृच्छाम्येनमशंकिता ॥ ३० ॥

यह चार दाढोंवाला तथा महान् ठोडीवाला ऐश्वर्यवान् वनका राजा सिंह मेरे सामने ही चला आता है, मैं शंकारहित होकर इसीसे पूछूंगी ॥ ३० ॥

भवान्मृगाणामधिपस्त्वमस्मिन्कानने प्रभुः।
विदर्भराजतनया दमयन्तीति विद्धि माम् ॥ ३१ ॥

हे मृगोंके राजा ! हे सिंह ! तुम इस वनके प्रभु और मृगोंके राजा हो, तुम मुझे विदर्भ-देशके राजाकी पुत्री दमयन्ती समझो ॥ ३१ ॥

निषधाधिपतेर्भार्यां नलस्यामित्रघातिनः।
पतिमन्वेषतीमेकां कृपणां शोककर्शिताम्।
आश्वासय मृगेन्द्रेह यदि दृष्टस्त्वया नलः ॥ ३२ ॥

मैं शत्रुओंके नाश करनेवाले तथा निषध देशके राजा महाराज नलकी स्त्री दमयन्ती हूं। हे सिंह ! पतिको ढूंढनेवाली अकेली शोकसे पीडित मेरे समीप आकर मुझे सांत्वना दो कि क्या तुमने कहीं नलको देखा है ? ॥ ३२ ॥

अथ वारण्यनृपते नलं यदि न शंससि।
आमदस्व मृगश्रेष्ठ विशोकां कुरु दुःखिताम् ॥ ३३ ॥

अथवा, हे वनराज! यदि तुम नलका समाचार मुझे न दे सको; तो, हे मृगश्रेष्ठ! मुझको ही खा जाओ और मुझ दुःखिताको शोकसे रहित करो ॥ ३३ ॥

श्रुत्वारण्ये विलपितं ममैष मृगराट् स्वयम्।
यात्येतां मृष्टसलिलामापगां सागरंगमाम् ॥ ३४ ॥

इस वनमें मुझको रोती हुई सुनकर भी यह मृगराज सिंह इस समुद्रमें जानेवाली, मीठे जल से भरी हुई नदीकी ओर जा रहा है अर्थात् वह भी मेरी उपेक्षा कर रहा है ॥ ३४ ॥

इमं शिलोच्चयं पुण्यं शृङ्गैर्बहुभिरुच्छ्रितैः।
विराजद्भिर्दिवस्पृग्भिर्नैकवर्णैर्मनोरमैः ॥ ३५ ॥

अथवा बहुत ऊंची होनेके कारण आकाशको भी छूनेवाली अनेक चोटियोंसे शोभायमान अनेक वर्णोंसे युक्त होनेके कारण अत्यन्त मनोरम इस पवित्र पर्वतसे ही पूछती हूँ ॥ ३५ ॥

नानाधातुसमाकीर्णं विविधोपलभूषितम्।
अस्यारण्यस्य महतः केतुभूतमिवोच्छ्रितम् ॥ ३६ ॥

अनेक धातुओंसे भरा हुआ तथा अनेक तरहके पत्थरोंसे विभूषित यह पर्वत ऐसा जान पडता है, मानों यह इस महान् वनकी उडती हुई ध्वजा है ॥ ३६ ॥

सिंहशार्दूलमातंगवराहर्क्षमृगायुतम्।
पतत्रिभिर्बहुविधैः समन्तादनुनादितम् ॥ ३७ ॥

यह वन सिंह, शार्दूल, हाथी, सूअर, रीछ, सहस्रों हरिणोंसे युक्त तथा अनेक प्रकारके अनेक पक्षियोंके शब्द गुंजित है ॥ ३७ ॥

किंशुकाशोकबकुलपुंनागैरुपशोभितम्।
सरिद्भिः सविहङ्गाभिः शिखरैश्चोपशोभितम्।
गिरिराजमिमं तावत्पृच्छामि नृपतिं प्रति ॥ ३८ ॥

कचनार, अशोक, बकुल, पुन्नाग, आदि वृक्षोंसे शोभित, पक्षियोंके सहित नदियों और शिखरोंसे शोभित इस पर्वतराजहीसे मैं राजाका समाचार पूछती हूं ॥ ३८ ॥

भगवन्नचलश्रेष्ठ दिव्यदर्शन विश्रुत।
शरण्य बहुकल्याण नमस्तेऽस्तु महीधर ॥ ३९ ॥

हे भगवन् दिव्यदर्शनवाले प्रसिद्ध शरण देनेवाले कल्याणरूप पर्वतश्रेष्ठ! आपको नमस्कार है ॥ ३९ ॥

प्रणम्य त्वाभिगम्याहं राजपुत्रीं निबोध माम् ।
राज्ञः स्नुषां राजभार्यां दमयन्तीति विश्रुताम् ॥ ४० ॥
आप मुझको राजपुत्री, राजाकी बहू और राजाकी स्त्री प्रख्यात दमयन्ती जानिये, मैं आपके पास आकर प्रणाम करती हूँ ॥ ४० ॥

राजा विदर्भाधिपतिः पिता मम महारथः ।
भीमो नाम क्षितिपतिश्चातुर्वर्ण्यस्य रक्षिता ॥ ४१ ॥
चारों वर्णधर्मोंकी रक्षा करनेवाले महारथी विदर्भ देशके राजा भीम नामक राजा मेरे पिता हैं ॥ ४१ ॥

राजसूयाश्वमेधानां क्रतूनां दक्षिणावताम् ।
आहर्ता पार्थिवश्रेष्ठः पृथुचार्वञ्चितेक्षणः ॥ ४२ ॥
दक्षिणावाली अश्वमेध और राजसूय यज्ञोंके करनेवाले, शत्रुओंकी लक्ष्मीको छीननेवाले, राजाओंमें श्रेष्ठ भारी शरीर और सुन्दर नेत्रवाले ॥ ४२ ॥

ब्रह्मण्यः साधुवृत्तश्च सत्यवागनसूयकः ।
शीलवान्सुसमाचारः पृथुश्रीर्धर्मविच्छुचिः ॥ ४३ ॥
ब्राह्मणोंके भक्त, उत्तम चरित्रवाले, सत्यवादी, सबका प्रिय-चाहनेवाले, शीलवान्, उत्तम आचारवाले, महालक्ष्मीवान्, धर्मज्ञ, पवित्र ॥ ४३ ॥

सम्यग्गोप्ता विदर्भाणां निर्जितारिगणः प्रभुः ।
तस्य मां विद्धि तनयां भगवंस्त्वामुपस्थिताम् ॥ ४४ ॥
उत्तम प्रकारसे विदर्भ देशके रक्षक तथा सारे शत्रुओंको जीतनेवाले सामर्थ्यशाली जो राजा भीम हैं, हे भगवन् ! आपके पास उपस्थित मुझको उन्हींकी पुत्री जानिये ॥ ४४ ॥

निषधेषु महाशैल श्वशुरो मे नृपोत्तमः ।
सुगृहीतनामा विख्यातो वीरसेन इति स्म ह ॥ ४५ ॥
महापर्वत राजाओंमें श्रेष्ठ निषध देशके महाराज अपने नामके सदृश गुणवाले राजा वीरसेन मेरे सुसर हैं ॥ ४५ ॥

तस्य राज्ञः सुतो वीरः श्रीमान्सत्यपराक्रमः ।
क्रमप्राप्तं पितुः स्वं यो राज्यं समनुशास्ति ह ॥ ४६ ॥
उन राजाके बेटे, वीर, श्रीमान्, सत्य-पराक्रमवाले जो क्रमसे प्राप्त अपने पिताके राज्यको पालते हैं ॥ ४६ ॥

नलो नामारिदमनः पुण्यश्लोक इति श्रुतः ।
ब्रह्मण्यो वेदविद्वाग्मी पुण्यकृत्सोमपोऽग्निचित् ॥ ४७ ॥
जो सब शत्रुओंके नाशक, उत्तम यशस्वी, ब्राह्मणोंके भक्त, वेदके जाननेवाले, पण्डित, धर्मकर्ता, सोम पीनेवाले, अग्निहोत्री हैं, वे नलके नामसे प्रसिद्ध हैं ॥ ४७ ॥

यष्टा दाता च योद्धा च सम्यक्चैव प्रशासिता ।
तस्य मामचलश्रेष्ठ विद्धि भार्यामिहागताम् ॥ ४८ ॥
वे यज्ञकर्ता, दाता, योद्धा, पृथ्वीके उत्तम शासनकर्ता हैं, हे पर्वतोंमें श्रेष्ठ पर्वतराज! आपके यहां आई हुई मुझको उनहीकी स्त्री जानिये ॥ ४८ ॥

त्यक्तश्रियं भर्तृहीनामनाथां व्यसनान्विताम् ।
अन्वेषमाणां भर्तारं तं वै नरवरोत्तमम् ॥ ४९ ॥
हे पर्वतसत्तम! लक्ष्मीसे भ्रष्ट और पतिसे पृथक् हुई, नाथरहित, दुःखसे व्याकुल मैं मनुष्योंमें श्रेष्ठ अपने पतिको ढूंढती हुई यहां आई हूं ॥ ४९ ॥

खमुल्लिखद्भिरेतैर्हि त्वया शृङ्गशतैर्नृप ।
कच्चिद्दृष्टोऽचलश्रेष्ठ वनेऽस्मिन्दारुणे नलः ॥ ५० ॥
हे पर्वतश्रेष्ठ! तुमने अपने इन आकाशको छूनेवाले ऊंचे ऊंचे सैंकडों शिखरोंसे इस घोर वनमें क्या कहीं राजा नलको देखा है? ॥ ५० ॥

गजेन्द्रविक्रमो धीमान्दीर्घबाहुरमर्षणः ।
विक्रान्तः सत्यवाग्धीरो भर्ता मम महायशाः ।
निषधानामधिपतिः कच्चिद्दृष्टस्त्वया नलः ॥ ५१ ॥
मेरे पति गजेन्द्रके समान पराक्रमी, बुद्धिमान्, विशालबाहु, क्षमावान्, पराक्रमी, सत्यशील, धैर्यवान्, यशस्वी निषधदेशके महाराज नलको कहीं तुमने देखा है? ॥ ५१ ॥

किं मां विलपतीमेकां पर्वतश्रेष्ठ दुःखिताम् ।
गिरा नाश्वासयस्यद्य स्वां सुतामिव दुःखिताम् ॥ ५२ ॥
हे पर्वतश्रेष्ठ! अपनी पुत्रीके समान दुःखसे व्याकुल हुई तथा अकेली विलाप करती हुई मुझको आप अपनी वाणीसे क्यों नहीं धीरज देते? ॥ ५२ ॥

वीर विक्रान्त धर्मज्ञ सत्यसन्ध महीपते ।
यद्यस्यस्मिन्वने राजन्दर्शयात्मानमात्मना ॥ ५३ ॥
हे वीर! हे तेजस्वी हे धर्मज्ञ! हे सत्यशील पृथ्वीनाथ! यदि आप कहीं इस वनमें छिपे हों तो स्वयं आकर मुझे अपना दर्शन दीजिए ॥ ५३ ॥

कदा नु स्निग्धगम्भीरां जीमूतस्वनसंनिभाम्।
श्रोष्यामि नैषधस्याहं वाचं तामसृतोपमाम् ॥ ५४ ॥

मैं नलकी चिकनी, बादलकी गरजके समान गंभीर, अमृतके समान मीठी वाणी कब सुनूंगी ? ॥ ५४ ॥

वैदर्भीत्येव कथितां शुभां राज्ञो महात्मनः।
आम्नायसारिणीमृद्धां मम शोकनिबर्हिणीम् ॥ ५५ ॥

मैं महात्मा राजा नलकी शुभ, वेदोंके अनुसार चलनेवाली, सत्ययुक्त, मेरे शोकका नाश करनेवाली 'दमयन्ती' कहकर पुकारनेवाली वाणी कब सुनूंगी ? ॥ ५५ ॥

इति सा तं गिरिश्रेष्ठमुक्त्वा पार्थिवनन्दिनी।
दमयन्ती ततो भूयो जगाम दिशमुत्तराम् ॥ ५६ ॥

हे महाराज युधिष्ठिर ! वह राजपुत्री दमयन्ती उस पर्वतश्रेष्ठसे ऐसे वचन कहकर पुनः उत्तरकी ओर चली ॥ ५६ ॥

सा गत्वा त्रीनहोरात्रान्ददर्श परमाङ्गना।
तापसारण्यमतुलं दिव्यकाननदर्शनम् ॥ ५७ ॥

सुन्दरी निरन्तर तीन दिन और रात चलती ही रही, तब उसने सुन्दर वनसे शोभित अनेक ऋषियोंके आश्रमोंको देखा ॥ ५७ ॥

वसिष्ठभृग्वत्रिसमैस्तापसैरुपशोभितम्।
नियतैः संयताहारैर्दमशौचसमन्वितैः ॥ ५८ ॥

वह वन पवित्र, संयत होकर खानेवाले, इन्द्रियजित्, संयमी, वसिष्ठ, भृगु और अत्रि आदिके समान अनेक ऋषियोंसे सुशोभित था ॥ ५८ ॥

अब्भक्षैर्वायुभक्षैश्च पत्राहारैस्तथैव च।
जितेन्द्रियैर्महाभागैः स्वर्गमार्गदिदृक्षुभिः ॥ ५९ ॥

उसने उस आश्रमको जलभक्षी, वायुभक्षी, पत्रभक्षी, जितेन्द्रिय, महाभाग, स्वर्गमार्ग देखनेकी इच्छावाले ॥ ५९ ॥

वल्कलाजिनसंवीतैर्मुनिभिः संयतेन्द्रियैः।
तापसाध्युषितं रम्यं ददर्शाश्रममण्डलम् ॥ ६० ॥

वल्कल और मृगचर्मके वस्त्रवाले जितेन्द्रिय मुनियोंसे शोभित देखा। वह आश्रम तपस्वियोंके वास करनेके कारण अत्यन्त मनोहर था ॥ ६० ॥

सा दृष्ट्वैवाश्रमपदं नानामृगनिषेवितम्।
शाखामृगगणैश्चैव तापसैश्च समन्वितम् ॥ ६१ ॥

उस अनेक हरिणों युक्त तथा बन्दरों और तपस्वियों भरे हुए आश्रमको देखते ही ॥ ६१ ॥

सुभ्रूः सुकेशी सुश्रोणी सुकुचा सुद्विजानना ।
वर्चस्विनी सुप्रतिष्ठा स्वञ्चितोद्यतगामिनी ॥ ६२ ॥

अच्छी भृकुटीवाली, अच्छे बालोंवाली, सुन्दर नितम्बोंवाली, अच्छे कुच, अच्छे दांत और अच्छे मुखवाली, तेजस्विनी, उत्तम चरणोंवाली तथा उत्तम रोंगटेवाली सुन्दरी ॥ ६२ ॥

सा विवेशाश्रमपदं वीरसेनसुतप्रिया ।
योषिद्रत्नं महाभागा दमयन्ती मनस्विनी ॥ ६३ ॥

वीरसेनके पुत्रकी प्यारी, स्त्रियोंमें रत्न, मनस्विनी, महाभाग्यशालिनी दमयन्ती उस आश्रममें गई ॥ ६३ ॥

साभिवाद्य तपोवृद्धान्विनयावनता स्थिता ।
स्वागतं त इति प्रोक्ता तैः सर्वैस्तापसैश्च सा ॥ ६४ ॥

वह जाकर तपस्वी मुनियोंको प्रणामकर विनयसे मुंह नीचे करके खडी हो गई । तब सब तपस्वियोंने उससे 'तुम्हारा स्वागत हो' ऐसे कहा ॥ ६४ ॥

पूजां चास्या यथान्यायं कृत्वा तत्र तपोधनाः ।
आस्यतामित्यथोचुस्ते ब्रूहि किं करवामहे ॥ ६५ ॥

उसकी यथायोग्य पूजा करके सब मुनियोंने उससे 'बैठो' ऐसे कहकर फिर पूछा, कि हम तुम्हारा कौनसा कार्य करें ? ॥ ६५ ॥

तानुवाच वरारोहा कच्चिद्भगवतामिह ।
तपस्यग्निषु धर्मेषु मृगपक्षिषु चानघाः ।
कुशलं वो महाभागाः स्वधर्माचरणेषु च ॥ ६६ ॥

यह सुनकर उत्तम मुखवाली दमयन्ती बोली— हे तपस्वियो ! हे पाप रहितो ! कहिए, आपके मृग और पक्षी तो कुशलसे हैं ? आपलोगोंके अग्निहोत्र कर्म और अपने अपने धर्म कार्य तो कुशलसे होते हैं न ? ॥ ६६ ॥

तैरुक्ता कुशलं भद्रे सर्वत्रेति यशस्विनी ।
ब्रूहि सर्वानवद्याङ्गि का त्वं किं च चिकीर्षसि ॥ ६७ ॥

उन्होंने कहा— हे यशस्विनी ! हम सब तरहसे कुशलसे हैं । हे अनिन्दित अंगोंवाली सुन्दरि ! कहो तुम कौन हो ? और क्या करना चाहती हो ? ॥ ६७ ॥

दृष्ट्वैव ते परं रूपं द्युतिं च परमामिह ।
विस्मयो नः समुत्पन्नः समाश्वसिहि मा शुचः ॥ ६८ ॥

हम सब तुम्हारे रूप और तेजको देखकर परम आश्चर्यको प्राप्त हुए हैं, धैर्य धरो, घबराओ मत ॥ ६८ ॥

अस्यारण्यस्य महती देवता या महीभृतः ।
अस्या नु नद्याः कल्याणि वद सत्यमनिन्दिते ॥ ६९ ॥

हे अनिन्दिते ! हे कल्याणि ! क्या तुम इस वनकी अथवा इस पर्वतकी या इस नदीकी देवी हो ? या कौन हो ? सच सच बताओ ॥ ६९ ॥

साब्रवीत्तानृषीन्नाहमरण्यस्यास्य देवता ।
न चाप्यस्य गिरेर्विप्रा न नद्या देवताप्यहम् ॥ ७० ॥

वह ऋषियोंसे बोली– हे ब्राह्मणो ! मैं न इस वनकी देवता हूं न इस पर्वतकी देवता हूँ और न, ब्राह्मणो ! इस नदीकी ही देवी हूं ॥ ७० ॥

मानुषीं मां विजानीत यूयं सर्वे तपोधनाः ।
विस्तरेणाभिधास्यामि तन्मे शृणुत सर्वशः ॥ ७१ ॥

हे तपरूप धनवाले ऋषियो ! अतः आप सब मुझको मानुषी समझें; मैं अपने वृत्तान्तको विस्तारसे कहती हूं, आपलोग उसे पूरी तरह सुनिये ॥ ७१ ॥

विदर्भेषु महीपालो भीमो नाम महाद्युतिः ।
तस्य मां तनयां सर्वे जानीत द्विजसत्तमाः ॥ ७२ ॥

विदर्भ देशमें भीमनामक महातेजस्वी राजा हैं, हे ब्राह्मणश्रेष्ठो ! आप सब मुझे उन्हींकी पुत्री समझें ॥ ७२ ॥

निषधाधिपतिर्धीमान्नलो नाम महायशाः ।
वीरः संग्रामजिद्विद्वान्मम भर्ता विशां पतिः ॥ ७३ ॥

और जो नलके नामसे प्रसिद्ध अत्यन्त यशस्वी निषध देशके राजा हैं, वे प्रजाओंके स्वामी, वीर और संग्रामोंको जीतनेवाले नल ही मेरे पति हैं ॥ ७३ ॥

देवताभ्यर्चनपरो द्विजातिजनवत्सलः ।
गोप्ता निषधवंशस्य महाभागो महाद्युतिः ॥ ७४ ॥

देवोंकी पूजामें रत रहनेवाले, ब्राह्मणोंके प्यारे, निषधवंशके रक्षक, महातेजस्वी, महाद्युति ॥ ७४ ॥

सत्यवाग्धर्मवित्प्राज्ञः सत्यसंधोऽरिमर्दनः ।
ब्रह्मण्यो दैवतपरः श्रीमान्परपुरञ्जयः ॥ ७५ ॥

सत्यवादी, धर्मज्ञ, पण्डित, सत्यसन्ध, शत्रुनाशक, ब्राह्मणोंके भक्त, देवोंके भक्त, लक्ष्मीवान् शत्रुओंके नगरोंको जीतनेवाले ॥ ७५ ॥

नलो नाम नृपश्रेष्ठो देवराजसमद्युतिः।
मम भर्ता विशालाक्षः पूर्णेन्दुवदनोऽरिहा ॥ ७६ ॥
राजाओंमें श्रेष्ठ, इन्द्रके समान तेजस्वी, विशालनेत्र, पूर्णचन्द्रके समान आनन्ददायक मुखवाले शत्रुनाशक नल मेरे पति हैं ॥ ७६ ॥

आहर्ता क्रतुमुख्यानां वेदवेदाङ्गपारगः।
सपत्नानां मृधे हन्ता रविसोमसमप्रभः ॥ ७७ ॥
वे नल महा यज्ञोंके कर्त्ता, वेद और वेदाङ्गोंके पारगामी, युद्धमें शत्रुओंको नष्ट करनेवाले सूर्य और चन्द्रमाके समान तेजस्वी हैं ॥ ७७ ॥

स कैश्चिन्निकृतिप्रज्ञैरकल्याणैर्नराधमैः।
आहूय पृथिवीपालः सत्यधर्मपरायणः।
देवने कुशलैर्जिह्मैर्जितो राज्यं वसूनि च ॥ ७८ ॥
उन सत्यशील और धर्मपरायण महाराजको किसी छली, अकल्याणकारी, नराधमों और जुआ खेलनेमें निपुण कुटिल मनुष्योंने बुलाकर उनका राज्य और सब धन जुएमें जीत लिया ॥ ७८ ॥

तस्य मामवगच्छध्वं भार्यां राजर्षभस्य वै।
दमयन्तीति विख्यातां भर्तृदर्शनलालसाम् ॥ ७९ ॥
आप अपने पतिके दर्शनोंकी इच्छा करनेवाली तथा दमयन्तीके नामसे विख्यात मुझे उसी राजश्रेष्ठ नलकी पत्नी समझें ॥ ७९ ॥

सा वनानि गिरींश्चैव सरांसि सरितस्तथा।
पल्वलानि च रम्याणि तथारण्यानि सर्वशः ॥ ८० ॥
अन्वेषमाणा भर्तारं नलं रणविशारदम्।
महात्मानं कृतास्त्रं च विचरामीह दुःखिता ॥ ८१ ॥
वह मैं पर्वत, तडाग, नदी पल्वल और सब वनोंमें सब प्रकारसे युद्ध करनेमें निपुण महात्मा, शस्त्र जाननेवाले अपने पति नलको ढूंढती हुए दुःखसे व्याकुल होकर इस वनमें घूम रही हूँ ॥ ८०-८१ ॥

कच्चिद्भगवतां पुण्यं तपोवनमिदं नृपः।
भवेत्प्राप्तो नलो नाम निषधानां जनाधिपः ॥ ८२ ॥
कहिये, आपके इस रम्य तपोवनमें नल नामके निषध देशकी प्रजाओंके राजा तो नहीं आए ॥ ८२ ॥

यत्कृतेऽहमिदं विप्राः प्रपन्ना भृशदारुणम्।
वनं प्रतिभयं घोरं शार्दूलमृगसेवितम् ॥ ८३ ॥

हे ब्राह्मणो! जिनके निमित्त मैं घोर आपत्तिमें पडकर सिंह और शार्दूलोंसे भरे हुए इस भयंकर, भयभीत करनेवाले तथा अत्यन्त घने वनमें घूम रही हूं ॥ ८३ ॥

यदि कैश्चिदहोरात्रैर्न द्रक्ष्यामि नलं नृपम्।
आत्मानं श्रेयसा योक्ष्ये देहस्यास्य विमोचनात् ॥ ८४ ॥

हे ब्राह्मणो! यदि मैं और कुछ दिन राततक राजा नलको न देखूंगी तो अपने शरीरको छोडकर मैं स्वयंको परम कल्याणसे संयुक्त करूंगी ॥ ८४ ॥

को नु मे जीवितेनार्थस्तमृते पुरुषर्षभम्।
कथं भविष्याम्यद्याहं भर्तृशोकाभिपीडिता ॥ ८५ ॥

उस पुरुषसिंहके विना मेरे जीनेका क्या प्रयोजन है? अपने पतिके शोकसे पीडित मैं आज किस तरह जीवित रहूंगी? ॥ ८५ ॥

एवं विलपतीमेकामरण्ये भीमनन्दिनीम्।
दमयन्तीमथोचुस्ते तापसाः सत्यवादिनः ॥ ८६ ॥

तब भीमपुत्री दमयन्तीको वनमें इस प्रकार रोती हुई अकेली देखकर वे सत्यवाणी बोलनेवाले तपस्वी ऐसा कहने लगे ॥ ८६ ॥

उदर्कस्तव कल्याणि कल्याणो भविता शुभे।
वयं पश्याम तपसा क्षिप्रं द्रक्ष्यसि नैषधम् ॥ ८७ ॥

हे कल्याणि! हे शुभे! अब तुम्हारा सूर्य उदय होनेवाला है, तुम्हारा कल्याण होनेवाला है, हम तपसे देख रहे हैं, कि तुम नैषधको शीघ्र ही देखोगी ॥ ८७ ॥

निषधानामधिपतिं नलं रिपुनिघातिनम्।
भैमि धर्मभृतां श्रेष्ठं द्रक्ष्यसे विगतज्वरम् ॥ ८८ ॥

हे भीमपुत्री दमयन्ती! तुम निषध देशके अधिपति शत्रुनाशी धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ, सुखी राजा नलको शीघ्र ही देखोगी ॥ ८८ ॥

विमुक्तं सर्वपापेभ्यः सर्वरत्नसमन्वितम्।
तदेव नगरश्रेष्ठं प्रशासन्तमरिन्दमम् ॥ ८९ ॥

सब पापोंसे छूटे हुए, सब रत्नोंसे युक्त उसी निषध नगरपर शासन करते हुए शत्रुओंके विनाशक नलको देखोगी ॥ ८९ ॥

द्विषतां भयकर्तारं सुहृदां शोकनाशनम् ।
पतिं द्रक्ष्यसि कल्याणि कल्याणाभिजनं नृपम् ॥ ९० ॥

शत्रुओंको भय देनेवाले, मित्रोंके शोकनाशक, कल्याणसे भरे हुए, अपने पति राजा नलको हे कल्याणि ! तुम देखोगी ॥ ९० ॥

एवमुक्त्वा नलस्येष्टां महिषीं पार्थिवात्मजाम् ।
अन्तर्हितास्तापसास्ते साग्निहोत्राश्रमास्तदा ॥ ९१ ॥

नलकी प्रिय रानी राजपुत्री दमयन्तीसे ऐसा कहकर वे तपस्वी अपने आश्रम और अग्नि-शालाके सहित अन्तर्धान हो गये ॥ ९१ ॥

सा दृष्ट्वा महदाश्चर्यं विस्मिता अभवत्तदा ।
दमयन्त्यनवद्याङ्गी वीरसेननृपस्नुषा ॥ ९२ ॥

तब राजा वीरसेनकी पुत्रवधू अनिन्दित अंगोंवाली, वह दमयन्ती इस आश्चर्यको देखकरके बहुत आश्चर्यमें पड गई (और सोचने लगी) ॥ ९२ ॥

किं नु स्वप्नो मया दृष्टः कोऽयं विधिरिहाभवत् ।
क्व नु ते तापसाः सर्वे क्व तदाश्रममण्डलम् ॥ ९३ ॥

कि क्या मैंने यह स्वप्न देखा था ? यह क्या आश्चर्य हुआ ? वह मुनि कहां गए और उनका आश्रम कहां गया ? ॥ ९३ ॥

क्व सा पुण्यजला रम्या नानाद्विजनिषेविता ।
नदी ते च नगा हृद्याः फलपुष्पोपशोभिताः ॥ ९४ ॥

वह नाना पक्षियोंसे शोभित मनोहर जलवाली नदी कहां गई ? और वे उत्तम फूलोंसे भरे हुए, हृदयको आनन्द देनेवाले पर्वत कहां गायब हो गये ? ॥ ९४ ॥

ध्यात्वा चिरं भीमसुता दमयन्ती शुचिस्मिता ।
भर्तृशोकपरा दीना विवर्णवदनाभवत् ॥ ९५ ॥

पवित्र मुस्कराहटोंवाली भीमराजकी पुत्री दमयन्ती कुछ समयतक ऐसा विचार करके अपने पतिके शोकसे व्याकुल होकर दीन और विवर्ण मुखवाली हो गई ॥ ९५ ॥

सा गत्वाथापरां भूमिं बाष्पसंदिग्धया गिरा ।
विललापाश्रुपूर्णाक्षी दृष्ट्वाशोकतरुं ततः ॥ ९६ ॥

आंसुओंसे भरे हुए आंखोंवाली उस दमयन्तीने वहांसे दूसरे स्थानपर जाकर एक अशोक वृक्षको देखा और उसे देखकर वह आंसुओंसे गद्गद वाणीसे विलाप करने लगी ॥ ९६ ॥

उपगम्य तरुश्रेष्ठमशोकं पुष्पितं तदा ।
पल्लवापीडितं हृद्यं विहंगैरनुनादितम् ॥ ९७ ॥

तब फूलोंसे विकसित, पत्तोंसे सम्पन्न एवं चिडियोंकी चहचहाहटसे युक्त होनेके कारण अत्यन्त हृदयाल्हादक उस वृक्षश्रेष्ठ अशोकके पास जाकर आंसुओंके कारण गद्गद वाणीसे वह विलाप करने लगी ॥ ९७ ॥

अहो बतायमगमः श्रीमानस्मिन्वनान्तरे ।
आपीडैर्बहुभिर्भाति श्रीमान्द्रमिडराडिव ॥ ९८ ॥

अहा ! इस वनमें यह वृक्ष शोभासे भरा हुआ, फल और पुष्पोंसे पूर्ण, पर्वतके समान शोभित है ॥ ९८ ॥

विशोकां कुरु मां क्षिप्रमशोक प्रियदर्शन ।
वीतशोकभयाबाधं कच्चित्त्वं दृष्टवान्नृपम् ॥ ९९ ॥

हे अशोक ! हे प्रियदर्शन ! मुझको शीघ्र शोकरहित करो । तुमने शोक और भयसे रहित राजा नलको कहीं देखा है ? ॥ ९९ ॥

नलं नामारिदमनं दमयन्त्याः प्रियं पतिम् ।
निषधानामधिपतिं दृष्टवानसि मे प्रियम् ॥ १०० ॥

नल नामसे प्रसिद्ध वे शत्रुओंका नाश करनेवाले और दमयन्तीके प्रिय पति हैं, उन निषध देशके राजा मेरे प्यारेको तुमने कहीं देखा है ? ॥ १०० ॥

एकवस्त्रार्धसंवीतं सुकुमारतनुत्वचम् ।
व्यसनेनार्दितं वीरमरण्यमिदमागतम् ॥ १०१ ॥

वह आधे वस्त्रसे अपने शरीरको ढके हुए, कोमल त्वचासे युक्त शरीरवाले तथा दुःखसे पीडित वीर नल इसी वनमें आये थे ॥ १०१ ॥

यथा विशोका गच्छेयमशोकनग तत्कुरु ।
सत्यनामा भवाशोक मम शोकविनाशनात् ॥ १०२ ॥

हे अशोकवृक्ष ! जैसे मैं शोकरहित हो जाऊं वैसा ही यत्न करो । तुम्हारा नाम अशोक है । मेरे शोकका नाश करके अपने नामको सार्थक करो ॥ १०२ ॥

एवं साशोकवृक्षं तमार्ता त्रिः परिगम्य ह ।
जगाम दारुणतरं देशं भैमी वराङ्गना ॥ १०३ ॥

वह उत्तम स्त्री भीमपुत्री दमयन्ती दुःखी होकर उस वृक्षकी तीन बार परिक्रमा करके उससे भी ज्यादा भयंकर स्थानमें जा पहुंची ॥ १०३ ॥

सा ददर्श नगान्नैकान्नैकाश्च सरितस्तथा।
नैकांश्च पर्वतान्रम्यान्नैकांश्च मृगपक्षिणः ॥ १०४ ॥

उसने उस वनमें जाकर अनेक सुन्दर पर्वत, अनेक वृक्ष, नदी तथा मृग और अनेक पक्षि-ओंको देखा ॥ १०४ ॥

कन्दरांश्च नितम्बांश्च नदांश्चाद्भुतदर्शनान्।
ददर्श सा भीमसुता पतिमन्वेषती तदा ॥ १०५ ॥

अपने पति नलको ढूंढती हुई दमयन्तीने गुफा, पर्वतके नीचेके स्थान और विचित्र नदियोंको देखा ॥ १०५ ॥

गत्वा प्रकृष्टमध्वानं दमयन्ती शुचिस्मिता।
ददर्शाथ महासार्थं हस्त्यश्वरथसंकुलम् ॥ १०६ ॥

सुन्दर मुस्कराहटोंवाली उस दमयन्तीने कुछ और मार्ग आगे जाकर हाथी, घोडे और रथोंसे युक्त एक बडा भारी जनसमूह देखा ॥ १०६ ॥

उत्तरन्तं नदीं रम्यां प्रसन्नसलिलां शुभाम्।
सुशीततोयां विस्तीर्णां ह्रदिनीं वेतसैर्वृताम् ॥ १०७ ॥

शीतल जलवाली, सुन्दर, दोनों ओर बेंतवाली, उत्तम जलसे पूर्ण चौडी नदीको पार कर रहा था ॥ १०७ ॥

प्रोद्घुष्टां क्रौञ्चकुररैश्चक्रवाकोपकूजिताम्।
कूर्मग्राहझषाकीर्णां पुलिनद्वीपशोभिताम् ॥ १०८ ॥

वह नदी सारस, कुमरी, चकवोंके शब्दसे शोभित थी, तथा कछुआ, मगर, मछलियोंसे भरी हुई थी और बालुओंके टापुओंसे सुशोभित थी ॥ १०८ ॥

सा दृष्ट्वैव महासार्थं नलपत्नी यशस्विनी।
उपसर्प्य वरारोहा जनमध्यं विवेश ह ॥ १०९ ॥

नलकी स्त्री यशस्विनी सुन्दरी दमयन्ती उस जनसमूहको देख उसकी ओर जाकर उस समूहमें घुस गई ॥ १०९ ॥

उन्मत्तरूपा शोकार्ता तथा वस्त्रार्धसंवृता।
कृशा विवर्णा मलिना पांसुध्वस्तशिरोरुहा ॥ ११० ॥

जिस समय उन्मत्तके समान शोकसे व्याकुल, आधे वस्त्रको धारण किये, दुर्बल, विवर्ण मुख-वाली, मलिन और बिखरे तथा धूलोंसे भरी केशवाली वह दमयन्ती उस जनसमुदायके मध्यमें पहुंची ॥ ११० ॥

तां दृष्ट्वा तत्र मनुजाः केचिद्भीताः प्रदुद्रुवुः ।
केचिच्चिन्तापरास्तस्थुः केचित्तत्र विचुक्रुशुः ॥ १११ ॥

तो उसको देखकर कुछ पुरुष इधर उधर भयसे भागने लगे, कुछ चिन्ता करने लगे और कुछ चिल्लाने लगे ॥ १११ ॥

प्रहसन्ति स्म तां केचिदभ्यसूयन्त चापरे ।
चक्रुस्तस्यां दयां केचित्पप्रच्छुश्चापि भारत ॥ ११२

कुछ हंसने लगे, कोई उसकी निन्दा करने लगे । हे भारत युधिष्ठिर ! कुछ लोगोंने उसपर दया भी दिखाई और वे उसका समाचार पूछने लगे ॥ ११२ ॥

कासि कस्यासि कल्याणि किं वा मृगयसे वने ।
तां दृष्ट्वा व्यथिताः स्मेह कच्चित्त्वमसि मानुषी ॥ ११३

हे कल्याणि ! तुम कौन हो ? किसकी हो ? इस वनमें क्या ढूंढ रही हो ! हम तुमको देखकर भयसे व्याकुल हैं । क्या तुम मानुषी हो ? ॥ ११३ ॥

वद सत्यं वनस्यास्य पर्वतस्याथ वा दिशः ।
देवता त्वं हि कल्याणि त्वां वयं शरणं गताः ॥ ११४ ॥

हे कल्याणि ! हम तुम्हारी शरण हैं, तुम सत्य कहो, क्या तुम इस वन अथवा पर्वत अथवा दिशाओंकी देवी हो ? ॥ ११४ ॥

यक्षी वा राक्षसी वा त्वमुताहोऽसि वराङ्गना ।
सर्वथा कुरु नः स्वस्ति रक्षस्वास्माननिन्दिते ॥ ११५ ॥

हे अनिन्दिते सुन्दरी ! अथवा तुम यक्षी या राक्षसी अथवा देवी हो ? तुम हमारा सब तरहसे कल्याण करो, हमारी रक्षा करो ॥ ११५ ॥

यथायं सर्वथा सार्थः क्षेमी शीघ्रमितो व्रजेत् ।
तथा विधत्स्व कल्याणि त्वां वयं शरणं गताः ॥ ११६ ॥

हे कल्याणि ! तुम ऐसा काम करो ताकि यह कारवां हर तरहसे कुशल होकर यहांसे शीघ्र ही चला जाए । हम सब तुम्हारी शरणमें आये हैं ॥ ११६ ॥

तथोक्ता तेन सार्थेन दमयन्ती नृपात्मजा ।
प्रत्युवाच ततः साध्वी भर्तृव्यसनदुःखिता ।
सार्थवाहं च सार्थं च जना ये चात्र केचन ॥ ११७ ॥

ऐसे वचन सुनकर पतिशोकसे दुःखी साध्वी दमयन्ती उस समूहके पति एवं उस समूहके तथा और जो दूसरे जन वहां थे, उनसे बोली ॥ ११७ ॥

यूनः स्थविरबालाश्च सार्थस्य च पुरोगमाः ।
मानुषीं मां विजानीत मनुजाधिपतेः सुताम् ।
नृपस्नुषां राजभार्यां भर्तृदर्शनलालसाम् ॥ ११८ ॥

हे युवको, बूढो, बालको और समूहके नेताओ ! तुम सब मुझको एक मानुषी राजाकी पुत्री, राजाकी बहू और राजाकी स्त्री जानो । मैं अपने पतिका दर्शन करना चाहती हूं ॥११८॥

विदर्भराण्मम पिता भर्ता राजा च नैषधः ।
नलो नाम महाभागस्तं मार्गाम्यपराजितम् ॥ ११९ ॥

विदर्भ देशका राजा भीम मेरा पिता है और नल नामसे प्रसिद्ध निषध देशका महाभाग्य-शाली राजा मेरा पति है, मैं उसी अपराजित नलको ढूंढती फिरती हूं ॥ ११९ ॥

यदि जानीत नृपतिं क्षिप्रं शंसत मे प्रियम् ।
नलं पार्थिवशार्दूलममित्रगणसूदनम् ॥ १२० ॥

यदि तुमने राजाओंमें सिंह, शत्रुनाशक मेरे प्यारे राजा नलको कहीं देखा हो तो शीघ्र कहो ॥ १२० ॥

तामुवाचानवद्याङ्गीं सार्थस्य महतः प्रभुः ।
सार्थवाहः शुचिर्नाम शृणु कल्याणि मद्वचः ॥ १२१ ॥

उस सुन्दर अङ्गवालीके ऐसे वचन सुनकर उस महान् सार्थका शुचि नामक समूह पति उससे बोला— हे कल्याणि ! मेरी बात सुनो ॥ १२१ ॥

अहं सार्थस्य नेता वै सार्थवाहः शुचिस्मिते ।
मनुष्यं नलनामानं न पश्यामि यशस्विनि ॥ १२२ ॥

हे शुचिस्मिते ! मैं झुण्डका नेता सार्थवाह हूँ । हे यशस्विनि ! मैंने नल नामके किसी पुरुषको नहीं देखा ॥ १२२ ॥

कुञ्जरद्वीपिमहिषशार्दूलर्क्षमृगानपि ।
पश्याम्यस्मिन्वने कष्टे अमनुष्यनिषेविते ।
तथा नो यक्षराडद्य मणिभद्रः प्रसीदतु ॥ १२३ ॥

इस मनुष्यरहित वनमें हाथी, गैंडा, भैंसा; शार्दूल, रीछ और हरिनोंको तो सर्वत्र देखा, आज यक्षोंके राजा भगवान् मणिभद्र हमसे प्रसन्न हों ॥ १२३ ॥

साब्रवीद्वणिजः सर्वान्सार्थवाहं च तं ततः ।
क नु यास्यति सार्थोऽयमेतदाख्यातुमर्हथ ॥ १२४ ॥

तब उन बनियों और सार्थवाहोंसे दमयन्ती बोली— कि यह पुरुषोंका झुण्ड कहां जाता है, यह मुझसे कहो ॥ १२४ ॥

सार्थवाह उवाच

सार्थोऽयं चेदिराजस्य सुबाहोः सत्यवादिनः ।
क्षिप्रं जनपदं गन्ता लाभाय मनुजात्मजे ॥ १२५ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि एकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥ २२१७ ॥

सार्थवाह बोला– राजपुत्री ! यह बनियोंका झुण्ड लाभके निमित्त सत्यशील चेदी देशके राजा सुबाहुके राज्यको जा रहा है ॥ १२५ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें इकसठवां अध्याय समाप्त ॥ ६१ ॥ २२१७ ॥

६२

बृहदश्व उवाच

सा तच्छ्रुत्वानवद्याङ्गी सार्थवाहवचस्तदा ।
अगच्छत्तेन वै सार्धं भर्तृदर्शनलालसा ॥ १ ॥

बृहदश्व बोले– सुन्दर अङ्गवाली दमयन्ती सार्थवाहके उस वचनको सुनकर अपने पतिके दर्शनकी इच्छासे उसीके साथ आगे चली ॥ १ ॥

अथ काले बहुतिथे वने महति दारुणे ।
तडागं सर्वतोभद्रं पद्मसौगन्धिकं महत् ॥ २ ॥
ददृशुर्वणिजो रम्यं प्रभूतयवसेन्धनम् ।
बहुमूलफलोपेतं नानापक्षिगणैर्वृतम् ॥ ३ ॥

इसके बाद बहुत समय और बहुत दिनोंके बाद उस भयंकर महान् वनमें उन बनियोंने सुन्दर, अत्यधिक यव और ईन्धनवाले, बहुत कन्दमूल और फलोंसे युक्त, नाना तरहके पक्षिगणोंसे घिरा हुआ सब तरहसे कल्याणकारी "पद्म सौगन्धिक" नामक एक बडा भारी तालाब देखा ॥ २-३ ॥

तं दृष्ट्वा मृष्टसलिलं मनोहरसुखावहम् ।
सुपरिश्रान्तवाहास्ते निवेशाय मनो दधुः ॥ ४ ॥

ऐसे निर्मल, मीठे, मनोहारी और सुखदायक जलसे भरे तडागको देखकर वाहनोंके थक जानेके कारण उन्होंने वहीं ठहरनेकी इच्छा की ॥ ४ ॥

संमते सार्थवाहस्य विविशुर्वनमुत्तमम् ।
उवास सार्थः सुमहान्वेलामासाद्य पश्चिमाम् ॥ ५ ॥

तदनन्तर उन्होंने अपने सार्थवाहकी आज्ञा लेकर उसी उत्तम वनमें घुसे और उस महान् सार्थने तडागके किनारेपर जाकर पश्चिमकी ओर निवास किया ॥ ५ ॥

अथार्धरात्रसमये निःशब्दस्तिमिते तदा ।
सुप्ते सार्थे परिश्रान्ते हस्तियूथमुपागमत् ।
पानीयार्थं गिरिनदीं मदप्रस्रवणाविलाम् ॥ ६ ॥

तदनन्तर आधी रातके समय जब शब्द शान्त हो गया और वह थके हुए लोग सो गए, तब मदरूपी झरनोंसे व्याकुल पर्वतकी नदीमें जल पीनेकी इच्छासे एक हाथियोंका झुण्ड आया ॥ ६ ॥

मार्गं संरुध्य संसुप्तं पद्मिन्याः सार्थमुत्तमम् ।
सुप्तं ममर्द सहसा चेष्टमानं महीतले ॥ ७ ॥

तब वे हाथी तालाबकी ओर जानेवाले मार्गको रोककर सोये हुए और एकाएक हिलते हुए उस सार्थको कुचलने लगे ॥ ७ ॥

हाहारवं प्रमुञ्चन्तः सार्थिकाः शरणार्थिनः ।
वनगुल्मांश्च धावन्तो निद्रान्धा महतो भयात् ।
केचिद्दन्तैः करैः केचित्केचित्पद्भ्यां हता नराः ॥ ८ ॥

शरणकी इच्छा करते हुए सार्थके लोग महान् हाहाकार करने लगे । नींदसे अन्धे हुए लोग महाभयसे वनके कुञ्जोंकी ओर दौडने लगे, कोई हाथियोंके दांतसे, कोई सूंड और कोई पैरोंके नीचे आकर मरने लगे ॥ ८ ॥

गोखरोष्ट्राश्वबहुलं पदातिजनसंकुलम् ।
भयार्तं धावमानं तत्परस्परहतं तदा ॥ ९ ॥

अनेक ऊंट, घोडे और पुरुषोंसे भरे हुए उस झुण्डके पुरुष रात्रिमें इधर उधर दौडनेके कारण एक दूसरेको मारने लगे ॥ ९ ॥

घोरान्नादान्विमुञ्चन्तो निपेतुर्धरणीतले ।
वृक्षेष्वासज्य संभग्नाः पतिता विषमेषु च ।
तथा तन्निहतं सर्वं समृद्धं सार्थमण्डलम् ॥ १० ॥

वे लोग घोर शब्दोंको करते हुए पृथ्वीपर गिरने लगे । कोई वृक्षोंसे टकराकर मर गए तो कई गड्ढोंमें गिरकर मर गए । इस प्रकार वह समृद्धशाली सारा कारवां मार डाला गया ॥ १० ॥

अथापरेद्युः संप्राप्ते हतशिष्टा जनास्तदा ।
वनगुल्माद्विनिष्क्रम्य शोचन्तो वैशसं कृतम् ।
भ्रातरं पितरं पुत्रं सखायं च जनाधिप ॥ ११ ॥

हे राजन् ! इसके बाद जब दूसरा दिन हुआ तो उस दलमें जो मरनेसे बचे थे, वे उस भयानक हत्याकाण्डके बारेमें सोचते हुए उस वनसे निकलकर अपने भाई, पिता, पुत्र तथा मित्रोंके लिए शोक करने लगे ॥ ११ ॥

अशोचत्तत्र वैदर्भी किं नु मे दुष्कृतं कृतम् ।
सोऽपि मे निर्जनेऽरण्ये संप्राप्तोऽयं जनार्णवः ।
हतोऽयं हस्तियूथेन मन्दभाग्यान्ममैव तु ॥ १२ ॥

विदर्भराजपुत्री वहां शोक करने लगी कि, न जाने मैंने कौनसा पाप किया है। इस निर्जन वनमें एक आदमियोंका समूह मुझको मिला था, पर मेरे मन्दभाग्यके कारण उसको भी हाथियोंके झुण्डने मार डाला ॥ १२ ॥

प्राप्तव्यं सुचिरं दुःखं मया नूनमसंशयम् ।
नाप्राप्तकालो म्रियते श्रुतं वृद्धानुशासनम् ॥ १३ ॥

अवश्य अभी मुझको अभी और भी दुःख भोगना शेष है। मैंने बूढोंसे यह बात सुनी है, कि बिना समयके प्राप्त हुए कोई पुरुष नहीं मरता ॥ १३ ॥

यन्नाहमद्य मृदिता हस्तियूथेन दुःखिता ।
न ह्यदैवकृतं किंचिन्नराणामिह विद्यते ॥ १४ ॥

इन हाथियोंके द्वारा भी दुःखको भोगनेवाली मैं कुचली नहीं गई क्योंकि यहां मनुष्योंका ऐसा कोई कार्य नहीं है, जो भाग्य द्वारा न किया जाता हो ॥ १४ ॥

न च मे बालभावेऽपि किंचिद्व्यपकृतं कृतम् ।
कर्मणा मनसा वाचा यदिदं दुःखमागतम् ॥ १५ ॥

मैंने बाल्यावस्थामें भी मनसे और कर्मसे वाणीसे कोई पाप नहीं किया, कि जिसका फल यह दुःख मिला रहा है ॥ १५ ॥

मन्ये स्वयंवरकृते लोकपालाः समागताः ।
प्रत्याख्याता मया तत्र नलस्यार्थाय देवताः ।
नूनं तेषां प्रभावेन वियोगं प्राप्तवत्यहम् ॥ १६ ॥

मेरा विचार यह है कि स्वयंवरमें जो लोकपाल आये थे, मैंने नलके अर्थ उन देवोंका निरादर किया था, अवश्य उन्हीं देवोंके प्रभावसे मुझे यह वियोग प्राप्त हुआ है ॥ १६ ॥

एवमादीनि दुःखानि सा विलप्य वराङ्गना ।
हतशिष्टैः सह तदा ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ।
अगच्छद्राजशार्दूल दुःखशोकपरायणा ॥ १७ ॥

हे पुरुषसिंह ! इस प्रकार दुःखके वारेमें विलाप करती हुई दुःख और शोकसे भरी हुई वह सुन्दरी दमयन्ती मरनेसे बचे हुए वेद जाननेवाले ब्राह्मणोंके साथ आगे चली ॥ १७ ॥

गच्छन्ती सा चिरात्कालात्पुरमासादयन्महत् ।
सायाह्ने चेदिराजस्य सुबाहोः सत्यवादिनः ।
वस्त्रार्धकर्तसंवीता प्रविवेश पुरोत्तमम् ॥ १८ ॥

इसके बाद वह बाला दमयन्ती बहुत समयतक चलती चलती एक दिन सन्ध्यासमय चेदि देशके राजा सत्यदर्शी सुबाहुके महान् नगरके समीप पहुंची और आधा ही वस्त्र पहने हुए उस उत्तम नगरमें प्रविष्ट हो गई ॥ १८ ॥

तां विवर्णां कृशां दीनां मुक्तकेशीममार्जनाम् ।
उन्मत्तामिव गच्छन्तीं ददृशुः पुरवासिनः ॥ १९ ॥

उस विवर्ण, दुर्बल, दीन, खुले केशवाली और मलिन दमयन्तीको उन्मत्तके समान आते हुए सब नगरवासियोंने देखा ॥ १९ ॥

प्रविशन्तीं तु तां दृष्ट्वा चेदिराजपुरीं तदा ।
अनुजग्मुस्ततो बाला ग्रामिपुत्राः कुतूहलात् ॥ २० ॥

उस चेदीराजके नगरमें प्रवेश करती हुई उस दमयन्तीको देखकर खेलनेवाले नगरके लडके आश्चर्यसे उस दमयन्तीके पीछे पड गए ॥ २० ॥

सा तैः परिवृतागच्छत्समीपं राजवेश्मनः ।
तां प्रासादगतापश्यद्राजमाता जनैर्वृताम् ॥ २१ ॥

उनसे घिरी हुई वह दमयन्ती राजाके महलके समीप पहुंची । तब लडकोंसे घिरी हुई दमयन्तीको महलमें बैठी हुई राजमाताने देखा ॥ २१ ॥

सा जनं वारयित्वा तं प्रासादतलमुत्तमम् ।
आरोप्य विस्मिता राजन्दमयन्तीमपृच्छत ॥ २२ ॥

वह माता सब लडकोंको दूरकर दमयन्तीको उत्तम महलमें ले गई और आश्चर्यचकित होकर उस दमयन्तीसे राजमाताने पूछा ॥ २२ ॥

एवमप्यसुखाविष्टा बिभर्षि परमं वपुः ।
भासि विद्युदिवाभ्रेषु शंस मे कासि कस्य वा ॥ २३ ॥

कि, तुम इस आपत्तिमें पडकर भी ऐसी उत्तम शोभाको धारण करती हो, जैसे बादलोंमें बिजली चमकती है उसी प्रकार तुम भी चमक रही हो, हमसे कहो कि तुम कौन हो और किसकी हो ? ॥ २३ ॥

न हि ते मानुषं रूपं भूषणैरपि वर्जितम् ।
असहाया नरेभ्यश्च नोद्विजस्यमरप्रभे ॥ २४ ॥

भूषणोंसे रहित होनेपर भी तुम्हारा स्वरूप मानुषीके जैसा नहीं दीखता। हे देवीके समान कान्तिवाली! तुम्हारा कोई सहायक भी नहीं है फिर भी तुम पुरुषोंसे नहीं घबराती हो ॥२४॥

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्या भैमी वचनमब्रवीत् ।
मानुषीं मां विजानीहि भर्तारं समनुव्रताम् ॥ २५ ॥

राजमाताके ऐसे वचन सुनकर भीमकी पुत्री दमयन्ती यह वचन बोली— आप पतिके पीछे चलनेवाली मुझे मानुषी ही समझें ॥ २५ ॥

सैरन्ध्रीं जातिसंपन्नां भुजिष्यां कामवासिनीम् ।
फलमूलाशनामेकां यत्रसायंप्रतिश्रयाम् ॥ २६ ॥

मैं अन्तःपुरमें रहनेवाली, अपनी इच्छासे निवास करनेवाली, उत्तम कुलमें उत्पन्न सैरिन्ध्री हूं, केवल फल मूल खाकर जहां सन्ध्या हो वहीं रह जाती हूं ॥ २६ ॥

असंख्येयगुणो भर्ता मां च नित्यमनुव्रतः ।
भर्तारमपि तं वीरं छायेवानपगा सदा ॥ २७ ॥

मेरे पति असंख्य गुणोंसे भरे हुए और मेरे अनुकूल व्यवहार करनेवाले हैं, मैं भी उग्र वीरके पीछे सदा छायाके समान चलती हूं ॥ २७ ॥

तस्य दैवात्प्रसङ्गोऽभूदतिमात्रं स्म देवने ।
द्यूते स निर्जितश्चैव वनमेकोऽभ्युपेयिवान् ॥ २८ ॥

प्रारब्धसे वे जुआ खेलनेमें अत्यन्त आसक्त हो गए और वह जुएमें सब कुछ हार गये और अकेले वनको चल दिये ॥ २८ ॥

तमेकवसनं वीरमुन्मत्तमिव विह्वलम् ।
आश्वासयन्ती भर्तारमहमन्वगमं वनम् ॥ २९ ॥

मैं भी उन एक वस्त्र पहने हुए, व्याकुल और उन्मत्तके समान अपने वीर पतिको ढांढस देते हुए उनके पीछे चली ॥ २९ ॥

स कदाचिद्वने वीरः कस्मिंश्चित्कारणान्तरे ।
क्षुत्परीतः सुविमनास्तदप्येकं व्यसर्जयत् ॥ ३० ॥

एक दिन वह वीर वनमें भूखसे या और किसी कारणसे अत्यन्त व्याकुल हुए और उस एक वस्त्रको भी खो बैठे ॥ ३० ॥

तमेकवसनं नग्नमुन्मत्तं गतचेतसम् ।
अनुव्रजन्ती बहुला न स्वपामि निशाः सदा ॥ ३१ ॥

तदनन्तर मैं उस उन्मत्त, नङ्गे और चेतनारहित पतिके साथ ही एक वस्त्र धारण किये हुए वनमें घूमने लगी और कई राततक नहीं सोई ॥ ३१ ॥

ततो बहुतिथे काले सुप्तामुत्सृज्य मां क्वचित् ।
वाससोऽर्धं परिच्छिद्य त्यक्तवान्मामनागसम् ॥ ३२ ॥

बहुत दिनोंके बाद एक दिन मुझको सोती हुई छोडकर मेरा आधा कपडा फाडकर वह कहीं चले गये और मुझ निर्दोषीको छोड गए ॥ ३२ ॥

तं मार्गमाणा भर्तारं दह्यमाना दिनक्षपाः ।
न विन्दाम्यमरप्रख्यं प्रियं प्राणधनेश्वरम् ॥ ३३ ॥

अब मैं बियोगसे जलती हुई और दिनरात अपने पतिको ढूंढती हुई भी उन देवोंके समान रूपवाले अपने प्राणनाथको कहीं भी नहीं पाती ॥ ३३ ॥

तामश्रुपरिपूर्णाक्षीं विलपन्तीं तथा बहु ।
राजमाताब्रवीदार्तां भैमीमार्ततरा स्वयम् ॥ ३४ ॥

इस प्रकार आंसुओंसे भरी हुई आंखोंवाली बहुत विलाप करती हुई, अत्यन्त दुःखी उस दमयन्तीसे राजमाता स्वयं भी दुःखी होकर बोली ॥ ३४ ॥

वसस्व मयि कल्याणि प्रीतिर्मे त्वयि वर्तते ।
मृगयिष्यन्ति ते भद्रे भर्तारं पुरुषा मम ॥ ३५ ॥

हे कल्याणि ! हे भद्रे ! तुम यहीं मेरे पास निवास करो, मुझे तुमसे बहुत प्रेम हो गया है, तुम्हारे पिताको मेरे पुरुष ढूंढेंगे ॥ ३५ ॥

अथ वा स्वयमागच्छेत्परिधावन्नितस्ततः ।
इहैव वसती भद्रे भर्तारमुपलप्स्यसे ॥ ३६ ॥

अथवा इधर उधर घूमता हुआ वह आप ही यहां आ जायेगा । हे भद्रे ! तुम यहीं रहकर अपने पतिको प्राप्त करोगी ॥ ३६ ॥

राजमातुर्वचः श्रुत्वा दमयन्ती वचोऽब्रवीत् ।
समयेनोत्सहे वस्तुं त्वयि वीरप्रजायिनि ॥ ३७ ॥

राजमाताके वचन सुनकर दमयन्ती यह वचन बोली– हे वीरजननी ! यदि आप मुझसे कुछ प्रण करें तो मैं रह सकती हूं ॥ ३७ ॥

×

उच्छिष्टं नैव भुञ्जीयां न कुर्यां पादधावनम् ।
न चाहं पुरुषानन्यान्संभाषेयं कथंचन ॥ ३८ ॥

मैं किसीका जूठा नहीं खाऊंगी, किसीके पैर नहीं धोऊंगी और मैं किसी दूसरे पुरुषसे किसी भी तरह नहीं बोलूंगी ॥ ३८ ॥

प्रार्थयेद्यदि मां कश्चिद्दण्ड्यस्ते स पुमान्भवेत् ।
भर्तुरन्वेषणार्थं तु पश्येयं ब्राह्मणानहम् ॥ ३९ ॥

और यदि कोई मेरी इच्छा करे तो वह पुरुष आपसे प्राणदण्ड पावे । अपने पतिके ढूंढनेके लिये मैं केवल ब्राह्मणोंसे ही मिल और बोल सकती हूँ ॥ ३९ ॥

यद्येवमिह कर्तव्यं वसाम्यहमसंशयम् ।
अतोऽन्यथा न मे वासो वर्तते हृदये क्वचित् ॥ ४० ॥

यह सब स्वीकार करें तो मैं निःसन्देह यहां रह सकती हूं । इसके विपरीत अवस्थामें कहीं रहनेकी इच्छा मेरे हृदयमें नहीं है ॥ ४० ॥

तां प्रहृष्टेन मनसा राजमातेदमब्रवीत् ।
सर्वमेतत्करिष्यामि दिष्ट्या ते व्रतमीदृशम् ॥ ४१ ॥

यह सुनकर राजमाता प्रसन्न मनवाली होकर उससे यह बोली– सौभाग्यसे तुम्हारा यह उत्तम व्रत है, वह सब मैं पूरा करूंगी ॥ ४१ ॥

एवमुक्त्वा ततो भैमीं राजमाता विशां पते ।
उवाचेदं दुहितरं सुनन्दां नाम भारत ॥ ४२ ॥

हे भारत राजन् युधिष्ठिर ! राजमाता भीमपुत्री दमयन्तीसे ऐसा कहकर सुनन्दा नामकी अपनी पुत्रीसे यह बोली ॥ ४२ ॥

सैरन्ध्रीमभिजानीष्व सुनन्दे देवरूपिणीम् ।
एतया सह मोदस्व निरुद्विग्नमनाः स्वयम् ॥ ४३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥ २२६० ॥

हे सुनन्दे ! इस सैरन्ध्रीको साक्षात् देवरूपिणी समझो, तुम प्रसन्न चित्तसे इसके साथ रहकर आनन्द करो ॥ ४३ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें बासठवां अध्याय समाप्त ॥ ६२ ॥ २२६० ॥

: ६३ :

बृहदश्व उवाच

उत्सृज्य दमयन्तीं तु नलो राजा विशां पते।
ददर्श दावं दह्यन्तं महान्तं गहने वने ॥ १ ॥

बृहदश्व बोले– हे प्रजानाथ युधिष्ठिर! इधर राजा नल दमयन्तीको छोडकर महावनमें घूमने लगे और उन्होंने उस घने वनमें एक स्थानपर जलती हुई महान् दावाग्निको देखा ॥ १ ॥

तत्र शुश्राव मध्येऽग्नौ शब्दं भूतस्य कस्यचित्।
अभिधाव नलेत्युच्चैः पुण्यश्लोकेति चासकृत् ॥ २ ॥

और उस अग्निके बीचमेंसे उन्होंने किसी प्राणीका बार बार यह शब्द सुना। हे पवित्र यशवाले नल! शीघ्र आओ, दौडो ॥ २ ॥

मा भैरिति नलश्चोक्त्वा मध्यमग्नेः प्रविश्य तम्।
ददर्श नागराजानं शयानं कुण्डलीकृतम् ॥ ३ ॥

यह सुनते ही 'कुछ भय मत करो' ऐसा कहकर नल उस आगके बीचमें घुस गये और वहां जाकर देखा कि एक सर्पोंका राजा कुण्डली मारकर बैठा था ॥ ३ ॥

स नागः प्राञ्जलिर्भूत्वा वेपमानो नलं तदा।
उवाच विद्धि मां राजन्नागं कर्कोटकं नृप ॥ ४ ॥

नलको देखते ही वह नाग हाथ जोडकर कांपता हुआ ऐसा बोला– कि हे मनुष्योंका पालन करनेवाले राजन्! मुझे कर्कोटक नाग समझिए ॥ ४ ॥

मया प्रलब्धो ब्रह्मर्षिरनागाः सुमहातपाः।
तेन मन्युपरीतेन शप्तोऽस्मि मनुजाधिप ॥ ५ ॥

मैंने एक निरपराध महातपस्वी ब्रह्मर्षिको ठगा था; तब, हे मनुष्योंके राजन्! उन्होंने क्रोधमें भरके मुझको शाप दिया ॥ ५ ॥

तस्य शापान्न शक्नोमि पदाद्विचलितुं पदम्।
उपदेक्ष्यामि ते श्रेयस्त्रातुमर्हति मां भवान् ॥ ६ ॥

हे महाराज! मैं उनके शापके कारण एक कदम भी नहीं चल सकता। आप मेरी रक्षा कीजिये, मैं आपको कल्याणका उपदेश दूंगा ॥ ६ ॥

सखा च ते भविष्यामि मत्समो नास्ति पन्नगः।
लघुश्च ते भविष्यामि शीघ्रमादाय गच्छ माम् ॥ ७ ॥

मेरे समान कोई भी नाग नहीं है; मैं आपका मित्र होऊंगा, अब मैं आपके लिए हलका बन जाता हूं, आप मुझको उठाकर शीघ्र ले चलें ॥ ७ ॥

एवमुक्त्वा स नागेन्द्रो बभूवाङ्गुष्ठमात्रकः ।
तं गृहीत्वा नलः प्रायादुद्देशं दाववर्जितम् ॥ ८ ॥

ऐसा कहकर वह नगराज अंगूठेके समान शरीरवाला हो गया। नल उसको उठाकर अग्नि-रहित स्थानमें ले गये ॥ ८ ॥

आकाशदेशमासाद्य विमुक्तं कृष्णवर्त्मना ।
उत्स्रष्टुकामं तं नागः पुनः कर्कोटकोऽब्रवीत् ॥ ९ ॥

वह सांप जब अग्निसे मुक्त हो गया तब नलने उसको छोडनेकी इच्छा की, तब आकाशमें जाकर वह कर्कोटक नाग पुनः उस नलसे बोला ॥ ९ ॥

पदानि गणयन्गच्छ स्वानि नैषध कानिचित् ।
तत्र तेऽहं महाराज श्रेयो धास्यामि यत्परम् ॥ १० ॥

हे नल! अपने कुछ कदमोंको गिनगिनकर चलिए हे महाराज! तब मैं आपको परम कल्याणसे संयुक्त करूंगा ॥ १० ॥

ततः संख्यातुमारब्धमदशद्दशमे पदे ।
तस्य दष्टस्य तद्रूपं क्षिप्रमन्तरधीयत ॥ ११ ॥

जब नल अपने कदमोंको गिनने लगे, तब उस नागने दसवें कदमपर नलको काट लिया उसके काटते ही नलका वह सुन्दर स्वरूप नष्ट हो गया ॥ ११ ॥

स दृष्ट्वा विस्मितस्तस्थावात्मानं विकृतं नलः ।
स्वरूपधारिणं नागं ददर्श च महीपतिः ॥ १२ ॥

नल अपने शरीरको कुरूप देख आश्चर्य चकित होकर खडेसे रह गए और अनन्तर उस राजाने अपने रूपको धारण किए हुए सर्पको देखा ॥ १२ ॥

ततः कर्कोटको नागः सान्त्वयन्नलमब्रवीत् ।
मया तेऽन्तर्हितं रूपं न त्वा विद्युर्जना इति ॥ १३ ॥

तब कर्कोटक नाग नलको ढाढस बंधा हुआ ऐसा कहने लगा, जिससे लोग आपको न जान सकें, इसीलिये आपके रूपको मैंने नष्ट कर दिया है ॥ १३ ॥

यत्कृते चासि निकृतो दुःखेन महता नल ।
विषेण स मदीयेन त्वयि दुःखं निवत्स्यति ॥ १४ ॥

हे नल! आप जिसके कारणसे छलमें पडकर इस दुःखको भोग रहे हैं, मेरे विषके कारण वह कलि आपके अन्दर बहुत दुःख पाता हुआ रहेगा ॥ १४ ॥

विषेण संवृतैर्गात्रैर्यावत्त्वां न विमोक्ष्यति ।
तावत्त्वयि महाराज दुःखं वै स निवत्स्यति ॥ १५ ॥

हे महाराज ! मेरे विषसे भरे आपके शरीरको कलि जबतक नहीं छोडेगा, तबतक वह महा दुःख सहता हुआ आपके अन्दर निवास करेगा ॥ १५ ॥

अनागा येन निकृतस्त्वमनर्हो जनाधिप ।
क्रोधादसूययित्वा तं रक्षा मे भवतः कृता ॥ १६ ॥

हे महाराज ! जिसने दुःखके अयोग्य आपको वह स्वयं ही दुःख पावेगा, आपने हमारी रक्षा की है, आपने अपने क्रोधसे उसकी हानि नहीं करनी चाही ॥ १६ ॥

न ते भयं नरव्याघ्र दंष्ट्रिभ्यः शत्रुतोऽपि वा ।
ब्रह्मविद्भ्यश्च भविता मत्प्रसादान्नराधिप ॥ १७ ॥

हे नरव्याघ्र नल ! अब आपको सिंहादि तीक्ष्ण दाढवाले और अन्य शत्रुओंसे भी कुछ भय नहीं होगा। हे नरनाथ ! मेरी कृपासे आपको वेद जाननेवालोंसे भी भय नहीं होगा ॥१७॥

राजन्विषनिमित्ता च न ते पीडा भविष्यति ।
संग्रामेषु च राजेन्द्र शश्वज्जयमवाप्स्यसि ॥ १८ ॥

हे राजन् ! विषके कारण होनेवाली पीडा भी आपको नहीं होगी । हे राजेन्द्र ! आप युद्धमें निरन्तर जीतते ही रहेंगे ॥ १८ ॥

गच्छ राजन्नितः सूतो बाहुकोऽहमिति ब्रुवन् ।
समीपमृतुपर्णस्य स हि वेदाक्षनैपुणम् ।
अयोध्यां नगरीं रम्यामद्यैव निषधेश्वर ॥ १९ ॥

हे निषधेश्वर राजन् नल ! अब आप यहांसे "मैं बाहुक नामका सूत हूँ" इस प्रकार कहते हुए आज ही सुन्दर अयोध्यानगरीमें ऋतुपर्णके पास जाइये, क्योंकि वह जुएकी विद्यामें बहुत निपुण हैं ॥ १९ ॥

स तेऽक्षहृदयं दाता राजाश्वहृदयेन वै ।
इक्ष्वाकुकुलजः श्रीमान्मित्रं चैव भविष्यति ॥ २० ॥

वह राजा आपसे घोडेकी विद्या सीखकर आपको जुएकी विद्या सिखला देंगे । इक्ष्वाकुवंशमें उत्पन्न हुए श्रीमान् राजा ऋतुपर्ण आपके मित्र भी हो जायेंगे ॥ २० ॥

भविष्यसि यदाक्षज्ञः श्रेयसा योक्ष्यसे तदा ।
समेष्यसि च दारैस्त्वं मा स्म शोके मनः कृथाः ।
राज्येन तनयाभ्यां च सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥ २१ ॥

तब आप पासोंकी विद्याको जान जायेंगे, तो आप परम कल्याणसे संयुक्त होंगे । तब आप अपने पुत्र, राज्य और स्त्रीसे मिल जायेंगे, मैं आपसे सत्य कहता हूं, अपने मनमें शोक मत कीजिए ॥ २१ ॥

स्वरूपं च यदा द्रष्टुमिच्छेथास्त्वं नराधिप।
संस्मर्तव्यस्तदा तेऽहं वासश्चेदं निवासयेः ॥ २२ ॥

हे राजन्! जब आप अपने रूपको देखनेकी इच्छा करें तो उस समय आप मेरा नाम स्मरण कर लें और इस वस्त्रको ओढ लें ॥ २२ ॥

अनेन वाससाच्छन्नः स्वरूपं प्रतिपत्स्यसे।
इत्युक्त्वा प्रददावस्मै दिव्यं वासोयुगं तदा ॥ २३ ॥

इस वस्त्रके ओढते ही आप अपने रूपको प्राप्त हो जायेंगे, ऐसा कहकर उसने नलको दो दिव्य वस्त्र दिये ॥ २३ ॥

एवं नलं समादिश्य वासो दत्त्वा च कौरव।
नागराजस्ततो राजंस्तत्रैवान्तरधीयत ॥ २४ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥ २२८४ ॥

हे कुरुवंशी राजन् युधिष्ठिर! नलसे ऐसा कहकर और वस्त्र देकर नागराज वहीं अन्तर्द्धान हो गये ॥ २४ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें तिरेसठवां अध्याय समाप्त ॥ ६३ ॥ २२८४ ॥

: ६४ :

बृहदश्व उवाच

तस्मिन्नन्तर्हिते नागे प्रययौ नैषधो नलः।
ऋतुपर्णस्य नगरं प्राविशद्दशमेऽहनि ॥ १ ॥

बृहदश्व बोले– नागके अन्तर्द्धान होनेके पश्चात् राजा नल वहांसे चले और दसवें दिन राजा ऋतुपर्णके नगरमें पहुंचे ॥ १ ॥

स राजानमुपातिष्ठद्बाहुकोऽहमिति ब्रुवन्।
अश्वानां वाहने युक्तः पृथिव्यां नास्ति मत्समः ॥ २ ॥

और राजाके पास जाकर ऐसा बोले, "मेरा नाम बाहुक है, घोडोंको हांकनेकी विद्यामें मेरे समान पृथ्वीभरमें दूसरा कोई नहीं है ॥ २ ॥

अर्थकृच्छ्रेषु चैवाहं प्रष्टव्यो नैपुणेषु च।
अन्नसंस्कारमपि च जानाम्यन्यैर्विशेषतः ॥ ३ ॥

बडे कठिन धनक्षयके समयमें मैं सलाह दे सकता हूं और दूसरोंकी अपेक्षा अच्छा भोजन बनानेका तरीका भी मैं जानता हूँ ॥ ३ ॥

यानि शिल्पानि लोकेऽस्मिन्यच्चाप्यन्यत्सुदुष्करम्।
सर्वं यतिष्ये तत्कर्तुमृतुपर्ण भरस्व माम् ॥ ४ ॥

इस जगत्‌में जितनी शिल्पविद्या है, उस सबको अच्छी प्रकार जानता हूं और भी जो कठिन कर्म हैं, सबको करनेकी मैं कोशिश करूंगा। हे ऋतुपर्ण! आप मुझे नौकर रख लीजिये ॥४॥

ऋतुपर्ण उवाच

वस बाहुक भद्रं ते सर्वमेतत्करिष्यसि।
शीघ्रयाने सदा बुद्धिर्धीयते मे विशेषतः ॥ ५ ॥

ऋतुपर्ण बोले— हे बाहुक! तुम्हारा कल्याण हो, तुम हमारे यहां रहो और सब काम करो, विशेष करके मैं यही विचार किया करता हूँ कि मैं सर्वत्र शीघ्र ही पहुंच जाया करूं ॥५॥

स त्वमातिष्ठ योगं तं येन शीघ्रा हया मम।
भवेयुरश्वाध्यक्षोऽसि वेतनं ते शतं शताः ॥ ६ ॥

हे सूत! तुम ऐसा उपाय करो कि जिससे मेरे रथके घोडे शीघ्र चल सकें, तुम आजसे मेरी घुडसालके स्वामी हुए, आजसे तुमको दस हजार सोनेकी मुद्रायें मिला करेंगी ॥६॥

त्वामुपस्थास्यतश्चेमौ नित्यं वार्ष्णेयजीवलौ।
एताभ्यां रंस्यसे सार्धं वस वै मयि बाहुक ॥ ७ ॥

ये वार्ष्णेय और जीवल दोनों तुम्हारी आज्ञामें रहा करेंगे। हे बाहुक! इन दोनोंके साथ आनन्द करते हुए तुम मेरे यहां रहो ॥ ७ ॥

बृहदश्व उवाच

एवमुक्तो नलस्तेन न्यवसत्तत्र पूजितः।
ऋतुपर्णस्य नगरे सहवार्ष्णेयजीवलः ॥ ८ ॥

बृहदश्व बोले— राजाके ऐसे वचन सुनकर सत्कार पाकर राजा नल वार्ष्णेय और जीवलके साथ ऋतुपर्णके नगर अयोध्यामें निवास करने लगे ॥ ८ ॥

स तत्र निवसन्राजा वैदर्भीमनुचिन्तयन्।
सायं सायं सदा चेमं श्लोकमेकं जगाद ह ॥ ९ ॥

राजा नल वहां निवास करते हुए सदा दमयन्तीहीकी चिन्ता करते रहते थे, रोज सन्ध्याके समय नित्य यह श्लोक पढा करते थे ॥ ९ ॥

क नु सा क्षुत्पिपासार्ता श्रान्ता शेते तपस्विनी।
स्मरन्ती तस्य मन्दस्य कं वा साद्योपतिष्ठति ॥ १० ॥

वह तपस्विनी भूख, प्यास और थकावटसे व्याकुल होकर कहां सोती होगी? और उस मन्दभाग्यका स्मरण करती हुई वह अब कौनसे स्थानमें रहती होगी? ॥ १० ॥

एवं ब्रुवन्तं राजानं निशायां जीवलोऽब्रवीत् ।
कामेनं शोचसे नित्यं श्रोतुमिच्छामि बाहुक ॥ ११ ॥

नलको यह बात प्रतिदिन कहते सुनकर, एकरात जीवलने पूछा— कि हे बाहुक ! तुम यह रोज रातको किसका स्मरण किया करते हो ? उसे मैं सुननेकी इच्छा रखता हूं ॥ ११ ॥

तमुवाच नलो राजा मन्दप्रज्ञस्य कस्यचित् ।
आसीद्बहुमता नारी तस्या दृढतरं च सः ॥ १२ ॥

उसे सुनकर नल बोले— कि किसी मन्दबुद्धिवाले पुरुषकी एक बहुत प्यारी स्त्री थी, और वह भी उस स्त्रीका प्रिय था ॥ १२ ॥

स वै केनचिदर्थेन तया मन्दो व्ययुज्यत ।
विप्रयुक्तश्च मन्दात्मा भ्रमत्यसुखपीडितः ॥ १३ ॥

कभी वह मूर्ख पुरुष किसी कारणसे उस स्त्रीसे बिछुड गया; बिछुडनेके पश्चात् वह मूर्ख दुःखसे पीडित होकर घूमने लगा ॥ १३ ॥

दह्यमानः स शोकेन दिवारात्रमतन्द्रितः ।
निशाकाले स्मरंस्तस्याः श्लोकमेकं स्म गायति ॥ १४ ॥

शोकसे जलता हुआ वह रात दिन निद्रारहित होकर घूमता रहता था और रात्रिमें उसका स्मरण करके वह एक श्लोकको गाया करता था ॥ १४ ॥

स वै भ्रमन्महीं सर्वां क्वचिदासाद्य किंचन ।
वसत्यनर्हस्तद्दुःखं भूय एवानुसंस्मरन् ॥ १५ ॥

वह समस्त पृथ्वीको घूमकर कुछ जीविका प्राप्त करके उसीका स्मरण करता हुआ दुःख प्राप्तिके अयोग्य होनेपर भी पुनः पुनः उसीका स्मरण करता हुआ दुःखी होता था ॥ १५ ॥

सा तु तं पुरुषं नारी कृच्छ्रेऽप्यनुगता वने ।
त्यक्ता तेनाल्पपुण्येन दुष्करं यदि जीवति ॥ १६ ॥

वह स्त्री भी महादुःखके समय अपने पतिके साथ महावनको गई । उस पापीने उसको वनमें अकेली छोड दिया । यदि प्रारब्धवश वह जीती भी होगी, तो यह एक दुष्कर बात ही है ॥ १६ ॥

एका बालानभिज्ञा च मार्गाणामतथोचिता ।
क्षुत्पिपासापरीता च दुष्करं यदि जीवति ॥ १७ ॥

वह अकेली, मार्गोंको न जाननेवाली, उस दुःखको सहनेके अयोग्य बाला भूख और प्याससे व्याकुल होकर भी यदि जीवित होगी तो यह कठिन ही होगा ॥ १७ ॥

श्वापदाचरिते नित्यं वने महति दारुणे ।
त्यक्ता तेनाल्पपुण्येन मन्दप्रज्ञेन मारिष ॥ १८ ॥

क्योंकि, हे आर्य ! उस थोडे पुण्यवाले मन्दबुद्धिवाले पुरुषने उसे, जिसमें हिंसक पशु घूमते रहते हैं, ऐसे भयंकर महान् वनमें छोड दिया था ॥ १८ ॥

इत्येवं नैषधो राजा दमयन्तीमनुस्मरन् ।
अज्ञातवासमवसद्राज्ञस्तस्य निवेशने ॥ १९ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥ २३०३ ॥

इस प्रकार निषध देशके राजा नल दमयन्तीका स्मरण करते हुए उस राजा ऋतुपर्णके घरमें छिपकर रहने लगे ॥ १९ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें चौसठवां अध्याय समाप्त ॥ ६४ ॥ २३०३ ॥

: ६५ :

बृहदश्व उवाच

हृतराज्ये नले भीमः सभार्ये प्रेष्यतां गते ।
द्विजान्प्रस्थापयामास नलदर्शनकांक्षया ॥ १ ॥

बृहदश्व बोले— जब हारे हुए राज्यवाले राजा नल अपनी स्त्रीके सहित वनको चले गये, तब राजा भीमने नलके दर्शनकी इच्छासे अनेक ब्राह्मणोंको भेजा ॥ १ ॥

सन्दिदेश च तान्भीमो वसु दत्त्वा च पुष्कलम् ।
मृगयध्वं नलं चैव दमयन्तीं च मे सुताम् ॥ २ ॥

बहुत सारा धन देकर राजा भीमने उन ब्राह्मणोंसे कह दिया कि तुम लोग नल और मेरी पुत्री दमयन्तीको खोजो ॥ २ ॥

अस्मिन्कर्मणि निष्पन्ने विज्ञाते निषधाधिपे ।
गवां सहस्रं दास्यामि यो वस्तावानयिष्यति ।
अग्रहारं च दास्यामि ग्रामं नगरसंमितम् ॥ ३ ॥

इस कर्मके सिद्ध हो जानेपर और नलका पता लग जानेपर तुममेंसे जो कोई उन दोनोंको यहां ले आवेगा उसे हजार गायें दूंगा । उसे अग्रहार (करसे मुक्त भूमि) और नगरके समान विशाल गांव प्रदान करूंगा ॥ ३ ॥

न चेच्छक्यामिहानेतुं दमयन्ती नलोऽपि वा।
ज्ञातमात्रेऽपि दास्यामि गवां दशशतं धनम् ॥ ४ ॥
यदि जो नल वा दमयन्तीको यहां न ला सके और केवल उनका पता ही लगाकर आए तो भी उसे एक हजार गौका धन प्रदान करूंगा ॥ ४ ॥

इत्युक्तास्ते ययुर्हृष्टा ब्राह्मणाः सर्वतोदिशम्।
पुरराष्ट्राणि चिन्वन्तो नैषधं सह भार्यया ॥ ५ ॥
ऐसे वचन सुनकर प्रसन्न होकर वे ब्राह्मण सभी दिशाओंमें जाकर नगर नगर और राज्य राज्यमें जाकर पत्नीके साथ नलको ढूंढने लगे ॥ ५ ॥

ततश्चेदिपुरीं रम्यां सुदेवो नाम वै द्विजः।
विचिन्वानोऽथ वैदर्भीमपश्यद्राजवेश्मनि।
पुण्याहवाचने राज्ञः सुनन्दासहितां स्थिताम् ॥ ६ ॥
उन्हींमें सुदेव नामका एक ब्राह्मण उनको ढूंढता हुआ रम्य चेदिपुरीमें जा पहुंचा और उसने वहां राजाके महलमें दमयन्तीको देखा, वह राजाके पुण्याहवाचनके समय सुनन्दाके सहित बैठी थी ॥ ६ ॥

मन्दप्रख्यायमानेन रूपेणाप्रतिमेन ताम्।
पिनद्धां धूमजालेन प्रभामिव विभावसोः ॥ ७ ॥
परन्तु वह असाधारण रूप मन्द होनेसे दमयन्ती ऐसी दिखाई पडती थी जैसे कोहरेके समूहसे छिपी हुई सूर्यकी किरणें ॥ ७ ॥

तां समीक्ष्य विशालाक्षीमधिकं मलिनां कृशाम्।
तर्कयामास भैमीति कारणैरुपपादयन् ॥ ८ ॥
उस विशाल नयनीको अधिक दुर्बल और मलिन देखकर सुदेव ब्राह्मणने अनेक कारणोंकी विवेचना करके यही निश्चय किया कि यही दमयन्ती है ॥ ८ ॥

सुदेव उवाच

यथेयं मे पुरा दृष्टा तथारूपेयमङ्गना।
कृतार्थोऽस्म्यद्य दृष्ट्वेमां लोककान्तामिव श्रियम् ॥ ९ ॥
सुदेव बोले— कि इस सुन्दर स्त्रीका रूप जैसा मैंने पहले देखा था वही रूप इसका अब भी है। आज इस लोकसुन्दरीको लक्ष्मीके समान देखकर मैं कृतार्थ हो गया ॥ ९ ॥

पूर्णचन्द्राननां श्यामां चारुवृत्तपयोधराम्।
कुर्वन्तीं प्रभया देवीं सर्वा वितिमिरा दिशः ॥ १० ॥
यह पूर्णचन्द्रमाके समान मुखवाली, सुन्दर, सुन्दर और गोल पयोधरवाली, सब दिशाओंको अपने तेजसे अन्धकाररहित कर रही है ॥ १० ॥

चारुपद्मपलाशाक्षीं मन्मथस्य रतीमिव।
इष्टां सर्वस्य जगतः पूर्णचन्द्रप्रभामिव ॥ ११ ॥

यही उत्तम कमलके समान बडे नेत्रोंवाली साक्षात् कामदेवके समान है; यह पूर्णचंद्रमाकी प्रभाके समान सब जगत्को प्यारी है ॥ ११ ॥

विदर्भसरसस्तस्माद्दैवदोषादिवोद्धृताम्।
मलपङ्कानुलिप्ताङ्गीं मृणालीमिव तां भृशम् ॥ १२ ॥

यही उस विदर्भरूपी तडागसे दैवके दोषके कारण उखाडी गई मलरूपी कीचडसे सनी हुई साक्षात् मृणालिनी कमलकी डण्डीके समान है ॥ १२ ॥

पौर्णमासीमिव निशां राहुग्रस्तनिशाकराम्।
पतिशोकाकुलां दीनां शुष्कस्रोतां नदीमिव ॥ १३ ॥

इसका रूप पतिके शोकसे व्याकुल और दीन होनेके कारण ऐसा जान पडता है, जैसे राहुसे ग्रसित चंद्रमाके सहित पूर्णमासीकी रात्रि हो, अथवा सूखे हुए जलप्रवाहवाली नदी हो ॥ १३ ॥

विध्वस्तपर्णकमलां वित्रासितविहङ्गमाम्।
हस्तिहस्तपरिक्लिष्टां व्याकुलामिव पद्मिनीम् ॥ १४ ॥

अहा ! इसका रूप टूटे पत्रवाले कमलोंसे भरे हुए, डरे हुए पक्षियोंवाले, हाथीकी सूंडसे मथे हुए जलवाले तलावके समान हो गया है ॥ १४ ॥

सुकुमारीं सुजाताङ्गीं रत्नगर्भगृहोचिताम्।
दह्यमानामिवोष्णेन मृणालीमचिरोद्धृताम् ॥ १५ ॥

रत्नसे जडे हुए स्थानोंमें रहनेके योग्य, यह सुकुमारी, कोमलाङ्गी, इस समय आपत्तिमें पडकर ऐसी हो रही है कि जैसे सूर्यकी किरणसे जली हुई कमलकी मृणाली (डण्डी) ॥ १५ ॥

रूपौदार्यगुणोपेतां मण्डनार्हाममण्डिताम्।
चन्द्रलेखामिव नवां व्योम्नि नीलाभ्रसंवृताम् ॥ १६ ॥

रूप और उदारताके गुणोंसे भरी हुई, भूषणोंके योग्य दमयन्ती इस समय बिना भूषणोंके, आकाशमें नीले बादलोंसे छाई हुई चंद्रमाकी किरणके समान शोभित हो रही है ॥ १६ ॥

कामभोगैः प्रियैर्हीनां हीनां बन्धुजनेन च।
देहं धारयतीं दीनां भर्तृदर्शनकाङ्क्षया ॥ १७ ॥

यह दमयन्ती प्रिय लगनेवाले सब कामों और भोगोंसे हीन और बन्धुओंसे रहित होकर भी केवल पतिके दर्शनकी इच्छासे अपने जीवनको धारण कर रही है ॥ १७ ॥

भर्ता नाम परं नार्या भूषणं भूषणैर्विना ।
एषा विरहिता तेन शोभनापि न शोभते ॥ १८ ॥

बिना आभूषणोंके भी स्त्रीके लिए पति ही आभूषण है, यह उस पतिसे रहित होनेके कारण सुन्दरी होनेपर भी शोभित नहीं हो रही है ॥ १८ ॥

दुष्करं कुरुतेऽत्यर्थं हीनो यदनया नलः ।
धारयत्यात्मनो देहं न शोकेनावसीदति ॥ १९ ॥

यदि इससे बिछुडकर भी नल अपना शरीर धारण कर रहे हैं और इसके शोकसे व्याकुल नहीं हो रहे हों, तो समझना चाहिए कि वे बहुत कठोर काम कर रहे हैं ॥ १९ ॥

इमामसितकेशान्तां शतपत्रायतेक्षणाम् ।
सुखार्हां दुःखितां दृष्ट्वा ममापि व्यथते मनः ॥ २० ॥

इस काले केशवाली, सौ पंखुडियोंवाले कमलके समान विशाल नेत्रोंवाली, सुखके योग्य दमयन्तीको दुःखिनी देखकर मेरा मन भी दुःखसे व्याकुल हुआ जाता है ॥ २० ॥

कदा नु खलु दुःखस्य पारं यास्यति वै शुभा ।
भर्तुः समागमात्साध्वी रोहिणी शशिनो यथा ॥ २१ ॥

यह सुन्दरी साध्वी अपने पतिसे मिलकर इस दुःखके पार कब जायेगी ? जैसे रोहिणी चन्द्रमासे मिलकर सुखी होती है, वैसे यह कब होगी ? ॥ २१ ॥

अस्या नूनं पुनर्लाभान्नैषधः प्रीतिमेष्यति ।
राजा राज्यपरिभ्रष्टः पुनर्लब्ध्वेव मेदिनीम् ॥ २२ ॥

जैसे कोई राज्यसे भ्रष्ट हुआ राजा पृथ्वीके राज्यको फिर पाकर प्रसन्न होता है, उसी प्रकार निषधराजा नल भी इस दमयन्तीको पाकर प्रसन्न होंगे ॥ २२ ॥

तुल्यशीलवयोयुक्तां तुल्याभिजनसंयुताम् ।
नैषधोऽर्हति वैदर्भीं तं चेयमसितेक्षणा ॥ २३ ॥

निषधराज नल अपने समान शील और वयसे युक्त, अपने समान ही उत्तमकुलमें उत्पन्न हुई इस विदर्भराजपुत्री दमयन्तीके योग्य है और काली आंखोंवाली दमयन्ती भी उन नलके योग्य है ॥ २३ ॥

युक्तं तस्याप्रमेयस्य वीर्यसत्त्ववतो मया ।
समाश्वासयितुं भार्यां पतिदर्शनलालसाम् ॥ २४ ॥

मुझे उचित है, कि उन अप्रमेय बलवान् राजा नलकी स्त्रीको धीरज दूं; क्योंकि यह अपने पतिके दर्शनकी अत्यंत इच्छा रखती है ॥ २४ ॥

अयमाश्वासयाम्येनां पूर्णचन्द्रनिभाननाम् ।
अदृष्टपूर्वां दुःखस्य दुःखार्तां ध्यानतत्पराम् ॥ २५ ॥

मैं इस पूर्णचन्द्रके समान मुखवाली, पहले दुःख न देखनेवाली, दुःखसे व्याकुल तथा नलके ध्यान रहनेवाली दमयन्तीको आश्वासित करूंगा ॥ २५ ॥

बृहदश्व उवाच

एवं विमृश्य विविधैः कारणैर्लक्षणैश्च ताम् ।
उपगम्य ततो भैमीं सुदेवो ब्राह्मणोऽब्रवीत् ॥ २६ ॥

बृहदश्व बोले– सुदेव ब्राह्मण अनेक कारणों और लक्षणोंसे अपने मनमें उसके दमयन्ती होनेका निश्चयकर दमयन्तीके पास जाकर ऐसा बोला ॥ २६ ॥

अहं सुदेवो वैदर्भि भ्रातुस्ते दयितः सखा ।
भीमस्य वचनाद्राज्ञस्त्वामन्वेष्टुमिहागतः ॥ २७ ॥

हे विदर्भराजनन्दिनि ! मैं तुम्हारे भाईका प्यारा मित्र सुदेव नामक ब्राह्मण हूं, राजा भीमके वचनसे तुम्हें ढूंढनेके लिए यहां आया हूं ॥ २७ ॥

कुशली ते पिता राज्ञि जनित्री भ्रातरश्च ते ।
आयुष्मन्तौ कुशलिनौ तत्रस्थौ दारकौ च ते ।
त्वत्कृते बन्धुवर्गाश्च गतसत्त्वा इवासते ॥ २८ ॥

हे रानी ! तुम्हारे माता, पिता और भाई सभी कुशलसे हैं। वहां रहनेवाले चिरंजीव तुम्हारे दोनों बालक कुशलसे हैं, परन्तु केवल तुम्हारे ही निमित्त तुम्हारे भाई निर्बलके समान हो गए हैं ॥ २८ ॥

अभिज्ञाय सुदेवं तु दमयन्ती युधिष्ठिर ।
पर्यपृच्छत्ततः सर्वान्क्रमेण सुहृदः स्वकान् ॥ २९ ॥

हे युधिष्ठिर ! दमयन्तीने सुदेवको पहचानकर क्रमसे अपने सब बन्धुओंका समाचार पूछा ॥ २९ ॥

रुरोद च भृशं राजन्वैदर्भी शोककर्शिता ।
दृष्ट्वा सुदेवं सहसा भ्रातुरिष्टं द्विजोत्तमम् ॥ ३० ॥

हे राजन् ! अनन्तर अपने भाईके मित्र, ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ, सुदेवको अचानक देखकर शोकसे व्याकुल होकर दमयन्ती बहुत रोई ॥ ३० ॥

ततो रुदन्तीं तां दृष्ट्वा सुनन्दा शोककर्शिताम्।
सुदेवेन सहैकान्ते कथयन्तीं च भारत ॥ ३१ ॥
जनित्र्यै प्रेषयामास सैरन्ध्री रुदते भृशम्।
ब्राह्मणेन समागम्य तां वेद यदि मन्यसे ॥ ३२ ॥

हे भरतवंशी युधिष्ठिर! शोकसे व्याकुल उसको रोती हुई और सुदेवसे एकान्तमें कुछ बात करती हुई देखकर सुनन्दाने अपनी मांके पास समाचार भिजवाया कि आज एक ब्राह्मणके साथ बात करती हुई सैरन्ध्री बहुत रो रही है। यदि इसके बारेमें कुछ जानना ठीक समझती हों, तो जाननेकी कोशिश कीजिए ॥ ३१-३२ ॥

अथ चेदिपतेर्माता राज्ञश्चान्तःपुरात्तदा।
जगाम यत्र सा बाला ब्राह्मणेन सहाभवत् ॥ ३३ ॥

यह सुनकर चेदिराजकी माता रनवाससे निकलकर उस स्थानपर पहुंची जहां वह बाला दमयन्ती ब्राह्मणसे बात कर रही थी ॥ ३३ ॥

ततः सुदेवमानाय्य राजमाता विशां पते।
पप्रच्छ भार्या कस्येयं सुता वा कस्य भामिनी ॥ ३४ ॥

हे राजन्! तब राजमाताने सुदेवको एकान्तमें बुलाकर पूछा— कि यह सुन्दरी किसकी पुत्री और किसकी स्त्री है? ॥ ३४ ॥

कथं च नष्टा ज्ञातिभ्यो भर्तुर्वा वामलोचना।
त्वया च विदिता विप्र कथमेवंगता सती ॥ ३५ ॥

यह सुन्दर नयनोंवाली सुन्दरी अपने बन्धु और पतिसे कैसे बिछड गई? हे ब्राह्मण! यह पतिव्रता इस अवस्थाको कैसे प्राप्त हुई? यह सब तुम जानते हो ॥ ३५ ॥

एतदिच्छाम्यहं त्वत्तो ज्ञातुं सर्वमशेषतः।
तत्त्वेन हि ममाचक्ष्व पृच्छन्त्या देवरूपिणीम् ॥ ३६ ॥

वह सब पूर्णतया तुमसे मैं सुननेकी इच्छा रखती हूं, अतः पूछनेवाली मुझसे इस देवरूपिणीका सब वृत्तान्त कहो ॥ ३६ ॥

एवमुक्तस्तया राजन्सुदेवो द्विजसत्तमः।
सुखोपविष्ट आचष्ट दमयन्त्या यथातथम् ॥ ३७ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥ २३४० ॥

हे राजन्! ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ सुदेवने राजमाताके ऐसे वचन सुनकर सुखसे बैठकर दमयन्तीका सब वृत्तान्त इस प्रकार कहना आरम्भ किया ॥ ३७ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें पैंसठवां अध्याय समाप्त ॥ ६५ ॥ २३४० ॥

: ६६ :

सुदेव उवाच

विदर्भराजो धर्मात्मा भीमो भीमपराक्रमः ।
सुतेयं तस्य कल्याणी दमयन्तीति विश्रुता ॥ १ ॥

सुदेव बोले– भयंकर पराक्रमी धर्मात्मा भीम नामक विदर्भके राजा हैं । यह कल्याणी उन्हींकी पुत्री दमयन्तीके नामसे प्रसिद्ध है ॥ १ ॥

राजा तु नैषधो नाम वीरसेनसुतो नलः ।
भार्येयं तस्य कल्याणी पुण्यश्लोकस्य धीमतः ॥ २ ॥

वीरसेनके पुत्र और निषध देशके राजा नल नामसे प्रसिद्ध हैं । यह कल्याणी उन्हीं उत्तम यशवाले और बुद्धिमान् नलकी स्त्री है ॥ २ ॥

स वै द्यूते जितो भ्रात्रा हृतराज्यो महीपतिः ।
दमयन्त्या गतः सार्धं न प्राज्ञायत कर्हिचित् ॥ ३ ॥

वे राजा जुएमें भाईसे जीते जाकर तथा राज्यसे भ्रष्ट होकर दमयन्तीके साथ कहीं चले गए, वे अब न जाने कहां हैं ? ॥ ३ ॥

ते वयं दमयन्त्यर्थे चरामः पृथिवीमिमाम् ।
सेयमासादिता बाला तव पुत्रनिवेशने ॥ ४ ॥

वे हम सब दमयन्तीके निमित्त इस पृथ्वीपर घूमते हैं, आज मैंने इस बालाको आपके पुत्रके घरमें प्राप्त कर लिया ॥ ४ ॥

अस्या रूपेण सदृशी मानुषी नेह विद्यते ।
अस्याश्चैव भ्रुवोर्मध्ये सहजः पिप्लुरुत्तमः ।
श्यामायाः पद्मसंकाशो लक्षितोऽन्तर्हितो मया ॥ ५ ॥

मानुषियोंमें इसके जैसे रूपवाली और कोई नहीं है । इसके भौहोंके बीचमें जो उत्तम तिल दीखता है, वह जन्महीसे है, मैंने इस सुन्दरीके पद्मतुल्य मुखपर यह छिपा हुआ तिल देख लिया ॥ ५ ॥

मलेन संवृतो ह्यस्यास्तन्वभ्रेणेव चन्द्रमाः ।
चिह्नभूतो विभूत्यर्थमयं धात्रा विनिर्मितः ॥ ६ ॥

इसका यह शरीर मैलसे ऐसा छिप गया है, जैसे मेघसे चन्द्रमा; ब्रह्माने ऐश्वर्यके निमित्त यह इसका चिह्न बना दिया है ॥ ६ ॥

प्रतिपत्कलुषेवेन्दोर्लेखा नातिविराजते।
न चास्या नश्यते रूपं वपुर्मलसमाचितम्।
असंस्कृतमपि व्यक्तं भाति काञ्चनसंनिभम् ॥ ७ ॥

प्रतिपदाकी मन्दकान्तिवाली चद्रमाकी कला अत्यधिक शोभित नहीं होती है। इसका रूप शरीरमें मैलके भरनेसे भी अभी नष्ट नहीं हुआ है, न सजनेपर भी सोनेके समान इसका रूप प्रकाशित हो रहा है ॥ ७ ॥

अनेन वपुषा बाला पिप्लुनानेन चैव ह।
लक्षितेयं मया देवी पिहितोऽग्निरिवोष्मणा ॥ ८ ॥

इस शरीरके और इस तिलके कारण ही मैंने इस देवीको उसी तरह पहचाना है जैसे किसी वस्तुसे ढकी हुई आग उष्णतासे पहचानी जाती है ॥ ८ ॥

बृहदश्व उवाच

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य सुदेवस्य विशां पते।
सुनन्दा शोधयामास पिप्लुप्रच्छादनं मलम् ॥ ९ ॥

बृहदश्व बोले– हे राजन् ! उस सुदेवके ऐसे वचन सुनकर सुनन्दाने दमयन्तीके मुखका मैल हटाकरके उसके तिलको देखा ॥ ९ ॥

स मलेनापकृष्टेन पिप्लुस्तस्या व्यरोचत।
दमयन्त्यास्तदा व्यभ्रे नभसीव निशाकरः ॥ १० ॥

मैलके दूर होनेसे उस दमयन्तीका तिल ऐसा शोभित होने लगा जैसे मेघरहित आकाशमें चन्द्रमा ॥ १० ॥

पिप्लुं दृष्ट्वा सुनन्दा च राजमाता च भारत।
रुदन्त्यौ तां परिष्वज्य मुहूर्तमिव तस्थतुः।
उत्सृज्य बाष्पं शनकै राजमातेदमब्रवीत् ॥ ११ ॥

हे भारत ! राजमाता और सुनन्दा उस तिलको देखकर उस दमयन्तीसे लिपटकर रोती हुई कुछ देरतक खडी रहीं, उसके बाद आंसुओंको पोंछकर राजमाता धीरेसे ऐसा बोली ॥ ११ ॥

भगिन्या दुहिता मेऽसि पिप्लुनानेन सूचिता।
अहं च तव माता च राजन्यस्य महात्मनः।
सुते दशार्णाधिपतेः सुदाम्नश्चारुदर्शने ॥ १२ ॥

इस तिलसे मैंने पहचान लिया, कि तुम मेरी बहनकी पुत्री हो, हे सुन्दरी ! मैं और तुम्हारी माता दशार्ण देशके राजा महात्मा सुदामाकी पुत्री हैं ॥ १२ ॥

भीमस्य राज्ञः सा दत्ता वीरबाहोरहं पुनः ।
त्वं तु जाता मया दृष्टा दशार्णेषु पितुर्गृहे ॥ १३ ॥

उन्होंने उस तुम्हारी माताको भीम राजाके लिए और मुझे वीर सुबाहुके लिए दिया था तुम जब दशार्ण देशमें मेरे पिताके घरमें उत्पन्न हुई थीं तभी मैंने तुम्हें देखा था ॥१३॥

यथैव ते पितुर्गेहं तथेदमपि भामिनि ।
यथैव हि ममैश्वर्यं दमयन्ति तथा तव ॥ १४ ॥

हे भामिनी ! जैसा तुम्हारे लिए तुम्हारे पिताका घर है, वैसे ही मेरे घरको भी अपना जानो तथा यह ऐश्वर्य जैसे मेरा है, वैसे ही अपना भी समझो ॥ १४ ॥

तां प्रहृष्टेन मनसा दमयन्ती विशां पते ।
अभिवाद्य मातुर्भगिनीमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १५ ॥

हे राजन् ! उसके वचनको सुनकर अत्यन्त प्रसन्न मनसे दमयन्ती अपनी मौसीको प्रणाम करके ऐसा बोली ॥ १५ ॥

अज्ञायमानापि सती सुखमस्म्युषितेह वै ।
सर्वकामैः सुविहिता रक्ष्यमाणा सदा त्वया ॥ १६ ॥

मैं अज्ञात रहनेपर भी आपके घरमें सुखसे रही; आपने मेरे सब मनोरथोंको पूर्ण किया; आपने मेरी सदा रक्षा की है ॥ १६ ॥

सुखात्सुखतरो वासो भविष्यति न संशयः ।
चिरविप्रोषितां मातर्मामनुज्ञातुमर्हसि ॥ १७ ॥

हे माता ! मुझको यह निश्चय है, कि अब मुझको इस सुखसे अधिक सुखका स्थान नहीं मिलेगा, अब मैं बहुत दिनसे परदेशमें हूं; अतः, माता ! अब मुझे आज्ञा दीजिए ॥ १७ ॥

दारकौ च हि मे नीतौ वसतस्तत्र बालकौ ।
पित्रा विहीनौ शोकार्तौ मया चैव कथं नु तौ ॥ १८ ॥

मेरे दोनों बालक वहां ले जाए गए हैं, वे दोनों पिता और मातासे रहित दुःखसे व्याकुल वहां न जाने कैसे रहते होंगे ? ॥ १८ ॥

यदि चापि प्रियं किंचिन्मयि कर्तुमिहेच्छसि ।
विदर्भान्यातुमिच्छामि शीघ्रं मे यानमादिश ॥ १९ ॥

यदि फिर भी आप मेरा कुछ प्रिय काम करना चाहती हैं, तो मैं विदर्भ देशके जानेकी इच्छा करती हूं, अतएव मेरे लिए वाहनको शीघ्र लानेकी आज्ञा दीजिए ॥ १९ ॥

×

बाढमित्येव तामुक्त्वा हृष्टा मातृष्वसा नृप ।
गुप्तां बलेन महता पुत्रस्यानुमते ततः ॥ २० ॥
प्रस्थापयद्राजमाता श्रीमता नरवाहिना ।
यानेन भरतश्रेष्ठ स्वन्नपानपरिच्छदाम् ॥ २१ ॥

हे राजन् ! दमयन्तीसे मौसीने प्रसन्न होकर कहा– कि ' बहुत अच्छा ' । अनन्तर अपने पुत्रकी आज्ञासे भारी सेनासे रक्षित करके मनुष्यों द्वारा ढोये जानेवाले सुखोंसे युक्त पालकीमें बिठलाकर दमयन्तीको विदर्भ देशको भेज दिया । हे भरतश्रेष्ठ ! उसके सङ्ग ही खाने-पीने और पहननेकी वस्तु भी भेजी ॥ २०-२१ ॥

ततः सा नचिरादेव विदर्भानगमच्छुभा ।
तां तु बन्धुजनः सर्वः प्रहृष्टः प्रत्यपूजयत् ॥ २२ ॥

तदनन्तर शुभ दमयन्ती वहांसे चलकर थोडी ही दिनके पश्चात् विदर्भ नगरमें पहुंच गई । सब बन्धुलोग उसको देखकर बहुत प्रसन्न हुए और उसका सन्मान करने लगे ॥ २२ ॥

सर्वान्कुशलिनो दृष्ट्वा बान्धवान्दारकौ च तौ ।
मातरं पितरं चैव सर्वं चैव सखीजनम् ॥ २३ ॥
देवताः पूजयामास ब्राह्मणांश्च यशस्विनी ।
विधिना परेण कल्याणी दमयन्ती विशां पते ॥ २४ ॥

बान्धव, दोनों बालक, मातापिता और सब सखी वर्गको सुखी देखकर, हे प्रजाओंके स्वामिन् ! कल्याणी और यशस्विनी दमयन्तीने अत्युत्तम विधिसे देवता और सब ब्राह्मणोंकी पूजा की ॥ २३–२४ ॥

अतर्पयत्सुदेवं च गोसहस्रेण पार्थिवः ।
प्रीतो दृष्ट्वैव तनयां ग्रामेण द्रविणेन च ॥ २५ ॥

अपनी पुत्रीको देखते ही प्रसन्न होकर राजा भीमने सुदेव ब्राह्मणको सहस्र गौ, गांव और बहुत द्रव्य अर्पित किया ॥ २५ ॥

सा व्युष्टा रजनीं तत्र पितुर्वेश्मनि भामिनी ।
विश्रान्ता मातरं राजन्निदं वचनमब्रवीत् ॥ २६ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥ २३६६ ॥

हे राजन् ! थकी हुई सुन्दरी दमयन्तीने उस रात्रिको अपने पिताहीके घरमें बिताया । तदनन्तर सुन्दर दमयन्ती अपनी मातासे यह वचन कहने लगी ॥ २६ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें छियासठवाँ अध्याय समाप्त ॥ ६६ ॥ २३६६ ॥

। ६७ ।

दमयन्त्युवाच

मां चेदिच्छसि जीवन्तीं मातः सत्यं ब्रवीमि ते ।
नरवीरस्य वै तस्य नलस्यानयने यत ॥ १ ॥

दमयन्ती बोली– हे माता ! मैं तुमसे सत्य कहती हूं कि यदि तुम मुझे जीती हुई देखना चाहती हो तो पुरुषोंमें वीर उस नलको यहां लानेका यत्न करो ॥ १ ॥

बृहदश्व उवाच

दमयन्त्या तथोक्ता तु सा देवी भृशदुःखिता ।
बाष्पेण पिहिता राजन्नोत्तरं किंचिदब्रवीत् ॥ २ ॥

बृहदश्व बोले– हे राजन् युधिष्ठिर ! दमयन्तीके ऐसे वचन सुनकर उसकी माता अत्यन्त दुःखित हुई और आंसुओंसे गला रुंध जानेके कारण कुछ भी उत्तर न दे सकी ॥ २ ॥

तदवस्थां तु तां दृष्ट्वा सर्वमन्तःपुरं तदा ।
हाहाभूतमतीवासीद्भृशं च प्ररुरोद ह ॥ ३ ॥

रानीकी ऐसी दशा देखकर सब रनवासमें बुरी तरह हाहाकार होने लगा और सब बहुत रोने लगे ॥ ३ ॥

ततो भीमं महाराज भार्या वचनमब्रवीत् ।
दमयन्ती तव सुता भर्तारमनुशोचति ॥ ४ ॥

तब, हे महाराज ! भीमसे रानीने यह वचन कहा– कि आपकी पुत्री दमयन्ती अपने पतिके लिये शोक करती है ॥ ४ ॥

अपकृष्य च लज्जां सा स्वयमुक्तवती नृप ।
प्रयतन्तु तव प्रेष्याः पुण्यश्लोकस्य दर्शने ॥ ५ ॥

हे राजन् ! उसने लज्जाको त्यागकर मुझसे स्वयं ऐसा कहा है, कि तुम्हारे दूत लोग पुण्यकीर्तिवाले नलको ढूंढनेका यत्न करें ॥ ५ ॥

तया प्रचोदितो राजा ब्राह्मणान्वशवर्तिनः ।
प्रास्थापयद्दिशः सर्वा यतध्वं नलदर्शने ॥ ६ ॥

इस प्रकार रानीके द्वारा प्रेरित होकर राजा भीमने अपने वशमें रहनेवाले ब्राह्मणोंको सभी दिशाओंमें भेजा और कहा– कि तुम लोग राजा नलको देखनेका यत्न करो ॥ ६ ॥

ततो विदर्भाधिपतेर्नियोगाद्ब्राह्मणर्षभाः ।
दमयन्तीमथो दृष्ट्वा प्रस्थिताः स्मेत्यथाब्रुवन् ॥ ७ ॥

तब विदर्भराजाकी आज्ञासे श्रेष्ठ श्रेष्ठ ब्राह्मण दमयन्तीको देखकर बोले– कि हम नलको देखनेके लिए जा रहे हैं ॥ ७ ॥

अथ तानब्रवीद्भैमी सर्वराष्ट्रेष्विदं वचः ।
ब्रुवध्वं जनसंसत्सु तत्र तत्र पुनः पुनः ॥ ८ ॥

तब दमयन्तीने उनसे ऐसा कहा– कि आप सब राज्योंमें जाकर वारवार मनुष्योंके बीचमें इसी वचनको कहें ॥ ८ ॥

क्व नु त्वं कितव छित्त्वा वस्त्रार्धं प्रस्थितो मम ।
उत्सृज्य विपिने सुप्तामनुरक्तां प्रियां प्रिय ॥ ९ ॥

कि 'हे प्यारे! हे छली! तुम मेरे आधे वस्त्रको फाडकर प्यारी और सदा पीछे चलनेवाली मुझे वनमें सोती हुई छोडकर कहां चले गये? ॥ ९ ॥

सा वै यथा समादिष्टा तत्रास्ते त्वत्प्रतीक्षिणी ।
दह्यमाना भृशं बाला वस्त्रार्धेनाभिसंवृता ॥ १० ॥

तुमने जैसे उसको आज्ञा दी थी, वह बाला वैसे ही आधा वस्त्र पहने हुए अत्यन्त दुःखसे जलती हुई अबतक भी वैसी ही तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है ॥ १० ॥

तस्या रुदन्त्याः सततं तेन शोकेन पार्थिव ।
प्रसादं कुरु वै वीर प्रतिवाक्यं ददस्व च ॥ ११ ॥

हे वीर! हे राजन्! उस शोकके कारण हमेशा रोती हुई उस स्त्रीपर कृपा करो और उसके वचनका उत्तर दो ॥ ११ ॥

एतदन्यच्च वक्तव्यं कृपां कुर्याद्यथा मयि ।
वायुना धूयमानो हि वनं दहति पावकः ॥ १२ ॥

इसीके समान और भी अनेक वचन आप कहें, जिससे वे हमारे ऊपर कृपा करें। जैसे वायुसे भडककर अग्नि वनको जलाती है वैसे ही मेरा शरीर भी विरहसे जल रहा है ॥ १२ ॥

भर्तव्या रक्षणीया च पत्नी हि पतिना सदा ।
तन्नष्टमुभयं कस्माद्धर्मज्ञस्य सतस्तव ॥ १३ ॥

और यह भी कहना चाहिए कि पतिका कर्तव्य है कि वह सदा ही अपनी पत्नीकी रक्षा और उसका पालनपोषण करे, पर, हे धर्म जाननेवाले नल! आपकी ये दोनों बातों किसलिये नष्ट हो रही हैं? ॥ १३ ॥

ख्यातः प्राज्ञः कुलीनश्च सानुक्रोशश्च त्वं सदा ।
संवृत्तो निरनुक्रोशः शंके मद्भाग्यसंक्षयात् ॥ १४ ॥

आप तो पण्डित, कुलीन और दयावान्‌के रूपमें सदासे प्रसिद्ध हैं, मुझे शंका होती है, कि मेरे ही भाग्यके नष्ट होनेके कारण ही आप निर्दय हो गए हैं ॥ १४ ॥

स कुरुष्व महेष्वास दयां मयि नरर्षभ ।
आनृशंस्यं परो धर्मस्त्वत्त एव हि मे श्रुतम् ॥ १५ ॥

हे महाधनुर्धर ! हे पुरुषर्षभ ! आप मेरे उपर कृपा कीजिये, क्योंकि मैंने आपहीसे सुना है, कि ' दया करना ही परम धर्म है ' ॥ १५ ॥

एवं ब्रुवाणान्यदि वः प्रतिब्रूयाद्धि कश्चन ।
स नरः सर्वथा ज्ञेयः कश्चासौ क च वर्तते ॥ १६ ॥

आप लोगोंके ऐसा कहनेपर यदि आप लोगोंको कोई कुछ उत्तर दे तो उस मनुष्यका पूरी तरहसे पता लगाइये कि वह कौन है, और कहां रहता है ? ॥ १६ ॥

यश्च वो वचनं श्रुत्वा ब्रूयात्प्रतिवचो नरः ।
तदादाय वचः क्षिप्रं ममावेद्यं द्विजोत्तमाः ॥ १७ ॥

हे ब्राह्मणश्रेष्ठो ! यदि आपके वचन सुनकर कोई कुछ उत्तर दे तो उसका वही वचन स्मरण करके मुझसे आकर शीघ्र कहिए ॥ १७ ॥

यथा च वो न जानीयाच्चरतो भीमशासनात् ।
पुनरागमनं चैव तथा कार्यमतन्द्रितैः ॥ १८ ॥

आप लोग आलस्यरहित होकर ऐसा उपाय कीजिए, कि जिसमें वह पुरुष ऐसा न जाने कि यह लोग भीमकी आज्ञासे इन वचनोंको कहते फिरते हैं और इसप्रकार पता लगाकर आप वापस लौट आइए ॥ १८ ॥

यदि वासौ समृद्धः स्याद्यदि वाप्यधनो भवेत् ।
यदि वाप्यर्थकामः स्याज्ज्ञेयमस्य चिकीर्षितम् ॥ १९ ॥

चाहे वह धनवान् हो या निर्धन हो या धन पानेकी इच्छावाला ही क्यों न हो, वह क्या करना चाहता है ? इस बातका पता लगाकर आप आइए ॥ १९ ॥

एवमुक्तास्त्वगच्छंस्ते ब्राह्मणाः सर्वतोदिशम् ।
नलं मृगयितुं राजंस्तथा व्यसनिनं तदा ॥ २० ॥

हे राजन् ! तब वे ब्राह्मण दमयन्तीके वचनोंको सुनकर उस प्रकार दुःखमें पडे हुए नलको ढूंढनेके लिए सब दिशाओंमें चले गये ॥ २० ॥

ते पुराणि सराष्ट्राणि ग्रामान्घोषांस्तथाश्रमान्।
अन्वेषन्तो नलं राजन्नाधिजग्मुर्द्विजातयः ॥ २१ ॥

हे राजन् ! वे ब्राह्मण नगर, राज्य, गांव, झोपडियों और आश्रमोंमें वे नलको ढूंढने लगे, परन्तु नलको कहीं भी न पाया ॥ २१ ॥

तच्च वाक्यं तथा सर्वे तत्र तत्र विशां पते।
श्रावयांचक्रिरे विप्रा दमयन्त्या यथेरितम् ॥ २२ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥ २३८८ ॥

हे प्रजानाथ ! दमयन्तीने जैसे उन वचनोंको कहा था, उन वचनोंको वे ब्राह्मण जहां तहां सुनाने लगे ॥ २२ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें सतहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ ६७ ॥ २३८८ ॥

: ६८ :

बृहदश्व उवाच

अथ दीर्घस्य कालस्य पर्णादो नाम वै द्विजः।
प्रत्येत्य नगरं भैमीमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

बृहदश्व बोले- बहुतकाल बीतनेपर पर्णाद नामक ब्राह्मण विदर्भ नगरमें वापस आकर दमयन्तीसे ऐसा वचन बोला ॥ १ ॥

नैषधं मृगयानेन दमयन्ति दिवानिशम्।
अयोध्यां नगरीं गत्वा भाङ्गस्वरिरुपस्थितः ॥ २ ॥

हे दमयन्ती ! दिनरात नलको ढूंढते ढूंढते मैं अयोध्या नगरमें जाकर भांगस्वरके पुत्र राजा ऋतुपर्णके पास गया ॥ २ ॥

श्रावितश्च मया वाक्यं त्वदीयं स महाजने।
ऋतुपर्णो महाभागो यथोक्तं वरवर्णिनि ॥ ३ ॥

हे महाभागे सुन्दरी ! उन महाजनोंके बीचमें मैंने तुम्हारे द्वारा कहे गए वचन महाभाग ऋतुपर्णको सुनाये ॥ ३ ॥

तच्छ्रुत्वा नाब्रवीत्किंचिदृतुपर्णो नराधिपः।
न च पारिषदः कश्चिद्भाष्यमाणो मयासकृत् ॥ ४ ॥

उसे सुनकर राजा ऋतुपर्ण कुछ भी न बोले और मेरे बारबार बोलनेपर भी कोई भी उनका सभासद् कुछ नहीं बोला ॥ ४ ॥

अनुज्ञातं तु मां राज्ञा विजने कश्चिदब्रवीत् ।
ऋतुपर्णस्य पुरुषो बाहुको नाम नामतः ॥ ५ ॥

परन्तु राजाकी आज्ञा लेकर मेरे चल देनेपर बाहुक नामक राजाका एक नौकर एकान्तमें जाकर मुझसे कहने लगा ॥ ५ ॥

सूतस्तस्य नरेन्द्रस्य विरूपो ह्रस्वबाहुकः ।
शीघ्रयाने सुकुशलो मृष्टकर्ता च भोजने ॥ ६ ॥

वह उस राजाका सूत है और छोटे हाथवाला कुरूप है, परन्तु भोजनोंके उत्तम रीतिसे बनाने और रथको शीघ्र हांकनेमें बहुत ही कुशल है ॥ ६ ॥

स विनिःश्वस्य बहुशो रुदित्वा च मुहुर्मुहुः ।
कुशलं चैव मां पृष्ट्वा पश्चादिदमभाषत ॥ ७ ॥

वह बहुत रोकर और वारवार लम्बी सांसें लेता हुआ मुझसे कुशल पूछकर पश्चात् ऐसे बोला ॥ ७ ॥

वैषम्यमपि संप्राप्ता गोपायन्ति कुलस्त्रियः ।
आत्मानमात्मना सत्यो जितस्वर्गा न संशयः ।
रहिता भर्तृभिश्चैव न क्रुध्यन्ति कदाचन ॥ ८ ॥

उत्तम कुलमें उत्पन्न हुई जो स्त्रियां अत्यन्त विषम दुःखको पानेपर भी स्वयं अपनी रक्षा करती हैं और पतियोंसे बिछुड जानेपर भी क्रोधित नहीं होतीं; वे ही स्वर्गको जीतती हैं, इसमें कोई संशय नहीं ॥ ८ ॥

विषमस्थेन मूढेन परिभ्रष्टसुखेन च ।
यत्सा तेन परित्यक्ता तत्र न क्रोद्धुमर्हति ॥ ९ ॥

उस मूर्ख पतिने सुखोंसे भ्रष्ट होकर और संकटमें पडनेके कारण दुःखी होकर जो उसको छोड दिया; इस कारण उसको क्रोध करना उचित नहीं ॥ ९ ॥

प्राणयात्रां परिप्रेप्सोः शकुनैर्हृतवाससः ।
आधिभिर्दह्यमानस्य श्यामा न क्रोद्धुमर्हति ॥ १० ॥

भोजनको चाहनेवाले उसके वस्त्रको जब पक्षी लेकर उड गये और वह मानसिक चिन्ताओंसे जलने लगा, अतः उस निर्दोषीपर सुन्दरीका क्रोध करना उचित नहीं ॥ १० ॥

सत्कृतासत्कृता वापि पतिं दृष्ट्वा तथागतम् ।
भ्रष्टराज्यं श्रिया हीनं श्यामा न क्रोद्धुमर्हति ॥ ११ ॥

चाहे वह सत्कारकी पात्री हो, या न पात्री हो, तो भी राज्यसे भ्रष्ट, लक्ष्मीसे हीन अपने पतिको आया हुआ देखकर उसपर क्रोध करना अनुचित है ॥ ११ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा त्वरितोऽहमिहागतः ।
श्रुत्वा प्रमाणं भवती राज्ञश्चैव निवेदय ॥ १२ ॥

उसके यह वचन सुनकर मैं शीघ्र ही यहां चला आया। यह सुनकर अब आपकी जो इच्छा हो कीजिए और राजासे भी निवेदन कर दीजिये ॥ १२ ॥

एतच्छ्रुत्वाश्रुपूर्णाक्षी पर्णादस्य विशां पते ।
दमयन्ती रहोऽभ्येत्य मातरं प्रत्यभाषत ॥ १३ ॥

हे प्रजाओंके स्वामी युधिष्ठिर ! पर्णादके वचन सुनकर आंखोंमें आंसू भरकर दमयन्ती अपनी माताके पास एकान्तमें जाकर ऐसा बोली ॥ १३ ॥

अयमर्थो न संवेद्यो भीमे मातः कथंचन ।
त्वत्संनिधौ समादेक्ष्ये सुदेवं द्विजसत्तमम् ॥ १४ ॥

हे माता ! यह बात तुम राजा भीमसे कभी मत कहना, मैं तुम्हारे सामने ब्राह्मणश्रेष्ठ सुदेवको आदेश दूंगी ॥ १४ ॥

यथा न नृपतिर्भीमः प्रतिपद्येत मे मतम् ।
तथा त्वया प्रयत्तव्यं मम चेत्प्रियमिच्छसि ॥ १५ ॥

यदि तुम मेरा प्रिय करना चाहती हो, तो ऐसा प्रयत्न करो, कि जिससे इस बातको मेरे पिता राजा भीम भी न जानें ॥ १५ ॥

यथा चाहं समानीता सुदेवेनाशु बान्धवान् ।
तेनैव मङ्गलेनाशु सुदेवो यातु माचिरम् ।
समानेतुं नलं मातरयोध्यां नगरीमितः ॥ १६ ॥

जैसे सुदेवने मुझको शीघ्र ही मेरे बान्धवोंसे मिला दिया, हे माता ! उसी मंगलसे वह सुदेव नलको लानेके लिए यहांसे अयोध्या नगरीको शीघ्र जायें, देर न करें ॥ १६ ॥

विश्रान्तं च ततः पश्चात्पर्णादं द्विजसत्तमम् ।
अर्चयामासवैदर्भी धनेनातीव भामिनी ॥ १७ ॥

तदनन्तर विश्राम कर लेनेके बाद ब्राह्मणश्रेष्ठ पर्णादको सुन्दरी दमयन्तीने बहुत धन देकर प्रसन्न किया ॥ १७ ॥

नले चेहागते विप्र भूयो दास्यामि ते वसु
त्वया हि मे बहु कृतं यथा नान्यः करिष्यति ।
यद्भर्त्राहं समेष्यामि शीघ्रमेव द्विजोत्तम ॥ १८ ॥

और कहा– कि हे ब्राह्मण ! नलके यहां आ जानेपर तुमको और भी धन दूंगी। तुमने मुझपर बडा भारी उपकार किया है, जैसा कि कोई दूसरा नहीं कर सकता। हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! मैं तुम्हारे इस कार्यसे शीघ्र ही अपने पतिसे मिलूंगी ॥ १८ ॥

एवमुक्तोऽर्चयित्वा तामाशीर्वादैः सुमङ्गलैः ।
गृहानुपययौ चापि कृतार्थः स महामनाः ॥ १९ ॥

ब्राह्मणने उसके वचन सुनकर आशीर्वादों और मंगल वाचनोंसे दमयन्तीकी बहुत पूजा की, और वह महात्मा ब्राह्मण धनसे कृतार्थ होकर अपने घरको चला गया ॥ १९ ॥

ततश्चानाय्य तं विप्रं दमयन्ती युधिष्ठिर ।
अब्रवीत्संनिधौ मातुर्दुःखशोकसमन्विता ॥ २० ॥

हे युधिष्ठिर ! इसके बाद दुःख और शोकसे भरी हुई दमयन्तीने अपनी माताके आगे उस ब्राह्मण सुदेवको बुलाकर ऐसा कहा ॥ २० ॥

गत्वा सुदेव नगरीमयोध्यावासिनं नृपम् ।
ऋतुपर्णं वचो ब्रूहि पतिमन्यं चिकीर्षती ।
आस्थास्यति पुनर्भैमी दमयन्ती स्वयंवरम् ॥ २१ ॥

हे सुदेव ! तुम अयोध्या जाकर वहांके राजा ऋतुपर्णसे ऐसा कहना कि भीमकी पुत्री दमयन्ती अपने लिए दूसरा पति वरना चाहती है अतः वह पुनः अपना स्वयंवर रचायेगी ॥ २१ ॥

तत्र गच्छन्ति राजानो राजपुत्राश्च सर्वशः ।
यथा च गणितः कालः श्वोभूते स भविष्यति ॥ २२ ॥

वहां सब राजा और राजपुत्र जा रहे हैं, मैंने दिन गिन लिये हैं, वह स्वयंवर कल ही होगा ॥ २२ ॥

यदि संभावनीयं ते गच्छ शीघ्रमरिन्दम ।
सूर्योदये द्वितीयं सा भर्तारं वरयिष्यति ।
न हि स ज्ञायते वीरो नलो जीवन्मृतोऽपि वा ॥ २३ ॥

हे शत्रुनाशक ! यदि तुम्हारे लिए संभव हो तो शीघ्र जाओ; क्योंकि दूसरे दिनका सूर्य निकलते ही वह पतिका वरण कर लेगी । वीर नल अभीतक जीते हैं, या मर गये इसका कुछ पता नहीं है ॥ २३ ॥

एवं तया यथोक्तं वै गत्वा राजानमब्रवीत् ।
ऋतुपर्णं महाराज सुदेवो ब्राह्मणस्तदा ॥ २४ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि अष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६८ ॥ २४१२ ॥

हे महाराज ! तब दमयन्तीके इसप्रकार कहनेपर ब्राह्मण सुदेव अयोध्यामें पहुंचा और उसने राजा ऋतुपर्णसे सब बात कह सुनाई ॥ २४ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें अडसठवां अध्याय समाप्त ॥ ६८ ॥ २४१२ ॥

×

: ६९ :

बृहदश्व उवाच

श्रुत्वा वचः सुदेवस्य ऋतुपर्णो नराधिपः ।
सान्त्वयञ्श्लक्ष्णया वाचा बाहुकं प्रत्यभाषत ॥ १ ॥

बृहदश्व बोले– हे युधिष्ठिर ! सुदेवके ऐसे वचन सुनकर राजा ऋतुपर्ण बाहुकसे मीठे वचनोंसे शान्तिपूर्वक ऐसा बोले ॥ १ ॥

विदर्भान्यातुमिच्छामि दमयन्त्याः स्वयंवरम् ।
एकाह्ना हयतत्त्वज्ञ मन्यसे यदि बाहुक ॥ २ ॥

हे घोडोंकी विद्याको जाननेवाले बाहुक ! दमयन्तीका स्वयंवर है, अतः मैं एक ही दिनमें विदर्भनगर पहुंचना चाहता हूं, कहो यह हो सकता है ? ॥ २ ॥

एवमुक्तस्य कौन्तेय तेन राज्ञा नलस्य ह ।
व्यदीर्यत मनो दुःखात्प्रदध्यौ च महामनाः ॥ ३ ॥

हे कौन्तेय ! राजाके ऐसे वचन कहनेपर राजा नलका हृदय फटने लगा, परन्तु महामना नल धीरज धारण करके स्थिर रह गये और ऐसा विचारने लगे ॥ ३ ॥

दमयन्ती भवेदेतत्कुर्याद्दुःखेन मोहिता ।
अस्मदर्थे भवेद्वायमुपायश्चिन्तितो महान् ॥ ४ ॥

कि क्या दमयन्ती ऐसा कह सकती है ? अथवा दुःखसे मोहित होकर वह ऐसा कर भी सकती है ? अथवा हो सकता है कि उसने मुझे ही ढूंढ निकालनेके लिए यह महान् उपाय सोचा हो ॥ ४ ॥

नृशंसं बत वैदर्भी कर्तुकामा तपस्विनी ।
मया क्षुद्रेण निकृता पापेनाकृतबुद्धिना ॥ ५ ॥

हाय ! बडे दुःखकी बात है, कि तपस्विनी दमयन्ती भी मुझ क्षुद्र पापी और दुष्ट बुद्धिके द्वारा छोड दिए जानेके कारण दूसरा पति करना चाहती है ॥ ५ ॥

स्त्रीस्वभावश्चलो लोके मम दोषश्च दारुणः ।
स्यादेवमपि कुर्यात्सा विवशा गतसौहृदा ।
मम शोकेन संविग्ना नैराश्यात्तनुमध्यमा ॥ ६ ॥

स्त्रियोंका स्वभाव बडा चञ्चल होता है, और मेरा दोष भी बडा भयंकर है। अथवा हो सकता है, कि इतने दिन अलग रहनेके कारण दमयन्तीका मेरे ऊपर प्रेम न रहा हो और विवश होकर यह काम करने जा रही हो । वह पतली कमरवाली मेरे शोकसे उद्विग्न होनेके कारण निराश होकर घबडा गई हो ॥ ६ ॥

न चैवं कर्हिचित्कुर्यात्सापत्या च विशेषतः ।
यद्‍त्र तथ्यं पथ्यं च गत्वा वेत्स्यामि निश्चयम् ।
ऋतुपर्णस्य वै काममात्मार्थं च करोम्यहम् ॥ ७ ॥

परन्तु वह ऐसा कर्म नहीं कर सकती, विशेषतः जब उसकी सन्तानें हैं । इसमें जो सत्य और हितकारी होगा वहां जाकर सब निश्चयसे जान लूंगा, ऋतुपर्णकी इच्छा मैं अपने कार्यकी सिद्धिके लिए पूरी करूंगा ॥ ७ ॥

इति निश्चित्य मनसा बाहुको दीनमानसः ।
कृताञ्जलिरुवाचेदमृतुपर्णं नराधिपम् ॥ ८ ॥

ऐसा मनसे विचारकर, दीन मनवाले बाहुकने हाथ जोडकर राजा ऋतुपर्णसे ऐसे कहा ॥ ८ ॥

प्रतिजानामि ते सत्यं गमिष्यसि नराधिप ।
एकाहा पुरुषव्याघ्र विदर्भनगरीं नृप ॥ ९ ॥

हे महाराज ! आपके वचन मुझे स्वीकार हैं, मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि, हे पुरुषोंमें सिंहवत् राजन् ! आप एक ही दिनमें विदर्भनगर पहुंच जायेंगे ॥ ९ ॥

ततः परीक्षामश्वानां चक्रे राजन्स बाहुकः ।
अश्वशालामुपागम्य भाङ्गस्वरिनृपाज्ञया ॥ १० ॥

हे युधिष्ठिर ! इसके बाद भंगस्वरके पुत्र राजा ऋतुपर्णकी आज्ञासे उस बाहुकने घुडसालमें जाकर घोडोंकी परीक्षा की ॥ १० ॥

स त्वर्यमाणो बहुश ऋतुपर्णेन बाहुकः ।
अध्यगच्छत्कृशानश्वान्समर्थानध्वनि क्षमान् ॥ ११ ॥

राजा ऋतुपर्णने कहा– कि शीघ्रता करो । उनकी ऐसी आज्ञा सुनकर नल मार्गमें चलनेमें समर्थ पर दुबले दुबले घोडोंको बाहर निकाल लाये ॥ ११ ॥

तेजोबलसमायुक्तान्कुलशीलसमन्वितान् ।
वर्जितांल्लक्षणैर्हीनैः पृथुप्रोथान्महाहनून् ।
शुद्धान्दशभिरावर्तैः सिन्धुजान्वातरंहसः ॥ १२ ॥

वे घोडे तेज, बल और शीलसे भरे हुए, अच्छे कुलमें उत्पन्न, बुरे लक्षणोंसे रहित, मोटे नथुने, भारी ओठवाले, दश भौंरियोंसे सहित, सिन्धु देशमें उत्पन्न हुए और वायुके समान शीघ्र दौडनेवाले थे ॥ १२ ॥

दृष्ट्वा तानब्रवीद्राजा किंचित्कोपसमन्वितः ।
किमिदं प्रार्थितं कर्तुं प्रलब्धव्या हि ते वयम् ॥ १३ ॥

उनको देखकर राजा कुछ क्रोधित होकर बोले– कि तुम यह क्या करना चाहते हो ? क्या तुम हमें धोखा देना चाहते हो ? ॥ १३ ॥

कथमल्पबलप्राणा वक्ष्यन्तीमे हया मम ।
महानध्वा च तुरगैर्गन्तव्यः कथमीदृशैः ॥ १४ ॥

ये थोडे बलवाले घोडे मुझे कैसे ले जा सकते हैं ? और इस तरहके घोडोंसे हम इतनी दूर कैसे पहुंचेंगे ? ॥ १४ ॥

बाहुक उवाच

एते हया गमिष्यन्ति विदर्भान्नात्र संशयः ।
अथान्यान्मन्यसे राजन्ब्रूहि कान्योजयामि ते ॥ १५ ॥

बाहुक बोले– ये घोडे एक ही दिनमें विदर्भनगर पहुचेंगे, इसमें कोई संशय नहीं है अथवा दूसरे घोडोंके लिए आप आज्ञा दें और बतायें कि मैं किन घोडोंको आपके रथमें जोडूं ? ॥ १५ ॥

ऋतुपर्ण उवाच

त्वमेव हयतत्त्वज्ञः कुशलश्चासि बाहुक ।
यान्मन्यसे समर्थांस्त्वं क्षिप्रं तानेव योजय ॥ १६ ॥

ऋतुपर्ण बोले– हे बाहुक ! तुम घोडोंकी विद्याको जाननेमें निपुण और कुशल हो, जिनको तुम समर्थ समझो उन्हींको शीघ्र जोड लाओ ॥ १६ ॥

बृहदश्व उवाच

ततः सदश्वांश्चतुरः कुलशीलसमन्वितान् ।
योजयामास कुशलो जवयुक्तान्रथे नलः ॥ १७ ॥

बृहदश्व बोले– इसके बाद रथविद्यामें निपुण नलने कुल और शीलसे सम्पन्न तथा वेगवान् उत्तम चार घोडोंको रथमें जोडा ॥ १७ ॥

ततो युक्तं रथं राजा समारोहत्त्वरान्वितः ।
अथ पर्यपतन्भूमौ जानुभिस्ते हयोत्तमाः ॥ १८ ॥

तब राजा ऋतुपर्ण शीघ्रतापूर्वक उस घोडोंसे युक्त रथपर चढे । उनके चढते ही वे चारों उत्तम घोडे घुटनोंके बल पृथ्वीपर बैठ गये ॥ १८ ॥

ततो नरवरः श्रीमान्नलो राजा विशां पते।
सान्त्वयामास तानश्वांस्तेजोबलसमन्वितान् ॥ १९ ॥

तब, हे पृथ्वीनाथ युधिष्ठिर! श्रीमान् पुरुषोंमें श्रेष्ठ राजा नलने उन तेजस्वी और बलशाली घोडोंको चुचकारा ॥ १९ ॥

रश्मिभिश्च समुद्यम्य नलो यातुमियेष सः।
सूतमारोप्य वार्ष्णेयं जवमास्थाय वै परम् ॥ २० ॥

लगामोंसे उन्हें उठाकर नल वार्ष्णेय सारथिको रथपर चढाकर तथा अतिशय वेगका सहारा लेकर चलनेके लिए तैय्यार हुए ॥ २० ॥

ते चोद्यमाना विधिना बाहुकेन हयोत्तमाः।
समुत्पेतुरिवाकाशं रथिनं मोहयन्निव ॥ २१ ॥

तब विधिपूर्वक बाहुकसे प्रेरित होकर वे उत्तम घोडे ऋतुपर्णको आश्चर्ययुक्त करते हुए मानों रथको लेकर आकाशमें उड गये ॥ २१ ॥

तथा तु दृष्ट्वा तानश्वान्वहतो वातरंहसः।
अयोध्याधिपतिर्धीमान्विस्मयं परमं ययौ ॥ २२ ॥

वायुके समान वेगवान् उन घोडोंको रथ ले जाते देखकर बुद्धिमान् अयोध्याके राजा ऋतु-पर्ण अत्यधिक आश्चर्य करने लगे ॥ २२ ॥

रथघोषं तु तं श्रुत्वा हयसंग्रहणं च तत्।
वार्ष्णेयश्चिन्तयामास बाहुकस्य हयज्ञताम् ॥ २३ ॥

बाहुकके द्वारा चलाये जानेवाले उस रथके शब्दको सुनकर और उसके लगाम पकडनेकी रीति देखकर तथा बाहुककी अश्वविद्या देखकर वार्ष्णेय सोचने लगा ॥ २३ ॥

किं नु स्यान्मातलिरयं देवराजस्य सारथिः।
तथा हि लक्षणं वीरे बाहुके दृश्यते महत् ॥ २४ ॥

कहीं यह देवराज इन्द्रका सारथी मातली तो नहीं है? क्योंकि वीर बाहुकमें भी महान् लक्षण दीखते हैं ॥ २४ ॥

शालिहोत्रोऽथ किं नु स्याद्धयानां कुलतत्त्ववित्।
मानुषं समनुप्राप्तो वपुः परमशोभनम् ॥ २५ ॥

अथवा घोडोंके कुलके तत्त्वको जाननेवाले साक्षात् शालिहोत्र तो नहीं हैं? कहीं उन्होंने तो इस उत्तम पुरुषका शरीर धारण नहीं किया है? ॥ २५ ॥

उताहो स्विद्भवेद्राजा नलः परपुरञ्जयः।
सोऽयं नृपतिरायात इत्येवं समचिन्तयत् ॥ २६ ॥

अथवा शत्रुओंके नगरोंको जीतनेवाले यह साक्षात् नल ही तो नहीं हैं? अथवा वे ही आ गए हैं, ऐसा जान पडता है। जान पडता है, कि महाराजहीने यह रूप धारण किया है, इस प्रकार वार्ष्णेय सोचने लगा ॥ २६ ॥

अथ वा यां नलो वेद विद्यां तामेव बाहुकः।
तुल्यं हि लक्षये ज्ञानं बाहुकस्य नलस्य च ॥ २७ ॥

अथवा संभव है कि जिस विद्याको महाराज नल जानते थे, उसीको यह बाहुक भी जानता हो, क्योंकि राजा नल और बाहुककी बुद्धि भी समान ही दीखती है ॥ २७ ॥

अपि चेदं वयस्तुल्यमस्य मन्ये नलस्य च।
नायं नलो महावीर्यस्तद्विद्यस्तु भविष्यति ॥ २८ ॥

तथा नल और इस बाहुककी अवस्था भी एक ही जान पडती है। यदि यह महापराक्रमी नल नहीं हैं, तो उन्हींकी विद्याको जाननेवाला यह कोई दूसरा व्यक्ति होगा ॥ २८ ॥

प्रच्छन्ना हि महात्मानश्चरन्ति पृथिवीमिमाम्।
दैवेन विधिना युक्ताः शास्त्रोक्तैश्च विरूपणैः ॥ २९ ॥

अनेक महात्मा इस पृथ्वीपर अपने रूपको छिपाकर देवविधानको ग्रहण करके शास्त्रकी विधिके अनुसार घूमते हैं ॥ २९ ॥

भवेत्तु मतिभेदो मे गात्रवैरूप्यतां प्रति।
प्रमाणात्परिहीनस्तु भवेदिति हि मे मतिः ॥ ३० ॥

अतएव इनके शरीरको कुरूप देखकर मेरी बुद्धिका भेद हो सकता है, इसके अतिरिक्त यह नलकी अपेक्षा प्रमाण अर्थात् शरीरकी मोटाई ऊंचाईमें भी कम होनेसे मेरे विचारमें भेद होता है ॥ ३० ॥

वयःप्रमाणं तत्तुल्यं रूपेण तु विपर्ययः।
नलं सर्वगुणैर्युक्तं मन्ये बाहुकमन्ततः ॥ ३१ ॥

पर इसकी अवस्थाका प्रमाण नलहीके समान है पर रूप अलग है। मैं निश्चयसे कह सकता हूं कि सब गुणोंसे भरे हुए नलहीने अपना नाम बाहुक रख लिया है ॥ ३१ ॥

एवं विचार्य बहुशो वार्ष्णेयः पर्यचिन्तयत्।
हृदयेन महाराज पुण्यश्लोकस्य सारथिः ॥ ३२ ॥

हे महाराज युधिष्ठिर! पुण्यकीर्तिवाले राजा नलके सारथी वार्ष्णेयने ऐसा विचारकर अपने हृदयमें निश्चय कर लिया कि राजा नल ये ही हैं ॥ ३२ ॥

ऋतुपर्णस्तु राजेन्द्र बाहुकस्य हयज्ञताम्।
चिन्तयन्मुमुदे राजा सहवार्ष्णेयसारथिः ॥ ३३ ॥

हे राजन्! तब ऋतुपर्ण भी बाहुककी अश्वविद्यामें कुशलताके बारेमें सोचकर वार्ष्णेय सारथीके साथ बहुत ही प्रसन्न हुये ॥ ३३ ॥

बलं वीर्यं तथोत्साहं हयसंग्रहणं च तत्।
परं यत्नं च संप्रेक्ष्य परां मुदमवाप ह ॥ ३४ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥ २४४६ ॥

उस बाहुकके बल, वीर्य, उत्साह और घोडोंको पकडनेकी रीति और परम यत्नको देखकर राजा अत्यन्त ही प्रसन्न हुए ॥ ३४ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें उनहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ ६९ ॥ २४४६ ॥

७०

बृहदश्व उवाच

स नदीः पर्वतांश्चैव वनानि च सरांसि च।
अचिरेणातिचक्राम खेचरः खे चरन्निव ॥ १ ॥

बृदहश्व बोले– हे राजन् युधिष्ठिर! इसके बाद वह रथ पक्षीके समान आकाशमें चलता हुआ शीघ्र ही नदी, पर्वत, वन और तडागोंको पार कर गया ॥ १ ॥

तथा प्रयाते तु रथे तदा भाङ्गस्वरिर्नृपः।
उत्तरीयमथापश्यद्भ्रष्टं परपुरञ्जयः ॥ २ ॥

इस प्रकार चलते हुए रथपर बैठे हुए शत्रुनाशक राजा ऋतुपर्णने अपने दुपट्टेको पृथ्वीपर गिरता हुआ देखा ॥ २ ॥

ततः स त्वरमाणस्तु पटे निपतिते तदा।
ग्रहीष्यामीति तं राजा नलमाह महामनाः ॥ ३ ॥

तब दुपट्टेके गिर जानेपर बहुत शीघ्रता करते हुए महामना राजाने नलसे कहा– कि मैं अपना दुपट्टा लेना चाहता हूं ॥ ३ ॥

निगृह्णीष्व महाबुद्धे हयानेतान्महाजवान्।
वार्ष्णेयो यावदेतं मे पटमानयतामिति ॥ ४ ॥

हे महाबुद्धे! तुम इन बहुत शीघ्र चलनेवाले घोडोंको इतने समयतक रोको कि जबतक वार्ष्णेय मेरे इस दुपट्टेको उठा लावे ॥ ४ ॥

नलस्तं प्रत्युवाचाथ दूरे भ्रष्टः पटस्तव ।
योजनं समतिक्रान्तो न स शक्यस्त्वया पुनः ॥ ५ ॥

नलने ऋतुपर्णसे कहा– कि आपका दुपट्टा बहुत दूर जा गिरा है; उसको आप पा नहीं सकते; क्योंकि वह चार कोस पीछे रह गया है ॥ ५ ॥

एवमुक्ते नलेनाथ तदा भाङ्गस्वरिर्नृपः ।
आससाद वने राजन्फलवन्तं बिभीतकम् ॥ ६ ॥

हे राजन् युधिष्ठिर ! नलके ऐसे कहनेपर राजा ऋतुपर्णने उस वनमें एक फले और फूले हुए बहेडेके वृक्षको देखा ॥ ६ ॥

तं दृष्ट्वा बाहुकं राजा त्वरमाणोऽभ्यभाषत ।
ममापि सूत पश्य त्वं संख्याने परमं बलम् ॥ ७ ॥

उसको देखकर राजाने शीघ्रता सहित बाहुकसे कहा– कि हे सूत ! तुम मेरी भी अङ्कविद्यामें कुशलताको देखो ॥ ७ ॥

सर्वः सर्वं न जानाति सर्वज्ञो नास्ति कश्चन ।
नैकत्र परिनिष्ठास्ति ज्ञानस्य पुरुषे क्वचित् ॥ ८ ॥

सब कोई सब विद्याको नहीं जानता, क्योंकि कोई भी सर्वज्ञ नहीं है और एक पुरुषमें ही सब ज्ञान नहीं रहते हैं ॥ ८ ॥

वृक्षेऽस्मिन्यानि पर्णानि फलान्यपि च बाहुक ।
पतितानि च यान्यत्र तत्रैकमधिकं शतम् ।
एकपत्राधिकं पत्रं फलमेकं च बाहुक ॥ ९ ॥

हे बाहुक ! इस वृक्षमें जितने फल और पत्ते हैं (उनके बारेमें बताता हूँ) इस वृक्षके जितने फल और पत्ते नीचे गिर गये हैं; वे वृक्षमें लगे पत्तों और फलोंकी अपेक्षा एकसौ अधिक हैं । उन पत्तोंमें एक और फलोंमें भी एक अधिक फल है अर्थात् नीचे गिरे हुए फल और पत्ते वृक्षमें लगे हुए पत्ते और फलोंकी अपेक्षा एकसौ दो अधिक हैं ॥ ९ ॥

पञ्च कोटयोऽथ पत्राणां द्वयोरपि च शाखयोः ।
प्रचिनुह्यस्य शाखे द्वे याश्चाप्यन्याः प्रशाखिकाः
आभ्यां फलसहस्रे द्वे पञ्चोनं शतमेव च ॥ १० ॥

हे बाहुक ! इस वृक्षकी दोनों शाखाओंमें पांच करोड पत्ते हैं, इन दोनों शाखाओंसे जो छोटी शाखायें निकली हैं उनको काटकर चाहो तो गिन लो । उन दोनों शाखाओंमें दो हजार एक सौ उनचास फल हैं ॥ १० ॥

ततो रथादवप्लुत्य राजानं बाहुकोऽब्रवीत् ।
परोक्षमिव मे राजन्कत्थसे शत्रुकर्शन ॥ ११ ॥

तब बाहुकने रथसे उतरकर राजासे कहा— हे शत्रुनाशक राजन् ! आप परोक्षकी बातको कहते हैं ॥ ११ ॥

अथ ते गणिते राजन्विद्यते न परोक्षता ।
प्रत्यक्षं ते महाराज गणयिष्ये बिभीतकम् ॥ १२ ॥

हे राजन् । आपकी इस गणितविद्यामें परोक्षवाद नहीं है । हे महाराज ! मैं आपके आगे ही बहेडोंको गिनूंगा ॥ १२ ॥

अहं हि नाभिजानामि भवेदेवं न वेति च ।
संख्यास्यामि फलान्यस्य पश्यतस्ते जनाधिप ।
मुहूर्तमिव वार्ष्णेयो रश्मीन्यच्छतु वाजिनाम् ॥ १३ ॥

क्योंकि मैं नहीं जानता कि यह आपकी बात ऐसी ही है या नहीं। हे नरनाथ ! मैं आपके सामने ही इसके फलोंको गिनूंगा, कुछ देरतक वार्ष्णेय घोडोंकी लगाम पकडे रहे ॥१३॥

तमब्रवीन्नृपः सूतं नायं कालो विलम्बितुम् ।
बाहुकस्त्वब्रवीदेनं परं यत्नं समास्थितः ॥ १४ ॥

तब राजाने उस सारथिसे कहा— कि हे सूत ! यह समय देर करनेका नहीं है । पर परम यत्नका आश्रय लेनेवाले बाहुकने तो इससे ऐसा कहा ॥ १४ ॥

प्रतीक्षस्व मुहूर्तं त्वमथ वा त्वरते भवान् ।
एष याति शिवः पन्था याहि वार्ष्णेयसारथिः ॥ १५ ॥

कि कुछ थोडी देर आप ठहरिये, अथवा यदि आपको जल्दी है, तो यही आपका शुभ मार्ग जा रहा है । वार्ष्णेयको सारथी बनाकर चले जाइये ॥ १५ ॥

अब्रवीदृतुपर्णस्तं सान्त्वयन्कुरुनन्दन ।
त्वमेव यन्ता नान्योऽस्ति पृथिव्यामपि बाहुक ॥ १६ ॥

हे कुरुनन्दन ! बाहुकके ऐसे वचन सुनकर राजाने उससे सान्त्वनापूर्वक कहा— कि हे बाहुक ! जगत्में तुम ही एक सारथी हो, दूसरा नहीं ॥ १६ ॥

त्वत्कृते यातुमिच्छामि विदर्भान्हयकोविद ।
शरणं त्वां प्रपन्नोऽस्मि न विघ्नं कर्तुमर्हसि ॥ १७ ॥

हे हयकोविद ! तुम्हारे ही प्रयत्नसे मैं विदर्भनगरको जाना चाहता हूं। मैं तुम्हारी शरणमें हूं, तुम विघ्न मत करो ॥ १७ ॥

कामं च ते करिष्यामि यन्मां वक्ष्यसि बाहुक।
विदर्भान्यदि यात्वाद्य सूर्यं दर्शयितासि मे ॥ १८ ॥
यदि, हे बाहुक! तुम मुझे ले चलोगे और विदर्भ जाकर यदि तुम मुझे सूर्यका दर्शन करा दोगे, जो तुम कहोगे वही तुम्हारी कामना पूरी करूंगा ॥ १८ ॥

अथाब्रवीद्बाहुकस्तं संख्यायेमं विभीतकम्।
ततो विदर्भान्यास्यामि कुरुष्वेदं वचो मम ॥ १९ ॥
तब उससे बाहुकने कहा— कि मैं इस वृक्षके बहेडोंको गिनकर ही विदर्भको जाऊंगा आप मेरे इस वचनको स्वीकार कीजिये ॥ १९ ॥

अकाम इव तं राजा गणयस्वेत्युवाच ह।
सोऽवतीर्य रथात्तूर्णं शातयामास तं द्रुमम् ॥ २० ॥
तब राजाने इच्छा न रहनेपर भी कहा— कि अच्छा गिनो। तब नलने रथसे उतरकर शीघ्र ही उस वृक्षको काट डाला ॥ २० ॥

ततः स विस्मयाविष्टो राजानमिदमब्रवीत्।
गणयित्वा यथोक्तानि तावन्त्येव फलानि च ॥ २१ ॥
और उसके फलोंको गिना, राजाने जितने बतलाये थे, ठीक उतने ही पाये। तब आश्चर्य-चकित होकर राजासे यह बोला ॥ २१ ॥

अत्यद्भुतमिदं राजन्दृष्टवानस्मि ते बलम्।
श्रोतुमिच्छामि तां विद्यां यथैतज्ज्ञायते नृप ॥ २२ ॥
हे राजन्! मैंने आपका यह बल अत्यन्त अद्भुत देखा। हे राजन्! जिससे यह जाना जाता है मैं उस विद्याको यथावत् सुनना चाहता हूँ ॥ २२ ॥

तमुवाच ततो राजा त्वरितो गमने तदा।
विद्ध्यक्षहृदयज्ञं मां संख्याने च विशारदम् ॥ २३ ॥
शीघ्र चलनेकी इच्छावाले राजाने तब कहा— कि तुम मुझको पांसेके हृदयको जाननेवाला और गिननेकी विद्यामें निपुण जानो! ॥ २३ ॥

बाहुकस्तमुवाचाथ देहि विद्यामिमां मम।
मत्तोऽपि चाश्वहृदयं गृहाण पुरुषर्षभ ॥ २४ ॥
तब बाहुक उससे बोला— हे पुरुषर्षभ! यह विद्या मुझे सिखला दीजिये और मुझसे भी घोडोंकी विद्या सीख लीजिये ॥ २४ ॥

ऋतुपर्णस्ततो राजा बाहुकं कार्यगौरवात् ।
हयज्ञानस्य लोभाच्च तथेत्येवाब्रवीद्वचः ॥ २५ ॥

राजा ऋतुपर्णने भारी काम और घोडेकी विद्याके लोभसे बाहुकके वचनको स्वीकारकर कहा कि "तथास्तु" ॥ २५ ॥

यथेष्टं त्वं गृहाणेदमक्षाणां हृदयं परम् ।
निक्षेपो मेऽश्वहृदयं त्वयि तिष्ठतु बाहुक ।
एवमुक्त्वा ददौ विद्यामृतुपर्णो नलाय वै ॥ २६ ॥

तब राजाने कहा– कि हे बाहुक! यह जुएके हृदयकी विद्या तुम मुझसे यथावत् ग्रहण करो, और घोडेकी विद्या मेरे धरोहरके रूपमें तुम्हारे ही पास रहे । ऐसा कहकर ऋतुपर्णने नलको जुएकी सब विद्या सिखला दी ॥ २६ ॥

तस्याक्षहृदयज्ञस्य शरीरान्निःसृतः कलिः ।
कर्कोटकविषं तीक्ष्णं मुखात्सततमुद्वमन् ॥ २७ ॥

जुएका तत्त्व सीखते ही नलके शरीरसे कर्कोटक सांपके विषका मुखसे लगातार वमन करते हुए कलियुग बाहर निकल आया ॥ २७ ॥

कलेस्तस्य तदार्तस्य शापाग्निः स विनिःसृतः ।
स तेन कर्शितो राजा दीर्घकालमनात्मवान् ॥ २८ ॥

(नलके शरीरमें रहकर) दुःख पानेवाले उस कलिके शरीरसे वह शापाग्नि बाहर आ गई । उस कलिने राजा नलको बहुत समयतक विवेकहीन बनाकर बडा दुःख दिया था ॥ २८ ॥

ततो विषविमुक्तात्मा स्वरूपमकरोत्कलिः ।
तं शप्तुमैच्छत्कुपितो निषधाधिपतिर्नलः ॥ २९ ॥

इस प्रकार शरीर विषहीन होनेके बाद कलिने भी अपना रूप धारण कर लिया । तब निषधराज नलने क्रोधित होकर कलिको शाप देना चाहा ॥ २९ ॥

तमुवाच कलिर्भीतो वेपमानः कृताञ्जलिः ।
कोपं संयच्छ नृपते कीर्तिं दास्यामि ते पराम् ॥ ३० ॥

तब भयभीत होकर कांपते हुए कलियुगने हाथ जोडकर उससे ऐसा कहा– हे महाराज! आप अपने क्रोधको रोक लीजिये, मैं आपको बहुत यश प्रदान करूंगा ॥ ३० ॥

इन्द्रसेनस्य जननी कुपिता माशपत्पुरा ।
यदा त्वया परित्यक्ता ततोऽहं भृशपीडितः ॥ ३१ ॥

आपने जब दमयन्तीका परित्याग कर दिया था उस समय इन्द्रसेनकी माता दमयन्तीने मुझको शाप दिया था, उससे मैं बहुत पीडित हुआ हूं ॥ ३१ ॥

अवसं त्वयि राजेन्द्र सुदुःखमपराजित ।
विषेण नागराजस्य दह्यमानो दिवानिशम् ॥ ३२ ॥

हे किसीसे पराजित न होनेवाले राजाओंमें श्रेष्ठ! मैंने आपके शरीरमें नागराज कर्कोटक नागके विषसे रात दिन जलते हुए महा दुःखसे वास किया है ॥ ३२ ॥

ये च त्वां मनुजा लोके कीर्तयिष्यन्त्यतन्द्रिताः ।
मत्प्रसूतं भयं तेषां न कदाचिद्भविष्यति ॥ ३३ ॥

जगत्में जो मनुष्य आलस्यरहित होकर आपके चरित्रका वर्णन करेगा; उसको मुझसे उत्पन्न हुआ दुःख कदापि न होगा ॥ ३३ ॥

एवमुक्तो नलो राजा न्ययच्छत्कोपमात्मनः ।
ततो भीतः कलिः क्षिप्रं प्रविवेश बिभीतकम् ।
कलिस्त्वन्येन नादृश्यत्कथयन्नैषधेन वै ॥ ३४ ॥

कलिके इस प्रकार कहनेपर राजा नलने अपने क्रोधको रोक लिया। तब कलियुग भयभीत होकर उसी बहेडेके वृक्षमें घुस गया, परन्तु कलियुग और राजा नलकी इन बातोंको किसीने भी न सुना और न कलियुगको किसीने देखा ॥ ३४ ॥

ततो गतज्वरो राजा नैषधः परवीरहा ।
संप्रनष्टे कलौ राजन्संख्यायाथ फलान्युत ॥ ३५ ॥
मुदा परमया युक्तस्तेजसा च परेण ह ।
रथमारुह्य तेजस्वी प्रययौ जवनैर्हयैः ।
बिभीतकश्चाप्रशस्तः संवृत्तः कलिसंश्रयात् ॥ ३६ ॥

इसके बाद शत्रुनाशक निषधराज तेजस्वी नल कलिके नष्ट होनेपर सब दुःखोंसे रहित हो फलोंको गिनकर परमतेज और आनन्दसे पूर्ण होकर रथपर चढ शीघ्रता सहित वेगवान् घोडोंसे आगे चले। उसी दिन से कलियुगके प्रविष्ट होजानेसे बहेडेका वृक्ष अप्रशंसनीय हो गया ॥ ३५-३६ ॥

हयोत्तमानुत्पततो द्विजानिव पुनः पुनः ।
नलः संचोदयामास प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥ ३७ ॥

इसके बाद बार बार पक्षियोंकी तरह उडनेवाले श्रेष्ठ घोडोंको नलने प्रसन्न हृदयसे चलाया ॥ ३७ ॥

विदर्भाभिमुखो राजा प्रययौ स महामनाः ।
नले तु समतिक्रान्ते कलिरप्यगमद्गृहान् ॥ ३८ ॥

वे महामना राजा ऋतुपर्ण विदर्भ देशकी ओर चले गए, राजा नलके जानेके पश्चात् कलियुगभी वृक्षसे निकलकर अपने स्थानको चला गया ॥ ३८ ॥

ततो गतज्वरो राजा नलोऽभूत्पृथिवीपते ।
विमुक्तः कलिना राजन्रूपमात्रवियोजितः ॥ ३९ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ॥ २४८५ ॥

हे राजन् ! युधिष्ठिर ! राजा नलभी कलियुगके निकल जानेसे सुखी होगये, परन्तु केवल अपने सुन्दर रूपसे वियुक्तही रहे ॥ ३९ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें सत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ ७० ॥ २४८५ ॥

: ७१ :

बृहदश्व उवाच

ततो विदर्भान्संप्राप्तं सायाह्ने सत्यविक्रमम् ।
ऋतुपर्णं जना राज्ञे भीमाय प्रत्यवेदयन् ॥ १ ॥

बृहदश्व बोले– इसके बाद जब सत्यपराक्रमी राजा ऋतुपर्ण सन्ध्याके समय विदर्भनगरके द्वारपर पहुंचे तब द्वारपालोंने यह समाचार राजा भीमको दिया ॥ १ ॥

स भीमवचनाद्राजा कुण्डिनं प्राविशत्पुरम् ।
नादयन्रथघोषेण सर्वाः सोपदिशो दश ॥ २ ॥

राजा ऋतुपर्ण राजा भीमके कथनानुसार अपने रथकी आवाजसे दसों दिशाओं और उपदिशाओंको गुंजाते हुए कुण्डिनपुरमें प्रविष्ट हुए ॥ २ ॥

ततस्तं रथनिर्घोषं नलाश्वास्तत्र शुश्रुवुः ।
श्रुत्वा तु समहृष्यन्त पुरेव नलसंनिधौ ॥ ३ ॥

तब उसके शब्दको वहां खडे हुए नलके घोडों ने सुना और उस शब्दको सुनकर वे ऐसे प्रसन्न हुए, जैसे पहले नलको देखकर होते थे ॥ ३ ॥

दमयन्ती तु शुश्राव रथघोषं नलस्य तम् ।
यथा मेघस्य नदतो गम्भीरं जलदागमे ॥ ४ ॥

दमयन्तीने भी नलके उस रथके शब्दको ऐसे सुना जैसे वर्षाके काल आनेपर मेघ गर्जता है ॥ ४ ॥

नलेन संगृहीतेषु पुरेव नलवाजिषु ।
सदृशं रथनिर्घोषं मेने भैमी तथा हयाः ॥ ५ ॥

पहले नलके द्वारा अपने घोडोंको चलाये जानेपर जैसा शब्द होता था उसी तरहका शब्द अब भी रथ और घोडोंसे निकलता हुआ दमयन्तीने सुना ॥ ५ ॥

प्रासादस्थाश्च शिखिनः शालस्थाश्चैव वारणाः ।
हयाश्च शुश्रुवुस्तत्र रथघोषं महीपतेः ॥ ६ ॥

उस महाराजके रथके शब्दको महलोंपर वैठे हुए मोर अपने स्थानोंमें बंधे हुए हाथी और घोडोंने सुना ॥ ६ ॥

ते श्रुत्वा रथनिर्घोषं वारणाः शिखिनस्तथा ।
प्रणेदुरुन्मुखा राजन्मेघोदयमिवेक्ष्य ह ॥ ७ ॥

उस रथकी आवाजको सुनकर उन मोर, हाथी और घोडे उसे मेघकी गर्जना समझकर उधरहीको मुंह करके शब्द करने लगे; ॥ ७ ॥

दमयन्त्युवाच

यथासौ रथनिर्घोषः पूरयन्निव मेदिनीम् ।
मम ह्लादयते चेतो नल एष महीपतिः ॥ ८ ॥

दमयन्ती बोली– चूंकि यह रथका शब्द पृथ्वी को पूर्ण करता हुआ मेरे हृदयको प्रसन्न कर रहा है, अतः निश्चय होता है कि यही राजा नल हैं ॥ ८ ॥

अथ चन्द्राभवक्त्रं तं न पश्यामि नलं यदि ।
असंख्येयगुणं वीरं विनशिष्याम्यसंशयम् ॥ ९ ॥

अब यदि राजा नलके चन्द्रमाके समान मुखको न देखूंगी, यदि उस असंख्य गुणवाले वीरको प्राप्त नहीं करूंगी, तो निःसन्देहही मर जाऊंगी ॥ ९ ॥

यदि वै तस्य वीरस्य बाह्वोर्नाद्याहमन्तरम् ।
प्रविशामि सुखस्पर्शं विनशिष्याम्यसंशयम् ॥ १० ॥

यदि आज उस वीरके कोमल तथा सुखस्पर्श देनेवाले बाहोंके बीचमें प्रवेश न करूंगी, तो निःसन्देह मैं मर जाऊंगी ॥ १० ॥

यदि मां मेघनिर्घोषो नोपगच्छति नैषधः ।
अद्य चामीकरप्रख्यो विनशिष्याम्यसंशयम् ॥ ११ ॥

यदि आज मेघके समान गंभीर वाणीवाले तथा सोनेके समान कान्तिवाले निषधराज मेरे पास नहीं आयेंगे, तो मैं निश्चयसे मर जाऊंगी ॥ ११ ॥

यदि मां सिंहविक्रान्तो मत्तवारणवारणः ।
नाभिगच्छति राजेन्द्रो विनशिष्याम्यसंशयम् ॥ १२ ॥

यदि आज सिंहके समान तेजस्वी, मतवाले हाथीके समान बलवान् राजा नल मुझको न प्राप्त होंगे, तो अवश्य ही प्राण दे दूंगी ॥ १२ ॥

न स्मराम्यनृतं किंचिन्न स्मराम्यनुपाकृतम् ।
न च पर्युषितं वाक्यं स्वैरेष्वपि महात्मनः ॥ १३ ॥

मैं खेलमें भी कभी उन महात्माके न असत्य आचरणका स्मरण करती हूँ, न उनके द्वारा किए गए अपकारका स्मरण करती हूँ और नाही कभी उनके असत्य वचनोंका ही ख्याल करती हूँ ॥ १३ ॥

प्रभुः क्षमावान्वीरश्च मृदुर्दान्तो जितेन्द्रियः ।
रहोऽनीचानुवर्ती च क्लीबवन्मम नैषधः ॥ १४ ॥

निषधराज नल समर्थ, क्षमावान्, वीर, कोमल, चतुर और जितेन्द्रिय हैं, और वह एकांतमें भी नीच कर्मको नहीं करते तथा दूसरी स्त्रियोंके लिए वह नपुंसकके समान हैं ॥ १४ ॥

गुणांस्तस्य स्मरन्त्या मे तत्पराया दिवानिशम् ।
हृदयं दीर्यत इदं शोकात्प्रियविनाकृतम् ॥ १५ ॥

मैं रात दिन उनके गुणोंका स्मरण करती हुई हमेशा उन्हींका ध्यान करती हूँ । उन अपने अपने प्रियतमके बिना मेरा यह हृदय शोकसे फटा जाता है ॥ १५ ॥

बृहदश्व उवाच

एवं विलपमाना सा नष्टसंज्ञेव भारत ।
आरुरोह महद्वेश्म पुण्यश्लोकदिदृक्षया ॥ १६ ॥

बृहदश्व बोले– हे राजन् ! दमयन्ती इस प्रकार रोती हुई चेतनारहितसी हो गई । कुछ समयके बाद वह पुण्य यशवाले नलको देखनेकी इच्छासे ऊंची अटारीपर चढ गई ॥ १६ ॥

ततो मध्यमकक्षायां ददर्श रथमास्थितम् ।
ऋतुपर्णं महीपालं सहवार्ष्णेयबाहुकम् ॥ १७ ॥

तब नगरके बीचकी सडकमें वार्ष्णेय और बाहुकके साथ रथमें बैठे हुए राजा ऋतुपर्णको देखा ॥ १७ ॥

ततोऽवतीर्य वार्ष्णेयो बाहुकश्च रथोत्तमात् ।
हयांस्तानवमुच्याथ स्थापयामासतू रथम् ॥ १८ ॥

इसके बाद बाहुक और वार्ष्णेय श्रेष्ठ रथसे उतरे और घोडोंको रथसे अलग करके रथको एक जगह खडा कर दिया ॥ १८ ॥

सोऽवतीर्य रथोपस्थादृतुपर्णो नराधिपः ।
उपतस्थे महाराज भीमं भीमपराक्रमम् ॥ १९ ॥

महाराज ऋतुपर्ण भी रथके मध्यभागसे उतरकर महा पराक्रमी भीमसे मिलनेको चले ॥ १९ ॥

तं भीमः प्रतिजग्राह पूजया परयाः ततः ।
अकस्मात्सहसा प्राप्तं स्त्रीमन्त्रं न स्म विन्दति ॥ २० ॥

तब राजा भीमने उनका बहुत आदर और सत्कार किया, पर ऋतुपर्णके इसप्रकार अचानक आनेका कारण वे न जान सके क्योंकि वे दमयन्ती और उसकी माताकी करतूतोंको नहीं जानते थे ॥ २० ॥

किं कार्यं स्वागतं तेऽस्तु राज्ञा पृष्टश्च भारत ।
नाभिजज्ञे स नृपतिर्दुहित्रर्थे समागतम् ॥ २१ ॥

तब, हे भरतवंशी युधिष्ठिर ! राजा भीमने ऋतुपर्णसे कहा कि ' आपका स्वागत हो, महाराज ! किस निमित्त यहां आये हैं, सो कहें । ' राजा भीम यह नहीं जानते थे, कि यह हमारी पुत्रीके निमित्त आये हैं ॥ २१ ॥

ऋतुपर्णोऽपि राजा स धीमान्सत्यपराक्रमः ।
राजानं राजपुत्रं वा न स्म पश्यति कंचन ।
नैव स्वयंवरकथां न च विप्रसमागमम् ॥ २२ ॥

बुद्धिमान् सत्यपराक्रमी राजा ऋतुपर्णने भी किसी राजा और राजपुत्रको वहां नहीं देखा और स्वयंवरकी कोई तैय्यारी भी नहीं देखी और न ब्राह्मणोंका समूह ही देखा ॥ २२ ॥

ततो विगणयन्राजा मनसा कोसलाधिपः ।
आगतोऽस्मीत्युवाचैनं भवन्तमभिवादकः ॥ २३ ॥

तब कोशल देशके राजा ऋतुपर्णने मन ही मनमें कुछ सोचकर फिर राजा भीमसे ऐसा कहा कि मैं केवल आपको प्रणाम करने ही आया हूं ॥ २३ ॥

राजापि च स्मयन्भीमो मनसाभिविचिन्तयत् ।
अधिकं योजनशतं तस्यागमनकारणम् ॥ २४ ॥
ग्रामान्बहूनतिक्रम्य नाध्यगच्छद्यथातथम् ।
अल्पकार्यं विनिर्दिष्टं तस्यागमनकारणम् । ॥ २५ ॥

राजा भीम भी मुस्कराकर मन ही मन सोचने लगे कि " ये ऋतुपर्ण सौ योजनसे भी अधिक दूरसे बहुतसे गांवोंको लांघते हुए चले आ रहे हैं, फिर भी अपने आनेका कारण बहुत छोटा ही बताया है । " इस प्रकार बारबार विचार करनेपर भी भीम ऋतुपर्णके वहां आनेका ठीक ठीक कारण न जान सके ॥ २४-२५ ॥

नैतदेवं स नृपतिस्तं सत्कृत्य व्यसर्जयत् ।
विश्राम्यतामिति वदन्क्लान्तोऽसीति पुनः पुनः ॥ २६ ॥

राजा ऋतुपर्णके आनेका यह कारण नहीं हो सकता यह विचारकर ऋतुपर्णसे ' आप बहुत थके हुए हैं, अब विश्राम कीजिये ' ऐसा बारबार कहकर और उनका सत्कार करके उन्हें विदा किया ॥ २६ ॥

स सत्कृतः प्रहृष्टात्मा प्रीतः प्रीतेन पार्थिवः ।
राजप्रेष्यैरनुगतो दिष्टं वेश्म समाविशत् ॥ २७ ॥

प्रसन्न आत्मावाले राजा ऋतुपर्ण भी भीमसे प्रेमपूर्वक सत्कार पाकर प्रसन्न हुए और राजसेवकोंके सहित उस स्थानपर गये जो उनके ठहरनेके लिए ठीक किया गया था ॥ २७ ॥

ऋतुपर्णे गते राजन्वार्ष्णेयसहिते नृपे ।
बाहुको रथमास्थाय रथशालामुपागमत् ॥ २८ ॥

हे राजन् ! राजा ऋतुपर्णके वार्ष्णेयके सहित जानेके पश्चात् बाहुक भी रथपर बैठकर रथशालामें गये ॥ २८ ॥

स मोचयित्वा तानश्वान्परिचार्य च शास्त्रतः ।
स्वयं चैतान्समाश्वास्य रथोपस्थ उपाविशत् ॥ २९ ॥

वहां जाकर रथसे घोडोंको खोलकर शास्त्रके अनुसार घोडोंकी सेवा करके और उन घोडोंको प्रसन्न करके स्वयं रथके समीप बैठ गए ॥ २९ ॥

दमयन्ती तु शोकार्ता दृष्ट्वा भाङ्गस्वरिं नृपम् ।
सूतपुत्रं च वार्ष्णेयं बाहुकं च तथाविधम् ॥ ३० ॥

दमयन्ती भी रथमें राजा ऋतुपर्ण और सूतपुत्र वार्ष्णेयको तथा उस प्रकारसे विकृत रूपवाले बाहुकको देखकर शोकसे व्याकुल हो गई ॥ ३० ॥

चिन्तयामास वैदर्भी कस्यैष रथनिस्वनः ।
नलस्येव महानासीन्न च पश्यामि नैषधम् ॥ ३१ ॥

और विदर्भराजाकी पुत्री दमयन्ती सोचने लगी कि यह कौनसे सारथीके रथका शब्द था ? यह शब्द तो नलहीके रथका था परन्तु मैं निषधराजको तो देख नहीं रही ॥ ३१ ॥

वार्ष्णेयेन भवेन्नूनं विद्या सैवोपशिक्षिता ।
तेनास्य रथनिर्घोषो नलस्येव महानभूत् ॥ ३२ ॥

जान पडता है, कि वार्ष्णेयने भी उसी विद्याको सीख लिया है, इसी कारण इसके रथका शब्द भी नलके रथके समान ही महान् हुआ था ॥ ३२ ॥

४८

आहो स्विदृतुपर्णोऽपि यथा राजा नलस्तथा ।
ततोऽयं रथनिर्घोषो नैषधस्येव लक्ष्यते ॥ ३३ ॥

अथवा राजा ऋतुपर्ण भी वैसे ही हैं जैसे राजा नल थे । इसीलिए शायद इस रथका शब्द भी नलके रथके समान हुआ ॥ ३३ ॥

एवं वितर्कयित्वा तु दमयन्ती विशां पते ।
दूतीं प्रस्थापयामास नैषधान्वेषणे नृप ॥ ३४ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७१ ॥ २५१९ ॥

हे राजन् ! सुन्दरी दमयन्तीने इस प्रकार अनेक तर्क वितर्क करके राजा नलको ढूंढनेके लिए एक दूती भेजी ॥ ३४ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें इकहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ ७१ ॥ २५१९ ॥

: ७२ :

दमयन्त्युवाच

गच्छ केशिनि जानीहि क एष रथवाहकः ।
उपविष्टो रथोपस्थे विकृतो ह्रस्वबाहुकः ॥ १ ॥

दमयन्ती बोली– हे केशिनि ! तुम जाकर देखो, कि यह विरूप और छोटे हाथोंवाला सूत कौन है ? जो रथके समीप बैठा हुआ है ॥ १ ॥

अभ्येत्य कुशलं भद्रे मृदुपूर्वं समाहिता ।
पृच्छेथाः पुरुषं ह्येनं यथातत्त्वमनिन्दिते ॥ २ ॥

हे भद्रे ! हे अनिन्दिते ! तुम इस पुरुषके पास जाकर सावधान होकर मीठे वचनसे यथायोग्य कुशल पूछना ॥ २ ॥

अत्र मे महती शङ्का भवेदेष नलो नृपः ।
तथा च मे मनस्तुष्टिर्हृदयस्य च निर्वृतिः ॥ ३ ॥

मुझे बहुत भारी शङ्का हो रही है कि यह महाराज नल ही हैं । तुम इस प्रकार बात बनाकर कहना कि जिससे मेरा मन और हृदय सन्तुष्ट हो ॥ ३ ॥

ब्रूयाश्चैनं कथान्ते त्वं पर्णादवचनं यथा ।
प्रतिवाक्यं च सुश्रोणि बुध्येथास्त्वमनिन्दिते ॥ ४ ॥

और बातोंके अन्तमें वही पर्णादकी बात कहना । हे सुश्रोणि ! हे अनिन्दिते ! वह जो कुछ उत्तर दे, उसके हरएक वाक्यको तुम ध्यान देकर सुनना ॥ ४ ॥

बृहदश्व उवाच

एवं समाहिता गत्वा दूती बाहुकमब्रवीत्।
दमयन्त्यपि कल्याणी प्रासादस्थान्ववैक्षत ॥ ५ ॥

बृहदश्व बोले– इस प्रकार समझाकर कही गई वह दूती बाहुकसे जाकर बोली और कल्याणी दमयन्ती भी अटारीपर चढकर देखने लगी ॥ ५ ॥

केशिन्युवाच

स्वागतं ते मनुष्येन्द्र कुशलं ते ब्रवीम्यहम्।
दमयन्त्या वचः साधु निबोध पुरुषर्षभ ॥ ६ ॥

केशिनी बोली– हे मनुष्येन्द्र आपका स्वागत हो मैं आपका कुशल समाचार पूछने आई हूँ। हे पुरुषसिंह! दमयन्तीने आपसे जो वचन कहे हैं उन्हें आप अच्छी तरहसे सुनिये ॥ ६ ॥

कदा वै प्रस्थिता यूयं किमर्थमिह चागताः।
तत्त्वं ब्रूहि यथान्यायं वैदर्भी श्रोतुमिच्छति ॥ ७ ॥

आप लोग अपने घरसे कब चले थे ? और यहां क्यों आये हैं ? यह सब सत्य सत्य कहिये, विदर्भराज-पुत्री सुनना चाहती हैं ॥ ७ ॥

बाहुक उवाच

श्रुतः स्वयंवरो राज्ञा कौसल्येन यशस्विना।
द्वितीयो दमयन्त्या वै श्वोभूत इति भामिनि ॥ ८ ॥

बाहुक बोले– हे भामिनी! यशस्वी कोशलराज राजा ऋतुपर्णने यह सुना था, कि कल ही दमयन्तीका दूसरा स्वयंवर होगा ॥ ८ ॥

श्रुत्वा तं प्रस्थितो राजा शतयोजनयायिभिः।
हयैर्वातजवैर्मुख्यैरहमस्य च सारथिः ॥ ९ ॥

इसी निमित्त चारसौ कोस चलनेवाले वायुके समान शीघ्रगामी घोडोंको रथमें जोडकर महाराज यहां आये हैं और मैं इनका सारथी हूं ॥ ९ ॥

केशिन्युवाच

अथ योऽसौ तृतीयो वः स कुतः कस्य वा पुनः।
त्वं च कस्य कथं चेदं त्वयि कर्म समाहितम् ॥ १० ॥

केशिनी बोली– यह जो तुम्हारे साथ तीसरा पुरुष है, यह किसका सारथी और कौन है ? तुम कौन और किसके सूत हो ? यह कर्म तुमने कहां सीखा था ? ॥ १० ॥

बाहुक उवाच

पुण्यश्लोकस्य वै सूतो वार्ष्णेय इति विश्रुतः ।
स नले विद्रुते भद्रे भाङ्गस्वरिमुपास्थितः ॥ ११ ॥

बाहुक बोले– यह पुण्यश्लोक राजा नलका सारथी है, हे भद्रे ! यह वार्ष्णेयके नामसे प्रसिद्ध है। राजा नलके भाग जानेसे अब वह ऋतुपर्णके यहां नौकर है ॥ ११ ॥

अहमप्यश्वकुशलः सूदत्वे च सुनिष्ठितः ।
ऋतुपर्णेन सारथ्ये भोजने च वृतः स्वयम् ॥ १२ ॥

मैं भी घोडोंकी विद्यामें निपुण हूं, और भोजन बनानेकी विद्यामें भी निपुण हूँ। राजा ऋतुपर्णने मुझको सारथी और भोजन बनानेके काममें स्वयं प्रतिष्ठित किया है ॥ १२ ॥

केशिन्युवाच

अथ जानाति वार्ष्णेयः क नु राजा नलो गतः ।
कथंचित्त्वयि वैतेन कथितं स्यात्तु बाहुक ॥ १३ ॥

केशिनी बोली– हे बाहुक ! क्या वार्ष्णेय जानता है, कि राजा नल कहां चले गए ? और तुमसे यह सब बातें उसने कभी कही हैं ? ॥ १३ ॥

बाहुक उवाच

इहैव पुत्रो निक्षिप्य नलस्याशुभकर्मणः ।
गतस्ततो यथाकामं नैष जानाति नैषधम् ॥ १४ ॥

बाहुक बोले– यह वार्ष्णेय तो अशुभ कर्म करनेवाले राजा नलके बालकोंको यहां पहुंचाकर इच्छानुसार यहांसे चला गया था, इसे निषध राजाका समाचार नहीं मालूम ॥ १४ ॥

न चान्यः पुरुषः कश्चिन्नलं वेत्ति यशस्विनि ।
गूढश्चरति लोकेऽस्मिन्नष्टरूपो महीपतिः ॥ १५ ॥

हे यशस्विनि ! वह राजा अपने रूपको नष्ट करके गुप्त रूपसे विचरते हैं इसलिये नलको कोई दूसरा मनुष्य नहीं जानता ॥ १५ ॥

आत्मैव हि नलं वेत्ति या चास्य तदनन्तरा ।
न हि वै स्वानि लिंगानि नलः शंसन्ति कर्हिचित् ॥ १६ ॥

महाराज नल अपने चिन्होंको नहीं प्रकट करते हैं। उन चिन्हों नल स्वयं जानते हैं उसके अलावा जो उनकी पत्नी है वह जानती है ! ॥ १६ ॥

केशिन्युवाच

योऽसावयोध्यां प्रथमं गतवान्ब्राह्मणस्तदा ।
इमानि नारीवाक्यानि कथयानः पुनः पुनः ॥ १७ ॥

केशिनी बोली– जो ब्राह्मण अयोध्यामें पहले गया था, उसने जाकर स्त्रीके यह बचन वहां बार बार सुनाये थे ॥ १७ ॥

क्व नु त्वं कितव छित्त्वा वस्त्रार्धं प्रस्थितो मम ।
उत्सृज्य विपिने सुप्तामनुरक्तां प्रियां प्रिय ॥ १८ ॥

कि "हे प्रिय ! हे छली ! आप छलसे मेरे आधे वस्त्रको फाडकर प्रीतिवाली अपनी प्यारी मुझको वनमें सोते हुए छोडकर कहां चले गये ? ॥ १८ ॥

सा वै यथा समादिष्टा तत्रास्ते त्वत्प्रतीक्षिणी ।
दह्यमाना दिवारात्रं वस्त्रार्धेनाभिसंवृता ॥ १९ ॥

आपने उसको जैसी आज्ञा दी थी, वैसे ही वह आपका मार्ग देख रही है, वह विरहसे दिन रात जलती हुई उसी आधे वस्त्रको ओढे हुए है ॥ १९ ॥

तस्या रुदन्त्याः सततं तेन दुःखेन पार्थिव ।
प्रसादं कुरु वै वीर प्रतिवाक्यं प्रयच्छ च ॥ २० ॥

राजन् ! उस दुःखसे सदा रोती रहनेवाली अपनी प्रियतमापर कृपा कीजिए । हे वीर ! उसके वचनका उत्तर दीजिए ॥ २० ॥

तस्यास्तत्प्रियमाख्यानं प्रब्रवीहि महामते ।
तदेव वाक्यं वैदर्भी श्रोतुमिच्छत्यनिन्दिता ॥ २१ ॥

हे महामते ! उसके उस प्रिय आख्यानको तुम अपने मुखसे कहो, अनिन्दिता दमयन्ती वही वाक्य सुनना चाहती है" ॥ २१ ॥

एतच्छ्रुत्वा प्रतिवचस्तस्य दत्तं त्वया किल ।
यत्पुरा तत्पुनस्त्वत्तो वैदर्भी श्रोतुमिच्छति ॥ २२ ॥

यह सुनकर पहले तुमने जो उसका उत्तर दिया था, उसीको राजपुत्री फिर दुबारा सुनना चाहती ॥ २२ ॥

बृहदश्व उवाच

एवमुक्तस्य केशिन्या नलस्य कुरुनन्दन ।
हृदयं व्यथितं चासीदश्रुपूर्णे च लोचने ॥ २३ ॥

बृहदश्व बोले– हे कुरुनन्दन ! केशिनीके ऐसे वचन सुनकर राजा नलका हृदय बडा दुःखी हो गया और आंखें आंसुओंसे भर गईं ॥ २३ ॥

स निगृह्यात्मनो दुःखं दह्यमानो महीपतिः।
बाष्पसंदिग्धया वाचा पुनरेवेदमब्रवीत् ॥ २४ ॥

वह राजा नल अपने दुःखको रोककर, उस दुःखसे जलनेके कारण आंसुओंसे गद्गद हुई वाणीसे फिर यह बोले ॥ २४ ॥

वैषम्यमपि संप्राप्ता गोपायन्ति कुलस्त्रियः।
आत्मानमात्मना सत्यो जितस्वर्गा न संशयः ॥ २५ ॥

"जो पतिव्रता कुलीन स्त्रियां दुःखोंमें पडकर भी अपनी रक्षा स्वयं करती हैं, निःसन्देह वह स्वर्गको जीत लेती हैं ॥ २५ ॥

रहिता भर्तृभिश्चैव न क्रुध्यन्ति कदाचन।
प्राणांश्चारित्रकवचा धारयन्तीह सत्स्त्रियः ॥ २६ ॥

कुलीन स्त्रियां पतिसे दूर रह करभी क्रोध नहीं करती हैं। ऐसी श्रेष्ठ स्त्रियां अपने उत्तम चरित्र रूपी कवचको पहन करके प्राणोंको धारण किए रहती हैं ॥ २६ ॥

प्राणयात्रां परिप्रेप्सोः शकुनैर्हृतवाससः।
आधिभिर्दह्यमानस्य श्यामा न क्रोद्धुमर्हति ॥ २७ ॥

अतः प्राणयात्राको चलानेकी इच्छाके कारण जिसका वस्त्र पक्षियोंने हर लिया और जो दुःखसे पीडित है, उस पर सुन्दरी दमयन्तीको क्रोध करना उचित नहीं है ॥ २७ ॥

सत्कृतासत्कृता वापि पतिं दृष्ट्वा तथागतम्।
भ्रष्टं राज्यं श्रिया हीनं क्षुधितं व्यसनाप्लुतम् ॥ २८ ॥

राज्य और लक्ष्मीसेही नहीं बल्कि सुखोंसेभी भ्रष्ट, भूख और प्याससे व्याकुल आए हुए पतिपर कोईभी स्त्री क्रोध नहीं कर सकती है, चाहे वह पतिसे सत्कार पाये हो वा न पाये हो" ॥ २८ ॥

एवं ब्रुवाणस्तद्वाक्यं नलः परमदुःखितः।
न बाष्पमशकत्सोढुं प्ररुरोद च भारत ॥ २९ ॥

हे भारत युधिष्ठिर! इस प्रकार केशिनीसे वचन कहते हुए अत्यन्त दुःखी वे अपने आंसुको रोक न सके और जोर जोरसे रोने लगे ॥ २९ ॥

ततः सा केशिनी गत्वा दमयन्त्यै न्यवेदयत्।
तत्सर्वं कथितं चैव विकारं चैव तस्य तम् ॥ ३० ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥ २५४९ ॥

हे भारत! तब केशिनीने दमयन्तीके पास जाकर सब बात कह सुनाई और उसके विकार को भी कह सुनाया ॥ ३० ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें बहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ ७२ ॥ २५४९ ॥

: ७३ :

बृहदश्व उवाच

दमयन्ती तु तच्छ्रुत्वा भृशं शोकपरायणा ।
शङ्कमाना नलं तं वै केशिनीमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

बृहदश्व बोले– हे राजन् ! नलके उस वचनको सुनकर दमयन्तीको अत्यन्त शोक हुआ और उसके हृदयमें बाहुकके रूपमें नलके ही होनेका सन्देह हो गया, तब वह फिर केशिनी-से बोली ॥ १ ॥

गच्छ केशिनि भूयस्त्वं परीक्षां कुरु बाहुके ।
अब्रुवाणा समीपस्था चरितान्यस्य लक्षय ॥ २ ॥

हे केशिनी ! तू फिर जा और बाहुककी परीक्षा कर । उससे कुछ भी बात न करके उसके पास बैठकर उसके सब चरित्र देखती रह ॥ २ ॥

यदा च किंचित्कुर्यात्स कारणं तत्र भामिनि ।
तत्र संचेष्टमानस्य संलक्ष्यं तं विचेष्टितम् ॥ ३ ॥

हे भामिनि ! वह जो कुछ काम करे उसके कारणको खूब विचार कर और काम करते हुए उसके हर कामको भलीभांति देखती रह ॥ ३ ॥

न चास्य प्रतिबन्धेन देयोऽग्निरपि भामिनि ।
याचते न जलं देयं सम्यगत्वरमाणया ॥ ४ ॥

हे भामिनि ! वह तुझसे यदि बहुत हठ पूर्वक आग और पानी मांगे तोभी मत देना ॥ ४ ॥

एतत्सर्वं समीक्ष्य त्वं चरितं मे निवेदय ।
यच्चान्यदपि पश्येथास्तच्चाख्येयं त्वया मम ॥ ५ ॥

यह सब उनकी बातें देख और देखकर सब मुझसे कह औरभी उसमें जो असंख्य गुण तुझे दीख पडें वह सब मुझसे आकर कहना ॥ ५ ॥

दमयन्त्यैवमुक्ता सा जगामाथाशु केशिनी ।
निशाम्य च हयज्ञस्य लिङ्गानि पुनरागमत् ॥ ६ ॥

दमयन्ती के इस प्रकार कहने पर केशिनी पुनः बाहुकके पास जल्दी गई और उस अश्वविद्यामें निपुण बाहुकके लक्षण देखकर और सुनकर दमयन्तीके पास फिर आई ॥६॥

सा तत्सर्वं यथावृत्तं दमयन्त्यै न्यवेदयत् ।
निमित्तं यत्तदा दृष्टं बाहुके दिव्यमानुषम् ॥ ७ ॥

और बाहुकमें दिव्य या मनुष्यके जो भी लक्षण देखे, उन सबको दमयन्तीसे ठीक ठीक कह सुनाया ॥ ७ ॥

केशिन्युवाच

दृढं शुच्युपचारोऽसौ न मया मानुषः क्वचित् ।
दृष्टपूर्वः श्रुतो वापि दमयन्ति तथाविधः ॥ ८ ॥

केशिनी बोली- हे दमयन्ती! मैंने ऐसा पुरुष पहले कभी न देखा और न सुना था। यह सब जल और स्थलमें परम शुद्धिसे रहता है ॥ ८ ॥

ह्रस्वमासाद्य संचारं नासौ विनमते क्वचित् ।
तं तु दृष्ट्वा यथासङ्गमुत्सर्पति यथासुखम् ।
संकटेऽप्यस्य सुमहद्विवरं जायतेऽधिकम् ॥ ९ ॥

छोटे द्वारमेंसे गुजरनेके समय भी यह नहीं झुकता, परन्तु उसे देखकर पूरे शरीरसे उसमें सुखहीसे प्रवेश करता है। द्वार बहुत छोटा होनेपर भी इसके लिए बडा हो जाता है ॥९॥

ऋतुपर्णस्य चार्थाय भोजनीयमनेकशः ।
प्रेषितं तत्र राज्ञा च मांसं सुबहु पाशवम् ॥ १० ॥

भीम राजाने ऋतुपर्णके निमित्त अनेक प्रकारके भोजनकी सामग्री और अनेक पशुओंके मांस भेजे थे ॥ १० ॥

तस्य प्रक्षालनार्थाय कुम्भस्तत्रोपकल्पितः ।
स तेनावेक्षितः कुम्भः पूर्ण एवाभवत्तदा ॥ ११ ॥

और उस भोजन सामग्रीको धोनेके लिये उसके पास घडा भी भेजा था, बाहुकके देखते ही वह घडा जलसे भर गया ॥ ११ ॥

ततः प्रक्षालनं कृत्वा समधिश्रित्य बाहुकः ।
तृणमुष्टिं समादाय आविध्यैनं समादधत् ॥ १२ ॥

तब बाहुकने उसी जलसे सब वस्तुओंको धोकर चूल्हेपर चढा दिया। अनन्तर उसने एक मुठ्ठीभर तिनकोंको लेकर रगड डाला ॥ १२ ॥

अथ प्रज्वलितस्तत्र सहसा हव्यवाहनः ।
तदद्भुततमं दृष्ट्वा विस्मिताहमिहागता ॥ १३ ॥

तब उनमें अचानक अग्नि जल उठी। यह सब आश्चर्य भरे उसके काम देखकर आश्चर्य चकित होकर यहां चली आई ॥ १३ ॥

अन्यच्च तस्मिन्सुमहदाश्चर्यं लक्षितं मया ।
यदग्निमपि संस्पृश्य नैव दह्यत्यसौ शुभे ॥ १४ ॥

हे शुभे ! और भी मैंने उसमें एक महान् आश्चर्यकारक कर्म देखा, कि अग्निको छूनेसे भी उसके शरीरको वह अग्नि नहीं जलाती ॥ १४ ॥

छन्देन चोदकं तस्य वहत्यावर्जितं द्रुतम् ।
अतीव चान्यत्सुमहदाश्चर्यं दृष्टवत्यहम् ॥ १५ ॥

और जल उसकी इच्छासे शीघ्र बहता है। इससे भी अधिक एक और आश्चर्य उसमें मैंने देखा ॥ १५ ॥

यत्स पुष्पाण्युपादाय हस्ताभ्यां ममृदे शनैः ।
मृद्यमानानि पाणिभ्यां तेन पुष्पाणि तान्यथ ॥ १६ ॥

कि फूलोंको उठाकर उसने अपने हाथसे धीरे धीरे मला, पर हाथोंसे मले जानेपर भी वे फूल वैसे ही रहे ॥ १६ ॥

भूय एव सुगन्धीनि हृषितानि भवन्ति च ।
एतान्यद्भुतकल्पानि दृष्ट्वाहं द्रुतमागता ॥ १७ ॥

वरन ज्यों ज्यों वह मलता था, त्यों त्यों उनकी सुगन्धी बढती जाती थी, यह सब अद्भुत बात देखकर मैं तुम्हारे पास दौडी हुई आई हूं ॥ १७ ॥

बृहदश्व उवाच

दमयन्ती तु तच्छ्रुत्वा पुण्यश्लोकस्य चेष्टितम् ।
अमन्यत नलं प्राप्तं कर्मचेष्टाभिसूचितम् ॥ १८ ॥

बृहदश्व बोले– दमयन्तीने उस पुण्यकीर्तिवालेके कामोंको जानकर उसके कर्म और चेष्टाओंसे यह जान लिया, कि नल आ गये है ॥ १८ ॥

सा शङ्कमाना भर्तारं नलं बाहुकरूपिणम् ।
केशिनीं श्लक्ष्णया वाचा रुदती पुनरब्रवीत् ॥ १९ ॥

उसने बाहुकके रूपमें अपने पति नलका सन्देह करते हुए रोते हुए मीठी वाणीसे केशिनीसे फिर कहा ॥ १९ ॥

पुनर्गच्छ प्रमत्तस्य बाहुकस्योपसंस्कृतम् ।
महानसाच्छृतं मांसं समादायैहि भामिनि ॥ २० ॥

हे भामिनि ! तू पुनः जा और उन्मत्त बाहुकने जो मांस बनाया है, उसमेंसे जो कुछ चौकेके बाहर गिरा हो उसको यहां ले आ ॥ २० ॥

×

सा गत्वा बाहुके व्यग्रे तन्मांसमपकृष्य च।
अत्युष्णमेव त्वरिता तत्क्षणं प्रियकारिणी।
दमयन्त्यै ततः प्रादात्केशिनी कुरुनन्दन ॥ २१ ॥

वह दमयन्तीका हित करनेवाली केशिनी वहां गई और जब बाहुक और किसी काममें व्यस्त था, तब गिरा हुआ मांस, जो अत्यन्त उष्ण था, शीघ्र ही ले आई। हे कुरुनन्दन! केशिनीने वह मांस दमयन्तीको दे दिया ॥ २१ ॥

सोचिता नलसिद्धस्य मांसस्य बहुशः पुरा।
प्राश्य मत्वा नलं सूदं प्राक्रोशद्भृशदुःखिता ॥ २२ ॥

दमयन्तीने पहले अनेक बार नलका पकाया हुआ मांस खाया था, अतएव उस स्वादको जानती थी, अतः उसको खाकर दमयन्तीने निश्चय जान लिया कि यह सारथी नहीं, नल ही हैं। तब बहुत दुःखी होकर रोने लगी ॥ २२ ॥

वैक्लव्यं च परं गत्वा प्रक्षाल्य च मुखं ततः।
मिथुनं प्रेषयामास केशिन्या सह भारत ॥ २३ ॥

बहुत रो लेनेके बाद पानीसे मुखको धोकर अपनी लडकी और लडकेको केशिनीके साथ नलके पास भेजा ॥ २३ ॥

इन्द्रसेनां सह भ्रात्रा समभिज्ञाय बाहुकः।
अभिद्रुत्य ततो राजा परिष्वज्याङ्कमानयत् ॥ २४ ॥

हे भारत! बाहुकने इन्द्रसेनाको अपने भाईके साथ आते देख दौडकर दोनोंको चिपटा लिया। और राजाने उन्हें अपनी गोदमें बैठा लिया ॥ २४ ॥

बाहुकस्तु समासाद्य सुतौ सुरसुतोपमौ।
भृशं दुःखपरीतात्मा सुस्वरं प्ररुरोद ह ॥ २५ ॥

देवताओंके लडकोंके समान अपने दोनों बालकोंको अपनी गोदमें बिठलाकर अत्यन्त दुःखी चित्तवाला बाहुक ऊंचे स्वरसे रोने लगा ॥ २५ ॥

नैषधो दर्शयित्वा तु विकारमसकृत्तदा।
उत्सृज्य सहसा पुत्रौ केशिनीमिदमब्रवीत् ॥ २६ ॥

इस प्रकार अपने इस विकारको बार बार प्रकट कर करके राजा नल अचानक लडकोंको अलग करके केशिनीसे यह बोले ॥ २६ ॥

इदं सुसदृशं भद्रे मिथुनं मम पुत्रयोः।
ततो दृष्ट्वैव सहसा बाष्पमुत्सृष्टवानहम् ॥ २७ ॥

हे भद्रे! यह दोनों बालक मेरे बालकोंके समान हैं, इसीलिये इन दोनोंको देखकर मैं अचानक रोने लगा ॥ २७ ॥

बहुशः संपतन्तीं त्वां जनः शङ्केत दोषतः ।
वयं च देशातिथयो गच्छ भद्रे नमोऽस्तु ते ॥ २८ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥ २५७७ ॥

हे भद्रे ! तुमको यहां बार बार आते देखकर लोग इसमें किसी दोषकी शंका करेंगे, क्योंकि हम परदेशी अतिथि हैं; इसलिये तुम यहांसे चली जाओ, तुम्हें नमस्कार हो ॥ २८ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें तिहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ ७३ ॥ २५७७ ॥

: ७४ :

बृहदश्व उवाच

सर्वं विकारं दृष्ट्वा तु पुण्यश्लोकस्य धीमतः ।
आगत्य केशिनी क्षिप्रं दमयन्त्यै न्यवेदयत् ॥ १ ॥

बृहदश्व बोले– हे राजन् ! केशिनीने बुद्धिमान् पुण्यश्लोक नलके सब विकार देखकर आकर सब बातें दमयन्तीसे कह दीं ॥ १ ॥

दमयन्ती ततो भूयः प्रेषयामास केशिनीम् ।
मातुः सकाशं दुःखार्ता नलशङ्कासमुत्सुका ॥ २ ॥

तब अत्यंत दुःखी दमयन्तीने वह सब समाचार सुनकर नलके ऊपर सन्देह करके उन्हें जाननेकी इच्छासे केशिनीको अपनी माताके पास भेजा ॥ २ ॥

परीक्षितो मे बहुशो बाहुको नलशङ्कया ।
रूपे मे संशयस्त्वेकः स्वयमिच्छामि वेदितुम् ॥ ३ ॥

कि मैंने नलकी शंकासे बाहुककी बहुत बार परीक्षा की है अब केवल रूपहीमें सन्देह रह गया है, उसकी परीक्षा मैं स्वयं जाकर करना चाहती हूं ॥ ३ ॥

स वा प्रवेश्यतां मातर्मां वानुज्ञातुमर्हसि ।
विदितं वाथ वाज्ञातं पितुर्मे संविधीयताम् ॥ ४ ॥

हे माता ! या तो उसको यहां बुला दीजिये, या मुझे ही वहां जानेकी आज्ञा दीजिए, मेरी इस बातको चाहे पिता जानें वा न जानें, इस कार्यको कीजिये ॥ ४ ॥

एवमुक्ता तु वैदर्भ्या सा देवी भीममब्रवीत् ।
दुहितुस्तमभिप्रायमन्वजानाच्च पार्थिवः ॥ ५ ॥

पुत्रीके ऐसे वचन सुनकर रानीने राजाको सब कह सुनाया, तब राजाने अपनी पुत्रीके उस अभिप्रायको जान लिया ॥ ५ ॥

सा वै पित्राभ्यनुज्ञाता मात्रा च भरतर्षभ।
नलं प्रवेशयामास यत्र तस्याः प्रतिश्रयः ॥ ६ ॥

और, हे भरतश्रेष्ठ! मातापिताकी आज्ञा पाकर नलको वहां बुलाया कि जहां दमयन्ती रहती थी ॥ ६ ॥

तं तु दृष्ट्वा तथायुक्तं दमयन्ती नलं तदा।
तीव्रशोकसमाविष्टा बभूव वरवर्णिनी ॥ ७ ॥

तब सुन्दरी दमयन्ती नलको उस अवस्थामें देखकर भारी शोकसे व्याकुल हो गई ॥ ७ ॥

ततः काषायवसना जटिला मलपंकिनी।
दमयन्ती महाराज बाहुकं वाक्यमब्रवीत् ॥ ८ ॥

हे महाराज! तदनन्तर काषाय-वस्त्र पहने, जटाधारिणी, मैलसे भरी हुई दमयन्ती बाहुकसे यह वचन बोली ॥ ८ ॥

दृष्ट पूर्वस्त्वया कश्चिद्धर्मज्ञो नाम बाहुक।
सुप्तामुत्सृज्य विपिने गतो यः पुरुषः स्त्रियम् ॥ ९ ॥

हे बाहुक! तुमने पहले कभी कोई ऐसा धर्मज्ञ पुरुष देखा है, जो जंगलमें सोती हुई अपनी स्त्रीको छोडकर चला गया हो ॥ ९ ॥

अनागसं प्रियां भार्यां विजने श्रममोहिताम्।
अपहाय तु को गच्छेत्पुण्यश्लोकमृते नलम् ॥ १० ॥

पवित्रकीर्तिवाले राजा नलके सिवा ऐसा कौन होगा जो निरपराधिनी, थकावटसे पीडित अपनी प्रिय स्त्रीको शून्य वनमें छोडकर चला जाये? ॥ १० ॥

किं नु तस्य मया कार्यमपराद्धं महीपतेः।
यो मामुत्सृज्य विपिने गतवान्निद्रया हृताम् ॥ ११ ॥

मैंने उस राजाका न जाने कौनसा अपराध किया था, जिसकारणसे वे मुझको वनमें सोती हुई छोडकर चले गये? ॥ ११ ॥

साक्षाद्देवानपाहाय वृतो यः स मया पुरा।
अनुव्रतां साभिकामां पुत्रिणीं त्यक्तवान्कथम् ॥ १२ ॥

मैंने साक्षात् देवोंको छोडकर जिस को स्वयंवरमें पहले वरण किया था, नहीं जानती कि पुत्रवाली, पतिव्रता, भक्तिमती मुझको उन्होंने कैसे छोड दिया? ॥ १२ ॥

अग्नौ पाणिगृहीतां च हंसानां वचने स्थिताम्।
भविष्यामीति सत्यं च प्रतिश्रुत्य क तद्गतम् ॥ १३ ॥

हंसोंके वचन पर स्थित मुझसे अग्निको साक्षी देकर उन्होंने मेरा हाथ पकडकर कहा था, कि 'मैं तुम्हारा ही रहूंगा,' परन्तु न जाने वह प्रतिज्ञा कहां चली गई? ॥ १३ ॥

दमयन्त्या ब्रुवन्त्यास्तु सर्वमेतदरिन्दम ।
शोकजं वारि नेत्राभ्यामसुखं प्रास्रवद्बहु ॥ १४ ॥

हे शत्रुनाशन युधिष्ठिर ! दमयन्तीके ऐसे वचन सुनकर उसकी आंखोंसे शोकसे उत्पन्न हुए आंसु बहुत गिरने लगे ॥ १४ ॥

अतीव कृष्णताराभ्यां रक्तान्ताभ्यां जलं तु तत् ।
परिस्रवन्नलो दृष्ट्वा शोकार्त इदमब्रवीत् ॥ १५ ॥

अत्यन्त काली पर लाल कोरोंवाली आंखोंसे आंसू बहाती हुई दमयन्तीको देखकर शोकसे व्याकुल नल ऐसा बोले ॥ १५ ॥

मम राज्यं प्रनष्टं यन्नाहं तत्कृतवान्स्वयम् ।
कलिना तत्कृतं भीरु यच्च त्वामहमत्यजम् ॥ १६ ॥

हे भीरु ! जिस कर्मसे मेरा राज्य नष्ट हुआ था, वह कर्म मैंने नहीं किया था और जिसके कारण मैंने तुम्हें छोडा था, वह कर्म भी कलियुगने ही किया था ॥ १६ ॥

त्वया तु धर्मभृच्छ्रेष्ठे शापेनाभिहतः पुरा ।
वनस्थया दुःखितया शोचन्त्या मां विवाससम् ॥ १७ ॥

हे धर्मको धारण करनेवाली, स्त्रियोंमें श्रेष्ठ दमयन्ती ! पहले वनमें रहती हुई तुम बहुत दुःखी हो गई थीं, तब तुमने उस कलिको शाप देकर पीडित किया था ॥ १७ ॥

स मच्छरीरे त्वच्छापाद्दह्यमानोऽवसत्कलिः ।
त्वच्छापदग्धः सततं सोऽग्नाविव समाहितः । ॥ १८ ॥

वही कलि तुम्हारे शापसे जलता हुआ मेरे शरीरमें वास करता था, वह तुम्हारे शापकी अग्निसे जलनेके कारण अग्निके अंदर रहनेवाले के समान होकर मेरे शरीरमें वास करता था ॥ १८ ॥

मम च व्यवसायेन तपसा चैव निर्जितः ।
दुःखस्यान्तेन चानेन भवितव्यं हि नौ शुभे ॥ १९ ॥

हे शुभे ? मेरे पुरुषार्थ और तपस्यासे उसका पराजय हुआ, अब हम दोनोंके इस दुःखका अन्त हुआ ही समझो ॥ १९ ॥

विमुच्य मां गतः पापः स ततोऽहमिहागतः ।
त्वदर्थं विपुलश्रोणि न हि मेऽन्यत्प्रयोजनम् ॥ २० ॥

हे विपुलश्रोणि ! वह पापी मेरे शरीरको छोडकर चला गया तो मैं तुम्हारेही निमित्त यहां आया हूं, यहां आनेका और मेरा कुछभी प्रयोजन नहीं था ॥ २० ॥

कथं तु नारी भर्तारमनुरक्तमनुव्रतम् ।
उत्सृज्य वरयेदन्यं यथा त्वं भीरु कर्हिचित् ॥ २१ ॥

स्त्री अनुरक्त और व्रतधारी पतिको छोडकर दूसरा पति कैसे कर सकती है ? हे भीरु ! यह काम तुम्हीं ऐसीसे हो सकता है ॥ २१ ॥

दूताश्चरन्ति पृथिवीं कृत्स्नां नृपतिशासनात् ।
भैमी किल स्म भर्तारं द्वितीयं वरयिष्यति ॥ २२ ॥
स्वैरवृत्ता यथाकाममनुरूपमिवात्मनः ।
श्रुत्वैव चैवं त्वरितो भाङ्गस्वरिरुपस्थितः ॥ २३ ॥

क्योंकि राजा की आज्ञासे सब पृथ्वीमें दूत यह कहते फिरते हैं, कि भीमपुत्री अपनी इच्छासे कामके अनुकूल अपने योग्य दूसरा पति वरण करेगी । इसी बातको सुनकर राजा ऋतुपर्ण यहां शीघ्रतासे आये हैं । ॥ २२-२३ ॥

दमयन्ती तु तच्छ्रुत्वा नलस्य परिदेवितम् ।
प्राञ्जलिर्वेपमाना च भीता वचनमब्रवीत् ॥ २४ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७४ ॥ २६०१ ॥

दमयन्ती रोते हुए नलकी यह बात सुनकर हाथ जोडकर डरसे कांपती हुई इस प्रकार वचन कहने लगी ॥ २४ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें चौहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ ७४ ॥ २६०१ ॥

: ७५ :

दमयन्त्युवाच

न मामर्हसि कल्याण पापेन परिशङ्कितुम् ।
मया हि देवानुत्सृज्य वृतस्त्वं निषधाधिप ॥ १ ॥

दमयन्ती बोली– हे कल्याणकारी निषध राज ! आप मुझमें किसी तरहके पापका सन्देह न करें । क्योंकि मैंने देवोंका परित्याग करके आपको पति बनाया है ॥ १ ॥

तवाभिगमनार्थं तु सर्वतो ब्राह्मणा गताः ।
वाक्यानि मम गाथाभिर्गायमाना दिशो दश ॥ २ ॥

आपहीके पानेके निमित्त ब्राह्मण सब ओर गये थे, उन्होंने मेरे वचनको गाथाके रूपसे दसों दिशाओंमें गया था ॥ २ ॥

ततस्त्वां ब्राह्मणो विद्वान्पर्णादो नाम पार्थिव ।
अभ्यगच्छत्कोसलायामृतुपर्णनिवेशने ॥ ३ ॥

हे राजन् ! उन्हींमेंसे एक विद्वान् पर्णाद नामक ब्राह्मणने अयोध्यापुरीमें राजा ऋतुपर्णके घर आपको देखा ॥ ३ ॥

तेन वाक्ये हृते सम्यक्प्रतिवाक्ये तथाहृते ।
उपायोऽयं मया दृष्टो नैषधानयने तव ॥ ४ ॥

उसने आपसे जो कहा और आपने जो उसको उत्तर दिया उससे आपके बुलानेमें मुझको यह उपाय ठीक जान पडा ॥ ४ ॥

त्वामृते न हि लोकेऽन्य एकाह्ना पृथिवीपते ।
समर्थो योजनशतं गन्तुमश्वैर्नराधिप ॥ ५ ॥

हे पृथ्वीनाथ ! आपके सिवा पृथ्वीमें कोई पुरुष ऐसा नहीं है, जो एक दिनमें घोडोंके द्वारा चारसौ कोस चल सके ॥ ५ ॥

तथा चेमौ महीपाल भजेऽहं चरणौ तव ।
यथा नासत्कृतं किंचिन्मनसापि चराम्यहम् ॥ ६ ॥

हे नरनाथ ! मैं आपके इन चरणोंको छूकर कहती हूं, कि मैंने मनसे भी कुछ पाप नहीं किया ॥ ६ ॥

अयं चरति लोकेऽस्मिन्भूतसाक्षी सदागतिः ।
एष मुञ्चतु मे प्राणान्यदि पापं चराम्यहम् ॥ ७ ॥

इस लोकमें हमेशा चलनेवाली यह वायु प्राणियोंकी साक्षी होकर बह रही है, यदि मैंने कभी कुछ भी पाप किया हो तो यह वायु मेरे प्राणका नाश कर दे ॥ ७ ॥

तथा चरति तिग्मांशुः परेण भुवनं सदा ।
स विमुञ्चतु मे प्राणान्यदि पापं चराम्यहम् ॥ ८ ॥

यदि मैंने पाप किया हो तो यह सब जगतमें घूमनेवाले सूर्य मेरे प्राणका नाश करें ॥ ८ ॥

चन्द्रमाः सर्वभूतानामन्तश्चरति साक्षिवत् ।
स विमुञ्चतु मे प्राणान्यदि पापं चराम्यहम् ॥ ९ ॥

यदि मैंने कुछ पाप किया हो तो यह चन्द्रमा, जो सबके मनमें साक्षीके रूपमें विचरता है, मेरे प्राणका नाश करे ॥ ९ ॥

एते देवास्त्रयः कृत्स्नं त्रैलोक्यं धारयन्ति वै।
विब्रुवन्तु यथासत्यमेते वाद्य त्यजन्तु माम् ॥ १० ॥

ये तीनों देवता सम्पूर्ण तीनों लोकोंको धारण करते हैं, यह सत्य कहें, अथवा यदि मैंने झूठ कहा हो तो यह आज ही मुझको छोड दें ॥ १० ॥

एवमुक्ते ततो वायुरन्तरिक्षादभाषत।
नैषा कृतवती पापं नल सत्यं ब्रवीमि ते ॥ ११ ॥

जब दमयन्तीने ऐसा कहा तो आकाशमें घूमनेवाले वायु बोले- कि हे नल! मैं तुमसे सत्य कहता हूँ, कि इसने कुछ भी पाप नहीं किया है ॥ ११ ॥

राजञ्शीलनिधिः स्फीतो दमयन्त्या सुरक्षितः।
साक्षिणो रक्षिणश्चास्या वयं त्रीन्परिवत्सरान् ॥ १२ ॥

हे राजन्! दमयन्तीका सुन्दर शीलसमुद्र रक्षित ही है। हे नल! इसने कुछ भी पाप नहीं किया। इसके तीनवर्षके हमलोग रक्षक और साक्षी हैं ॥ १२ ॥

उपायो विहितश्चायं त्वदर्थमतुलोऽनया।
न ह्येकाह्ना शतं गन्ता त्वदृतेऽन्यः पुमानिह ॥ १३ ॥

हे राजन्! इसने यह भारी उपाय आपके ही निमित्त किया है, क्योंकि आपके सिवाय कोई भी चार सौ कोस एक दिनमें नहीं चल सकता ॥ १३ ॥

उपपन्ना त्वया भैमी त्वं च भैम्या महीपते।
नात्र शङ्का त्वया कार्या संगच्छ सह भार्यया ॥ १४ ॥

हे पृथ्वीनाथ! आप दमयन्तीको मिल गए और दमयन्ती आपको मिल गई है। अब आपको कुछ भी सन्देह नहीं करना चाहिये, अब स्त्रीके साथ मिलिए ॥ १४ ॥

तथा ब्रुवति वायौ तु पुष्पवृष्टिः पपात ह।
देवदुन्दुभयो नेदुर्ववौ च पवनः शिवः ॥ १५ ॥

पवनके ऐसा कहते ही आकाशसे फूल बरसने लगे, देवोंने नगाडे बजाये और उत्तम पवन चलने लगा ॥ १५ ॥

तदद्भुततमं दृष्ट्वा नलो राजाथ भारत।
दमयन्त्यां विशङ्कां तां व्यपाकर्षदरिन्दमः ॥ १६ ॥

हे भारत! शत्रुनाशी राजा नलने यह अद्भुत बात देखकर दमयन्तीके बारेमें शंकाओंको त्याग दिया ॥ १६ ॥

ततस्तद्वस्त्रमरजः प्रावृणोद्वसुधाधिपः ।
संस्मृत्य नागराजानं ततो लेभे वपुः स्वकम् ॥ १७ ॥

तदनन्तर राजा नलने नागराज कर्कोटकका स्मरण करके उस शुद्ध वस्त्रको ओढा, उसके धारण करते ही नलने अपने पहले रूपको प्राप्त कर लिया ॥ १७ ॥

स्वरूपिणं तु भर्तारं दृष्ट्वा भीमसुता तदा ।
प्राक्रोशदुच्चैरालिङ्ग्य पुण्यश्लोकमनिन्दिता ॥ १८ ॥

तब दमयन्ती पतिको अपने रूपमें देखकर पुण्यकीर्तिवाले राजासे लिपटकर उच्च स्वरसे रोने लगी ॥ १८ ॥

भैमीमपि नलो राजा भ्राजमानो यथा पुरा ।
सस्वजे स्वसुतौ चापि यथावत्प्रत्यनन्दत ॥ १९ ॥

राजा नल भी अपनी स्त्रीसे लिपट गये, तदनन्तर अपने पहलेके रूपसे शोभित होकर अपने पुत्रोंको चिपटा कर आनन्दित हुए ॥ १९ ॥

ततः स्वोरसि विन्यस्य वक्त्रं तस्य शुभानना ।
परीता तेन दुःखेन निशश्वासायतेक्षणा ॥ २० ॥

सुन्दर रूपवाली विशाल नैनी दमयन्ती नलके सिरको अपनी छातीसे लगाकर उस दुःखसे व्याकुल होकर लम्बी सांस लेने लगी ॥ २० ॥

तथैव मलदिग्धाङ्गी परिष्वज्य शुचिस्मिता ।
सुचिरं पुरुषव्याघ्रं तस्थौ साश्रुपरिप्लुता ॥ २१ ॥

वैसे ही सुन्दरतासे हंसनेवाली, मैलसे भरी हुई तथा आंसुओंसे भरी हुई दमयन्ती पुरुषसिंह नलको लिपटाकर बहुत देरतक खडी रही ॥ २१ ॥

ततः सर्वं यथावृत्तं दमयन्त्या नलस्य च ।
भीमायाकथयत्प्रीत्या वैदर्भ्या जननी नृप ॥ २२ ॥

तब दमयन्तीकी माताने प्रसन्न होकर नल और दमयन्तीका वह सब वृत्तान्त राजा भीमसे कह सुनाया ॥ २२ ॥

ततोऽब्रवीन्महाराजः कृतशौचमहं नलम् ।
दमयन्त्या सहोपेतं काल्यं द्रष्टा सुखोषितम् ॥ २३ ॥

हे राजन् ! तब राजा भीमने कहा— कि मैं कल सवेरे शौचसे पवित्र होकर दमयन्तीके सहित सुखसे बैठे हुए नलको देखूंगा ॥ २३ ॥

ततस्तौ सहितौ रात्रिं कथयन्तौ पुरातनम् ।
वने विचरितं सर्वमूषतुर्मुदितौ नृप ॥ २४ ॥

हे राजन् ! तदनन्तर नल और दमयन्तीने बहुत आनन्दसे उस रातको वनकी पुरानी कथायें कहते कहते विता दिया ॥ २४ ॥

स चतुर्थे ततो वर्षे संगम्य सह भार्यया ।
सर्वकामैः सुसिद्धार्थो लब्धवान्परमां मुदम् ॥ २५ ॥

राजा नल इस चौथे वर्षमें अपनी स्त्रीको पाकर और सब कामोंको सिद्ध करके परम आनन्दको प्राप्त हुए ॥ २५ ॥

दमयन्त्यपि भर्तारमवाप्याप्यायिता भृशम् ।
अर्धसंजातसस्येव तोयं प्राप्य वसुन्धरा ॥ २६ ॥

दमयन्ती भी अपने पतिको प्राप्त करके इस प्रकार आनन्दमें मग्न हुई, जैसे आधे अंकुरके उत्पन्न होनेके समय पानीको प्राप्त करके पृथ्वी आनन्दित होती है ॥ २६ ॥

सैवं समेत्य व्यपनीततन्द्री शान्तज्वरा हर्षविवृद्धसत्त्वा ।
रराज भैमी समवाप्तकामा शीतांशुना रात्रिरिवोदितेन ॥ २७ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७५ ॥ २६२८ ॥

भीमपुत्री दमयन्ती अपने पतिको प्राप्त होनेसे सब दुःखोंको शान्त करके निद्राको त्यागकर आनन्दसे बल बढाकर ऐसी शोभित हुई, जैसे चन्द्रमा निकलनेसे रात्रि ॥ २७ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें पिचहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ ७५ ॥ २६२८ ॥

: ७६ :

बृहदश्व उवाच

अथ तां व्युषितो रात्रिं नलो राजा स्वलंकृतः ।
वैदर्भ्या सहितः काल्यं ददर्श वसुधाधिपम् ॥ १ ॥

बृहदश्व बोले– उस रात्रिको विताकर प्रातःकाल होते ही राजा नलने उत्तम वस्त्र और भूषण पहन कर दमयन्तीके साथ राजा भीमके दर्शन किए ॥ १ ॥

ततोऽभिवादयामास प्रयतः श्वशुरं नलः ।
तस्यानु दमयन्ती च ववन्दे पितरं शुभा ॥ २ ॥

नलने देखते ही विनयपूर्वक अपने श्वसुरको प्रणाम किया, तब कल्याणी दमयन्तीने भी अपने पिताको प्रणाम किया ॥ २ ॥

तं भीमः प्रतिजग्राह पुत्रवत्परया मुदा ।
यथार्हं पूजयित्वा च समाश्वासयत प्रभुः ।
नलेन सहितां तत्र दमयन्तीं पतिव्रताम् ॥ ३ ॥

राजा भीमने अत्यन्त प्रसन्न होकर राजा नलको अपने पुत्रके समान लिपटा लिया और तथा नलके साथ पतिव्रता दमयन्तीकी यथायोग्य पूजा करके उनको बहुत धीरज दिया ॥ ३ ॥

तामर्हणां नलो राजा प्रतिगृह्य यथाविधि ।
परिचर्यां स्वकां तस्मै यथावत्प्रत्यवेदयत् ॥ ४ ॥

राजा नलनेभी उस पूजाको विधिपूर्वक ग्रहण किया और नलने भी अपनी ओरसे राजाकी यथोचित सेवा की ॥ ४ ॥

ततो बभूव नगरे सुमहान्हर्षनिस्वनः ।
जनस्य संप्रहृष्टस्य नलं दृष्ट्वा तथागतम् ॥ ५ ॥

उस दिन नगरमें चारों ओर महा आनन्दके शब्द होने लगे । इस प्रकारसे नलको देखकर सब पुरुषोंने बहुत आनन्दउत्सव मनाया ॥ ५ ॥

अशोभयच्च नगरं पताकाध्वजमालिनम् ।
सिक्तसंमृष्टपुष्पाढ्या राजमार्गाः कृतास्तदा ॥ ६ ॥

नगर पताका और ध्वजाओंसे सजाया गया, राजमार्ग तथा बडी बडी सडकोंपर जल छिडका गया, उन्हें दोनों ओर फूलोंसे शोभित किया गया ॥ ६ ॥

द्वारि द्वारि च पौराणां पुष्पभङ्गः प्रकल्पितः ।
अर्चितानि च सर्वाणि देवतायतनानि च ॥ ७ ॥

सब नगरवासियोंने अपने अपने द्वारपर बन्दनवार और फूलोंकी मालायें लगा दीं, देवताओंके सब स्थानोंमें पूजायें होने लगीं ॥ ७ ॥

ऋतुपर्णोऽपि शुश्राव बाहुकच्छद्मिनं नलम् ।
दमयन्त्या समायुक्तं जहृषे च नराधिपः ॥ ८ ॥

राजा ऋतुपर्णने भी यह सुना कि बाहुक गुप्तरूपमें नलही था । उसको दमयन्तीसे मिला हुआ सुनकर ऋतुपर्णको बहुत आनन्द हुआ ॥ ८ ॥

तमानाय्य नलो राजा क्षमयामास पार्थिवम् ।
स च तं क्षमयामास हेतुभिर्बुद्धिसंमतः ॥ ९ ॥

तदनन्तर राजा ऋतुपर्णने नलसे मिलकर अपना अपराध क्षमा कराया, बुद्धिमान् राजा नलनेभी अनेक हेतु दिखलाकर राजा ऋतुपर्णका अपराध क्षमा किया ॥ ९ ॥

स सत्कृतो महीपालो नैषधं विस्मयान्वितः।
दिष्ट्या समेतो दारैः स्वैर्भवानित्यभ्यनन्दत ॥ १० ॥

राजा ऋतुपर्ण राजा नलसे आदर पाकर आश्चर्यसे ऐसा कहने लगे– हे निषधराज ! आप प्रारब्ध हीसे अपने कुटुम्बसे मिले हैं ॥ १० ॥

कच्चित्तु नापराधं ते कृतवानस्मि नैषध।
अज्ञातवासं वसतो मद्गृहे निषधाधिप ॥ ११ ॥

हे निषधदेशके स्वामिन् ! कहिये, जब आप छिपकर मेरे घरमें रहते थे, तब मैंने आपका कोई अपराध तो नहीं किया ? ॥ ११ ॥

यदि वा बुद्धिपूर्वाणि यद्यबुद्धानि कानिचित्।
मया कृतान्यकार्याणि तानि मे क्षन्तुमर्हसि ॥ १२ ॥

अथवा यदि मैंने कभी कुछ जानकर वा विना जाने आपका अपराध किया हो, तो उसे क्षमा कीजिये ॥ १२ ॥

नल उवाच

न मेऽपराधं कृतवांस्त्वं स्वल्पमपि पार्थिव।
कृतेऽपि च न मे कोपः क्षन्तव्यं हि मया तव ॥ १३ ॥

नल बोले– हे राजन् ! आपने मेरा जरासा भी अपराध नहीं किया और यदि कियाभी हो तो मैं क्रोधित नहीं हूँ, उसे मैं क्षमा करता हूं ॥ १३ ॥

पूर्वं ह्यपि सखा मेऽसि संबन्धी च नराधिप।
अतः उर्ध्वं तु भूयस्त्वं प्रीतिमाहर्तुमर्हसि ॥ १४ ॥

हे राजन् ! आप मेरे पहलेसे सम्बन्धी और मित्र हैं। हे नरनाथ ! आपको उचित है, कि अब हमसे आप और भी प्रीति बढावें ॥ १४ ॥

सर्वकामैः सुविहितः सुखमस्म्युषितस्त्वयि।
न तथा स्वगृहे राजन्यथा तव गृहे सदा ॥ १५ ॥

सब कामनाओंको प्राप्त करके आपके घरमें सुखसे रहा। आपके यहां ऐसे निवास किया है, जैसे पहले अपने घरमें भी नहीं किया था; ॥ १५ ॥

इदं चैव हयज्ञानं त्वदीयं मयि तिष्ठति
तदुपाकर्तुमिच्छामि मन्यसे यदि पार्थिव ॥ १६ ॥

यह घोडोंकी विद्या जो मुझमें है वह आपहीकी है, हे राजन् ! यदि आप चाहें, तो इसको मैं आपको सिखानेकी इच्छा करता हूँ ॥ १६ ॥

बृहदश्व उवाच

एवमुक्त्वा ददौ विद्यामृतुपर्णाय नैषधः ।
स च तां प्रतिजग्राह विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ १७ ॥

राजा बृहदश्व बोले– राजा नलने ऐसा कहकर घोडे की विद्या ऋतुपर्णको दी। ऋतुपर्णने उसे विधिपूर्वक कर्मसे ग्रहण किया ॥ १७ ॥

ततो गृह्याश्वहृदयं तदा भाङ्गस्वरिर्नृपः ।
सूतमन्यमुपादाय ययौ स्वपुरमेव हि ॥ १८ ॥

भङ्गस्वरीके पुत्र राजा ऋतुपर्ण अश्वविद्याके तत्त्वको ग्रहण करके और दूसरा सारथी लेकर अपने नगरको चले गये ॥ १८ ॥

ऋतुपर्णे प्रतिगते नलो राजा विशां पते ।
नगरे कुण्डिने कालं नातिदीर्घमिवावसत् ॥ १९ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७६ ॥ २६४७ ॥

हे राजन् ! ऋतुपर्णके जानेके पश्चात् राजा नल कुण्डिनपुरमें दीर्घकाल तक नहीं रहे ॥ १९ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें छिहत्तरवाँ अध्याय समाप्त ॥ ७६ ॥ २६७४ ॥

७७

बृहदश्व उवाच

स मासमुष्य कौन्तेय भीममामन्त्र्य नैषधः ।
पुरादल्पपरीवारो जगाम निषधान्प्रति ॥ १ ॥

बृहदश्व बोले– हे कौन्तेय ! निषधराज नल एक महीना वहां रहकर राजा भीमकी अनुमति लेकर थोडे मनुष्योंके सहित निषध देशको चले गए ॥ १ ॥

रथेनैकेन शुभ्रेण दन्तिभिः परिषोडशैः ।
पञ्चाशद्भिर्हयैश्चैव षट्शतैश्च पदातिभिः ॥ २ ॥

एक सुन्दर सफेद रथ, सोलह हाथी, पचास घोडे और छःसौ पैदल उनके साथ थे ॥ २ ॥

स कम्पयन्निव महीं त्वरमाणो महीपतिः ।
प्रविवेशातिसंरब्धस्तरसैव महामनाः ॥ ३ ॥

महामनस्वी राजा नल बडी उतावलीसे क्रोधमें भरकर मानों अपने वेगसे पृथ्वीको कंपाते हुए शीघ्र ही अपने देशमें जा पहुंचे ॥ ३ ॥

ततः पुष्करमासाद्य वीरसेनसुतो नलः।
उवाच दीव्याव पुनर्बहु वित्तं मयार्जितम् ॥ ४ ॥

वीरसेनके पुत्र राजा नल पुष्करके पास जाकर ऐसा बोले– कि मैंने बहुत धन कमाया है, आओ, पुनः जुआ खेलें ॥ ४ ॥

दमयन्ती च यच्चान्यन्मया वसु समर्जितम्।
एष वै मम संन्यासस्तव राज्यं तु पुष्कर ॥ ५ ॥

दमयन्तीके सहित और जो कुछ धन मैंने कमाया है वह सब एक ही दांवपर लगा देता हूं, हे पुष्कर ! तुम भी अपना सब राज्य एक ही बार लगा दो ॥ ५ ॥

पुनः प्रवर्ततां द्यूतमिति मे निश्चिता मतिः।
एकपाणेन भद्रं ते प्राणयोश्च पणावहे ॥ ६ ॥

अतः अब मेरा विचार है कि फिर जुआ शुरु हो, हे पुष्कर ! तुम्हारा कल्याण हो, आओ, हम एक ही दांव प्राणोंकी भी बाजी लगाकर खेलें ॥ ६ ॥

जित्वा परस्वमाहृत्य राज्यं वा यदि वा वसु।
प्रतिपाणः प्रदातव्यः परं हि धनमुच्यते ॥ ७ ॥

यह सदाका परम धन है; कि जुएमें दूसरेका धन वा राज्य जीतकर दूसरे दांवपर उसीको पुनः लगा देना चाहिये ॥ ७ ॥

न चेद्वाञ्छसि तद्द्यूतं युद्धद्यूतं प्रवर्तताम्।
द्वैरथेनास्तु वै शान्तिस्तव वा मम वा नृप ॥ ८ ॥

यदि तुम्हारी जुआ खेलनेकी इच्छा न हो तो युद्धरूपी जुआ खेलो। हे राजन् ! एक रथपर तुम चढो और एकपर मैं चढूंगा। तुम मुझे मार डालो या तो फिर मैं तुम्हें ॥ ८ ॥

वंशभोज्यमिदं राज्यं मार्गितव्यं यथा तथा।
येन तेनाप्युपायेन वृद्धानामिति शासनम् ॥ ९ ॥

क्योंकि यह हमारे वृद्धोंकी आज्ञा है, कि वंशके राज्यको जैसे हो वैसे प्राप्त करना चाहिये अथवा जिस उपायसे प्राप्त हो सके, उसी उपायसे प्राप्त करना चाहिए ॥ ९ ॥

द्वयोरेकतरे बुद्धिः क्रियतामद्य पुष्कर।
कैतवेनाक्षवत्यां वा युद्धे वा नम्यतां धनुः ॥ १० ॥

हे पुष्कर ! अब इन दोनों बातोंमेंसे एकका निश्चय कर लो। चाहे पांसोंसे जुआ खेलो, चाहे युद्धमें धनुषको खींचो ॥ १० ॥

नैषधेनैवमुक्तस्तु पुष्करः प्रहसन्निव ।
ध्रुवमात्मजयं मत्वा प्रत्याह पृथिवीपतिम् ॥ ११ ॥

राजा नलके ऐसे वचनको सुनकर पुष्कर हंसने लगा और अपनी जीत निश्चित समझकर राजासे बोला ॥ ११ ॥

दिष्ट्या त्वयार्जितं वित्तं प्रतिपाणाय नैषध ।
दिष्ट्या च दुष्कृतं कर्म दमयन्त्याः क्षयं गतम् ।
दिष्ट्या च ध्रियसे राजन्सदारोऽरिनिबर्हण ॥ १२ ॥

हे नैषध ! तुमने भाग्यसे जुएपर दांव लगानेके निमित्त इस धनको प्राप्त किया है, तथा भाग्यहीसे दमयन्तीका पूर्वसंचित दुष्कर्म समाप्त हुआ है । हे राजन् ! हे शत्रुनाशक ! भाग्यसे ही तुम स्त्रीसहित यहां जीवित आए हो ॥ १२ ॥

धनेनानेन वैदर्भी जितेन समलंकृता ।
मामुपस्थास्यति व्यक्तं दिवि शक्रमिवाप्सराः ॥ १३ ॥

इस जीते हुए धनके साथ ही सब आभूषणोंसे सजी हुई दमयन्ती अब मुझको ऐसे मिलेगी, जैसे स्वर्गमें इन्द्रको अप्सरा ॥ १३ ॥

नित्यशो हि स्मरामि त्वां प्रतीक्षामि च नैषध ।
देवने च मम प्रीतिर्न भवत्यसुहृद्गणैः ॥ १४ ॥

हे राजन् ! मैं नित्य ही तुम्हारा स्मरण करता था और तुम्हारी प्रतीक्षा भी करता था, क्योंकि मुझे शत्रुओंके साथ जुआ खेलनेमें सुख नहीं मिलता ॥ १४ ॥

जित्वा त्वद्य वरारोहां दमयन्तीमनिन्दिताम् ।
कृतकृत्यो भविष्यामि सा हि मे नित्यशो हृदि ॥ १५ ॥

अब मैं सुन्दर मुखवाली अनिन्दिता दमयन्तीको जुएमें जीतकर कृतकृत्य होऊंगा, क्योंकि वह सदासे मेरे हृदयमें वास करती है ॥ १५ ॥

श्रुत्वा तु तस्य ता वाचो बह्वबद्धप्रलापिनः ।
इयेष स शिरश्छेत्तुं खड्गेन कुपितो नलः ॥ १६ ॥

पुष्करके ऐसे सम्बन्धरहित और निरर्थक वचन सुनकर क्रोधित होकर राजा नलने खड्ग निकाल कर उसका सिर काटना चाहा ॥ १६ ॥

स्मयंस्तु रोषताम्राक्षस्तमुवाच ततो नृपः ।
पणावः किं व्याहरसे जित्वा वै व्याहरिष्यसि ॥ १७ ॥

पर ऊपरसे मुस्कराते हुए महा क्रोधसे लालनेत्र करके राजा नल बोले— बिना ही जुआ खेले इतना क्यों बकता है ? चल जुआ खेलें, जीतकर बकना ॥ १७ ॥

ततः प्रावर्तत द्यूतं पुष्करस्य नलस्य च ।
एकपाणेन भद्रं ते नलेन स पराजितः ।
सरत्नकोशनिचयः प्राणेन पणितोऽपि च ॥ १८ ॥

तब नल और पुष्करका जुआ होने लगा। हे राजन् युधिष्ठिर ! तुम्हारा कल्याण हो। तब राजा नलने एक ही दांवमें पुष्करका राज्य, धन, प्राण और रत्न अर्थात् सब कुछ जीत लिया ॥ १८ ॥

जित्वा च पुष्करं राजा प्रहसन्निदमब्रवीत् ।
मम सर्वमिदं राज्यमव्यग्रं हतकण्टकम् ॥ १९ ॥

तब पुष्करको जुएमें जीतकर राजा नल हंसकर पुष्करसे बोले— अब यह मेरा सब राज्य अकण्टक और बाधारहित हो गया है ॥ १९ ॥

वैदर्भी न त्वया शक्या राजापसद वीक्षितुम् ।
तस्यास्त्वं सपरीवारो मूढ दासत्वमागतः ॥ २० ॥

हे नीच राजन् ! अब तेरी शक्ति नहीं है जो दमयन्तीको देख भी सके। हे मूर्ख ! अब तू अपने कुटुम्बके सहित उसी दमयन्तीका दास बन गया है ॥ २० ॥

न तत्त्वया कृतं कर्म येनाहं निर्जितः पुरा ।
कलिना तत्कृतं कर्म त्वं तु मूढ न बुध्यसे ।
नाहं परकृतं दोषं त्वय्याधास्ये कथंचन ॥ २१ ॥

रे मूढ ! तूने जो पहले मुझको जीता था, वह तेरा कर्म नहीं था, वह तो कलियुगका कर्म था पर, हे मूर्ख ! तू उसे नहीं जानता। पर मैं दूसरेका दोष तुझपर मढना नहीं चाहता ॥ २१ ॥

यथासुखं त्वं जीवस्व प्राणानभ्युत्सृजामि ते ।
तथैव च मम प्रीतिस्त्वयि वीर न संशयः ॥ २२ ॥

अतएव मैं तेरे प्राणको छोड देता हूं, तू सुखसे जीता रह, हे वीर ! मैं तुझसे वैसी ही प्रीति रखूंगा, इसमें कोई संशय नहीं है ॥ २२ ॥

सौभ्रात्रं चैव मे त्वत्तो न कदाचित्प्रहास्यति ।
पुष्कर त्वं हि मे भ्राता संजीवस्व शतं समाः ॥ २३ ॥

तुम्हारे प्रति मेरा भाईपन मेरी ओरसे कभी कम न होगा। हे पुष्कर ! तुम मेरे भाई हो, सौवर्ष तक जीते रहो ॥ २३ ॥

एवं नलः सान्त्वयित्वा भ्रातरं सत्यविक्रमः ।
स्वपुरं प्रेषयामास परिष्वज्य पुनः पुनः ॥ २४ ॥

सत्यपराक्रमी राजा नलने अपने भाईको ऐसे ढाढस देकर बार बार गलेसे लगाकर उसको अपने नगरमें जानेकी आज्ञा दी ॥ २४ ॥

सान्त्वितो नैषधेनैवं पुष्करः प्रत्युवाच तम् ।
पुण्यश्लोकं तदा राजन्नभिवाद्य कृताञ्जलिः ॥ २५ ॥

पुष्करने राजा नलसे इस प्रकार सांत्वना पाकर उस पुण्यकीर्तिवाले नलको हाथ जोड प्रणामकर ऐसा कहा ॥ २५ ॥

कीर्तिरस्तु तवाक्षय्या जीव वर्षायुतं सुखी ।
यो मे वितरसि प्राणानधिष्ठानं च पार्थिव ॥ २६ ॥

हे राजन् ! जो आप मुझे मेरे प्राण और राज्य लौटा रहे हैं, यह आपकी कीर्ति अक्षय रहेगी, आप हजार वर्ष तक सुखपूर्वक जीयें ॥ २६ ॥

स तथा सत्कृतो राज्ञा मासमुष्य तदा नृपः ।
प्रययौ पुष्करो हृष्टः स्वपुरं स्वजनावृतः ॥ २७ ॥

ऐसा कहकर राजासे सत्कार पाकर पुष्कर वहां एक महिना रहकर प्रसन्न होकर अपने पुरुषोंके सहित अपने नगरको चला गया ॥ २७ ॥

महत्या सेनया राजन्विनीतैः परिचारकैः ।
भ्राजमान इवादित्यो वपुषा पुरुषर्षभ ॥ २८ ॥
प्रस्थाप्य पुष्करं राजा वित्तवन्तमनामयम् ।
प्रविवेश पुरं श्रीमानत्यर्थमुपशोभितम् ।
प्रविश्य सान्त्वयामास पौरांश्च निषधाधिपः ॥ २९ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७७ ॥ २६७६ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ राजन् युधिष्ठिर ! राजा नलने बडी सेना और उत्तम नौकरोंके सहित शरीरसे सूर्यके समान तेजस्वी नीरोगी और धनवान् राजा पुष्करको विदा करके लक्ष्मी और शोभासे भरे हुए अपने नगरमें प्रवेश किया । वहां जाकर निषधराजने अपने नगरवासियोंको प्रसन्न किया ॥ २८-२९ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें सतहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ ७७ ॥ २६७६ ॥

: ७८ :

बृहदश्व उवाच

प्रशान्ते तु पुरे हृष्टे संप्रवृत्ते महोत्सवे।
महत्या सेनया राजा दमयन्तीमुपानयत् ॥ १ ॥

बृहदश्व बोले– राजन्! जब सब नगर शान्त हो गया और वह उत्सव समाप्त हो गया तो राजाने बडी भारी सेना भेजकर दमयन्तीको वहाँ बुला लिया ॥ १ ॥

दमयन्तीमपि पिता सत्कृत्य परवीरहा।
प्रस्थापयदमेयात्मा भीमो भीमपराक्रमः ॥ २ ॥

दमयन्तीको उसके भयंकर पराक्रमी महात्मा शत्रुनाशक पिता भीमने अत्यन्त सत्कार करके विदा कर दिया ॥ २ ॥

आगतायां तु वैदर्भ्यां सपुत्रायां नलो नृपः।
वर्तयामास मुदितो देवराडिव नन्दने ॥ ३ ॥

जब पुत्रके सहित दमयन्ती अपने नगरमें आई तो राजा नल ऐसे आनन्दसे विहार करने लगे जैसे नन्दनवनमें इन्द्र ॥ ३ ॥

तथा प्रकाशतां यातो जम्बुद्वीपेऽथ राजसु।
पुनः स्वे चावसद्राज्ये प्रत्याहृत्य महायशाः ॥ ४ ॥

महा यशस्वी राजा नल जम्बुद्वीपके राजाओंमें प्रसिद्धिको प्राप्त हुए और अपने राज्यका शासन पहलेके समान करने लगे ॥ ४ ॥

ईजे च विविधैर्यज्ञैर्विधिवत्स्वाप्तदक्षिणैः।
तथा त्वमपि राजेन्द्र ससुहृद्वक्ष्यसेऽचिरात् ॥ ५ ॥

उन्होंने दक्षिणाओंके सहित अनेक यज्ञ विधिपूर्वक किए। हे राजेन्द्र! वैसे ही आप भी थोडे ही दिनमें अपने मित्रोंके साथ राज्यशासन करेंगे ॥ ५ ॥

दुःखमेतादृशं प्राप्तो नलः परपुरंजयः।
देवनेन नरश्रेष्ठ सभार्यो भरतर्षभ ॥ ६ ॥

हे नरश्रेष्ठ तथा भरतश्रेष्ठ! जुआ खेलकर शत्रुओंके नगरोंको जीतनेवाले राजा नलने स्त्रीके सहित इस प्रकार महा दुःख पाया था ॥ ६ ॥

एकाकिनैव सुमहन्नलेन पृथिवीपते।
दुःखमासादितं घोरं प्राप्तश्चाभ्युदयः पुनः ॥ ७ ॥

हे पृथ्वीनाथ! राजा नलने तो वनमें अकेले रहकर ऐसा महान् दुःख पाया और फिर आनन्द भी प्राप्त किया ॥ ७ ॥

त्वं पुनर्भ्रातृसहितः कृष्णया चैव पाण्डव ।
रमसेऽस्मिन्महारण्ये धर्ममेवानुचिन्तयन् ॥ ८ ॥

हे पाण्डव ! आप तो अपने भाई और द्रौपदीके सहित इस वनमें धर्मका विचार करते हुए आनन्दसे विचरण कर रहे हैं ॥ ८ ॥

ब्राह्मणैश्च महाभागैर्वेदवेदाङ्गपारगैः ।
नित्यमन्वास्यसे राजंस्तत्र का परिदेवना ॥ ९ ॥

आप तो वेद और वेदाङ्गोंके जाननेवाले अनेक महाभाग्यवान् ब्राह्मणोंके साथ आनन्द कर रहे हैं, इसमें आपको कौनसा दुःख है ? ॥ ९ ॥

इतिहासमिमं चापि कलिनाशनमुच्यते ।
शक्यमाश्वासितुं श्रुत्वा त्वद्विधेन विशां पते ॥ १० ॥

हे प्रजाओंके स्वामिन् ! इस इतिहासको कलिका नाश करनेवाला कहा गया है । अतः इस प्रकार इसे सुनकर आप जैसे पुरुष धैर्य धारण कर सकते हैं ॥ १० ॥

अस्थिरत्वं च संचिन्त्य पुरुषार्थस्य नित्यदा ।
तस्याये च व्यये चैव समाश्वसिहि मा शुचः ॥ ११ ॥

पुरुषार्थ स्थिर नहीं है, यह विचारकर आप उदय और हानिके बारेमें धैर्य धारण कीजिए, शोक मत कीजिये ॥ ११ ॥

ये चेदं कथयिष्यन्ति नलस्य चरितं महत् ।
श्रोष्यन्ति चाप्यभीक्ष्णं वै नालक्ष्मीस्तान्भजिष्यति ।
अर्थास्तस्योपपत्स्यन्ते धन्यतां च गमिष्यति ॥ १२ ॥

जो कोई नलके इस महाचरित्रको कहेंगे या सुनेंगे, अलक्ष्मी या दरिद्रता उनके पास कभी नहीं आएगी, उनके पास खूब धन होगा और उन लोगोंको सब कोई धन्य कहेंगे ॥१२॥

इतिहासमिमं श्रुत्वा पुराणं शश्वदुत्तमम् ।
पुत्रान्पौत्रान्पशूंश्चैव वेत्स्यते नृषु चाग्र्यताम् ।
अरोगः प्रीतिमांश्चैव भविष्यति न संशयः ॥ १३ ॥

इस सनातन उत्तम पुराण इतिहासको सुनकर पुरुष पुत्र, पौत्र, पशु, मनुष्योंमें श्रेष्ठता तथा आरोग्यता प्राप्त करेगा और प्रेम बढता रहेगा, इसमें कोई संशय नहीं है ॥ १३ ॥

भयं पश्यसि यच्च त्वमाह्वयिष्यति मां पुनः ।
अक्षज्ञ इति तत्तेऽहं नाशयिष्यामि पार्थिव ॥ १४ ॥

जो तुम डरते हो, कि " दुर्योधन मुझे पुनः जुएमें बुलावेगा और जीत लेगा, " तो द्यूतविद्यामें निपुण मैं तुम्हारे उस डरको दूर कर देता हूं ॥ १४ ॥

वेदाक्षहृदयं कृत्स्नमहं सत्यपराक्रम ।
उपपद्यस्व कौन्तेय प्रसन्नोऽहं ब्रवीमि ते ॥ १५ ॥

हे कुन्तीनन्दन ! हे सत्यपराक्रमी ! मैं जुएके सब तत्त्वको जानता हूं, प्रसन्न होकर वह तुम्हें देता हूं, तुम उसे ग्रहण करो ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो हृष्टमना राजा बृहदश्वमुवाच ह ।
भगवन्नक्षहृदयं ज्ञातुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ १६ ॥

वैशम्पायन बोले– तब राजा युधिष्ठिरने प्रसन्नचित्त होकर बृहदश्वसे कहा– हे भगवन् ! मैं यथार्थ रूपसे जुएके तत्त्वको जानना चाहता हूं ॥ १६ ॥

ततोऽक्षहृदयं प्रादात्पाण्डवाय महात्मने ।
दत्त्वा चाश्वशिरोऽगच्छदुपस्प्रष्टुं महातपाः ॥ १७ ॥

तदनन्तर बृहदश्व मुनिने महात्मा पाण्डवको जुएका तत्त्व सिखा दिया, और इस प्रकार द्यूतविद्या सिखाकर वे महातपस्वी बृहदश्व मुनि स्नान करनेके लिए अश्वशिर नामक तीर्थमें चले गये ॥ १७ ॥

बृहदश्वे गते पार्थमश्रौषीत्सव्यसाचिनम् ।
वर्तमानं तपस्युग्रे वायुभक्षं मनीषिणम् ॥ १८ ॥
ब्राह्मणेभ्यस्तपस्विभ्यः संपतद्भ्यस्ततस्ततः ।
तीर्थशैलवनेभ्यश्च समेतेभ्यो दृढव्रतः ॥ १९ ॥

बृहदश्वमुनिके चले जानेके बाद दृढव्रती राजा युधिष्ठिरने इधर उधर जानेवाले तीर्थों, पहाडों और वनोंसे इकट्ठे होकर आनेवाले ब्राह्मणों और तपस्वियोंसे कठोर तप करनेवाले, वायु पीकर रहनेवाले, महाबुद्धिमान् पृथापुत्र सव्यसाची अर्जुनके बारेमें कुशल समाचार सुना ॥ १८-१९ ॥

इति पार्थो महाबाहुर्दुरापं तप आस्थितः ।
न तथा दृष्टपूर्वोऽन्यः कश्चिदुग्रतपा इति ॥ २० ॥

वे ब्राह्मण और तपस्वी कहते थे कि महाबाहु अर्जुन ऐसे कठिन तपमें व्यस्त हैं कि वैसा उग्रतपस्वी आजतक पहले किसीने भी नहीं देखा ॥ २० ॥

यथा धनञ्जयः पार्थस्तपस्वी नियतव्रतः ।
मुनिरेकचरः श्रीमान्धर्मो विग्रहवानिव ॥ २१ ॥

निश्चित व्रतवाले कुन्तीनन्दन अर्जुन ऐसे तपस्वी और एकचर हैं मानो साक्षात् श्रीमान् धर्मही शरीर धारण करके तपस्या कर रहे हों ॥ २१ ॥

तं श्रुत्वा पाण्डवो राजंस्तप्यमानं महावने ।
अन्वशोचत कौन्तेयः प्रियं वै भ्रातरं जयम् ॥ २२ ॥

हे राजन् जनमेजय ! पाण्डुनन्दन कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर अपने प्यारे भाई अर्जुनको इस प्रकार महावनमें तपस्या करते हुए सुनकर बहुत शोक करने लगे ॥ २२ ॥

दह्यमानेन तु तदा शरणार्थी महावने ।
ब्राह्मणान्विविधज्ञानान्पर्यपृच्छद्युधिष्ठिरः ॥ २३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि अष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥ २६९९ ॥

वे जलते हुए हृदयसे शरणकी इच्छा करके उस महावनमें विविध ज्ञान रखनेवाले ब्राह्मणोंसे पूछने लगे ॥ २३ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें अठहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ ७८ ॥ २६९९ ॥

: ७९ :

जनमेजय उवाच

भगवन्काम्यकात्पार्थे गते मे प्रपितामहे ।
पाण्डवाः किमकुर्वन्त तमृते सव्यसाचिनम् ॥ १ ॥

जनमेजय बोले– हे भगवन् ! जब मेरे परदादा अर्जुन काम्यक वनसे चले गये, तब पाण्डवोंने सव्यसाची अर्जुनकी अनुपस्थितिमें क्या किया ? ॥ १ ॥

स हि तेषां महेष्वासो गतिरासीदनीकजित् ।
आदित्यानां यथा विष्णुस्तथैव प्रतिभाति मे ॥ २ ॥

क्योंकि मुझे जान पडता है, कि जैसे देवताओंकी गति विष्णु हैं, वैसे ही पाण्डवोंकी गति सेनाओंके जीतनेवाले महा धनुर्धारी अर्जुन थे ॥ २ ॥

तेनेन्द्रसमवीर्येण सङ्ग्रामेष्वनिवर्तिना ।
विनाभूता वने वीराः कथमासन्पितामहाः ॥ ३ ॥

मेरे पितामह उस इन्द्रके समान पराक्रमी, युद्धमें न हारनेवाले, वीर अर्जुनके विना वनमें कैसे रहे ? ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

गते तु काम्यकात्तात पाण्डवे सव्यसाचिनि ।
बभूवुः कौरवेयास्ते दुःखशोकपरायणाः ॥ ४ ॥

वैशम्पायन बोले– हे तात ! जब काम्यक वनसे सव्यसाची अर्जुन चले गये, तो कुरुवंशोत्पन्न पाण्डव शोक और दुःखसे व्याकुल हो गये ॥ ४ ॥

आक्षिप्तसूत्रा मणयश्छिन्नपक्षा इव द्विजाः ।
अप्रीतमनसः सर्वे बभूवुरथ पाण्डवाः ॥ ५ ॥

सूत्रके टूट जानेपर मणियोंके समान अथवा पंख कटे हुए पक्षीके समान वे सब पाण्डव व्याकुल मनवाले हो गये ॥ ५ ॥

वनं तु तदभूत्तेन हीनमक्लिष्टकर्मणा ।
कुबेरेण यथा हीनं वनं चैत्ररथं तथा ॥ ६ ॥

उस कठिन कर्मके करनेवाले अर्जुनके विना वह वन ऐसा हो गया जैसे कुबेरके विना चैत्ररथ वन (कुबेरका बाग) ॥ ६ ॥

तमृते पुरुषव्याघ्रं पाण्डवा जनमेजय ।
मुदमप्राप्नुवन्तो वै काम्यके न्यवसंस्तदा ॥ ७ ॥

हे जनमेजय ! पुरुषोंमें सिंहरूप अर्जुनके विना पाण्डव प्रसन्नताको न पाते हुए उस काम्यक वनमें वास करने लगे ॥ ७ ॥

ब्राह्मणार्थे पराक्रान्ताः शुद्धैर्बाणैर्महारथाः ।
निघ्नन्तो भरतश्रेष्ठ मेध्यान्बहुविधान्मृगान् ॥ ८ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! वे महारथी पाण्डव पराक्रमसे प्रतिदिन ब्राह्मणोंके निमित्त शुद्ध बाणोंसे वधके योग्य अनेक तरहके हरिणोंको मारते थे ॥ ८ ॥

नित्यं हि पुरुषव्याघ्रा वन्याहारमरिन्दमाः ।
विप्रसृत्य समाहृत्य ब्राह्मणेभ्यो न्यवेदयन् ॥ ९ ॥

शत्रुनाशन पुरुषोंमें सिंहरूप पाण्डव नित्यही वनके योग्य आहाररूप हरिणोंको मारकर ब्राह्मणोंको खिलाते थे ॥ ९ ॥

एवं ते न्यवसंस्तत्र सोत्कण्ठाः पुरुषर्षभाः ।
अहृष्टमनसः सर्वे गते राजन्धनञ्जये ॥ १० ॥

हे राजन् ! अर्जुनके जानेके बाद पुरुषसिंह पाण्डव अप्रसन्न मनवाले होकर उस अर्जुनके बारेमें उत्कंठित होकर वनमें रहने लगे ॥ १० ॥

अथ विप्रोषितं वीरं पाञ्चाली मध्यमं पतिम् ।
स्मरन्ती पाण्डवश्रेष्ठमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ११ ॥

एक दिन दूर गए हुए अपने मध्यम पति अर्जुनको स्मरण करती हुई द्रौपदी पाण्डवश्रेष्ठ युधिष्ठिरके पास आकर ऐसे वचन बोली ॥ ११ ॥

योऽर्जुनेनाऽर्जुनस्तुल्यो द्विबाहुर्बहुबाहुना ।
तमृते पाण्डवश्रेष्ठं वनं न प्रतिभाति मे ।
शून्यामिव च पश्यामि तत्र तत्र महीमिमाम् ॥ १२ ॥

जो दो हाथवाला अर्जुन सहस्र हाथवाले अर्जुनके समान है, उसके विना यह वन मुझको नहीं सोहाता; एक पाण्डवश्रेष्ठ अर्जुनके बिना मुझे यह संपूर्ण पृथ्वी शून्यसी दीखती है ॥१२॥

बह्वाश्चर्यमिदं चापि वनं कुसुमितद्रुमम् ।
न तथा रमणीयं मे तमृते सव्यसाचिनम् ॥ १३ ॥

और यह भी बहुत आश्चर्य है, कि फले और फूले हुए वृक्षोंसे भरा हुआ होनेपर भी यह वन अर्जुनके विना वैसा सुन्दर नहीं दीखता ॥ १३ ॥

नीलाम्बुदसमप्रख्यं मत्तमातङ्गविक्रमम् ।
तमृते पुण्डरीकाक्षं काम्यकं नातिभाति मे ॥ १४ ॥

उस नीले मेघके समान सुन्दर, मतवाले हाथीके समान पराक्रमी, कमलनेत्र अर्जुनके विना यह काम्यक वन मुझे नहीं सोहता ॥ १४ ॥

यस्य स्म धनुषो घोषः श्रूयतेऽशनिनिस्वनः ।
न लभे शर्म तं राजन्स्मरन्ती सव्यसाचिनम् ॥ १५ ॥

जिसके धनुषका शब्द वज्रके समान सुनाई पडता था, उस अर्जुनकी याद करती हुई मुझे सुख नहीं मिलता ॥ १५ ॥

तथा लालप्यमानां तां निशम्य परवीरहा ।
भीमसेनो महाराज द्रौपदीमिदमब्रवीत् ॥ १६ ॥

हे महाराज ! विलाप करती हुई द्रौपदीके ऐसे वचन सुनकर शत्रुनाशक भीमसेन द्रौपदीसे ऐसे वचन बोले ॥ १६

मनःप्रीतिकरं भद्रे यद्ब्रवीषि सुमध्यमे ।
तन्मे प्रीणाति हृदयममृतप्राशनोपमम् ॥ १७ ॥

हे सुमध्यमे ! हे भद्रे ! तुम जो कहती हो, वह बात मनको प्रसन्न करनेवाली है उसके सुननेसे मेरा मन ऐसा प्रसन्न होता है, जैसे अमृतके पीनेसे ॥ १७ ॥

यस्य दीर्घौ समौ पीनौ भुजौ परिघसंनिभौ ।
मौर्वीकृतकिणौ वृत्तौ खड्गायुधगदाधरौ ॥ १८ ॥

जिसकी भुजा लम्बी, मोटी, मुद्गरके समान कठोर, रोदेकी चिन्हसे युक्त, गोल, गदा और खड्गको धारण करनेवाली ॥ १८ ॥

निष्काङ्गदकृतापीडौ पञ्चशीर्षाविवोरगौ ।
तमृते पुरुषव्याघ्रं नष्टसूर्यमिदं वनम् ॥ १९ ॥
सोनेके बाजूबन्दोंसे शोभित पांच फनवाले सांपके समान हैं, उस पुरुषसिंहके विना वह वन ऐसा दीखता है, जैसे विना सूर्यके ॥ १९ ॥

यमाश्रित्य महाबाहुं पाञ्चालाः कुरवस्तथा ।
सुराणामपि यत्तानां पृतनासु न बिभ्यति ॥ २० ॥
जिसके हाथोंके बलके आश्रयसे कुरुवंशी और पाञ्चाल इकट्ठी हुई देवताओंकी सेनासे भी युद्धोंमें नहीं डरते हैं ॥ २० ॥

यस्य बाहू समाश्रित्य वयं सर्वे महात्मनः ।
मन्यामहे जितानाजौ परान्प्राप्तां च मेदिनीम् ॥ २१ ॥
जिस महात्माके भुजाओंका आश्रय लेकर हमलोग युद्धमें शत्रुओंको जीता हुआ और पृथ्वीको प्राप्त ही समझते हैं ॥ २१ ॥

तमृते फल्गुनं वीरं न लभे काम्यके धृतिम् ।
शून्यामिव च पश्यामि तत्र तत्र महीमिमाम् । ॥ २२ ॥
उस वीर अर्जुनके विना इस काम्यक वनमें मैं धैर्य धारण करनेमें समर्थ नहीं हूँ। और इस सारी पृथ्वीको मैं शून्यके समान देखता हूँ ॥ २२ ॥

नकुल उवाच
य उदीचीं दिशं गत्वा जित्वा युधि महाबलान् ।
गन्धर्वमुख्याञ्शतशो हयाँल्लेभे स वासविः ॥ २३ ॥
नकुल बोले– जिस इन्द्रपुत्र अर्जुनने उत्तर दिशामें जाकर युद्धमें महाबली गन्धर्वराजोंको जीत कर सैंकडों उत्तम घोडे प्राप्त किये थे ॥ २३ ॥

राजंस्तित्तिरिकल्माषाञ्श्रीमानिलरंहसः ।
प्रादाद्भ्रात्रे प्रियः प्रेम्णा राजसूये महाक्रतौ ॥ २४ ॥
हे राजन् ! जिन्होंने तित्तिरके समान रङ्गवाले, तेजस्वी, वायुके समान चलनेवाले, घोडोंको राजसूय महायज्ञमें अपने प्रिय भाईको प्रेमसे दिये थे ॥ २४ ॥

तमृते भीमधन्वानं भीमादवरजं वने ।
कामये काम्यके वासं नेदानीममरोपमम् ॥ २५ ॥
उस भीमके छोटे भाई, भयंकर, धनुषको धारण करनेवाले देवतुल्य अर्जुनके विना इस काम्यक वनमें रहनेकी अब मेरी भी इच्छा नहीं है ॥ २५ ॥

सहदेव उवाच

यो धनानि च कन्याश्च युधि जित्वा महारथान्।
आजहार पुरा राज्ञे राजसूये महाक्रतौ ॥ २६ ॥

सहदेव बोले— जिन्होंने पहले महान् राजसूयमें युद्धमें महारथियोंको जीतकर अनेक धन और कन्याओंको राजाके लिए समर्पित किया था ॥ २६ ॥

यः समेतान्मृधे जित्वा यादवानमितद्युतिः।
सुभद्रामाजहारैको वासुदेवस्य संमते ॥ २७ ॥

और जिन महा तेजस्वीने अकेले ही कृष्णकी सम्मतिसे युद्धमें सब यादवोंको जीतकर सुभद्राका हरण किया था ॥ २७ ॥

तस्य जिष्णोर्बृसीं दृष्ट्वा शून्यामुपनिवेशने।
हृदयं मे महाराज न शाम्यति कदाचन ॥ २८ ॥

इस घरमें उन अर्जुनके आसनको शून्य देखकर, हे महाराज! मेरा हृदय कभी भी शान्त नहीं होता ॥ २८ ॥

वनादस्माद्विवासं तु रोचयेऽहमरिन्दम।
न हि नस्तमृते वीरं रमणीयमिदं वनम् ॥ २९ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि एकोनाशीतितमोऽध्यायः ॥ ७९ ॥
समाप्तमिन्द्रलोकाभिगमनपर्व ॥ २७२८ ॥

हे महाराज! हे शत्रुनाशक! उस वीरके विना इस वनमें रहना अच्छा नहीं लगता, इसलिये इस वनको छोडकर और कहीं दूसरी जगह जानेकी मेरी भी इच्छा होती है ॥ २९ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें उनासीवां अध्याय समाप्त ॥ ७९ ॥
इन्द्रलोकाभिगमनपर्व समाप्त ॥ २७२८ ॥

: ८० :

वैशम्पायन उवाच

धनञ्जयोत्सुकास्ते तु वने तस्मिन्महारथाः।
न्यवसन्त महाभागा द्रौपद्या सह पाण्डवाः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— इस प्रकार द्रौपदीके सहित वे महाभाग्यशाली महारथी पाण्डव धनंजय अर्जुनके बारेमें उत्सुक होकर उन वनमें रहने लगे ॥ १ ॥

अथापश्यन्महात्मानं देवर्षिं तत्र नारदम्।
दीप्यमानं श्रिया ब्राह्मया दीप्ताग्निसमतेजसम् ॥ २ ॥

तब एक दिन उन्होंने ब्रह्मतेजकी लक्ष्मीसे प्रकाशमान्, जलती हुई अग्निके समान तेजस्वी महात्मा देवर्षि नारदजीको देखा ॥ २ ॥

×

स तैः परिवृतः श्रीमान्भ्रातृभिः कुरुसत्तमः।
विबभावतिदीप्तौजा देवैरिव शतक्रतुः ॥ ३ ॥
कुरुकुलमें श्रेष्ठ, श्रीमान्, प्रकाशमान्, राजा युधिष्ठिर अपने भाइयोंसे घिरे हुए ऐसे शोभित हुए जैसे देवताओंसे घिरे हुए इन्द्र ॥ ३ ॥

यथा च वेदान्सावित्री याज्ञसेनी तथा सती।
न जहौ धर्मतः पार्थान्मेरुमर्कप्रभा यथा ॥ ४ ॥
जैसे सावित्री वेदोंको और मेरुपर्वत को सूर्यकी किरण नहीं छोडती है, वैसेही पतिव्रता द्रौपदीने भी धर्मसहित अपने पतियोंको नहीं छोडा ॥ ४ ॥

प्रतिगृह्य तु तां पूजां नारदो भगवानृषिः।
आश्वासयद्धर्मसुतं युक्तरूपमिवानघ ॥ ५ ॥
हे पापरहित जनमेजय! भगवान् ऋषि नारदने उस पूजाको ग्रहण किया और समयानुसार धर्मराजको समझाने लगे ॥ ६ ॥

उवाच च महात्मानं धर्मराजं युधिष्ठिरम्।
ब्रूहि धर्मभृतां श्रेष्ठ केनार्थः किं ददामि ते ॥ ६ ॥
धर्मराज महात्मा युधिष्ठिरसे नारद बोले— कि हे धर्मधारियोंमें श्रेष्ठ! आपकी क्या इच्छा है? कहिये, हम आपको क्या दें ॥ ६ ॥

अथ धर्मसुतो राजा प्रणम्य भ्रातृभिः सह।
उवाच प्राञ्जलिर्वाक्यं नारदं देवसंमितम् ॥ ७ ॥
ऐसा सुनकर धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर भाइयोंके सहित देवके समान पूज्य नारदको प्रणाम कर हाथ जोडकर ऐसा बोले ॥ ७ ॥

त्वयि तुष्टे महाभाग सर्वलोकाभिपूजिते।
कृतमित्येव मन्येऽहं प्रसादात्तव सुव्रत ॥ ८ ॥
हे सुव्रत! हे महाभाग! जब सब लोकोंसे पूजित आप मुझपर प्रसन्न हो गए हैं, तो आपकी कृपासे मैं अपने सब कार्योंको सिद्ध हुआ ही समझता हूं ॥ ८ ॥

यदि त्वहमनुग्राह्यो भ्रातृभिः सहितोऽनघ।
संदेहं मे मुनिश्रेष्ठ हृदिस्थं छेत्तुमर्हसि ॥ ९ ॥
हे पापरहित! फिर भी यदि आप भाइयोंके सहित मेरे ऊपर अनुग्रह करना ही चाहते हैं, तो मेरे हृदयमें स्थित एक संदेहका यथायोग्य निवारण कीजिये ॥ ९ ॥

प्रदक्षिणं यः कुरुते पृथिवीं तीर्थतत्परः ।
किं फलं तस्य कार्त्स्न्येन तद्ब्रह्मन्वक्तुमर्हसि ॥ १० ॥

जो पुरुष तीर्थयात्राके निमित्त संपूर्ण पृथ्वीकी प्रदक्षिणा करता है, उसका क्या फल होता है ? हे ब्रह्मन् ! यह आप पूर्ण रीतिसे कहिये ॥ १० ॥

नारद उवाच

शृणु राजन्नवहितो यथा भीष्मेण भारत ।
पुलस्त्यस्य सकाशाद्वै सर्वमेतदुपश्रुतम् ॥ ११ ॥

नारद बोले– हे भारत राजन् ! आप सावधान होकर सुनिये, जिस प्रकार भीष्मने पुलस्त्य मुनिसे सुना था, वह मैं कहता हूं ॥ ११ ॥

पुरा भागीरथीतीरे भीष्मो धर्मभृतां वरः ।
पित्र्यं व्रतं समास्थाय न्यवसन्मुनिवत्तदा ॥ १२ ॥

पहले धर्मचारियोंमें श्रेष्ठ भीष्म पितरोंके व्रतको धारण करके मुनियोंके सहित गङ्गातीरपर रहते थे ॥ १२ ॥

शुभे देशे महाराज पुण्ये देवर्षिसेविते ।
गङ्गाद्वारे महातेजा देवगन्धर्वसेविते ॥ १३ ॥
स पितॄंस्तर्पयामास देवांश्च परमद्युतिः ।
ऋषींश्च तोषयामास विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ १४ ॥

हे राजन् ! देव, गंधर्व और ऋषियोंसे सेवित, पवित्र और पुण्यदेश गङ्गाके द्वार में महा तेजस्वी भीष्म देवता और पितरोंको तृप्त करते थे और ऋषियोंका शास्त्रविधिके अनुसार तर्पण करते हुए निवास करते थे ॥ १३-१४ ॥

कस्यचित्त्वथ कालस्य जपन्नेव महातपाः ।
ददर्शाद्भुतसंकाशं पुलस्त्यमृषिसत्तमम् ॥ १५ ॥

एक दिन महातेजस्वी भीष्मने जप करनेके समय अद्भुत स्वरूपवाले ऋषिश्रेष्ठ पुलस्त्य मुनिको देखा ॥ १५ ॥

स तं दृष्ट्वोग्रतपसं दीप्यमानमिव श्रिया ।
प्रहर्षमतुलं लेभे विस्मयं परं ययौ ॥ १६ ॥

उन्होंने महातपस्वी पुलस्त्यको अपने तेजसे प्रकाशित होता देखकर परम आनन्द प्राप्त किया और बहुत आश्चर्यचकित हुए ॥ १६ ॥

उपस्थितं महाराज पूजयामास भारत ।
भीष्मो धर्मभृतां श्रेष्ठो विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ १७ ॥

हे भरतवंशी महाराज! आये हुए पुलस्त्य मुनिको देखकर धर्मधारियोंमें श्रेष्ठ भीष्मने विधिपूर्वक कर्मके द्वारा उनकी पूजा की ॥ १७ ॥

शिरसा चार्घ्यमादाय शुचिः प्रयतमानसः ।
नाम संकीर्तयामास तस्मिन्ब्रह्मर्षिसत्तमे ॥ १८ ॥

पवित्र होकर अपने मनको स्थिरकर उनको अर्घ्य दे और शिरसे प्रणाम कर भीष्मने ब्रह्मर्षियोंमें श्रेष्ठ पुलस्त्यको इस प्रकार अपना नाम सुनाया ॥ १८ ॥

भीष्मोऽहमस्मि भद्रं ते दासोऽस्मि तव सुव्रत ।
तव संदर्शनादेव मुक्तोऽहं सर्वकिल्बिषैः ॥ १९ ॥

हे सुव्रत! आपका कल्याण हो, मैं भीष्म हूँ। आपका दास हूं, आज आपका दर्शन होनेसे ही मैं सब पापोंसे मुक्त हो गया ॥ १९ ॥

एवमुक्त्वा महाराज भीष्मो धर्मभृतां वरः ।
वाग्यतः प्राञ्जलिर्भूत्वा तूष्णीमासीद्युधिष्ठिर ॥ २० ॥

हे महाराज युधिष्ठिर! धर्मधारियोंमें श्रेष्ठ भीष्म ऐसा कहकर हाथ जोडकर चुप होकर बैठ गये ॥ २० ॥

तं दृष्ट्वा नियमेनाथ स्वाध्यायाम्नायकर्शितम् ।
भीष्मं कुरुकुलश्रेष्ठं मुनिः प्रीतमनाभवत् ॥ २१ ॥

कुरुकुलश्रेष्ठ भीष्मको वेदपाठ और नियमसे दुर्बल देखकर पुलस्त्यमुनि अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥ २१ ॥

पुलस्त्य उवाच

अनेन तव धर्मज्ञ प्रश्रयेण दमेन च ।
सत्येन च महाभाग तुष्टोऽस्मि तव सर्वशः ॥ २२ ॥

पुलस्त्य बोले— हे धर्मज्ञ महाभाग! तुम्हारे इस परिश्रम, इन्द्रियनिग्रह और सत्यसे मैं बहुत सन्तुष्ट हुआ ॥ २२ ॥

यस्येदृशस्ते धर्मोऽयं पितृभक्त्याश्रितोऽनघ ।
तेन पश्यसि मां पुत्र प्रीतिश्चापि मम त्वयि ॥ २३ ॥

हे महाभाग पापरहित पुत्र! तुम्हारा यह ऐसा धर्म और पितृभक्ति है, इसी कारण तुम मुझे देख रहे हो और इसी कारण मेरी तुममें प्रीति है ॥ २३ ॥

अमोघदर्शी भीष्माहं ब्रूहि किं करवाणि ते ।
यद्वक्ष्यसि कुरुश्रेष्ठ तस्य दातास्मि तेऽनघ ॥ २४ ॥

हे भीष्म ! हे कुरुकुलश्रेष्ठ ! हे पापरहित ! मेरा दर्शन किसीके लिए व्यर्थ नहीं होता, तुम जो कहोगे तुमको दूँगा, कहो, मैं तुम्हारा कौनसा काम करूं ॥ २४ ॥

भीष्म उवाच

प्रीते त्वयि महाभाग सर्वलोकाभिपूजिते ।
कृतमित्येव मन्येऽहं यदहं दृष्टवान्प्रभुम् ॥ २५ ॥

भीष्म बोले— हे महाभाग ! सब लोगोंसे पूजित आपके प्रसन्न होनेपर अपने सब कार्योंको सिद्ध ही समझता हूँ, आपके देखनेमात्रसे ही मेरे सब कार्य सिद्ध हो गए ॥ २५ ॥

यदि त्वहमनुग्राह्यस्तव धर्मभृतां वर ।
वक्ष्यामि हृत्स्थं संदेहं तन्मे त्वं वक्तुमर्हसि ॥ २६ ॥

हे धर्मधारियोंमें श्रेष्ठ ! फिर भी यदि आप मेरे ऊपर कृपा करना चाहते हैं, तो मेरे हृदयमें जो सन्देह है, उसे आपसे कहूंगा, उसका आप निवारण करें ॥ २६ ॥

अस्ति मे भगवन्कश्चित्तीर्थेभ्यो धर्मसंशयः ।
तमहं श्रोतुमिच्छामि पृथक्संकीर्तितं त्वया ॥ २७ ॥

हे भगवन् ! तीर्थोंके धर्मके बारेमें कुछ सन्देह है, उनको मैं सुनना चाहता हूँ, आप कहिये ॥२७॥

प्रदक्षिणं यः पृथिवीं करोत्यमितविक्रम ।
किं फलं तस्य विप्रर्षे तन्मे ब्रूहि तपोधन ॥ २८ ॥

हे अमित पराक्रमी ! ब्राह्मण ऋषे ! हे तपोधन ! जो पृथ्वीकी प्रदक्षिणा करता है, उसका क्या फल होता है ? वह आप निश्चय करके कहिये ॥ २८ ॥

पुलस्त्य उवाच

हन्त तेऽहं प्रवक्ष्यामि यदृषीणां परायणम् ।
तदेकाग्रमनास्तात शृणु तीर्थेषु यत्फलम् ॥ २९ ॥

पुलस्त्य बोले— हे पुत्र ! मै तुमसे तीर्थके फलको कहता हूँ, सावधान मनसे सुनो, यह ऋषियोंके द्वारा सुनने योग्य है ॥ २९ ॥

यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसंयतम् ।
विद्या तपश्च कीर्तिश्च स तीर्थफलमश्नुते ॥ ३० ॥

जिसके हाथ, पांव, विद्या, तप और कीर्ति वशमें होती है, वही तीर्थोंके फलोंको भोगता है ॥ ३० ॥

प्रतिग्रहादुपावृत्तः संतुष्टो नियतः शुचिः ।
अहंकारनिवृत्तश्च स तीर्थफलमश्नुते ॥ ३१ ॥

जो प्रतिग्रह नहीं लेता और नियत और सदा शुद्ध रहकर संतुष्ट रहता है, जिसमें अहङ्कार नहीं होता, वही तीर्थके फलको भोगता है, ॥ ३१ ॥

अकल्कको निरारम्भो लघ्वाहारो जितेंद्रियः ।
विमुक्तः सर्वदोषैर्यः स तीर्थफलमश्नुते ॥ ३२ ॥

जो छलरहित कर्तृत्वके अहंकारसे रहित, थोडा खानेवाला, इन्द्रियजित् और सब दोषोंसे रहित होता है, वही तीर्थोंके फलको प्राप्त करता है ॥ ३२ ॥

अक्रोधनश्च राजेन्द्र सत्यशीलो दृढव्रतः ।
आत्मोपमश्च भूतेषु स तीर्थफलमश्नुते ॥ ३३ ॥

हे राजेन्द्र ! जो क्रोधसे रहित, सत्य और शीलसे सम्पन्न, दृढ व्रतधारी, अपने समान सब प्राणियोंको देखनेवाला हो, वही तीर्थोंके फलको प्राप्त करता है ॥ ३३ ॥

ऋषिभिः क्रतवः प्रोक्ता वेदेष्विह यथाक्रमम् ।
फलं चैव यथातत्त्वं प्रेत्य चेह च सर्वशः ॥ ३४ ॥

जो यज्ञ ऋषियोंने देवताओंके निमित्त क्रमशः कहा है, जिनका फल इस लोक और परलोकमें होता है ॥ ३४ ॥

न ते शक्या दरिद्रेण यज्ञाः प्राप्तुं महीपते ।
बहूपकरणा यज्ञा नानासंभारविस्तराः ॥ ३५ ॥

हे राजन् ! उन यज्ञोंको दरिद्री पुरुष नहीं कर सकता; क्योंकि यज्ञमें अनेक सामग्री और बहुतसी वस्तुओंका विस्तार होता है ॥ ३५ ॥

प्राप्यन्ते पार्थिवैरेते समृद्धैर्वा नरैः क्वचित् ।
नार्थन्यूनोपकरणैरेकात्मभिरसंहितैः ॥ ३६ ॥

उन यज्ञोंको राजा ही कर सकते हैं और कहीं कहीं धनवान् पुरुष भी करनेमें समर्थ होते हैं; परन्तु थोडे धनवाले, सहायकोंसे रहित अकेले, साधनहीन पुरुष नहीं कर सकते ॥ ३६ ॥

यो दरिद्रैरपि विधिः शक्यः प्राप्तुं नरेश्वर ।
तुल्यो यज्ञफलैः पुण्यैस्तं निबोध युधां वर ॥ ३७ ॥

हे नरनाथ योद्धाओंमें श्रेष्ठ भीष्म ! जो विधि दरिद्रोंके द्वारा भी की जा सकती है और जो यज्ञफलके समान है, उसको सुनिये ॥ ३७ ॥

ऋषीणां परमं गुह्यमिदं भरतसत्तम ।
तीर्थाभिगमनं पुण्यं यज्ञैरपि विशिष्यते ॥ ३८ ॥

हे भरतसत्तम ! यह ऋषियोंका परम गुप्त मत है, कि पवित्र तीर्थोंमें जाना यज्ञोंसे भी अधिक फलदायक है ॥ ३८ ॥

अनुपोष्य त्रिरात्राणि तीर्थान्यनभिगम्य च ।
अदत्त्वा काञ्चनं गाश्च दरिद्रो नाम जायते ॥ ३९ ॥

जो तीन रात्री उपोषण नहीं करता, तीर्थ यात्रा नहीं करता, गऊदान और सुवर्णदान नहीं करता, वह दरिद्र हो जाता है ॥ ३९ ॥

अग्निष्टोमादिभिर्यज्ञैरिष्ट्वा विपुलदक्षिणैः ।
न तत्फलमवाप्नोति तीर्थाभिगमनेन यत् ॥ ४० ॥

भारी भारी दक्षिणावाले अग्निष्टोमादि यज्ञ करनेसे जो फल होते हैं, वही फल मनुष्य इन तीर्थोंमें जाकर भी प्राप्त करता है ॥ ४० ॥

नृलोके देवदेवस्य तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् ।
पुष्करं नाम विख्यातं महाभागः समाविशेत् ॥ ४१ ॥

देवोंके भी देव ब्रह्माका पुष्कर नामक तीर्थ मर्त्यलोकमें है, वह तीनों लोकमें विख्यात है, महाभाग्यशाली पुरुष उस तीर्थमें अवश्य जाए ॥ ४१ ॥

दश कोटिसहस्राणि तीर्थानां वै महीपते ।
सांनिध्यं पुष्करे येषां त्रिसन्ध्यं कुरुनन्दन ॥ ४२ ॥

हे कुरुओंमें श्रेष्ठ राजन् ! पुष्कर तीर्थमें तीनों सन्ध्याओंके समय दस करोड तीर्थ इकट्ठे होते हैं ॥ ४२ ॥

आदित्या वसवो रुद्राः साध्याश्च समरुद्गणाः ।
गन्धर्वाप्सरसश्चैव नित्यं संनिहिता विभो ॥ ४३ ॥

हे विभो ! वहां सूर्य, वसु, रुद्र, साध्य, मरुत, गन्धर्व और अप्सरा सदा ही निवास करते हैं ॥ ४३ ॥

यत्र देवास्तपस्तप्त्वा दैत्या ब्रह्मर्षयस्तथा ।
दिव्ययोगा महाराज पुण्येन महतान्विताः ॥ ४४ ॥

हे महाराज ! जहां देवता, दैत्य और ब्रह्मऋषि महान् पुण्यसे सम्पन्न होकर तप करके दिव्य योगको प्राप्त होते हैं ॥ ४४ ॥

मनसाप्यभिकामस्य पुष्कराणि मनस्विनः।
पूयन्ते सर्वपापानि नाकपृष्ठे च पूज्यते ॥ ४५ ॥

उस पुष्करका जो मनस्वी पुरुष मनसे भी ध्यान करता है, वह सब पापोंसे पवित्र होकर स्वर्गमें जाकर पूजित होता है ॥ ४५ ॥

तस्मिंस्तीर्थे महाभाग नित्यमेव पितामहः।
उवास परमप्रीतो देवदानवसंमतः ॥ ४६ ॥

हे महाभाग्यशाली भीष्म ! उस तीर्थमें देव और दानवोंके प्रिय और सब लोकोंके पितामह ब्रह्मा परम प्रीतिके पूर्वक सदा निवास करते हैं ॥ ४६ ॥

पुष्करेषु महाभाग देवाः सर्षिपुरोगमाः।
सिद्धिं समभिसंप्राप्ताः पुण्येन महतान्विताः ॥ ४७ ॥

हे महाभाग ! पुष्करमें पहले देवता और ऋषि पवित्र पुण्यसे युक्त होकर तप करके परम सिद्धिको प्राप्त हुए हैं ॥ ४७ ॥

तत्राभिषेकं यः कुर्यात्पितृदेवार्चने रतः।
अश्वमेधं दशगुणं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ४८ ॥

पितर और देवोंकी पूजा करनेमें रत रहनेवाला पुरुष यदि उसमें स्नान करे, तो वह अश्वमेध यज्ञसे दस गुने अधिक फलको पाता है ऐसा बुद्धिमान् कहते हैं ॥ ४८ ॥

अप्येकं भोजयेद्विप्रं पुष्करारण्यमाश्रितः।
तेनासौ कर्मणा भीष्म प्रेत्य चेह च मोदते ॥ ४९ ॥

यदि पुष्करमें रहनेवाले एक ब्राह्मणको भी भोजन करावे, तो उस कर्मके प्रतापसे, हे भीष्म ! मनुष्य इसलोक और परलोकमें आनन्द प्राप्त करता है ॥ ४९ ॥

शाकमूलफलैर्वापि येन वर्तयते स्वयम्।
तद्वै दद्याद्ब्राह्मणाय श्रद्धावाननसूयकः।
तेनैव प्राप्नुयात्प्राज्ञो हयमेधफलं नरः ॥ ५० ॥

शाक, मूल, फल या जो कुछ आप खाये, वही ब्राह्मणको श्रद्धासहित और ईर्ष्यारहित होकर खिलावे, उसी कर्मके फलसे बुद्धिमान् पुरुष अश्वमेधके फलको प्राप्त करता है ॥ ५० ॥

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वा राजसत्तम।
न वियोनिं व्रजन्त्येते स्नातास्तीर्थे महात्मनः ॥ ५१ ॥

हे राजसत्तम ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, कोई हो, महात्मा ब्रह्माके उस तीर्थमें स्नान करके फिर गर्भमें नहीं आता ॥ ५१ ॥

कार्तिक्यां तु विशेषेण योऽभिगच्छेत पुष्करम् ।
फलं तत्राक्षयं तस्य वर्धते भरतर्षभ ॥ ५२ ॥

विशेष करके जो कार्तिककी पूर्णिमासीको पुष्करमें स्नान करता है, हे भरतश्रेष्ठ ! उसको अक्षय फल प्राप्त होता है ॥ ५२ ॥

सायं प्रातः स्मरेद्यस्तु पुष्कराणि कृताञ्जलिः ।
उपस्पृष्टं भवेत्तेन सर्वतीर्थेषु भारत ।
प्राप्नुयाच्च नरो लोकान्ब्रह्मणः सदनेऽक्षयान् ॥ ५३ ॥

हे भारत ! जो सायंकाल और प्रातःकाल हाथ जोडकर पुष्करका स्मरण करता है । उसे सब तीर्थमें स्नान करनेका फल प्राप्त होता है और वह ब्रह्मलोकमें अक्षय लोकोंको प्राप्त करता है ॥ ५३ ॥

जन्मप्रभृति यत्पापं स्त्रियो वा पुरुषस्य वा ।
पुष्करे स्नातमात्रस्य सर्वमेव प्रणश्यति ॥ ५४ ॥

चाहे पुरुष हो वा स्त्री हो उसने जन्म भरमें जो पाप किया हो, वह सब पुष्करमें स्नान मात्रसे ही नष्ट हो जाता है ॥ ५४ ॥

यथा सुराणां सर्वेषामादिस्तु मधुसूदनः ।
तथैव पुष्करं राजंस्तीर्थानामादिरुच्यते ॥ ५५ ॥

जैसे सब देवोंमें मधु नामक असुरका नाश करनेवाले विष्णु मुख्य हैं, वैसे ही सब तीर्थोंमें पुष्करको आदि अर्थात् सर्वमुख्य कहा जाता है ॥ ५५ ॥

उष्य द्वादश वर्षाणि पुष्करे नियतः शुचिः ।
क्रतून्सर्वानवाप्नोति ब्रह्मलोकं च गच्छति ॥ ५६ ॥

राजन् ! जो पवित्र और इन्द्रियजित् होकर बारह वर्ष पुष्करमें रहे, वह सब यज्ञोंके फलोंको पाता है, और ब्रह्मलोकमें जाकर रहता है ॥ ५६ ॥

यस्तु वर्षशतं पूर्णमग्निहोत्रमुपासते ।
कार्तिकीं वा वसेदेकां पुष्करे सममेव तत् ॥ ५७ ॥

जो सौ वर्षतक अग्निहोत्रकी उपासना करे, और जो एक कार्तिकी पौर्णमासीमें पुष्कर वास करता है, उन दोनोंका फल समान ही होता है ॥ ५७ ॥

दुष्करं पुष्करं गन्तुं दुष्करं पुष्करे तपः ।
दुष्करं पुष्करे दानं वस्तुं चैव सुदुष्करम् ॥ ५८ ॥

पुष्करमें जाना कठिन है, पुष्करमें तप करना कठिन है, पुष्करमें दान करना बहुत कठिन है और पुष्करमें रहना तो और भी कठिन है ॥ ५८ ॥

उष्य द्वादशरात्रं तु नियतो नियताशनः ।
प्रदक्षिणमुपावृत्तो जम्बूमार्गं समाविशेत् ॥ ५९ ॥

थोडा भोजन करनेवाला इन्द्रियोंको वशमें करके बारह रोजतक पुष्करमें रहकर और उसकी प्रदक्षिणा करके जम्बूमार्ग नामक तीर्थमें जाये ॥ ५९ ॥

जम्बूमार्गं समाविश्य देवर्षिपितृसेवितम् ।
अश्वमेधमवाप्नोति विष्णुलोकं च गच्छति ॥ ६० ॥

देवता, ऋषि और पितरोंसे सेवित जम्बूमार्गमें जाकर मनुष्य अश्वमेधके फलको प्राप्त करता है और विष्णुलोकको जाता है ॥ ६० ॥

तत्रोष्य रजनीः पञ्च षष्ठकालक्षमी नरः ।
न दुर्गतिमवाप्नोति सिद्धिं प्राप्नोति चोत्तमाम् ॥ ६१ ॥

हे राजन् ! वहां पांच रात्रि निवासकर छठे दिन रहनेमें समर्थ मनुष्यकी दुर्गति नहीं होती, इसके विपरीत उसे उत्तम सिद्धि मिलती है ॥ ६१ ॥

जम्बूमार्गादुपावृत्तो गच्छेत्तण्डुलिकाश्रमम् ।
न दुर्गतिमवाप्नोति स्वर्गलोके च पूज्यते ॥ ६२ ॥

जम्बूमार्गसे होकर तण्डुलिका आश्रममें जो जाता है उसकी दुर्गति नहीं होती, अपितु वह स्वर्गलोकमें पूजा जाता है ॥ ६२ ॥

अगस्त्यसर आसाद्य पितृदेवार्चने रतः ।
त्रिरात्रोपोषितो राजन्नग्निष्टोमफलं लभेत् ॥ ६३ ॥

पितरों और देवोंकी पूजा करनेवाला जो मनुष्य अगस्त्य सरमें जाकर तीन रात रहता है, उसे, हे राजन् ! अग्निष्टोम यज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ ६३ ॥

शाकवृत्तिः फलैर्वापि कौमारं विन्दते पदम् ।
कण्वाश्रमं समासाद्य श्रीजुष्टं लोकपूजितम् ॥ ६४ ॥

लक्ष्मीसे युक्त और लोगोंके द्वारा पूजित कण्वाश्रममें जाकर जो शाक और फलोंको खाता है, उसे कुमारभाव प्राप्त होता है ॥ ६४ ॥

धर्मारण्यं हि तत्पुण्यमाद्यं च भरतर्षभ ।
यत्र प्रविष्टमात्रो वै पापेभ्यो विप्रमुच्यते ॥ ६५ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! उसका नाम धर्मारण्य है, वह पवित्र स्थान और आदिस्थान है जहां प्रविष्ट होने मात्रसे ही पुरुष सब पापोंसे छूट जाता है ॥ ६५ ॥

अर्चयित्वा पितॄन्देवान्नियतो नियताशनः ।
सर्वकामसमृद्धस्य यज्ञस्य फलमश्नुते ॥ ६६ ॥

वहां मनुष्य इन्द्रियजित् और अल्पाहारी होकर यदि पितर और देवताओंकी पूजा करे तो उसकी सब कामनायें पूर्ण हो जाती हैं और उसे यज्ञका फल मिलता है ॥ ६६ ॥

प्रदक्षिणं ततः कृत्वा ययातिपतनं व्रजेत् ।
हयमेधस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति तत्र वै ॥ ६७ ॥

उसकी प्रदक्षिणा करके मनुष्य ययातिपतन नामक तीर्थमें जाये, वहां जातेही उसे अश्वमेध यज्ञका फल मिलता है ॥ ६७ ॥

महाकालं ततो गच्छेन्नियतो नियताशनः ।
कोटितीर्थमुपस्पृश्य हयमेधफलं लभेत् ॥ ६८ ॥

वहांसे मनुष्य अल्पाहारी और जितेन्द्रिय होकर महाकाल तीर्थमें जाये, वहां कोटि तीर्थमें स्नान करनेसे अश्वमेधका फल मिलता है ॥ ६८ ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ पुण्यस्थानमुमापतेः ।
नाम्ना भद्रवटं नाम त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् । ॥ ६९ ॥

वहांसे धर्मको जाननेवाला पुरुष भद्रवट नामक तीर्थमें जाये । यह पुण्यस्थान पार्वतीनाथ शिवका है और तीनों लोकोंमें विख्यात है ॥ ६९ ॥

तत्राभिगम्य चेशानं गोसहस्रफलं लभेत् ।
महादेवप्रसादाच्च गाणपत्यमवाप्नुयात् ॥ ७० ॥

वहां शिवके दर्शन करनेसे सहस्र गोदानका फल मिलता है और शिवकी कृपासे गाणपत्य पद मिलता है ॥ ७० ॥

नर्मदामथ चासाद्य नदीं त्रैलोक्यविश्रुताम् ।
तर्पयित्वा पितॄन्देवानग्निष्टोमफलं लभेत् ॥ ७१ ॥

वहांसे चलकर तीनों लोकोंमें विख्यात नर्मदा नदी पर जाये, वहां देवता और पितरोंका तर्पण करनेसे मनुष्यको अग्निष्टोमयज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ ७१ ॥

दक्षिणं सिन्धुमासाद्य ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ।
अग्निष्टोममवाप्नोति विमानं चाधिरोहति ॥ ७२ ॥

वहांसे ब्रह्मचारी और जितेन्द्रिय होकर मनुष्य दक्षिण समुद्रके तट पर जाये, वहां जानेसे अग्निष्टोम यज्ञका फल मिलता है और चढनेको विमान प्राप्त होता है ॥ ७२ ॥

चर्मण्वतीं समासाद्य नियतो नियताशनः ।
रन्तिदेवाभ्यनुज्ञातो अग्निष्टोमफलं लभेत् ॥ ७३ ॥

आगे वहांसे जितेन्द्रिय और जिताहार होकर चर्मण्वती (चम्बल) नदीके तट पर जाये; वहां जानेसे रन्तिदेवके पास कहे हुए अग्निष्टोमयज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ ७३ ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ हिमवत्सुतमर्बुदम् ।
पृथिव्यां यत्र वै छिद्रं पूर्वमासीद्युधिष्ठिर ॥ ७४ ॥

हे धर्मज्ञ युधिष्ठिर ! वहांसे हिमाचलके पुत्र अर्बुदमें जाये, जहां पहले पृथ्वीमें छिद्र था ॥ ७४ ॥

तत्राश्रमो वसिष्ठस्य त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ।
तत्रोष्य रजनीमेकां गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ७५ ॥

वहीं तीनों लोकमें विख्यात वसिष्ठमुनिका आश्रम है, वहां एक रात रहनेसे हजार गौके दानका फल मिलता है ॥ ७५ ॥

पिङ्गातीर्थमुपस्पृश्य ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ।
कपिलानां नरव्याघ्र शतस्य फलमश्नुते ॥ ७६ ॥

हे नरश्रेष्ठ ! यदि ब्रह्मचारी और जितेन्द्रिय होकर वहां पिङ्गातीर्थमें स्नान करे, तो सौ कपिल गौदानका फल पाता है ॥ ७६ ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ प्रभासं लोकविश्रुतम् ।
यत्र संनिहितो नित्यं स्वयमेव हुताशनः ।
देवतानां मुखं वीर अनलोऽनिलसारथिः ॥ ७७ ॥

हे धर्मज्ञ वीर ! वहांसे लोकविख्यात प्रभास-तीर्थमें जाये, जहां वायुके सारथी तथा देवोंके मुखरूप तथा हविष्यको खानेवाले भगवान् अग्नि स्वयं सदा निवास करते हैं ॥ ७७ ॥

तस्मिंस्तीर्थवरे स्नात्वा शुचिः प्रयतमानसः ।
अग्निष्टोमातिरात्राभ्यां फलं प्राप्नोति मानवः ॥ ७८ ॥

जो मनुष्य पवित्र होकर तथा मनको स्थिर करके उस श्रेष्ठतीर्थमें स्नान करता है वह अग्निष्टोम और अतिरात्र यज्ञका फल पाता है ॥ ७८ ॥

ततो गत्वा सरस्वत्याः सागरस्य च संगमे ।
गोसहस्रफलं प्राप्य स्वर्गलोके महीयते ।
दीप्यमानोऽग्निवन्नित्यं प्रभया भरतर्षभ ॥ ७९ ॥

वहांसे सरस्वती और समुद्रके सङ्गमको जो जाता है उसे सहस्र गौदानका फल मिलता है, और स्वर्गलोकमें पूजित होता है । तथा, हे भरतर्षभ ! वह हमेशा अग्निके समान तेजसे प्रकाशित होता है ॥ ७९ ॥

त्रिरात्रमुषितस्तत्र तर्पयेत्पितृदेवताः ।
प्रभासते यथा सोमो अश्वमेधं च विन्दति ॥ ८० ॥

तीन दिन वहीं निवास करके पितर और देवोंका तर्पण करे तो अश्वमेध यज्ञका फल पाता है और चन्द्रमाके समान तेजस्वी होता है ॥ ८० ॥

वरदानं ततो गच्छेत्तीर्थं भरतसत्तम ।
विष्णोर्दुर्वाससा यत्र वरो दत्तो युधिष्ठिर ।
वरदाने नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ८१ ॥

हे भरतसत्तम ! वहांसे वरदान तीर्थको जाये। हे युधिष्ठिर ! विष्णुने उसी स्थानमें दुर्वासाको वर दिया था। वरदान तीर्थमें स्नान करके मनुष्य सहस्र गोदानका फल पाता है ॥ ८१ ॥

ततो द्वारवतीं गच्छेन्नियतो नियताशनः ।
पिण्डारके नरः स्नात्वा लभेद्बहु सुवर्णकम् ॥ ८२ ॥

वहांसे आगे पुरुष जितेन्द्रिय और संयमित आहारवाला होकर द्वारिका पुरीको जाये, वहां पिण्डारक तीर्थमें स्नान करनेपर बहुत सुवर्ण प्राप्त करता है ॥ ८२ ॥

तस्मिंस्तीर्थे महाभाग पद्मलक्षणलक्षिताः ।
अद्यापि मुद्रा दृश्यन्ते तदद्भुतमरिन्दम ॥ ८३ ॥

हे महाभाग ! हे शत्रुनाशक ! उस तीर्थमें अब भी पद्मके समान मुद्रायें दिखाई देती हैं। यह परम आश्चर्य है ॥ ८३ ॥

त्रिशूलाङ्कानि पद्मानि दृश्यन्ते कुरुनन्दन ।
महादेवस्य सान्निध्यं तत्रैव भरतर्षभ ॥ ८४ ॥

हे कुरुनन्दन ! वहां त्रिशूल चिन्होंसे युक्त पद्म दीखते हैं। हे भरतर्षभ ! वहां महादेव निवास करते हैं ॥ ८४ ॥

सागरस्य च सिन्धोश्च संगमं प्राप्य भारत ।
तीर्थे सलिलराजस्य स्नात्वा प्रयतमानसः ॥ ८५ ॥

हे भारत ! वहांसे सिन्ध और समुद्रके सङ्गममें जाये, वहां मनको स्थिर करके जलराज समुद्रके तीर्थमें स्नान करे ॥ ८५ ॥

तर्पयित्वा पितॄन्देवानृषींश्च भरतर्षभ ।
प्राप्नोति वारुणं लोकं दीप्यमानः स्वतेजसा ॥ ८६ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! वहां पितर, देवता तथा ऋषियोंका तर्पण करके अपने तेजसे प्रकाशित होकर मनुष्य वरुणलोक प्राप्त करता है ॥ ८६ ॥

शंकुकर्णेश्वरं देवमर्चयित्वा युधिष्ठिर।
अश्वमेधं दशगुणं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ८७ ॥

हे युधिष्ठिर! वहां शंकुकर्णेश्वर महादेवकी पूजा करनेसे महात्मा लोग कहते हैं कि अश्वमेधसे भी दसगुना अधिक फल मिलता है ॥ ८७ ॥

प्रदक्षिणमुपावृत्य गच्छेत भरतर्षभ।
तीर्थं कुरुवरश्रेष्ठ त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्।
दमीति नाम्ना विख्यातं सर्वपापप्रमोचनम् ॥ ८८ ॥

हे भरतर्षभ! हे कुरुवरश्रेष्ठ! वहांसे आगे उसकी प्रदक्षिणा करके तीनों लोकोमें विख्यात दमी नामक तीर्थमें जाये; वह सब पापोंका नाश करनेवाला है ॥ ८८ ॥

तत्र ब्रह्मादयो देवा उपासन्ते महेश्वरम्।
तत्र स्नात्वार्चयित्वा च रुद्रं देवगणैर्वृतम्।
जन्मप्रभृति पापानि कृतानि नुदते नरः ॥ ८९ ॥

वहीं ब्रह्मादि सब देव शिवकी पूजा करते हैं। वहां स्नानकर देवताओंसे घिरे हुए शिवकी पूजाकर पुरुष जन्मसे लेकर अबतक किए गए पापोंसे छूट जाता है ॥ ८९ ॥

दमी चात्र नरश्रेष्ठ सर्वदेवैरभिष्टुता।
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र हयमेधमवाप्नुयात् ॥ ९० ॥

हे पुरुषव्याघ्र! हे नरश्रेष्ठ! इसी स्थानपर सब देवताओंने दमीकी स्तुति की थी। वहां स्नान करनेसे अश्वमेधका फल प्राप्त होता है ॥ ९० ॥

जित्वा यत्र महाप्राज्ञ विष्णुना प्रभविष्णुना।
पुरा शौचं कृतं राजन्हत्वा दैवतकण्टकान् ॥ ९१ ॥

हे महाप्राज्ञ राजन्! पहले महा प्रभावशाली विष्णुने देवताओंके लिए कण्टकरूप दानवोंको मारकर इसी स्थानपर पवित्रता पाई थी ॥ ९१ ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ वसोर्धारामभिष्टुताम्।
गमनादेव तस्यां हि हयमेधमवाप्नुयात् ॥ ९२ ॥

हे धर्मज्ञ! वहांसे वसुधारा नामक तीर्थको जाये, उसकी सब देवता लोग स्तुति करते हैं, वहां जानेहीसे अश्वमेधका फल मिलता है ॥ ९२ ॥

स्नात्वा कुरुवरश्रेष्ठ प्रयतात्मा तु मानवः।
तर्प्य देवान्पितॄंश्चैव विष्णुलोके महीयते ॥ ९३ ॥

हे कुरुश्रेष्ठ! जितेन्द्रिय होकर स्नान करके वहां देवता और पितरोंका तर्पण करनेसे मनुष्यको विष्णुलोक मिलता है ॥ ९३ ॥

तीर्थं चात्र परं पुण्यं वसूनां भरतर्षभ ।
तत्र स्नात्वा च पीत्वा च वसूनां संमतो भवेत् ॥ ९४ ॥

हे भरतर्षभ ! इस तीर्थमें वसुओंका परम पवित्र तडाग है, वहां स्नान करने और जलका पान करनेसे पुरुष वसुओंका प्रिय बन जाता है ॥ ९४ ॥

सिन्धूत्तममिति ख्यातं सर्वपापप्रणाशनम् ।
तत्र स्नात्वा नरश्रेष्ठ लभेद्बहु सुवर्णकम् ॥ ९५ ॥

हे नरश्रेष्ठ ! वहांसे आगे सब पापोंको नष्ट करनेवाला सिन्धूत्तम नामक तीर्थ है, उसमें स्नान करनेसे मनुष्य बहुत सुवर्ण प्राप्त करता है ॥ ९५ ॥

ब्रह्मतुङ्गं समासाद्य शुचिः प्रयतमानसः ।
ब्रह्मलोकमवाप्नोति सुकृती विरजा नरः ॥ ९६ ॥

हे महाराज ! वहांसे आगे पवित्र और जितेन्द्रिय पुरुष ब्रह्मतुङ्ग नामक तीर्थपर जाये। वहां जानेसे उत्तम कर्म करनेवाला मनुष्य ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है ॥ ९६ ॥

कुमारिकाणां शक्रस्य तीर्थं सिद्धनिषेवितम् ।
तत्र स्नात्वा नरः क्षिप्रं शक्रलोकमवाप्नुयात् ॥ ९७ ॥

उसके आगे कुमारिका तीर्थ जो इन्द्रतीर्थके नामसे प्रसिद्ध है, उसकी सिद्ध लोग सेवा करते हैं, वहां स्नान करनेसे पुरुषको शीघ्र इन्द्रलोक मिलता है ॥ ९७ ॥

रेणुकायाश्च तत्रैव तीर्थं देवनिषेवितम् ।
तत्र स्नात्वा भवेद्विप्रो विमलश्चन्द्रमा यथा ॥ ९८ ॥

वहीं देवोंसे सेवित रेणुका तीर्थ है, उसमें स्नान करनेसे ब्राह्मण चन्द्रमाके समान निर्मल हो जाता है ॥ ९८ ॥

अथ पञ्चनदं गत्वा नियतो नियताशनः ।
पञ्च यज्ञानवाप्नोति क्रमशो येऽनुकीर्तिताः ॥ ९९ ॥

वहांसे आगे जितेन्द्रिय और जिताहार होकर पञ्चनद तीर्थपर जाये; वहां जानेसे क्रमसे कथित पांच यज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ ९९ ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ भीमायाः स्थानमुत्तमम् ।
तत्र स्नात्वा तु योन्यां वै नरो भरतसत्तम ॥ १०० ॥
देव्याः पुत्रो भवेद्राजंस्तप्तकुण्डलविग्रहः ।
गवां शतसहस्रस्य फलं चैवाप्नुयान्महत् ॥ १०१ ॥

हे धर्मज्ञ ! वहांसे उत्तम भीमा नदीके स्थानपर जाये, हे भरतोंमें श्रेष्ठ ! मनुष्य वहां योनिमें स्नान करनेसे देवीका पुत्र होता है, उसका रङ्ग तपे हुए सोनेके समान हो जाता है; वहां जानेसे एक लाख गौदानका महान् फल पाता है ॥ १००-१०१ ॥

गिरिमुञ्जं समासाद्य त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
पितामहं नमस्कृत्य गोसहस्रफलं लभेत् ॥ १०२ ॥

वहांसे तीनों लोकोंमें विख्यात गिरिमुंज नामक तीर्थपर जाये, वहां पितामह ब्रह्माको नमस्कार करनेसे सहस्र गोदानका फल मिलता है ॥ १०२ ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ विमलं तीर्थमुत्तमम् ।
अद्यापि यत्र दृश्यन्ते मत्स्याः सौवर्णराजताः ॥ १०३ ॥

हे धर्मज्ञ ! वहांसे उत्तम विमल तीर्थको जाये, जहां अबतक भी सोने और चांदीके रङ्गवाली मछलियां दीखती हैं ॥ १०३ ॥

तत्र स्नात्वा नरश्रेष्ठ वाजपेयमवाप्नुयात् ।
सर्वपापविशुद्धात्मा गच्छेच्च परमां गतिम् ॥ १०४ ॥

हे नरश्रेष्ठ ! वहां स्नान करनेसे पुरुषको वाजपेयका फल मिलता है, वह पुरुष सब पापोंसे छूट जानेके कारण विशुद्ध और पवित्र आत्मावाला होकर परम गति मोक्षको पाता है ॥ १०४ ॥

ततो गच्छेत मलदां त्रिषु लोकेषु विश्रुताम् ।
पश्चिमायां तु सन्ध्यायामुपस्पृश्य यथाविधि ॥ १०५ ॥

वहांसे तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध मलदा तीर्थमें जाये, यहां विधिपूर्वक सायंकालकी सन्ध्यामें स्नान करे ॥ १०५ ॥

चरुं नरेन्द्र सप्तार्चेर्यथाशक्ति निवेदयेत् ।
पितॄणामक्षयं दानं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ १०६ ॥

हे नरेन्द्र ! वहांपर शक्तिके अनुसार अग्निको चरु दे । पण्डित लोग कहते हैं, कि पितरोंके निमित्त वहां जो दान किया जाता है, वह अक्षय हो जाता है ॥ १०६ ॥

गवां शतसहस्रेण राजसूयशतेन च ।
अश्वमेधसहस्रेण श्रेयान्सप्तार्चिषश्चरुः ॥ १०७ ॥

वहांपर अग्निको चरु देनेसे एक लाख गौके दान, सौ राजसूय यज्ञ, और हजार अश्वमेध यज्ञोंसे भी अधिक फल मिलता है ॥ १०७ ॥

ततो निवृत्तो राजेन्द्र वस्त्रापदमथाविशेत् ।
अभिगम्य महादेवमश्वमेधफलं लभेत् ॥ १०८ ॥

हे राजेन्द्र ! वहांसे निवृत्त होकर वस्त्रतीर्थको जाये, वहां महादेवके पास जानेसे अश्वमेधका फल मिलता है ॥ १०८ ॥

मणिमन्तं समासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः ।
एकरात्रोषितो राजन्नग्निष्टोमफलं लभेत् ॥ १०९ ॥

वहांसे आगे, हे राजन् ! मनुष्य ब्रह्मचारी और सावधान होकर मणिमान् तीर्थको जाये, वहां एक रात रहनेसे मनुष्य अग्निष्टोम यज्ञका फल प्राप्त करता है ॥ १०९ ॥

अथ गच्छेत राजेन्द्र देविकां लोकविश्रुताम् ।
प्रसूतिर्यत्र विप्राणां श्रूयते भरतर्षभ ॥ ११० ॥

हे राजेन्द्र ! वहांसे लोकविख्यात देविका तीर्थमें जाये । हे भरतर्षभ ! वहींपर सब ब्राह्मण उत्पन्न हुए थे ऐसा सुना जाता है ॥ ११० ॥

त्रिशूलपाणेः स्थानं च त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
देविकायां नरः स्नात्वा समभ्यर्च्य महेश्वरम् ॥ १११ ॥
यथाशक्ति चरुं तत्र निवेद्य भरतर्षभ ।
सर्वकामसमृद्धस्य यज्ञस्य लभते फलम् ॥ ११२ ॥

वहां तीनों लोकोंमें विख्यात त्रिशूलधारी रुद्रका स्थान है । देविका तीर्थमें स्नान करके और महेशको पूजनेसे और, हे भरतश्रेष्ठ ! यथाशक्ति चरु देनेसे मनुष्य सर्वकामसमृद्ध नामक यज्ञका फल प्राप्त करता है ॥ १११-११२ ॥

कामाख्यं तत्र रुद्रस्य तीर्थं देवर्षिसेवितम् ।
तत्र स्नात्वा नरः क्षिप्रं सिद्धिमाप्नोति भारत ॥ ११३ ॥

वहां रुद्रदेवका सब देवर्षियोंसे सेवित कामाख्य तीर्थ है । उस तीर्थमें स्नान करके पुरुष शीघ्र ही सिद्धिको पा लेता है ॥ ११३ ॥

यजनं याजनं गत्वा तथैव ब्रह्मवालुकाम् ।
पुष्पन्यास उपस्पृश्य न शोचेन्मरणं गतः ॥ ११४ ॥

वहां यज्ञ करे और करावे, वहांकी ब्रह्मवालू और जलको छूनेसे पुरुष मरनेके पश्चात् शोकसे रहित हो जाता है, अर्थात् मोक्ष पाता है ॥ ११४ ॥

अर्धयोजनविस्तारां पञ्चयोजनमायताम् ।
एतावद्देविकामाहुः पुण्यां देवर्षिसेविताम् ॥ ११५ ॥

देव और ऋषियोंसे सेवित पवित्र देवीका वह स्थान दो कोस चौडा और बीस कोस लम्बा है, ऐसा लोग कहते हैं ॥ ११५ ॥

×

ततो गच्छेत धर्मज्ञ दीर्घसत्रं यथाक्रमम् ।
तत्र ब्रह्मादयो देवाः सिद्धाश्च परमर्षयः ।
दीर्घसत्रमुपासन्ते दक्षिणाभिर्यतव्रताः ॥ ११६ ॥

हे धर्मज्ञ ! वहांसे क्रमके अनुसार दीर्घसत्र तीर्थपर जाये, जहां ब्रह्मादिक देवता, सिद्ध और महा ऋषिलोग व्रतोंको धारण करके बडी बडी दक्षिणाओंसे युक्त दीर्घ कालतक चलनेवाले यज्ञको करते हैं ॥ ११६ ॥

गमनादेव राजेन्द्र दीर्घसत्रमरिन्दम ।
राजसूयाश्वमेधाभ्यां फलं प्राप्नोति मानवः ॥ ११७ ॥

हे शत्रुनाशन राजेन्द्र ! दीर्घसत्र तीर्थमें जानेहीसे मनुष्य राजसूय और अश्वमेधका फल प्राप्त करता है ॥ ११७ ॥

ततो विनशनं गच्छेन्नियतो नियताशनः ।
गच्छत्यन्तर्हिता यत्र मरुपृष्ठे सरस्वती ।
चमसे च शिवोद्भेदे नागोद्भेदे च दृश्यते ॥ ११८ ॥

वहांसे आगे मिताहार नियत होकर विनशन तीर्थमें जाये, जहां मरुके पृष्ठ अर्थात् मरुस्थल पर सरस्वती अन्तर्ध्यान हो जाती है, फिर वह चमस, शिवोद्भेद और नागोद्भेद तीर्थमें दीखती है ॥ ११८ ॥

स्नात्वा च चमसोद्भेदे अग्निष्टोमफलं लभेत् ।
शिवोद्भेदे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ।
नागोद्भेदे नरः स्नात्वा नागलोकमवाप्नुयात् ॥ ११९ ॥

चमसोद्भेद तीर्थमें स्नान करनेसे मनुष्य अग्निष्टोम यज्ञका फल पाता है । शिवोद्भेदमें स्नान करके मनुष्य सहस्र गोदानका फल पाता है और नागोद्भेदमें स्नान करनेसे पुरुषको नागलोक मिलता है ॥ ११९ ॥

शशयानं च राजेन्द्र तीर्थमासाद्य दुर्लभम् ।
शशरूपप्रतिच्छन्नाः पुष्करा यत्र भारत ॥ १२० ॥
सरस्वत्यां महाराज अनु संवत्सरं हि ते ।
स्नायन्ते भरतश्रेष्ठ वृत्तां वै कार्त्तिकीं सदा ॥ १२१ ॥

हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ राजेन्द्र ! वहांसे आगे दुर्लभ शशयान तीर्थमें जाये, हे भारत ! जहां शशरूपसे प्रतिच्छन्न पुष्कर कार्त्तिकमासकी पूर्णिमामें प्रतिवर्ष सरस्वतीमें स्नान करते हैं ॥ १२०-१२१ ॥

तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र द्योतते शशिवत्सदा ।
गोसहस्रफलं चैव प्राप्नुयाद्भरतर्षभ ॥ १२२ ॥

हे भरतर्षभ ! हे पुरुषसिंह ! वहां स्नान करनेसे पुरुष सदा चन्द्रमाके समान प्रकाशित होता है तथा सहस्र गोदानका फलभी पाता है ॥ १२२ ॥

कुमारकोटिमासाद्य नियतः कुरुनन्दन ।
तत्राभिषेकं कुर्वीत पितृदेवार्चने रतः ।
गवामयमवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ॥ १२३ ॥

हे कुरुनन्दन ! वहांसे देवता और पितरों की पूजा करनेवाला नियमधारी पुरुष कुमारकोटि तीर्थमें स्नान करे, वहां स्नान करनेसे सहस्र गोदानका फल होता है, और उसके कुलकाभी उद्धार हो जाता है ॥ १२३ ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ रुद्रकोटिं समाहितः ।
पुरा यत्र महाराज ऋषिकोटिः समाहिता ।
प्रहर्षेण च संविष्टा देवदर्शनकाङ्क्षया ॥ १२४ ॥

हे धर्मज्ञ ! वहांसे सावधान होकर रुद्रकोटि तीर्थमें जाना चाहिये, जहां पहले एक करोड ऋषियोंका समूह शिवके दर्शनकी इच्छासे प्रसन्न होकर आया था, ॥ १२४ ॥

अहं पूर्वमहं पूर्वं द्रक्ष्यामि वृषभध्वजम् ।
एवं संप्रस्थिता राजन्नृषयः किल भारत ॥ १२५ ॥

"शिवजीको मैं पहले देखूंगा, मैं पहले देखूंगा" इस प्रकार कहते हुए, हे भरतवंशी राजन् ! वे ऋषि चल पडे थे ॥ १२५ ॥

ततो योगेश्वरेणापि योगमास्थाय भूपते ।
तेषां मन्युप्रणाशार्थमृषीणां भावितात्मनाम् ॥ १२६ ॥
सृष्टा कोटिस्तु रुद्राणामृषीणामग्रतः स्थिता ।
मया पूर्वतरं दृष्ट इति ते मेनिरे पृथक् ॥ १२७ ॥

हे महाराज ! तब योगेश्वर शिवजीने भी योगका आश्रय लेकर महात्मा ऋषियोंके क्रोधको शान्त करनेके निमित्त सब ऋषियोंके आगे एक करोड रुद्र प्रकट कर दिए और उनको सब ऋषि अलग अलग देखकर कहने लगे, कि शिवको मैंने पहले देखा ॥ १२६-१२७ ॥

तेषां तुष्टो महादेव ऋषिणामुग्रतेजसाम् ।
भक्त्या परमया राजन्वरं तेषां प्रदिष्टवान् ।
अद्य प्रभृति युष्माकं धर्मवृद्धिर्भविष्यति ॥ १२८ ॥

अनन्तर उन उग्र तेजस्वी मुनियोंकी परम भक्तिसे शिव प्रसन्न हुए और ऐसा वरदान दिया कि आजसे तुमलोगोंका धर्म बढेगा ॥ १२८ ॥

तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र रुद्रकोट्यां नरः शुचिः।
अश्वमेधमवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ॥ १२९ ॥

हे पुरुषव्याघ्र ! उस रुद्रकोटि तीर्थमें स्नान करनेसे पुरुष पवित्र होता है, और अश्वमेधका फल प्राप्त करता है, तथा अपने कुलकाभी उद्धार करता है। ॥ १२९ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र संगमं लोकविश्रुतम्।
सरस्वत्या महापुण्यमुपासन्ते जनार्दनम् ॥ १३० ॥

हे राजेन्द्र ! वहांसे लोकविख्यात सरस्वतीके सङ्गमको जाये, सरस्वतीके तट पर पुण्यशाली जनार्दनकी लोग उपासना करते हैं ॥ १३० ॥

यत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयः सिद्धचारणाः।
अभिगच्छन्ति राजेन्द्र चैत्रशुक्लचतुर्दशीम् ॥ १३१ ॥

यहीं पर, हे राजेन्द्र ! चैत्र शुक्ल चतुर्दशीके दिन विष्णुकी उपासना करनेके लिये ब्रह्मादिक देवता, ऋषि, सिद्ध और चारण आते हैं ॥ १३१ ॥

तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र विन्देद्बहु सुवर्णकम्।
सर्वपापविशुद्धात्मा ब्रह्मलोकं च गच्छति ॥ १३२ ॥

हे पुरुषसिंह ! वहां स्नान करके मनुष्य बहुत सुवर्णको पाता है और सब पापोंसे शुद्ध होकर ब्रह्मलोकको प्राप्त करता है ॥ १३२ ॥

ऋषीणां यत्र सत्राणि समाप्तानि नराधिप।
सत्रावसानमासाद्य गोसहस्रफलं लभेत् ॥ १३३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि अशीतितमोऽध्यायः ॥ ८० ॥ २८६१ ॥

हे नरनाथ ! जहां ऋषियोंके यज्ञ समाप्त हुए थे। वहां अपने यज्ञकी समाप्ति करनेपर हजार गोदानका फल मनुष्यको प्राप्त होता है ॥ १३३ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें अस्सीवां अध्याय समाप्त ॥ ८० ॥ २८६१ ॥

: ८१ :

पुलस्त्य उवाच

ततो गच्छेत राजेन्द्र कुरुक्षेत्रमभिष्टुतम् ।
पापेभ्यो विप्रमुच्यन्ते तद्गताः सर्वजन्तवः ॥ १ ॥

पुलस्त्य बोले– हे राजेन्द्र ! वहांसे प्रशंसित तीर्थ कुरुक्षेत्रको जाये, वहां जानेवाले सब प्राणी पापोंसे छूट जाते हैं ॥ १ ॥

कुरुक्षेत्रं गमिष्यामि कुरुक्षेत्रे वसाम्यहम् ।
य एवं सततं ब्रूयात्सोऽपि पापैः प्रमुच्यते ॥ २ ॥

जो कोई सदा यही कहता रहे, कि 'मैं कुरुक्षेत्रको जाऊंगा, वहीं निवास करूंगा' तो वह भी सब पापोंसे छूट जाता है ॥ २ ॥

तत्र मासं वसेद्वीर सरस्वत्यां युधिष्ठिर ।
यत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयः सिद्धचारणाः ॥ ३ ॥
गन्धर्वाप्सरसो यक्षाः पन्नगाश्च महीपते ।
ब्रह्मक्षेत्रं महापुण्यमभिगच्छन्ति भारत ॥ ४ ॥

हे वीर राजन् युधिष्ठिर ! जहां ब्रह्मादि देवता, ऋषि, सिद्ध, चारण गन्धर्व, अप्सरा, यक्ष और सर्प निवास करते हैं, वहां उस सरस्वती नदीके तटपर मनुष्य एक महीने तक निवास करे। हे भारत ! वहींसे वे लोग महा पवित्र ब्रह्मक्षेत्रको जाते हैं ॥ ३-४ ॥

मनसाप्यभिकामस्य कुरुक्षेत्रं युधिष्ठिर ।
पापानि विप्रणश्यन्ति ब्रह्मलोकं च गच्छति ॥ ५ ॥

हे युधिष्ठिर ! जो मनसे भी कुरुक्षेत्रमें जाने या रहनेकी इच्छा करते हैं, वे सब पापोंसे छूटकर ब्रह्मलोकको जाते हैं ॥ ५ ॥

गत्वा हि श्रद्धया युक्तः कुरुक्षेत्रं कुरूद्वह ।
राजसूयाश्वमेधाभ्यां फलं प्राप्नोति मानवः ॥ ६ ॥

हे कुरुनन्दन ! श्रद्धासे युक्त होकर कुरुक्षेत्रमें जानेसे पुरुषको अश्वमेध और राजसूयका फल प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

ततो मचक्रुकं राजन्द्वारपालं महाबलम् ।
यक्षं समभिवाद्यैव गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ७ ॥

हे राजन् ! वहां मचक्रुक नामक यक्ष द्वारपालको नमस्कार करनेसे हजार गोदानका फल प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

तती गच्छेत धर्मज्ञ विष्णोः स्थानमनुत्तमम् ।
सततं नाम राजेन्द्र यत्र संनिहितो हरिः ॥ ८ ॥

हे धर्मज्ञ राजेन्द्र ! वहांसे अति उत्तम सतत नामक विष्णुके स्थानको जाये, हे राजेन्द्र! वहां सदाही नारायण निवास करते हैं ॥ ८ ॥

तत्र स्नात्वार्चयित्वा च त्रिलोकप्रभवं हरिम् ।
अश्वमेधमवाप्नोति विष्णुलोकं च गच्छति ॥ ९ ॥

वहां स्नान करने और तीनों लोकोंके कर्ता विष्णुको प्रणाम करनेसे मनुष्यको अश्वमेध यज्ञका फल मिलता है, और वह विष्णुलोक भी प्राप्त करता है ॥ ९ ॥

ततः पारिप्लवं गच्छेत्तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् ।
अग्निष्टोमातिरात्राभ्यां फलं प्राप्नोति मानवः ॥ १० ॥

हे भारत ! वहांसे चलकर तीनों लोकोंमें विख्यात पारिप्लव नामक तीर्थमें जाये, वहां जानेसे मनुष्यको अग्निष्टोम और अतिरात्र यज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ १० ॥

पृथिव्यास्तीर्थमासाद्य गोसहस्रफलं लभेत् ।
ततः शालूकिनीं गत्वा तीर्थसेवी नराधिप ।
दशाश्वमेधिके स्नात्वा तदेव लभते फलम् ॥ ११ ॥

हे नरनाथ ! वहांसे पृथिवीतीर्थमें जाकर हजार गोदानका फल प्राप्त करे। वहांसे तीर्थसेवी पुरुष शालूकिनी तीर्थमें जाये, वहां दशाश्वमेधमें स्नान करनेसे दश अश्वमेधका फल प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

सर्पदर्वीं समासाद्य नागानां तीर्थमुत्तमम् ।
अग्निष्टोममवाप्नोति नागलोकं च विन्दति ॥ १२ ॥

तदनन्तर सर्पोंके उत्तम तीर्थ सर्पदर्वीमें जाये, वहां जानेसे मनुष्य अग्निष्टोमका फल प्राप्त करता है और उसे नागलोक मिलता है ॥ १२ ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ द्वारपालं तरन्तुकम् ।
तत्रोष्य रजनीमेकां गोसहस्रफलं लभेत् ॥ १३ ॥

हे धर्मज्ञ ! वहांसे तरन्तुक नामक द्वारपाल तीर्थको जाये, वहां एक रात्रि रहनेसे हजार गोदानका फल प्राप्त होता है ॥ १३ ॥

ततः पञ्चनदं गत्वा नियतो नियताशनः ।
कोटितीर्थमुपस्पृश्य हयमेधफलं लभेत् ।
अश्विनोस्तीर्थमासाद्य रूपवानभिजायते ॥ १४ ॥

वहांसे पुरुष जितेन्द्रिय और नियत आहारवाला होकर पञ्चनद—पञ्जाब देशमें जाकर कोटीतीर्थमें स्नान करे और अश्वमेधका फल प्राप्त करे। वहांसे अश्विनीकुमारोंके तीर्थमें जानेसे पुरुष रूपवान् हो जाता है ॥ १४ ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ वाराहं तीर्थमुत्तमम् ।
विष्णुर्वाराहरूपेण पूर्वं यत्र स्थितोऽभवत् ।
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र अग्निष्टोमफलं लभेत् ॥ १५ ॥

हे धर्मज्ञ ! वहांसे उत्तम वाराह तीर्थमें जाये, जहां पहले विष्णुने वाराहके रूपमें वास किया था। हे नरव्याघ्र ! वहां स्नान करनेसे अग्निष्टोम यज्ञका फल प्राप्त होता ॥ १५ ॥

ततो जयन्त्या राजेन्द्र सोमतीर्थं समाविशेत् ।
स्नात्वा फलमवाप्नोति राजसूयस्य मानवः ।
एकहंसे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥ १६ ॥

हे राजेन्द्र ! वहांसे जयन्तीमें जाकर सोमतीर्थमें स्नान करे, वहां स्नान करनेसे पुरुषको राजसूय यज्ञका फल मिलता है, यहां एकहंस तीर्थमें स्नान करनेसे हजार गोदानका फल प्राप्त होता है ॥ १६ ॥

कृतशौचं समासाद्य तीर्थसेवी कुरूद्वह ।
पुण्डरीकमवाप्नोति कृतशौचो भवेन्नरः ॥ १७ ॥

हे कुरुनन्दन ! वहांसे तीर्थसेवी पुरुष कृतशौच तीर्थमें जाये, वहां जानेसे पुण्डरीकयाग के फलको प्राप्त होता है और पवित्र हो जाता है ॥ १७ ॥

ततो मुञ्जवटं नाम महादेवस्य धीमतः ।
तत्रोष्य रजनीमेकां गाणपत्यमवाप्नुयात् ॥ १८ ॥

वहांसे बुद्धिमान् शिवके मुञ्जवट नामक स्थानको जाये, वहां एकरात रहनेसे गणेशका पद मिलता है ॥ १८ ॥

तत्रैव च महाराज यक्षी लोकपरिश्रुता ।
तां चाभिगम्य राजेन्द्र पुण्यांल्लोकानवाप्नुयात् ॥ १९ ॥

वहीं लोकमें विख्यात यक्षी तीर्थ है, हे राजेन्द्र महाराज ! उसमें स्नान करनेसे पुरुष सब पवित्र लोकोंको प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

कुरुक्षेत्रस्य तद्द्वारं विश्रुतं भरतर्षभ ।
प्रदक्षिणमुपावृत्य तीर्थसेवी समाहितः ॥ २० ॥

हे भरतर्षभ ! वहीं कुरुक्षेत्रका द्वार प्रसिद्ध है वहां जाकर सावधानतासे तीर्थसेवी पुरुष प्रदक्षिणा करके वहां स्नान करे ॥ २० ॥

संमिते पुष्कराणां च स्नात्वार्च्य पितृदेवताः ।
जामदग्न्येन रामेण आहृते वै महात्मना ।
कृतकृत्यो भवेद्राजन्नश्वमेधं च विन्दति ॥ २१ ॥

वहांसे पुष्करोंके प्रिय तीर्थमें स्नान करे, वहां पितर और देवताओंका तर्पण करे । जमदग्निके पुत्र महात्मा परशुरामने उस तीर्थका निर्माण किया था, हे राजन् ! वहां जानेसे पुरुष कृतकृत्य हो जाता है और उसे अश्वमेधका फल मिलता है ॥ २१ ॥

ततो रामह्रदान्गच्छेत्तीर्थसेवी नराधिप ।
यत्र रामेण राजेन्द्र तरसा दीप्ततेजसा ।
क्षत्रमुत्साद्य वीरेण ह्रदाः पञ्च निवेशिताः ॥ २२ ॥

हे राजन् ! वहांसे तीर्थसेवी पुरुष रामसरको जाय, हे राजेन्द्र ! तेजसे देदीप्यमान वीर परशुरामने वहीं शीघ्रता सहित क्षत्रियोंको मारकर पांच तडाग बनाये थे ॥ २२ ॥

पूरयित्वा नरव्याघ्र रुधिरेणेति नः श्रुतम् ।
पितरस्तर्पिताः सर्वे तथैव च पितामहाः ।
ततस्ते पितरः प्रीता राममूचुर्महीपते ॥ २३ ॥

हे पुरुषव्याघ्र ! यह बात हमने सुनी है उन्हीं तडागोंको परशुरामने रुधिरसे भर कर अपने पितर और पूर्व पितरोंका तर्पण किया था, तब उनके पितर प्रसन्न होकर रामसे बोले ॥ २३ ॥

राम राम महाभाग प्रीताः स्म तव भार्गव ।
अनया पितृभक्त्या च विक्रमेण च ते विभो ।
वरं वृणीष्व भद्रं ते किमिच्छसि महाद्युते ॥ २४ ॥

हे राम ! हे महाभाग ! हे भार्गव ! हे विभो ! हे महातेजस्वी ! हम तुम्हारी इस पितृभक्ति और पराक्रमसे बहुत प्रसन्न हुए । तुम्हारा कल्याण हो, जो तुम्हारी इच्छा हो वह वरदान मांगो ॥ २४ ॥

एवमुक्तः स राजेन्द्र रामः प्रहरतां वरः ।
अब्रवीत्प्राञ्जलिर्वाक्यं पितॄन्स गगने स्थितान् ॥ २५ ॥

हे राजेन्द्र ! शस्त्र चलानेवालोंमें श्रेष्ठ परशुरामने आकाशमें खडे हुए पितरोंके ऐसे वचन सुनकर हाथ जोडकर कहा ॥ २५ ॥

भवन्तो यदि मे प्रीता यद्यनुग्राह्यता मयि ।
पितृप्रसादादिच्छेयं तपसाप्यायनं पुनः ॥ २६ ॥

यदि आप मुझसे प्रसन्न हुए हैं और मेरे ऊपर कृपा करना चाहते हैं, तो मैं आप पितरों की कृपासे यही चाहता हूँ कि मेरी तपस्या पूरी हो जाए ॥ २६ ॥

यच्च रोषाभिभूतेन क्षत्रमुत्सादितं मया ।
ततश्च पापान्मुच्येयं युष्माकं तेजसा ह्यहम् ।
ह्रदाश्च तीर्थभूता मे भवेयुर्भुवि विश्रुताः ॥ २७ ॥

और यह भी वरदान मांगता हूं कि, मैंने जो क्रोधमें भरकर क्षत्रियोंका नाश किया है, आप लोगोंके प्रभावसे उस पापसे मैं छूट जाऊं और मेरे यह तालाव जगत् विख्यात तीर्थ हो जायें ॥ २७ ॥

एतच्छ्रुत्वा शुभं वाक्यं रामस्य पितरस्तदा ।
प्रत्यूचुः परमप्रीता रामं हर्षसमन्विताः ॥ २८ ॥

परशुरामके ऐसे उत्तम वचन सुनकर पितरलोग परम प्रसन्न होकर आनन्दसे रामसे ऐसा बोले ॥ २८ ॥

तपस्ते वर्धतां भूयः पितृभक्त्या विशेषतः ।
यच्च रोषाभिभूतेन क्षत्रमुत्सादितं त्वया ॥ २९ ॥

तुम्हारी विशेष पितृभक्तिसे तुम्हारा तप बढे और तुमने क्रोधमें भरकर जो क्षत्रियोंका नाश किया है ॥ २९ ॥

ततश्च पापान्मुक्तस्त्वं कर्मभिस्ते च पातिताः ।
ह्रदाश्च तव तीर्थत्वं गमिष्यन्ति न संशयः ॥ ३० ॥

तुम उस पापसे छूट गये, क्योंकि वे लोग अपने कर्मसे मारे गए हैं और तुम्हारे यह तालाव निःसन्देह तीर्थ हो जायेंगे ॥ ३० ॥

ह्रदेष्वेतेषु यः स्नात्वा पितॄन्संतर्पयिष्यति ।
पितरस्तस्य वै प्रीता दास्यन्ति भुवि दुर्लभम् ।
ईप्सितं मनसः कामं स्वर्गलोकं च शाश्वतम् ॥ ३१ ॥

जो कोई तुम्हारे इन तीर्थोंमें स्नान करके अपने पितरोंका तर्पण करेगा उसको पितर लोग प्रसन्न होकर जगत्में दुर्लभ होनेपर भी उसकी मनोकामनाओंको पूरा करेंगे और सनातन स्वर्गमें पहुंचावेंगे ॥ ३१ ॥

×

एवं दत्त्वा वरान्राजन्रामस्य पितरस्तदा।
आमन्त्र्य भार्गवं प्रीत्यास्तत्रैवान्तर्दधुस्तदा ॥ ३२ ॥
हे राजन् ! पितर लोग इस प्रकार परशुरामको वरदान देकर रामसे अनुमति लेकर और प्रसन्न होकर वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ ३२ ॥

एवं रामह्रदाः पुण्या भार्गवस्य महात्मनः।
स्नात्वा ह्रदेषु रामस्य ब्रह्मचारी शुभव्रतः।
राममभ्यर्च्य राजेन्द्र लभेद्बहु सुवर्णकम् ॥ ३३ ॥
हे राजेन्द्र ! इस प्रकार महात्मा भृगुवंशी परशुरामके तालाब पवित्रकारक हैं। इन राम तीर्थोंमें इस प्रकार स्नान करके ब्रह्मचारी और व्रतधारी हो परशुरामकी पूजाकर बहुत सुवर्णको प्राप्त करता है ॥ ३३ ॥

वंशमूलकमासाद्य तीर्थसेवी कुरूद्वह।
स्ववंशमुद्धरेद्राजन्स्नात्वा वै वंशमूलके ॥ ३४ ॥
हे कुरूद्वह ! वहांसे तीर्थोंका सेवन करनेवाला पुरुष वंशमूलक तीर्थमें जाये और, हे राजन् ! उस वंशमूलकमें स्नान करने अपने वंशका उद्धार करे ॥ ३४ ॥

कायशोधनमासाद्य तीर्थं भरतसत्तम।
शरीरशुद्धिः स्नातस्य तस्मिंस्तीर्थे न संशयः।
शुद्धदेहश्च संयाति शुभाँल्लोकाननुत्तमान् ॥ ३५ ॥
वहांसे कायशोधन तीर्थमें जाये, हे भरतसत्तम ! उस तीर्थमें स्नान करनेसे निःसन्देह ही शरीर शुद्ध हो जाता है। शरीर शुद्ध होनेसे मनुष्य उत्तम और शुभ लोकोंको प्राप्त करता है ॥ ३५ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम्।
लोका यत्रोद्धृताः पूर्वं विष्णुना प्रभविष्णुना ॥ ३६ ॥
हे राजेन्द्र ! वहांसे तीनों लोकोंमें विख्यात लोकोद्धार तीर्थमें जाये, जहां पहले जगत्कर्ता विष्णुने लोकोंका उद्धार किया था ॥ ३६ ॥

लोकोद्धारं समासाद्य तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम्।
स्नात्वा तीर्थवरे राजँल्लोकानुद्धरते स्वकान्।
श्रीतीर्थं च समासाद्य विन्दते श्रियमुत्तमाम् ॥ ३७ ॥
हे राजन् ! उस तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध लोकोद्धार तीर्थमें पहुंचकर उस उत्तम तीर्थमें स्नान करनेसे पुरुष अपने लोगोंका उद्धार करता है, वहांसे श्रीतीर्थमें स्नान करके उत्तम लक्ष्मी प्राप्त करता है ॥ ३७ ॥

कपिलातीर्थमासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः ।
तत्र स्नात्वार्चयित्वा च दैवतानि पितॄंस्तथा ।
कपिलानां सहस्रस्य फलं विन्दति मानवः ॥ ३८ ॥

वहांसे मनुष्य ब्रह्मचारी होकर और मनको स्थिरकर कपिला तीर्थमें जाये, वहां स्नान करके पितर और देवताओंकी पूजा करे, तो सहस्र कपिला गौके दानोंका फल मनुष्य प्राप्त करता है ॥ ३८ ॥

सूर्यतीर्थं समासाद्य स्नात्वा नियतमानसः ।
अर्चयित्वा पितॄन्देवानुपवासपरायणः ।
अग्निष्टोममवाप्नोति सूर्यलोकं च गच्छति ॥ ३९ ॥

सूर्यतीर्थमें मन स्थिर करके स्नान करे एवं उपवास रखकर पितर और देवताओंकी पूजा करे तो मनुष्यको अग्निष्टोम यज्ञका फल मिलता है और वह सूर्यलोकको जाता है ॥ ३९ ॥

गवांभवनमासाद्य तीर्थसेवी यथाक्रमम् ।
तत्राभिषेकं कुर्वाणो गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ४० ॥

वहांसे आगे गोभवन तीर्थमें जाकर तीर्थसेवी पुरुष क्रमसे स्नान करे, तो हजार गोदानका फल पाता है ॥ ४० ॥

शङ्खिनीं तत्र आसाद्य तीर्थसेवी कुरूद्वह ।
देव्यास्तीर्थे नरः स्नात्वा लभते रूपमुत्तमम् ॥ ४१ ॥

हे कुरुनन्दन ! वहांसे तीर्थसेवी पुरुष शंखिनी तीर्थको जाये, वहां देवीके स्थानमें स्नान करनेसे मनुष्यको उत्तम रूप मिलता है ॥ ४१ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र द्वारपालमरन्तुकम् ।
तस्य तीर्थं सरस्वत्यां यक्षेन्द्रस्य महात्मनः ।
तत्र स्नात्वा नरो राजन्नग्निष्टोमफलं लभेत् ॥ ४२ ॥

हे राजेन्द्र ! वहांसे द्वारपाल अरन्तुक स्थानको जाये, इस तीर्थ सरस्वतीमें महात्मा यक्षराजका स्थान है । हे राजन् ! उसमें स्नान करनेसे पुरुषको अग्निष्टोम यज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ ४२ ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ ब्रह्मावर्तं नराधिप ।
ब्रह्मावर्ते नरः स्नात्वा ब्रह्मलोकमवाप्नुयात् ॥ ४३ ॥

हे धर्मज्ञ राजन् ! वहांसे मनुष्य ब्रह्मावर्त (बिठूर) तीर्थको जाये, वहां ब्रह्मावर्तमें स्नान करनेसे पुरुषको ब्रह्मलोक मिलता है ॥ ४३ ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ सुतीर्थकमनुत्तमम् ।
तत्र संनिहिता नित्यं पितरो दैवतैः सह ॥ ४४ ॥

हे धर्मज्ञ ! वहांसे उत्तम सुतीर्थकको जाये, वहांपर पितर देवोंके साथ सदा निवास किया करते हैं ॥ ४४ ॥

तत्राभिषेकं कुर्वीत पितृदेवार्चने रतः ।
अश्वमेधमवाप्नोति पितृलोकं च गच्छति ॥ ४५ ॥

पितर और देवोंकी पूजामें रत रहकर वहां स्नान करे, तो वह अश्वमेधका फल प्राप्त करता है और पितृलोकको जाता है ॥ ४५ ॥

ततोऽम्बुवश्यं धर्मज्ञ समासाद्य यथाक्रमम् ।
कोशेश्वरस्य तीर्थेषु स्नात्वा भरतसत्तम ।
सर्वव्याधिविनिर्मुक्तो ब्रह्मलोके महीयते ॥ ४६ ॥

हे धर्मज्ञ ! हे भरतश्रेष्ठ ! इसके बाद क्रमसे कोशेश्वरके अम्बुवश्य तीर्थोंमें जाकर वहां स्नान करके मनुष्य सब दुःखोंसे छूटकर ब्रह्मलोकमें पूजा जाता है ॥ ४६ ॥

मातृतीर्थं च तत्रैव यत्र स्नातस्य भारत ।
प्रजा विवर्धते राजन्ननन्तां चाश्नुते श्रियम् ॥ ४७ ॥

हे राजन् ! वहीं मातृतीर्थमें स्नान करना चाहिये । उसमें स्नान करनेसे प्रजा बढती है और वह अनन्त ऐश्वर्यको प्राप्त करता है ॥ ४७ ॥

ततः शीतवनं गच्छेन्नियतो नियताशनः ।
तीर्थं तत्र महाराज महदन्यत्र दुर्लभम् ॥ ४८ ॥

वहांसे जितेन्द्रिय जिताहारी पुरुष शीतवनमें जाये, हे महाराज ! उसमें महा तीर्थ है, जो अन्य जगह दुर्लभ है ॥ ४८ ॥

पुनाति दर्शनादेव दण्डेनैकं नराधिप ।
केशानभ्युक्ष्य वै तस्मिन्पूतो भवति भारत ॥ ४९ ॥

हे राजन् ! उसे यदि दण्ड भरकी दूरीसे ही देख लिया जाए, तो भी वह तीर्थ उस देखने वालेको पवित्र कर देता है । हे भारत ! उसमें बाल धोनेसे पुरुष पवित्र होता है ॥ ४९ ॥

तीर्थं तत्र महाराज श्वानलोमापहं स्मृतम् ।
यत्र विप्रा नरव्याघ्र विद्वांसस्तीर्थतत्पराः ॥ ५० ॥

हे नरव्याघ्र ! महाराज ! वहां जो तीर्थ है, उसका नाम श्वानलोमापह है जहां तीर्थतत्पर विद्वान् ब्राह्मण रहते हैं ॥ ५० ॥

श्वानलोमापनयने तीर्थे भरतसत्तम ।
प्राणायामैर्निर्हरन्ति श्वलोमानि द्विजोत्तमाः ।
पूतात्मानश्च राजेन्द्र प्रयान्ति परमां गतिम् ॥ ५१ ॥

भरतश्रेष्ठ ! पवित्र आत्मावाले मुनिवर उस श्वानलोमापह तीर्थमें प्राणायामोंके द्वारा कुत्तोंके लोमोंको दूर करके पवित्र हो मोक्ष पाते हैं ॥ ५१ ॥

दशाश्वमेधिकं चैव तस्मिंस्तीर्थे महीपते ।
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र गच्छेत परमां गतिम् ॥ ५२ ॥

हे पुरुषसिंह राजन् ! उसी स्थानमें दशाश्वमेध नामक तीर्थ है, उसमें स्नान करनेसे पुरुष परमगतिको पाते हैं ॥ ५२ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र मानुषं लोकविश्रुतम् ।
यत्र कृष्णमृगा राजन्व्याधेन परिपीडिताः ।
अवगाह्य तस्मिन्सरसि मानुषत्वमुपागताः ॥ ५३ ॥

हे राजेन्द्र ! वहांसे चलकर पुरुष लोकोंमें विख्यात मानुष तीर्थमें जाये, जहां, हे राजन् ! व्याधके बाणोंसे पीडित हरिन उस तालावमें स्नान करते ही मनुष्य हो गये थे ॥ ५३ ॥

तस्मिंस्तीर्थे नरः स्नात्वा ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ।
सर्वपापविशुद्धात्मा स्वर्गलोके महीयते ॥ ५४ ॥

उस तीर्थमें ब्रह्मचारी और जितेन्द्रिय होकर स्नान करनेसे पुरुष सब पापोंसे छूटकर पवित्र आत्मावाला होकर स्वर्गमें पूजा जाता है ॥ ५४ ॥

मानुषस्य तु पूर्वेण क्रोशमात्रे महीपते ।
आपगा नाम विख्याता नदी सिद्धनिषेविता ॥ ५५ ॥

हे पृथ्वीनाथ ! मानुष तीर्थसे एककोस पूर्वकी ओर सिद्धोंसे सेवित आपगा नामक एक विख्यात नदी है ॥ ५५ ॥

श्यामाकभोजनं तत्र यः प्रयच्छति मानवः ।
देवान्पितॄंश्च उद्दिश्य तस्य धर्मफलं महत् ।
एकस्मिन्भोजिते विप्रे कोटिर्भवति भोजिता ॥ ५६ ॥

वहां जाकर जो पुरुष देवता और पितरोंके उद्देश्यसे सँवईका भोजन देता है उसे बहुत धर्मका फल प्राप्त होता है । वहां एक ब्राह्मणको भोजन करानेसे करोड ब्राह्मणोंको खिलानेका फल होता है ॥ ५६ ॥

तत्र स्नात्वार्चयित्वा च दैवतानि पितॄंस्तथा।
उषित्वा रजनीमेकामग्निष्टोमफलं लभेत् ॥ ५७ ॥

वहां स्नान करके तथा देवता और पितरोंकी पूजा करनेसे और एक रात रहनेसे अग्निष्टोम यज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ ५७ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र ब्रह्मणः स्थानमुत्तमम्।
ब्रह्मोदुम्बरमित्येव प्रकाशं भुवि भारत ॥ ५८ ॥

हे राजेन्द्र भारत ! वहांसे चलकर पृथ्वीमें ब्रह्मोदुम्बरके नामसे प्रसिद्ध ब्रह्माके उत्तम स्थान-पर जाये ॥ ५८ ॥

तत्र सप्तर्षिकुण्डेषु स्नातस्य कुरुपुङ्गव।
केदारे चैव राजेन्द्र कपिष्ठलमहात्मनः ॥ ५९ ॥
ब्रह्माणमभिगम्याथ शुचिः प्रयतमानसः।
सर्वपापविशुद्धात्मा ब्रह्मलोकं प्रपद्यते ॥ ६० ॥

हे राजेन्द्र ! हे कुरुश्रेष्ठ ! वहां सप्तऋषियोंके और महात्मा कपिष्ठलके कुण्डमें स्नान करके पवित्र हो मनको स्थिरकर ब्रह्माके दर्शन करने चाहिये। उनका दर्शन करनेसे सब पापोंसे छूटकर शुद्ध आत्मावाला होकर मनुष्य ब्रह्मलोक जाता है ॥ ५९-६० ॥

कपिष्ठलस्य केदारं समासाद्य सुदुर्लभम्।
अन्तर्धानमवाप्नोति तपसा दग्धकिल्बिषः ॥ ६१ ॥

हे राजेन्द्र ! वहांसे जाकर दुर्लभ कपिष्ठल कुण्डमें स्नान करे, तो उसका तपसे पाप दग्ध होकर वह अंतर्धान होनेकी विद्या प्राप्त कर लेता है ॥ ६१ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र सरकं लोकविश्रुतम्।
कृष्णपक्षे चतुर्दश्यामभिगम्य वृषध्वजम्।
लभते सर्वकामान्हि स्वर्गलोकं च गच्छति ॥ ६२ ॥

हे राजेन्द्र ! वहांसे चलकर लोकविख्यात सरक तीर्थपर जाये, वहां कृष्णपक्षकी चतुर्दशीमें शिवका दर्शन करनेसे सब कामनाओंको प्राप्त करता है और स्वर्गलोकको जाता है ॥ ६२ ॥

तिस्रः कोटयस्तु तीर्थानां सरके कुरुनन्दन।
रुद्रकोटिस्तथा कूपे ह्रदेषु च महीपते।
इलास्पदं च तत्रैव तीर्थं भरतसत्तम ॥ ६३ ॥

हे कुरुनन्दन ! सरकतीर्थमें तीन करोड तीर्थ इकट्ठे हुए हैं वहांके कुंए और तालाबोंमें रुद्रकोटि तीर्थ हैं। हे भरतसत्तम ! वहीं पर इलास्पद नामक तीर्थ है ॥ ६३ ॥

तत्र स्नात्वार्चयित्वा च पितॄन्देवांश्च भारत ।
न दुर्गतिमवाप्नोति वाजपेयं च विन्दति ॥ ६४ ॥

हे भारत ! वहां स्नान करके पितर और देवोंकी पूजा करनेसे पुरुषकी कभी दुर्गति नहीं होती और उसे वाजपेय यज्ञका फल मिलता है ॥ ६४ ॥

किंदाने च नरः स्नात्वा किंजप्ये च महीपते ।
अप्रमेयमवाप्नोति दानं जप्यं च भारत ॥ ६५ ॥

हे पृथ्वीनाथ ! मनुष्य किन्दान और किञ्जप्य नामक तीर्थोंमें स्नान करके जप और दानका अनन्त फल प्राप्त करता है ॥ ६५ ॥

कलश्यां चाप्युपस्पृश्य श्रद्दधानो जितेन्द्रियः ।
अग्निष्टोमस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः ॥ ६६ ॥

हे भारत ! जितेन्द्रिय और श्रद्धावान् होकर पुरुष कलशी तीर्थमें स्नान करे तो वह अग्निष्टोम यज्ञका फल पाता है ॥ ६६ ॥

सरकस्य तु पूर्वेण नारदस्य महात्मनः ।
तीर्थं कुरुवरश्रेष्ठ अनाजन्मेति विश्रुतम् ॥ ६७ ॥

हे कुरुश्रेष्ठ ! सरक तीर्थके पूर्वकी ओर महात्मा नारदका तीर्थ है, जिसका प्रसिद्ध नाम अनाजन्म है ॥ ६७ ॥

तत्र तीर्थे नरः स्नात्वा प्राणांश्चोत्सृज्य भारत ।
नारदेनाभ्यनुज्ञातो लोकान्प्राप्नोति दुर्लभान् ॥ ६८ ॥

उस तीर्थमें स्नान करके प्राण छोडनेसे नारदकी आज्ञासे पुरुष दुर्लभ लोकोंको जाता है ॥ ६८ ॥

शुक्लपक्षे दशम्यां च पुण्डरीकं समाविशेत् ।
तत्र स्नात्वा नरो राजन्पुण्डरीकफलं लभेत् ॥ ६९ ॥

मनुष्य शुक्लपक्षकी दशमीको पुण्डरीक तीर्थमें जाये, वहां जाकर स्नान करनेसे मनुष्यको पुण्डरीक यज्ञका फल मिलता है ॥ ६९ ॥

ततस्त्रिविष्टपं गच्छेत्त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
तत्र वैतरणी पुण्या नदी पापप्रमोचनी ॥ ७० ॥

महाराज ! वहांसे त्रिविष्टप नामक तीनों लोकोंमें विख्यात तीर्थको जाये, वहां पापसे मुक्त करनेवाली वैतरिणी नामक पवित्र नदी बहती है ॥ ७० ॥

तत्र स्नात्वार्चयित्वा च शूलपाणिं वृषध्वजम् ।
सर्वपापविशुद्धात्मा गच्छेत परमां गतिम् ॥ ७१ ॥

उसमें स्नान करके शूलधारी शिवकी पूजा करनेसे सब पापोंसे छूटकर शुद्ध आत्मावाला पुरुष मोक्षको प्राप्त होता है ॥ ७१ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र फलकीवनमुत्तमम् ।
तत्र देवाः सदा राजन्फलकीवनमाश्रिताः ।
तपश्चरन्ति विपुलं बहुवर्षसहस्रकम् ॥ ७२ ॥

हे राजेन्द्र ! वहांसे उत्तम फलकी वनमें जाये, देवता हमेशा ही उस फलकी वनका आश्रय लिए रहते हैं, वे लोग वहां रहकर सहस्रों वर्षतक महातप करते हैं ॥ ७२ ॥

दृषद्वत्यां नरः स्नात्वा तर्पयित्वा च देवताः ।
अग्निष्टोमातिरात्राभ्यां फलं विन्दति भारत ॥ ७३ ॥

वहां दृषद्वती नदीमें स्नान करके और देवताओंको तृप्त करके मनुष्य अग्निष्टोम और अतिरात्र यज्ञका फल प्राप्त करता है ॥ ७३ ॥

तीर्थे च सर्वदेवानां स्नात्वा भरतसत्तम ।
गोसहस्रस्य राजेन्द्र फलं प्राप्नोति मानवः ॥ ७४ ॥

हे भरतसत्तम राजेन्द्र ! सब देवताओंके तीर्थमें स्नान करके मनुष्य हजार गौदानके फलको प्राप्त करता है ॥ ७४ ॥

पाणिखाते नरः स्नात्वा तर्पयित्वा च देवताः ।
राजसूयमवाप्नोति ऋषिलोकं च गच्छति ॥ ७५ ॥

वहांसे चलकर पाणिखात तीर्थमें स्नान करके पितर और देवताओंकी पूजा करके यज्ञका फल पाता है तथा ऋषिलोकको जाता है ॥ ७५ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र मिश्रकं तीर्थमुत्तमम् ।
तत्र तीर्थानि राजेन्द्र मिश्रितानि महात्मना ॥ ७६ ॥
व्यासेन नृपशार्दूल द्विजार्थमिति नः श्रुतम् ।
सर्वतीर्थेषु स स्नाति मिश्रके स्नाति यो नरः ॥ ७७ ॥

हे राजश्रेष्ठ युधिष्ठिर ! वहांसे मिश्रक नामक उत्तम तीर्थको जाए । हमने सुना है कि वहां महात्मा व्यासने द्विजोंके कल्याणके लिए सब तीर्थ मिश्रित कर दिए थे । इसलिए, हे राजाओंमें सिंहके पराक्रमी राजेन्द्र युधिष्ठिर ! जो मनुष्य इस मिश्रक तीर्थमें स्नान करता है, वह मानों सभी तीर्थोंमें स्नान कर लेता है ॥ ७६-७७ ॥

ततो व्यासवनं गच्छेन्नियतो नियताशनः ।
मनोजवे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ७८ ॥

वहांसे चलकर जितेन्द्रिय और जिताहारी पुरुष व्यासके वनमें जाये, वहां मनोजव नामक तीर्थमें स्नान करनेसे हजार गौ दानका फल प्राप्त होता है ॥ ७८ ॥

गत्वा मधुवटीं चापि देव्यास्तीर्थं नरः शुचिः ।
तत्र स्नात्वार्चयेद्देवान्पितॄंश्च प्रयतः शुचिः ।
स देव्या समनुज्ञातो गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ७९ ॥

तदनन्तर पवित्र पुरुष मधुवटीमें आकर वहां देवीतीर्थमें स्नान करे, वहां प्रयत्नशील और पवित्र होकर देवता और पितरोंकी पूजा करे, तो देवीकी आज्ञासे वह हजार गौदानके फलको पाता है ॥ ७९ ॥

कौशिक्याः संगमे यस्तु दृषद्वत्याश्च भारत ।
स्नाति वै नियताहारः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ८० ॥

हे भारत ! जो दृषद्वती कौशिकीके सङ्गममें आहारको संयमित करके स्नान करता है, वह सब पापोंसे छूट जाता है ॥ ८० ॥

ततो व्यासस्थली नाम यत्र व्यासेन धीमता ।
पुत्रशोकाभितप्तेन देहत्यागार्थनिश्चयः ॥ ८१ ॥
कृतो देवैश्च राजेन्द्र पुनरुत्थापितस्तदा ।
अभिगम्य स्थलीं तस्य गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ८२ ॥

वहांसे आगे व्यासस्थली नामक तीर्थमें जाये, जहां बुद्धिमान् व्यासने पुत्रशोकसे व्याकुल होकर शरीर छोडनेका निश्चय किया था। इस प्रकार निश्चय किए हुए व्यासको देवोंने पुनः उठाया था, हे राजेन्द्र ! उस स्थानमें जानेसे हजार गोदानका फल मिलता है ॥८१-८२॥

किंदत्तं कूपमासाद्य तिलप्रस्थं प्रदाय च ।
गच्छेत परमां सिद्धिमृणैर्मुक्तः कुरूद्वह ॥ ८३ ॥

हे कुरुवंशके उद्धारक युधिष्ठिर ! किंदत्त नामक कुएंपर जाकर तिलदान करनेसे मनुष्य सब ऋणोंसे छूट कर परमसिद्धि मोक्षको प्राप्त करता है ॥ ८३ ॥

अहश्च सुदिनं चैव द्वे तीर्थे च सुदुर्लभे ।
तयोः स्नात्वा नरव्याघ्र सूर्यलोकमवाप्नुयात् ॥ ८४ ॥

हे पुरुषसिंह ! आगे अहः और सुदिन नामक दो तीर्थ अत्यन्त दुर्लभ हैं, उसमें स्नान करनेसे पुरुष सूर्यलोकको प्राप्त करता है ॥ ८४ ॥

मृगधूमं ततो गच्छेत्त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
तत्र गङ्गाह्रदे स्नात्वा समभ्यर्च्य च मानवः ।
शूलपाणिं महादेवमश्वमेधफलं लभेत् ॥ ८५ ॥

वहांसे मनुष्य मृगधूम नामक तीनों लोकोंमें विख्यात तीर्थमें जाये । हे राजन् ! वहां गङ्गासरमें स्नान करके शूलधारी महादेव शिवकी पूजा करनेसे अश्वमेध यज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ ८५ ॥

देवतीर्थे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ।
अथ वामनकं गच्छेत्त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ॥ ८६ ॥

देवके तीर्थमें स्नान करनेसे पुरुषको हजार गौदानका फल मिलता है, वहांसे तीनों लोकोंमें विख्यात वामनक तीर्थमें जाये ॥ ८६ ॥

तत्र विष्णुपदे स्नात्वा अर्चयित्वा च वामनम् ।
सर्वपापविशुद्धात्मा विष्णुलोकमवाप्नुयात् ॥ ८७ ॥

वहां विष्णुपदमें स्नान करके जो पुरुष वामनकी पूजा करता है, वह सब पापोंसे मुक्त होनेके कारण पवित्र आत्मावाला होकर विष्णुलोकको जाता है ॥ ८७ ॥

कुलंपुने नरः स्नात्वा पुनाति स्वकुलं नरः ।
पवनस्य ह्रदं स्नात्वा मरुतां तीर्थमुत्तमम् ।
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र वायुलोके महीयते ॥ ८८ ॥

वहांसे कुलम्पुन तीर्थमें स्नान करके मनुष्य अपने कुलको पवित्र करता है। हे नरसिंह ! इसके बाद मरुतोंके उत्तम तीर्थ पवन तडागमें स्नान करके वायुलोकमें पूजा जाता है ॥ ८८ ॥

अमराणां ह्रदे स्नात्वा अमरेषु नराधिप ।
अमराणां प्रभावेन स्वर्गलोके महीयते ॥ ८९ ॥

हे नराधिप ! देवताओंके तीर्थ अमरह्रदमें स्नान करके देवताओंके प्रतापसे स्वर्गलोकमें जाकर देवोंके मध्यमें पूजा जाता है ॥ ८९ ॥

शालिहोत्रस्य राजेन्द्र शालिशूर्पे यथाविधि ।
स्नात्वा नरवरश्रेष्ठ गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ९० ॥

हे नरवरश्रेष्ठ राजेन्द्र ! शालिहोत्रके शालिशूर्प नामक तीर्थमें विधिपूर्वक स्नान करनेसे हजार गोदानका फल प्राप्त होता है ॥ ९० ॥

श्रीकुञ्जं च सरस्वत्यां तीर्थं भरतसत्तम ।
तत्र स्नात्वा नरो राजन्नग्निष्टोमफलं लभेत् ॥ ९१ ॥

हे राजन् ! हे भरतसत्तम ! सरस्वतीके श्रीकुञ्ज नामक तीर्थमें स्नान करनेसे पुरुषको अग्निष्टोम यज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ ९१ ॥

ततो नैमिषकुञ्जं च समासाद्य कुरूद्वह।
ऋषयः किल राजेन्द्र नैमिषेयास्तपोधनाः।
तीर्थयात्रां पुरस्कृत्य कुरुक्षेत्रं गताः पुरा ॥ ९२ ॥

हे कौरव! वहांसे नैमिषकुञ्जको जाये। हे राजेन्द्र! वहां नैमिषारण्यवासी तपस्वी ऋषि तीर्थ यात्राके अभिप्रायसे पहले कुरुक्षेत्रको गए ॥ ९२ ॥

ततः कुञ्जः सरस्वत्यां कृतो भरतसत्तम।
ऋषीणामवकाशः स्याद्यथा तुष्टिकरो महान् ॥ ९३ ॥

तब, हे भरतश्रेष्ठ! ऋषियोंके रहनेके लिए सन्तोषदायक और विशालस्थान बनानेके विचारसे सरस्वतीमें एक कुंज तैय्यार किया ॥ ९३ ॥

तस्मिन्कुञ्जे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत्।
कन्यातीर्थे नरः स्नात्वा अग्निष्टोमफलं लभेत् ॥ ९४ ॥

उस कुञ्जमें स्नान करनेसे मनुष्यको हजार गोदानका फल प्राप्त होता है। कन्यातीर्थमें स्नान करनेसे अग्निष्टोम यज्ञका फल मिलता है ॥ ९४ ॥

ततो गच्छेन्नरव्याघ्र ब्रह्मणः स्थानमुत्तमम्।
तत्र वर्णावरः स्नात्वा ब्राह्मण्यं लभते नरः।
ब्राह्मणश्च विशुद्धात्मा गच्छेत परमां गतिम् ॥ ९५ ॥

वहांसे, हे नरव्याघ्र! ब्रह्माके उत्तम स्थानपर जाये, उस तीर्थमें स्नान करके कनिष्ठ वर्णका मनुष्य भी ब्राह्मण हो जाता है और यदि शुद्ध आत्मावाला ब्राह्मण हो तो वह परम गतिको पाता है ॥ ९५ ॥

ततो गच्छेन्नरश्रेष्ठ सोमतीर्थमनुत्तमम्।
तत्र स्नात्वा नरो राजन्सोमलोकमवाप्नुयात् ॥ ९६ ॥

हे नरश्रेष्ठ! वहांसे अत्यन्त उत्तम सोम तीर्थमें जाये, हे राजन्! सोमतीर्थमें स्नान करनेसे मनुष्य चन्द्रलोकमें जाता है ॥ ९६ ॥

सप्तसारस्वतं तीर्थं ततो गच्छेन्नराधिप।
यत्र मङ्कणकः सिद्धो महर्षिर्लोकविश्रुतः ॥ ९७ ॥

हे नराधिप! वहांसे सप्त सरस्वती तीर्थमें जाये, जहां जगत्प्रसिद्ध महर्षि मङ्कणक नामक ऋषि रहते हैं ॥ ९७ ॥

पुरा मङ्कणको राजन्कुशाग्रेणेति नः श्रुतम्।
क्षतः किल करे राजंस्तस्य शाकरसोऽस्रवत् ॥ ९८ ॥

हमने सुना है कि पहले समयमें मङ्कणक ऋषिके हाथमें कुशका कांटा लगनेसे घाव होकर उससे शाकका रस निकलने लगा ॥ ९८ ॥

स वै शाकरसं दृष्ट्वा हर्षाविष्टो महातपाः ।
प्रनृत्तः किल विप्रर्षिर्विस्मयोत्फुल्ललोचनः ॥ ९९ ॥

वह महातपस्वी ऋषि हाथसे शाकरसको निकलता देखकर बडे प्रसन्न हुए और विस्मयसे खिली हुई आंखोंवाले वे महर्षि नाचने लगे ॥ ९९ ॥

ततस्तस्मिन्प्रनृत्ते वै स्थावरं जङ्गमं च यत् ।
प्रनृत्तमुभयं वीर तेजसा तस्य मोहितम् ॥ १०० ॥

हे वीर ! उसे नाचता देखकर उसके तेजसे मोहित होकर चर और अचर, जो कुछ वहांपर थे, सब नाचने लगे ॥ १०० ॥

ब्रह्मादिभिः सुरै राजन्नृषिभिश्च तपोधनैः ।
विज्ञप्तो वै महादेव ऋषेरर्थे नराधिप ।
नायं नृत्येद्यथा देव तथा त्वं कर्तुमर्हसि ॥ १०१ ॥

तब, हे राजन् ! ब्रह्मादिक देवताओंने और तपोधन ऋषियोंने महादेवसे उस ऋषिके बारेमें विनति की, कि हे देव ! आप ऐसा उपाय कीजिये जिससे वह ऋषि न नाचें ॥ १०१ ॥

ततः प्रनृत्तमासाद्य हर्षाविष्टेन चेतसा ।
सुराणां हितकामार्थमृषिं देवोऽभ्यभाषत ॥ १०२ ॥

महादेव अत्यन्त हर्षित चित्तसे नाचते हुए उस ऋषिके पास आये और देवताओंकी हितकामनासे ऋषिसे बोले ॥ १०२ ॥

अहो महर्षे धर्मज्ञ किमर्थं नृत्यते भवान् ।
हर्षस्थानं किमर्थं वा तवाद्य मुनिपुङ्गव ॥ १०३ ॥

हे धर्मज्ञ महर्षे ! तुम किस कारण नाच रहे हो ? हे मुनिश्रेष्ठ ! तुम्हारे इस महान् आनन्दका क्या कारण है ? ॥ १०३ ॥

ऋषिरुवाच

किं न पश्यसि मे देव कराच्छाकरसं स्रुतम् ।
यं दृष्ट्वाहं प्रनृत्तो वै हर्षेण महतान्वितः ॥ १०४ ॥

ऋषि बोले– हे देव ! क्या तुम मेरे हाथसे निकलते हुए शाकके रसको नहीं देखते हो ? जिसको देखकर मैं बडे आनन्दके साथ नाच रहा हूं ॥ १०४ ॥

पुलस्त्य उवाच

तं प्रहस्याब्रवीद्देवो मुनिं रागेण मोहितम् ।
अहं वै विस्मयं विप्र न गच्छामीति पश्य माम् ॥ १०५ ॥

पुलस्त्य बोले– हंसकर महादेव उस रागसे मोहित मुनिसे बोले– हे ब्राह्मण ! मैं तो इसे देखकर कुछ आश्चर्य नहीं मानता, मुझे देखो ॥ १०५ ॥

एवमुक्त्वा नरश्रेष्ठ महादेवेन धीमता ।
अंगुल्यग्रेण राजेन्द्र स्वांगुष्ठस्ताडितोऽनघ ॥ १०६ ॥

हे नरश्रेष्ठ ! हे निष्पाप ! ऐसा कहकर बुद्धिमान् महादेवने अपनी अंगुलीके अग्र भागसे अपने अंगूठेको मारा ॥ १०६ ॥

ततो भस्म क्षताद्राजन्निर्गतं हिमसन्निभम् ।
तद्दृष्ट्वा व्रीडितो राजन्स मुनिः पादयोर्गतः ॥ १०७ ॥

तो उसके क्षतसे अंगूठेमेंसे बर्फके समान सफेद भस्म निकली, हे राजन् ! उसको देखकर वह मुनि बहुत लज्जित हुए और पैरोंपर गिर पडे ॥ १०७ ॥

नान्यं देवमहं मन्ये रुद्रात्परतरं महत् ।
सुरासुरस्य जगतो गतिस्त्वमसि शूलधृक् ॥ १०८ ॥

वे कहने लगे- कि मैं रुद्रदेवसे उत्तम और किसी देवको नहीं मानता, हे शूलधारी ! देव और दानवोंके जगत्की आप ही गति हैं ॥ १०८ ॥

त्वया सृष्टमिदं विश्वं त्रैलोक्यं सचराचरम् ।
त्वामेव भगवन्सर्वे प्रविशन्ति युगक्षये ॥ १०९ ॥

हे भगवन् ! इस स्थावर और जंगमसे युक्त संसारको आपहीने रचा है, फिर प्रलयकालमें यह सभी आपहीमें समा जाते हैं ॥ १०९ ॥

देवैरपि न शक्यस्त्वं परिज्ञातुं कुतो मया ।
त्वयि सर्वे च दृश्यन्ते सुरा ब्रह्मादयोऽनघ ॥ ११० ॥

आपको देवता लोग भी नहीं जान सकते हैं तो फिर मेरी तो कथा ही क्या है ? हे पापरहित ! सब ब्रह्मादिक देवता आपहीमें स्थित दीखते हैं ॥ ११० ॥

सर्वस्त्वमसि लोकानां कर्ता कारयिता च ह ।
त्वत्प्रसादात्सुराः सर्वे मोदन्तीहाकुतोभयाः ।
एवं स्तुत्वा महादेवं स ऋषिः प्रणतोऽभवत् ॥ १११ ॥

हे लोकेश ! आप ही सब लोकोंके कर्ता, करानेवाले और सर्वरूप हो । आपहीकी कृपासे सब देवता भयरहित होकर आनन्द करते हैं, ऐसी स्तुति करके ऋषि महादेवके सामने नम्र हो गए ॥ १११ ॥

ऋषिरुवाच

त्वत्प्रसादान्महादेव तपो मे न क्षरेत वै ॥ ११२ ॥

ऋषि बोले- हे महादेव ! आपकी कृपासे मेरा तप नष्ट न हो ॥ ११२ ॥

पुलस्त्य उवाच

ततो देवः प्रहृष्टात्मा ब्रह्मर्षिमिदमब्रवीत्।
तपस्ते वर्धतां विप्र मत्प्रसादात्सहस्रधा ॥ ११३ ॥

पुलस्त्य बोले– ब्रह्मर्षिके वचन सुनकर महादेव प्रसन्न चित्तवाले होकर बोले– हे ब्राह्मण! मेरी कृपासे तुम्हारा तप हजार गुना बढे ॥ ११३ ॥

आश्रमे चेह वत्स्यामि त्वया सार्धं महामुने।
सप्तसारस्वते स्नात्वा अर्चयिष्यन्ति ये तु माम् ॥ ११४ ॥

हे महामुने! मैं आजसे तुम्हारे साथ इस आश्रममें वास करूंगा, जो पुरुष सप्त सारस्वत तीर्थमें स्नान करके मेरी पूजा करेंगे ॥ ११४ ॥

न तेषां दुर्लभं किंचिदिह लोके परत्र च।
सारस्वतं च ते लोकं गमिष्यन्ति न संशयः ॥ ११५ ॥

उनके लिए इसलोक और परलोकमें कोई वस्तु दुर्लभ न होगी, वे लोग निःसन्देह सरस्वतीके लोकमें जायेंगे ॥ ११५ ॥

ततस्त्वौशनसं गच्छेत्त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्।
यत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयश्च तपोधनाः ॥ ११६ ॥
कार्तिकेयश्च भगवांस्त्रिसन्ध्यं किल भारत।
सांनिध्यमकरोत्तत्र भार्गवप्रियकाम्यया ॥ ११७ ॥

हे भारत! वहांसे तीनों लोकोंमें विख्यात औशनस तीर्थमें जाये, जहां ब्रह्मादि देवता तपस्वी ऋषि और भगवान् कार्तिकेय भृगुपुत्र शुक्रके हित करनेकी इच्छासे तीनों कालोंमें निवास करते हैं ॥ ११६–११७ ॥

कपालमोचनं तीर्थं सर्वपापप्रमोचनम्।
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ११८ ॥

हे पुरुषव्याघ्र! वहांसे सब पापनाशक कपालमोचन तीर्थमें जाये, वहां स्नान करनेसे मनुष्य सब पापोंसे छूट जाता है ॥ ११८ ॥

अग्नितीर्थं ततो गच्छेत्तत्र स्नात्वा नरर्षभ।
अग्निलोकमवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ॥ ११९ ॥

हे पुरुषसिंह! वहांसे अग्नितीर्थमें जाये, वहां स्नान करनेसे मनुष्य अग्निलोक प्राप्त करता है और अपने कुलका उद्धार करता है ॥ ११९ ॥

विश्वामित्रस्य तत्रैव तीर्थं भरतसत्तम ।
तत्र स्नात्वा महाराज ब्राह्मण्यमभिजायते ॥ १२० ॥

हे भरतसत्तम ! वहीं विश्वामित्रका तीर्थ है। हे महाराज ! उसमें स्नान करनेसे पुरुष ब्राह्मण हो जाता है ॥ १२० ॥

ब्रह्मयोनिं समासाद्य शुचिः प्रयतमानसः ।
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र ब्रह्मलोकं प्रपद्यते ।
पुनात्यासप्तमं चैव कुलं नास्त्यत्र संशयः ॥ १२१ ॥

हे पुरुषसिंह ! ब्राह्मणके यहां जन्म लेकर पवित्र हो मनको स्थिरकर उसमें स्नान करनेसे ब्रह्मलोकमें जाता है और अपनी सात पीढियोंको पवित्र करता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥ १२१ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् ।
पृथूदकमिति ख्यातं कार्तिकेयस्य वै नृप ।
तत्राभिषेकं कुर्वीत पितृदेवार्चने रतः ॥ १२२ ॥

हे राजाओंमें श्रेष्ठ राजन् ! वहांसे तीनों लोकोंमें विख्यात कार्तिकेयके पृथूदक तीर्थमें जाये और वहां पितर और देवताओंकी पूजामें रत रहकर स्नान करे ॥ १२२ ॥

अज्ञानाज्ज्ञानतो वापि स्त्रिया वा पुरुषेण वा ।
यत्किंचिदशुभं कर्म कृतं मानुषबुद्धिना ॥ १२३ ॥
तत्सर्वं नश्यते तस्य स्नातमात्रस्य भारत ।
अश्वमेधफलं चापि स्वर्गलोकं च गच्छति ॥ १२४ ॥

पुरुष या स्त्रीने जाने या बिना जाने मनुष्यबुद्धिसे जो कुछ पाप किया हो वह सब वहां स्नान करनेहीसे नष्ट हो जाता है। हे भारत ! उसमें स्नान करनेसे अश्वमेध यज्ञका फल और स्वर्गलोक मिलता है ॥ १२३-१२४ ॥

पुण्यमाहुः कुरुक्षेत्रं कुरुक्षेत्रात्सरस्वतीम् ।
सरस्वत्याश्च तीर्थानि तीर्थेभ्यश्च पृथूदकम् ॥ १२५ ॥

ऋषियोंने कुरुक्षेत्रको पवित्र कहा है, कुरुक्षेत्रसे भी अधिक सरस्वतीको, सरस्वतीसे भी अधिक तीर्थको और तीर्थोंसे भी अधिक पृथूदकको पवित्र कहा है ॥ १२५ ॥

उत्तमे सर्वतीर्थानां यस्त्यजेदात्मनस्तनुम् ।
पृथूदके जप्यपरो नैनं श्वोमरणं तपेत् ॥ १२६ ॥

जो जप करता हुआ सब तीर्थोंमें उत्तम पृथूदकतीर्थमें शरीर छोडता है उसे फिर पुनर्मृत्युका भय नहीं होता ॥ १२६ ॥

गीतं सनत्कुमारेण व्यासेन च महात्मना।
वेदे च नियतं राजन्नभिगच्छेत्पृथूदकम् ॥ १२७ ॥
हे राजन् ! सनत्कुमार और महात्मा व्यासने ऐसा कहा है और वेदमें भी ऐसा ही लिखा है, अतएव पुरुष पृथूदक तीर्थमें जाये ॥ १२७ ॥

पृथूदकात्पुण्यतमं नान्यत्तीर्थं नरोत्तम।
एतन्मेध्यं पवित्रं च पावनं च न संशयः ॥ १२८ ॥
हे नरोत्तम ! पृथूदकसे अधिक पुण्यदायक तीर्थ और कोई नहीं है, वह बुद्धिको बढाता है, पवित्र है और दूसरोंको पवित्र करनेवाला है, इसमें कोई संशय नहीं ॥ १२८ ॥

तत्र स्नात्वा दिवं यान्ति अपि पापकृतो जनाः।
पृथूदके नरश्रेष्ठ प्राहुरेवं मनीषिणः ॥ १२९ ॥
हे नरश्रेष्ठ ! महात्मा लोगोंने कहा है, कि पृथूदक तीर्थमें स्नान करनेसे पापी पुरुष भी स्वर्गको चले जाते हैं ॥ १२९ ॥

मधुस्रवं च तत्रैव तीर्थं भरतसत्तम।
तत्र स्नात्वा नरो राजन्गोसहस्रफलं लभेत् ॥ १३० ॥
हे राजन् ! हे भरतसत्तम ! वहींपर मधुस्रव नामक तीर्थ है, उसमें स्नान करके मनुष्य हजार गौका फल प्राप्त करता है ॥ १३० ॥

ततो गच्छेन्नरश्रेष्ठ तीर्थं देव्या यथाक्रमम्।
सरस्वत्यारुणायाश्च संगमं लोकविश्रुतम् ॥ १३१ ॥
हे राजेन्द्र ! वहांसे क्रमसे अनुसार लोकविख्यात सरस्वती और आरुणाके संगममें जाये ॥ १३१ ॥

त्रिरात्रोपोषितः स्नात्वा मुच्यते ब्रह्महत्यया।
अग्निष्टोमातिरात्राभ्यां फलं विन्दति मानवः।
आसप्तमं कुलं चैव पुनाति भरतर्षभ ॥ १३२ ॥
तीन दिन व्रत करके उस तीर्थमें स्नान करके मनुष्य ब्रह्महत्यासे छूट जाता है और अग्निष्टोम और अतिरात्र यज्ञका फल प्राप्त करता है। हे भरतसत्तम ! वहां स्नान करके पुरुष अपने सात पुरखोंको पवित्र करता है ॥ १३२ ॥

अवतीर्णं च तत्रैव तीर्थं कुरुकुलोद्वह।
विप्राणामनुकम्पार्थं दर्भिणा निर्मितं पुरा ॥ १३३ ॥
हे कुरुकुलश्रेष्ठ ! वहीं अवतीर्ण नामक तीर्थ है, उस तीर्थको पूर्व कालमें ब्राह्मणोंके हितकी इच्छासे दर्भीने बनाया था ॥ १३३ ॥

व्रतोपनयनाभ्यां वा उपवासेन वा द्विजः ।
क्रियामन्त्रैश्च संयुक्तो ब्राह्मणः स्यान्न संशयः ॥ १३४ ॥

वहां व्रत और उपनयन अथवा उपवास करनेसे, क्रिया और मन्त्रोंसे युक्त होनेसे अब्राह्मण पुरुष भी ब्राह्मण हो जाता है, इसमें कोई संशय नहीं है ॥ १३४ ॥

क्रियामन्त्रविहीनोऽपि तत्र स्नात्वा नरर्षभ ।
चीर्णव्रतो भवेद्विप्रो दृष्टमेतत्पुरातने ॥ १३५ ॥

और जो मन्त्र और क्रियासे हीन पुरुष भी हो वह भी वहां स्नान करके, हे भरतश्रेष्ठ ! चीर्णव्रती ब्राह्मण हो जाता है, यह बात प्राचीन कालमें आदमियोंका देखा हुआ है ॥ १३५ ॥

समुद्राश्चापि चत्वारः समानीताश्च दर्भिणा ।
येषु स्नातो नरव्याघ्र न दुर्गतिमवाप्नुयात् ।
फलानि गोसहस्राणां चतुर्णां विन्दते च सः ॥ १३६ ॥

हे नरश्रेष्ठ ! उस तीर्थमें दर्भीने चारों समुद्र मिला दिये हैं, वहां स्नान करनेसे पुरुष कभी भी दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता, इसके विपरीत उस पुरुषको चार हजार गोदानका फल प्राप्त होता है ॥ १३६ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र तीर्थं शतसहस्रकम् ।
साहस्रकं च तत्रैव द्वे तीर्थे लोकविश्रुते ॥ १३७ ॥

हे राजेन्द्र ! वहांसे शतसहस्र नामक तीर्थको जाये, वहींपर सहस्रक नामक तीर्थ है, ये दोनों तीर्थ लोकोंमें विख्यात हैं ॥ १३७ ॥

उभयोर्हि नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ।
दानं वाप्युपवासो वा सहस्रगुणितं भवेत् ॥ १३८ ॥

उन दोनोंहीमें स्नान करनेसे मनुष्यको हजार गोदानका फल प्राप्त होता है, वहां जो कुछ दान वा व्रत किया जाता है, वह हजार गुना अधिक हो जाता है ॥ १३८ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र रेणुकातीर्थमुत्तमम् ।
तत्राभिषेकं कुर्वीत पितृदेवार्चने रतः ।
सर्वपापविशुद्धात्मा अग्निष्टोमफलं लभेत् ॥ १३९ ॥

हे राजेन्द्र ! वहांसे उत्तम रेणुका तीर्थमें जाये, उस तीर्थमें पितर और देवताओंकी पूजामें रत रहकर पुरुष स्नान करे, तो सब पापोंसे शुद्ध आत्मावाला होकर अग्निष्टोम यज्ञका फल प्राप्त करता है ॥ १३९ ॥

विमोचनमुपस्पृश्य जितमन्युर्जितेन्द्रियः ।
प्रतिग्रहकृतैर्दोषैः सर्वैः स परिमुच्यते ॥ १४० ॥

इसके बाद क्रोध और इन्द्रियोंको जीतनेवाला पुरुष विमोचन तीर्थका स्पर्श करे, वहां स्नान करके दान लेनेसे सब पापोंसे वह छूट जाता है ॥ १४० ॥

ततः पञ्चवटं गत्वा ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ।
पुण्येन महता युक्तः सतां लोके महीयते ॥ १४१ ॥

वहांसे आगे ब्रह्मचारी और जितेन्द्रिय होकर पञ्चवट तीर्थमें जाये, वहां जानेसे वह पुरुष बहुत भारी पुण्यसे संयुक्त होकर सत्पुरुषोंके लोकमें प्रशंसनीय होता है ॥ १४१ ॥

यत्र योगेश्वरः स्थाणुः स्वयमेव वृषध्वजः ।
तमर्चयित्वा देवेशं गमनादेव सिध्यति ॥ १४२ ॥

जहां साक्षात् योगेश्वर वृषवाहन शिव निवास करते हैं, उनकी पूजा करनेसे और वहां जानेहीसे पुरुष सिद्ध हो जाता है ॥ १४२ ॥

औजसं वारुणं तीर्थं दीप्यते स्वेन तेजसा ।
यत्र ब्रह्मादिभिर्देवैर्ऋषिभिश्च तपोधनैः ।
सैनापत्येन देवानामभिषिक्तो गुहस्तदा ॥ १४३ ॥

वहांसे आगे अपने तेजसे प्रकाशित वरुण देवके औजस नामक तीर्थमें जाये, जहां ब्रह्मादि देवता और तपोधन मुनियोंने मिलकर देवताओंके सेनापति स्वामी कार्तिकका अभिषेक किया था ॥ १४३ ॥

औजसस्य तु पूर्वेण कुरुतीर्थं कुरूद्वह ।
कुरुतीर्थे नरः स्नात्वा ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ।
सर्वपापविशुद्धात्मा कुरुलोकं प्रपद्यते ॥ १४४ ॥

हे कुरुकुलश्रेष्ठ ! औजस तीर्थसे पूर्वकी ओर कुरुतीर्थ है, उस कुरुतीर्थमें ब्रह्मचारी और जितेन्द्रिय होकर स्नान करनेसे सब पापोंसे मुक्त होनेके कारण शुद्ध आत्मावाला होकर पुरुष कुरुलोकको जाता है ॥ १४४ ॥

स्वर्गद्वारं ततो गच्छेन्नियतो नियताशनः ।
स्वर्गलोकमवाप्नोति ब्रह्मलोकं च गच्छति ॥ १४५

आगे संयतेन्द्रिय और जिताहारी होकर स्वर्गद्वार नामक तीर्थमें जाये, वहां जानेसे मनुष्य स्वर्गलोकको प्राप्त होता है और ब्रह्मलोकमें जाता है ॥ १४५ ॥

ततो गच्छेदनरकं तीर्थसेवी नराधिप ।
तत्र स्नात्वा नरो राजन्न दुर्गतिमवाप्नुयात् ॥ १४६ ॥

हे नरनाथ ! वहांसे तीर्थसेवी पुरुष अनरक नामक तीर्थको जाये, हे राजन् ! वहां स्नान करनेसे पुरुष दुर्गतिमें नहीं पडता ॥ १४६ ॥

तत्र ब्रह्मा स्वयं नित्यं देवैः सह महीपते ।
अन्वास्यते नरश्रेष्ठ नारायणपुरोगमैः ॥ १४७ ॥

हे मनुष्योंमें श्रेष्ठ राजन् ! वहां साक्षात् ब्रह्मा नारायणादि सब देवताओंके सहित निवास करते हैं ॥ १४७ ॥

सान्निध्यं चैव राजेन्द्र रुद्रपत्न्याः कुरूद्वह ।
अभिगम्य च तां देवीं न दुर्गतिमवाप्नुयात् ॥ १४८ ॥

हे राजेन्द्र ! हे कुरुकुलश्रेष्ठ ! वहीं पार्वतीका स्थान है, उनके दर्शन करनेसे पुरुष दुर्गतिमें नहीं पडता ॥ १४८ ॥

तत्रैव च महाराज विश्वेश्वरमुमापतिम् ।
अभिगम्य महादेवं मुच्यते सर्वकिल्बिषैः ॥ १४९ ॥

हे राजन् ! वहीं सब लोकोंके स्वामी साक्षात् पार्वतीनाथ शिवके दर्शन करनेसे पुरुष सब पापोंसे छूट जाता है ॥ १४९ ॥

नारायणं चाभिगम्य पद्मनाभमरिन्दमम् ।
शोभमानो महाराज विष्णुलोकं प्रपद्यते ॥ १५० ॥

हे शत्रुनाशन ! वहांसे जाकर पद्मनाभ नारायणके दर्शन करे, उनके दर्शन करनेसे पुरुष प्रकाशमान् होकर विष्णुलोकको जाता है ॥ १५० ॥

तीर्थे तु सर्वदेवानां स्नातः स पुरुषर्षभ ।
सर्वदुःखैः परित्यक्तो द्योतते शशिवत्सदा ॥ १५१ ॥

इसके बाद वह पुरुष सब देवताओंके तीर्थमें स्नान करे, हे पुरुषसिंह ! ऐसा करनेसे पुरुष सब पापोंसे छूटकर चन्द्रमाके समान सदा प्रकाशित होता है ॥ १५१ ॥

ततः स्वस्तिपुरं गच्छेत्तीर्थसेवी नराधिप ।
पावनं तीर्थमासाद्य तर्पयेत्पितृदेवताः ।
अग्निष्टोमस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः ॥ १५२ ॥

हे नरनाथ ! वहांसे तीर्थसेवी पुरुष स्वस्तिपुरको जाये, हे राजन् ! वहांसे आगे पावन तीर्थमें जाये, वहां जाकर पितर और देवताओंकी पूजा करे उससे मनुष्य अग्निष्टोम यज्ञका फल प्राप्त करता है ॥ १५२ ॥

गङ्गाह्रदश्च तत्रैव कूपश्च भरतर्षभ।
तिस्रः कोटयस्तु तीर्थानां तस्मिन्कूपे महीपते।
तत्र स्नात्वा नरो राजन्स्वर्गलोकं प्रपद्यते ॥ १५३ ॥

हे भरतर्षभ! वहीं गङ्गाह्रद नामक कुआं है, हे पृथ्वीनाथ! उस कुवेंमें तीन करोड तीर्थ हैं। हे राजन्! उसमें स्नान करनेसे पुरुषको स्वर्गलोक प्राप्त होता है ॥ १५३ ॥

आपगायां नरः स्नात्वा अर्चयित्वा महेश्वरम्।
गाणपत्यमवाप्नोति कुलं चोद्धरते स्वकम् ॥ १५४ ॥

हे राजन्! इसके बाद मनुष्य आपगानदीमें स्नान करके और शिवकी पूजा करके गणेशका पद प्राप्त करता है और अपने कुलका उद्धार करता है ॥ १५४ ॥

ततः स्थाणुवटं गच्छेत्त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्।
तत्र स्नात्वा स्थितो रात्रिं रुद्रलोकमवाप्नुयात् ॥ १५५ ॥

वहांसे तीनों लोकोंमें विख्यात स्थाणुवटको जाये, वहां स्नान करनेसे और एक रात्री रहनेसे शिवलोकको प्राप्त करता है ॥ १५५ ॥

बदरीपाचनं गच्छेद्वसिष्ठस्याश्रमं ततः।
बदरं भक्षयेत्तत्र त्रिरात्रोपोषितो नरः ॥ १५६ ॥

तदनन्तर बदरीपाचन तीर्थमें जाये, वहां वसिष्ठमुनिका आश्रम है, वहां तीन दिन व्रत करके बेर खावे ॥ १५६ ॥

सम्यग्द्वादश वर्षाणि बदरान्भक्षयेत्तु यः।
त्रिरात्रोपोषितश्चैव भवेत्तुल्यो नराधिप ॥ १५७ ॥

और जो पुरुष बारह वर्षतक निरन्तर बेर ही खाता रहे उसको उतना ही फल होता है, जितना उस तीर्थमें तीन दिन व्रत करनेसे ॥ १५७ ॥

इन्द्रमार्गं समासाद्य तीर्थसेवी नराधिप।
अहोरात्रोपवासेन शक्रलोके महीयते ॥ १५८ ॥

हे नराधिप! तीर्थसेवी मनुष्य इन्द्रमार्गमें जाकर अहोरात्र उपवास करनेसे इंद्रलोकमें महत्त्वको प्राप्त होता है ॥ १५८ ॥

एकरात्रं समासाद्य एकरात्रोषितो नरः।
नियतः सत्यवादी च ब्रह्मलोके महीयते ॥ १५९ ॥

तदनंतर एकरात्र नामक तीर्थमें जाकर वहां एकरात रहकर जो सत्य बोले और नियमधारी हो तो वह ब्रह्मलोकमें पूजित होता है ॥ १५९ ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् ।
आदित्यस्याश्रमो यत्र तेजोराशेर्महात्मनः ॥ १६० ॥

हे धर्मज्ञ ! वहांसे तीनों लोकोंमें विख्यात तेजके राशि महात्मा सूर्यके आश्रमको जाये ॥ १६० ॥

तस्मिंस्तीर्थे नरः स्नात्वा पूजयित्वा विभावसुम् ।
आदित्यलोकं व्रजति कुलं चैव समुद्धरेत् ॥ १६१ ॥

उस तीर्थमें स्नान करके और सूर्यकी पूजा करके पुरुष सूर्यलोकको जाता है और अपने कुलका उद्धार करता है ॥ १६१ ॥

सोमतीर्थे नरः स्नात्वा तीर्थसेवी कुरूद्वह ।
सोमलोकमवाप्नोति नरो नास्त्यत्र संशयः ॥ १६२ ॥

हे कुरुश्रेष्ठ ! तीर्थसेवी पुरुष आगे जाकर सोमतीर्थमें स्नान करे, उसमें स्नान करनेसे पुरुषको चन्द्रलोक मिलता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥ १६२ ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ दधीचस्य महात्मनः ।
तीर्थं पुण्यतमं राजन्पावनं लोकविश्रुतम् ॥ १६३ ॥

हे धर्मज्ञ ! वहांसे महात्मा दधीच मुनिके आश्रमपर जाये । हे राजन् ! यह तीर्थ तीन लोकोंमें विख्यात और परम पवित्र तथा दूसरोंको पवित्र करनेवाला है ॥ १६३ ॥

यत्र सारस्वतो राजन्सोऽङ्गिरास्तपसो निधिः ।
तस्मिंस्तीर्थे नरः स्नात्वा वाजपेयफलं लभेत् ।
सारस्वतीं गतिं चैव लभते नात्र संशयः ॥ १६४ ॥

हे राजन् ! इसी सुप्रसिद्ध तीर्थमें तपस्याके निधि सरस्वतीके पुत्र अङ्गिरामुनि निवास करते थे, उस तीर्थमें स्नान करनेसे पुरुषको वाजपेय यज्ञका फल प्राप्त होता है, और निःसन्देह सारस्वत गति प्राप्त होती है, इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥ १६४ ॥

ततः कन्याश्रमं गच्छेन्नियतो ब्रह्मचर्यवान् ।
त्रिरात्रोपोषितो राजन्नुपवासपरायणः ।
लभेत्कन्याशतं दिव्यं ब्रह्मलोकं च गच्छति ॥ १६५ ॥

वहांसे नियत ब्रह्मचारी तथा उपवास परायण होकर पुरुष कन्याश्रम तीर्थमें जाकर तीन दिन व्रत करे, ऐसा करनेसे दिव्य सौ कन्यायें और ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है ॥ १६५ ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ तीर्थं संनिहितीमपि ।
यत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयश्च तपोधनाः ।
मासि मासि समायान्ति पुण्येन महतान्विताः ॥ १६६ ॥

हे धर्मज्ञ ! युधिष्ठिर वहांसे सन्निहती नामक तीर्थको जाये, जहां ब्रह्मादि देवता और तपोधन मुनि हर महीने बहुत पुण्यसे सम्पन्न होकर आते हैं ॥ १६६ ॥

संनिहित्यामुपस्पृश्य राहुग्रस्ते दिवाकरे ।
अश्वमेधशतं तेन इष्टं भवति शाश्वतं ॥ १६७ ॥

ग्रहणके पर्वपर राहुके द्वारा सूर्यके ग्रस्त हो जानेपर सन्निहती तीर्थमें स्नान करनेसे सौ अश्वमेधका फल प्राप्त होता है और सब इच्छा पूर्ण होती है ॥ १६७ ॥

पृथिव्यां यानि तीर्थानि अन्तरिक्षचराणि च ।
नद्यो नदास्तडागाश्च सर्वप्रस्रवणानि च ॥ १६८ ॥

हे नरनाथ ! जितने पृथ्वी और आकाशमें तीर्थ हैं, वे सब तथा नदियां, कुण्ड, तडाग सभी झरने ॥ १६८ ॥

उदपानाश्च वप्राश्च पुण्यान्यायतनानि च ।
मासि मासि समायान्ति संनिहित्यां न संशयः ॥ १६९ ॥

तलैया और बावडी तथा अन्य पवित्र स्थान निःसन्देह अमावसके दिन प्रति मास सन्निहिती में आते हैं ॥ १६९ ॥

यत्किंचिद्दुष्कृतं कर्म स्त्रिया वा पुरुषस्य वा ।
स्नातमात्रस्य तत्सर्वं नश्यते नात्र संशयः ।
पद्मवर्णेन यानेन ब्रह्मलोकं स गच्छति ॥ १७० ॥

पुरुष वा स्त्रीने जो कुछ पाप किया हो, निःसंदेह वह सब इस तीर्थमें स्नान करने मात्रसे नष्ट हो जाता है। और पद्मके रङ्गवाले विमानपर बैठकर ब्रह्मलोकको जाता है ॥ १७० ॥

अभिवाद्य ततो यक्षं द्वारपालमरन्तुकम् ।
कोटिरूपमुपस्पृश्य लभेद्बहु सुवर्णकम् ॥ १७१ ॥

आगे द्वारपाल अरन्तुक नामक यक्षको प्रणाम करके कोटिरूप नामके तीर्थमें स्नान करनेसे बहुत सुवर्ण मिलता है ॥ १७१ ॥

गङ्गाह्रदश्च तत्रैव तीर्थं भरतसत्तम ।
तत्र स्नातस्तु धर्मज्ञ ब्रह्मचारी समाहितः ।
राजसूयाश्वमेधाभ्यां फलं विन्दति शाश्वतम् ॥ १७२ ॥

हे धर्मको जाननेवाले भरतसत्तम ! वहीं गङ्गाह्रद नामक तीर्थ है, उसमें ब्रह्मचारी और सावधान होकर स्नान करनेसे पुरुष राजसूय और अश्वमेध यज्ञका फल प्राप्त करता है ॥ १७२ ॥

पृथिव्यां नैमिषं पुण्यमन्तरिक्षे च पुष्करम् ।
त्रयाणामपि लोकानां कुरुक्षेत्रं विशिष्यते ॥ १७३ ॥

पृथ्वीमें नैमिषारण्य पवित्र तीर्थ है, आकाशमें पुष्कर पवित्र तीर्थ है और कुरुक्षेत्र तीनों लोकोंमें श्रेष्ठ है ॥ १७३ ॥

पांसवोऽपि कुरुक्षेत्रे वायुना समुदीरिताः ।
अपि दुष्कृतकर्माणं नयन्ति परमां गतिम् ॥ १७४ ॥

कुरुक्षेत्रकी धूल भी जो वायुसे उडती है, महापापी पुरुषको परमगतिकी ओर ले जाती है ॥ १७४ ॥

दक्षिणेन सरस्वत्या उत्तरेण दृषद्वतीम् ।
ये वसन्ति कुरुक्षेत्रे ते वसन्ति त्रिविष्टपे ॥ १७५ ॥

सरस्वतीके दक्षिण और दृषद्वतीके उत्तरमें स्थित कुरुक्षेत्रमें जो पुरुष निवास करते हैं, वे मानों स्वर्गमें वास करते हैं ॥ १७५ ॥

कुरुक्षेत्रं गमिष्यामि कुरुक्षेत्रे वसाम्यहम् ।
अप्येकां वाचमुत्सृज्य सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ १७६ ॥

जो पुरुष एकबार भी कहे कि "मैं कुरुक्षेत्रको जाऊंगा और कुरुक्षेत्रमें निवास करूंगा" तो वह सब पापोंसे छूट जाता है ॥ १७६ ॥

ब्रह्मवेदी कुरुक्षेत्रं पुण्यं ब्रह्मर्षिसेवितम् ।
तदावसन्ति ये राजन्न ते शोच्याः कथंचन ॥ १७७ ॥

कुरुक्षेत्र पवित्र, ऋषियोंसे सेवित और ब्रह्मवेदी है, हे राजन् ! उसमें जो पुरुष रहते हैं वे शोक करने योग्य नहीं हैं ॥ १७७ ॥

तरन्तुकारन्तुकयोर्यदन्तरं रामह्रदानां च मचक्रुकस्य ।
एतत्कुरुक्षेत्रसमन्तपञ्चकं पितामहस्योत्तरवेदिरुच्यते ॥ १७८ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि एकाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८१ ॥ ३०३९ ॥

तरन्तुक, अरन्तुक परशुरामके तडाग और मचक्रुक तीर्थके बीच बीचमें जो प्रदेश हैं, उसी पवित्र भूमिका नाम कुरुक्षेत्र है, इसीको समन्तपञ्चक भी कहते हैं, यही पितामह ब्रह्माकी उत्तरवेदी भी कही जाती है ॥ १७८ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें इक्यासीवां अध्याय समाप्त ॥ ८१ ॥ ३०३९ ॥

: ८२ :

पुलस्त्य उवाच

ततो गच्छेत धर्मज्ञ धर्मतीर्थं पुरातनम् ।
तत्र स्नात्वा नरो राजन्धर्मशीलः समाहितः ।
आसप्तमं कुलं राजन्पुनीते नात्र संशयः ॥ १ ॥

पुलस्त्य बोले– हे धर्मज्ञ राजन् युधिष्ठिर ! वहांसे प्राचीन धर्मतीर्थपर जाये, वहां स्नान करनेसे धर्मवान् और सावधान पुरुष अपने सात कुलोंको पवित्र करता है, इसमें कोई संशय नहीं है ॥ १ ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ कारापतनमुत्तमम् ।
अग्निष्टोममवाप्नोति मुनिलोकं च गच्छति ॥ २ ॥

हे धर्मज्ञ ! वहांसे कारापतन नामक तीर्थमें जाये, वहां जानेसे अग्निष्टोम यज्ञका फल प्राप्त करके मुनिलोकको जाता है ॥ २ ॥

सौगन्धिकं वनं राजंस्ततो गच्छेत मानवः ।
यत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयश्च तपोधनाः ॥ ३ ॥
सिद्धचारणगन्धर्वाः किन्नराः समहोरगाः ।
तद्वनं प्रविशन्नेव सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ४ ॥

हे राजन् ! वहांसे मनुष्य सौगन्धिक वनको जाये, वहां ब्रह्मादि देवता, तपोधन ऋषि सिद्ध, चारण, गन्धर्व, किन्नर और सर्प निवास करते हैं, पुरुष उस वनमें प्रवेश करने मात्रसे ही सब पापोंसे छूट जाता है ॥ ३-४ ॥

ततो हि सा सरिच्छ्रेष्ठा नदीनामुत्तमा नदी ।
प्लक्षादेवी स्रुता राजन्महापुण्या सरस्वती ॥ ५ ॥

हे राजन् ! वहांसे उस तीर्थमें जाए, कि जहां नदियोंमें उत्तम नदी श्रेष्ठ नदी, महापवित्र देवी सरस्वती नदी प्लक्ष (एक तरहका वृक्ष) से निकल रही है ॥ ५ ॥

तत्राभिषेकं कुर्वीत वल्मीकान्निःस्रुते जले ।
अर्चयित्वा पितॄन्देवानश्वमेधफलं लभेत् ॥ ६ ॥

वह जल एक बिलसे निकलता है, उसमें स्नान करे। वहां मनुष्य, पितर और देवताओंकी पूजा करनेसे अश्वमेधका फल प्राप्त करता है ॥ ६ ॥

ईशानाध्युषितं नाम तत्र तीर्थं सुदुर्लभम् ।
षट्सु शम्यानिपातेषु वल्मीकादिति निश्चयः ॥ ७ ॥

वहीं अत्यन्त दुर्लभ ईशानाध्युषित नामक तीर्थ उस वल्मीकसे छः शम्याकी× दूरीपर है ॥ ७ ॥

कपिलानां सहस्रं च वाजिमेधं च विन्दति ।
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र दृष्टमेतत्पुरातने ॥ ८ ॥

उसमें स्नान करनेसे पुरुषको हजार कपिला दान और अश्वमेधका फल मिलता है। हे पुरुष-व्याघ्र ! हमने यह पुरातन पुस्तकोंमें देखा है ॥ ८ ॥

सुगन्धां शतकुम्भां च पञ्चयज्ञां च भारत ।
अभिगम्य नरश्रेष्ठ स्वर्गलोके महीयते ॥ ९ ॥

हे भारत ! नरश्रेष्ठ ! इस तीर्थमें जाकर सुगन्धा, शतकुंभा, पञ्चयज्ञा आदि तीर्थोंमें जानेसे मनुष्य स्वर्गलोकमें पूजा जाता है ॥ ९ ॥

त्रिशूलखातं तत्रैव तीर्थमासाद्य भारत ।
तत्राभिषेकं कुर्वीत पितृदेवार्चने रतः ।
गाणपत्यं स लभते देहं त्यक्त्वा न संशयः ॥ १० ॥

हे राजन् ! वहीं त्रिशूलखात नामक तीर्थ है, वहां जाकर उसमें स्नान करे। देवता और पितरोंकी पूजा करे तो मरनेके पश्चात् निःसन्देह गणेशका पद प्राप्त करता है ॥ १० ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र देव्याः स्थानं सुदुर्लभम् ।
शाकम्भरीति विख्याता त्रिषु लोकेषु विश्रुता ॥ ११ ॥

हे राजेन्द्र ! यहांसे अत्यन्त दुर्लभ व तीनों लोकोंमें विख्यात उत्तम शाकंभरी देवीके स्थानपर जाये ॥ ११ ॥

दिव्यं वर्षसहस्रं हि शाकेन किल सुव्रत ।
आहारं सा कृतवती मासि मासि नराधिप ॥ १२ ॥

हे सुव्रत राजन् ! जहां दिव्य हजार वर्षतक भगवतीने एक एक महीनेमें शाक खाकर तप किया था ॥ १२ ॥

ऋषयोऽभ्यागतास्तत्र देव्या भक्त्या तपोधनाः ।
आतिथ्यं च कृतं तेषां शाकेन किल भारत ।
ततः शाकम्भरीत्येव नाम तस्याः प्रतिष्ठितम् ॥ १३ ॥

हे भारत ! तब देवीकी भक्तिसे आकृष्ट होकर तपोधन मुनीश्वर वहां आये, भगवतीने उसी शाकसे उनका भी सत्कार किया, उसी दिनसे उस देवीका नाम शाकंभरी प्रसिद्ध हो गया॥ १३॥

× शम्या डण्डेको कहते हैं; उसे एक स्वस्थ पुरुष जितनी दूर फेंकता है, उतनी दूरीको एक शम्या कहते हैं।

×

शाकम्भरीं समासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः ।
त्रिरात्रमुषितः शाकं भक्षयेन्नियतः शुचिः ॥ १४ ॥

शाकंभरी देवी जाकर पुरुष पवित्र, सावधान और ब्रह्मचारी होके तीन दिन शाक खाये ॥ १४ ॥

शाकाहारस्य यत्सम्यग्वर्षैर्द्वादशभिः फलम् ।
तत्फलं तस्य भवति देव्याश्छन्देन भारत ॥ १५ ॥

जो पुरुष बारह वर्षतक शाक खाकर रहे तो उसका जो फल होता है, वही फल वहां तीन रोज शाक खानेसे होता है ॥ १५ ॥

ततो गच्छेत्सुवर्णाक्षं त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
यत्र विष्णुः प्रसादार्थं रुद्रमाराधयत्पुरा ॥ १६ ॥

हे भारत ! वहांसे तीनों लोकोंमें विख्यात सुवर्णाक्ष तीर्थमें जाये, जहां पहले विष्णुने शिवको प्रसन्न करनेके निमित्त तप किया था ॥ १६ ॥

वरांश्च सुबहूँल्लेभे दैवतेषु सुदुर्लभान् ।
उक्तश्च त्रिपुरघ्नेन परितुष्टेन भारत ॥ १७ ॥

देवोंमें भी दुर्लभ ऐसे बहुतसे वरदानोंको पाया था । हे भारत ! शिवने प्रसन्न होकर विष्णुसे कहा था ॥ १७ ॥

अपि चास्मत्प्रियतरो लोके कृष्ण भविष्यसि ।
त्वन्मुखं च जगत्कृत्स्नं भविष्यति न संशयः ॥ १८ ॥

कि तुम संसारमें हमारे प्रिय होकर कृष्णावतार धारण करोगे । इसमें कुछ सन्देह नहीं, कि सब जगत् तुमहीको प्रधान मानेगा ॥ १८ ॥

तत्राभिगम्य राजेन्द्र पूजयित्वा वृषध्वजम् ।
अश्वमेधमवाप्नोति गाणपत्यं च विन्दति ॥ १९ ॥

हे राजेन्द्र ! वहां जाकर शिवकी पूजा करनेसे अश्वमेधका फल प्राप्त करता है और गणेश-का पद पाता है ॥ १९ ॥

धूमावतीं ततो गच्छेत्त्रिरात्रोपोषितो नरः ।
मनसा प्रार्थितान्कामाँल्लभते नात्र संशयः ॥ २० ॥

हे राजेन्द्र ! वहांसे चलकर धूमावतीमें जाकर मनुष्य तीन दिन उपवास करे, ऐसा करनेसे निःसन्देह मनसे चाही हुई सभी चीजें वह प्राप्त करता है ॥ २० ॥

देव्यास्तु दक्षिणार्धेन रथावर्तो नराधिप ।
तत्रारोहेत धर्मज्ञ श्रद्दधानो जितेन्द्रियः ।
महादेवप्रसादाद्धि गच्छेत परमां गतिम् ॥ २१ ॥

हे धर्मज्ञ राजन् ! देवीके दाहिनी ओर रथावर्त चक्र तीर्थ है, वहां जितेन्द्रिय और श्रद्धावान् होकर उस चक्रके ऊपर चढे तो शिवकी कृपासे परम गतिको प्राप्त होता है ॥२१॥

प्रदक्षिणमुपावृत्य गच्छेत भरतर्षभ ।
धारां नाम महाप्राज्ञ सर्वपापप्रणाशिनीम् ।
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र न शोचति नराधिप ॥ २२ ॥

हे भरतकुलसिंह महाप्राज्ञ ! उसकी प्रदक्षिणा करके सब पापोंका नाश करनेवाले धारा तीर्थमें जाये । हे नरव्याघ्र राजन् ! वहां पुरुष स्नान करे, ऐसा करनेसे वह पुरुष शोकसे रहित हो जाता है ॥ २२ ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ नमस्कृत्य महागिरिम् ।
स्वर्गद्वारेण यत्तुल्यं गङ्गाद्वारं न संशयः ॥ २३ ॥

हे राजेन्द्र ! वहांसे महापर्वतको प्रणाम करके जो स्वर्गद्वारके समान गङ्गाद्वार नामक तीर्थ है, वहां जाये ॥ २३ ॥

तत्राभिषेकं कुर्वीत कोटितीर्थे समाहितः ।
पुण्डरीकमवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ॥ २४ ॥

वहां सावधान होकर कोटितीर्थमें स्नान करनेसे पुरुष पुण्डरीक यज्ञका फल प्राप्त करता है और अपने कुलका उद्धार करता है ॥ २४ ॥

सप्तगंगे त्रिगंगे च शक्रावर्ते च तर्पयन् ।
देवान्पितृंश्च विधिवत्पुण्यलोके महीयते ॥ २५ ॥

वहांसे आगे सप्तगङ्गा त्रिगङ्गा और शक्रावर्त तीर्थमें जाये, उन पवित्र तीर्थोंमें विधिवत् पितर और देवताओंका तर्पण करनेसे मनुष्य उत्तम लोकमें पूजा जाता है ॥ २५ ॥

ततः कनखले स्नात्वा त्रिरात्रोपोषितो नरः ।
अश्वमेधमवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति ॥ २६ ॥

वहांसे चलकर कनखलमें स्नान करे। तीन दिन उपवास करनेसे पुरुष अश्वमेधका फल पाता है और स्वर्गलोक प्राप्त करता है ॥ २६ ॥

कपिलावटं च गच्छेत तीर्थसेवी नराधिप ।
उष्यैकां रजनीं तत्र गोसहस्रफलं लभेत् ॥ २७ ॥

हे नरनाथ ! वहांसे तीर्थसेवी पुरुष कपिलावटको जाये, वहां एकरात रहनेसे हजार गोदानका फल प्राप्त होता है ॥ २६ ॥

नागराजस्य राजेन्द्र कपिलस्य महात्मनः ।
तीर्थं कुरुवरश्रेष्ठ सर्वलोकेषु विश्रुतम् ॥ २८ ॥

हे राजेन्द्र ! आगे महात्मा नागराज कपिलके तीर्थमें जाये, हे कुरुओंमें श्रेष्ठ राजन् ! यह तीर्थ तीनों लोकमें विख्यात है ॥ २८ ॥

तत्राभिषेकं कुर्वीत नागतीर्थे नराधिप ।
कपिलानां सहस्रस्य फलं प्राप्नोति मानवः ॥ २९ ॥

हे नरनाथ ! उस नागतीर्थमें स्नान करे तो मनुष्यको हजार कपिला गोदानका फल प्राप्त होता है ॥ २९ ॥

ततो ललितिकां गच्छेच्छन्तनोस्तीर्थमुत्तमम् ।
तत्र स्नात्वा नरो राजन्न दुर्गतिमवाप्नुयात् ॥ ३० ॥

वहांसे आगे शन्तनुके उत्तम तीर्थ ललितिका तीर्थमें जाये, हे राजन् ! वहां स्नान करके पुरुष कभी भी दुर्गति नहीं प्राप्त करता ॥ ३० ॥

गङ्गासंगमयोश्चैव स्नाति यः संगमे नरः ।
दशाश्वमेधानाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ॥ ३१ ॥

जो पुरुष गङ्गा और यमुनाके सङ्गममें स्नान करता है, वह दश अश्वमेधका फल प्राप्त करता है और अपने कुलका उद्धार भी करता है ॥ ३१ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र सुगन्धां लोकविश्रुताम् ।
सर्वपापविशुद्धात्मा ब्रह्मलोके महीयते ॥ ३२ ॥

हे राजेन्द्र ! वहांसे लोकविख्यात सुगन्धातीर्थमें जाये, वहां जानेसे पुरुष सब पापोंसे छूटकर ब्रह्मलोकमें पूजा जाता है ॥ ३२ ॥

रुद्रावर्तं ततो गच्छेत्तीर्थसेवी नराधिप ।
तत्र स्नात्वा नरो राजन्स्वर्गलोके महीयते ॥ ३३ ॥

हे नरनाथ ! वहांसे तीर्थसेवी पुरुष रुद्रावर्त तीर्थको जाये, वहां स्नान करके मनुष्य स्वर्गलोकमें पूजा जाता है ॥ ३३ ॥

गङ्गायाश्च नरश्रेष्ठ सरस्वत्याश्च संगमे ।
स्नातोऽश्वमेधमाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति ॥ ३४ ॥

हे नरश्रेष्ठ ! आगे सरस्वती और गङ्गाके सङ्गममें जाये, वहां स्नान करके अश्वमेधका फल प्राप्त होता है और वह स्वर्गलोकको जाता है ॥ ३४ ॥

भद्रकर्णेश्वरं गत्वा देवमर्च्य यथाविधि ।
न दुर्गतिमवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति ॥ ३५ ॥
वहांसे आगे चलकर विधिपूर्वक भद्रकर्णेश्वर महादेवकी पूजा करे, ऐसा करनेसे पुरुष दुर्गतिको नहीं प्राप्त करता और स्वर्गलोक प्राप्त करता है ॥ ३५ ॥

ततः कुब्जाम्रकं गच्छेत्तीर्थसेवी यथाक्रमम् ।
गोसहस्रमवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति ॥ ३६ ॥
आगे क्रमसे तीर्थसेवी पुरुष कुब्जाम्रक तीर्थमें जाये, वहां जानेसे मनुष्यको हजार गोदानका फल प्राप्त होता है और स्वर्गलोक मिलता है ॥ ३६ ॥

अरुन्धतीवटं गच्छेत्तीर्थसेवी नराधिप ।
सामुद्रकमुपस्पृश्य त्रिरात्रोपोषितो नरः ।
गोसहस्रफलं विन्देत्कुलं चैव समुद्धरेत् ॥ ३७ ॥
हे नरनाथ ! आगे तीर्थसेवी पुरुष अरुन्धतीवट तीर्थमें जाये, वहां समुद्रके जलका स्पर्श करके तीन रात रहनेसे मनुष्य सहस्र गोदानका फल प्राप्त करता है और अपने कुलका उद्धार करता है ॥ ३७ ॥

ब्रह्मावर्तं ततो गच्छेद्ब्रह्मचारी समाहितः ।
अश्वमेधमवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति ॥ ३८ ॥
आगे ब्रह्मचारी और सावधान होकर ब्रह्मावर्त्त तीर्थको जाये वहां जानेसे अश्वमेधका फल प्राप्त करता है और चन्द्रलोक जाता है ॥ ३८ ॥

यमुनाप्रभवं गत्वा उपस्पृश्य च यामुने ।
अश्वमेधफलं लब्ध्वा स्वर्गलोके महीयते ॥ ३९ ॥
वहांसे उस स्थानपर जाये कि जहांसे यमुना निकली है और यमुनाके जलसे स्पर्श करके अश्वमेधका फल पाकर स्वर्गलोकमें पूजा जाता है ॥ ३९ ॥

दर्वीसंक्रमणं प्राप्य तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् ।
अश्वमेधमवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति ॥ ४० ॥
आगे तीनों लोकोंमें पूजित दर्वीसंक्रमण तीर्थमें जाकर अश्वमेधका फल पाता है और स्वर्गलोक जाता है ॥ ४० ॥

सिन्धोश्च प्रभवं गत्वा सिद्धगन्धर्वसेवितम् ।
तत्रोष्य रजनीः पञ्च विन्द्याद्बहु सुवर्णकम् ॥ ४१ ॥
वहांसे उस स्थानमें जाये, जहांसे सिन्धुनदी निकली है, वहांपर सिद्ध और गन्धर्व रहते हैं, वहां पांच रात रहकर पुरुष बहुत सुवर्ण पाता है ॥ ४१ ॥

अथ वेदीं समासाद्य नरः परमदुर्गमाम् ।
अश्वमेधमवाप्नोति गच्छेच्चौशनसीं गतिम् ॥ ४२ ॥

आगे पुरुष परम दुर्गम वेदी तीर्थमें जाये, वहां जानेसे पुरुषको अश्वमेधका फल और शुक्राचार्यकी गति प्राप्त होती है ॥ ४२ ॥

ऋषिकुल्यां समासाद्य वासिष्ठं चैव भारत ।
वासिष्ठं समतिक्रम्य सर्वे वर्णा द्विजातयः ॥ ४३ ॥

वहांसे ऋषिकुल्यामें जाये, हे भारत ! वहांसे वासिष्ठ जाए। वासिष्ठतीर्थमें जानेसे सब वर्ण ब्राह्मण हो जाते हैं ॥ ४३ ॥

ऋषिकुल्यां नरः स्नात्वा ऋषिलोकं प्रपद्यते ।
यदि तत्र वसेन्मासं शाकाहारो नराधिप ॥ ४४ ॥

हे नरनाथ ! यदि शाक खाकर वहां एक महिना रहे और उस ऋषिकुल्यामें स्नान करे, तो मनुष्य ऋषिलोकको प्राप्त करता है ॥ ४४ ॥

भृगुतुङ्गं समासाद्य वाजिमेधफलं लभेत् ।
गत्वा वीरप्रमोक्षं च सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ४५ ॥

वहांसे भृगुतुङ्ग तीर्थमें जानेसे अश्वमेध यज्ञका फल मिलता है। आगे वीरप्रमोक्ष तीर्थमें जानेसे सब पापोंसे छूट जाते हैं ॥ ४५ ॥

कृत्तिकामघयोश्चैव तीर्थमासाद्य भारत ।
अग्निष्टोमातिरात्राभ्यां फलं प्राप्नोति पुण्यकृत् ॥ ४६ ॥

हे भारत ! यदि उस तीर्थमें मघा और कृत्तिका नक्षत्रमें जाये तो वह पुण्यकर्मा अग्निष्टोम और अतिरात्र यज्ञका फल पाता है ॥ ४६ ॥

ततः सन्ध्यां समासाद्य विद्यातीर्थमनुत्तमम् ।
उपस्पृश्य च विद्यानां सर्वासां पारगो भवेत् ॥ ४७ ॥

वहीं उत्तम विद्या तीर्थमें सन्ध्या समयमें जाकर वहां स्नान करनेसे मनुष्य सब विद्याओंमें पारंगत हो जाता है ॥ ४७ ॥

महाश्रमे वसेद्रात्रिं सर्वपापप्रमोचने ।
एककालं निराहारो लोकानावसते शुभान् ॥ ४८ ॥

उसी सब पापनाशक महाआश्रममें रातको रहे, वहां एक काल आहार त्याग करनेसे पुरुषको उत्तम लोक मिलते हैं ॥ ४८ ॥

षष्ठकालोपवासेन मासमुष्य महालये ।
सर्वपापविशुद्धात्मा विन्द्याद्बहु सुवर्णकम् ॥ ४९ ॥
दिनके छठे भागमें भोजन करके एक महीना महालय तीर्थमें रहनेसे सब पापोंसे शुद्ध आत्मावाला होकर मनुष्य बहुत सुवर्ण पाता है ॥ ४९ ॥

अथ वेतसिकां गत्वा पितामहनिषेविताम् ।
अश्वमेधमवाप्नोति गच्छेच्चौशनसीं गतिम् ॥ ५० ॥
आगे ब्रह्माके स्थान वेतसिकामें जाये, तो अश्वमेधका फल प्राप्त होता है और शुक्राचार्यकी गति मिलती है ॥ ५० ॥

अथ सुन्दरिकातीर्थं प्राप्य सिद्धनिषेवितम् ।
रूपस्य भागी भवति दृष्टमेतत्पुरातने ॥ ५१ ॥
आगे सिद्धोंसे सेवित सुन्दरिका तीर्थमें जाये, वहां जानेसे पुरुषका रूप सुन्दर हो जाता है। यह पूर्व पुरुषोंने निश्चयसे देखा है ॥ ५१ ॥

ततो वै ब्राह्मणीं गत्वा ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ।
पद्मवर्णेन यानेन ब्रह्मलोकं प्रपद्यते ॥ ५२ ॥
आगे ब्रह्मचारी और जितेन्द्रिय होकर ब्राह्मणी तीर्थमें जाये, वहां जानेसे पद्मवर्णके विमानपर बैठकर पुरुष ब्रह्मलोकको जाता है ॥ ५२ ॥

ततश्च नैमिषं गच्छेत्पुण्यं सिद्धनिषेवितम् ।
तत्र नित्यं निवसति ब्रह्मा देवगणैर्वृतः ॥ ५३ ॥
वहांसे पवित्र और सिद्धोंसे सेवित नैमिषक्षेत्रमें जाये, वहां देवताओंसे घिरकर ब्रह्मा सदा वास करते हैं ॥ ५३ ॥

नैमिषं प्रार्थयानस्य पापस्यार्धं प्रणश्यति ।
प्रविष्टमात्रस्तु नरः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ५४ ॥
नैमिषारण्यको ढूंढनेवालेका आधा पाप नष्ट हो जाता है और वहां जानेसे तो सब पापोंसे वह छूट जाता है ॥ ५४ ॥

तत्र मासं वसेद्धीरो नैमिषे तीर्थतत्परः ।
पृथिव्यां यानि तीर्थानि नैमिषे तानि भारत ॥ ५५ ॥
वहां नैमिषमें तीर्थसेवी धीर पुरुष एक महीना रहे, क्योंकि, हे भारत! पृथ्वीमें जितने तीर्थ हैं वे सब नैमिषारण्यमें रहते हैं ॥ ५५ ॥

अभिषेककृतस्तत्र नियतो नियताशनः ।
गवामयस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति भारत ।
पुनात्यासप्तमं चैव कुलं भरतसत्तम ॥ ५६ ॥

हे भारत ! यदि जिताहार और नियमधारी होकर वहां स्नान करे तो गोमेध यज्ञका फल होता है और, हे भरतसत्तम ! उसके कुलके सात पुरुषोंका उद्धार हो जाता है ॥ ५६ ॥

यस्त्यजेन्नैमिषे प्राणानुपवासपरायणः ।
स मोदेत्स्वर्गलोकस्थ एवमाहुर्मनीषिणः ।
नित्यं पुण्यं च मेध्यं च नैमिषं नृपसत्तम ॥ ५७ ॥

महात्मालोग ऐसा भी कहते हैं कि जो नैमिषारण्यमें उपवास करके अपने प्राणोंका त्याग करता है वह सब लोकोंमें जाकर आनन्द करता है । हे भरतसत्तम ! नैमिषक्षेत्र नित्य पुण्यप्रद और पवित्र है ॥ ५७ ॥

गङ्गोद्भेदं समासाद्य त्रिरात्रोपोषितो नरः ।
वाजपेयमवाप्नोति ब्रह्मभूतश्च जायते ॥ ५८ ॥

आगे वहांसे गङ्गोद्भेद तीर्थमें जाये, वहां जाकर पुरुषको तीन रात्र उपोषित रहनेसे वाजपेय यज्ञका फल प्राप्त होता है और वह मनुष्य ब्रह्मरूप हो जाता है ॥ ५८ ॥

सरस्वतीं समासाद्य तर्पयेत्पितृदेवताः ।
सारस्वतेषु लोकेषु मोदते नात्र संशयः ॥ ५९ ॥

आगे सरस्वती नदीपर जाकर पितर और देवताओंकी पूजा करे तो निःसन्देह सरस्वतीके लोकोंमें जाकर आनन्द करता है ॥ ५९ ॥

ततश्च बाहुदां गच्छेद्ब्रह्मचारी समाहितः ।
देवसत्रस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः ॥ ६० ॥

वहांसे चलकर ब्रह्मचारी और सावधान होकर बाहुदा नदीमें स्नान करे, तो मनुष्य देवसत्र नामक यज्ञका फल प्राप्त करता है ॥ ६० ॥

ततश्चीरवतीं गच्छेत्पुण्यां पुण्यतमैर्वृताम् ।
पितृदेवार्चनरतो वाजपेयमवाप्नुयात् ॥ ६१ ॥

वहांसे पुण्यात्मा मुनियोंसे भरी हुई पवित्र चीरवती नदीको जाये, वहां पितर और देवताओंकी पूजा करनेसे वाजपेयका फल प्राप्त होता है ॥ ६१ ॥

विमलाशोकमासाद्य विराजति यथा शशी ।
तत्रोष्य रजनीमेकां स्वर्गलोके महीयते ॥ ६२ ॥

वहांसे विमलाशोकको जाकर मनुष्य चन्द्रमाके समान शोभा पाने लगता है, वहां एक रात रहनेसे स्वर्गलोकमें पूजा जाता है ॥ ६२ ॥

गोप्रतारं ततो गच्छेत्सरय्वास्तीर्थमुत्तमम् ।
यत्र रामो गतः स्वर्गं सभृत्यबलवाहनः ॥ ६३ ॥

वहांसे सरयूके उत्तम तीर्थ गोप्रतार (गुप्तारघाट) को जाये, हे महाराज! जहांसे राम अपने नौकर सेना और वाहनोंके सहित स्वर्गको गये थे ॥ ६३ ॥

देहं त्यक्त्वा दिवं यातस्तस्य तीर्थस्य तेजसा ।
रामस्य च प्रसादेन व्यवसायाच्च भारत ॥ ६४ ॥

हे भारत! उस तीर्थके तेज और रामकी कृपासे तथा निश्चयसे मनुष्य देह त्यागकर द्युलोकको जाता है ॥ ६४ ॥

तस्मिंस्तीर्थे नरः स्नात्वा गोप्रतारे नराधिप ।
सर्वपापविशुद्धात्मा स्वर्गलोके महीयते ॥ ६५ ॥

हे राजन्! उस गुप्तारघाट तीर्थमें स्नान करके मनुष्य सब पापोंसे शुद्ध आत्मावाला होकर स्वर्गलोकमें पूजा जाता है ॥ ६५ ॥

रामतीर्थे नरः स्नात्वा गोमत्यां कुरुनन्दन ।
अश्वमेधमवाप्नोति पुनाति च कुलं नरः ॥ ६६ ॥

हे कुरुनन्दन! आगे गोमतीके रामतीर्थमें स्नान करनेसे पुरुषको अश्वमेध यज्ञका फल प्राप्त होता है और उसके कुलका उद्धार हो जाता है ॥ ६६ ॥

शतसाहस्रिकं तत्र तीर्थं भरतसत्तम ।
तत्रोपस्पर्शनं कृत्वा नियतो नियताशनः ।
गोसहस्रफलं पुण्यं प्राप्नोति भरतर्षभ ॥ ६७ ॥

हे भरतकुलसिंह! वहीं शतसाहस्रक तीर्थ है, यदि जिताहारी और नियमधारी होकर उसका स्पर्श करे तो पुरुषको हजार गोदानका फल प्राप्त होता है ॥ ६७ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र भर्तृस्थानमनुत्तमम् ।
कोटितीर्थे नरः स्नात्वा अर्चयित्वा गुहं नृप ।
गोसहस्रफलं विन्देत्तेजस्वी च भवेन्नरः ॥ ६८ ॥

हे राजेन्द्र! वहांसे चलकर उत्तम भर्तृस्थानको जाये। हे नरनाथ! यदि कोटितीर्थमें स्नान करके स्वामी कार्तिककी पूजा करे, तो हजार गोदानका फल प्राप्त होता है और वह पुरुष तेजस्वी भी हो जाता है ॥ ६८ ॥

ततो वाराणसीं गत्वा अर्चयित्वा वृषध्वजम् ।
कपिलाहृदे नरः स्नात्वा राजसूयफलं लभेत् ॥ ६९ ॥

वहांसे काशीको जाये और वहां शिवकी पूजा करे और कपिलकुण्डमें स्नान करे, तो राजसूय यज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ ६९ ॥

मार्कण्डेयस्य राजेन्द्र तीर्थमासाद्य दुर्लभम् ।
गोमतीगङ्गयोश्चैव संगमे लोकविश्रुते ।
अग्निष्टोममवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ॥ ७० ॥

हे राजेन्द्र ! आगे दुर्लभ मार्कण्डेय तीर्थको जाकर तथा लोकविख्यात गङ्गा और गोमतीके सङ्गममें जाकर मनुष्य अग्निष्टोम यज्ञका फल पाता है और कुलका उद्धार करता है ॥ ७० ॥

ततो गयां समासाद्य ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ।
अश्वमेधमवाप्नोति गमनादेव भारत ॥ ७१ ॥

वहांसे ब्रह्मचारी और सावधान होकर गयाको जाये, वहां जानेमात्रसे ही अश्वमेध यज्ञका फल प्राप्त हो जाता है ॥ ७१ ॥

तत्राक्षयवटो नाम त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ।
पितॄणां तत्र वै दत्तमक्षयं भवति प्रभो ॥ ७२ ॥

वहीं तीनों लोकोंमें विख्यात अक्षयवट तीर्थ है, वहां पितरोंके निमित्त जो कुछ दान किया जाता है, वह अक्षय हो जाता है ॥ ७२ ॥

महानद्यामुपस्पृश्य तर्पयेत्पितृदेवताः ।
अक्षयान्प्राप्नुयाल्लोकान्कुलं चैव समुद्धरेत् ॥ ७३ ॥

वहां महानदीमें स्पर्श करके पितर और देवताओंकी पूजा करे तो मनुष्य अक्षय लोकोंको प्राप्त करता है और अपने कुलका उद्धार करता है ॥ ७३ ॥

ततो ब्रह्मसरो गच्छेद्धर्मारण्योपशोभितम् ।
पौण्डरीकमवाप्नोति प्रभातामेव शर्वरीम् ॥ ७४ ॥

आगे धर्मवनमें शोभित ब्रह्मसर जाए वहां एक रात रहनेसे ब्रह्मलोक पाता है ॥ ७४ ॥

तस्मिन्सरसि राजेन्द्र ब्रह्मणो यूप उच्छ्रितः ।
यूपं प्रदक्षिणं कृत्वा वाजपेयफलं लभेत् ॥ ७५ ॥

हे राजेन्द्र ! उस तालाबमें ब्रह्माने उत्तम यज्ञस्तम्भ बनाया था, उसकी प्रदक्षिणा करनेसे वाजपेय यज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ ७५ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र धेनुकां लोकविश्रुताम् ।
एकरात्रोषितो राजन्प्रयच्छेत्तिलधेनुकाम् ।
सर्वपापविशुद्धात्मा सोमलोकं व्रजेद्ध्रुवम् ॥ ७६ ॥
हे राजेन्द्र! वहांसे लोकविख्यात धेनुका तीर्थमें जाये, वहां एक रात रहकर तिलकी गाय बनाकर दान करे, तो पुरुष सब पापोंसे छूटकर शुद्ध आत्मावाला होकर निश्चयसे चन्द्रलोकको जाता है ॥ ७६ ॥

तत्र चिह्नं महाराज अद्यापि हि न संशयः ।
कपिला सह वत्सेन पर्वते विचरत्युत ।
सवत्सायाः पदानि स्म दृश्यन्तेऽद्यापि भारत ॥ ७७ ॥
हे राजन्! उस स्थानमें अबतक भी विचित्र गऊका चिन्ह बछडेके सहित बना है और आजभी पर्वतपर गौ अपने बछडेके साथ विचरती है। हे भारत! वहीं बछडे सहित गऊके पैर अभीतक दीखते हैं ॥ ७७ ॥

तेषूपस्पृश्य राजेन्द्र पदेषु नृपसत्तम ।
यत्किंचिदशुभं कर्म तत्प्रणश्यति भारत ॥ ७८ ॥
हे भारत! हे नृपसत्तम! हे राजेन्द्र! वहां उन पैरोंका स्पर्श करनेसे जो कुछ पाप किया है, वह सब नष्ट हो जाता है ॥ ७८ ॥

ततो गृध्रवटं गच्छेत्स्थानं देवस्य धीमतः ।
स्नायीत भस्मना तत्र अभिगम्य वृषध्वजम् ॥ ७९ ॥
हे राजेन्द्र! वहांसे गृध्रवटको जाये, वह ज्ञानवान् महादेवका स्थान है, वहां भगवान् शिवके पास जाकर भस्मसे स्नान करे ॥ ७९ ॥

ब्राह्मणेन भवेच्चीर्णं व्रतं द्वादशवार्षिकम् ।
इतरेषां तु वर्णानां सर्वपापं प्रणश्यति ॥ ८० ॥
उससे ब्राह्मणको बारह वर्षतक व्रत करनेका फल मिलता है और अन्यवर्णोंके लोगोंके सब पाप नष्ट हो जाते हैं ॥ ८० ॥

गच्छेत तत उद्यन्तं पर्वतं गीतनादितम् ।
सावित्रं तु पदं तत्र दृश्यते भरतर्षभ ॥ ८१ ॥
वहांसे गीतोंसे गूंजते हुए उद्यत नामक पर्वतको जाये. हे भरतकुलसिंह! वहां सावित्रीके पैरोंके चिन्ह दीखते हैं ॥ ८१ ॥

तत्र सन्ध्यामुपासीत ब्राह्मणः संशितव्रतः।
उपास्ता च भवेत्सन्ध्या तेन द्वादशवार्षिकी ॥ ८२ ॥
वहां व्रतधारी ब्राह्मण संध्योपासना करे, वहां एक दिन संध्या करनेसे बारह वर्षकी सन्ध्याका फल प्राप्त होता है ॥ ८२ ॥

योनिद्वारं च तत्रैव विश्रुतं भरतर्षभ।
तत्राभिगम्य मुच्येत पुरुषो योनिसंकरात् ॥ ८३ ॥
हे भरतश्रेष्ठ! वहीं योनिद्वार नामक तीर्थ प्रसिद्ध है। वहां जानेसे पुरुष जन्मसंकरके दुःखसे छूट जाता है ॥ ८३ ॥

कृष्णशुक्लावुभौ पक्षौ गयायां यो वसेन्नरः।
पुनात्यासप्तमं राजन्कुलं नास्त्यत्र संशयः ॥ ८४ ॥
जो पुरुष शुक्ल और कृष्ण ऐसे दोनों पक्षोंतक गयामें रहता है, हे राजन्! निस्सन्देह वह अपने कुलके सात पुरुषोंको पवित्र करता है ॥ ८४ ॥

एष्टव्या बहवः पुत्रा यद्येकोऽपि गयां व्रजेत्।
यजेत वाश्वमेधेन नीलं वा वृषमुत्सृजेत् ॥ ८५ ॥
हे राजेन्द्र! बहुत पुत्रोंकी इच्छा करनी चाहिये, कदाचित् उनमें एक पुत्र भी गयाको चला जाये और अश्वमेध करे अथवा काले बैलको छोड दे, तो उद्धार हो जायेगा ॥ ८५ ॥

ततः फल्गुं व्रजेद्राजंस्तीर्थसेवी नराधिप।
अश्वमेधमवाप्नोति सिद्धिं च महतीं व्रजेत् ॥ ८६ ॥
हे राजन्! वहांसे तीर्थसेवी पुरुष फल्गुको जाय, हे नराधिप! वहां जानेसे अश्वमेध यज्ञका फल पाता है और महासिद्धि प्राप्त करता है ॥ ८६ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र धर्मपृष्ठं समाहितः।
यत्र धर्मो महाराज नित्यमास्ते युधिष्ठिर।
अभिगम्य नरस्तत्र वाजिमेधफलं लभेत् ॥ ८७ ॥
हे युधिष्ठिर! हे राजेन्द्र! हे महाराज! वहांसे सावधान पुरुष धर्मपृष्ठ तीर्थको जाये, हे युधिष्ठिर महाराज! वहां सदा ही धर्म वास करते हैं, वहां जानेसे अश्वमेध यज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ ८७ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र ब्रह्मणस्तीर्थमुत्तमम्।
तत्रार्चयित्वा राजेन्द्र ब्रह्माणममितौजसम्।
राजसूयाश्वमेधाभ्यां फलं प्राप्नोति मानवः ॥ ८८ ॥
हे राजेन्द्र! वहांसे ब्रह्माके उत्तम स्थानको जाये। वहां अत्यन्त तेजस्वी ब्रह्माकी पूजा करनेसे अश्वमेध और राजसूय यज्ञोंके फलोंको मनुष्य प्राप्त करता है ॥ ८८ ॥

ततो राजगृहं गच्छेत्तीर्थसेवी नराधिप ।
उपस्पृश्य तपोदेषु काक्षीवानिव मोदते ॥ ८९ ॥

इसके बाद, हे नराधिप! तीर्थसेवी पुरुष राजगृह तीर्थको जाये, वहां तीर्थोंका स्पर्श करनेसे पुरुषको कक्षीवान्के समान आनन्द प्राप्त होता है ॥ ८९ ॥

यक्षिण्या नैत्यकं तत्र प्राश्नीत पुरुषः शुचिः ।
यक्षिण्यास्तु प्रसादेन मुच्यते भ्रूणहत्यया ॥ ९० ॥

वहां पवित्र पुरुष यक्षिणीको नैवेद्य लगाकर भोजन करे, तो यक्षिणीके प्रसादसे पुरुष भ्रूण-हत्यासे छूट जाता है ॥ ९० ॥

मणिनागं ततो गत्वा गोसहस्रफलं लभेत् ।
नैत्यकं भुञ्जते यस्तु मणिनागस्य मानवः ॥ ९१ ॥

इसके बाद मणिनाग तीर्थमें जानेसे हजार गोदानका फल प्राप्त होता है । मणिनाग तीर्थमें उत्पन्न हुई वस्तुओंको जो पुरुष खाता है ॥ ९१ ॥

दष्टस्याशीविषेणापि न तस्य क्रमते विषम् ।
तत्रोष्य रजनीमेकां सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ९२ ॥

विषैले सर्पके काटनेपर भी उसके विष नहीं चढता, वहां एक रात रहनेसे सब पापोंसे छूट जाता है ॥ ९२ ॥

ततो गच्छेत ब्रह्मर्षेर्गौतमस्य वनं नृप ।
अहल्याया ह्रदे स्नात्वा व्रजेत परमां गतिम् ।
अभिगम्य श्रियं राजन्विन्दते श्रियमुत्तमाम् ॥ ९३ ॥

वहांसे, हे राजन्! ब्रह्मर्षि गौतमके वनमें जाये, वहां अहल्या ह्रदमें स्नान करके परमगतिको प्राप्त करे । हे राजन्! गौतमके आश्रममें जानेसे पुरुष अपनी शोभाको प्राप्त करता है ॥ ९३ ॥

तत्रोदपानो धर्मज्ञ त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ।
तत्राभिषेकं कृत्वा तु वाजिमेधमवाप्नुयात् ॥ ९४ ॥

हे धर्मज्ञ! वहां तीनों लोकोंमें विख्यात एक तडाग है, उसमें स्नान करनेसे अश्वमेधका फल प्राप्त होता है ॥ ९४ ॥

जनकस्य तु राजर्षेः कूपस्त्रिदशपूजितः ।
तत्राभिषेकं कृत्वा तु विष्णुलोकमवाप्नुयात् ॥ ९५ ॥

वहांसे आगे राजर्षि जनकका कुआं है, उसकी देवता लोग भी पूजा करते हैं, उसमें स्नान करनेसे विष्णुलोक मिलता है ॥ ९५ ॥

ततो विनशनं गच्छेत्सर्वपापप्रमोचनम् ।
वाजपेयमवाप्नोति सोमलोकं च गच्छति ॥ ९६ ॥

वहांसे सब पापका नाश करनेवाले विनशन तीर्थको जाये, वहां जानेसे वाजपेय यज्ञका फल प्राप्त करता है और चन्द्रलोकको जाता है ॥ ९६ ॥

गण्डकीं तु समासाद्य सर्वतीर्थजलोद्भवाम् ।
वाजपेयमवाप्नोति सूर्यलोकं च गच्छति ॥ ९७ ॥

हे धर्मज्ञ ! वहांसे चलकर सब तीर्थोंके जलसे उत्पन्न गण्डकी नदीको जाये, वहां जानेसे मनुष्य वाजपेय यज्ञका फल पाता है और सूर्यलोकको जाता है ॥ ९७ ॥

ततोऽधिवंश्यं धर्मज्ञ समाविश्य तपोवनम् ।
गुह्यकेषु महाराज मोदते नात्र संशयः ॥ ९८ ॥

हे धर्मज्ञ ! वहांसे अधिवंश्य नामक तपोवनको जाये, वहां जानेसे निःसन्देह गुह्यकोंमें आनन्द प्राप्त करता है ॥ ९८ ॥

कम्पनां तु समासाद्य नदीं सिद्धनिषेविताम् ।
पुण्डरीकमवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति ॥ ९९ ॥

वहांसे सिद्धोंसे सेवित कम्पना नदीको जानेसे मनुष्य पुण्डरीक यज्ञका फल पाता है और सूर्यलोकको जाता है ॥ ९९ ॥

ततो विशालामासाद्य नदीं त्रैलोक्यविश्रुताम् ।
अग्निष्टोममवाप्नोति सूर्यलोकं च गच्छति ॥ १०० ॥

इसके बाद वहांसे तीनों लोकोंमें विख्यात विशाला नदीको जाकर मनुष्य अग्निष्टोमके फलको पाता है और स्वर्गलोकको जाता है ॥ १०० ॥

अथ माहेश्वरीं धारां समासाद्य नराधिप।
अश्वमेधमवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ॥ १०१ ॥

हे पृथ्वीनाथ ! माहेश्वरी धारामें जानेसे अश्वमेधका फल मिलता है और कुलका उद्धार होता है ॥ १०१ ॥

दिवौकसां पुष्करिणीं समासाद्य नरः शुचिः ।
न दुर्गतिमवाप्नोति वाजपेयं च विन्दति ॥ १०२ ॥

पवित्र मनुष्यके देवोंकी पुष्करिणीमें जानेसे दुर्गति नहीं होती और उसे अश्वमेधका फल प्राप्त होता है ॥ १०२ ॥

महेश्वरपदं गच्छेद्ब्रह्मचारी समाहितः ।
महेश्वरपदे स्नात्वा वाजिमेधफलं लभेत् ॥ १०३ ॥

अनन्तर पुरुष ब्रह्मचारी और सावधान होकर महेश्वरपद तीर्थको जाये, वहां महेश्वरपदमें स्नान करनेसे अश्वमेध यज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ १०३ ॥

तत्र कोटिस्तु तीर्थानां विश्रुता भरतर्षभ ।
कूर्मरूपेण राजेन्द्र असुरेण दुरात्मना ।
ह्रियमाणाहृता राजन्विष्णुना प्रभविष्णुना ॥ १०४ ॥

हे राजेन्द्र ! हमने सुना है, कि वहां एक करोड तीर्थ इकट्ठे हैं, पहले उन तीर्थोंको दुरात्मा राक्षस ले गया था, तब जगत्कर्ता विष्णुने कच्छपरूप धारण करके उससे छीनकर वहीं स्थापित कर दिये हैं ॥ १०४ ॥

तत्राभिषेकं कुर्वाणस्तीर्थकोट्यां युधिष्ठिर ।
पुण्डरीकमवाप्नोति विष्णुलोकं च गच्छति ॥ १०५ ॥

हे युधिष्ठिर ! उस तीर्थ कोटिमें स्नान करनेसे पुण्डरीक यज्ञका फल प्राप्त होता है और वह विष्णुलोकको जाता है ॥ १०५ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र स्थानं नारायणस्य तु ।
सदा संनिहितो यत्र हरिर्वसति भारत ।
शालग्राम इति ख्यातो विष्णोरद्भुतकर्मणः ॥ १०६ ॥

हे राजेन्द्र ! वहांसे नारायणके स्थानको जाये, हे भारत ! जहां सदा विष्णु वास करते हैं वहांपर अद्भुत कर्मवाले शालग्राम नामक विष्णु निवास करते हैं ॥ १०६ ॥

अभिगम्य त्रिलोकेशं वरदं विष्णुमव्ययम् ।
अश्वमेधमवाप्नोति विष्णुलोकं च गच्छति ॥ १०७ ॥

उस अव्यय, वरदान देनेवाले, तीनों लोकोंके नाथ विष्णुके दर्शन करनेसे अश्वमेध यज्ञका फल और विष्णुलोक मिलता है ॥ १०७ ॥

तत्रोदपानो धर्मज्ञ सर्वपापप्रमोचनः ।
समुद्रास्तत्र चत्वारः कूपे संनिहिताः सदा ।
तत्रोपस्पृश्य राजेन्द्र न दुर्गतिमवाप्नुयात् ॥ १०८ ॥

हे धर्मज्ञ ! वहां अल्प दानसे भी सब पाप नष्ट होते हैं, उस कुंएमें चारों समुद्र सदा वास करते हैं, हे राजेन्द्र ! वहां जलका स्पर्श करनेसे पुरुषको कभी दुर्गति नहीं होती ॥ १०८ ॥

अभिगम्य महादेवं वरदं विष्णुमव्ययम्।
विराजति यथा सोम ऋणैर्मुक्तो युधिष्ठिर ॥ १०९ ॥

हे युधिष्ठिर! वहीं वरदान देनेवाले अव्यय महादेवका स्थान है, उनका दर्शन करनेसे पुरुष ऋणसे मुक्त होकर ऐसा शोभित होता है, जैसे चन्द्रमा ॥ १०९ ॥

जातिस्मर उपस्पृश्य शुचिः प्रयतमानसः।
जातिस्मरत्वं प्राप्नोति स्नात्वा तत्र न संशयः ॥ ११० ॥

आगे जातिस्मर तीर्थका स्पर्श करनेसे और स्थिरचित्त तथा पवित्र होकर स्नान करनेसे पुरुषको जातिस्मरत्व प्राप्त हो जाता है ॥ ११० ॥

वटेश्वरपुरं गत्वा अर्चयित्वा तु केशवम्।
ईप्सिताँल्लभते कामानुपवासान्न संशयः ॥ १११ ॥

वहांसे वटेश्वरपुरमें जाकर केशवकी पूजा करनी चाहिये, वहां उपवास करनेसे मनकी इच्छायें पूरी होती हैं ॥ १११ ॥

ततस्तु वामनं गत्वा सर्वपापप्रमोचनम्।
अभिवाद्य हरिं देवं न दुर्गतिमवाप्नुयात् ॥ ११२ ॥

वहांसे सब पापोंके नाश करनेवाले वामन तीर्थको जाना चाहिये, वहां देव विष्णुको प्रणाम करनेसे पुरुषकी दुर्गति नहीं होती ॥ ११२ ॥

भरतस्याश्रमं गत्वा सर्वपापप्रमोचनम्।
कौशिकीं तत्र सेवेत महापातकनाशिनीम्।
राजसूयस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः ॥ ११३ ॥

वहांसे भरतके आश्रमको जाये, यह स्थान सब पापोंका नाश करनेवाला है, वहां सब पापोंका नाश करनेवाली कौशिकी नदीमें स्नान करनेसे पुरुषको राजसूय यज्ञका फल मिलता है ॥ ११३ ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ चम्पकारण्यमुत्तमम्।
तत्रोष्य रजनीमेकां गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ११४ ॥

हे धर्मज्ञ! वहांसे उत्तम चम्पकारण्यको जाये, वहां एकरात रहनेसे हजार गोदानका फल प्राप्त होता है ॥ ११४ ॥

अथ ज्येष्ठिलमासाद्य तीर्थं परमसंमतम्।
उपोष्य रजनीमेकामग्निष्टोमफलं लभेत् ॥ ११५ ॥

वहांसे अत्यन्त प्रिय ज्येष्ठिल तीर्थमें जाकर एकरात रहनेसे अग्निष्टोमका फल प्राप्त होता है ॥ ११५ ॥

तत्र विश्वेश्वरं दृष्ट्वा देव्या सह महाद्युतिम् ।
मित्रावरुणयोर्लोकानाप्नोति पुरुषर्षभ ॥ ११६ ॥

हे पुरुषसिंह ! वहां पार्वतीके सहित महातेजस्वी शिवके दर्शन करनेसे पुरुषको मित्रावरुणका लोक मिलता है ॥ ११६ ॥

कन्यासंवेद्यमासाद्य नियतो नियताशनः ।
मनोः प्रजापतेर्लोकानाप्नोति भरतर्षभ ॥ ११७ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! वहांसे कन्यासंवेद्य तीर्थमें जाये, वहां नियतभोजी और स्थिर मन होकर रहनेसे मनु प्रजापतिका लोक मिलता है ॥ ११७ ॥

कन्यायां ये प्रयच्छन्ति पानमन्नं च भारत ।
तदक्षयमिति प्राहुर्ऋषयः संशितव्रताः ॥ ११८ ॥

हे भरतर्षभ ! उत्तम व्रतधारी ऋषियोंने कहा है, कि कन्यासंवेद्यमें जो पान और अन्न देता है, वह अक्षय होता है ॥ ११८ ॥

निश्चीरां च समासाद्य त्रिषु लोकेषु विश्रुताम् ।
अश्वमेधमवाप्नोति विष्णुलोकं च गच्छति ॥ ११९ ॥

वहांसे तीनों लोकोंमें विख्यात निश्चीरा तीर्थमें जाये, वहां जानेसे अश्वमेध यज्ञका फल प्राप्त होता है और विष्णुलोक मिलता है ॥ ११९ ॥

ये तु दानं प्रयच्छन्ति निश्चीरासंगमे नराः ।
ते यान्ति नरशार्दूल ब्रह्मलोकं न संशयः ॥ १२० ॥

हे नरशार्दूल ! जो पुरुष निश्चीरा सङ्गममें कुछ दान देते हैं, वे निस्सन्देह ब्रह्मलोकको जाते हैं ॥ १२० ॥

तत्राश्रमो वसिष्ठस्य त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ।
तत्राभिषेकं कुर्वाणो वाजपेयमवाप्नुयात् ॥ १२१ ॥

वहीं तीनों लोकोंमें विख्यात वसिष्ठ मुनिका आश्रम है, उसमें स्नान करनेवाला पुरुष वाजपेय यज्ञका फल पाता है ॥ १२१ ॥

देवकूटं समासाद्य ब्रह्मर्षिगणसेवितम् ।
अश्वमेधमवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ॥ १२२ ॥

वहांसे देवों और ऋषियोंसे सेवित देवकूट तीर्थमें जानेसे पुरुष अश्वमेध यज्ञका फल पाता है और अपने कुलका उद्धार करता है ॥ १२२ ॥

×

ततो गच्छेत राजेन्द्र कौशिकस्य मुनेर्हृदम्।
यत्र सिद्धिं परां प्राप्तो विश्वामित्रोऽथ कौशिकः ॥ १२३ ॥
हे राजेन्द्र! वहांसे कौशिक मुनिके तडागको जाये, जहां कुशिकपुत्र विश्वामित्र मुनिको महासिद्धि प्राप्त हुई थी ॥ १२३ ॥

तत्र मासं वसेद्वीर कौशिक्यां भरतर्षभ।
अश्वमेधस्य यत्पुण्यं तन्मासेनाधिगच्छति ॥ १२४ ॥
हे भरतर्षभ! हे वीर! वहां कौशिकीमें एक महिना रहनेसे अश्वमेध यज्ञका जो फल होता है, उसे वह एक ही मासमें प्राप्त कर लेता है ॥ १२४ ॥

सर्वतीर्थवरे चैव यो वसेत महाहृदे।
न दुर्गतिमवाप्नोति विन्देद्बहु सुवर्णकम् ॥ १२५ ॥
सब तीर्थोंसे उत्तम उस महा तडागपर जो रहता है, उस पुरुषको दुर्गति कभी प्राप्त नहीं होती और बहु सुवर्ण प्राप्त होता है ॥ १२५ ॥

कुमारमभिगत्वा च वीराश्रमनिवासिनम्।
अश्वमेधमवाप्नोति नरो नास्त्यत्र संशयः ॥ १२६ ॥
वीराश्रममें वास करके कुमारका दर्शन करनेवाले पुरुषको अश्वमेधका फल प्राप्त होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं ॥ १२६ ॥

अग्निधारां समासाद्य त्रिषु लोकेषु विश्रुताम्।
अग्निष्टोममवाप्नोति न च स्वर्गान्निवर्तते ॥ १२७ ॥
वहांसे तीनों लोकोंमें विख्यात अग्निधारा तीर्थपर जाये, वहां जानेसे अग्निष्टोम यज्ञका फल प्राप्त होता है और वह स्वर्गलोकसे कभी लौटता नहीं ॥ १२७ ॥

पितामहसरो गत्वा शैलराजप्रतिष्ठितम्।
तत्राभिषेकं कुर्वाणो अग्निष्टोमफलं लभेत् ॥ १२८ ॥
वहांसे पर्वतमें स्थित ब्रह्मसरमें जाकर उस सरमें स्नान करनेसे अग्निष्टोम यज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ १२८ ॥

पितामहस्य सरसः प्रसुता लोकपावनी।
कुमारधारा तत्रैव त्रिषु लोकेषु विश्रुता ॥ १२९ ॥
वहीं उसी ब्रह्मसरसे निकलनेवाली लोकपावन त्रैलोक्यमें प्रसिद्ध कुमारधारा है ॥ १२९ ॥

यत्र स्नात्वा कृतार्थोऽस्मीत्यात्मानमवगच्छति।
षष्ठकालोपवासेन मुच्यते ब्रह्महत्यया ॥ १३० ॥
उसमें स्नान करनेसे पुरुष समझ लेता है कि मैं कृतार्थ हुआ, वहां छठे कालका व्रत करनेसे पुरुष ब्रह्महत्यासे छूट जाता है ॥ १३० ॥

शिखरं वै महादेव्या गौर्यास्त्रैलोक्यविश्रुतम् ।
समारुह्य नरः श्राद्धः स्तनकुण्डेषु संविशेत् ॥ १३१ ॥

तीनों लोकोंमें विख्यात महादेवी गौरीके शिखरपर जायें, वहां शिखरपर चढकर मनुष्य स्तनकुण्डमें स्नान करे ॥ १३१ ॥

तत्राभिषेकं कुर्वाणः पितृदेवार्चने रतः ।
हयमेधमवाप्नोति शक्रलोकं च गच्छति ॥ १३२ ॥

वहां स्नान करके तथा पितरों और देवताओंकी पूजा करनेवाले पुरुषको अश्वमेध यज्ञका फल मिलता है और वह इन्द्रलोक प्राप्त करता है ॥ १३२ ॥

ताम्रारुणं समासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः ।
अश्वमेधमवाप्नोति शक्रलोकं च गच्छति ॥ १३३ ॥

आगे ब्रह्मचारी और सावधान होकर मनुष्य ताम्रारुण तीर्थको जाकर अश्वमेध यज्ञका फल पाता है और इन्द्रलोकको जाता है ॥ १३३ ॥

नन्दिन्यां च समासाद्य कूपं त्रिदशसेवितम् ।
नरमेधस्य यत्पुण्यं तत्प्राप्नोति कुरूद्वह ॥ १३४ ॥

हे कुरुश्रेष्ठ ! नन्दिनीमें जाकर देवकुएंमें स्नान करनेसे नरमेध यज्ञका जो पुण्य है, वह पाता है ॥ १३४ ॥

कालिकासंगमे स्नात्वा कौशिक्यारुणयोर्यतः ।
त्रिरात्रोपोषितो विद्वान्सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ १३५ ॥

आगे कालिका, कौशिकी और अरुणाके सङ्गममें स्नान करके तीन दिन व्रत करनेसे, हे विद्वान् ! पुरुष सब पापोंसे छूट जाता है ॥ १३५ ॥

उर्वशीतीर्थमासाद्य ततः सोमाश्रमं बुधः ।
कुम्भकर्णाश्रमे स्नात्वा पूज्यते भुवि मानवः ॥ १३६ ॥

वहांसे पण्डित उर्वशी तीर्थ सोमाश्रम और कुम्भकर्णाश्रमको जानेसे पुरुष जगत्में पूजाके योग्य हो जाता है ॥ १३६ ॥

स्नात्वा कोकामुखे पुण्ये ब्रह्मचारी यतव्रतः ।
जातिस्मरत्वं प्राप्नोति दृष्टमेतत्पुरातने ॥ १३७ ॥

आगे व्रतधारी और ब्रह्मचारी होकर मनुष्य पुण्य कोकामुख तीर्थमें जाये, वहां जानेसे पुरुषको पूर्वजन्मका स्मरण हो जाता है, यह पुराने पुरुषोंने देखा है ॥ १३७ ॥

सकृन्नन्दां समासाद्य कृतात्मा भवति द्विजः ।
सर्वपापविशुद्धात्मा शक्रलोकं च गच्छति ॥ १३८ ॥

ब्राह्मण नन्दा नदीमें एकबार स्नान करनेसे पवित्रात्मा हो जाता है और सब पापोंसे छूटकर इन्द्रलोकमें जाता है ॥ १३८ ॥

ऋषभद्वीपमासाद्य सेव्यं क्रौञ्चनिषूदनम् ।
सरस्वत्यामुपस्पृश्य विमानस्थो विराजते ॥ १३९ ॥

वहांसे पवित्र और क्रौंचको मारनेवाले ऋषभद्वीपमें जाकर सरस्वतीका स्पर्श करनेसे पुरुष विमानमें चढकर शोभित होता है ॥ १३९ ॥

औद्दालकं महाराज तीर्थं मुनिनिषेवितम् ।
तत्राभिषेकं कुर्वीत सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ १४० ॥

हे महाराज ! वहांसे मुनियोंसे सेवित औद्दालक तीर्थमें जाये, वहां स्नान करनेसे मनुष्य सब पापोंसे छूट जाता है ॥ १४० ॥

धर्मतीर्थं समासाद्य पुण्यं ब्रह्मर्षिसेवितम् ।
वाजपेयमवाप्नोति नरो नास्त्यत्र संशयः ॥ १४१ ॥

वहांसे ब्रह्मर्षिसेवित धर्मतीर्थमें जानेसे वाजपेय यज्ञका फल मिलता है इसमें कोई संशय नहीं ॥ १४१ ॥

तथा चम्पां समासाद्य भागीरथ्यां कृतोदकः ।
दण्डार्कमभिगम्यैव गोसहस्रफलं लभेत् ॥ १४२ ॥

वहांसे चम्पामें जाकर गङ्गामें स्नान करे और दण्डार्क तीर्थमें जाये, तो हजार गोदानका फल प्राप्त होता है ॥ १४२ ॥

लवेडिकां ततो गच्छेत्पुण्यां पुण्योपसेविताम् ।
वाजपेयमवाप्नोति विमानस्थश्च पूज्यते ॥ १४३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि द्व्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८२ ॥ ३१८२ ॥

वहांसे पुण्यशालियों द्वारा सेवित पुण्यदायक लवेडिका तीर्थमें जाए, वहां जाने पर मनुष्य वाजपेयका फल पाता है और विमानमें बैठाकर पूजा जाता है ॥ १४३ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें बयासीवां अध्याय समाप्त ॥ ८२ ॥ ३१८२ ॥

: ८३ :

पुलस्त्य उवाच

अथ सन्ध्यां समासाद्य संवेद्यं तीर्थमुत्तमम् ।
उपस्पृश्य नरो विद्वान्भवेन्नास्त्यत्र संशयः ॥ १ ॥

पुलस्त्य बोले– हे राजेन्द्र ! उत्तम संध्यासमयमें संवेद्य तीर्थमें जाकर स्नान करनेसे पुरुष निःसन्देह विद्वान् होता है ॥ १ ॥

रामस्य च प्रसादेन तीर्थं राजन्कृतं पुरा ।
तल्लोहित्यं समासाद्य विन्द्याद्बहु सुवर्णकम् ॥ २ ॥

हे राजन् ! जिस तीर्थको पहले रामने अपने प्रसादसे किया था, उस लौहित्य तीर्थमें जानेसे पुरुषको बहुत सुवर्ण मिलता है ॥ २ ॥

करतोयां समासाद्य त्रिरात्रोपोषितो नरः ।
अश्वमेधमवाप्नोति कृते पैतामहे विधौ ॥ ३ ॥

आगे करतोया नदीमें जाकर तीन दिन व्रत करनेसे पुरुषको अश्वमेध यज्ञका फल होता है, यह नियम प्रजापतिका किया हुआ है ॥ ३ ॥

गङ्गायास्त्वथ राजेन्द्र सागरस्य च संगमे ।
अश्वमेधं दशगुणं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ४ ॥

हे राजन् ! पण्डित लोग कहते हैं, कि गङ्गा और समुद्रके सङ्गममें स्नान करनेसे दस अश्वमेध यज्ञोंका फल होता है ॥ ४ ॥

गङ्गायास्त्वपरं द्वीपं प्राप्य यः स्नाति भारत ।
त्रिरात्रोपोषितो राजन्सर्वकामानवाप्नुयात् ॥ ५ ॥

हे भारत ! पुरुष गङ्गाके दूसरे द्वीपमें जाकर स्नान करता है और वहां तीन रोज वास करता है, तो वह पुरुष सब कामनाओंको प्राप्त करता है ॥ ५ ॥

ततो वैतरणीं गत्वा नदीं पापप्रमोचनीम् ।
विरजं तीर्थमासाद्य विराजति यथा शशी ॥ ६ ॥

वहांसे सब पापोंके नाश करनेवाली वैतरणी नदीपर जाय, वहां विरज तीर्थमें स्नान करनेसे चन्द्रमाके समान निर्मल हो जाता है ॥ ६ ॥

प्रभवेच्च कुले पुण्ये सर्वपापं व्यपोहति ।
गोसहस्रफलं लब्ध्वा पुनाति च कुलं नरः ॥ ७ ॥

उसका सब पाप नष्ट हो जाता है और वह उत्तम कुलमें जन्म लेता है, उसे हजार गोदानका फल मिलता है और कुलको पवित्र करता है ॥ ७ ॥

शोणस्य ज्योतिरथ्यायाश्च संगमे निवसञ्छुचिः।
तर्पयित्वा पितॄन्देवानग्निष्टोमफलं लभेत् ॥ ८ ॥

वहांसे पवित्र और नियत होकर शोण और ज्योतिरथ्या नदीके सङ्गममें जाये, वहां पवित्र होकर पितर और देवताओंका तर्पण करनेसे अग्निष्टोम यज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

शोणस्य नर्मदायाश्च प्रभवे कुरुनन्दन।
वंशगुल्म उपस्पृश्य वाजिमेधफलं लभेत् ॥ ९ ॥

हे राजन्! आगे उस स्थानमें जाये, जहां शोण और नर्मदा उत्पन्न हुई हैं, वहां बांसोंके झुण्डका स्पर्श करनेसे अश्वमेध यज्ञका फल होता है ॥ ९ ॥

ऋषभं तीर्थमासाद्य कोशलायां नराधिप।
वाजपेयमवाप्नोति त्रिरात्रोपोषितो नरः ॥ १० ॥

हे नरनाथ! आगे कोशला नदीमें जाकर ऋषभ तीर्थमें स्नान करे, वहां तीन दिन उपोषित रहनेसे वाजपेय यज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ १० ॥

कोशलायां समासाद्य कालतीर्थ उपस्पृशेत्।
वृषभैकादशफलं लभते नात्र संशयः ॥ ११ ॥

वहांसे कोशला नदीमें जाकर कालतीर्थका स्पर्श करे, तो निःसन्देह ग्यारह बैल छोडनेका फल प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

पुष्पवत्यामुपस्पृश्य त्रिरात्रोपोषितो नरः।
गोसहस्रफलं विन्द्यात्कुलं चैव समुद्धरेत् ॥ १२ ॥

हे राजन्! पुष्पवतीको स्पर्श करके तीन दिन उपोषित रहनेसे सहस्र गोदानका फल मिलता है और कुलका उद्धार होता है ॥ १२ ॥

ततो बदरिकातीर्थे स्नात्वा प्रयतमानसः।
दीर्घमायुरवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति ॥ १३ ॥

वहांसे यत्नवान् होकर बदरिका नामक तीर्थमें स्नान करे, उसमें स्नान करनेसे पुरुष दीर्घ आयु प्राप्त करता है और स्वर्ग जाता है ॥ १३ ॥

ततो महेन्द्रमासाद्य जामदग्न्यनिषेवितम्।
रामतीर्थे नरः स्नात्वा वाजिमेधफलं लभेत् ॥ १४ ॥

वहांसे परशुरामके आश्रम महेन्द्र पर्वतपर जाये, वहां रामतीर्थमें स्नान करनेसे पुरुषको अश्वमेध यज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

मतङ्गस्य तु केदारस्तत्रैव कुरुनन्दन ।
तत्र स्नात्वा नरो राजन्गोसहस्रफलं लभेत् ॥ १५ ॥

हे कुरुनन्दन ! हे राजन् ! वहींपर मतङ्गकेदार नामक तीर्थ है, उसमें स्नान करनेसे पुरुषको हजार गोदानका फल प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

श्रीपर्वतं समासाद्य नदीतीर उपस्पृशेत् ।
अश्वमेधमवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति ॥ १६ ॥

वहांसे श्रीपर्वतमें जाकर नदीके तीरपर स्नान करनेसे मनुष्यको अश्वमेध यज्ञका फल प्राप्त होता है और वह स्वर्गलोकको जाता है ॥ १६ ॥

श्रीपर्वते महादेवो देव्या सह महाद्युतिः ।
न्यवसत्परमप्रीतो ब्रह्मा च त्रिदशैर्वृतः ॥ १७ ॥

श्रीपर्वतपर महातेजस्वी शिव पार्वतीके सहित निवास करते थे और देवताओंके सहित ब्रह्मा वहीं निवास करते थे ॥ १७ ॥

तत्र देवह्रदे स्नात्वा शुचिः प्रयतमानसः ।
अश्वमेधमवाप्नोति परां सिद्धिं च गच्छति ॥ १८ ॥

वहां पुरुष पवित्र और स्थिर मनवाला होकर देवह्रदमें स्नान करे तो उसे अश्वमेध यज्ञका फल और परम सिद्धि मिलती है ॥ १८ ॥

ऋषभं पर्वतं गत्वा पाण्ड्येषु सुरपूजितम् ।
वाजपेयमवाप्नोति नाकपृष्ठे च मोदते ॥ १९ ॥

वहांसे पाण्ड्य देशमें जाकर देव पूजित ऋषभ नामक पर्वतपर जाये तो वाजपेय यज्ञका फल पाता है और स्वर्गमें आनन्द पाता है ॥ १९ ॥

ततो गच्छेत कावेरीं वृतामप्सरसां गणैः ।
तत्र स्नात्वा नरो राजन्गोसहस्रफलं लभेत् ॥ २० ॥

हे राजन् ! वहांसे अप्सराओंके गणोंसे सेवित कावेरी नदीको जाये, हे राजन् ! उसमें स्नान करनेसे पुरुषको हजार गोदानका फल प्राप्त होता है ॥ २० ॥

ततस्तीरे समुद्रस्य कन्यातीर्थ उपस्पृशेत् ।
तत्रोपस्पृश्य राजेन्द्र सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ २१ ॥

हे राजेन्द्र ! वहांसे चलकर समुद्रके तीरपर जाकर कन्यातीर्थका स्पर्श करे, हे राजेन्द्र ! उस जलके स्पर्श करनेहीसे सब पाप छूट जाते हैं ॥ २१ ॥

अथ गोकर्णमासाद्य त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
समुद्रमध्ये राजेन्द्र सर्वलोकनमस्कृतम् ॥ २२ ॥

हे राजेन्द्र ! आगे तीनों लोकोंमें विख्यात समुद्रके बीचमें स्थित सब लोकोंके द्वारा पूजित गोकर्ण तीर्थको जाये ॥ २२ ॥

यत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयश्च तपोधनाः ।
भूतयक्षपिशाचाश्च किंनराः समहोरगाः ॥ २३ ॥
सिद्धचारणगन्धर्वा मानुषाः पन्नगास्तथा ।
सरितः सागराः शैला उपासन्त उमापतिम् ॥ २४ ॥

जहां ब्रह्मादिक देवता, तपोधन ऋषि, भूत, यक्ष, पिशाच, किन्नर, बडे बडे सर्प, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, मनुष्य, सर्प, नदी समुद्र और पर्वत आकर उमापति शिवकी उपासना करते हैं ॥ २३-२४ ॥

तत्रेशानं समभ्यर्च्य त्रिरात्रोपोषितो नरः ।
दशाश्वमेधमाप्नोति गाणपत्यं च विन्दति ।
उष्य द्वादशरात्रं तु कृतात्मा भवते नरः ॥ २५ ॥

वहां शिवकी पूजा करके तीन दिन व्रत करके मनुष्य दस अश्वमेध यज्ञोंके फलको पाता है और उसे गणेशका पद मिलता है, यदि वहां बारह दिन रहे तो पुरुष परम कृतकृत्य हो जाता है ॥ २५ ॥

तत एव तु गायत्र्याः स्थानं त्रैलोक्यविश्रुतम् ।
त्रिरात्रमुषितस्तत्र गोसहस्रफलं लभेत् ॥ २६ ॥

वहांसे तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध गायत्रीके स्थानमें जाये, वहां तीन दिन रहनेसे हजार गोदानका फल प्राप्त होता है ॥ २६ ॥

निदर्शनं च प्रत्यक्षं ब्राह्मणानां नराधिप ।
गायत्रीं पठते यस्तु योनिसंकरजस्तथा ।
गाथा वा गीतिका वापि तस्य संपद्यते नृप ॥ २७ ॥

हे नरनाथ ! हे राजन् ! यहां ब्राह्मणोंका प्रत्यक्ष परीक्षण होता है । कि यदि कोई सङ्करजातिका उत्पन्न हुआ पुरुष अच्छी रीतिसे भी गायत्री पढे, तो भी वह गायत्री स्वरसे हीन, छन्दरहित गांवके गीतके समान हो जाती है ! ॥ २७ ॥

संवर्तस्य तु विप्रर्षेर्वापीमासाद्य दुर्लभाम् ।
रूपस्य भागी भवति सुभगश्चैव जायते ॥ २८ ॥

वहांसे चलकर दुर्लभ संवर्त मुनिकी बावडीमें स्नान करे, वहां स्नान करनेसे पुरुष सुन्दर और ऐश्वर्यवान् हो जाता है ॥ २८ ॥

ततो वेण्णां समासाद्य तर्पयेत्पितृदेवताः ।
मयूरहंससंयुक्तं विमानं लभते नरः ॥ २९ ॥

वहांसे वेण्णा नदीमें जाकर पितर और देवोंको तृप्त करे, तो पुरुषको मोर और हंस सहित विमान मिलता है ॥ २९ ॥

ततो गोदावरीं प्राप्य नित्यं सिद्धनिषेविताम् ।
गवामयमवाप्नोति वासुकेर्लोकमाप्नुयात् ॥ ३० ॥

वहांसे सदा ही सिद्धोंसे सेवित गोदावरी नदीको जाये, वहां स्नान करनेसे गोमेध यज्ञका फल और वासुकीका उत्तम लोक प्राप्त होता है ॥ ३० ॥

वेण्णायाः संगमे स्नात्वा वाजपेयफलं लभेत् ।
वरदासंगमे स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ३१ ॥

वहां वेण्णा नदीके सङ्गममें स्नान करनेसे वाजपेय यज्ञका फल प्राप्त होता है । वरदासङ्गममें स्नान करनेसे हजार गोदानका फल प्राप्त होता है ॥ ३१ ॥

ब्रह्मस्थानं समासाद्य त्रिरात्रमुषितो नरः ।
गोसहस्रफलं विन्देत्स्वर्गलोकं च गच्छति ॥ ३२ ॥

आगे ब्रह्मस्थानमें जाकर त्रिरात्र व्रत करनेसे मनुष्यको हजार गोदानका फल और स्वर्ग लोक मिलता है ॥ ३२ ॥

कुशप्लवनमासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः ।
त्रिरात्रमुषितः स्नात्वा अश्वमेधफलं लभेत् ॥ ३३ ॥

आगे ब्रह्मचारी और सावधान होकर कुशप्लवन नामक तीर्थमें जाये, वहां तीन दिन उपोषित रहकर स्नान करनेसे अश्वमेध यज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ ३३ ॥

ततो देवहृदे रम्ये कृष्णवेण्णाजलोद्भवे ।
जातिमात्रहृदे चैव तथा कन्याश्रमे नृप ॥ ३४ ॥

हे राजन् ! वहांसे वनमें जाकर कृष्णवेण्णाके जलसे उत्पन्न हुए देवहृद तीर्थमें स्नान करे, वहीं जातिमात्र तालाब और कन्याश्रममें स्नान करे ॥ ३४ ॥

यत्र क्रतुशतैरिष्ट्वा देवराजो दिवं गतः ।
अग्निष्टोमशतं विन्देद्गमनादेव भारत ॥ ३५ ॥

यहींपर इन्द्र सौ यज्ञकरके स्वर्गको गये थे । हे भारत ! वहां जाते ही सौ अग्निष्टोम यज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ ३५ ॥

सर्वदेवहृदे स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत्।
जातिमात्रहृदे स्नात्वा भवेज्जातिस्मरो नरः ॥ ३६ ॥
तत्र सर्व देवहृद तीर्थमें स्नान करनेसे हजार गोदानका फल प्राप्त होता है, वहां जातिमात्र तालावमें स्नान करके मनुष्य जातियोंके द्वारा स्मरणीय होता है ॥ ३६ ॥

ततोऽवाप्य महापुण्यां पयोष्णीं सरितां वराम्।
पितृदेवार्चनरतो गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ३७ ॥
वहांसे चलकर अत्यन्त पवित्र बावडी और नदियोंमें श्रेष्ठ पयोष्णीपर जाकर पितर और देवताओंकी पूजा करनेसे हजार गोदानका फल मिलता है ॥ ३७ ॥

दण्डकारण्यमासाद्य महाराज उपस्पृशेत्।
गोसहस्रफलं तत्र स्नातमात्रस्य भारत ॥ ३८ ॥
हे भारत! हे राजन्! वहांसे चलकर पुण्यप्रद दण्डकारण्यमें जाये, वहां स्नान करनेसे ही हजार गोदानका फल मिलता है ॥ ३८ ॥

शरभङ्गाश्रमं गत्वा शुकस्य च महात्मनः।
न दुर्गतिमवाप्नोति पुनाति च कुलं नरः ॥ ३९ ॥
वहांसे शरभङ्ग और महात्मा शुकके आश्रमपर जानेसे पुरुष कभी दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता और अपने कुलको पवित्र करता है ॥ ३९ ॥

ततः शूर्पारकं गच्छेज्जामदग्न्यनिषेवितम्।
रामतीर्थे नरः स्नात्वा विन्द्याद्बहु सुवर्णकम् ॥ ४० ॥
वहांसे परशुरामसे सेवित शूर्पारक तीर्थमें जाये, वहां रामतीर्थमें स्नान करनेसे बहुत सुवर्ण मिलता है ॥ ४० ॥

सप्तगोदावरे स्नात्वा नियतो नियताशनः।
महत्पुण्यमवाप्नोति देवलोकं च गच्छति ॥ ४१ ॥
आगे जिताहारी और संयमी होकर सप्तगोदावर तीर्थमें स्नान करे, वहां स्नान करनेसे पुरुषको महापुण्य मिलता है और वह स्वर्गलोकको जाता है ॥ ४१ ॥

ततो देवपथं गच्छेन्नियतो नियताशनः।
देवसत्रस्य यत्पुण्यं तदवाप्नोति मानवः ॥ ४२ ॥
आगे जितेन्द्रिय और नियमसे भोजन करनेवाला होकर देवताओंके मार्गमें जानेसे पुरुष देवसत्रका जो पुण्य है उसे पाता है ॥ ४२ ॥

तुङ्गकारण्यमासाद्य ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ।
वेदानध्यापयत्तत्र ऋषिः सारस्वतः पुरा ॥ ४३ ॥

आगे ब्रह्मचारी और जितेन्द्रिय होकर तुङ्गकारण्यको जाये, वहींपर पहले सारस्वत मुनि वेदोंको पढाते थे ॥ ४३ ॥

तत्र वेदान्प्रनष्टांस्तु मुनेराङ्गिरसः सुतः ।
उपविष्टो महर्षीणामुत्तरीयेषु भारत ॥ ४४ ॥

हे भारत ! जब वेद नष्ट हो गये तब अङ्गिरा मुनिके पुत्र महा ऋषियोंके वस्त्रोंमें बैठ गये ॥ ४४ ॥

ॐकारेण यथान्यायं सम्यगुच्चारितेन च ।
येन यत्पूर्वमभ्यस्तं तत्तस्य समुपस्थितम् ॥ ४५ ॥

वहां विधिपूर्वक यथोचित उन्होंने ओंकारका उच्चारण किया, ऐसा करते ही सब मुनियोंको उन्होंने पहले जैसा अभ्यास किया था, वैसा पाठ याद हो गया ॥ ४५ ॥

ऋषयस्तत्र देवाश्च वरुणोऽग्निः प्रजापतिः ।
हरिर्नारायणो देवो महादेवस्तथैव च ॥ ४६ ॥
पितामहश्च भगवान्देवैः सह महाद्युतिः ।
भृगुं नियोजयामास याजनार्थे महाद्युतिम् ॥ ४७ ॥

वहीं देवता, ऋषि, वरुण, अग्नि, प्रजापति, विष्णु, नारायण, शिव और सब देवोंके सहित महातेजस्वी भगवान् ब्रह्माने महातेजस्वी भृगु ऋषिको यज्ञ करनेके लिए बिठलाया था ॥ ४६-४७ ॥

ततः स चक्रे भगवानृषीणां विधिवत्तदा ।
सर्वेषां पुनराधानं विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ ४८ ॥

तब भगवान् भृगु मुनिने विधिपूर्वक ऋषियोंके कार्योंको शास्त्रोक्त रीतिसे पुनराधान किया ॥ ४८ ॥

आज्यभागेन वै तत्र तर्पितास्तु यथाविधि ।
देवास्त्रिभुवनं याता ऋषयश्च यथासुखम् ॥ ४९ ॥

वहां विधिपूर्वक आज्यभागसे अग्निको सन्तुष्ट करके सब देवता और ऋषि अपने अपने स्थानको चले गये ॥ ४९ ॥

तदरण्यं प्रविष्टस्य तुङ्गकं राजसत्तम ।
पापं प्रणश्यते सर्वं स्त्रियो वा पुरुषस्य वा ॥ ५० ॥

हे राजश्रेष्ठ ! उस तुङ्गक नामक वनमें जाते ही पुरुष या स्त्रियोंके सब पाप नष्ट हो जाते हैं ॥ ५० ॥

तत्र मासं वसेद्धीरो नियतो नियताशनः ।
ब्रह्मलोकं व्रजेद्राजन्पुनीते च कुलं नरः ॥ ५१ ॥

हे राजन् ! उस स्थानमें नियमधारी धीर पुरुष थोडा भोजन करके यदि एक महीना रहे, तो ब्रह्मलोकमें जाता है और अपने कुलका उद्धार करता है ॥ ५१ ॥

मेधाविकं समासाद्य पितॄन्देवांश्च तर्पयेत् ।
अग्निष्टोममवाप्नोति स्मृतिं मेधां च विन्दति ॥ ५२ ॥

वहांसे मेधाविक तीर्थको जाये, वहां पितरों और देवताओंका तर्पण करे तो अग्निष्टोम यज्ञका फल मिलता है और स्मरण शक्ति तथा धारणा शक्ति बढती है ॥ ५२ ॥

ततः कालञ्जरं गत्वा पर्वतं लोकविश्रुतम् ।
तत्र देवह्रदे स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ५३ ॥

यहींपर तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध कालञ्जर नामक पर्वतपर जाकर देवह्रद तीर्थमें स्नान करनेसे हजार गोदानका फल प्राप्त होता है ॥ ५३ ॥

आत्मानं साधयेत्तत्र गिरौ कालञ्जरे नृप ।
स्वर्गलोके महीयेत नरो नास्त्यत्र संशयः ॥ ५४ ॥

हे नृप ! जो कोई कालञ्जर पर्वतमें जाकर अपनी उन्नति करे तो निःसन्देह वह स्वर्गलोकमें पूजा जाता है ॥ ५४ ॥

ततो गिरिवरश्रेष्ठे चित्रकूटे विशां पते ।
मन्दाकिनीं समासाद्य नदीं पापप्रमोचनीम् ॥ ५५ ॥

हे प्रजाओंके स्वामी ! वहांसे पर्वतोंमें श्रेष्ठ चित्रकूटको जाये, वहां सब पापोंको नाश करनेवाली मन्दाकिनीपर जाकर ॥ ५५ ॥

तत्राभिषेकं कुर्वाणः पितृदेवार्चने रतः ।
अश्वमेधमवाप्नोति गतिं च परमां व्रजेत् ॥ ५६ ॥

और वहां स्नान करके पितर और देवताओंकी पूजा करनेसे मनुष्य अश्वमेध यज्ञका फल पाता है और परम गतिको भी पाता है ॥ ५६ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र भर्तृस्थानमनुत्तमम् ।
यत्र देवो महासेनो नित्यं संनिहितो नृप ॥ ५७ ॥

हे राजेन्द्र ! वहांसे अत्यन्त उत्तम भर्तृस्थानको जाये, वहां देवताओंके सेनापति स्वामी कार्तिक सदा ही निवास करते हैं ॥ ५७ ॥

पुमांस्तत्र नरश्रेष्ठ गमनादेव सिध्यति ।
कोटितीर्थे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ५८ ॥

हे नृपश्रेष्ठ ! वहां जानेहीसे सिद्धिलाभ होती है, आगे कोटितीर्थमें स्नान करनेसे पुरुषको हजार गोदानका फल प्राप्त होता है ॥ ५८ ॥

प्रदक्षिणमुपावृत्य ज्येष्ठस्थानं व्रजेन्नरः ।
अभिगम्य महादेवं विराजति यथा शशी ॥ ५९ ॥

उसकी प्रदक्षिणा करके मनुष्य ज्येष्ठ स्थानको जाये, वहां महादेवकी पूजा करनेसे पुरुष चन्द्रमाके समान प्रकाशित हो जाता है ॥ ५९ ॥

तत्र कूपो महाराज विश्रुतो भरतर्षभ ।
समुद्रास्तत्र चत्वारो निवसन्ति युधिष्ठिर ॥ ६० ॥

हे भरतर्षभ ! हे महाराज युधिष्ठिर ! हमने सुना है कि वहां एक कुआं प्रसिद्ध है, उस कुएंमें चारों समुद्र बसते हैं ॥ ६० ॥

तत्रोपस्पृश्य राजेन्द्र कृत्वा चापि प्रदक्षिणम् ।
नियतात्मा नरः पूतो गच्छेत परमां गतिम् ॥ ६१ ॥

हे राजेन्द्र ! नियमधारी पुरुष वहां स्नान करके और उसकी प्रदक्षिणा करके पवित्र होकर परमगतिको प्राप्त होता है ॥ ६१ ॥

ततो गच्छेत्कुरुश्रेष्ठ शृङ्गवेरपुरं महत् ।
यत्र तीर्णो महाराज रामो दाशरथिः पुरा ॥ ६२ ॥

हे कुरुश्रेष्ठ ! वहांसे शृङ्गवेरपुरको जाये, वहीं दशरथ कुमार रामचन्द्र पहले गङ्गा पार हुए थे ॥ ६२ ॥

गङ्गायां तु नरः स्नात्वा ब्रह्मचारी समाहितः ।
विधूतपाप्मा भवति वाजपेयं च विन्दति ॥ ६३ ॥

हे महाबाहो ! ब्रह्मचारी और सावधान होकर गंगास्नान करनेसे पुरुष सब पापोंसे छूट जाता है और वाजपेयको प्राप्त होता है ॥ ६३ ॥

अभिगम्य महादेवमभ्यर्च्य च नराधिप ।
प्रदक्षिणमुपावृत्य गाणपत्यमवाप्नुयात् ॥ ६४ ॥

हे महाराज ! शिवके पास जाकर और उनकी पूजा और प्रदक्षिणा करके पुरुष गणेशका स्थान पाता है ॥ ६४ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र प्रयागमृषिसंस्तुतम्।
यत्र ब्रह्मादयो देवा दिशश्च सदिगीश्वराः ॥ ६५ ॥
हे राजेन्द्र! वहांसे ऋषि पूजित प्रयागको जाये, वहां ब्रह्मादिक देवता, दिशा, दिक्पाल ॥६५॥

लोकपालाश्च साध्याश्च नैर्ऋताः पितरस्तथा।
सनत्कुमारप्रमुखास्तथैव परमर्षयः ॥ ६६ ॥
लोकपाल, साध्य, नैर्ऋत, पितर, सनत्कुमार आदि महाऋषि ॥ ६६ ॥

अङ्गिरःप्रमुखाश्चैव तथा ब्रह्मर्षयोऽपरे।
तथा नागाः सुपर्णाश्च सिद्धाश्चक्रचरास्तथा ॥ ६७ ॥
अङ्गिरादिक निर्मल ब्रह्मर्षि, नाग, सुपर्ण सिद्ध, चक्रचर सूर्यादिक आकाशचारी ॥ ६७ ॥

सरितः सागराश्चैव गन्धर्वाप्सरसस्तथा।
हरिश्च भगवानास्ते प्रजापतिपुरस्कृतः ॥ ६८ ॥
नदी, समुद्र, गन्धर्व अप्सरा और प्रजापतिके सहित भगवान् विष्णु निवास करते हैं ॥६८॥

तत्र त्रीण्यग्निकुण्डानि येषां मध्ये च जाह्नवी।
प्रयागादभिनिष्क्रान्ता सर्वतीर्थपुरस्कृता ॥ ६९ ॥
तपनस्य सुता तत्र त्रिषु लोकेषु विश्रुता।
यमुना गङ्गया सार्धं संगता लोकपावनी ॥ ७० ॥
प्रयागमें तीन अग्निकुण्ड हैं, उनके बीचमें सब तीर्थोंके सहित प्रयागसे निकली हुई गङ्गा और तीनों लोकोंमें विख्यात सूर्यपुत्री यमुना बहती है, वहीं जगत्को पवित्र करनेवाली यमुना गङ्गासे आकर मिली है ॥ ६९-७० ॥

गङ्गायमुनयोर्मध्यं पृथिव्या जघनं स्मृतम्।
प्रयागं जघनस्यान्तमुपस्थमृषयो विदुः ॥ ७१ ॥
जहां गङ्गा और यमुनाके बीचके स्थान पृथ्वीकी जघन है। प्रयागको ऋषियोंने पृथ्वीकी योनि तथा उपस्थ कहा है ॥ ७१ ॥

प्रयागं सप्रतिष्ठानं कम्बलाश्वतरौ तथा।
तीर्थं भोगवती चैव वेदी प्रोक्ता प्रजापतेः ॥ ७२ ॥
प्रयाग, प्रतिष्ठानपुर (झांसी), कम्बलाश्वतर तीर्थ और भोगवती यह ब्रह्माकी वेदी है ॥७२॥

तत्र वेदाश्च यज्ञाश्च मूर्तिमन्तो युधिष्ठिर।
प्रजापतिमुपासन्ते ऋषयश्च महाव्रताः
यजन्ते क्रतुभिर्देवास्तथा चक्रचरा नृप ॥ ७३ ॥
राजा युधिष्ठिर! उसमें यज्ञ और वेदकी मूर्ती धारण करके रहते हैं, हे राजन्! वहां महाव्रती ऋषि ब्रह्माकी उपासना करते हैं, चक्रवर्त्ती और देवता यज्ञ करते हैं ॥ ७३ ॥

ततः पुण्यतमं नास्ति त्रिषु लोकेषु भारत ।
प्रयागः सर्वतीर्थेभ्यः प्रभवत्यधिकं विभो ॥ ७४ ॥

हे भारत ! हे राजन् ! इसीलिये तीनों लोकोंमें प्रयागसे अधिक पवित्र स्थान और कोई नहीं है । सब तीर्थोंसे प्रयागको अधिक पुण्यदायक बताते हैं ॥ ७४ ॥

श्रवणात्तस्य तीर्थस्य नामसंकीर्तनादपि ।
मृत्तिकालम्भनाद्वापि नरः पापात्प्रमुच्यते ॥ ७५ ॥

उस तीर्थका सुननेसे और उसका नाम कथन करनेसे पुरुष मृत्युके भय और पापोंसे छूट जाता है ॥ ७५ ॥

तत्राभिषेकं यः कुर्यात्संगमे संशितव्रतः ।
पुण्यं स फलमाप्नोति राजसूयाश्वमेधयोः ॥ ७६ ॥

उस गङ्गा और यमुनाके सङ्गममें जो व्रतधारी स्नान करता है, उसको राजसूय और अश्वमेधका पुण्यफल मिलता है ॥ ७६ ॥

एषा यजनभूमिर्हि देवानामपि सत्कृता ।
तत्र दत्तं सूक्ष्ममपि महद्भवति भारत ॥ ७७ ॥

हे भारत ! यह संस्कारकी हुई देवताओंके यज्ञ करनेकी भूमि है, वहां थोडा दान देनेसे भी बहुत हो जाता है ॥ ७७ ॥

न वेदवचनात्तात न लोकवचनादपि ।
मतिरुत्क्रमणीया ते प्रयागमरणं प्रति ॥ ७८ ॥

हे तात ! न वेदके वचनसे और न लोकके वचनसे प्रयागमें मरनेकी बुद्धिको त्यागना चाहिये ॥ ७८ ॥

दश तीर्थसहस्राणि षष्टिकोट्यस्तथापराः ।
येषां सांनिध्यमत्रैव कीर्तितं कुरुनन्दन ॥ ७९ ॥

हे कुरुनन्दन ! जो साठ करोड दस हजार तीर्थ कहे हैं वे सब प्रयागहीमें निवास करते हैं ऐसा कहा है ॥ ७९ ॥

चातुर्वेद्ये च यत्पुण्यं सत्यवादिषु चैव यत् ।
स्नात एव तदाप्नोति गङ्गायमुनसङ्गमे ॥ ८० ॥

चारों वेदोंका पठन और सत्य बोलनेका जो कुछ पुण्य होता है, वह पुण्य गङ्गा यमुनाके सङ्गममें स्नान करनेसे पुरुषको मिलता है, ॥ ८० ॥

तत्र भोगवती नाम वासुकेस्तीर्थमुत्तमम् ।
तत्राभिषेकं यः कुर्यात्सोऽश्वमेधमवाप्नुयात् ॥ ८१ ॥

वहां राजा वासुकिका उत्तम स्थान है, उसका नाम भोगवती है, उस उत्तम तीर्थमें जो स्नान करे उसे अश्वमेध यज्ञका फल प्राप्त होता है ॥ ८१ ॥

तत्र हंसप्रपतनं तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् ।
दशाश्वमेधिकं चैव गङ्गायां कुरुनन्दन ॥ ८२ ॥

वहीं तीनों लोकोंमें विख्यात हंसप्रपतन नामक तीर्थ है। हे कुरुनन्दन! प्रयागहीमें गङ्गाके तटपर दशाश्वमेध नामक तीर्थ है ॥ ८२ ॥

यत्र गङ्गा महाराज स देशस्तत्तपोवनम् ।
सिद्धक्षेत्रं तु तज्ज्ञेयं गङ्गातीरसमाश्रितम् ॥ ८३ ॥

हे महाराज! जहां गङ्गा है, वह देश तपोवन है, जो देश गंगाके तटपर है, वह सिद्धक्षेत्र है ऐसा ही समझना चाहिए ॥ ८३ ॥

इदं सत्यं द्विजातीनां साधूनामात्मजस्य च ।
सुहृदां च जपेत्कर्णे शिष्यस्यानुगतस्य च ॥ ८४ ॥

यह सत्य बात ब्राह्मण, साधु, पुत्र, मित्र, अनुगत शिष्य और नौकरके कानमें कह देनी चाहिये ॥ ८४ ॥

इदं धर्म्यमिदं पुण्यमिदं मेध्यमिदं सुखम् ।
इदं स्वर्ग्यमिदं रम्यमिदं पावनमुत्तमम् ॥ ८५ ॥
महर्षीणामिदं गुह्यं सर्वपापप्रमोचनम् ।
अधीत्य द्विजमध्ये च निर्मलत्वमवाप्नुयात् ॥ ८६ ॥

यह गङ्गातट धर्म्य, यह पवित्र, सुखदायक, उत्तम, स्वर्गदायक, रम्य, पवित्र करनेवाला महाऋषियोंका गुप्त स्थान और सब पापोंका नाश करनेवाला है, ब्राह्मणोंके बीचमें इस मन्त्रको पढनेसे पुरुष निर्मल हो जाता है ॥ ८५-८६ ॥

यश्चेदं शृणुयान्नित्यं तीर्थपुण्यं सदा शुचिः ।
जातीः स स्मरते बह्वीर्नाकपृष्ठे च मोदते ॥ ८७ ॥

यह ऐश्वर्यदायक जो पुरुष सदा पवित्र होकर इस तीर्थ माहात्म्यको नित्य सुनता है, वह अपने अनेक जन्मोंको स्मरण करके स्वर्गमें आनन्द करता है, ॥ ८७ ॥

गम्यान्यपि च तीर्थानि कीर्तितान्यगमानि च ।
मनसा तानि गच्छेत सर्वतीर्थसमीक्षया ॥ ८८ ॥

जो तीर्थ जाने योग्य है, उनमें जाये और जो नहीं जाने योग्य हैं, उनमें सब तीर्थके दर्शन-की इच्छा करनेवाला पुरुष मनहीसे चला जाये ॥ ८८ ॥

एतानि वसुभिः साध्यैरादित्यैर्मरुदश्विभिः ।
ऋषिभिर्देवकल्पैश्च श्रितानि सुकृतैषिभिः । ॥ ८९ ॥

इन तीर्थोंमें वसु, साध्य, सूर्य, मरुत, अश्विनीकुमार देवताओंके समान ऋषि और पुण्यात्मा लोग वास करते हैं ॥ ८९ ॥

एवं त्वमपि कौरव्य विधिनानेन सुव्रत ।
व्रज तीर्थानि नियतः पुण्यं पुण्येन वर्धते ॥ ९० ॥

हे कौरव ! हे उत्तम व्रतवाले युधिष्ठिर ! ऐसी ही विधिसे आप भी इन तीर्थोंमें जाइये । आप नियमोंको धारण करके तीर्थोंको जाइये, क्योंकि पुण्यसे पुण्य बढता है ॥ ९० ॥

भावितैः करणैः पूर्वमास्तिक्याच्छ्रुतिदर्शनात् ।
प्राप्यन्ते तानि तीर्थानि सद्भिः शिष्टानुदर्शिभिः ॥ ९१ ॥

हे राजन् ! जिन तीर्थोंको प्रथमसे इन्द्रियनिग्रहवान्, आस्तिक्य बुद्धिवाले, वेदज्ञानी और शास्त्रदर्शी महात्मा लोग जा सकते हैं ॥ ९१ ॥

नाव्रतो नाकृतात्मा च नाशुचिर्न च तस्करः ।
स्नाति तीर्थेषु कौरव्य न च वक्रमतिर्नरः ॥ ९२ ॥

उन तीर्थोंको अव्रती, दुष्ट, अपवित्र और चोर नहीं जा सकते । हे कौरव्य ! उन तीर्थोंमें दुष्ट बुद्धिवाले पुरुष स्नान नहीं कर सकते ॥ ९२ ॥

त्वया तु सम्यग्वृत्तेन नित्यं धर्मार्थदर्शिना ।
पितरस्तारितास्तात सर्वे च प्रपितामहाः ॥ ९३ ॥

सदा धर्म और अर्थके जाननेवाले उन तीर्थोंमें जा सकते हैं। हे राजन् ! आपने धर्मसे पिता और प्रपितामहोंको तारा है ॥ ९३ ॥

पितामहपुरोगाश्च देवाः सर्षिगणा नृप ।
तव धर्मेण धर्मज्ञ नित्यमेवाभितोषिताः ॥ ९४ ॥

तथा दादा और उनसे भी पहले पुरखा, देव तथा ऋषि लोगोंको, हे धर्मज्ञ ! आपने हमेशा सन्तुष्ट किया है ॥ ९४ ॥

अवाप्स्यसि च लोकान्वै वसूनां वासवोपम ।
कीर्तिं च महतीं भीष्म प्राप्स्यसे भुवि शाश्वतीम् ॥ ९५ ॥

हे इन्द्रसमान ! आपको वसुओंके लोक मिलेंगे। हे भीष्म ! आप इस जगत्‌में बहुत दिनतक रहनेवाली कीर्तिको भी प्राप्त करेंगे ॥ ९५ ॥

नारद उवाच

एवमुक्त्वाभ्यनुज्ञाप्य पुलस्त्यो भगवानृषिः ।
प्रीतः प्रीतेन मनसा तत्रैवान्तरधीयत ॥ ९६ ॥

नारद बोले– हे युधिष्ठिर! इस प्रकार भीष्मसे कहकर प्रसन्नतापूर्वक प्रसन्न चित्तसे भगवान् पुलस्त्य मुनि भीष्मकी संमतिसे वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ ९६ ॥

भीष्मश्च कुरुशार्दूल शास्त्रतत्त्वार्थदर्शिवान् ।
पुलस्त्यवचनाच्चैव पृथिवीमनुचक्रमे ॥ ९७ ॥

हे कुरुशार्दूल! शास्त्रोंके तत्त्वज्ञ भीष्म भी पुलस्त्यके वचनसे पृथ्वीमें घूमने लगे ॥ ९७ ॥

अनेन विधिना यस्तु पृथिवीं संचरिष्यति ।
अश्वमेधशतस्याग्र्यं फलं प्रेत्य स भोक्ष्यते ॥ ९८ ॥

जो पुरुष इस प्रकारसे पृथ्वीके तीर्थोंमें घूमता है; उसको मरनेके पश्चात् सैंकडों अश्वमेधोंका फल प्राप्त होता है ॥ ९८ ॥

अतश्चाष्टगुणं पार्थ प्राप्स्यसे धर्ममुत्तमम् ।
नेता च त्वमृषीन्यस्मात्तेन तेऽष्टगुणं फलम् ॥ ९९ ॥

हे कुन्तीनन्दन! आपको उससे आठ गुना उत्तम धर्म प्राप्त होगा, क्योंकि आप ऋषियोंके अगुआ हैं, इसीसे आपको आठगुना फल प्राप्त होगा ॥ ९९ ॥

रक्षोगणावकीर्णानि तीर्थान्येतानि भारत ।
न गतिर्विद्यतेऽन्यस्य त्वामृते कुरुनन्दन ॥ १०० ॥

हे भारत! आजकलके तीर्थ राक्षसोंसे भर गये हैं, हे कुरुनन्दन! हे राजेन्द्र! आपके सिवाय उन तीर्थोंमें और कोई नहीं जा सकता ॥ १०० ॥

इदं देवर्षिचरितं सर्वतीर्थार्थसंश्रितम् ।
यः पठेत्कल्यमुत्थाय सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ १०१ ॥

जो पुरुष इस देवर्षिकथित तीर्थमाहात्म्यको प्रातःकालमें उठकर पढेंगे, उनके सब पाप छूट जायेंगे ॥ १०१ ॥

ऋषिमुख्याः सदा यत्र वाल्मीकिस्त्वथ काश्यपः ।
आत्रेयस्त्वथ कौण्डिन्यो विश्वामित्रोऽथ गौतमः ॥ १०२ ॥

हे महाराज! उन तीर्थोंमें ऋषियोंके प्रधान वाल्मीकि, काश्यप, आत्रेय, कुण्ड जठर, विश्वामित्र, गौतम ॥ १०२ ॥

अक्षितो देवलश्चैव मार्कण्डेयोऽथ गालवः ।
भरद्वाजो वसिष्ठश्च मुनिरुद्दालकस्तथा ॥ १०३ ॥

असित, देवल, मार्कण्डेय, गालव, भरद्वाज, वसिष्ठ और उद्दालक मुनि ॥ १०३ ॥

शौनकः सह पुत्रेण व्यासश्च जपतां वरः ।
दुर्वासाश्च मुनिश्रेष्ठो गालवश्च महातपाः ॥ १०४ ॥

पुत्र सहित शौनक, व्यास, तपस्वियोंमें श्रेष्ठ शुकदेव, मुनिश्रेष्ठ दुर्वासा और महातपस्वी गालव ॥ १०४ ॥

एते ऋषिवराः सर्वे त्वत्प्रतीक्षास्तपोधनाः ।
एभिः सह महाराज तीर्थान्येतान्यनुव्रज ॥ १०५ ॥

इत्यादि अनेक तपोधन महर्षि लोग आपका मार्ग देख रहे हैं । हे महाराज ! इनके साथ तीर्थोंमें जाइये ॥ १०५ ॥

एष वै लोमशो नाम देवर्षिरमितद्युतिः ।
समेष्यति त्वया चैव तेन सार्धमनुव्रज ॥ १०६ ॥

हे महाराज ! यह देखिये महातेजस्वी लोमश ऋषि आपके पास चले आते हैं, आप इनके सङ्ग ही तीर्थोंको चले जाइये ॥ १०६ ॥

मया च सह धर्मज्ञ तीर्थान्येतान्यनुव्रज ।
प्राप्स्यसे महतीं कीर्तिं यथा राजा महाभिषः ॥ १०७ ॥

हे धर्मज्ञ ! क्रमके अनुसार इस तीर्थोंमें आप मेरे साथ चलिये । जैसी राजा महाभिषकी कीर्ति हुई थी, वैसी ही आपकी भी होगी ॥ १०७ ॥

यथा ययातिर्धर्मात्मा यथा राजा पुरूरवाः ।
तथा त्वं कुरुशार्दूल स्वेन धर्मेण शोभसे ॥ १०८ ॥

हे कुरुशार्दूल ! जैसे राजा ययाति और राजा पुरूरवा धर्मात्मा थे, वैसे ही आप भी अपने धर्मसे शोभित हैं ॥ १०८ ॥

यथा भगीरथो राजा यथा रामश्च विश्रुतः ।
तथा त्वं सर्वराजभ्यो भ्राजसे रश्मिवानिव ॥ १०९ ॥

हे राजन् ! जैसे राजा भगीरथ और राजा राम विख्यात थे, वैसे ही सूर्यके समान तेजस्वी आप भी सब राजाओंमें विराजमान हैं ॥ १०९ ॥

यथा मनुर्यथेक्ष्वाकुर्यथा पूरुर्महायशाः ।
यथा वैन्यो महातेजास्तथा त्वमपि विश्रुतः ॥ ११० ॥

जैसे मनु, इक्ष्वाकु, महायशस्वी पूरु और महातेजस्वी पृथु थे, वैसे ही आप भी विख्यात हैं ॥ ११० ॥

यथा च वृत्रहा सर्वान्सपत्नानिहत्पुरा।
तथा शत्रुक्षयं कृत्वा प्रजास्त्वं पालयिष्यसि ॥ १११ ॥

पहले जैसे वृत्रासुरके मारनेवाले देवराज इन्द्रने सब शत्रुओंको मारा था, हे कमलनेत्र! वैसे ही आप भी शत्रुओंको मारकर प्रजाको पालियेगा ॥ १११ ॥

स्वधर्मविजितामुर्वी प्राप्य राजीवलोचन।
ख्यातिं यास्यसि धर्मेण कार्तवीर्यार्जुनो यथा ॥ ११२ ॥

हे कमलके समान आंखोंवाले! जैसे कृतवीर्यके पुत्र अर्जुन प्रसिद्ध हुए थे, वैसे ही आप भी धर्मसे जीती हुई पृथ्वीको पाकर धर्मसे प्रसिद्ध होंगे ॥ ११२ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमाश्वास्य राजानं नारदो भगवानृषिः।
अनुज्ञाप्य महात्मानं तत्रैवान्तरधीयत ॥ ११३ ॥

वैशम्पायन बोले– भगवान् नारदऋषि इस प्रकार राजा युधिष्ठिरसे कहकर युधिष्ठिरकी सम्मति ले वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ ११३ ॥

युधिष्ठिरोऽपि धर्मात्मा तमेवार्थं विचिन्तयन्।
तीर्थयात्राश्रयं पुण्यमृषीणां प्रत्यवेदयत् ॥ ११४ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि त्र्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८३ ॥ ३२९६ ॥

धर्मात्मा महाराज युधिष्ठिर भी उसको सुनकर उसका अर्थ विचारकर ऋषियोंसे उस पुण्यको कहने लगे ॥ ११४ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें तिरासीवां अध्याय समाप्त ॥ ८३ ॥ ३२९६ ॥

: ८४ :

वैशम्पायन उवाच

भ्रातॄणां मतमाज्ञाय नारदस्य च धीमतः।
पितामहसमं धौम्यं प्राह राजा युधिष्ठिरः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– राजा युधिष्ठिरने बुद्धिमान् नारदकी और अपने भाइयोंकी सम्मति जानकर अपने पितामहके समान धौम्य मुनिको बुलाकर ऐसा कहा ॥ १ ॥

मया स पुरुषव्याघ्रो जिष्णुः सत्यपराक्रमः।
अस्त्रहेतोर्महाबाहुरमितात्मा विवासितः ॥ २ ॥

कि मैंने सत्यपराक्रम, पुरुषसिंह, महाबाहु, आचारवान्, पराक्रमी अर्जुनको अस्त्रोंके लिये भेजा है ॥ २ ॥

स हि वीरोऽनुरक्तश्च समर्थश्च तपोधन ।
कृती च भृशमप्यस्त्रे वासुदेव इव प्रभुः ॥ ३ ॥

वह तपोधन हमारा अत्यन्त भक्त है तथा समर्थ है और शस्त्रोंके जाननेमें महात्मा कृष्णके समान कुशल है ॥ ३ ॥

अहं ह्येतावुभौ ब्रह्मन्कृष्णावरिनिघातिनौ ।
अभिजानामि विक्रान्तौ तथा व्यासः प्रतापवान् ।
त्रियुगौ पुण्डरीकाक्षौ वासुदेवधनञ्जयौ ॥ ४ ॥

हे ब्रह्मन् ! मैं शत्रुनाशन महातेजस्वी अर्जुन और कृष्णको वैसा ही जानता हूं, जैसा कि प्रतापवान् व्यास जानते हैं, ये कमलनेत्र कृष्ण और अर्जुन तीन युगोंमें विद्यमान हैं ॥ ४ ॥

नारदोऽपि तथा वेद सोऽप्यशंसत्सदा मम ।
तथाहमपि जानामि नरनारायणावृषी ॥ ५ ॥

भगवान् नारद भी इनको ऐसा ही जानते हैं और मुझसे सदा कहा करते हैं और मैं भी जानता हूं कि ये नरनारायण ऋषिके अवतार हैं ॥ ५ ॥

शक्तोऽयमित्यतो मत्वा मया संप्रेषितोऽर्जुनः ।
इंद्रादनवरः शक्तः सुरसूनुः सुराधिपम् ।
द्रष्टुमस्त्राणि चादातुमिन्द्रादिति विवासितः ॥ ६ ॥

हमने अर्जुनको 'यह समर्थ है' ऐसा जानकर ही भेजा है, हमने यह जान लिया था, कि यह इन्द्रपुत्र अर्जुन इन्द्रसे कम नहीं है अतएव इन्द्रका दर्शन करने और उनसे शस्त्र लेनेके लिए अर्जुनको भेजा है ॥ ६ ॥

भीष्मद्रोणावतिरथौ कृपो द्रौणिश्च दुर्जयः ।
धृतराष्ट्रस्य पुत्रेण वृता युधि महाबलाः ।
सर्वे वेदविदः शूराः सर्वेऽस्त्रकुशलास्तथा ॥ ७ ॥

भीष्म और द्रोण महारथ हैं, कृपाचार्य और अश्वत्थामा सहजहीमें जीतने योग्य नहीं हैं, यह सब महारथलोग दुर्योधनके द्वारा युद्धमें चुन लिए गए हैं; यह सब लोग वेदोंके जाननेवाले, शूर और सर्व अस्त्रोंमें कुशल हैं ॥ ७ ॥

योद्धुकामश्च पार्थेन सततं यो महाबलः ।
स च दिव्यास्त्रवित्कर्णः सूतपुत्रो महारथः ॥ ८ ॥

और भी जितने महा बलवान् पुरुष हैं, वे सब अर्जुनहीसे युद्ध करनेकी इच्छा करते हैं । यह दिव्य अस्त्रोंके जाननेवाला सूतपुत्र कर्ण भी महारथी है ॥ ८ ॥

सोऽश्ववेगानिलबलः शरार्चिस्तलनिस्वनः ।
रजोधूमोऽस्त्रसंतापो धार्तराष्ट्रानिलोद्धतः ॥ ९ ॥
निसृष्ट इव कालेन युगान्तज्वलनो यथा ।
मम सैन्यमयं कक्षं प्रधक्ष्यति न संशयः ॥ १० ॥

वह घोडेके समान वेगवाले वायुके समान बलवान्, बाण हैं ज्वाला जिसकी और हाथोंके शब्दसे युक्त, क्रोध जिसका धूम है, और अस्त्ररूपसे गर्जनवान् वह कर्ण दुर्योधनरूपी वायुसे प्रेरित होकर मेरी सेना समूहरूपी तृणको निःसन्देह वैसे ही भस्म कर देगा जिस प्रकार यम द्वारा प्रेरित प्रलयकालकी अग्नि सारे विश्वको जला देती है ॥ ९-१० ॥

तं स कृष्णानिलोद्धूतो दिव्यास्त्रजलदो महान् ।
श्वेतवाजिबलाकाभृद्गाण्डीवेन्द्रायुधोज्ज्वलः ॥ ११ ॥
सततं शरधाराभिः प्रदीप्तं कर्णपावकम् ।
उदीर्णोऽर्जुनमेघोऽयं शमयिष्यति संयुगे ॥ १२ ॥

कृष्णरूपी वायुसे प्रेरित, दिव्य, अस्त्ररूपी बादल, सफेद घोडेरूपी बकमाला सहित गांडीवरूप इन्द्रधनुषसे युक्त उमडता हुआ अर्जुनरूपी मेघ अपने बाणधाररूपी पानीसे कर्णरूपी अग्निको युद्धमें बुझा देगा ॥ ११-१२ ॥

स साक्षादेव सर्वाणि शक्रात्परपुरंजयः ।
दिव्यान्यस्त्राणि बीभत्सुस्तत्त्वतः प्रतिपत्स्यते ॥ १३ ॥

शत्रुओंके नगरोंको जीतनेवाला अर्जुन साक्षात् इन्द्रसे सभी दिव्य अस्त्रोंको तत्त्वतः प्राप्त करेगा ॥ १३ ॥

अलं स तेषां सर्वेषामिति मे धीयते मतिः ।
नास्ति त्वतिक्रिया तस्य रणेऽरीणां प्रतिक्रिया ॥ १४ ॥

वह सब शत्रुओंके नाश करनेमें समर्थ है । मुझे यह निश्चय है, कि बिना उसके हम शत्रुओंका प्रतिकार नहीं कर सकते ॥ १४ ॥

तं वयं पाण्डवं सर्वे गृहीतास्त्रं धनंजयम् ।
द्रष्टारो न हि बीभत्सुर्भारमुद्यम्य सीदति ॥ १५ ॥

हम लोग उस पाण्डुपुत्र शत्रुनाशक अस्त्रोंसे संपन्न अर्जुनको देखेंगे, क्योंकि वह इतने बडे भारको लेकर भी जरा भी दुःखी नहीं हुए ॥ १५ ॥

वयं तु तमृते वीरं वनेऽस्मिन्द्विपदां वर ।
अवधानं न गच्छामः काम्यके सह कृष्णया ॥ १६ ॥

हे मनुष्योंमें श्रेष्ठ ब्रह्मन् ! हम उस वीर अर्जुनके बिना इस काम्यक वनमें द्रौपदीके सहित सुख नहीं पाते हैं ॥ १६ ॥

अथानन्यद्वनं साधु बह्वन्नं फलवच्छुचि ।
आख्यातु रमणीयं च सेवितं पुण्यकर्मभिः ॥ १७ ॥

अतएव आप कोई ऐसा वन बतलाइये जो उत्तम पवित्र फल और अन्नसे भरा हो और जो परम रमणीय हो, जिसमें पुण्यकर्म करनेवाले रहते हों ॥ १७ ॥

यत्र कंचिद्वयं कालं वसन्तः सत्यविक्रमम् ।
प्रतीक्षामोऽर्जुनं वीरं वर्षकामा इवाम्बुदम् ॥ १८ ॥

जिस वनमें रहकर हम लोग सत्यपराक्रमी वीर अर्जुनकी उसी तरह प्रतीक्षा करें कि जिस प्रकार वर्षाकी इच्छा करनेवाला किसान मेघकी प्रतीक्षा करता है ॥ १८ ॥

विविधानाश्रमान्कांश्चिद्द्विजातिभ्यः परिश्रुतान् ।
सरांसि सरितश्चैव रमणीयांश्च पर्वतान् ॥ १९ ॥

अथवा आपने ब्राह्मणोंसे सुने हों, ऐसे विविध आश्रम, नदी, तालाब और सुन्दर पर्वतोंका हमसे वर्णन कीजिये ॥ १९ ॥

आचक्ष्व न हि नो ब्रह्मन्रोचते तमृतेऽर्जुनम् ।
वनेऽस्मिन्काम्यके वासो गच्छामोऽन्यां दिशं प्रति ॥ २० ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि चतुरशीतितमोऽध्यायः ॥ ८४ ॥ ३२१६ ॥

हे ब्राह्मण ! हमको बिना अर्जुनके इस काम्यक वनमें रहना अच्छा नहीं लगता अतएव हम किसी दूसरी दिशामें जाना चाहते हैं ॥ २० ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें चौरासीवां अध्याय समाप्त ॥ ८४ ॥ ३२१६ ॥

: ८५ :

वैशम्पायन उवाच

तान्सर्वानुत्सुकान्दृष्ट्वा पाण्डवान्दीनचेतसः ।
आश्वासयंस्तदा धौम्यो बृहस्पतिसमोऽब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– उन सब पाण्डवोंको उदास और उत्सुक देखकर बृहस्पतिके समान धौम्य मुनि धैर्य देकर ऐसा बोले ॥ १ ॥

ब्राह्मणानुमतान्पुण्यानाश्रमान्भरतर्षभ ।
दिशस्तीर्थानि शैलांश्च शृणु मे गदतो नृप ॥ २ ॥

हे पापरहित ! हे भरतर्षभ ! ब्राह्मणोंके द्वारा कहे हुए पुण्य आश्रम, दिशा तीर्थ और पवित्र पर्वतोंका वर्णन मैं करता हूं । आप मेरी बात सुनिये ॥ २ ॥

पूर्वं प्राचीं दिशं राजन्राजर्षिगणसेविताम् ।
रम्यां ते कीर्तयिष्यामि युधिष्ठिर यथास्मृति ॥ ३ ॥

हे राजन् युधिष्ठिर ! अब मैं आपसे स्मृतिके अनुसार राजर्षिगणोंसे सेवित पूर्व दिशाका वर्णन करता हूं ॥ ३ ॥

तस्यां देवर्षिजुष्टायां नैमिषं नाम भारत ।
यत्र तीर्थानि देवानां सुपुण्यानि पृथक्पृथक् ॥ ४ ॥

हे भारत ! उस देवर्षियोंसे सेवित पूर्व दिशामें नैमिष नामक वन है, जहां देवोंके पवित्रकारक भिन्न भिन्न तीर्थ हैं ॥ ४ ॥

यत्र सा गोमती पुण्या रम्या देवर्षिसेविता ।
यज्ञभूमिश्च देवानां शामित्रं च विवस्वतः ॥ ५ ॥

वहां रमणीय, पवित्र, देव और ऋषियोंसे सेवित गोमती नदी बहती है। वहीं देवताओंके यज्ञका स्थान है और वहीं यज्ञके निमित्त यमराजने पशुओंको मारा था ॥ ५ ॥

तस्यां गिरिवरः पुण्यो गयो राजर्षिसत्कृतः ।
शिवं ब्रह्मसरो यत्र सेवितं त्रिदशर्षिभिः ॥ ६ ॥

उसी पूर्व दिशामें पवित्र राजर्षियोंसे सत्कृत हुआ गया नामक एक श्रेष्ठ पर्वत है, वहींपर देवता और ऋषियोंसे सेवित कल्याणकारी ब्रह्मसर तीर्थ है ॥ ६ ॥

यदर्थं पुरुषव्याघ्र कीर्तयन्ति पुरातनाः ।
एष्टव्या बहवः पुत्रा यद्येकोऽपि गयां व्रजेत् ॥ ७ ॥

हे पुरुषसिंह ! उस स्थानमें जानेके निमित्त प्राचीन जन कहते हैं, कि बहुतसे पुत्रोंकी इच्छा करनी चाहिये, क्योंकि संभव है कि उनमेंसे कोई भी तो गयाको जायेगा ! ॥ ७ ॥

महानदी च तत्रैव तथा गयशिरोऽनघ ।
यत्रासौ कीर्त्यते विप्रैरक्षय्यकरणो वटः ।
यत्र दत्तं पितृभ्योऽन्नमक्षय्यं भवति प्रभो ॥ ८ ॥

हे अनघ ! वहींपर महानदी और गयशिर नामक तीर्थ है, वहींपर ब्राह्मण अक्षयवट बतलाते हैं, हे प्रभो ! जहां पितरोंको अन्न देनेसे वह अक्षय हो जाता है ॥ ८ ॥

सा च पुण्यजला यत्र फल्गुनामा महानदी ।
बहुमूलफला चापि कौशिकी भरतर्षभ ।
विश्वामित्रोऽभ्यगाद्यत्र ब्राह्मणत्वं तपोधनः ॥ ९ ॥

हे नरनाथ ! वहींपर पवित्र जलवाली फल्गु नामक महानदी है। हे भरतर्षभ ! उसी दिशामें बहुत फल और मूलवाली कौशिकी नामक नदी है, जहांपर तपोधन विश्वामित्र ब्राह्मणत्वको प्राप्त हुए थे ॥ ९ ॥

गङ्गा यत्र नदी पुण्या यस्यास्तीरे भगीरथः ।
अयजत्तात बहुभिः क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः ॥ १० ॥

उसी पूर्व दिशामें पुण्यदायक गङ्गा बहती है, जिसके किनारे राजा भगीरथने भारी दक्षिणावाले अनेक यज्ञ किए थे ॥ १० ॥

पाञ्चालेषु च कौरव्य कथयन्त्युत्पलावतम् ।
विश्वामित्रोऽयजद्यत्र शक्रेण सह कौशिकः ।
यत्रानुवंशं भगवाञ्जामदग्न्यस्तथा जगौ ॥ ११ ॥

हे कौरव्य ! पाञ्चाल देशमें उत्पलावत नामक तीर्थ बताया जाता है, जहां कुशिकपुत्र विश्वामित्रने इन्द्रके साथ यज्ञ किया था, भगवान् जामदग्न्य परशुरामने उसके वंशकी स्तुति की थी ॥ ११ ॥

विश्वामित्रस्य तां दृष्ट्वा विभूतिमतिमानुषीम् ।
कान्यकुब्जेऽपिबत्सोममिन्द्रेण सह कौशिकः ।
ततः क्षत्रादपाक्रामद्ब्राह्मणोऽस्मीति चाब्रवीत् ॥ १२ ॥

क्योंकि परशुरामने विश्वामित्रकी उस मनुष्यातीत विभूतिको देखा था । कान्यकुब्ज देशमें कुशिकपुत्र विश्वामित्रने इन्द्रके साथ सोमपान किया था और क्षत्रियत्वसे मुक्त होकर उन्होंने कहा था कि मैं अब ब्राह्मण हो गया हूँ ॥ १२ ॥

पवित्रमृषिभिर्जुष्टं पुण्यं पावनमुत्तमम् ।
गङ्गायमुनयोर्वीर संगमं लोकविश्रुतम् ॥ १३ ॥

हे वीर ! वहीं ऋषियोंसे सेवित लोकोंमें विख्यात पुण्यकारक तथा पवित्रकारक गङ्गा और यमुनाका उत्तम सङ्गम है ॥ १३ ॥

यत्रायजत भूतात्मा पूर्वमेव पितामहः ।
प्रयागमिति विख्यातं तस्माद्भरतसत्तम ॥ १४ ॥

जहां पहिले पितामह भूतात्मा ब्रह्माने यज्ञ किया था; इसीसे, हे भरतश्रेष्ठ ! उसका नाम प्रयाग पडा ॥ १४ ॥

अगस्त्यस्य च राजेन्द्र तत्राश्रमवरो महान् ।
हिरण्यबिन्दुः कथितो गिरौ कालञ्जरे नृप ॥ १५ ॥

हे राजेन्द्र ! वहींपर अगस्त्य मुनिका महान् आश्रम है । हे राजन् ! कालञ्जर पर्वतपर पवित्र हिरण्यबिन्दु है ॥ १५ ॥

×

अत्यन्यान्पर्वतान्राजन्पुण्यो गिरिवरः शिवः।
महेन्द्रो नाम कौरव्य भार्गवस्य महात्मनः ॥ १६ ॥

वह, हे राजन् ! पर्वतोंमें श्रेष्ठ, कल्याणदायक पवित्रकारक और अन्य पर्वतोंसे श्रेष्ठ है। हे कौरव्य ! वहीं महात्मा भार्गवका महेन्द्र पर्वत है ॥ १६ ॥

अयजद्यत्र कौन्तेय पूर्वमेव पितामहः।
यत्र भागीरथी पुण्या सदस्यासीद्युधिष्ठिर ॥ १७ ॥

हे कुन्तीनन्दन ! पितामह ब्रह्माने पहले वहीं यज्ञ किया था; हे युधिष्ठिर ! पहले वहां पवित्र गङ्गा एक तालावमें भरी हुई थी ॥ १७ ॥

यत्रासौ ब्रह्मशालेति पुण्या ख्याता विशां पते।
धूतपाप्मभिराकीर्णा पुण्यं तस्याश्च दर्शनम् ॥ १८ ॥

हे प्रजास्वामी ! उस पवित्र कुण्डका नाम ब्रह्मशाला है, वहांपर अनेक पापरहित महात्मा लोग रहते हैं, उसका दर्शन भी परम पवित्रकारक है ॥ १८ ॥

पवित्रो मङ्गलीयश्च ख्यातो लोके सनातनः।
केदारश्च मतङ्गस्य महानाश्रम उत्तमः ॥ १९ ॥

वहीं मतंग ऋषिका केदार नामक महान् उत्तम आश्रम है जो पवित्र, मंगलकारक और संसारमें सनातनके रूपमें प्रसिद्ध है ॥ १९ ॥

कुण्डोदः पर्वतो रम्यो बहुमूलफलोदकः।
नैषधस्तृषितो यत्र जलं शर्म च लब्धवान् ॥ २० ॥

वहीं बहुत फल, फूल और जलसे रम्य कुंडोदनामक पर्वत भी है, जहांपर राजा नल प्यासे होकर गये थे और उसके जलको पीकर आनन्दित हुए थे ॥ २० ॥

यत्र देववनं रम्यं तापसैरुपशोभितम्।
बाहुदा च नदी यत्र नन्दा च गिरिमूर्धनि ॥ २१ ॥

वहीं तपस्वियोंसे सेवित देववन नामक सुन्दर तीर्थ है, वहां पर्वतके शिखरपर बाहुदा और नन्दा नदियां वहती हैं ॥ २१ ॥

तीर्थानि सरितः शैलाः पुण्यान्यायतनानि च।
प्राच्यां दिशि महाराज कीर्तितानि मया तव ॥ २२ ॥

उस स्थानमें तीर्थ, नदी, पर्वत और पवित्र आश्रम हैं। हे महाराज ! यह मैंने पूर्व दिशाके तीर्थ आपसे कहे ॥ २२ ॥

तिसृष्वन्यासु पुण्यानि दिक्षु तीर्थानि मे शृणु ।
सरितः पर्वतांश्चैव पुण्यान्यायतनानि च ॥ २३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८५ ॥ ३२२९ ॥

बाकी बचे हुए तीन दिशाओंमें स्थित पवित्र तीर्थोंको मुझसे सुनिये, उनमें भी अनेक नदी पर्वत और पवित्र आश्रम हैं ॥ २३ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें पिचासीवां अध्याय समाप्त ॥ ८५ ॥ ३२२९ ॥

॥ ८६ ॥

धौम्य उवाच

दक्षिणस्यां तु पुण्यानि शृणु तीर्थानि भारत ।
विस्तरेण यथाबुद्धि कीर्त्यमानानि भारत ॥ १ ॥

धौम्य बोले– हे भारत ! अब मैं दक्षिण दिशाके तीर्थोंकी बुद्धिके अनुसार विस्तार सहित कथा कहता हूं; आप सुनिये ॥ १ ॥

यस्यामाख्यायते पुण्या दिशि गोदावरी नदी ।
बह्वारामा बहुजला तापसाचरिता शुभा ॥ २ ॥

उस दक्षिण दिशामें बहुत आश्रम, जल और तपस्वियोंके सहित कल्याण देनेवाली गोदावरी नदी बहती है ॥ २ ॥

वेण्णा भीमरथी चोभे नद्यौ पापभयापहे ।
मृगद्विजसमाकीर्णे तापसालयभूषिते ॥ ३ ॥

उसी दक्षिण दिशामें पापके भयका नाश करनेवाली हरिण और पक्षियोंसे सम्पन्न, मुनियोंके आश्रमोंसे शोभित वेण्णा और भीमरथी नामक दो नदियां बहती हैं ॥ ३ ॥

राजर्षेस्तत्र च सरिन्नृगस्य भरतर्षभ ।
रम्यातीर्था बहुजला पयोष्णी द्विजसेविता ॥ ४ ॥

हे भरतश्रेष्ठ राजन् ! उसी दिशामें राजर्षि नृगकी नदी है इसका नाम पयोष्णी है, वह अनेक द्विजोंसे सेवित, रमणीय तीर्थोंसे युक्त और बहुत जलसे भरी हुई है ॥ ४ ॥

अपि चात्र महायोगी मार्कण्डेयो महातपाः ।
अनुवंश्यां जगौ गाथां नृगस्य धरणीपतेः ॥ ५ ॥

उसी स्थानमें महायोगी और महातपस्वी मार्कण्डेय मुनिने यजमान राजा नृगकी वंशावलीका वर्णन किया था ॥ ५ ॥

नृगस्य यजमानस्य प्रत्यक्षमिति नः श्रुतम् ।
अमाद्यदिन्द्रः सोमेन दक्षिणाभिर्द्विजातयः ॥ ६ ॥

हमने सुना है, कि पयोष्णी नदीके तीरपर यजमान् नृगके यज्ञमें प्रत्यक्ष ही सोम पीकर इन्द्र और दक्षिणा पाकर ब्राह्मण आनंदित हुए थे ॥ ६ ॥

माठरस्य वनं पुण्यं बहुमूलफलं शिवम् ।
यूपश्च भरतश्रेष्ठ वरुणस्रोतसे गिरौ ॥ ७ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! वरुणस्रोत नामक पर्वतमें बहुत फूल और फलोंसे भरा हुआ पवित्र माठरका वन और यूप हैं ॥ ७ ॥

प्रवेण्युत्तरपार्श्वे तु पुण्ये कण्वाश्रमे तथा ।
तापसानामरण्यानि कीर्तितानि यथाश्रुति ॥ ८ ॥

हमने सुना है, कि प्रवेणीसे उत्तरकी ओर चलनेसे कण्व मुनिका आश्रम मिलता है । और उधर मुनियोंके अनेक वन हैं इस प्रकार कहा जाता है ॥ ८ ॥

वेदी शूर्पारके तात जमदग्नेर्महात्मनः ।
रम्या पाषाणतीर्था च पुरश्चन्द्रा च भारत ॥ ९ ॥

हे तात ! उधर ही महात्मा जमदग्निका वेदी शूर्पारक नामक तीर्थ है, हे भारत ! वहीं परम रमणीय पाषाणतीर्था और पुरश्चन्द्रा नामक दो नदियां हैं ॥ ९ ॥

अशोकतीर्थं मर्त्येषु कौन्तेय बहुलाश्रमम् ।
अगस्त्यतीर्थं पाण्ड्येषु वारुणं च युधिष्ठिर ॥ १० ॥

हे कौन्तेय ! मर्त्योंमें अशोक तीर्थ है, उस तीर्थमें मुनियोंके बहुत आश्रम हैं, हे युधिष्ठिर ! आगे पाण्ड्यदेशमें अगस्त्य और वारुण तीर्थ हैं ॥ १० ॥

कुमार्यः कथिताः पुण्याः पाण्ड्येष्वेव नरर्षभ ।
ताम्रपर्णीं तु कौन्तेय कीर्तयिष्यामि तां शृणु ॥ ११ ॥

हे भरतर्षभ ! उस ही पाण्ड्यदेशमें ऐसी बहुतसी पवित्र स्त्रियां ऐसी है जो विवाह ही नहीं करती हैं, वहां ताम्रपर्णी नामक नदी है। हे कुन्तीनन्दन ! मैं उसका वर्णन करता हूँ आप सुनिये ॥ ११ ॥

यत्र देवैस्तपस्तप्तं महदिच्छद्भिराश्रमे ।
गोकर्णमिति विख्यातं त्रिषु लोकेषु भारत ॥ १२ ॥

हे भारत ! जिस स्थानमें देवताओंने बहुत कल्याणकी इच्छासे आश्रम बनाकर तप किया था, उसी देशमें तीनों लोकोंमें विख्यात गोकर्ण महादेव हैं ॥ १२ ॥

शीततोयो बहुजलः पुण्यस्तात शिवश्च सः।
ह्रदः परमदुष्प्रापो मानुषैरकृतात्मभिः ॥ १३ ॥

हे तात! उधर ही कल्याण-दायक, सुन्दर, बहुत ठण्डे जलसे भरा हुआ तडाग है; उसको पापी पुरुष नहीं छू सकते ॥ १३ ॥

तत्रैव तृणसोमाग्नेः संपन्नफलमूलवान्।
आश्रमोऽगस्त्यशिष्यस्य पुण्यो देवसभे गिरौ ॥ १४ ॥

वहाँ, घास सोम और अग्निसे भरा हुआ तथा फल और मूलोंसे सम्पन्न देवताओंकी सभाके समान पर्वतमें अगस्त्य मुनिके शिष्यका आश्रम है ॥ १४ ॥

वैडूर्यपर्वतस्तत्र श्रीमान्मणिमयः शिवः।
अगस्त्यस्याश्रमश्चैव बहुमूलफलोदकः ॥ १५ ॥

उधर ही मणिमय शोभावान् कल्याणदायक वैडूर्य पर्वत है, उसी स्थानपर बहुत फल मूल और जलसे शोभित अगस्त्य मुनिका आश्रम है ॥ १५ ॥

सुराष्ट्रेष्वपि वक्ष्यामि पुण्यान्यायतनानि च।
आश्रमान्सरितः शैलान्सरांसि च नराधिप ॥ १६ ॥

हे नराधिप! अब मैं सुराष्ट्र देशके पवित्र स्थान, आश्रम, नदी और तडागोंका वर्णन करता हूँ ॥ १६ ॥

चमसोन्मज्जनं विप्रास्तत्रापि कथयन्त्युत।
प्रभासं चोदधौ तीर्थं त्रिदशानां युधिष्ठिर ॥ १७ ॥

हे युधिष्ठिर! वहां चमसोन्मज्जन नामक तीर्थ है, ब्राह्मण लोग उसका बहुत महात्म्य कहते हैं, हे युधिष्ठिर! इसके बाद समुद्रमें देवताओंका प्रभास नामक तीर्थ है ॥ १७ ॥

तत्र पिण्डारकं नाम तापसाचरितं शुभम्।
उज्जयन्तश्च शिखरी क्षिप्रं सिद्धिकरो महान् ॥ १८ ॥

वहां पिण्डारक नामक तीर्थ है, जो बहुत ही शुभ है। उसमें अनेक ऋषि रहते हैं। उधर ही शीघ्र सिद्धि देनेवाला उज्जयन्त नामक एक महान् पर्वत है ॥ १८ ॥

तत्र देवर्षिवर्येण नारदेनानुकीर्तितः।
पुराणः श्रूयते श्लोकस्तं निबोध युधिष्ठिर ॥ १९ ॥

हे युधिष्ठिर! उसी स्थानके लिये देवर्षियोंमें श्रेष्ठ नारदने यह पुराना श्लोक कहा है; उसको आप सुनिये ॥ १९ ॥

पुण्ये गिरौ सुराष्ट्रेषु मृगपक्षिनिषेविते ।
उज्जयन्ते स्म तप्ताङ्गो नाकपृष्ठे महीयते ॥ २० ॥

जो पुरुष पक्षी और मृगोंसे भरे हुए सुराष्ट्रदेशमें पवित्र उज्जयन्त पर्वतपर तप करता है, वह स्वर्ग लोकमें पूजा जाता है ॥ २० ॥

पुण्या द्वारवती तत्र यत्रास्ते मधुसूदनः ।
साक्षाद्देवः पुराणोऽसौ स हि धर्मः सनातनः ॥ २१ ॥

उसी देशमें पवित्र द्वारिकापुरी है, वहां साक्षात् पुरातन मधुसूदन कृष्ण रहते हैं, वे सनातन धर्मरूप हैं ॥ २१ ॥

ये च वेदविदो विप्रा ये चाध्यात्मविदो जनाः ।
ते वदन्ति महात्मानं कृष्णं धर्मं सनातनम् ॥ २२ ॥

जो वेदको जानेवाले ब्राह्मण हैं और अध्यात्म ज्ञानको जाननेवाले मनुष्य हैं वे कृष्णको महात्मा और सनातन धर्म बतलाते हैं ॥ २२ ॥

पवित्राणां हि गोविन्दः पवित्रं परमुच्यते ।
पुण्यानामपि पुण्योऽसौ मङ्गलानां च मङ्गलम् ॥ २३ ॥

कृष्ण पवित्रोंमें भी परं पवित्र, पुण्योंमें भी परम पुण्य और मङ्गलोंके भी मङ्गल हैं ॥२३॥

त्रैलोक्यं पुण्डरीकाक्षो देवदेवः सनातनः ।
आस्ते हरिरचिन्त्यात्मा तत्रैव मधुसूदनः ॥ २४ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि षडशीतितमोऽध्यायः ॥ ८६ ॥ ३२६२ ॥

कमलनेत्र, कृष्ण तीनों लोकोंमें पूज्य देवताओंके भी देवता और सनातन हैं, वे मधुराक्षसके नाश करनेवाले अचिन्त्यात्मा भगवान् कृष्ण वहां द्वारकामें ही वास करते हैं ॥ २४ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें छियासीवां अध्याय समाप्त ॥ ८६ ॥ ३२६२ ॥

॥ ८७ ॥

धौम्य उवाच

अवन्तिषु प्रतीच्यां वै कीर्तयिष्यामि ते दिशि ।
यानि तत्र पवित्राणि पुण्यान्यायतनानि च ॥ १ ॥

धौम्य बोले- हे राजन्! अब मैं पश्चिम दिशाके अवन्ति देशमें जो पवित्र और पुण्यसे भरे हुए स्थान हैं, उनको आपसे कहता हूं ॥ १ ॥

प्रियङ्ग्वाम्रवनोपेता वानीरवनमालिनी ।
प्रत्यक्स्रोता नदी पुण्या नर्मदा तत्र भारत ॥ २ ॥
हे भारत! उस देशमें प्रियंगु आम्र वनोंसे वेष्टित वानीरके वनोंकी मालाओंसे सुसज्जित पश्चिमकी ओर बहनेवाली नर्मदा नामक नदी है ॥ २ ॥

निकेतः ख्यायते पुण्यो यत्र विश्रवसो मुनेः ।
जज्ञे धनपतिर्यत्र कुबेरो नरवाहनः ॥ ३ ॥
वहीं विश्रवा मुनिका पवित्र आश्रम कहा जाता है। वहींपर पुरुषवाहन धनपति कुबेरका जन्म हुआ था ॥ ३ ॥

वैडूर्यशिखरो नाम पुण्यो गिरिवरः शुभः ।
दिव्यपुष्पफलास्तत्र पादपा हरितच्छदाः ॥ ४ ॥
उधर ही पवित्र कल्याणदायक, पर्वतोंमें श्रेष्ठ वैडूर्य शिखर नामक पर्वत है, जहां हरे पत्तोंवाले अनेक वृक्ष और दिव्य फूल और फल हैं ॥ ४ ॥

तस्य शैलस्य शिखरे सरस्तत्र च धीमतः ।
प्रफुल्लनलिनं राजन्देवगन्धर्वसेवितम् ॥ ५ ॥
हे महाराज! उसी पर्वतकी चोटीपर देवता और गन्धर्वोंसे सेवित पवित्र खिले कमलोंसे भरपूर एक तलाव है ॥ ५ ॥

बह्वाश्चर्यं महाराज दृश्यते तत्र पर्वते ।
पुण्ये स्वर्गोपमे दिव्ये नित्यं देवर्षिसेविते ॥ ६ ॥
हे राजन्! उस देव और ऋषियोंसे सेवित, पुण्यमय, स्वर्गके समान पर्वतमें नित्य अनेक दिव्य आश्चर्य दीखते हैं ॥ ६ ॥

ह्रदिनी पुण्यतीर्था च राजर्षेस्तत्र वै सरित् ।
विश्वामित्रनदी पारा पुण्या परपुरञ्जय ॥ ७ ॥
उस पर्वतमें राज ऋषियोंके आनन्द देनेवाले तथा पुण्य जलवाले अनेक कुण्ड हैं, हे राजन्! हे शत्रुनाशक! वहीं विश्वामित्रकी पवित्र नदी है ॥ ७ ॥

यस्यास्तीरे सतां मध्ये ययातिर्नहुषात्मजः ।
पपात स पुनर्लोकाँल्लेभे धर्मान्सनातनान् ॥ ८ ॥
उसी नदीके तटपर नहुषके पुत्र राजा ययाति सत्पुरुषोंके बीचमें स्वर्गसे गिरे थे; पुनः धर्मार्जित सनातन लोकोंको गये थे ॥ ८ ॥

तत्र पुण्यह्रदस्तात मैनाकश्चैव पर्वतः ।
बहुमूलफलो वीर असितो नाम पर्वतः ॥ ९ ॥

हे तात ! वहीं पवित्र तलाव और मैनाक पर्वत है, हे वीर ! उधर ही बहुत फल और मूलोंसे भरा हुआ असित पर्वत है ॥ ९ ॥

आश्रमः कक्षसेनस्य पुण्यस्तत्र युधिष्ठिर ।
च्यवनस्याश्रमश्चैव ख्यातः सर्वत्र पाण्डव ।
तत्राल्पेनैव सिध्यन्ति मानवास्तपसा विभो ॥ १० ॥

हे युधिष्ठिर ! वहीं कक्षसेन मुनिका पवित्र आश्रम है । हे पाण्डव ! उधर ही सर्वत्र विख्यात च्यवन मुनिका आश्रम है, हे विभो ! वहां पुरुष थोडी ही तपस्यासे सिद्ध हो जाते हैं ॥ १० ॥

जम्बूमार्गो महाराज ऋषीणां भावितात्मनाम् ।
आश्रमः शाम्यतां श्रेष्ठ मृगद्विजगणायुतः ॥ ११ ॥

हे महाराज ! उधर ही आत्मदर्शी मुनियोंका जम्बूमार्ग नामक आश्रम है । हे शान्तोंमें श्रेष्ठ ! उधर ही बहुत पक्षी और हरिण निवास करते हैं ॥ ११ ॥

ततः पुण्यतमा राजन्सततं तापसायुता ।
केतुमाला च मेध्या च गङ्गारण्यं च भूमिप ।
ख्यातं च सैन्धवारण्यं पुण्यं द्विजनिषेवितम् ॥ १२ ॥

हे महाराज ! उधर ही सदा मुनियोंसे सेवित अत्यन्त पवित्र केतुमाला और मेध्या नामक नदियां हैं । हे पृथ्वीनाथ ! उधर ही गङ्गारण्य है, उसी ओर पवित्र और ब्राह्मणोंसे भरा हुआ प्रसिद्ध सैन्धववन है ॥ १२ ॥

पितामहसरः पुण्यं पुष्करं नाम भारत ।
वैखानसानां सिद्धानामृषीणामाश्रमः प्रियः ॥ १३ ॥

हे भारत ! उधर ही ब्रह्माका पुष्कर नामक पवित्र तडाग है, वहीं वैखानस, सिद्ध और ऋषियोंका प्रिय आश्रम है ॥ १३ ॥

अप्यत्र संस्तवार्थाय प्रजापतिरथो जगौ ।
पुष्करेषु कुरुश्रेष्ठ गाथां सुकृतिनां वर ॥ १४ ॥

हे कुरुश्रेष्ठ ! हे धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ ! वहां पुष्करोंमें निवास करनेके बारेमें ब्रह्माने उसकी स्तुति की है ॥ १४ ॥

मनसाप्यभिकामस्य पुष्कराणि मनस्विनः ।
पापानि विप्रणश्यन्ति नाकपृष्ठे च मोदते ॥ १५ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥ ८७ ॥ ३३७८ ॥

कि जो मनस्वी पुरुष पुष्करको जानेकी मनसे भी इच्छा करता है, उसके सब पाप नष्ट हो जाते हैं और वह स्वर्गमें आनन्द प्राप्त करता है ॥ १५ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें सत्तासीवां अध्याय समाप्त ॥ ८७ ॥ ३३७८ ॥

ः ८८ ः

धौम्य उवाच

उदीच्यां राजशार्दूल दिशि पुण्यानि यानि वै ।
तानि ते कीर्तयिष्यामि पुण्यान्यायतनानि च ॥ १ ॥

धौम्य बोले– हे राजशार्दूल ! उत्तर दिशामें जो पवित्र स्थान हैं, उन पुण्यस्थानोंका वर्णन मैं आपसे करता हूँ ॥ १ ॥

सरस्वती पुण्यवहा ह्रदिनी वनमालिनी ।
समुद्रगा महावेगा यमुना यत्र पाण्डव ॥ २ ॥

हे पाण्डव ! उत्तर दिशामें महा पवित्र ह्रदोंसे युक्त तथा बहुत वनवाली सरस्वती नदी है, उसी ओर महावेगवती समुद्रगामिनी यमुना नदी है ॥ २ ॥

तत्र पुण्यतमं तीर्थं प्लक्षावतरणं शिवम् ।
यत्र सारस्वतैरिष्ट्वा गच्छन्त्यवभृथं द्विजाः ॥ ३ ॥

जहां अत्यन्त पवित्र सुन्दर प्लक्षावतरण तीर्थ है, जहां सारस्वत यज्ञ करके ब्राह्मण अवभृथ स्नानके लिये गमन करते हैं ॥ ३ ॥

पुण्यं चाख्यायते दिव्यं शिवमग्निशिरोऽनघ ।
सहदेवोऽयजद्यत्र शम्याक्षेपेण भारत ॥ ४ ॥

हे पापरहित ! जहां पवित्र कल्याणोंको देनेवाला अग्निशिर नामक तीर्थ है, हे भारत ! जहां सहदेवने शम्या (दण्डविशेष) लगाकर यज्ञ किया था ॥ ४ ॥

एतस्मिन्नेव चार्थेयमिन्द्रगीता युधिष्ठिर ।
गाथा चरति लोकेऽस्मिन्गीयमाना द्विजातिभिः ॥ ५ ॥

हे युधिष्ठिर ! इसी स्थानमें इन्द्रने यह कथा कही थी, जिसको इस लोकमें अभीतक ब्राह्मण लोग गाते हैं ॥ ५ ॥

×

अग्नयः सहदेवेन ये चिता यमुनामनु ।
शतं शतसहस्राणि सहस्रशतदक्षिणाः ॥ ६ ॥

हे पुरुषशार्दूल ! यमुनाके तटपर सहदेवने जिन अग्नियोंकी स्थापना की थी, वहां उन्होंने सैकडों सहस्रों दक्षिणा सहित यज्ञ किए थे ॥ ६ ॥

तत्रैव भरतो राजा चक्रवर्ती महायशाः ।
विंशतिं सप्त चाष्टौ च हयमेधानुपाहरत् ॥ ७ ॥

हे राजन् ! उसी स्थानमें महायशस्वी चक्रवर्ती राजा भरतने बीस + सात + आठ = पैंतीस अश्वमेध किए थे ॥ ७ ॥

कामकृत्यो द्विजातीनां श्रुतस्तात मया पुरा ।
अत्यन्तमाश्रमः पुण्यः सरकस्तस्य विश्रुतः ॥ ८ ॥

हे तात ! मैंने पहले सुना है कि वहांसे आगे प्रसिद्ध ब्राह्मणोंका कार्य सिद्ध करनेवाला अत्यंत पवित्र सरकव मुनिका विख्यात आश्रम है ॥ ८ ॥

सरस्वती नदी सद्भिः सततं पार्थ पूजिता ।
वालखिल्यैर्महाराज यत्रेष्टमृषिभिः पुरा ॥ ९ ॥

हे कुन्तीनन्दन ! सरस्वती नदीकी पण्डित लोग सदा ही पूजा किया करते हैं। हे महाराज ! जहां पहले वालखिल्य मुनियोंने यज्ञ किए थे ॥ ९ ॥

दृषद्वती पुण्यतमा तत्र ख्याता युधिष्ठिर ।
तत्र वैवर्ण्यवर्णौ च सुपुण्यौ मनुजाधिप ॥ १० ॥

हे युधिष्ठिर ! उसी देशमें महापुण्यवती दृषद्वती नदी है; हे मनुष्योंके स्वामिन् ! वहीं पुण्य कारक वैवर्ण्य और वर्ण नामक दो ऋषि हैं ॥ १० ॥

वेदज्ञौ वेदविदितौ विद्यावेदविदावुभौ ।
यजन्तौ क्रतुभिर्नित्यं पुण्यैर्भरतसत्तम ॥ ११ ॥

हे भरतसत्तम ! वे दोनों वेदके पण्डित और वेदविद्याके जाननेवाले और हर तरहकी विद्याओंके ज्ञाता हैं; हे भरतश्रेष्ठ ! यह दोनों सदा ही पवित्र और बडे यज्ञोंको किया करते हैं ॥ ११ ॥

समेत्य बहुशो देवाः सेन्द्राः सवरुणाः पुरा ।
विशाखयूपेऽतप्यन्त तस्मात्पुण्यतमः स वै ॥ १२ ॥

वहीं विशाखयूप नामक तीर्थ है, जहां पहले इन्द्र, वरुण आदि अनेक देवताओंने मिलकर तपस्या की थी, इसी कारण यह आश्रम बहुत पवित्र है ॥ १२ ॥

ऋषिर्महान्महाभागो जमदग्निर्महायशाः ।
पलाशकेषु पुण्येषु रम्येष्वयजताभिभूः ॥ १३ ॥
उसी देशमें महाभाग महायशस्वी, महा मुनि जमदग्निने रमणीय और पवित्र पलाशक वनमें यज्ञ किये थे ॥ १३ ॥

यत्र सर्वाः सरिच्छ्रेष्ठाः साक्षात्तमृषिसत्तमम् ।
स्वं स्वं तोयमुपादाय परिवार्योपतस्थिरे ॥ १४ ॥
यहां सब नदियोंमें श्रेष्ठ नदियां अपना अपना जल लेकर ऋषिश्रेष्ठ जमदग्निको घेरकर स्थिर हो गई थीं ॥ १४ ॥

अपि चात्र महाराज स्वयं विश्वावसुर्जगौ ।
इमं श्लोकं तदा वीर प्रेक्ष्य वीर्यं महात्मनः ॥ १५ ॥
हे वीर महाराज ! इस स्थानमें स्वयं विश्वावसुने महात्मा जमदग्निके यज्ञको देखकर यह श्लोक गाया था ॥ १५ ॥

यजमानस्य वै देवाञ्जमदग्नेर्महात्मनः ।
आगम्य सरितः सर्वा मधुना समतर्पयन् ॥ १६ ॥
महात्मा जमदग्निके देवताओंके उद्देश्यसे किये हुए यज्ञमें नदियां स्वयं ही आयीं और उन्होंने अपने अन्नसे सब देवोंको तृप्त किया ॥ १६ ॥

गन्धर्वयक्षरक्षोभिरप्सरोभिश्च शोभितम् ।
किरातकिन्नरावासं शैलं शिखरिणां वरम् ॥ १७ ॥
उसी देशमें गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और अप्सराओंसे सेवित किरात और किन्नरोंका आवास स्थान उत्तम पर्वत शैल है ॥ १७ ॥

बिभेद तरसा गङ्गा गङ्गाद्वारे युधिष्ठिर ।
पुण्यं तत्ख्यायते राजन्ब्रह्मर्षिगणसेवितम् ॥ १८ ॥
हे युधिष्ठिर ! उसी देशमें गंगाद्वारमें वेगसे पहाडको तोडकर गङ्गा निकली है, उस स्थानका नाम गङ्गाद्वार है । हे राजन् ! ब्रह्मऋषियोंसे सेवित वह देश पवित्र कहाता है ॥ १८ ॥

सनत्कुमारः कौरव्य पुण्यं कनखलं तथा ।
पर्वतश्च पुरुर्नाम यत्र जातः पुरूरवाः ॥ १९ ॥
हे कौरव्य ! सनत्कुमारका स्थान पवित्र कनखल तीर्थ है । उधर ही पुरु नामक पर्वत है, वहीं राजा पुरूरवा गये थे ॥ १९ ॥

भृगुर्यत्र तपस्तेपे महर्षिगणसेवितः ।
स राजन्नाश्रमः ख्यातो भृगुतुङ्गो महागिरिः ॥ २० ॥

हे राजन् ! उधर ही महर्षिसेवित भृगुतुङ्ग नामक एक महान् पर्वत है, वहीं महात्मा भृगुने तप किया था । वहीं उनका आश्रम है ॥ २० ॥

यच्च भूतं भविष्यच्च भवच्च पुरुषर्षभ ।
नारायणः प्रभुर्विष्णुः शाश्वतः पुरुषोत्तमः ॥ २१ ॥

हे पुरुषसिंह ! जो भूत, भविष्यत् और वर्तमान कालमें स्थिर रहनेवाले सनातन नारायण विष्णु पुरुषोत्तम हैं ॥ २१ ॥

तस्यातियशसः पुण्यां विशालां बदरीमनु ।
आश्रमः ख्यायते पुण्यस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ॥ २२ ॥

उन्हीं महायशस्वी विष्णुका पवित्र विशाला नामक आश्रम उधर ही बदरीके समीप है । हे राजन् ! उसी देशमें तीनों लोकोंमें विख्यात तथा पवित्र आश्रम है ॥ २२ ॥

उष्णतोयवहा गङ्गा शीततोयवहापरा ।
सुवर्णसिकता राजन्विशालां बदरीमनु ॥ २३ ॥

जहां गङ्गाका उष्णजल बहता है, और दूसरी ठण्डे जलको बहाकर ले जाती है । हे राजन् ! बदरिकाश्रमके पास सुवर्णसिकता नामक तीर्थ है ॥ २३ ॥

ऋषयो यत्र देवाश्च महाभागा महौजसः ।
प्राप्य नित्यं नमस्यन्ति देवं नारायणं विभुम् ॥ २४ ॥

जहां जाकर महाभाग महातेजस्वी ऋषि और देवता लोग परमेश्वर नारायणको सदा प्रणाम किया करते हैं ॥ २४ ॥

यत्र नारायणो देवः परमात्मा सनातनः ।
तत्र कृत्स्नं जगत्पार्थ तीर्थान्यायतनानि च ॥ २५ ॥

जहां परमात्मा सनातन देव नारायण वास करते हैं, हे पार्थ ! वहां सब जगत्के पवित्र तीर्थ रहते हैं ॥ २५ ॥

तत्पुण्यं तत्परं ब्रह्म तत्तीर्थं तत्तपोवनम् ।
तत्र देवर्षयः सिद्धाः सर्वे चैव तपोधनाः ॥ २६ ॥

वह स्थान पवित्र ब्रह्मतीर्थ और तपका वन है, वहींपर तपोधन देव, ऋषि और सब सिद्ध रहते हैं ॥ २६ ॥

आदिदेवो महायोगी यत्रास्ते मधुसूदनः ।
पुण्यानामपि तत्पुण्यं तत्र ते संशयोऽस्तु मा ॥ २७ ॥

जहां आदिदेव महायोगी मधुराक्षसके नाशक विष्णु विराजमान हैं, हे महाराज ! यह स्थान पवित्रोंसे भी अधिक पवित्र है, इस विषयमें आपको कुछ भी शङ्का न होनी चाहिये ॥२७॥

एतानि राजन्पुण्यानि पृथिव्यां पृथिवीपते ।
कीर्तितानि नरश्रेष्ठ तीर्थान्यायतनानि च ॥ २८ ॥

हे राजन् ! हे पृथ्वीनाथ ! इस पृथ्वीमें इतने ही पवित्र तीर्थ हैं । हे महाराज ! मैंने जो यह पवित्रतीर्थ आपसे कहे हैं ॥ २८ ॥

एतानि वसुभिः साध्यैरादित्यैर्मरुदश्विभिः ।
ऋषिभिर्ब्रह्मकल्पैश्च सेवितानि महात्मभिः ॥ २९ ॥

इन सबमें वसु, साध्य, सूर्य, वायु, अश्विनीकुमार और महात्मा ब्रह्मके समान ऋषिलोग निवास करते हैं ॥ २९ ॥

चरन्नेतानि कौन्तेय सहितो ब्राह्मणर्षभैः ।
भ्रातृभिश्च महाभागैरुत्कण्ठां विजहिष्यसि ॥ ३० ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि अष्टाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८८ ॥ ३४०८ ॥

हे कुन्तीनन्दन ! इन तीर्थोंमें आप श्रेष्ठ ब्राह्मणों और महाभाग भाइयोंके सहित आनन्दसे घूमिये इस प्रकार घूमनेसे इन तीर्थोंके विषयमें आपकी उत्कण्ठा समाप्त हो जाएगी ॥३०॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें अठ्ठासीवां अध्याय समाप्त ॥ ८८ ॥ ३४०८ ॥

: ८९ :

वैशम्पायन उवाच

एवं संभाषमाणे तु धौम्ये कौरवनन्दन ।
लोमशः सुमहातेजा ऋषिस्तत्राजगाम ह ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— हे कौरवनन्दन ! धौम्य मुनि युधिष्ठिरसे ऐसा कह रहे थे, तभी वहां महातेजस्वी लोमश मुनि आये ॥ १ ॥

तं पाण्डवाग्रजो राजा सगणो ब्राह्मणाश्च ते ।
उदतिष्ठन्महाभागं दिवि शक्रमिवामराः ॥ २ ॥

उनको देखते ही पाण्डवोंमें सबसे बडे राजा युधिष्ठिर अपने पुरुष और ब्राह्मणोंके सहित इस प्रकार खडे हो गए जैसे महाभाग इन्द्रको आते देख स्वर्गमें देवता लोग खडे हो जाते हैं ॥ २ ॥

तमभ्यर्च्य यथान्यायं धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
पप्रच्छागमने हेतुमटने च प्रयोजनम् ॥ ३ ॥

धर्मराज महाराज युधिष्ठिरने उनकी यथायोग्य पूजा करके उनके घूमने और वहां आनेका प्रयोजन पूछा ॥ ३ ॥

स पृष्टः पाण्डुपुत्रेण प्रीयमाणो महामनाः ।
उवाच श्लक्ष्णया वाचा हर्षयन्निव पाण्डवान् ॥ ४ ॥

महामनस्वी लोमश मुनिने पाण्डुपुत्रके ऐसे पूछनेपर प्रसन्न होते हुए पाण्डवोंको प्रसन्न करते हुए मीठी वाणीसे यों कहा ॥ ४ ॥

संचरन्नस्मि कौन्तेय सर्वलोकान्यदृच्छया ।
गतः शक्रस्य सदनं तत्रापश्यं सुरेश्वरम् ॥ ५ ॥

हे कुन्तीनन्दन ! मैं अपनी इच्छासे सब लोकोंमें घूमता हूं । घूमते घूमते इन्द्रके स्थानमें गया था, वहां इन्द्रको देखा ॥ ५ ॥

तव च भ्रातरं वीरमपश्यं सव्यसाचिनम् ।
शक्रस्यार्धासनगतं तत्र मे विस्मयो महान् ।
आसीत्पुरुषशार्दूल दृष्ट्वा पार्थं तथागतम् ॥ ६ ॥

वहीं तुम्हारे भाई वीर अर्जुनको इन्द्रके आधे आसनपर बैठे हुए देखा, हे पुरुषशार्दूल ! अर्जुनको ऐसा देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ ६ ॥

आह मां तत्र देवेशो गच्छ पाण्डुसुतानिति ।
सोऽहमभ्यागतः क्षिप्रं दिदृक्षुस्त्वां सहानुजम् ॥ ७ ॥

तब इन्द्रने मुझसे कहा कि तुम पाण्डवोंके पास जाओ । इसलिए जल्दीसे भाइयोंके सहित आपको देखनेके लिए आया हूँ ॥ ७ ॥

वचनात्पुरुहूतस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
आख्यास्ये ते प्रियं तात महत्पाण्डवनन्दन ॥ ८ ॥

अब मैं महात्मा इन्द्र और अर्जुनकी आज्ञासे, हे तात पान्डुनन्दन ! आपके लिए बहुत प्रिय लगनेवाली बातको कहूंगा ॥ ८ ॥

भ्रातृभिः सहितो राजन्कृष्णया चैव तच्छृणु ।
यत्त्वयोक्तो महाबाहुरस्त्रार्थं पाण्डवर्षभ ॥ ९ ॥
तदस्त्रमाप्तं पार्थेन रुद्रादप्रतिमं महत् ।
यत्तद्ब्रह्मशिरो नाम तपसा रुद्रमागतम् ॥ १० ॥

अतः आप द्रौपदी और ऋषियोंके सहित सुनिये । हे भरतकुलसिंह ! आपने अर्जुनको जिस अस्त्रके निमित्त भेजा था, वह असाधारण अस्त्र अर्जुनने शिवसे प्राप्त कर लिया है, वह ब्रह्म-शिर नामका अस्त्र तपके द्वारा ही रुद्रको प्राप्त हुआ था ॥ ९-१० ॥

अमृतादुत्थितं रौद्रं तल्लब्धं सव्यसाचिना ।
तत्समन्त्रं ससंहारं सप्रायश्चित्तमङ्गलम् ॥ ११ ॥

वह अमृतसे उत्पन्न हुआ है वही ब्रह्मसिर अस्त्र अर्जुनको शिवसे मिला है, हे युधिष्ठिर ! अर्जुनने उस शस्त्रको मन्त्र, संहार, मंगल और प्रायश्चित्तके सहित सीखा है ॥ ११ ॥

वज्रं चान्यानि चास्त्राणि दण्डादीनि युधिष्ठिर ।
यमात्कुबेराद्वरुणादिन्द्राच्च कुरुनन्दन ।
अस्त्राण्यधीतवान्पार्थो दिव्यान्यमितविक्रमः ॥ १२ ॥

हे कुरुनन्दन ! युधिष्ठिर ! अर्जुनको यम, कुबेर, वरुण और इन्द्रसे वज्र और दण्ड आदि सब अन्य शस्त्र भी मिल गये हैं, महापराक्रमी अर्जुनने और भी दिव्य अस्त्र सीख लिये हैं ॥ १२ ॥

विश्वावसोश्च तनयाद्गीतं नृत्तं च साम च ।
वादित्रं च यथान्यायं प्रत्यविन्दद्यथाविधि ॥ १३ ॥

और विश्वावसुके पुत्र चित्ररथ गंधर्वसे नाचने गाने और बजानेकी विद्याको अच्छी प्रकार सीख लिया है ॥ १३ ॥

एवं कृतास्त्रः कौन्तेयो गान्धर्वं वेदमाप्तवान् ।
सुखं वसति बीभत्सुरनुजस्यानुजस्तव ॥ १४ ॥

इस प्रकार तुम्हारे छोटे भाईसे छोटे भाई कुन्तीपुत्र अर्जुन अस्त्रविद्या और गन्धर्व विद्याको सीखकर सुखसे स्वर्गमें रहते हैं ॥ १४ ॥

यदर्थं मां सुरश्रेष्ठ इदं वचनमब्रवीत् ।
तच्च ते कथयिष्यामि युधिष्ठिर निबोध मे ॥ १५ ॥

हे युधिष्ठिर ! मुझको देवराज इन्द्रने जिस निमित्त आपके पास यह वचन कहनेके लिए भेजा है, वह मैं कहता हूँ उसे सुनिये ॥ १५ ॥

भवान्मनुष्यलोकाय गमिष्यति न संशयः ।
ब्रूयाद्युधिष्ठिरं तत्र वचनान्मे द्विजोत्तम ॥ १६ ॥

हे द्विजसत्तम ! आप मनुष्य लोकमें आयेंगे, इसमें कोई संशय नहीं, तो वहां मेरे वचनानुसार युधिष्ठिरसे ऐसा कहियेगा ॥ १६ ॥

आगमिष्यति ते भ्राता कृतास्त्रः क्षिप्रमर्जुनः ।
सुरकार्यं महत्कृत्वा यदशक्यं दिवौकसैः ॥ १७ ॥

कि आपके भाई अर्जुन शीघ्र ही शस्त्रोंको सीखकर और जो कार्य देवताओंसे नहीं हो सकता है, उस भारी देवकार्यको करके आपके पास आयेंगे ॥ १७ ॥

तपसा तु स्वमात्मानं भ्रातृभिः सह योजय ।
तपसो हि परं नास्ति तपसा विन्दते महत् ॥ १८ ॥

इसी बीच आप भी भाइयोंके सहित स्वयंको तपसे संयुक्त कीजिए क्योंकि जगत्‌में तपके बराबर कोई वस्तु नहीं है और तपहीसे परमपद मिलता है ॥ १८ ॥

अहं च कर्णं जानामि यथावद्भरतर्षभ ।
न स पार्थस्य संग्रामे कलामर्हति षोडशीम् ॥ १९ ॥

हे भरतकुलसिंह ! मैं कर्णको अच्छी प्रकार जानता हूँ, हे वीर ! यह निश्चय है, कि कर्ण युद्धमें अर्जुनसे सोलहवें भागके समान भी योद्धा नहीं है ॥ १९ ॥

यच्चापि ते भयं तस्मान्मनसिस्थमरिन्दम ।
तच्चाप्यपहरिष्यामि सव्यसाचाविहागते ॥ २० ॥

हे शत्रुनाशक ! जब अर्जुन आयेंगे तब वह भय जो कर्णकी ओरसे आपके हृदयमें है, सब निकाल दूँगा ॥ २० ॥

यच्च ते मानसं वीर तीर्थयात्रामिमां प्रति ।
तच्च ते लोमशः सर्वं कथयिष्यत्यसंशयम् ॥ २१ ॥

हे शत्रुनाशन ! आपके मनमें जो इस तीर्थयात्राकी इच्छा है, उस सबको निःसन्देह लोमश ऋषि आपसे कहेंगे ॥ २१ ॥

यच्च किंचित्तपोयुक्तं फलं तीर्थेषु भारत ।
महर्षिरेष यद्ब्रूयात्तच्छ्रद्धेयमनन्यथा ॥ २२ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि एकोननवतितमोऽध्यायः ॥ ८९ ॥ ३४३० ॥

हे भारत ! तप करनेसे और तीर्थोंमें जानेसे क्या क्या फल होते हैं, उस सबको महर्षि लोमश आपसे कहेंगे, आप उनके वचनोंको झूठा न समझियेगा ॥ २२ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें नवासीवां अध्याय समाप्त ॥ ८९ ॥ ३४३० ॥

: ९० :

लोमश उवाच

धनञ्जयेन चाप्युक्तं यत्तच्छृणु युधिष्ठिर ।
युधिष्ठिरं भ्रातरं मे योजयेर्धर्म्यया श्रिया ॥ १ ॥

लोमश बोले– हे युधिष्ठिर ! अब अर्जुनने जो कुछ आपसे कहा है उसे आप सुनिये, उन्होंने कहा है, कि हे लोमश ! आप मेरे भाई युधिष्ठिरको धर्मकी लक्ष्मीसे युक्त कीजिये ॥ १ ॥

त्वं हि धर्मान्परान्वेत्थ तपांसि च तपोधन ।
श्रीमतां चापि जानासि राज्ञां धर्मं सनातनम् ॥ २ ॥

हे तपोधन ! आप परम धर्म तप और ऐश्वर्यवान् राजाओंके सनातन धर्मको अच्छी प्रकार जानते हैं ॥ २ ॥

स भवान्यत्परं वेद पावनं पुरुषान्प्रति ।
तेन संयोजयेथास्त्वं तीर्थपुण्येन पाण्डवम् ॥ ३ ॥

आप पुरुषोंको अतिशय पवित्र करनेवाले स्थानोंको जानते हैं, इसलिये आप पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको तीर्थसे प्राप्त होनेवाले पुण्यसे संयुक्त कीजिए ॥ ३ ॥

यथा तीर्थानि गच्छेत गाश्च दद्यात्स पार्थिवः ।
तथा सर्वात्मना कार्यमिति मां विजयोऽब्रवीत् ॥ ४ ॥

जिस प्रकार महाराज तीर्थोंमें जायें और गौदान करें, आप सब प्रकारसे वैसा ही यत्न कीजियेगा, ऐसा मुझसे अर्जुनने कहा ॥ ४ ॥

भवता चानुगुप्तोऽसौ चरेत्तीर्थानि सर्वशः ।
रक्षोभ्यो रक्षितव्यश्च दुर्गेषु विषमेषु च ॥ ५ ॥

और यह भी कहा है कि, घोर वन और दुःखसे जाने योग्य स्थानोंमें आप राक्षसोंसे महाराजकी रक्षा कीजियेगा, ताकि आपसे रक्षित होकर महाराज सब तीर्थोंमें जा सकेंगे ॥५॥

दधीच इव देवेन्द्रं यथा चाप्यंगिरा रविम् ।
तथा रक्षस्व कौन्तेयं राक्षसेभ्यो द्विजोत्तम ॥ ६ ॥

जिस प्रकार दधीच मुनिने इन्द्रकी और अंगिराने सूर्यकी रक्षा की थी, उसी प्रकार, हे द्विजश्रेष्ठ ! आप भी कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरकी राक्षसोंसे रक्षा कीजिए ॥ ६ ॥

यातुधाना हि बहवो राक्षसाः पर्वतोपमाः ।
त्वयाभिगुप्तान्कौन्तेयान्नातिवर्तेयुरन्तिकात् ॥ ७ ॥

क्योंकि पर्वतोंके समान शरीरवाले अनेक राक्षस और डाकू वनोंमें निवास करते हैं, राजाको आपसे रक्षित देखकर वे राक्षस कुंतीपुत्रके समीप नहीं आ सकेंगे ॥ ७ ॥

सोऽहमिन्द्रस्य वचनान्नियोगादर्जुनस्य च ।
रक्षमाणो भयेभ्यस्त्वां चरिष्यामि त्वया सह ॥ ८ ॥

अतः अब मैं इन्द्रके वचन और अर्जुनकी आज्ञासे आपके साथ तीर्थोंको जाऊंगा, और वहां सब भयोंसे आपकी रक्षा करूंगा ॥ ८ ॥

×

द्विस्तीर्थानि मया पूर्वं दृष्टानि कुरुनन्दन।
इदं तृतीयं द्रक्ष्यामि तान्येव भवता सह ॥ ९ ॥

हे कुरुनन्दन! मैंने सब तीर्थोंको दो दो बार देखा है, अब तीसरी बार आपके साथ चलकर उन्हींको देखूंगा ॥ ९ ॥

इयं राजर्षिभिर्याता पुण्यकृद्भिर्युधिष्ठिर।
मन्वादिभिर्महाराज तीर्थयात्रा भयापहा ॥ १० ॥

हे महाराज युधिष्ठिर! यह तीर्थयात्रा पुण्य करनेवाले मनु आदि राजऋषियोंसे सेवित और भयको नाश करनेवाली है ॥ १० ॥

नानृजुर्नाकृतात्मा च नावैद्यो न च पापकृत्।
स्नाति तीर्थेषु कौरव्य न च वक्रमतिर्नरः ॥ ११ ॥

हे कौरव्य! इन तीर्थोंमें न कुटिल, न आत्मशक्तिसे हीन, न अविद्वान्, न पापी और न कुटिल बुद्धिवाला पुरुष ही स्नान कर सकता है ॥ ११ ॥

त्वं तु धर्ममतिर्नित्यं धर्मज्ञः सत्यसंगरः।
विमुक्तः सर्वपापेभ्यो भूय एव भविष्यसि ॥ १२ ॥

आप सत्य बोलनेवाले, धर्मज्ञ और सदासे धर्मबुद्धि हैं, इन तीर्थोंको करनेसे आप फिर भी सब पापोंसे अलग हो जायंगे! ॥ १२ ॥

यथा भगीरथो राजा राजानश्च गयादयः।
यथा ययातिः कौन्तेय तथा त्वमपि पाण्डव ॥ १३ ॥

हे पाण्डव! हे कुन्तीनन्दन! राजा भगीरथ जिस तरह पुण्यशाली थे, जिस प्रकार राजा गय आदि थे, अथवा जैसे ययाति थे, वैसे ही आप भी पुण्यशाली हैं ॥ १३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

न हर्षात्संप्रपश्यामि वाक्यस्यास्योत्तरं क्वचित्।
स्मरेद्धि देवराजो यं किं नामाभ्यधिकं ततः ॥ १४ ॥

युधिष्ठिर बोले— मैं इतना प्रसन्न हुआ हूं कि आपकी इस बातका कुछ उत्तर नहीं दे सकता, क्योंकि जिसका स्मरण इन्द्र करे, उससे अधिक भाग्यशाली और कौन होगा? ॥ १४ ॥

भवता संगमो यस्य भ्राता यस्य धनञ्जयः।
वासवः स्मरते यस्य को नामाभ्यधिकस्ततः ॥ १५ ॥

जिसको आपका दर्शन हो, जिसका भाई अर्जुन हो और जिनका इन्द्र स्मरण करे उससे अधिक भाग्यशाली और कौन होगा? ॥ १५ ॥

यच्च मां भगवानाह तीर्थानां दर्शनं प्रति ।
धौम्यस्य वचनादेषा बुद्धिः पूर्वं कृतैव मे ॥ १६ ॥

जो भगवान् इन्द्रने मुझको तीर्थ जानेकी आज्ञा दी है, उसके बारेमें तो धौम्य मुनिके वचनसे मैंने पहले ही विचार कर लिया है ॥ १६ ॥

तद्यदा मन्यसे ब्रह्मन्गमनं तीर्थदर्शने ।
तदैव गन्तास्मि दृढमेष मे निश्चयः परः ॥ १७ ॥

हे ब्राह्मण! तीर्थोंका दर्शन करनेके लिए मैंने दृढ निश्चय कर लिया है अतः जिस दिन आप चलनेकी इच्छा करेंगे मैं भी उसी दिन तीर्थ यात्राको चलूंगा ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच

गमने कृतबुद्धिं तं पाण्डवं लोमशोऽब्रवीत् ।
लघुर्भव महाराज लघुः स्वैरं गमिष्यसि ॥ १८ ॥

वैशम्पायन बोले– युधिष्ठिरके चलनेकी इच्छा देखकर लोमश कहने लगे, कि हे महाराज! आप थोडे ही पुरुषोंको अपने साथ लीजिये, क्योंकि थोडे पुरुषोंके रहनेसे सुखसे और जहां चाहे, वहां जा सकोगे ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर उवाच

भिक्षाभुजो निवर्तन्तां ब्राह्मणा यतयश्च ये ।
ये चाप्यनुगताः पौरा राजभक्तिपुरस्कृताः ॥ १९ ॥

युधिष्ठिर बोले– जो यती और ब्राह्मण भीख मांगकर खाते हैं तथा जो पुरवासी राजभक्तिके कारण हमारे साथ हैं, वे सब लौट जावें ॥ १९ ॥

धृतराष्ट्रं महाराजमभिगच्छन्तु चैव ते ।
स दास्यति यथाकालमुचिता यस्य या भृतिः ॥ २० ॥

वे सब महाराज धृतराष्ट्रके पास चले जायें, वे उन सबको समयके अनुसार जो जिसका वेतन है देंगे ॥ २० ॥

स चेद्यथोचितां वृत्तिं न दद्यान्मनुजेश्वरः ।
अस्मत्प्रियहितार्थाय पांचाल्यो वः प्रदास्यति ॥ २१ ॥

यदि वे महाराज उन पुरुषोंको उचित वेतन न दें तो हमारे प्रिय करनेकी अभिलाषासे पांचालराजा द्रुपद सबको वेतन देंगे ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच

तलो भूयिष्ठशः पौरा गुरुभारसमाहिताः ।
विप्राश्च यतयो युक्ता जग्मुर्नागपुरं प्रति ॥ २२ ॥

वैशम्पायन बोले—उसी समय राजाकी आज्ञाके बोझसे पीडित होकर अनेक पुरवासी ब्राह्मण और यति हस्तिनापुरको चले गये ॥ २२ ॥

तान्सर्वान्धर्मराजस्य प्रेम्णा राजाम्बिकासुतः ।
प्रतिजग्राह विधिवद्धनैश्च समतर्पयत् ॥ २३ ॥

उन सबको राजा युधिष्ठिरके प्रेमसे अम्बिकापुत्र महाराज धृतराष्ट्रने अपने यहां विधिवत् रख लिया और धन देकर सन्तुष्ट किया ॥ २३ ॥

ततः कुन्तीसुतो राजा लघुभिर्ब्राह्मणैः सह ।
लोमशेन च सुप्रीतस्त्रिरात्रं काम्यकेऽवसत् ॥ २४ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि नवातितमोऽध्यायः ॥ ९० ॥ ३४५४ ॥

तदनन्तर कुन्तीपुत्र महाराज युधिष्ठिर थोडे ब्राह्मणोंके और लोमश मुनिके साथ प्रेमसे तीन दिन काम्यक वनमें और रहे ॥ २४ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें नब्बेवां अध्याय समाप्त ॥ ९० ॥ ३४५४ ॥

ः ९१ ः

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रयान्तं कौन्तेयं ब्राह्मणा वनवासिनः ।
अभिगम्य तदा राजन्निदं वचनमब्रुवन् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! कुन्तीपुत्र महाराज युधिष्ठिरको चलते हुए देख वनवासी तपस्वी उनके पास आकर यह वचन बोले ॥ १ ॥

राजंस्तीर्थानि गन्तासि पुण्यानि भ्रातृभिः सह ।
देवर्षिणा च सहितो लोमशेन महात्मना ॥ २ ॥

हे राजन् ! आप भाइयोंके सहित देवर्षि और महात्मा लोमश मुनिको साथमें लेकर पवित्र तीर्थोंको जानेवाले हैं ॥ २ ॥

अस्मानपि महाराज नेतुमर्हसि पाण्डव ।
अस्माभिर्हि न शक्यानि त्वदृते तानि कौरव ॥ ३ ॥

हे पाण्डव ! हे महाराज ! आपको उचित है, कि आप हम लोगोंको भी अपने साथ ले चलिये, क्योंकि, हे कौरव ! हम आपके बिना इन तीर्थोंमें फिर कभी नहीं जा सकते ॥ ३ ॥

श्वापदैरुपसृष्टानि दुर्गाणि विषमाणि च ।
अगम्यानि नरैरल्पैस्तीर्थानि मनुजेश्वर ॥ ४ ॥

क्योंकि, हे नरनाथ ! सिंहादि जन्तुओंसे भरे हुए, दुःखसे जाने योग्य घोर अगम्य तीर्थोंमें थोडे ही मनुष्य जा सकते हैं ॥ ४ ॥

भवन्तो भ्रातरः शूरा धनुर्धरवराः सदा ।
भवद्भिः पालिताः शूरैर्गच्छेम वयमच्युत ॥ ५ ॥

आप और आपके भाई बडे शूरवीर, धनुर्धारियोंमें श्रेष्ठ हैं, शूरवीर लोगोंसे रक्षित होकर हम लोग भी तीर्थ कर लेंगे ॥ ५ ॥

भवत्प्रसादाद्धि वयं प्राप्नुयाम फलं शुभम् ।
तीर्थानां पृथिवीपाल व्रतानां च विशां पते ॥ ६ ॥

हे पृथ्वीपाल ! हे प्रजाओंके स्वामी ! हम लोग भी आपकी कृपासे तीर्थ और व्रतोंका पवित्र फल पा लेंगे ॥ ६ ॥

तव वीर्यपरित्राताः शुद्धास्तीर्थपरिप्लुताः ।
भवेम धूतपाप्मानस्तीर्थसंदर्शनान्नृप ॥ ७ ॥

हम लोग आपके बलसे रक्षित होकर तीर्थोंमें स्नान करके और उन तीर्थोंका दर्शन करके पापोंसे छूटकर पवित्र हो जायेंगे ॥ ७ ॥

भवानपि नरेन्द्रस्य कार्तवीर्यस्य भारत ।
अष्टकस्य च राजर्षेर्लोमपादस्य चैव ह ॥ ८ ॥
भरतस्य च वीरस्य सार्वभौमस्य पार्थिव ।
ध्रुवं प्राप्स्यसि दुष्प्रापाँल्लोकांस्तीर्थपरिप्लुतः ॥ ९ ॥

हे नरनाथ ! महाराज कृतवीर्यके पुत्र, राजर्षि अष्टक, लोमपाद और चक्रवर्ती वीर राजा भरतकी गतिको, हे भारत ! आप भी तीर्थोंमें स्नान करके प्राप्त हों, यह लोक अत्यन्त कठिनतासे प्राप्त होनेवाले हैं ॥ ८-९ ॥

प्रभासादीनि तीर्थानि महेंद्रादींश्च पर्वतान् ।
गङ्गाद्याः सरितश्चैव प्लक्षादींश्च वनस्पतीन् ।
त्वया सह महीपाल द्रष्टुमिच्छामहे वयम् ॥ १० ॥

हे पृथ्वीनाथ ! हम लोग आपके साथ जाकर प्रभास तीर्थ, महेन्द्र आदि पर्वत, गंगा आदि नदी और प्लक्ष आदि वृक्षोंको देखनेकी इच्छा करते हैं ॥ १० ॥

यदि ते ब्राह्मणेष्वस्ति काचित्प्रीतिर्जनाधिप ।
कुरु क्षिप्रं वचोऽस्माकं ततः श्रेयोऽभिपत्स्यसे ॥ ११ ॥

हे राजन् ! यदि आपको ब्राह्मणोंपर जरा भी प्रेम हो; तो, महाराज ! हमारे इन वचनोंको स्वीकार कीजिये, इससे आपका कल्याण होगा ॥ ११ ॥

तीर्थानि हि महाबाहो तपोविघ्नकरैः सदा ।
अनुकीर्णानि रक्षोभिस्तेभ्यो नस्त्रातुमर्हसि ॥ १२ ॥

हे महाबाहो ! वे सब तीर्थ तपका नाश करनेवाले राक्षसोंसे भरे हुए हैं । उन सबसे आप हमारी रक्षा करनेके योग्य हैं ॥ १२ ॥

तीर्थान्युक्तानि धौम्येन नारदेन च धीमता ।
यान्युवाच च देवर्षिर्लोमशः सुमहातपाः ॥ १३ ॥

जो तीर्थ धौम्यने और बुद्धिमान् नारदने कहे थे और जो महातपस्वी देवर्षि लोमशने भी कहे हैं ॥ १३ ॥

विधिवत्तानि सर्वाणि पर्यटस्व नराधिप ।
धूतपाप्मा सहास्माभिर्लोमशेन च पालितः ॥ १४ ॥

हे नरनाथ ! लोमशसे रक्षित होकर हम लोगोंके साथ आप पापोंसे छूटकर विधिपूर्वक उन तीर्थोंमें घूमिए ॥ १४ ॥

स तथा पूज्यमानस्तैर्हर्षादश्रुपरिप्लुतः ।
भीमसेनादिभिर्वीरैर्भ्रातृभिः परिवारितः ।
बाढमित्यब्रवीत्सर्वांस्तानृषीन्पाण्डवर्षभः ॥ १५ ॥

राजा उन मुनियोंसे इस प्रकार आदर पाकर हर्षसे उत्पन्न हुए आंसुओंसे नहा गये । तदनन्तर वीर भीमसेन आदि भाइयोंके घिरे हुए पाण्डवसिंह युधिष्ठिरने उन ऋषियोंसे कहा कि 'बहुत अच्छा' ॥ १५ ॥

लोमशं समनुज्ञाप्य धौम्यं चैव पुरोहितम् ।
ततः स पाण्डवश्रेष्ठो भ्रातृभिः सहितो वशी ।
द्रौपद्या चानवद्याङ्ग्या गमनाय मनो दधे ॥ १६ ॥

तदनन्तर लोमश और पुरोहित धौम्यकी आज्ञा लेकर उस जितेन्द्रिय पाण्डवश्रेष्ठ युधिष्ठिरने अपने भाई और सुन्दर अंगोंवाली द्रौपदीके साथ उस वनसे चलनेका विचार किया ॥ १६ ॥

अथ व्यासो महाभागस्तथा नारदपर्वतौ ।
काम्यके पाण्डवं द्रष्टुं समाजग्मुर्मनीषिणः ॥ १७ ॥

उसी समय विद्वान् महाभाग व्यास, पर्वत और नारद काम्यक वनमें पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको देखनेकी इच्छासे आये ॥ १७ ॥

तेषां युधिष्ठिरो राजा पूजां चक्रे यथाविधि ।
सत्कृतास्ते महाभागा युधिष्ठिरमथाब्रुवन् ॥ १८ ॥

महाराज युधिष्ठिरने उन सबकी पूजा उचित विधिसे की, तब महाभाग मुनीश्वर युधिष्ठिरसे पूजित होकर ऐसा कहने लगे ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर यमौ भीम मनसा कुरुतार्जवम् ।
मनसा कृतशौचा वै शुद्धास्तीर्थानि गच्छत ॥ १९ ॥

हे युधिष्ठिर ! हे भीम ! हे नकुल ! हे सहदेव ! आप अपने मनको पवित्र कीजिये, मनको पवित्र करके शुद्ध होकर तीर्थोंको जाइये ॥ १९ ॥

शरीरनियमं ह्याहुर्ब्राह्मणा मानुषं व्रतम् ।
मनोविशुद्धां बुद्धिं च दैवमाहुर्व्रतं द्विजाः ॥ २० ॥

ब्राह्मण शरीरकी शुद्धिको मानुष व्रत कहते हैं और दूसरे विद्वान् ब्राह्मण मन और बुद्धिकी पवित्रताको दैवव्रत कहते हैं ॥ २० ॥

मनो ह्यदुष्टं शूराणां पर्याप्तं वै नराधिप ।
मैत्रीं बुद्धिं समास्थाय शुद्धास्तीर्थानि गच्छत ॥ २१ ॥

हे नरनाथ ! शुद्ध मनकी पवित्रता ही शूरवीरोंके लिए पर्याप्त है, आप अपनी बुद्धिको पवित्र और सबको मित्र बनाकर तीर्थोंको जाइये ॥ २१ ॥

ते यूयं मानसैः शुद्धाः शरीरनियमव्रतैः ।
दैवं व्रतं समास्थाय यथोक्तं फलमाप्स्यथ ॥ २२ ॥

जब आप शरीरके नियमव्रत और मनसे शुद्ध होंगे और दैवव्रत धारण करेंगे, तो तीर्थोंका यथायोग्य फल पावेंगे ॥ २२ ॥

ते तथेति प्रतिज्ञाय कृष्णया सह पाण्डवाः ।
कृतस्वस्त्ययनाः सर्वे मुनिभिर्दिव्यमानुषैः ॥ २३ ॥

तब द्रौपदीके साथ पाण्डवोंने प्रतिज्ञा की, कि 'हम ऐसा ही करेंगे', तब देव ऋषि और मुनि स्वस्ति पाठ करने लगे ॥ २३ ॥

लोमशस्योपसंगृह्य पादौ द्वैपायनस्य च ।
नारदस्य च राजेन्द्र देवर्षेः पर्वतस्य च ॥ २४ ॥
धौम्येन सहिता वीरास्तथान्यैर्वनवासिभिः ।
मार्गशीर्ष्यामतीतायां पुष्येण प्रययुस्ततः ॥ २५ ॥

हे राजेन्द्र ! तदनन्तर लोमश, व्यास, देवर्षि नारद और पर्वतके चरणोंमें प्रणाम करके मार्गशीर्ष मास समाप्त होते ही पुष्यमें धौम्य ऋषि और अन्य वनवासी ऋषियोंके सहित वे वीर चले ॥ २४-२५ ॥

कठिनानि समादाय चीराजिनजटाधराः ।
अभेद्यैः कवचैर्युक्तास्तीर्थान्यन्वचरंस्तदा ॥ २६ ॥

जटा और मृगचर्मधारी पाण्डव न टूटने योग्य कवच पहनकर तथा कुछ पात्र लेकर तीर्थोंमें विचरने लगे ॥ २६ ॥

इन्द्रसेनादिभिर्भृत्यै रथैः परिचतुर्दशैः ।
महानसव्यापृतैश्च तथान्यैः परिचारकैः ॥ २७ ॥

उनके साथ पन्द्रह रथ थे और इन्द्रसेन आदि सारथी, रसोइये, सेवक और प्रधान प्रधान कर्मचारी भी सङ्ग थे ॥ २७ ॥

सायुधा बद्धनिस्त्रिंशास्तूणवन्तः समार्गणाः ।
प्राङ्मुखाः प्रययुर्वीराः पाण्डवा जनमेजय ॥ २८ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि एकनवतितमोऽध्यायः ॥ ९१ ॥ ३४८२ ॥

हे जनमेजय ! वे सब वीर पाण्डव शस्त्र लिये, कवच बांधे, बाणोंसे भरपूर तूणीर लगाये पूर्वकी ओर मुंह करके चले ॥ २८ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें इक्यानव्वेवां अध्याय समाप्त ॥ ९१ ॥ ३४८२ ॥

: ९२ :

युधिष्ठिर उवाच

न वै निर्गुणमात्मानं मन्ये देवर्षिसत्तम ।
तथास्मि दुःखसंतप्तो यथा नान्यो महीपतिः ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे देवर्षि सत्तम ! मैं स्वयंको सात्त्विक गुणोंसे हीन नहीं मानता, फिर भी इतने महान् दुःखसे संतप्त हो रहा हूँ कि जितना कोई दूसरा राजा न हुआ होगा ॥ १ ॥

परांश्च निर्गुणान्मन्ये न च धर्मरतानपि ।
ते च लोमश लोकेऽस्मिन्नृध्यन्ते केन हेतुना ॥ २ ॥

हे लोमश ! मै जानता हूँ, कि मेरे शत्रु अधर्मी और गुणहीन हैं, तो भी, हे लोमश ! न जाने इस लोकमें उनकी वृद्धि क्यों होती जाती है ? ॥ २ ॥

लोमश उवाच

नात्र दुःखं त्वया राजन्कार्यं पार्थ कथंचन ।
यदधर्मेण वर्धेरन्नधर्मरुचयो जनाः ॥ ३ ॥

लोमश बोले– हे राजन् ! कुन्तीपुत्र ! अधर्मी पुरुष अधर्मसीसे बढते हैं, इसमें आपको कदापि दुःख नहीं करना चाहिये ॥ ३ ॥

वर्धत्यधर्मेण नरस्ततो भद्राणि पश्यति ।
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति ॥ ४ ॥

क्योंकि यह नियम है, कि पुरुष पहले अधर्मसे बढता है, फिर उसे सुख मिलता है, पश्चात् वह शत्रुओंको जीतता है, तब अन्तमें वह जडसे नष्ट हो जाता है ॥ ४ ॥

मया हि दृष्टा दैतेया दानवाश्च महीपते ।
वर्धमाना ह्यधर्मेण क्षयं चोपगताः पुनः ॥ ५ ॥

हे पृथ्वीनाथ ! मैंने अनेक राक्षस और दैत्योंको देखा है, कि पहले वह अधर्मसे बढे और फिर अन्तमें नष्ट हो गये ॥ ५ ॥

पुरा देवयुगे चैव दृष्टं सर्वं मया विभो ।
अरोचयन्सुरा धर्मं धर्मं तत्यजिरेऽसुराः ॥ ६ ॥

हे नाथ ! मैंने पहले यह सब देवयुगमें देखा था, कि देवताओंने धर्मको धारण किया और राक्षसोंने धर्मको छोड दिया ॥ ६ ॥

तीर्थानि देवा विविशुर्नाविशन्भारतासुराः ।
तानधर्मकृतो दर्पः पूर्वमेव समाविशत् ॥ ७ ॥

हे भारत ! देवता तीर्थमें गये और राक्षस नहीं गये, उनमें अधर्मसे उत्पन्न होनेवाला अभिमान पहले ही घुस गया था ॥ ७ ॥

दर्पान्मानः समभवन्मानात्क्रोधो व्यजायत ।
क्रोधादह्रीस्ततोऽलज्जा वृत्तं तेषां ततोऽनशत् ॥ ८ ॥

उनमें अहङ्कारसे अभिमान हुआ, अभिमानसे क्रोध उत्पन्न हुआ, क्रोधसे निर्लज्जता, निर्लज्जतासे दुष्कर्मोंमें प्रवृत्ति और दुष्कर्म करनेसे उनका सर्वनाश हो गया ॥ ८ ॥

तानलज्जान्गतह्रीकान्हीनवृत्तान्वृथाव्रतान्
क्षमा लक्ष्मीश्च धर्मश्च नचिरात्प्रजहुस्ततः ।
लक्ष्मीस्तु देवानगमदलक्ष्मीरसुरान्नृप ॥ ९ ॥

उन अधर्म, निर्लज्ज, संकोचहीन और मिथ्या व्रतधारियोंको क्षमा, लक्ष्मी और धर्मने शीघ्र ही छोड दिया और लक्ष्मी देवताओंके यहां और अलक्ष्मी राक्षसोंके यहां वास करने लगी ॥ ९ ॥

तानलक्ष्मीसमाविष्टान्दर्पोपहतचेतसः ।
दैतेयान्दानवांश्चैव कलिरप्याविशत्ततः ॥ १० ॥

तदनन्तर अभिमानसे नष्ट चित्तवाले उन लक्ष्मीहीन दैत्य और दानवोंके यहां कलियुगने वास किया ॥ १० ॥

तानलक्ष्मीसमाविष्टान्दानवान्कलिना तथा।
दर्पाभिभूतान्कौन्तेय क्रियाहीनानचेतसः ॥ ११ ॥
मानाभिभूतानचिराद्विनाशः प्रत्यपद्यत।
निर्यज्ञस्यास्ततो दैत्याः कृत्स्नशो विलयं गताः ॥ १२ ॥

उन लक्ष्मीरहित, कलिसे प्रभावित, अभिमानसे युक्त, क्रियासे हीन और बुद्धिहीन, अभिमानसे अभिभूत उन राक्षसोंका शीघ्र ही नाश हो गया, तब राक्षसोंके यज्ञहीन होनेसे उनका सर्वनाश हो गया ॥ ११-१२ ॥

देवास्तु सागरांश्चैव सरितश्च सरांसि च।
अभ्यगच्छन्धर्मशीलाः पुण्यान्यायतनानि च ॥ १३ ॥

तब धर्मका आचरण करनेवाले देवता, समुद्र, नदी और तालाव आदि पवित्र स्थानोंमें तीर्थ करनेको गये थे ॥ १३ ॥

तपोभिः क्रतुभिर्दानैराशीर्वादैश्च पाण्डव।
प्रजहुः सर्वपापानि श्रेयश्च प्रतिपेदिरे ॥ १४ ॥

हे पाण्डव ! देवताओंने तप, यज्ञ, दान और आशिर्वादोंसे अपने सब पापोंको दूर किया और अनेक कल्याणोंको प्राप्त किया ॥ १४ ॥

एवं हि दानवन्तश्च क्रियावन्तश्च सर्वशः।
तीर्थान्यगच्छन्विबुधास्तेनापुर्भूतिमुत्तमाम् ॥ १५ ॥

इसी प्रकारसे विद्वान् देवता दान करते हुए तथा उत्तम कर्म करते हुए तीर्थोंमें घूमने लगे, इसीसे उनको उत्तम लक्ष्मी मिली ॥ १५ ॥

तथा त्वमपि राजेन्द्र स्नात्वा तीर्थेषु सानुजः।
पुनर्वेत्स्यसि तां लक्ष्मीमेष पन्थाः सनातनः ॥ १६ ॥

हे राजेन्द्र ! इसी प्रकारसे आप भी अपने छोटे भाईयोंके सहित तीर्थोंमें स्नान करके उसी लक्ष्मीको फिर प्राप्त कीजियेगा। हे राजन् ! यह सनातन मार्ग है ॥ १६ ॥

यथैव हि नृगो राजा शिबिरौशीनरो यथा।
भगीरथो वसुमना गयः पूरुः पुरूरवाः ॥ १७ ॥
चरमाणास्तपो नित्यं स्पर्शनादम्भसश्च ते।
तीर्थाभिगमनात्पूता दर्शनाच्च महात्मनाम् ॥ १८ ॥

जैसे नृग, शिबि, औशीनर, भगीरथ, वसुमना, गय, पुरु और पुरूरवा आदि राजाओंने तपस्या की और पानीके स्पर्शसे, तीर्थोंमें जानेसे और महात्माओंके दर्शनसे वे पवित्र हुए थे ॥ १७-१८ ॥

अलभन्त यशः पुण्यं धनानि च विशां पते ।
तथा त्वमपि राजेन्द्र लब्धासि विपुलां श्रियम् ॥ १९ ॥

हे प्रजानाथ ! उन्होंने लक्ष्मी, यश और पुण्य प्राप्त किया था, वैसे ही आपको बहुत लक्ष्मी मिलेगी ॥ १९ ॥

यथा चेक्ष्वाकुरचरत्सपुत्रजनबान्धवः ।
मुचुकुन्दोऽथ मान्धाता मरुत्तश्च महीपतिः ॥ २० ॥
कीर्तिं पुण्यामविन्दन्त यथा देवास्तपोबलात् ।
देवर्षयश्च कार्त्स्न्येन तथा त्वमपि वेत्स्यसे ॥ २१ ॥

जैसे इक्ष्वाकुने पुत्र और बान्धवोंके सहित आनन्द किया था, जैसे मुचुकुन्द, मान्धाता और राजा मरुत्तने पवित्र कीर्तिको लाभ किया था और जैसे तपस्याके बलसे देवता और देवऋषि आनन्द करते हैं, वैसे ही आप भी आनन्द कीजियेगा ॥ २०-२१ ॥

धार्तराष्ट्रास्तु दर्पेण मोहेन च वशीकृताः ।
नचिराद्विनशिष्यन्ति दैत्या इव न संशयः ॥ २२ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि द्विनवतितमोऽध्यायः ॥ ९२ ॥ ३५०४ ॥

जैसे राक्षस नष्ट हो गये, वैसे ही धृतराष्ट्रके पुत्र भी अभिमान और मोहके वशमें होनेसे निःसन्देह शीघ्र ही नष्ट होंगे ॥ २२ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें बयानव्वेवां अध्याय समाप्त ॥ ९२ ॥ ३५०४ ॥

: ९३ :

वैशम्पायन उवाच

ते तथा सहिता वीरा वसन्तस्तत्र तत्र ह ।
क्रमेण पृथिवीपाल नैमिषारण्यमागताः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— हे पृथिवीपाल ! वीर पाण्डव सब पुरुषोंके सहित इस प्रकार क्रमसे जहां तहां वसते हुए नैमिषारण्य तीर्थमें पहुंचे ॥ १ ॥

ततस्तीर्थेषु पुण्येषु गोमत्याः पाण्डवा नृप ।
कृताभिषेकाः प्रददुर्गाश्च वित्तं च भारत ॥ २ ॥

हे भारत ! पाण्डवोंने गोमतीके उन पवित्र तीर्थोंमें जाकर स्नान किया और अनेक गौ तथा बहुत सारा धन दानमें दिया ॥ २ ॥

तत्र देवान्पितॄन्विप्रांस्तर्पयित्वा पुनः पुनः।
कन्यातीर्थेऽश्वतीर्थे च गवां तीर्थे च कौरवाः ॥ ३ ॥
कुरुवंशी पांडवोंने कन्यातीर्थ, अश्वतीर्थ, गोतीर्थमें जाकर और देवों, पितरों और ब्राह्मणोंको बार बार तृप्त किया ॥ ३ ॥

बालकोटयां वृषप्रस्थे गिरावुष्य च पाण्डवाः।
बाहुदायां महीपाल चक्रुः सर्वेऽभिषेचनम् ॥ ४ ॥
इसके बाद बालकोटि और वृषप्रस्थ पर्वतपर जाकर, हे पृथ्वीनाथ! उन पाण्डवोंने बाहुदा नदीमें स्नान किया ॥ ४ ॥

प्रयागे देवयजने देवानां पृथिवीपते।
ऊषुराप्लुत्य गात्राणि तपश्चातस्थुरुत्तमम् ॥ ५ ॥
हे पृथ्वीनाथ! वहांसे वे देवताओंके यज्ञस्थान प्रयागमें पहुंचे, वहां जाकर स्नान करके रहने लगे और वहीं व्रत और उत्तम तप करने लगे ॥ ५ ॥

गङ्गायमुनयोश्चैव संगमे सत्यसंगराः।
विपाप्मानो महात्मानो विप्रेभ्यः प्रददुर्वसु ॥ ६ ॥
पापरहित और महात्मा सत्यवादी पाण्डवोंने गङ्गा और यमुनाके सङ्गममें स्नान करके ब्राह्मणोंको बहुत धनका दान किया ॥ ६ ॥

तपस्विजनजुष्टां च ततो वेदीं प्रजापतेः।
जग्मुः पाण्डुसुता राजन्ब्राह्मणैः सह भारत ॥ ७ ॥
वहांसे, हे भरतवंशी राजन्! वे पाण्डव ब्राह्मणोंके साथ मुनियोंसे सेवित प्रजापतिकी वेदीपर गये ॥ ७ ॥

तत्र ते न्यवसन्वीरास्तपश्चातस्थुरुत्तमम्।
सन्तर्पयन्तः सततं वन्येन हविषा द्विजान् ॥ ८ ॥
हे राजन्! इस प्रकार ब्राह्मणोंको वन्य अन्नसे सन्तुष्ट करते हुए वीर पाण्डव वहां रहकर उत्तम तप करने लगे ॥ ८ ॥

ततो महीधरं जग्मुर्धर्मज्ञेनाभिसत्कृतम्।
राजर्षिणा पुण्यकृता गयेनानुपमद्युते ॥ ९ ॥
फिर वे, हे तेजस्विन्! गयामें पहुंचे, जहां धर्मज्ञ राजर्षि, पुण्यशाली तथा राजा गयने पर्वतका सत्कार किया है ॥ ९ ॥

सरो गयशिरो यत्र पुण्या चैव महानदी ।
ऋषिजुष्टं सुपुण्यं तत्तीर्थं ब्रह्मसरोत्तमम् ॥ १० ॥

वहीं गयशिर नामक तालाब और पवित्र महानदी है, वहींपर मुनियोंसे सेवित उत्तम ब्रह्मसर नामक पवित्र तीर्थ है ॥ १० ॥

अगस्त्यो भगवान्यत्र गतो वैवस्वतं प्रति ।
उवास च स्वयं यत्र धर्मो राजन्सनातनः ॥ ११ ॥

जहांसे भगवान् अगस्त्य मुनि सूर्यके पुत्र यमके पास गये थे, हे राजन् ! वहींपर सनातन धर्मराजने वास किया था ॥ ११ ॥

सर्वासां सरितां चैव समुद्भेदो विशां पते ।
यत्र संनिहितो नित्यं महादेवः पिनाकधृक् ॥ १२ ॥

हे राजन् ! उसके पास ही सब नदियोंका एक सोता है, जहांपर साक्षात् पिनाकधारी महादेव सदा वास किया करते हैं ॥ १२ ॥

तत्र ते पाण्डवा वीराश्चातुर्मास्यैस्तदेजिरे ।
ऋषियज्ञेन महता यत्राक्षयवटो महान् ॥ १३ ॥

उस स्थानपर रहकर महात्मा पाण्डवोंने चातुर्मास्य नामक महान् यज्ञ किये । वहींपर एक महा अक्षयवट है ॥ १३ ॥

ब्राह्मणास्तत्र शतशः समाजग्मुस्तपोधनाः ।
चातुर्मास्येनायजन्त आर्षेण विधिना तदा ॥ १४ ॥

उसी समय उस देशके तपोधन तथा सहस्रों ब्राह्मण युधिष्ठिरके पास गये और महाराज युधिष्ठिरने वेदोक्त विधिके अनुसार चातुर्मास्य यज्ञको किया ॥ १४ ॥

तत्र विद्यातपोनित्या ब्राह्मणा वेदपारगाः ।
कथाः प्रचक्रिरे पुण्याः सदसिस्था महात्मनाम् ॥ १५ ॥

विद्या और तपसे सम्पन्न सब वेदोंके जाननेवाले ब्राह्मणोंसे महात्माओंकी सभामें बैठकर पवित्र वार्त्तालाप भी किया था । ॥ १५ ॥

तत्र विद्याव्रतस्नातः कौमारं व्रतमास्थितः ।
शमठोऽकथयद्राजन्नामूर्तरयसं गयम् ॥ १६ ॥

उस सभामें विद्या और व्रतसे पूर्ण कुमार व्रतको धारण किए हुए शमठ मुनिने अमूर्तरयसके पुत्र राजा गयकी कथा इस प्रकार कही ॥ १६ ॥

अमूर्त्तरयसः पुत्रो गयो राजर्षिसत्तमः ।
पुण्यानि यस्य कर्माणि तानि मे शृणु भारत ॥ १७ ॥

हे भारत! राजा अमूर्त्तरयसके पुत्र राजर्षिश्रेष्ठ राजा गयने जो जो पुण्यकर्म किये थे, उन्हें मैं आपसे कहता हूं, आप सुनिये ॥ १७ ॥

यस्य यज्ञो बभूवेह बह्वन्नो बहुदक्षिणः ।
यत्रान्नपर्वता राजञ्शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १८ ॥

हे राजन्! राजा गयने यहांपर बहुत अन्न और दक्षिणावाले यज्ञ किए थे, जहांपर पहाडके समान सैकडों और हजारों अन्नके ढेर लग गये थे ॥ १८ ॥

घृतकुल्याश्च दध्नश्च नद्यो बहुशतास्तथा ।
व्यञ्जनानां प्रवाहाश्च महार्हाणां सहस्रशः । ॥ १९ ॥

जहां घी और दहीकी सैकडों नहरें बहने लगी थीं, जहां बहु मूल्यवाले पके हुए अन्नोंके प्रवाह बहने लगे थे; ॥ १९ ॥

अहन्यहनि चाप्येतद्याचतां संप्रदीयते ।
अन्यत्तु ब्राह्मणा राजन्भुञ्जतेऽन्नं सुसंस्कृतम् ॥ २० ॥

हे राजन्! वह राजा ऐसा ही दान मांगनेवालोंको प्रतिदिन देता था । हे राजन्! ब्राह्मण उत्तमतासे पकाये गये उस अन्नको खाते थे ॥ २० ॥

तत्र वै दक्षिणाकाले ब्रह्मघोषो दिवं गतः ।
न स्म प्रज्ञायते किंचिद्ब्रह्मशब्देन भारत ॥ २१ ॥

हे भारत! जब वह दक्षिणा देते थे तो वेदका शब्द आकाशतक पहुंच जाता था, उस समय वेदके शब्दके सिवाय और कुछ नहीं सुनाई देता था ॥ २१ ॥

पुण्येन चरता राजन्भूर्दिशः खं नभस्तथा ।
आपूर्णमासीच्छब्देन तदप्यासीन्महाद्भुतम् ॥ २२ ॥

हे राजन्! उस पवित्र शब्दसे आकाश, अन्तरिक्ष और दसों दिशायें पूरित हो जाती थीं, यह अद्भुत कर्म वे नित्य ही करते थे ॥ २२ ॥

तत्र स्म गाथा गायन्ति मनुष्या भरतर्षभ ।
अन्नपानैः शुभैस्तृप्ता देशे देशे सुवर्चसः ॥ २३ ॥

हे भरतकुलसिंह! जिसके पवित्र अन्न और पानसे तृप्त होकर सब देशोंमें तेजस्वी पुरुष उन्हींका यश गाया करते थे ॥ २३ ॥

गयस्य यज्ञे के त्वद्य प्राणिनो भोक्तुमीप्सवः ।
यत्र भोजनशिष्टस्य पर्वताः पञ्चविंशतिः ॥ २४ ॥

कि गयके यज्ञमें कौनसे पुरुषकी खानेकी इच्छा बाकी रह गई ? वहीं बचे हुए भोजनके इक्कीस पहाडके समान ढेर पडे हुए हैं ॥ २४ ॥

न स्म पूर्वे जनाश्चक्रुर्न करिष्यन्ति चापरे ।
गयो यदकरोद्यज्ञे राजर्षिरमितद्युतिः ॥ २५ ॥

वहां तेजस्वी राजर्षि गयने जो कुछ यज्ञमें किया था, वैसा न पहले किसीने किया था और न आगे कोई करेगा ही ॥ २५ ॥

कथं नु देवा हविषा गयेन परितर्पिताः ।
पुनः शक्ष्यन्त्युपादातुमन्यैर्दत्तानि कानिचित् ॥ २६ ॥

राजा गयके यज्ञमें देवता ऐसे तृप्त हुए कि दूसरे यज्ञमें दूसरी हवियोंको भोजन करनेकी इच्छा उनकी कैसे रहती ? ॥ २६ ॥

एवंविधाः सुबहवस्तस्य यज्ञा महात्मनः ।
बभूवुरस्य सरसः समीपे कुरुनन्दन ॥ २७ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि त्रिनवतितमोऽध्यायः ॥ ९३ ॥ ३५३१ ॥

हे कुरुनन्दन ! इसी प्रकारसे उस महात्मा राजा गयके इस तालावके तटपर अनेक यज्ञ हुए ॥ २७ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें तिरानव्वेवां अध्याय समाप्त ॥ ९३ ॥ ३५३१ ॥

: ९४ :

वैशम्पायन उवाच

ततः संप्रस्थितो राजा कौन्तेयो भूरिदक्षिणः ।
अगस्त्याश्रममासाद्य दुर्जयायामुवास ह ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— तदनन्तर बहुत दक्षिणा देनेवाले कुन्तीपुत्र महाराज युधिष्ठिर वहांसे चले और अगस्त्याश्रममें पहुंचकर दुर्जया नामक स्थान (जहां अगस्त्यने वातापीको मारा था), में ठहरे ॥ १ ॥

तत्र वै लोमशं राजा पप्रच्छ वदतां वरः ।
अगस्त्येनेह वातापिः किमर्थमुपशामितः ॥ २ ॥

वहीं कहनेवालोंमें श्रेष्ठ धर्मराजने लोमशसे प्रश्न किया कि— अगस्त्य मुनिने इस स्थानपर वातापीको क्यों मारा था ? ॥ २ ॥

आसीद्वा किंप्रभावश्च स दैत्यो मानवान्तकः।
किमर्थं चोद्गतो मन्युरगस्त्यस्य महात्मनः ॥ ३ ॥
उस मनुष्योंके नाश करनेवाले राक्षसमें क्या शक्ति थी ? और महात्मा अगस्त्य मुनिके क्रोधको उसने क्यों उभाडा था ॥ ३ ॥

लोमश उवाच
इल्वलो नाम दैतेय आसीत्कौरवनन्दन।
मणिमत्यां पुरि पुरा वातापिस्तस्य चानुजः ॥ ४ ॥
लोमश बोले— हे कौरवनन्दन ! इस मणिमति पुरीमें पहले समयमें इल्वल नामका एक राक्षस था, वातापी उसका छोटा भाई था ॥ ४ ॥

स ब्राह्मणं तपोयुक्तमुवाच दितिनन्दनः।
पुत्रं मे भगवानेकमिन्द्रतुल्यं प्रयच्छतु ॥ ५ ॥
उस दितिके पुत्रने एक तपस्वी ब्राह्मणसे कहा— कि हे भगवन् ! आप मुझे एक इन्द्रके समान पुत्र प्रदान कीजिए ॥ ५ ॥

तस्मै स ब्राह्मणो नादात्पुत्रं वासवसंमितम्।
चुक्रोध सोऽसुरस्तस्य ब्राह्मणस्य ततो भृशम् ॥ ६ ॥
परन्तु उस ब्राह्मणने उसको इन्द्रके समान पुत्र नहीं दिया, तब राक्षस उस ब्राह्मणपर बहुत क्रोधित हुआ ॥ ६ ॥

समाह्वयति यं वाचा गतं वैवस्वतक्षयम्।
स पुनर्देहमास्थाय जीवन्स्म प्रतिदृश्यते ॥ ७ ॥
उसको यह आशीर्वाद था, कि जिस मरे हुए पुरुषका नाम लेकर वह पुकारता वह फिर शरीर धारण करके जीता हुआ दीखने लगता था ॥ ७ ॥

ततो वातापिमसुरं छागं कृत्वा सुसंस्कृतम्।
तं ब्राह्मणं भोजयित्वा पुनरेव समाह्वयत् ॥ ८ ॥
एक दिन उसने अपने भाई वातापि असुरको संस्कृत बकरेको रांधकर उसे भोजनमें उसी ब्राह्मणको खिला दिया, भोजनके पश्चात् इल्वलने अपने भाई वातापीका नाम लेकर पुकारा ॥ ८ ॥

तस्य पार्श्वं विनिर्भिद्य ब्राह्मणस्य महासुरः।
वातापिः प्रहसन्राजन्निश्चक्राम विशां पते ॥ ९ ॥
तब, हे राजन् ! हे प्रजाओंके स्वामिन् ! महान् असुर वातापी उस ब्राह्मणका पेट फाडकर हंसता हुआ उसी समय बाहर निकल आया ॥ ९ ॥

एवं स ब्राह्मणान्राजन्भोजयित्वा पुनः पुनः ।
हिंसयामास दैतेय इल्वलो दुष्टचेतनः　　　　॥ १० ॥

हे राजन् ! इस प्रकार वह दुष्ट चित्तवाला दैत्य इल्वल प्रतिदिन ब्राह्मणोंको भोजन कराकर उनका नाश करने लगा ॥ १० ॥

अगस्त्यश्चापि भगवानेतस्मिन्काल एव तु ।
पितॄन्ददर्श गर्ते वै लम्बमानानधोमुखान्　　　　॥ ११ ॥

इसी बीचमें एक दिन भगवान् अगस्त्य मुनिने देखा कि उनके सब पितर नीचा मुख किये गड्ढेमें लटक रहे हैं ॥ ११ ॥

सोऽपृच्छल्लम्बमानांस्तान्भवन्त इह किंपराः ।
संतानहेतोरिति ते तमूचुर्ब्रह्मवादिनः　　　　॥ १२ ॥

तब अगस्त्यने उन लटके हुओंसे पूछा— कि आप लोगोंकी यह क्या दशा है ? तब उन ब्रह्मवादी पितरोंने कहा— कि हमारी सन्तान नष्ट हो गई है, इसीलिये हम इस आपत्तिमें पडे हुए हैं ॥ १२ ॥

ते तस्मै कथयामासुर्वयं ते पितरः स्वकाः ।
गर्तमेतमनुप्राप्ता लम्बामः प्रसवार्थिनः　　　　॥ १३ ॥

उन्होंने उससे कहा— कि हे अगस्त्य ! हम तुम्हारे पितर हैं, तुम्हारे कोई पुत्र नहीं हैं इसीसे हम सन्तानप्राप्तिकी इच्छासे इस गड्ढेमें टंगे हुए हैं ॥ १३ ॥

यदि नो जनयेथास्त्वमगस्त्यापत्यमुत्तमम् ।
स्यान्नोऽस्मान्निरयान्मोक्षस्त्वं च पुत्राप्नुया गतिम्　　॥ १४ ॥

हे अगस्त्य ! यदि तुम उत्तम पुत्र उत्पन्न नहीं करोगे, तो हमारी इस नर्कसे मुक्ति नहीं होगी, इसलिये तुम पुत्र उत्पन्न करो ॥ १४ ॥

स तानुवाच तेजस्वी सत्यधर्मपरायणः ।
करिष्ये पितरः कामं व्येतु वो मानसो ज्वरः　　　　॥ १५ ॥

सत्यवादी धर्मपरायण तेजस्वी अगस्त्य मुनिने उनसे कहा— कि हे पितरो ! मैं आप लोगोंकी कामना पूरी करूंगा, आप अपने मानसिक दुःखको दूर कीजिये ॥ १५ ॥

ततः प्रसवसंतानं चिन्तयन्भगवानृषिः ।
आत्मनः प्रसवस्यार्थे नापश्यत्सदृशीं स्त्रियम्　　　　॥ १६ ॥

तब पुत्रोत्पत्तिके बारेमें भगवान् अगस्त्यने विचारा कि मैं कौनसी स्त्रीसे विवाह करूं ? उन्होंने पुत्र उत्पन्न करनेके निमित्त कोई स्त्री अपने समान न पाई ॥ १६ ॥

×

स तस्य तस्य सत्त्वस्य तत्तदंगमनुत्तमम्।
संभृत्य तत्समैरङ्गैर्निर्ममे स्त्रियमुत्तमाम् ॥ १७ ॥

उन्होंने जिस जिस प्राणीका जो जो अंग उत्तम था उन भागोंको लेकर, उन्हीं उन्हीं भागोंसे एक उत्तम स्त्री रची ॥ १७ ॥

स तां विदर्भराजाय पुत्रकामाय ताम्यते।
निर्मितामात्मनोऽर्थाय मुनिः प्रादान्महातपाः ॥ १८ ॥

उसको रचकर महातपस्वी अगस्त्य मुनिने उस स्त्रीको सन्तानप्राप्तिकी इच्छासे तप करते हुए विदर्भराजको अपने निमित्त दे दिया ॥ १८ ॥

सा तत्र जज्ञे सुभगा विद्युत्सौदामिनी यथा।
विभ्राजमाना वपुषा व्यवर्धत शुभानना ॥ १९ ॥

हे राजन्! वह बिजलीके समान सुन्दर शरीरवाली और उत्तम मुखवाली राजाके घरमें उत्पन्न हुई और तेजस्वी शरीरको धारण करके वहीं बढने लगी ॥ १९ ॥

जातमात्रां च तां दृष्ट्वा वैदर्भः पृथिवीपतिः।
प्रहर्षेण द्विजातिभ्यो न्यवेदयत भारत ॥ २० ॥

हे भारत! राजा विदर्भने उसको उत्पन्न हुई देखकर प्रसन्नतापूर्वक सब ब्राह्मणोंसे कह सुनाया ॥ २० ॥

अभ्यनन्दन्त तां सर्वे ब्राह्मणा वसुधाधिप।
लोपामुद्रेति तस्याश्च चक्रिरे नाम ते द्विजाः ॥ २१ ॥

हे पृथ्वीनाथ! यह सुनकर सब ब्राह्मणोंने उस लडकीका अभिनन्दन किया और उन ब्राह्मणोंने और उस कन्याका नाम लोपामुद्रा रक्खा ॥ २१ ॥

ववृधे सा महाराज बिभ्रती रूपमुत्तमम्।
अप्स्विवोत्पलिनी शीघ्रमग्नेरिव शिखा शुभा ॥ २२ ॥

हे राजन्! यह कन्या अत्यन्त सुन्दर रूपको धारण करके अपने पिताके घरमें ऐसे बढने लगी, जैसे जलमें कमलिनी और अग्निमें ज्वाला ॥ २२ ॥

तां यौवनस्थां राजेन्द्र शतं कन्याः स्वलंकृताः।
दासीशतं च कल्याणीमुपतस्थुर्वशानुगाः ॥ २३ ॥

जब वह यौवन अवस्थाको प्राप्त हुई तो उसके वशमें रहनेवाली अलङ्कार सहित सौ कन्यायें और सौ उत्तम दासियां उसके साथ रहने लगीं ॥ २३ ॥

सा स्म दासीशतवृता मध्ये कन्याशतस्य च ।
आस्ते तेजस्विनी कन्या रोहिणीव दिवि प्रभो ॥ २४ ॥
हे राजन् ! वह तेजस्विनी लोपामुद्रा उन सौ कन्या और सौ दासियोंके बीचमें ऐसी शोभित हुई जैसे आकाशमें रोहिणी ॥ २४ ॥

यौवनस्थामपि च तां शीलाचारसमन्विताम् ।
न वव्रे पुरुषः कश्चिद्भयात्तस्य महात्मनः ॥ २५ ॥
हे महाराज ! उस शील और पवित्र आचारसे सम्पन्न कन्याको यौवन अवस्थाके आनेपर भी महात्मा अगस्त्यके भयसे किसीने अपनी स्त्री नहीं बनाया ॥ २५ ॥

सा तु सत्यवती कन्या रूपेणाप्सरसोऽप्यति ।
तोषयामास पितरं शीलेन स्वजनं तथा ॥ २६ ॥
उस सत्यवती लोपामुद्राने अपने रूपसे अप्सराओंको भी मात कर दिया और शीलसे अपने पिता और अपने अन्य सम्बन्धियोंको भी प्रसन्न किया ॥ २६ ॥

वैदर्भीं तु तथायुक्तां युवतीं प्रेक्ष्य वै पिता ।
मनसा चिन्तयामास कस्मै दद्यां सुतामिति ॥ २७ ॥
॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि चतुर्नवतितमोऽध्यायः ॥ ९४ ॥ ३५५८ ॥
अपनी पुत्री वैदर्भीको यौवन अवस्थामें देखकर उसके पिता विदर्भराजने अपने मनमें विचार किया कि यह अपनी पुत्री किसको दूं ॥ २७ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें चौरानव्वेवां अध्याय समाप्त ॥ ९४ ॥ ३५५८ ॥

: ९५ :

लोमश उवाच
यदा त्वमन्यतागस्त्यो गार्हस्थ्ये तां क्षमामिति ।
तदाभिगम्य प्रोवाच वैदर्भं पृथिवीपतिम् ॥ १ ॥
लोमश बोले— जब अगस्त्य मुनिने देखा कि लोपामुद्रा गृहस्थीके योग्य हो गई है तो विदर्भ-राजके पास जाकर वे ऐसा बोले ॥ १ ॥

राजन्निवेशो बुद्धिर्मे वर्तते पुत्रकारणात् ।
वरये त्वां महीपाल लोपामुद्रां प्रयच्छ मे ॥ २ ॥
हे राजन् ! पुत्र उत्पन्न करनेकी इच्छासे मैं विवाह करना चाहता हूं, इसी निमित्त आपके यहां आया हूं, आप लोपामुद्राको मुझे दे दीजिये ॥ २ ॥

एवमुक्तः स मुनिना महीपालो विचेतनः।
प्रत्याख्यानाय चाशक्तः प्रदातुमपि नैच्छत ॥ ३ ॥

मुनिके ऐसे वचन सुनकर राजा चेतनारहित हो गये। वे अगस्त्यसे इन्कार करनेमें भी असमर्थ थे और अगस्त्यको देना भी नहीं चाहते थे ॥ ३ ॥

ततः स भार्यामभ्येत्य प्रोवाच पृथिवीपतिः।
महर्षिर्वीर्यवानेष क्रुद्धः शापाग्निना दहेत् ॥ ४ ॥

तब राजाने अपनी स्त्रीसे सब समाचार कहा और यह भी कहा कि मुनीश्वर बहुत वीर्यवान् हैं ये क्रुद्ध होकर सबको भस्म कर देंगे ॥ ४ ॥

तं तथा दुःखितं दृष्ट्वा सभार्यं पृथिवीपतिम्।
लोपामुद्राभिगम्येदं काले वचनमब्रवीत् ॥ ५ ॥

उस राजाको अपनी पत्नी सहित इस प्रकार दुःखी देखकर लोपामुद्रा पास जाकर समयानुसार यह वचन बोली ॥ ५ ॥

न मत्कृते महीपाल पीडामभ्येतुमर्हसि।
प्रयच्छ मामगस्त्याय त्राह्यात्मानं मया पितः ॥ ६ ॥

हे राजन्! आप मेरे निमित्त कुछ दुःखको प्राप्त मत कीजिये, पिता! मुझे अगस्त्यको दे दीजिए और इस प्रकार मेरे द्वारा अपनी रक्षा कीजिये ॥ ६ ॥

दुहितुर्वचनाद्राजा सोऽगस्त्याय महात्मने।
लोपामुद्रां ततः प्रादाद्विधिपूर्वं विशां पते ॥ ७ ॥

हे प्रजानाथ! पुत्रीके वचन सुनकर विदर्भराजने विधिपूर्वक लोपामुद्राका विवाह अगस्त्यके साथ कर दिया ॥ ७ ॥

प्राप्य भार्यामगस्त्यस्तु लोपामुद्रामभाषत।
महार्हाण्युत्सृजैतानि वासांस्याभरणानि च ॥ ८ ॥

अगस्त्य मुनिने भार्याको प्राप्त करके लोपामुद्रासे ऐसे वचन कहे– कि तुम इन बहुत मूल्य वाले वस्त्रों और भूषणोंको उतार दो ॥ ८ ॥

ततः सा दर्शनीयानि महार्हाणि तनूनि च।
समुत्ससर्ज रम्भोरूर्वसनान्यायतेक्षणा ॥ ९ ॥

अपने पतिके वचन सुनकर उस दीर्घ नेत्रवाली तथा सुन्दर जांघवाली कन्याने सुन्दर और बहुत मूल्यवाले, पतले वस्त्र एवं आभूषण उतार दिये ॥ ९ ॥

ततश्चीराणि जग्राह वल्कलान्यजिनानि च ।
समानव्रतचर्या च बभूवायतलोचना ॥ १० ॥

तदनन्तर लोपामुद्राने वल्कलके बने हुए वस्त्र और हरिनकी खालको ओढा, वह विशालनैनी ठीक अपने पतिके समान व्रतवाली बन गई ॥ १० ॥

गङ्गाद्वारमथागत्य भगवानृषिसत्तमः ।
उग्रमातिष्ठत तपः सह पत्न्यानुकूलया ॥ ११ ॥

तदनन्तर महात्मा अगस्त्य मुनि अपनी अनुकूल स्त्रीके सहित गङ्गाद्वारमें जाकर महाघोर तप करने लगे ॥ ११ ॥

सा प्रीत्या बहुमानाच्च पतिं पर्यचरत्तदा ।
अगस्त्यश्च परां प्रीतिं भार्यायामकरोत्प्रभुः ॥ १२ ॥

लोपामुद्रा भी अपने पतिसे परम मान पाकर प्रसन्न होकर उनकी सेवा करने लगी, वैसे ही भगवान् अगस्त्य भी अपनी स्त्रीसे अत्यन्त प्रेम करने लगे ॥ १२ ॥

ततो बहुतिथे काले लोपामुद्रां विशां पते ।
तपसा द्योतितां स्नातां ददर्श भगवानृषिः ॥ १३ ॥

इस प्रकार बहुत समय बीतनेपर, हे नरनाथ ! भगवान् अगस्त्य मुनिने तपसे तेजस्वी लोपामुद्राको एक दिन ऋतुके पश्चात् स्नान किये हुए देखा ॥ १३ ॥

स तस्याः परिचारेण शौचेन च दमेन च ।
श्रिया रूपेण च प्रीतो मैथुनायाजुहाव ताम् ॥ १४ ॥

भगवान् अगस्त्य मुनि उसकी सेवा, पवित्रता, इन्द्रियनिग्रह, शोभा और रूपसे प्रसन्न होकर उससे मैथुन करनेकी इच्छासे उसे बुलाया ॥ १४ ॥

ततः सा प्राञ्जलिर्भूत्वा लज्जमानेव भामिनी ।
तदा सप्रणयं वाक्यं भगवन्तमथाब्रवीत् ॥ १५ ॥

तब उस सुन्दरी लोपामुद्रा हाथ जोडकर लज्जित होती हुई नम्र भावसे प्रेमसे भगवान् अगस्त्यसे ऐसे वचन बोली ॥ १५ ॥

असंशयं प्रजाहेतोर्भार्यां पतिरविन्दत ।
या तु त्वयि मम प्रीतिस्तामृषे कर्तुमर्हसि ॥ १६ ॥

कि निःसन्देह पति सन्तानहीके निमित्त स्त्रीसे विवाह करता है, पर, हे ऋषे ! आपके प्रति मेरे हृदयमें जो प्रीति है, उसे भी आप सफल कर सकते हैं ॥ १६ ॥

यथा पितुर्गृहे विप्र प्रासादे शयनं मम।
तथाविधे त्वं शयने मामुपैतुमिहार्हसि ॥ १७ ॥
हे विप्र ! मैं अपने पिताके घरमें बहुत अच्छे स्थानमें सोती थी, आप वैसे ही स्थान और शय्यापर मेरे साथ समागम कर सकते हैं ॥ १७ ॥

इच्छामि त्वां स्रग्विणं च भूषणैश्च विभूषितम्।
उपसर्तुं यथाकामं दिव्याभरणभूषिता ॥ १८ ॥
मेरी इच्छा है, कि आप उत्तम भूषणोंसे भूषित, उत्तम मालाको धारण करें और मैं भी दिव्य आभूषणोंको पहनकर इच्छानुसार विहार करूं ॥ १८ ॥

अगस्त्य उवाच
न वै धनानि विद्यन्ते लोपामुद्रे तथा मम।
यथाविधानि कल्याणि पितुस्तव सुमध्यमे ॥ १९ ॥
अगस्त्य बोले– हे लोपामुद्रे ! हे कल्याणि ! हे सुमध्यमे ! मेरे घरमें इतना धन नहीं है, कि जितना तेरे पिताके घरमें था ॥ १९ ॥

लोपामुद्रोवाच
ईशोऽसि तपसा सर्वं समाहर्तुमिहेश्वर।
क्षणेन जीवलोके यद्वसु किंचन विद्यते ॥ २० ॥
लोपामुद्रा बोली– हे ईश्वर ! आप तपके बलसे जगत्का जितना धन है, उस सबको एक क्षणभरमें ला सकते हैं ॥ २० ॥

अगस्त्य उवाच
एवमेतद्यथात्थ त्वं तपोव्ययकरं तु मे।
यथा तु मे न नश्येत तपस्तन्मां प्रचोदय ॥ २१ ॥
अगस्त्य बोले–यह तुम्हारा कहना सत्य है, परन्तु ऐसा करनेसे मेरा तप क्षीण हो जायेगा, इसलिये ऐसा कोई उपाय बतलाओ जिसमें मेरा तप नष्ट न हो ॥ २१ ॥

लोपामुद्रोवाच
अल्पावशिष्टः कालोऽयमृतौ मम तपोधन।
न चान्यथाहमिच्छामि त्वामुपैतुं कथंचन ॥ २२ ॥
लोपामुद्रा बोली– हे तपोधन ! मेरे ऋतुका बहुत थोडा समय बाकी रह गया है और दूसरे प्रकारसे मैं आपके पास आनेकी इच्छा नहीं करती ॥ २२ ॥

न चापि धर्ममिच्छामि विलोप्तुं ते तपोधन ।
एतत्तु मे यथाकामं संपादयितुमर्हसि ॥ २३ ॥

और, हे तपोधन! आपके धर्मको भी नष्ट करना नहीं चाहती, इसलिये मैंने जो कहा है उसे आप पूर्ण कीजिये ॥ २३ ॥

अगस्त्य उवाच

यद्येष कामः सुभगे तव बुद्ध्या विनिश्चितः ।
हन्त गच्छाम्यहं भद्रे चर काममिह स्थिता ॥ २४ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि पञ्चनवतितमोऽध्यायः ॥ ९५ ॥ ३५८२ ॥

अगस्त्य बोले— हे सुभगे! हे कल्याणि! यदि तुमने अपने मनमें ऐसा ही निश्चय कर रखा है, तो मैं धन लेनेको जाता हूं, तुम यहीं रहकर धर्मका आचरण करो ॥ २४ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें पञ्चानवेवां अध्याय समाप्त ॥ ९५ ॥ ३५८२ ॥

: ९६ :

लोमश उवाच

ततो जगाम कौरव्य सोऽगस्त्यो भिक्षितुं वसु ।
श्रुतर्वाणं महीपालं यं वेदाभ्यधिकं नृपैः ॥ १ ॥

लोमश बोले— हे कौरव! तब अगस्त्य मुनि राजा श्रुतर्वाको सब राजाओंसे अधिक जानकर उन्हींके यहां धन मांगनेको गये ॥ १ ॥

स विदित्वा तु नृपतिः कुम्भयोनिमुपागमत् ।
विषयान्ते सहामात्यः प्रत्यगृह्णात्सुसत्कृतम् ॥ २ ॥

राजा श्रुतर्वाने जब सुना कि अगस्त्य मुनि आये हैं, तो वे अपने मन्त्रियोंके सहित सीमाके अन्तमें सत्कारपूर्वक उन्हें लेनेके लिये गये ॥ २ ॥

तस्मै चार्घ्यं यथान्यायमानीय पृथिवीपतिः ।
प्राञ्जलिः प्रयतो भूत्वा पप्रच्छागमनेऽर्थिताम् ॥ ३ ॥

राजाने विधिपूर्वक उनकी पूजा करके हाथ जोडकर उनसे उनके आनेका कारण पूछा ॥ ३ ॥

अगस्त्य उवाच

विचार्थिनमनुप्राप्तं विद्धि मां पृथिवीपते।
यथाशक्त्यविहिंस्यान्यान्संविभागं प्रयच्छ मे ॥ ४ ॥

अगस्त्य बोले– हे राजन्! आपके यहां धन मांगनेकी इच्छासे आया हुआ मुझे समझिए। जिससे दूसरेको दुःख न हो इतना धन आप अपनी शक्तिके अनुसार मुझको दीजिये ॥४॥

लोमश उवाच

तत आयव्ययौ पूर्णौ तस्मै राजा न्यवेदयत्।
अतो विद्वन्नुपादत्स्व यदत्र वसु मन्यसे ॥ ५ ॥

लोमश बोले– तब उस राजाने अपनी प्राप्ति और व्ययका व्यौरा अगस्त्य मुनिसे कह सुनाया और कहा, कि हे विद्वन्! यदि इसमेंसे आप उचित समझें तो धन ले जाईये ॥५॥

तत आयव्ययौ दृष्ट्वा समौ सममतिर्द्विजः।
सर्वथा प्राणिनां पीडामुपादानादमन्यत ॥ ६ ॥

तब समान मतिवाले अगस्त्य मुनिने उसका आय और व्यय समान जानकर यह समझा कि इसमेंसे कुछ लेना प्राणियोंको पीडा देना ही है ॥ ६ ॥

स श्रुतर्वाणमादाय वध्र्यश्वमगमत्ततः।
स च तौ विषयस्यान्ते प्रत्यगृह्णाद्यथाविधि ॥ ७ ॥

तब राजा श्रुतर्वाको अपने साथ लेकर अगस्त्य राजा वध्र्यश्वके यहां गये। राजा वध्र्यश्वने इन दोनोंको विधिपूर्वक अपनी सीमापर आकर ग्रहण किया ॥ ७ ॥

तयोरर्घ्यं च पाद्यं च वध्र्यश्वः प्रत्यवेदयत्।
अनुज्ञाप्य च पप्रच्छ प्रयोजनमुपक्रमे ॥ ८ ॥

उन्हें पीने और हाथ पैर धोनेके लिए पानी देनेके बाद राजा वध्र्यश्वने दोनोंसे कहा– कि कहिये क्या आज्ञा है, और कैसे आप लोगोंने कृपा की है? ॥ ८ ॥

अगस्त्य उवाच

वित्तकामाविह प्राप्तौ विद्ध्यावां पृथिवीपते।
यथाशक्त्यविहिंस्यान्यान्संविभागं प्रयच्छ नौ ॥ ९ ॥

अगस्त्य बोले– हे पृथ्वीनाथ! हम दोनोंको आप यहां धनकी इच्छासे आया हुआ समझिए, अतः शक्तिके अनुसार जिसमें दूसरेको हानि न हो उतना धन आप हम दोनोंको दीजिये ॥ ९ ॥

लोमश उवाच

तत आयव्ययौ पूर्णौ ताभ्यां राजा न्यवेदयत् ।
ततो ज्ञात्वा समादत्तां यदत्र व्यतिरिच्यते ॥ १० ॥

लोमश बोले– तब राजा वध्र्यश्वने भी अपनी प्राप्ति और व्ययको पूर्ण दिखलाकर कहा– कि यदि आप लोगोंकी इच्छा हो तो इसीमेंसे जो बचे, उसे ले जाइये ॥ १० ॥

तत आयव्ययौ दृष्ट्वा समौ सममतिर्द्विजः ।
सर्वथा प्राणिनां पीडामुपादानादमन्यत ॥ ११ ॥

तब सम बुद्धिवाले अगस्त्य मुनिने आयव्ययको समान देखकर उसमेंसे कुछ धन लेनेको प्राणियोंको पीडित करना ही समझा ॥ ११ ॥

पौरुकुत्सं ततो जग्मुस्त्रसदस्युं महाधनम् ।
अगस्त्यश्च श्रुतर्वा च वध्र्यश्वश्च महीपतिः ॥ १२ ॥

तदनन्तर श्रुतर्वा, वध्र्यश्व और अगस्त्य ये तीनों धन लेनेकी इच्छासे पुरुकुत्सके पुत्र धनवान् त्रसदस्यु राजाके यहां गये ॥ १२ ॥

त्रसदस्युश्च तान्सर्वान्प्रत्यगृह्णाद्यथाविधि ।
अभिगम्य महाराज विषयान्ते सवाहनः ॥ १३ ॥

राजा त्रसदस्युने अगस्त्य मुनि, राजा श्रुतर्वा और राजा वध्र्यश्वको आया हुआ सुनकर सीमापर सवारी सहित उनके पास जाकर पूजा की ॥ १३ ॥

अर्चयित्वा यथान्यायमिक्ष्वाकू राजसत्तमः ।
समाश्वस्तांस्ततोऽपृच्छत्प्रयोजनमुपक्रमे ॥ १४ ॥

तदनन्तर न्यायोचित पूजा करके इक्ष्वाकु वंशीय श्रेष्ठ राजा त्रसदस्युने तीनोंको सांत्वना देकर उनके आनेका कारण पूछा ॥ १४ ॥

अगस्त्य उवाच

वित्तकामानिह प्राप्तान्विद्धि नः पृथिवीपते ।
यथाशक्त्यविहिंस्यान्यान्संविभागं प्रयच्छ नः ॥ १५ ॥

अगस्त्य बोले– हे पृथ्वीनाथ! हम सब लोगोंको धनकी इच्छासे आपके यहां आया हुआ समझिए अतः अपनी शक्तिके अनुसार जिसमें दूसरेको हानि न हो इतना धन आप हमको दीजिये ॥ १५ ॥

×

लोमश उवाच

तत आयव्ययौ पूर्णौ तेषां राजा न्यवेदयत्।

अतो ज्ञात्वा समाददूध्वं यदत्र व्यतिरिच्यते ॥ १६ ॥

लोमश बोले– तब राजाने अपना लाभ और व्यय पूरा उन्हें सुना दिया और कहा– कि यदि आप लोग उचित समझें, तो इसी धनमेंसे जो शेष बचे, उसे ले जाइये ॥ १६ ॥

तत आयव्ययौ दृष्ट्वा समौ सममतिर्द्विजः।

सर्वथा प्राणिनां पीडामुपादानादमन्यत ॥ १७ ॥

तब सममतिवाले अगस्त्य मुनिने उसका लाभ और व्यय समान देखकर अपने मनमें विचारा कि इस धनमेंसे कुछ लेनेसे सब प्राणियोंको दुःख होगा ॥ १७ ॥

ततः सर्वे समेत्याथ ते नृपास्तं महामुनिम्।

इदमूचुर्महाराज समवेक्ष्य परस्परम् ॥ १८ ॥

तब, हे महाराज! वे सब राजा इकट्ठे होकर एक दूसरेकी तरफ देखते हुए उस महामुनि अगस्त्यसे यह बोले ॥ १८ ॥

अयं वै दानवो ब्रह्मन्निल्वलो वसुमान्भुवि।

तमभिक्रम्य सर्वेऽद्य वयं याचामहे वसु ॥ १९ ॥

हे ब्रह्मन्! इस जगत्में इल्वल नामक राक्षस ही धनवान् है, अतएव चलिये, हम सब उसीके पास जाकर धन मांगे ॥ १९ ॥

तेषां तदासीद्रुचितमिल्वलस्योपभिक्षणम्।

ततस्ते सहिता राजन्निल्वलं समुपाद्रवन् ॥ २० ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि षण्णवतितमोऽध्यायः ॥ ९६ ॥ ३६०२ ॥

तब उन सबने निश्चय किया, कि विना इल्वलके पास चले धन नहीं मिल सकता, तब हे राजन्! वे सब इकट्ठे होकर इल्वल राक्षसके पास गये ॥ २० ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें छियानवेवां अध्याय समाप्त ॥ ९६ ॥ ३६०२ ॥

९७

लोमश उवाच

इल्वलस्तान्विदित्वा तु महर्षिसहितान्नृपान्।

उपस्थितान्सहामात्यो विषयान्तेऽभ्यपूजयत् ॥ १ ॥

लोमश बोले– जब इल्वल राक्षसने सुना, कि महामुनि अगस्त्यके सहित तीन राजा आये हैं, तो उसने अपने मन्त्रियोंके सहित अपनी सीमापर जाकर उनकी पूजा की ॥ १ ॥

तेषां ततोऽसुरश्रेष्ठ आतिथ्यमकरोत्तदा।
स संस्कृतेन कौरव्य भ्रात्रा वातापिना किल ॥ २ ॥

तदनन्तर, हे कौरव युधिष्ठिर! राक्षसोंमें श्रेष्ठ इल्वलने अच्छी तरह पकाये गए अपने भाई वातापिके द्वारा उनका अच्छा आतिथ्य सत्कार किया ॥ २ ॥

ततो राजर्षयः सर्वे विषण्णा गतचेतसः।
वातापिं संस्कृतं दृष्ट्वा मेषभूतं महासुरम् ॥ ३ ॥

इसके बाद वे तीनों राजर्षि बकरेके रूपमें बने हुए उस महासुर वातापिको ही पकाये जाते देखकर बहुत घबराये और चेतनारहित हो गये ॥ ३ ॥

अथाब्रवीदगस्त्यस्तान्राजर्षीनृषिसत्तमः।
विषादो वो न कर्तव्यो अहं भोक्ष्ये महासुरम् ॥ ४ ॥

तब ऋषियोंमें श्रेष्ठ अगस्त्य मुनिने तीनों राजाओंसे कहा— कि आप लोग कुछ दुःख न कीजिये, मैं इस महाराक्षसको खा जाऊंगा ॥ ४ ॥

धुर्यासनमथासाद्य निषसाद महामुनिः।
तं पर्यवेषद्दैत्येन्द्र इल्वलः प्रहसन्निव ॥ ५ ॥

तदनन्तर महामुनि अगस्त्य प्रधान आसनपर जा बैठे; और इल्वल राक्षस भी हंसता हुआ उनको भोजन परोसने लगा ॥ ५ ॥

अगस्त्य एव कृत्स्नं तु वातापिं बुभुजे ततः।
भुक्तवत्यसुरोऽऽह्वानमकरोत्तस्य इल्वलः ॥ ६ ॥

अकेले अगस्त्य मुनि ही वातापीके सब मांसको खा गये। खानेके पश्चात् इल्वलने वातापिका नाम लेकर पुकारा ॥ ६ ॥

ततो वायुः प्रादुरभूदगस्त्यस्य महात्मनः।
इल्वलश्च विषण्णोऽभूद्दृष्ट्वा जीर्णं महासुरम् ॥ ७ ॥

तब महात्मा अगस्त्य मुनिके एक अधोवायु (पाद) निकली। इल्वल अपने भाई महासुरको पचा हुआ देख बहुत घबराया ॥ ७ ॥

प्राञ्जलिश्च सहामात्यैरिदं वचनमब्रवीत्।
किमर्थमुपयाताः स्थ ब्रूत किं करवाणि वः ॥ ८ ॥

और मन्त्रियोंके सहित हाथ जोडकर यह वचन बोला— कहिये, आप सब लोग यहां किस प्रयोजनके लिये आये हैं? मैं आप लोगोंका कौनसा कार्य करूं? ॥ ८ ॥

प्रत्युवाच ततोऽगस्त्यः प्रहसन्निल्वलं तदा ।
ईशं ह्यसुर विद्मस्त्वां वयं सर्वे धनेश्वरम् ॥ ९ ॥

तब हंसते हुए अगस्त्य मुनि इल्वलसे बोले— हे असुर! हम सब तुमको बहुत धनेश्वर कुबेर समझते हैं ॥ ९ ॥

इमे च नातिधनिनो धनार्थश्च महान्मम ।
यथाशक्त्यविहिंस्यान्यान्संविभागं प्रयच्छ नः ॥ १० ॥

यह तीनों राजा अधिक धनी नहीं हैं, और मुझको धनकी बहुत इच्छा है, अतः तुम अपनी शक्तिके अनुसार जिसमें दूसरोंको दुःख न हो उतना धन हमको दो ॥ १० ॥

ततोऽभिवाद्य तमृषिमिल्वलो वाक्यमब्रवीत् ।
दित्सितं यदि वेत्सि त्वं ततो दास्यामि ते वसु ॥ ११ ॥

तब प्रणामकर इल्वल राक्षसने अगस्त्य मुनिसे यह वाक्य कहा— कि यदि आप यह कह सकें कि मैं आपको कितना धन देना चाहता हूं, तो मैं आपको धन दूं ॥ ११ ॥

अगस्त्य उवाच

गवां दश सहस्राणि राज्ञामेकैकशोऽसुर ।
तावदेव सुवर्णस्य दित्सितं ते महासुर ॥ १२ ॥

अगस्त्य बोले— हे असुर! तुम्हारे मनमें एक एक राजाको दस दस हजार गौ और उतना ही सुवर्ण देनेकी इच्छा है ॥ १२ ॥

मह्यं ततो वै द्विगुणं रथश्चैव हिरण्मयः ।
मनोजवौ वाजिनौ च दित्सितं ते महासुर ।
जिज्ञास्यतां रथः सद्यो व्यक्तमेष हिरण्मयः ॥ १३ ॥

हे महासुर! तुमने मुझे इन सबसे दुगुना धन, एक सोनेका रथ और मनके समान वेगवाले दो घोडे देनेका विचार किया है। अब शीघ्र पता लगाओ कि वह रथ सोनेका है या नहीं? ॥ १३ ॥

लोमश उवाच

जिज्ञास्यमानः स रथः कौन्तेयासीद्धिरण्मयः ।
ततः प्रव्यथितो दैत्यो ददावभ्यधिकं वसु ॥ १४ ॥

लोमश बोले— जिसको जाननेकी इच्छा थी वह रथ सोनेका था। तब तो राक्षस बहुत घबराया और उसने उससे भी अधिक धन अगस्त्य मुनिको दिया ॥ १४ ॥

विवाजश्च सुवाजश्च तस्मिन्युक्तौ रथे हयौ ।
ऊहतुस्तौ वसून्याशु तान्यगस्त्याश्रमं प्रति ।
सर्वान्राज्ञः सहागस्त्यान्निमेषादिव भारत ॥ १५ ॥

उस रथमें विवाज और सुवाज नामक दो घोडे लगे हुए थे, वे घोडे सब धन और अगस्त्यके सहित तीनों राजा अगस्त्यके आश्रमको चले । अनन्तर वे तीनों राजा और अगस्त्य मुनि आश्रमपर पहुंचे ॥ १५ ॥

अगस्त्येनाभ्यनुज्ञाता जग्मू राजर्षयस्तदा ।
कृतवांश्च मुनिः सर्वं लोपामुद्राचिकीर्षितम् ॥ १६ ॥

वहांसे अगस्त्यकी आज्ञानुसार वे राजर्षि अपने अपने घरोंको चले गये, अगस्त्य मुनिने उस धनसे लोपामुद्राकी सब इच्छा पूरी की ॥ १६ ॥

लोपामुद्रोवाच

कृतवानसि तत्सर्वं भगवन्मम कांक्षितम् ।
उत्पादय सकृन्मह्यमपत्यं वीर्यवत्तरम् ॥ १७ ॥

लोपामुद्रा बोली– हे भगवन् ! आपने मेरी सब इच्छा पूर्ण की है । इसलिये अब मुझमें एक वीर्यवान् पुत्रको उत्पन्न कीजिये ॥ १७ ॥

अगस्त्य उवाच

तुष्टोऽहमस्मि कल्याणि तव वृत्तेन शोभने ।
विचारणामपत्ये तु तव वक्ष्यामि तां शृणु ॥ १८ ॥

अगस्त्य बोले– हे कल्याणि ! हे सुन्दरि ! मैं तुम्हारे चरित्रसे बहुत सन्तुष्ट हुआ हूँ, पुत्र उत्पन्न करनेमें जो मेरा विचार है उसे तुमसे कहता हूं, सुनो ॥ १८ ॥

सहस्रं तेऽस्तु पुत्राणां शतं वा दशसंमितम् ।
दश वा शततुल्याः स्युरेको वापि सहस्रवत् ॥ १९ ॥

कहो, तुम्हारे हजार पुत्र हों, या दसके समान सौ हों, या कि सौके समान दस हों अथवा हजारके समान एक ही हो ? ॥ १९ ॥

लोपामुद्रोवाच

सहस्रसंमितः पुत्र एको मेऽस्तु तपोधन ।
एको हि बहुभिः श्रेयान्विद्वान्साधुरसाधुभिः ॥ २० ॥

लोपामुद्रा बोली– हे तपोधन ! मुझमें हजार पुत्रके समान एक ही पुत्र उत्पन्न हो, क्योंकि हजार दुष्ट पुत्रोंसे एक महात्मा विद्वान् पुत्र अच्छा होता है ॥ २० ॥

लोमश उवाच

स तथेति प्रतिज्ञाय तया समभवन्मुनिः ।
समये समशीलिन्या श्रद्धावाञ्श्रद्दधानया ॥ २१ ॥

लोमश बोले— तब श्रद्धालु अगस्त्य मुनिने उस वचनको 'तथास्तु' कहकर स्वीकार करके समान आचारवाली श्रद्धावती लोपामुद्राका सङ्ग किया ॥ २१ ॥

तत आधाय गर्भं तमगमद्वनमेव सः ।
तस्मिन्वनगते गर्भो ववृधे सप्त शारदान् ॥ २२ ॥

तदनन्तर लोपामुद्राने गर्भको धारण किया और अगस्त्य मुनि वनको चले गये, उनके पश्चात् लोपामुद्राने सात वर्षतक गर्भको धारण किया ॥ २२ ॥

सप्तमेऽब्दे गते चापि प्राच्यवत्स महाकविः ।
ज्वलन्निव प्रभावेन दृढस्युर्नाम भारत ।
सांगोपनिषदान्वेदाञ्जपन्नेव महायशाः ॥ २३ ॥

सातवें वर्ष उसके गर्भसे अग्निके समान तेजस्वी महाकवि दृढस्यु नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। महायशस्वी वे उत्पन्न होते ही अंग और उपांगोंके सहित चारों वेदोंको पढने लगे ॥२३॥

तस्य पुत्रोऽभवदृषेः स तेजस्वी महानृषिः ।
स बाल एव तेजस्वी पितुस्तस्य निवेशने ।
इध्मानां भारमाजह्रे इध्मवाहस्ततोऽभवत् ॥ २४ ॥

ऋषि अगस्त्यके पुत्र महा ऋषि और महातेजस्वी हुए, महातेजस्वी दृढस्यु बालक अवस्थाहीमें पिताके घरमें इन्धनका बोझ उठाने लगे थे, इसीसे उनका नाम इध्मवाह पड गया ॥२४॥

तथायुक्तं च तं दृष्ट्वा मुमुदे स मुनिस्तदा ।
लेभिरे पितरश्चास्य लोकान्राजन्यथेप्सितान् ॥ २५ ॥

हे राजन् ! ऐसे उत्तम पुत्रको देखकर मुनि बहुत प्रसन्न हुए; तब, हे राजन् ! अगस्त्यके पितर भी अपने अभिलषित लोकोंको प्राप्त हुए ॥ २५ ॥

अगस्त्यस्याश्रमः ख्यातः सर्वर्तुकुसुमान्वितः ।
प्राह्रादिरेवं वातापिरगस्त्येन विनाशितः ॥ २६ ॥

उसी दिनसे सब ऋतुओंमें विकसित होनेवाले फूलोंसे युक्त स्थानका नाम अगस्त्याश्रम प्रसिद्ध हुआ है । इस प्रकार प्रह्राद गोत्रोत्पन्न वातापी दैत्यका अगस्त्य मुनिने नाश किया ॥ २६ ॥

तस्यायमाश्रमो राजन्रमणीयो गुणैर्युतः ।
एषा भागीरथी पुण्या यथेष्टमवगाह्यताम् ॥ २७ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि सप्तनवतितमोऽध्यायः ॥ ९७ ॥ ३६२९ ॥

यह गुणोंसे भरा हुआ और रमणीय आश्रम उन अगस्त्य मुनिका है । हे युधिष्ठिर ! यह पवित्र गङ्गा है, इसमें आप यथेच्छ स्नान कीजिए ॥ २७ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें सत्तानवेवां अध्याय समाप्त ॥ ९७ ॥ ३६२९ ॥

: ९८ :

युधिष्ठिर उवाच

भूय एवाहमिच्छामि महर्षेस्तस्य धीमतः ।
कर्मणां विस्तरं श्रोतुमगस्त्यस्य द्विजोत्तम ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले- हे द्विजोत्तम ! मैं महाऋषि बुद्धिमान् अगस्त्य मुनिके कर्मोंको फिर विस्तार पूर्वक सुनना चाहता हूं ॥ १ ॥

लोमश उवाच

शृणु राजन्कथां दिव्यामद्भुतामतिमानुषीम् ।
अगस्त्यस्य महाराज प्रभावममितात्मनः ॥ २ ॥

लोमश बोले-हे राजन् ! अपरिमित आत्मशक्तिवाले तथा अत्यन्त प्रभावशाली अगस्त्यकी यह अद्भुत अमानुषी दिव्य कथा आप सुनिये ॥ २ ॥

आसन्कृतयुगे घोरा दानवा युद्धदुर्मदाः ।
कालेया इति विख्याता गणाः परमदारुणाः ॥ ३ ॥

सतयुगमें महा योद्धा, घोर, परम दारुण, कालेय नामक राक्षस उत्पन्न हुए थे ॥ ३ ॥

ते तु वृत्रं समाश्रित्य नानाप्रहरणोद्यताः ।
समन्तात्पर्यधावन्त महेन्द्रप्रमुखान्सुरान् ॥ ४ ॥

उन सबोंने वृत्रासुरको अपना राजा बनाया, फिर उन्होंने अनेक शस्त्र और अस्त्र लेकर इन्द्र आदि देवताओंके ऊपर चढाई की ॥ ४ ॥

ततो वृत्रवधे यत्नमकुर्वंस्त्रिदशाः पुरा ।
पुरन्दरं पुरस्कृत्य ब्रह्माणमुपतस्थिरे ॥ ५ ॥

तब पहले वृत्रको मारनेका देवताओंने प्रयत्न किया, पर जब सफल नहीं हुए तो देवता इन्द्रको आगे करके ब्रह्माके पास गये ॥ ५ ॥

कृताञ्जलींस्तु तान्सर्वान्परमेष्ठी उवाच ह ।
विदितं मे सुराः सर्वं यद्वः कार्यं चिकीर्षितम् ॥ ६ ॥

उनको हाथ जोडे और स्तुति करते हुए देख ब्रह्मा बोले– कि हे देवताओ ! आप लोग जो कुछ काम करना चाहते हैं, वह मैं सब समझ गया हूँ ॥ ६ ॥

तमुपायं प्रवक्ष्यामि यथा वृत्रं वधिष्यथ ।
दधीच इति विख्यातो महानृषिरुदारधीः ॥ ७ ॥

मैं वह उपाय बतलाता हूँ, जिससे तुम वृत्रासुरको मारोगे। एक उदार बुद्धिवाले ऋषि दधीचके नामसे प्रसिद्ध हैं ॥ ७ ॥

तं गत्वा सहिताः सर्वे वरं वै संप्रयाचत ।
स वो दास्यति धर्मात्मा सुप्रीतेनान्तरात्मना ॥ ८ ॥

तुम सब लोग इकट्ठे होकर उसके पास जाकर वर मांगो, वह मुनि परम धर्मात्मा हैं, इस लिये प्रसन्न चित्तवाले होकर वे तुम्हें वर देंगे ॥ ८ ॥

स वाच्यः सहितैः सर्वैर्भवद्भिर्जयकाङ्क्षिभिः ।
स्वान्यस्थीनि प्रयच्छेति त्रैलोक्यस्य हिताय वै ।
स शरीरं समुत्सृज्य स्वान्यस्थीनि प्रदास्यति ॥ ९ ॥

तब तुम सब लोग इकट्ठे होकर विजयकी इच्छा करके दधीच मुनिसे कहना कि आप तीनों लोकोंके हितके निमित्त अपनी हड्डी हमको दीजिये, तो वे अपने शरीरको छोडकर अपनी हड्डियां तुमको देंगे ॥ ९ ॥

तस्यास्थिभिर्महाघोरं वज्रं संक्रियतां दृढम् ।
महच्छत्रुहणं तीक्ष्णं षडश्रं भीमनिस्वनम् ॥ १० ॥

तब तुम लोग उन्हीं हड्डियोंसे दृढ और महा घोर वज्र बनाना, वह वज्र महाशत्रुओंका नाश करनेवाला होगा, उसमें छः धारें होंगी, उसका शब्द बडा भयानक होगा ॥ १० ॥

तेन वज्रेण वै वृत्रं वधिष्यति शतक्रतुः ।
एतद्वः सर्वमाख्यातं तस्माच्छीघ्रं विधीयताम् ॥ ११ ॥

उसी वज्रसे इन्द्र वृतासुरको मारेंगे, मैंने यह सब उपाय तुमसे कह दिया है। अब तुम लोग इसको शीघ्र ही करो ॥ ११ ॥

एवमुक्तास्ततो देवा अनुज्ञाप्य पितामहम् ।
नारायणं पुरस्कृत्य दधीचस्याश्रमं ययुः ॥ १२ ॥

देवता ब्रह्माके वचन सुनकर उनकी आज्ञा लेकर नारायणको आगे करके दधीचके आश्रमपर गये ॥ १२ ॥

सरस्वत्याः परे पारे नानाद्रुमलतावृतम् ।
षट्पदोद्गीतनिनदैर्विघुष्टं सामगैरिव ।
पुंस्कोकिलरवोन्मिश्रं जीवं जीवकनादितम् ॥ १३ ॥

वह आश्रम सरस्वतीके दूसरे तीरपर अनेक वृक्ष और लताओंसे घिरा हुआ था, उसमें सामको गानेवालोंके समान भौंरे गूंजते थे, वहां कोकिल आदि अनेक पक्षी और जन्तु बोल रहे थे ॥ १३ ॥

महिषैश्च वराहैश्च सृमरैश्चमरैरपि ।
तत्र तत्रानुचरितं शार्दूलभयवर्जितैः ॥ १४ ॥

भैंसे, सूअर, हिरण, चमरी और शार्दूल आदि सब जन्तु बिना भयके एक साथ विचरते थे ॥ १४ ॥

करेणुभिर्वारणैश्च प्रभिन्नकरटामुखैः ।
सरोवगाढैः क्रीडद्भिः समन्तादनुनादितम् ॥ १५ ॥

वहां मदके कारण फटे हुए गण्डस्थलवाले हाथी हथिनियोंके समेत तालाबोंमें घुसकर क्रीडा और शब्द कर रहे थे ॥ १५ ॥

सिंहव्याघ्रैर्महानादान्नदद्भिरनुनादितम् ।
अपरैश्चापि संलीनैर्गुहाकन्दरवासिभिः ॥ १६ ॥

वहां जोर जोरसे गर्जनेवाले सिंह और व्याघ्रादिकोंके शब्दसे वह आश्रम गूंज रहा था, वहां गुफा और कन्दराओंमें रहनेवाले जन्तुओंके शब्दोंसे वन गूंज रहा था ॥ १६ ॥

तेषु तेष्ववकाशेषु शोभितं सुमनोरमम् ।
त्रिविष्टपसमप्रख्यं दधीचाश्रममागमन् ॥ १७ ॥

जो वन किसी किसी स्थानमें अत्यन्त शोभित, मनोरम और स्वर्गके समान सुन्दर था, उस दधीचके आश्रमपर देवता आये ॥ १७ ॥

तत्रापश्यन्दधीचं ते दिवाकरसमद्युतिम् ।
जाज्वल्यमानं वपुषा यथा लक्ष्म्या पितामहम् ॥ १८ ॥

उन्होंने तेज और शरीरसे देदीप्यमान दधीचको ब्रह्मा और सूर्यके समान प्रकाशमान् देखा ॥ १८ ॥

तस्य पादौ सुरा राजन्नभिवाद्य प्रणम्य च ।
अयाचन्त वरं सर्वे यथोक्तं परमेष्ठिना ॥ १९ ॥

हे राजन्! उन देवताओंने उनके चरणोंमें अभिवादन और प्रणाम करके ब्रह्माके कहे हुए अनुसार वरदानको मांगा ॥ १९ ॥

×

ततो दधीचः परमप्रतीतः सुरोत्तमांस्तानिदमभ्युवाच ।
करोमि यद्वो हितमद्य देवाः स्वं चापि देहं त्वहमुत्सृजामि ॥ २० ॥

तब दधीचने बहुत प्रसन्न होकर उन श्रेष्ठ देवोंसे ऐसा कहा—हे देवताओ! आज जो भी कुछ तुम्हारे लिए हितकारी होगा, मैं करूंगा, मैं अपनी इच्छासे अपने शरीरको भी छोड दूंगा॥२०॥

स एवमुक्त्वा द्विपदां वरिष्ठः प्राणान्वशी स्वान्सहसोत्ससर्ज ।
ततः सुरास्ते जगृहुः परासोरस्थीनि तस्याथ यथोपदेशम् ॥ २१ ॥

यह कहकर पुरुषोंमें श्रेष्ठ, जितेन्द्रिय, महात्मा दधीचने अपने प्राणोंको उसी समय छोड दिया, तब देवताओंने ब्रह्माके कथनके अनुसार गतप्राण हुए उनकी हड्डियोंको ग्रहण किया ॥ २१ ॥

प्रहृष्टरूपाश्च जयाय देवास्त्वष्टारमागम्य तमर्थमूचुः ।
त्वष्टा तु तेषां वचनं निशम्य प्रहृष्टरूपः प्रयतः प्रयत्नात् ॥ २२ ॥

देवताओंने प्रसन्न होकर अपने विजयका निश्चय कर लिया, और उन्होंने विश्वकर्माको जाकर हड्डी दी और उनसे शस्त्र बनानेको कहा, विश्वकर्माने उनकी बातोंको सुनकर प्रसन्न होकर प्रयत्न किया ॥ २२ ॥

चकार वज्रं भृशमुग्ररूपं कृत्वा च शक्रं स उवाच हृष्टः ।
अनेन वज्रप्रवरेण देव भस्मीकुरुष्वाद्य सुरारिमुग्रम् ॥ २३ ॥

उससे बडा भयंकर रूपवाला वज्र बनाया और बनाकर प्रसन्न होकर इन्द्रसे ऐसा कहने लगे, हे देव! इस श्रेष्ठ वज्र शस्त्रसे आप देवोंके शत्रु उस उग्र राक्षसको आज भस्म कीजिये ॥ २३॥

ततो हतारिः सगणः सुखं वै प्रशाधि कृत्स्नं त्रिदिवं दिविष्ठः ।
त्वष्ट्रा तथोक्तः स पुरन्दरस्तु वज्रं प्रहृष्टः प्रयतोऽभ्यगृह्णात् ॥ २४ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि अष्टनवतितमोऽध्यायः ॥ ९८ ॥ ३६५३ ॥

हे स्वर्गवासिन्! राक्षसोंके मारनेके पश्चात् आप आनन्दपूर्वक सब बन्धुओंके सहित स्वर्गका राज्य कीजिये । विश्वकर्माके वचन सुनकर इन्द्रने प्रसन्न होकर बडे प्रयत्नसे वज्रको ग्रहण किया ॥ २४ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें अट्ठानवेवां अध्याय समाप्त ॥ ९८॥ ३६५३ ॥

: ९९ :

लोमश उवाच

ततः स वज्री बलिभिर्दैवतैरभिरक्षितः ।
आससाद ततो वृत्रं स्थितमावृत्य रोदसी ॥ १ ॥
कालकेयैर्महाकायैः समन्तादभिरक्षितम् ।
समुद्यतप्रहरणैः सशृङ्गैरिव पर्वतैः ॥ २ ॥

लोमश बोले– तदनन्तर वज्रधारी इन्द्र बलवान् देवताओंसे रक्षित होकर भूमि और आकाशको व्यापनेवाले तथा प्रहार करनेके लिए शस्त्रास्त्रोंको उठाये हुए चोटियोंसे युक्त पर्वतके समान विशाल शरीरवाले कालकेय दानवोंसे चारों ओरसे सुरक्षित वृत्रसे युद्ध करनेके लिए चले ॥ १-२ ॥

ततो युद्धं समभवद्देवानां सह दानवैः ।
मुहूर्तं भरतश्रेष्ठ लोकत्रासकरं महत् ॥ ३ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! उस समय देवताओंका दानवोंके साथ मुहूर्तभर लोकोंको भयभीत करनेवाला भयङ्कर युद्ध हुआ ॥ ३ ॥

उद्यतप्रतिपिष्टानां खड्गानां वीरबाहुभिः ।
आसीत्सुतुमुलः शब्दः शरीरेष्वभिपात्यताम् ॥ ४ ॥

उस समय वीरलोगोंके हाथसे चलाये जाते हुए और शत्रुओंके शरीरपर गिरते हुए खड्गोंका और दूसरे खड्गोंसे लगकर टूटनेका महा घोर शब्द हुआ ॥ ४ ॥

शिरोभिः प्रपतद्भिश्च अन्तरिक्षान्महीतलम् ।
तालैरिव महीपाल वृन्ताद्भ्रष्टैरदृश्यत ॥ ५ ॥

हे राजन् ! उस समय जो सिर कट कटकर आकाशसे पृथ्वीपर गिरते थे, उनकी शोभा ऐसी प्रतीत होती थी, जैसे मानों ताडके फल अपनी शाखाओंसे टूटकर गिर रहे हों ॥५॥

ते हेमकवचा भूत्वा कालेयाः परिघायुधाः ।
त्रिदशानभ्यवर्तन्त दावदग्धा इवाद्रयः ॥ ६ ॥

कालकेय राक्षस सोनेके कवच पहनकर और परिघ आदि अस्त्रोंको लेकर देवताओंकी ओर दौडते हुए ऐसे प्रतीत हुए, जैसे कि मानों दावाग्निसे युक्त पर्वत दौड रहे हों ॥ ६ ॥

तेषां वेगवतां वेगं सहितानां प्रधावताम् ।
न शेकुस्त्रिदशाः सोढुं ते भग्नाः प्राद्रवन्भयात् ॥ ७ ॥

देवता लोग इनको एक साथ मिलकर वेगसे दौडते हुए उनके वेगको न सह सके और वे तितर बितर होकर भयसे इधर उधर भागने लगे ॥ ७ ॥

तान्दृष्ट्वा द्रवतो भीतान्सहस्राक्षः पुरन्दरः ।
वृत्रे विवर्धमाने च कश्मलं महदाविशत् ॥ ८ ॥

उनको भयसे इधर उधर भागते हुए और वृत्रको बढते हुए देखकर सहस्रनेत्र इन्द्रको मोह हो गया ॥ ८ ॥

तं शक्रं कश्मलाविष्टं दृष्ट्वा विष्णुः सनातनः ।
स्वतेजो व्यदधाच्छक्रे बलमस्य विवर्धयन् ॥ ९ ॥

सनातन विष्णुने इन्द्रको डरा हुआ देखकर उनमें अपना तेज भर दिया, उस तेजसे इन्द्रका बहुत बल बढ गया ॥ ९ ॥

विष्णुनाप्यायितं शक्रं दृष्ट्वा देवगणास्ततः ।
स्वं स्वं तेजः समादध्युस्तथा ब्रह्मर्षयोऽमलाः ॥ १० ॥

इन्द्रको विष्णुके तेजसे युक्त देखकर सब देवताओं और निर्मल महर्षियोंने भी अपना अपना तेज इन्द्रको दे दिया ॥ १० ॥

स समाप्यायितः शक्रो विष्णुना दैवतैः सह ।
ऋषिभिश्च महाभागैर्बलवान्समपद्यत ॥ ११ ॥

इन्द्र विष्णु, देवता और महाभाग ऋषियोंके तेजसे तृप्त होकरके बहुत ही बलवान् हो गए ॥ ११ ॥

ज्ञात्वा बलस्थं त्रिदशाधिपं तु ननाद वृत्रो महतो निनादान् ।
तस्य प्रणादेन धरा दिशश्च खं द्यौर्नगाश्चापि चचाल सर्वम् ॥ १२ ॥

जब वृत्रासुरने देखा कि इन्द्र बलसे भरकर हमारे सामने युद्धमें आया है, तो महाशब्दसे गर्जने लगा, उसके घोर गर्जनसे पृथ्वी, दिशायें, आकाश, द्युलोक और सब पर्वत हिलने लगे ॥ १२ ॥

ततो महेन्द्रः परमाभितप्तः श्रुत्वा रवं घोररूपं महान्तम् ।
भये निमग्नस्त्वरितं मुमोच वज्रं महत्तस्य वधाय राजन् ॥ १३ ॥

हे राजन् ! उस महान् घोर शब्दको सुनकर अत्यन्त क्रोधित होकर तथा अत्यन्त भयभीत होकर इन्द्रने उसे मारनेके लिए शीघ्र ही उस महान् वज्रको छोडा ॥ १३ ॥

स शक्रवज्राभिहतः पपात महासुरः काञ्चनमाल्यधारी ।
यथा महाञ्शैलवरः पुरस्तात्स मन्दरो विष्णुकरात्प्रमुक्तः ॥ १४ ॥

वह सोनेकी माला धारण किया हुआ महान् असुर इन्द्रके वज्र लगनेसे मरकर ऐसे गिरा जैसे पहले विष्णुके हाथसे छूटकर पर्वतोंमें श्रेष्ठ महान् मन्दराचल गिरा था ॥ १४ ॥

तस्मिन्हते दैत्यवरे भयार्तः शक्रः प्रदुद्राव सरः प्रवेष्टुम् ।
वज्रं न मेने स्वकरात्प्रमुक्तं वृत्रं हतं चापि भयान्न मेने ॥ १५ ॥

उस महा राक्षसके मरनेके पश्चात् इन्द्र डरसे व्याकुल होकर तालाबमें घुसनेके लिए भागे, भयके कारण इन्द्रने न अपने हाथसे छूटते वज्रको ही देखा और न मरते हुए वृत्रको ही देखा ॥ १५ ॥

सर्वे च देवा मुदिताः प्रहृष्टा महर्षयश्चेन्द्रमभिष्टुवन्तः ।
सर्वांश्च दैत्यांस्त्वरिताः समेत्य जघ्नुः सुरा वृत्रवधाभितप्तान् ॥ १६ ॥

तब सब देवता और महर्षियोंने प्रसन्न और आनन्दित होकर इन्द्रकी स्तुति की और सभी देवताओंने मिलकर वृत्रासुरके मरनेसे दुःखी सभी राक्षसोंको शीघ्र ही मार डाला ॥ १६ ॥

ते वध्यमानास्त्रिदशैस्तदानीं समुद्रमेवाविविशुर्भयार्ताः ।
प्रविश्य चैवोदधिमप्रमेयं झषाकुलं रत्नसमाकुलं च ॥ १७ ॥
तदा स्म मन्त्रं सहिताः प्रचक्रुस्त्रैलोक्यनाशार्थमभिस्मयन्तः ।
तत्र स्म केचिन्मतिनिश्चयज्ञास्तांस्तानुपायाननुवर्णयन्ति ॥ १८ ॥

तब वे राक्षस देवताओंके द्वारा मारे जाते हुए भयसे व्याकुल होकर समुद्रमें घुस गये, मछलियों और रत्नोंसे भरे हुए अप्रतिम समुद्रमें जाकर राक्षस बडे ही अभिमानसे तीनों लोकोंका विनाश करनेके लिए मिलकर विचार करने लगे, उनमें कोई कोई उत्तम बुद्धिमान् और निश्चय करनेवाले दैत्य कई उपायोंका वर्णन भी करने लगे ॥ १७–१८ ॥

तेषां तु तत्र क्रमकालयोगाद्घोरा मतिश्चिन्तयतां बभूव ।
ये सन्ति विद्यातपसोपपन्नास्तेषां विनाशः प्रथमं तु कार्यः ॥ १९ ॥

वहां उस समय प्रारब्धके वशसे उन दैत्योंने अपनी संमतिसे यही निश्चय किया कि विद्या और तपसे सम्पन्न जो मुनि हैं सबसे पहले उन्हींका नाश करना चाहिये ॥ १९ ॥

लोका हि सर्वे तपसा ध्रियन्ते तस्मात्त्वरध्वं तपसः क्षयाय ।
ये सन्ति केचिद्धि वसुन्धरायां तपस्विनो धर्मविदश्च तज्ज्ञाः ।
तेषां वधः क्रियतां क्षिप्रमेव तेषु प्रनष्टेषु जगत्प्रनष्टम् ॥ २० ॥

क्योंकि सब लोक तपस्याहीसे धारण किए जाते हैं, अतएव पहले तपका नाश करनेके लिए शीघ्रता करनी चाहिये । जो कोई पृथ्वीपर तपस्वी, धर्मज्ञ और धर्मके जाननेवाले हैं, पहले उन्हींका शीघ्रतापूर्वक नाश करना चाहिये, क्योंकि उनके मरनेहीसे सब जगत्का नाश हो जायेगा ॥ २० ॥

एवं हि सर्वे गतबुद्धिभावा जगद्विनाशे परमप्रहृष्टाः ।
दुर्गं समाश्रित्य महोर्मिमन्तं रत्नाकरं वरुणस्यालयं स्म ॥ २१ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि नवनवतितमोऽध्यायः ॥ ९९ ॥ ३६७४ ॥

इस प्रकार उन बुद्धिहीन दानवोंने वरुणके निवास स्थान महान् तरंगोंवाले सागर रूपी दुर्गका आश्रय लेकर जगत्का विनाश करनेका निश्चय किया और इस प्रकार निश्चय करके बहुत ही प्रसन्न हुए ॥ २१ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें निन्यानवेवां अध्याय समाप्त ॥ ९९ ॥ ३६७४ ॥

: 100 :

लोमश उवाच

समुद्रं ते समाश्रित्य वारुणं निधिमम्भसाम् ।
कालेयाः संप्रवर्तन्त त्रैलोक्यस्य विनाशने ॥ १ ॥

लोमश बोले– हे महाराज ! कालेय दैत्य वरुणके जलके स्थान समुद्रमें रहकर जगत्का विनाश करनेके कार्यमें प्रवृत्त हुए ॥ १ ॥

ते रात्रौ समभिक्रुद्धा भक्षयन्ति सदा मुनीन् ।
आश्रमेषु च ये सन्ति पुण्येष्वायतनेषु च ॥ २ ॥

वे राक्षस रातके समय क्रोधसे भरकर मुनियोंके पवित्र आश्रम और तीर्थोंमें जाकर उनमें जो मुनि रहते थे, उन्हें खा जाते थे ॥ २ ॥

वसिष्ठस्याश्रमे विप्रा भक्षितास्तैर्दुरात्मभिः ।
अशीतिशतमष्टौ च नव चान्ये तपस्विनः ॥ ३ ॥

उन दुष्टात्माओंने वसिष्ठ मुनिके आश्रममें जाकर एक सौ अठासी ऋषियोंको खा लिया और नौ तपस्वियोंको भी खा लिया ॥ ३ ॥

च्यवनस्याश्रमं गत्वा पुण्यं द्विजनिषेवितम् ।
फलमूलाशनानां हि मुनीनां भक्षितं शतम् ॥ ४ ॥

ब्राह्मणोंसे सेवित च्यवन मुनिके पवित्र आश्रममें जाकर राक्षस फल मूलोंको खानेवाले सौ मुनियोंको खा गये ॥ ४ ॥

एवं रात्रौ स्म कुर्वन्ति विविशुश्चार्णवं दिवा ।
भरद्वाजाश्रमे चैव नियता ब्रह्मचारिणः ।
वाय्वाहाराम्बुभक्षाश्च विंशतिः संनिपातिताः ॥ ५ ॥

इसी प्रकार भरद्वाज मुनिके आश्रमपर जाकर नियमधारी, ब्रह्मचारी, वायु तथा जल पीकर रहनेवाले बीस ऋषियोंको खा गये, इस प्रकार वे राक्षस रात्रिको मुनियोंको खाकर दिनमें समुद्रमें घुस जाते थे ॥ ५ ॥

एवं क्रमेण सर्वांस्तानाश्रमान्दानवास्तदा ।
निशायां परिधावन्ति मत्ता भुजबलाश्रयात् ।
कालोपसृष्टाः कालेया घ्नन्तो द्विजगणान्बहून् ॥ ६ ॥

इसप्रकार भुजबलसे उन्मत्त राक्षस रात्रिमें दौड दौडकर सब आश्रमोंमें जाकर बाधा करने लगे । वे कालेय लोग कालके वशमें होकर अनेक ब्राह्मणोंका नाश करने लगे ॥ ६ ॥

न चैनानन्वबुध्यन्त मनुजा मनुजोत्तम ।
एवं प्रवृत्तान्दैत्यांस्तांस्तापसेषु तपस्विषु ॥ ७ ॥

पुरुषश्रेष्ठ ! उन मुनियोंके मारनेवाले दैत्योंको तापस और तपस्वियोंमें कोई पुरुष नहीं जानता था ॥ ७ ॥

प्रभाते समदृश्यन्त नियताहारकर्शिताः ।
महीतलस्था मुनयः शरीरैर्गतजीवितैः ॥ ८ ॥

परन्तु नियत आहारके कारण दुबले पतले मुनिलोग प्रातःकाल होनेपर देखते थे, कि अनेक तपस्वी पृथ्वीमें मरे हुए पडे हैं ॥ ८ ॥

क्षीणमांसैर्विरुधिरैर्विमज्जान्त्रैर्विसंधिभिः ।
आकीर्णैराचिता भूमिः शंखानामिव राशिभिः ॥ ९ ॥

मरे हुए मुनि मांस, रुधिर, मज्जा और आंतोंसे रहित पृथ्वीमें पडे रहते थे, उस समय उन मुनियोंकी हड्डियोंसे पृथ्वी ऐसी शोभित हुई, जैसे मानो जगह जगह शंखोंके ढेर हों ॥ ९ ॥

कलशैर्विप्रविद्धैश्च स्रुवैर्भग्नैस्तथैव च ।
विकीर्णैरग्निहोत्रैश्च भूर्बभूव समावृता ॥ १० ॥

टूटे फूटे कलशों तथा टूटी हुई स्रुवाओं और छितराये हुए अग्निहोत्रोंसे आश्रमोंकी पृथ्वी भर गई ॥ १० ॥

निःस्वाध्यायवषट्कारं नष्टयज्ञोत्सवक्रियम् ।
जगदासीन्निरुत्साहं कालेयभयपीडितम् ॥ ११ ॥

काले राक्षसोंके भयसे पीडित होनेके कारण सारा जगत् वेदपाठ वषट्कारसे रहित हो गया सभी यज्ञोत्सवकी क्रियायें नष्ट हो गई और इस कारण सारा जगत् उत्साहहीन हो गया ॥ ११ ॥

एवं प्रक्षीयमाणाश्च मानवा मनुजेश्वर ।
आत्मत्राणपरा भीताः प्राद्रवन्त दिशो भयात् ॥ १२ ॥

हे नरनाथ ! इस प्रकार ऐसा कर्म होनेसे पुरुष लोग कम होने लगे, तब भयभीत होकर अपने बचावके निमित्त मनुष्य इधर उधर दसों दिशाओंमें भागने लगे ॥ १२ ॥

केचिद्गुहाः प्रविविशुर्निर्झरांश्चापरे श्रिताः ।
अपरे मरणोद्विग्ना भयात्प्राणान्समुत्सृजन् ॥ १३ ॥

कोई गुफामें घुस गए और कोई झरनोंमें घुस गये तथा कोई मरनेके भयसे अपने प्राणोंको छोडने लगे ॥ १३ ॥

केचिदत्र महेष्वासाः शूराः परमदर्पिताः ।
मार्गमाणाः परं यत्नं दानवानां प्रचक्रिरे ॥ १४ ॥

कोई महावीर धनुषधारी परम अभिमानी होकर राक्षसोंके ढूंढनेके लिए महान् यत्न करने लगे ॥ १४ ॥

न चैतानधिजग्मुस्ते समुद्रं समुपाश्रितान् ।
श्रमं जग्मुश्च परममाजग्मुः क्षयमेव च ॥ १५ ॥

परन्तु उनको वे समुद्रवासी राक्षस न मिले, और वे सब थककर बैठ गए और बहुतसे नष्ट भी हो गये ॥ १५ ॥

जगत्युपशमं याते नष्टयज्ञोत्सवक्रिये ।
आजग्मुः परमामार्तिं त्रिदशा मनुजेश्वर ॥ १६ ॥

हे नरनाथ ! इस प्रकार जगत्में आपत्ति आनेसे सब यज्ञ और उत्सव नष्ट हो गये, तब देवोंको बहुत दुःख हुआ ॥ १६ ॥

समेत्य समहेन्द्राश्च भयान्मन्त्रं प्रचक्रिरे ।
नारायणं पुरस्कृत्य वैकुण्ठमपराजितम् ॥ १७ ॥

तब भयसे व्याकुल होकर अपराजित वैकुण्ठवासी नारायणको आगे करके इन्द्रादिक देवताओंने सलाह किया ॥ १७ ॥

तदो देवाः समेतास्ते तदोचुर्मधुसूदनम् ।
त्वं नः स्रष्टा च पाता च भर्ता च जगतः प्रभो ।
त्वया सृष्टमिदं सर्वं यच्चेङ्गं यच्च नेङ्गति ॥ १८ ॥

तब इकट्ठे होकर सब देवोंने मधुके नाशक नारायणसे ऐसे वचन कहे– हे प्रभो ! हमारे और सब जगत्के उत्पन्न करनेवाले, पालन करनेवाले और उसकी रक्षा करनेवाले आप ही हैं, यह सब जो चर और अचर जगत् है, वह आपहीका बनाया हुआ है ॥ १८ ॥

त्वया भूमिः पुरा नष्टा समुद्रात्पुष्करेक्षण ।
वाराहं रूपमास्थाय जगदर्थे समुद्धृता ॥ १९ ॥

हे कमलनेत्र ! पहले जब पृथ्वी समुद्रमें डूब गई थी, तब आपने शूकर रूप बनाकर जगत्के हितके लिए उसका उद्धार किया था ॥ १९ ॥

आदिदैत्यो महावीर्यो हिरण्यकशिपुस्त्वया ।
नारसिंहं वपुः कृत्वा सूदितः पुरुषोत्तम ॥ २० ॥

हे पुरुषोत्तम ! आपने पहले नरसिंहका रूप बनाकर आदिदैत्य महा बलवान् हिरण्यकशिपुको मारा था ॥ २० ॥

अवध्यः सर्वभूतानां बलिश्चापि महासुरः ।
वामनं वपुराश्रित्य त्रैलोक्याद्भ्रंशितस्त्वया ॥ २१ ॥

जिस बली नामक असुरको कोई प्राणी नहीं मार सकता था, उसको आपने वामनका रूप धारणकरके तीनों लोकोंसे भ्रष्ट कर दिया था ॥ २१ ॥

असुरश्च महेष्वासो जम्भ इत्यभिविश्रुतः ।
यज्ञक्षोभकरः क्रूरस्त्वयैव विनिपातितः ॥ २२ ॥

जो महाशस्त्रधारी यज्ञोंका नाश करनेवाला जम्भ नामक क्रूर राक्षस था, उसकोभी आपने ही मारा था ॥ २२ ॥

एवमादीनि कर्माणि येषां संख्या न विद्यते ।
अस्माकं भयभीतानां त्वं गतिर्मधुसूदन ॥ २३ ॥

हे मधुसूदन ! आपने इस प्रकारके और भी अनेकों कर्म ऐसे किये हैं, कि जिनकी गिनती नहीं की जा सकती । डरे हुए हम देवताओंकी गति आप ही हैं ॥ २३ ॥

×

तस्मात्त्वां देव देवेश लोकार्थं ज्ञापयामहे ।
रक्ष लोकांश्च देवांश्च शक्रं च महतो भयात् ॥ २४ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि शततमोऽध्यायः ॥ १०० ॥ ३६९८ ॥

हे देवदेवेश ! इस कारण हम लोकोंके कल्याणके लिए आपको यह बताते हैं; आप देवता, इन्द्र और सब लोकोंकी इस महाभयसे रक्षा कीजिये ॥ २४ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें सौवां अध्याय समाप्त ॥ १०० ॥ ३६९८ ॥

: १०१ :

देवा ऊचुः

इतः प्रदानाद्वर्तन्ते प्रजाः सर्वाश्चतुर्विधाः ।
ता भाविता भावयन्ति हव्यकव्यैर्दिवौकसः ॥ १ ॥

देवता बोले– हे प्रभो ! यहां दान देनेसे सभी चार प्रकारकी प्रजायें बढती हैं, वे बढकर हव्य और कव्योंसे देवताओंकी पूजा करके उन्हें बढाती हैं ॥ १ ॥

लोका ह्येवं वर्तयन्ति अन्योन्यं समुपाश्रिताः ।
त्वत्प्रसादान्निरुद्विग्नास्त्वयैव परिरक्षिताः ॥ २ ॥

इसी प्रकार एक दूसरेके आश्रयसे स्थित लोक भी बढते हैं, आपकी कृपा और रक्षासे सब जन्तु भयरहित और सुखी रहते हैं ॥ २ ॥

इदं च समनुप्राप्तं लोकानां भयमुत्तमम् ।
न च जानीम केनेमे रात्रौ वध्यन्ति ब्राह्मणाः ॥ ३ ॥

अब सब लोगोंके सामने एक महाभय उपस्थित हो गया है, हम नहीं जानते कि रात्रिमें आकर कौन ब्राह्मणोंको मार जाता है ? ॥ ३ ॥

क्षीणेषु च ब्राह्मणेषु पृथिवी क्षयमेष्यति ।
ततः पृथिव्यां क्षीणायां त्रिदिवं क्षयमेष्यति ॥ ४ ॥

ब्राह्मणोंके नाश होनेसे पृथ्वीका नाश हो जाएगा और पृथ्वीके नाश हो जानेसे स्वर्गका नाश हो जायेगा ॥ ४ ॥

त्वत्प्रसादान्महाबाहो लोकाः सर्वे जगत्पते ।
विनाशं नाधिगच्छेयुस्त्वया वै परिरक्षिताः ॥ ५ ॥

हे महाबाहो ! हे जगत्पते ! केवल आपकी कृपासे सब लोग बच सकते हैं । जब आप रक्षा करेंगे, तब कोई भी नष्ट नहीं होगा ॥ ५ ॥

विष्णुरुवाच

विदितं मे सुराः सर्वं प्रजानां क्षयकारणम् ।
भवतां चापि वक्ष्यामि शृणुध्वं विगतज्वराः ॥ ६ ॥

विष्णु बोले– हे देवताओ ! प्रजाके नाशका सब कारण मैं जानता हूं, तुम लोगोंसे भी कहता हूँ, तुम लोग सुखी होकर सुनो ॥ ६ ॥

कालेय इति विख्यातो गणः परमदारुणः ।
तैश्च वृत्रं समाश्रित्य जगत्सर्वं प्रबाधितम् ॥ ७ ॥

जो परम कठोर कालेय नामक राक्षसोंका एक दल प्रसिद्ध है, जिसने वृत्रासुरका आश्रय लेकर सब जगत्को दुःख दिया है ॥ ७ ॥

ते वृत्रं निहतं दृष्ट्वा सहस्राक्षेण धीमता ।
जीवितं परिरक्षन्तः प्रविष्टा वरुणालयम् ॥ ८ ॥

वे ही लोग हजार आंखवाले और बुद्धिमान् इन्द्रसे वृत्रासुरको मरा हुआ देखकर अपने जीवनकी रक्षाके निमित्त वरुणालय समुद्रमें घुस गये हैं ॥ ८ ॥

ते प्रविश्योदधिं घोरं नक्रग्राहसमाकुलम् ।
उत्सादनार्थं लोकानां रात्रौ घ्नन्ति मुनीनिह ॥ ९ ॥

वेही मगर और ग्राहोंसे युक्त होनेके कारण भयंकर समुद्रमें घुसकर रात्रिमें उसमेंसे निकलकर ऋषियोंका नाश करते हैं ॥ ९ ॥

न तु शक्याः क्षयं नेतुं समुद्राश्रयगा हि ते ।
समुद्रस्य क्षये बुद्धिर्भवद्भिः संप्रधार्यताम् ।
अगस्त्येन विना को हि शक्तोऽन्योऽर्णवशोषणे ॥ १० ॥

उन लोगोंका नाश नहीं हो सकता क्योंकि वे लोग समुद्रके अन्दर रहते हैं, इसलिये तुम समुद्रके नाश करनेके उपायको ढूंढनेमें अपनी बुद्धि लगाओ और अगस्त्यके सिवाय समुद्रको सोखनेमें और कौन समर्थ हो सकता है ? ॥ १० ॥

एतच्छ्रुत्वा वचो देवा विष्णुना समुदाहृतम् ।
परमेष्ठिनमाज्ञाप्य अगस्त्यस्याश्रमं ययुः ॥ ११ ॥

देवता विष्णुके द्वारा कहे हुए ऐसे वचन सुनकर ब्रह्माकी आज्ञा लेकर अगस्त्यके आश्रम पर गये ॥ ११ ॥

तत्रापश्यन्महात्मानं वारुणिं दीप्ततेजसम् ।
उपास्यमानमृषिभिर्देवैरिव पितामहम् ॥ १२ ॥

वहां जाकर उन्होंने वरुणके पुत्र महातेजस्वी महात्मा अगस्त्यको ऋषियोंके द्वारा उसी प्रकार उपासित होते हुए देखा, जैसे देवोंसे पितामह ब्रह्मा ॥ १२ ॥

तेऽभिगम्य महात्मानं मैत्रावरुणिमच्युतम् ।
आश्रमस्थं तपोराशिं कर्मभिः स्वैरभिष्टुवन् ॥ १३ ॥

देवता मित्रावरुणके पुत्र महात्मा तपके समूह अपने कर्मोंसे प्रशंसनीय अगस्त्यको देख बहुत प्रसन्न हुए और स्तुति करते हुए कहने लगे ॥ १३ ॥

देवा ऊचुः

नाहुषेणाभितप्तानां त्वं लोकानां गतिः पुरा ।
भ्रंशितश्च सुरैश्वर्याल्लोकार्थं लोककण्टकः ॥ १४ ॥

देवता बोले– जब नहुषके पुत्रसे जगत् अत्यन्त दुःखित हुआ था तब आप ही संसारके लिए शरणरूप हुए थे और उस लोककण्टकको लोकके हितके लिए आपहीने स्वर्गसे गिराया था ॥ १४ ॥

क्रोधात्प्रवृद्धः सहसा भास्करस्य नगोत्तमः ।
वचस्तवानतिक्रामन्विन्ध्यः शैलो न वर्धते ॥ १५ ॥

पर्वतोंमें श्रेष्ठ विन्ध्याचल सूर्यके ऊपर उत्पन्न हुए क्रोधके कारण बढने लगा था, परन्तु अब आपके वचनको स्वीकार करके नहीं बढता है ॥ १५ ॥

तपसा चावृते लोके मृत्युनाभ्यर्दिताः प्रजाः ।
त्वामेव नाथमासाद्य निर्वृतिं परमां गताः ॥ १६ ॥

जब प्रजा अन्धकारसे ढके हुए लोकमें मृत्युसे नष्ट होने लगी, तब आपहीको स्वामीरूपमें प्राप्त होकर वे परम मुक्तिको प्राप्त हुईं ॥ १६ ॥

अस्माकं भयभीतानां नित्यशो भगवान्गतिः ।
ततस्त्वार्ताः प्रयाचामस्त्वां वरं वरदो ह्यसि ॥ १७ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि एकाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०१ ॥ ३७१५ ॥

डरे हुए हम देवताओंकी सदा आप ही गति हैं । हम लोग दुःखी होकर आपसे वरदान मांगनेको आये हैं, क्योंकि आप वरदान देनेमें समर्थ हैं ॥ १७ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ एकवां अध्याय समाप्त ॥ १०१ ॥ ३७१५ ॥

: १०२ :

युधिष्ठिर उवाच

किमर्थं सहसा विन्ध्यः प्रवृद्धः क्रोधमूर्छितः ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण महामुने ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे महामुने ! आप इस कथाको विस्तारपूर्वक कहिये कि, विन्ध्याचल एकदम क्रोधसे मूर्छित हो करके इतना क्यों बढ गया था ? इस कथाको सुननेकी मेरी बहुत इच्छा है ॥ १ ॥

लोमश उवाच

अद्रिराजं महाशैलं मेरुं कनकपर्वतम् ।
उदयास्तमये भानुः प्रदक्षिणमवर्तत ॥ २ ॥

लोमश बोले– हे महाराज ! सूर्य उदय और अस्तके समय सुवर्णमय पर्वतराज महापर्वत मेरुकी प्रदक्षिणा करते थे ॥ २ ॥

तं तु दृष्ट्वा तथा विन्ध्यः शैलः सूर्यमथाब्रवीत् ।
यथा हि मेरुर्भवता नित्यशः परिगम्यते ।
प्रदक्षिणं च क्रियते मामेवं कुरु भास्कर ॥ ३ ॥

उसकी प्रदक्षिणा करते देखकर विन्ध्याचलने सूर्यसे कहा– कि हे सूर्य ! जैसे तुम प्रतिदिन मेरुकी प्रदक्षिणा किया करते हो, वैसे मेरी भी प्रदक्षिणा किया करो ॥ ३ ॥

एवमुक्तस्ततः सूर्यः शैलेन्द्रं प्रत्यभाषत ।
नाहमात्मेच्छया शैल करोम्येनं प्रदक्षिणम् ।
एष मार्गः प्रदिष्टो मे येनेदं निर्मितं जगत् ॥ ४ ॥

ऐसे वचनको सुन सूर्य पर्वतराजसे बोले– कि मैं कुछ अपनी इच्छासे इस मेरुकी प्रदक्षिणा नहीं करता, वरन् जिस परमेश्वरने इस जगत्को बनाया है, उसीने मेरे निमित्त यह मार्ग भी बना दिया है ॥ ४ ॥

एवमुक्तस्ततः क्रोधात्प्रवृद्धः सहसाचलः ।
सूर्याचन्द्रमसोर्मार्गं रोद्धुमिच्छन्परन्तप ॥ ५ ॥

तब सूर्यके इस प्रकार कहनेपर वह पर्वत अत्यन्त क्रोधित होकर, हे परन्तप युधिष्ठिर ! सूर्य और चन्द्रके रास्तेको रोक देनेकी इच्छासे अचानक ऊंचा होने लगा ॥ ५ ॥

ततो देवाः सहिताः सर्व एव सेन्द्रा समागम्य महाद्रिराजम् ।
निवारयामासुरुपायतस्तं न च स्म तेषां वचनं चकार ॥ ६ ॥
तब इन्द्रके सहित सब देवता मिलकर पर्वतोंके महाराज विन्ध्याचलके पास आये, उन्होंने अनेक उपायोंके द्वारा विन्ध्याचलको ऊंचा होनेसे रोकनेकी कोशिश की कि वह न बढे, परन्तु विन्ध्याचलने उनका कोई भी वचन न माना ॥ ६ ॥

अथाभिजग्मुर्मुनिमाश्रमस्थं तपस्विनं धर्मभृतां वरिष्ठम् ।
अगस्त्यमत्यद्भुतवीर्यदीप्तं तं चार्थमूचुः सहिताः सुरास्ते ॥ ७ ॥
तदनन्तर वे सब देवता तपस्वी और धर्मधारियोंमें श्रेष्ठ, अद्भुत बलवाले आश्रममें बैठे हुए अगस्त्य मुनिके पास गए और उन्होंने अपना प्रयोजन सुनाया ॥ ७ ॥

सूर्याचन्द्रमसोर्मार्गं नक्षत्राणां गतिं तथा।
शैलराजो वृणोत्येष विंध्यः क्रोधवशानुगः ॥ ८ ॥
देवता बोले– हे द्विजोत्तम ! यह पर्वतराज विन्ध्याचल अत्यन्त क्रोधके वशमें होकर सूर्य और चन्द्रमाके मार्ग तथा नक्षत्रोंकी गतिको रोकना चाहते हैं ॥ ८ ॥

तं निवारयितुं शक्तो नान्यः कश्चिद्द्विजोत्तम ।
ऋते त्वां हि महाभाग तस्मादेनं निवारय ॥ ९ ॥
हे महाभाग ! हे ब्रह्मणश्रेष्ठ ! आपके सिवाय इनका और कोई भी निवारण नहीं कर सकता है, इसलिये आपही इनको रोकिये ॥ ९ ॥

तच्छ्रुत्वा वचनं विप्रः सुराणां शैलमभ्यगात् ।
सोऽभिगम्याब्रवीद्विंध्यं सदारः समुपस्थितः ॥ १० ॥
लोमश बोले– विप्र मुनि देवताओंके वचन सुनकर पर्वतके पास गए और अपनी स्त्रीके सहित विन्ध्याचलके पास जाकर अगस्त्य मुनिने विन्ध्याचलसे कहा ॥ १० ॥

मार्गमिच्छाम्यहं दत्तं भवता पर्वतोत्तम ।
दक्षिणामभिगन्तास्मि दिशं कार्येण केनचित् ॥ ११ ॥
हे पर्वतोंमें श्रेष्ठ ! मैं किसी विशेष कार्यसे दक्षिणदिशाको जाना चाहता हूँ, इसलिये तुम्हारे द्वारा दिए गए मार्गको मैं चाहता हूँ ॥ ११ ॥

यावदागमनं मह्यं तावत्त्वं प्रतिपालय ।
निवृत्ते मयि शैलेन्द्र ततो वर्धस्व कामतः ॥ १२ ॥
और जबतक मैं उधरसे लौटकर न आऊं तबतक तुम ऐसे ही रहकर हमारा मार्ग देखना । हे पर्वतराज ! जब मैं इधरसे लौटकर आ जाऊं, तब तुम अपनी इच्छानुसार बढना ॥१२॥

एवं स समयं कृत्वा विन्ध्येनामित्रकर्शन ।
अद्यापि दक्षिणादेशाद्वारुणिर्न निवर्तते ॥ १३ ॥

हे शत्रुनाशक ! वरुणके पुत्र अगस्त्य मुनि इस प्रकार विन्ध्याचलसे प्रतिज्ञा कराकर अबतक भी दक्षिण देशसे लौटकर नहीं आये ॥ १३ ॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं यथा विन्ध्यो न वर्धते ।
अगस्त्यस्य प्रभावेन यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ १४ ॥

मैंने जिस कारण विन्ध्याचल नहीं बढता है, सब कथा आपसे कही । जो तुमने मुझसे अगस्त्य मुनिका प्रभाव पूछा था, उसे मैंने कहा ॥ १४ ॥

कालेयास्तु यथा राजन्सुरैः सर्वैर्निषूदिताः ।
अगस्त्याद्वरमासाद्य तन्मे निगदतः शृणु ॥ १५ ॥

अब जिस प्रकार अगस्त्य मुनिके वरदानको पाकर देवताओंने कालेय राक्षसोंका नाश किया वह कथा कहता हूँ, सुनिये ॥ १५ ॥

त्रिदशानां वचः श्रुत्वा मैत्रावरुणिरब्रवीत् ।
किमर्थमभियाताः स्थ वरं मत्तः किमिच्छथ ।
एवमुक्तास्ततस्तेन देवता मुनिमब्रुवन् ॥ १६ ॥

हे महाराज ! देवताओंके पूर्वोक्त वचन सुनकर मित्रावरुणके पुत्र अगस्त्य मुनिके कहा कि तुम हमारे पास क्यों आये हो ? और मुझसे तुम कौनसा वर चाहते हो ? मुनिके ऐसे वचन सुनकर देवता उनसे बोले ॥ १६ ॥

एवं त्वयेच्छाम कृतं महर्षे महार्णवं पीयमानं महात्मन् ।
ततो वधिष्याम सहानुबन्धान्कालेयसंज्ञान्सुरविद्विषस्तान् ॥ १७ ॥

हे महात्मन् ! हम लोग चाहते हैं, कि आप महा समुद्रको पीकर हमारा कार्य करें, आपके ऐसा करनेसे हम देवताओंके शत्रु कालेय नामक दैत्योंको परिवारके सहित नष्टकर देंगे ॥ १७ ॥

त्रिदशानां वचः श्रुत्वा तथेति मुनिरब्रवीत् ।
करिष्ये भवतां कामं लोकानां च महत्सुखम् ॥ १८ ॥

देवताओंके वचन सुनकर अगस्त्य मुनिने कहा– कि मैं ऐसा ही करूंगा। मैं लोकोंके लिए सुखदायक आपकी इस इच्छाको अवश्य पूरा करूंगा ॥ १८ ॥

एवमुक्त्वा ततोऽगच्छत्समुद्रं सरितां पतिम् ।
ऋषिभिश्च तपःसिद्धैः सार्धं देवैश्च सुव्रतः ॥ १९ ॥

ऐसा कहकर उत्तम व्रतधारी अगस्त्य तपसे सिद्ध, ऋषियों और देवताओंके सहित नदियोंके पति समुद्रके पास गये ॥ १९ ॥

मनुष्योरगगन्धर्वयक्षकिंपुरुषास्तथा ।
अनुजग्मुर्महात्मानं द्रष्टुकामास्तदद्भुतम् ॥ २० ॥

मनुष्य, सर्प, गन्धर्व, यक्ष और किन्नर आदि सब उनके इस अद्भुत कामको देखनेकी इच्छासे उनके पीछे चले ॥ २० ॥

ततोऽभ्यगच्छन्सहिताः समुद्रं भीमनिस्वनम् ।
नृत्यन्तमिव चोर्मीभिर्वल्गन्तमिव वायुना ॥ २१ ॥

तब वे सब इकट्ठे होकर घोर शब्दवाले समुद्रके तटपर पहुंचे, उन्होंने समुद्रको ऐसा देखा मानो तरङ्गोंसे नाच रहा हो और वायुसे घूम रहा हो ॥ २१ ॥

हसन्तमिव फेनौघैः स्खलन्तं कन्दरेषु च ।
नानाग्राहसमाकीर्णं नानाद्विजगणायुतम् ॥ २२ ॥

और फेनोंके समूहोंसे हंस रहा हो, वह कन्दराओंसे टकरा रहा था, जो अनेक तरहके मगरोंसे पूर्ण और अनेक तरहके पक्षियोंसे युक्त था ॥ २२ ॥

अगस्त्यसहिता देवाः सगन्धर्वमहोरगाः ।
ऋषयश्च महाभागाः समासेदुर्महोदधिम् ॥ २३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि द्व्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०२ ॥ ३७३८ ॥

अगस्त्यके साथ देवता, गन्धर्व, महासर्प और महाभाग ऋषि समुद्रके तटपर जा पहुंचे ॥ २३ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ दोवां अध्याय समाप्त ॥ १०२ ॥ ३७३८ ॥

: १०३ :

लोमश उवाच

समुद्रं स समासाद्य वारुणिर्भगवानृषिः ।
उवाच सहितान्देवानृषींश्चैव समागतान् ॥ १ ॥

लोमश बोले– वरुणके पुत्र भगवान् अगस्त्य मुनि समुद्र तटपर पहुंचकर हुए सब आए देवताओं और ऋषियोंसे कहने लगे ॥ १ ॥

एष लोकहितार्थं वै पिबामि वरुणालयम् ।
भवद्भिर्यदनुष्ठेयं तच्छीघ्रं संविधीयताम् ॥ २ ॥

मैं सब लोकोंके हितके निमित्त समुद्रको पीता हूँ । आप लोगोंको जो कुछ काम करना हो, उसे शीघ्र कीजिये ॥ २ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं मैत्रावरुणिरच्युतः ।
समुद्रमपिबत्क्रुद्धः सर्वलोकस्य पश्यतः ॥ ३ ॥

मित्रावरुणके पुत्र अमर अगस्त्य मुनिने ऐसा कहकर और क्रोधित होकर सब जगत्के देखते देखते समुद्रको पी लिया ॥ ३ ॥

पीयमानं समुद्रं तु दृष्ट्वा देवाः सवासवाः ।
विस्मयं परमं जग्मुः स्तुतिभिश्चाप्यपूजयन् ॥ ४ ॥

इन्द्र आदि देवता अगस्त्य मुनिको सब समुद्र पीते देखकर परम आश्चर्य करने लगे और स्तुतियोंसे उनकी पूजा करने लगे ॥ ४ ॥

त्वं नस्त्राता विधाता च लोकानां लोकभावनः ।
त्वत्प्रसादात्समुच्छेदं न गच्छेत्सामरं जगत् ॥ ५ ॥

देवता कहने लगे—तुम हमारे रक्षा करनेवाले और धारण करनेवाले हो, तुम लोकोंके स्वामी हो, तुम्हारी ही कृपासे देवोंके सहित यह जगत् नष्ट नहीं होता ॥ ५ ॥

संपूज्यमानस्त्रिदशैर्महात्मा गन्धर्वतूर्येषु नदत्सु सर्वशः ।
दिव्यैश्च पुष्पैरवकीर्यमाणो महार्णवं निःसलिलं चकार ॥ ६ ॥

इस प्रकार महात्मा अगस्त्यकी देवता पूजा करने लगे और गन्धर्व सब ओर अपने बाजे बजाने लगे, दिव्य फूलोंकी वर्षा होने लगी, तब अगस्त्य मुनिने समुद्रको जलसे रहित कर दिया ॥ ६ ॥

दृष्ट्वा कृतं निःसलिलं महार्णवं सुराः समस्ताः परमप्रहृष्टाः ।
प्रगृह्य दिव्यानि वरायुधानि तान्दानवाञ्जघ्नुरदीनसत्त्वाः ॥ ७ ॥

महासमुद्रको जलसे रहित देखकर महा बलवान् देवताओंने परम प्रसन्न होकर दिव्य और श्रेष्ठ शस्त्र धारण करके राक्षसोंको मारना आरंभ किया ॥ ७ ॥

ते वध्यमानास्त्रिदशैर्महात्मभिर्महाबलैर्वेगिभिरुन्नदद्भिः ।
न सेहिरे वेगवतां महात्मनां वेगं तदा धारयितुं दिवौकसाम् ॥ ८ ॥

वेगवान् महात्मा स्वर्गवासी बलवान् देवताओंसे मारे जाते हुए दानव उन वेगशाली महात्मा देवोंके आक्रमणको न सह सके ॥ ८ ॥

ते वध्यमानास्त्रिदशैर्दानवा भीमनिस्वनाः ।
चक्रुः सुतुमुलं युद्धं मुहूर्तमिव भारत ॥ ९ ॥

इस रीतिसे, हे भारत! देवों द्वारा मारे जानेवाले और भयानक शब्द करनेवाले दानवोंने एक मुहूर्तभर बडा भयानक युद्ध किया ॥ ९ ॥

ते पूर्वं तपसा दग्धा मुनिभिर्भावितात्मभिः ।
यतमानाः परं शक्त्या त्रिदशैर्विनिषूदिताः ॥ १० ॥

पहले तो वे लोग तपस्वी मुनियोंके तपसे नष्ट हो गए थे, फिर जो कुछ यत्न करके बच भी गये थे उनका देवताओंने अपनी शक्तिभर प्रयत्न करके नाश कर दिया ॥ १० ॥

ते हेमनिष्काभरणाः कुण्डलाङ्गदधारिणः ।
निहत्य बह्वशोभन्त पुष्पिता इव किंशुकाः ॥ ११ ॥

सोनेके आभूषण, कुण्डल और बाजूबन्दको धारण करनेवाले वे दानव मरते समय ऐसे शोभित हुए जैसे फूले हुए टेसू ॥ ११ ॥

हतशेषास्ततः केचित्कालेया मनुजोत्तम ।
विदार्य वसुधां देवीं पातालतलमाश्रिताः ॥ १२ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! जो कुछ कालेय दानव मरनेसे बचे, वे सब देवी पृथ्वीको फाडकर पातालमें चले गये ॥ १२ ॥

निहतान्दानवान्दृष्ट्वा त्रिदशा मुनिपुङ्गवम् ।
तुष्टुवुर्विविधैर्वाक्यैरिदं चैवाब्रुवन्वचः ॥ १३ ॥

दानवोंको मरा हुआ देखकर देवताओंने मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यकी विविध वाक्योंसे स्तुति की और यह बात कही ॥ १३ ॥

त्वत्प्रसादान्महाभाग लोकैः प्राप्तं महत्सुखम् ।
त्वत्तेजसा च निहताः कालेयाः क्रूरविक्रमाः ॥ १४ ॥

हे महाभाग ! आपकी कृपासे हम लोगोंने जगत्में बहुत सुख प्राप्त किया, आपहीके तेजसे घोर पराक्रमी कालेय दानवोंका नाश हुआ ॥ १४ ॥

पूरयस्व महाबाहो समुद्रं लोकभावन ।
यत्त्वया सलिलं पीतं तदस्मिन्पुनरुत्सृज ॥ १५ ॥

हे लोकभावन ! आपने जो समुद्रका जल पी लिया है, उसको फिर छोड दीजिये और समुद्र भर दीजिए ॥ १५ ॥

एवमुक्तः प्रत्युवाच भगवान्मुनिपुङ्गवः ।
जीर्णं तद्धि मया तोयमुपायोऽन्यः प्रचिन्त्यताम् ।
पूरणार्थं समुद्रस्य भवद्भिर्यत्नमास्थितैः ॥ १६ ॥

उनके वचन सुनकर मुनियोंमें श्रेष्ठ, भगवान् अगस्त्य बोले– हे देवताओ ! वह सब जल मैंने पचा डाला है, अब समुद्रको जलसे पूर्ण करनेके लिए यत्न करनेवाले तुम लोग कोई दूसरा उपाय सोचो ॥ १६ ॥

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं महर्षेर्भावितात्मनः ।
विस्मिताश्च विषण्णाश्च बभूवुः सहिताः सुराः ॥ १७ ॥
महात्मा महर्षि अगस्त्य मुनिके ऐसे वचन सुनकर सब देवताओंको बहुत आश्चर्य और दुःख हुआ ॥ १७ ॥

परस्परमनुज्ञाप्य प्रणम्य मुनिपुंगवम् ।
प्रजाः सर्वा महाराज विप्रजग्मुर्यथागतम् ॥ १८ ॥
हे महाराज ! आपसमें सम्मति करके मुनीश्वरको प्रणामकर सब लोग जहां जहांसे आए थे, वहां वहां चले गये ॥ १८ ॥

त्रिदशा विष्णुना सार्धमुपजग्मुः पितामहम् ।
पूरणार्थं समुद्रस्य मन्त्रयित्वा पुनः पुनः ।
ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे सागरस्याभिपूरणम् ॥ १९ ॥
॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि त्र्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०३ ॥ ३७७९ ॥
हे महाराज ! विष्णुके सहित सब देवता समुद्रको भरनेका बार बार विचार करते हुए ब्रह्माके यहां गये; और जाकर हाथ जोडकर समुद्रको भरनेके लिए कहा ॥ १९ ॥
॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ तीसरा अध्याय समाप्त ॥ १०३ ॥ ३७५७ ॥

: 104 :

लोमश उवाच

तानुवाच समेतांस्तु ब्रह्मा लोकपितामहः ।
गच्छध्वं विबुधाः सर्वे यथाकामं यथेप्सितम् ॥ १ ॥
लोमश बोले– सब लोकोंके पितामह ब्रह्मा इकट्ठे हुए हुए उन देवोंसे ऐसा बोले– हे देवो ! तुम सब अपने अपने लोकोंको इच्छानुसार चले जाओ ॥ १ ॥

महता कालयोगेन प्रकृतिं यास्यतेऽर्णवः ।
ज्ञातीन्वै कारणं कृत्वा महाराज्ञो भगीरथात् ॥ २ ॥
अपने कुटुम्बी जनोंके कारण किए जानेवाले महाराजा भगीरथके प्रयत्नसे एक दीर्घकालके बाद यह समुद्र फिर अपनी स्वाभाविक स्थितिमें आ जाएगा ॥ २ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कथं वै ज्ञातयो ब्रह्मन्कारणं चात्र किं मुने ।
कथं समुद्रः पूर्णश्च भगीरथपरिश्रमात् ॥ ३ ॥
युधिष्ठिर बोले– हे मुने ! हे ब्रह्मन् ! समुद्रको भरनेके कार्यमें कुटुम्बीजन कारण कैसे बने और वह कारण क्या था ? तथा भगीरथके परिश्रमसे समुद्र कैसे भर गया ॥ ३ ॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण तपोधन।
कथ्यमानं त्वया विप्र राज्ञां चरितमुत्तमम् ॥ ४ ॥

हे तपोधन! मैं इस राजाके उत्तम चरित्रको विस्तारपूर्वक आपके द्वारा कहे जाते हुए सुनना चाहता हूँ ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु विप्रेन्द्रो धर्मराज्ञा महात्मना।
कथयामास माहात्म्यं सगरस्य महात्मनः ॥ ५ ॥

वैशम्पायन बोले— महात्मा धर्मराजके ऐसे वचन सुनकर ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ लोमश महात्मा सगरका माहात्म्य इस प्रकार कहने लगे ॥ ५ ॥

लोमश उवाच

इक्ष्वाकूणां कुले जातः सगरो नाम पार्थिवः।
रूपसत्त्वबलोपेतः स चापुत्रः प्रतापवान् ॥ ६ ॥

लोमश बोले— इक्ष्वाकुकुलमें रूप तेज और बलसे सम्पन्न महाप्रतापी सगर नामके एक राजा हुए। उनके कोई पुत्र नहीं था ॥ ६ ॥

स हैहयान्समुत्साद्य तालजङ्घांश्च भारत।
वशे च कृत्वा राज्ञोऽन्यान्स्वराज्यमन्वशासत ॥ ७ ॥

हे भारत! उन्होंने हैहयवंशी और तालजङ्घवंशी क्षत्रियोंको जीतकर अन्य सब राजाओंको अपने वशमें कर लिया और वे अपने राज्यका पालन करने लगे ॥ ७ ॥

तस्य भार्ये त्वभवतां रूपयौवनदर्पिते।
वैदर्भी भरतश्रेष्ठ शैब्या च भरतर्षभ ॥ ८ ॥
स पुत्रकामो नृपतिस्तताप सुमहत्तपः।
पत्नीभ्यां सह राजेन्द्र कैलासं गिरिमाश्रितः ॥ ९ ॥

हे भरतकुलसिंह! उनकी रूप और यौवनके अभिमानसे युक्त दो रानियां थीं। हे भरतश्रेष्ठ! उनमें एकका नाम वैदर्भी और दूसरीका नाम शैब्या था। हे राजेन्द्र! पुत्र प्राप्तिकी इच्छावाले वह राजा अपनी स्त्रियोंके साथ कैलास पर्वतपर जाकर महातप करने लगे ॥ ८-९ ॥

स तप्यमानः सुमहत्तपो योगसमन्वितः।
आससाद महात्मानं त्र्यक्षं त्रिपुरमर्दनम् ॥ १० ॥

महातप और महायोग करते हुए राजाने तीन नेत्रधारी त्रिपुरासुरके मारनेवाले महात्मा शंकरको प्राप्त किया ॥ १० ॥

शंकरं भवमीशानं शूलपाणिं पिनाकिनम् ।
त्र्यम्बकं शिवमुग्रेशं बहुरूपमुमापतिम् ॥ ११ ॥

शङ्कर जगत्के स्वामी, पिनाक और शूलधारी, तीन नेत्रवाले उग्र, सबके स्वामी अनेक रूपधारी पार्वतीनाथ शिव उनके पास आये ॥ ११ ॥

स तं दृष्ट्वैव वरदं पत्नीभ्यां सहितो नृपः ।
प्रणिपत्य महाबाहुः पुत्रार्थं समयाचत ॥ १२ ॥

महाबाहु महाराजने वरदान देनेवाले शिवको देखते ही अपनी स्त्रियोंके साथ प्रणाम किया और पुत्रके लिए वरदान मांगा ॥ १२ ॥

तं प्रीतिमान्हरः प्राह सभार्यं नृपसत्तमम् ।
यस्मिन्वृतो मुहूर्तेऽहं त्वयेह नृपते वरम् ॥ १३ ॥

तब राजाओंमें श्रेष्ठ तथा स्त्री सहित वर्तमान सगरसे प्रेमसहित शिवने कहा— हे नरनाथ ! तुमने मुझसे इस समय पुत्र होनेका वरदान मांगा, इसलिए मैं प्रसन्न होकर तुम्हें यह वरदान देता हूं ॥ १३ ॥

षष्टिः पुत्रसहस्राणि शूराः समरदर्पिताः ।
एकस्यां संभविष्यन्ति पत्न्यां तव नरोत्तम ॥ १४ ॥

हे नरश्रेष्ठ ! तुम्हारी एक स्त्रीसे युद्ध करनेकी वीरतासे सम्पन्न महा शूरवीर साठ हजार पुत्र होंगे ॥ १४ ॥

ते चैव सर्वे सहिताः क्षयं यास्यन्ति पार्थिव ।
एको वंशधरः शूर एकस्यां संभविष्यति ।
एवमुक्त्वा तु तं रुद्रस्तत्रैवान्तरधीयत ॥ १५ ॥

हे राजन् ! वे सब एक ही स्थानपर नष्ट हो जायेंगे । और दूसरी स्त्रीमें वंशकी रक्षा करनेवाला महा शूरवीर एक पुत्र होगा । सगरसे ऐसा कहकर भगवान् शिव वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ १५ ॥

स चापि सगरो राजा जगाम स्वं निवेशनम् ।
पत्नीभ्यां सहितस्तात सोऽतिहृष्टमनास्तदा ॥ १६ ॥

राजा सगर भी अत्यन्त प्रसन्न चित्तवाले होकर अपनी पत्नियोंके साथ अपने घर चले गए ॥ १६ ॥

तस्याथ मनुजश्रेष्ठ ते भार्ये कमलेक्षणे ।
वैदर्भी चैव शैब्या च गर्भिण्यौ संबभूवतुः ॥ १७ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! राजा सगरकी कमलके समान आंखोंवाली वैदर्भी और शैब्या दोनों रानियां गर्भवती हो गयीं ॥ १७ ॥

तत: कालेन वैदर्भी गर्भालाबुं व्यजायत ।
शैब्या च सुषुवे पुत्रं कुमारं देवरूपिणम् ॥ १८ ॥

इसके बाद समय पूरा होनेपर वैदर्भी स्त्रीने एक तुंबी उत्पन्न की, और शैब्याने देवताके समान रूपवाले एक पुत्रको उत्पन्न किया ॥ १८ ॥

तदालाबुं समुत्स्रष्टुं मनश्चक्रे स पार्थिव: ।
अथान्तरिक्षाच्छुश्राव वाचं गम्भीरनिस्वनाम् ॥ १९ ॥

तब उस राजा सगरने उस तुम्बीको फेंक देनेका विचार किया । उसी समय आकाशसे गम्भीर स्वरवाली एक वाणी उसने सुनी ॥ १९ ॥

राजन्मा साहसं कार्षी: पुत्रान्न त्यक्तुमर्हसि ।
अलाबुमध्यान्निष्कृष्य बीजं यत्नेन गोप्यताम् ॥ २० ॥

कि, हे राजन् ! आप ऐसा साहस मत कीजिये; इस तुम्बीके भीतर पुत्र हैं अत: उनका त्याग करना आपके लिए उचित नहीं है । इस तुम्बीके भीतरसे जो बीज निकलें, उनकी यत्नसे रक्षा कीजिये ॥ २० ॥

सोपस्वेदेषु पात्रेषु घृतपूर्णेषु भागश: ।
तत: पुत्रसहस्राणि षष्टिं प्राप्स्यसि पार्थिव ॥ २१ ॥

हे राजन् ! आप इस तुम्बीके बीजोंको घीसे और उष्ण जलसे भरे हुए किसी पात्रमें रखिये, तब आपको साठ हजार पुत्र मिलेंगे ॥ २१ ॥

महादेवेन दिष्टं ते पुत्रजन्म नराधिप ।
अनेन क्रमयोगेन मा ते बुद्धिरतोऽन्यथा ॥ २२ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि चतुरधिकशततमोऽध्याय: ॥ १०४ ॥ ३७७९ ॥

हे महाराज ! आप शिवजीने जो तुमको साठ हजार पुत्र होनेका आशीर्वाद दिया था, वे सब इसी तुम्बीमें हैं अत: इनके बारेमें आपकी बुद्धि उल्टी न हो ॥ २२ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ चौथा अध्याय समाप्त ॥ १०४ ॥ ३७७९ ॥

: १०५ :

लोमश उवाच

एतच्छ्रुत्वाऽन्तरिक्षाच्च स राजा राजसत्तम ।
यथोक्तं तच्चकाराथ श्रद्दधद्भरतर्षभ ॥ १ ॥

लोमश बोले– हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ राजन् युधिष्ठिर ! राजा सगरने यह आकाशवाणी सुनकर श्रद्धापूर्वक वैसा ही काम किया ॥ १ ॥

षष्टिः पुत्रसहस्राणि तस्याप्रतिमतेजसः ।
रुद्रप्रसादाद्राजर्षेः समजायन्त पार्थिव ॥ २ ॥

हे राजन् ! भगवान् शिवकी कृपासे उस अत्यन्त तेजस्वी राजर्षि सागरके साठ हजार पुत्र उत्पन्न हुए ॥ २ ॥

ते घोराः क्रूरकर्माण आकाशपरिसर्पिणः ।
बहुत्वाच्चावजानन्तः सर्वाँल्लोकान्सहामरान् ॥ ३ ॥

वे सब बडे कठोर, क्रूर कर्म करनेवाले और आकाशमें घूमनेवाले हुए वे सब बहुत होनेके कारण सब लोकोंका अपमान करने लगे, यहां तक कि देवोंको भी कुछ नहीं समझते थे ॥ ३ ॥

त्रिदशांश्चाप्यबाधन्त तथा गन्धर्वराक्षसान् ।
सर्वाणि चैव भूतानि शूराः समरशालिनः ॥ ४ ॥

युद्ध करनेवाले महावीर सगरपुत्र गन्धर्व और राक्षसोंको दुःख देने लगे। उनसे सारे प्राणी और देव भी पीडित होने लगे ॥ ४ ॥

वध्यमानास्ततो लोकाः सागरैर्मन्दबुद्धिभिः ।
ब्रह्माणं शरणं जग्मुः सहिताः सर्वदैवतैः ॥ ५ ॥

उन मन्दबुद्धि सगरके पुत्रोंसे पीडित होकर सब जगत्के प्राणी देवताओंके सहित ब्रह्माकी शरणमें गये ॥ ५ ॥

तानुवाच महाभागः सर्वलोकपितामहः ।
गच्छध्वं त्रिदशाः सर्वे लोकैः सार्धं यथागतम् ॥ ६ ॥

सब लोकोंके पितामह महाभाग ब्रह्माने उन सबसे कहा— कि हे देवो ! तुम इन सब प्राणियोंके सहित अपने अपने स्थानको चले जाओ ॥ ६ ॥

नातिदीर्घेण कालेन सागराणां क्षयो महान् ।
भविष्यति महाघोरः स्वकृतैः कर्मभिः सुराः ॥ ७ ॥

हे देवो ! थोडे ही समयमें सगरके सब पुत्रोंका अपने ही किये हुए कर्मोंके कारण महाभयंकर नाश हो जायेगा ॥ ७ ॥

एवमुक्तास्ततो देवा लोकाश्च मनुजेश्वर ।
पितामहमनुज्ञाप्य विप्रजग्मुर्यथागतम् ॥ ८ ॥

हे पृथ्वीनाथ ! ब्रह्माके ऐसे वचन सुनकर ब्रह्माकी आज्ञा लेकर सब देवता तथा अन्य प्राणी अपने अपने घरको चले गये ॥ ८ ॥

ततः काले बहुतिथे व्यतीते भरतर्षभ ।
दीक्षितः सगरो राजा हयमेधेन वीर्यवान् ।
तस्याश्वो व्यचरद् भूमिं पुत्रैः सुपरिरक्षितः ॥ ९ ॥

हे भरतकुलसिंह ! बहुत समयके बीतनेके पश्चात् बलवान् राजा सगरने अश्वमेध यज्ञ करनेकी दीक्षा ली और सगरके उन पुत्रोंसे रक्षित होकर वह घोडा पृथ्वीपर विचरने लगा ॥ ९ ॥

समुद्रं स समासाद्य निस्तोयं भीमदर्शनम् ।
रक्ष्यमाणः प्रयत्नेन तत्रैवान्तरधीयत ॥ १० ॥

जब वह घोडा घोर दर्शनवाले जलरहित समुद्रके तटपर आया, तो अत्यन्त यत्नपूर्वक रक्षा करनेपर भी वह वहीं कहीं अन्तर्धान हो गया ॥ १० ॥

ततस्ते सागरास्तात हृतं मत्वा हयोत्तमम् ।
आगम्य पितुराचख्युरदृश्यं तुरगं हृतम् ।
तेनोक्ता दिक्षु सर्वासु सर्वे मार्गत वाजिनम् ॥ ११ ॥

हे तात ! जब सगरके पुत्रोंने उस घोडेको न देखा तो उस उत्तम घोडेको किसीके द्वारा चुराया हुआ मानकर अपने पिताके पास आकर उसके गुप्त होने और चुरा लिए जानेका सब वृत्तान्त कह सुनाया और वे राजा सगरकी आज्ञासे सब दिशाओंमें घोडेकी खोज करने लगे ॥ ११ ॥

ततस्ते पितुराज्ञाय दिक्षु सर्वासु तं हयम् ।
अमार्गन्त महाराज सर्वं च पृथिवीतलम् ॥ १२ ॥

हे महाराज ! वे सब पिताकी आज्ञा सुनकर सब दिशाओंमें और सब पृथ्वीमें घोडेको ढूंढने लगे ॥ १२ ॥

ततस्ते सागराः सर्वे समुपेत्य परस्परम् ।
नाध्यगच्छन्त तुरगमश्वहर्तारमेव च ॥ १३ ॥

परन्तु उन सब सगरपुत्रोंके द्वारा मिलकर ढूंढनेपर भी वे घोडे और घोडेके चोरको न पा सके ॥ १३ ॥

आगम्य पितरं चोचुस्ततः प्राञ्जलयोऽग्रतः ।
ससमुद्रवनद्वीपा सनदीनदकन्दरा ।
सपर्वतवनोद्देशा निखिलेन मही नृप ॥ १४ ॥

तब अपने पिताके पास आकर और हाथ जोड कहने लगे– कि हे नरनाथ ! हम लोगोंने समुद्र, वन, द्वीप, नदी, नद, कन्दरा, पर्वत और वनोंके सहित सब पृथ्वीको ॥ १४ ॥

अस्माभिर्विचिता राजञ्शासनात्तव पार्थिव ।
न चाश्वमधिगच्छामो नाश्वहर्तारमेव च ॥ १५ ॥

हे राजन् ! आपकी आज्ञानुसार ढूंढ डाला, परन्तु न कहीं घोडा मिला और न कहीं घोडेका चोर मिला ॥ १५ ॥

श्रुत्वा तु वचनं तेषां स राजा क्रोधमूर्छितः ।
उवाच वचनं सर्वास्तदा दैववशान्नृप ॥ १६ ॥

उनके यह वचन सुनते ही राजा क्रोधसे मूर्छितसा हो गया । हे राजन् ! प्रारब्धके वशमें होकर राजा सगरने अपने पुत्रोंसे यह वचन कहा ॥ १६ ॥

अनागमाय गच्छध्वं भूयो मार्गत वाजिनम् ।
यज्ञियं तं विना ह्यश्वं नागन्तव्यं हि पुत्रकाः ॥ १७ ॥

कि तुम लोग घोडेको ढूंढनेको फिर जाओ और लौटकर न आना, हे पुत्रो ! विना उस यज्ञीय घोडेको लिये तुम लोग यहां मत आना ॥ १७ ॥

प्रतिगृह्य तु संदेशं ततस्ते सगरात्मजाः ।
भूय एव महीं कृत्स्नां विचेतुमुपचक्रमुः ॥ १८ ॥

अपने पिताके वचनको स्वीकारकर दूसरी बार घोडा ढूंढनेके निमित्त वे सब सगरके पुत्र पृथ्वीमें घूमने लगे ॥ १८ ॥

अथापश्यन्त ते वीराः पृथिवीमवदारिताम् ।
समासाद्य बिलं तच्च खनन्तः सगरात्मजाः ।
कुद्दालैर्हेषुकैश्चैव समुद्रमखनंस्तदा ॥ १९ ॥

तब उन्होंने एक स्थानपर पृथ्वीको फटी हुई देखा, तब वे सब सगरके पुत्र उसे देखकर उस बिलको खोदने लगे । वह बिल समुद्र था । तब सगरके पुत्रोंने कुदालों और फावडोंसे उस समुद्रको यत्नपूर्वक खोदना आरम्भ किया ॥ १९ ॥

स खन्यमानः सहितैः सागरैर्वरुणालयः ।
अगच्छत्परमामार्तिं दार्यमाणः समन्ततः ॥ २० ॥

वह वरुणका घर समुद्र सगरके पुत्रों द्वारा खोदे जाते हुए चारों ओरसे फटते हुए बडा दुःखी हुआ ॥ २० ॥

असुरोरगरक्षांसि सत्त्वानि विविधानि च ।
आर्तनादमकुर्वन्त वध्यमानानि सागरैः ॥ २१ ॥

चारों ओरसे समुद्र खुदनेसे उसमें रहनेवाले असुर, सर्प, राक्षस और अनेक प्रकारके जन्तु सगर पुत्रोंसे पीडा पाकर आर्तनाद करने लगे ॥ २१ ॥

×

छिन्नशीर्षा विदेहाश्च भिन्नजान्वस्थिमस्तकाः ।
प्राणिनः समदृश्यन्त शतशोऽथ सहस्रशः ॥ २२ ॥

उस समय सैकडों और हजारों जन्तु कटे हुए सिरवाले, कटी हुई घडवाले, टूटे हुए घुटने, हड्डी और सिरवाले होकर नष्ट भ्रष्ट दीखने लगे ॥ २२ ॥

एवं हि खनतां तेषां समुद्रं मकरालयम् ।
व्यतीतः सुमहान्कालो न चाश्वः समदृश्यत ॥ २३ ॥

इस प्रकार मकरालय समुद्र खोदते खोदते सगरके पुत्रोंका बहुत समय बीत गया; परन्तु घोडा कहीं दिखाई न दिया ॥ २३ ॥

ततः पूर्वोत्तरे देशे समुद्रस्य महीपते ।
विदार्य पातालमथ संक्रुद्धाः सगरात्मजाः ।
अपश्यन्त हयं तत्र विचरन्तं महीतले ॥ २४ ॥

तब क्रुद्ध होकर सगरके पुत्रोंने समुद्रके उत्तर और पूर्वके कोने में खोदना आरम्भ किया, और पातालतक खोदते चले गये, तब वहां घोडेको पृथ्वीपर विचरता हुआ देखा ॥ २४ ॥

कपिलं च महात्मानं तेजोराशिमनुत्तमम् ।
तपसा दीप्यमानं तं ज्वालाभिरिव पावकम् ॥ २५ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०५ ॥ ३८०४ ॥

और उसके पास ही ज्वालाके सहित जलती हुई अग्निके समान तेजसे प्रदीप्त, अद्वितीय तेजोराशिसे सम्पन्न महात्मा कपिलको भी देखा ॥ २५ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ पांचवां अध्याय समाप्त ॥ १०५ ॥ ३८०४ ॥

: १०६ :

लोमश उवाच

ते तं दृष्ट्वा हयं राजन्संप्रहृष्टतनूरुहाः ।
अनादृत्य महात्मानं कपिलं कालचोदिताः ।
संक्रुद्धाः समधावन्त अश्वग्रहणकाङ्क्षिणः ॥ १ ॥

लोमश बोले– हे राजन् ! वे उस घोडेको देखकर बहुत प्रसन्न हुए और उनके रोम खडे हो गये । तब कालके वशमें होकर महात्मा कपिलका निरादर करके महाक्रोधके सहित घोडा पकडनेकी इच्छावाले वे दौडे ॥ १ ॥

ततः क्रुद्धो महाराज कपिलो मुनिसत्तमः ।
वासुदेवेति यं प्राहुः कपिलं मुनिसत्तमम् ॥ २ ॥

तब, हे महाराज! जिन मुनियोंमें श्रेष्ठ कपिलको लोग वासुदेव कहते हैं, वे मुनिश्रेष्ठ कपिल बहुत ही क्रोधित हो गए ॥ २ ॥

स चक्षुर्विवृतं कृत्वा तेजस्तेषु समुत्सृजन् ।
ददाह सुमहातेजा मन्दबुद्धीन्स सागरान् ॥ ३ ॥

उन्होंने अपना नेत्र खोलकर सगरके पुत्रोंपर अपना तेज छोडा और इस प्रकार उन महातेजस्वी कपिल मुनिने सगरके मन्दबुद्धि पुत्रोंको भस्म कर दिया ॥ ३ ॥

तान्दृष्ट्वा भस्मसाद्भूतान्नारदः सुमहातपाः ।
सगरान्तिकमागच्छत्तच्च तस्मै न्यवेदयत् ॥ ४ ॥

उनको भस्म होते देखकर महातपस्वी नारदमुनि सगर राजाके पास गये और उनको यह सब वृत्तान्त कह सुनाया ॥ ४ ॥

स तच्छ्रुत्वा वचो घोरं राजा मुनिमुखोद्गतम् ।
मुहूर्तं विमना भूत्वा स्थाणोर्वाक्यमचिन्तयत् ।
आत्मानमात्मनाश्वास्य हयमेवान्वचिन्तयत् ॥ ५ ॥

राजा सगरने मुनिके मुखसे निकले हुए उस कठोर वृत्तान्तको सुनकर कुछ समयतक शोक करके शिवके वचनका स्मरण किया और स्वयं अपनेको सांत्वना देकर उस घोडेके बारेमें सोचने लगे ॥ ५ ॥

अंशुमन्तं समाहूय असमञ्जःसुतं तदा ।
पौत्रं भरतशार्दूल इदं वचनमब्रवीत् ॥ ६ ॥

तदनन्तर असमञ्जस्के पुत्र अपने पोते अंशुमान्को बुलाकर भरतवंशियोंमें सिंहके समान पराक्रमी सगरने यह वचन कहा ॥ ६ ॥

षष्टिस्तानि सहस्राणि पुत्राणाममितौजसाम् ।
कापिलं तेज आसाद्य मत्कृते निधनं गताः ॥ ७ ॥

हे तात! मेरे जो परम तेजस्वी साठ हजार पुत्र थे, वे सब मेरी आज्ञानुसार काम करनेके कारण कपिल मुनिके तेजसे नष्ट हो गये ॥ ७ ॥

तव चापि पिता तात परित्यक्तो मयानघ ।
धर्मं संरक्षमाणेन पौराणां हितमिच्छता ॥ ८ ॥

और, हे निष्पाप! हे तात! नगरवासियोंके हित करनेकी इच्छासे धर्मकी रक्षा करते हुए मैंने तुम्हारे पिताका पहले ही त्याग कर दिया है ॥ ८ ॥

युधिष्ठिर उवाच

किमर्थं राजशार्दूलः सगरः पुत्रमात्मजम् ।
त्यक्तवान्दुस्त्यजं वीरं तन्मे ब्रूहि तपोधन ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे तपोधन! राजसिंह सगरने दुःखसे छोडने योग्य तथा अपनेसे उत्पन्न वीरपुत्रको किस लिये घरसे निकाल दिया था? उसका कारण हमें बताइए ॥ ९ ॥

लोमश उवाच

असमञ्जा इति ख्यातः सगरस्य सुतो ह्यभूत् ।
यं शैब्या जनयामास पौराणां स हि दारकान् ।
खुरेषु क्रोशतो गृह्य नद्यां चिक्षेप दुर्बलान् ॥ १० ॥

लोमश बोले– कि राजा सगरका असमञ्जस् नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसे शैब्याने उत्पन्न किया था। वह नगरवासियोंके दुर्बल और चिल्लाते हुए लडकोंको उनकी टांग पकडकर नदीमें फेंक देता था ॥ १० ॥

ततः पौराः समाजग्मुर्भयशोकपरिप्लुताः ।
सगरं चाभ्ययाचन्त सर्वे प्राञ्जलयः स्थिताः ॥ ११ ॥

तब नगरके लोग शोक और भयसे पीडित होकर राजा सगरके पास आकर और हाथ जोडकर कहने लगे ॥ ११ ॥

त्वं नस्त्राता महाराज परचक्रादिभिर्भयैः ।
असमञ्जोभयाद्घोरात्ततो नस्त्रातुमर्हसि ॥ १२ ॥

हे महाराज! आप दूसरे राजाओंके कारण उत्पन्न होनेवाले भयोंसे हम लोगोंकी रक्षा करनेवाले हैं, अतएव असमञ्जस्के कारण उत्पन्न हुए घोर भयसे हम लोगोंकी रक्षा कीजिये ॥ १२ ॥

पौराणां वचनं श्रुत्वा घोरं नृपतिसत्तमः ।
मुहूर्तं विमना भूत्वा सचिवानिदमब्रवीत् ॥ १३ ॥

नगरनिवासियोंके इन भयंकर वचनोंको सुनकर राजाओंमें श्रेष्ठ सगर क्षणमात्र दुःखी होकरके अपने मन्त्रियोंसे यह बोले ॥ १३ ॥

असमञ्जाः पुरादद्य सुतो मे विप्रवास्यताम् ।
यदि वो मत्प्रियं कार्यमेतच्छीघ्रं विधीयताम् ॥ १४ ॥

कि आप लोग मेरे पुत्र असमञ्जस्को इसी समय नगरसे निकाल दें। हे मन्त्रियो! यदि आप लोग मेरा कुछ प्रिय कार्य करना चाहते हैं, तो इस कामको शीघ्र ही करें ॥ १४ ॥

एवमुक्ता नरेन्द्रेण सचिवास्ते नराधिप।
यथोक्तं त्वरिताश्चक्रुर्यथाज्ञापितवान्नृपः ॥ १५ ॥
हे पृथ्वीनाथ! राजा सगरके ऐसा कहनेपर मन्त्रियोंने जैसी आज्ञा राजाने दी थी उस आज्ञाका शीघ्र ही पालन किया अर्थात् असमञ्जस्‌को उसी समय नगरसे निकाल दिया॥१५॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं यथा पुत्रो महात्मना।
पौराणां हितकामेन सगरेण विवासितः ॥ १६ ॥
हे नरनाथ! महात्मा राजा सगरने प्रजाके हितकी इच्छासे जिस प्रकार अपने पुत्र असमञ्जस्‌को नगरसे निकाल दिया था, वह सब कथा मैंने आपसे कही ॥ १६ ॥

अंशुमांस्तु महेष्वासो यदुक्तः सगरेण ह।
तत्ते सर्वं प्रवक्ष्यामि कीर्त्यमानं निबोध मे ॥ १७ ॥
अब राजा सगरने महाधनुषधारी अंशुमान्‌से जो कुछ कहा, वह सब कथा मैं आपसे कहता हूं, आप सुनिये ॥ १७ ॥

सगर उवाच

पितुश्च तेऽहं त्यागेन पुत्राणां निधनेन च।
अलाभेन तथाश्वस्य परितप्यामि पुत्रक ॥ १८ ॥
सगर बोले— हे पुत्र! तुम्हारे पिताके निकालने, साठ हजार पुत्रोंके मरने और घोडेके न मिलनेसे मैं बहुत संतप्त हो रहा हूँ ॥ १८ ॥

तस्माद्दुःखाभिसंतप्तं यज्ञविघ्नाच्च मोहितम्।
हयस्यानयनात्पौत्र नरकान्मां समुद्धर ॥ १९ ॥
हे पौत्र! दुःखसे सन्तप्त और यज्ञमें विघ्न होनेसे दुःखित हुए मेरा घोडा लाकर नरकसे मेरा उद्धार करो ॥ १९ ॥

लोमश उवाच

अंशुमानेवमुक्तस्तु सगरेण महात्मना।
जगाम दुःखात्तं देशं यत्र वै दारिता मही ॥ २० ॥
लोमश बोले— अंशुमान् महात्मा सगरके ऐसे कहनेपर "एवमस्तु" कहकर परम कष्टसे उस स्थानको गये, जहां सगरके पुत्रोंने पृथ्वी खोदी थी ॥ २० ॥

स तु तेनैव मार्गेण समुद्रं प्रविवेश ह।
अपश्यच्च महात्मानं कपिलं तुरगं च तम् ॥ २१ ॥
वे उसी मार्गसे पातालको चले गये और वहां जाकर महात्मा कपिलको और उस घोडेको देखा ॥ २१ ॥

स दृष्ट्वा तेजसो राशिं पुराणमृषिसत्तमम् ।
प्रणम्य शिरसा भूमौ कार्यमस्मै न्यवेदयत् ॥ २२ ॥

उन्होंने तेजके समूह, ऋषियोंमें श्रेष्ठ बूढे कपिल मुनिको देखकर शिरसे प्रणाम किया और अपना प्रयोजन कह सुनाया ॥ २२ ॥

ततः प्रीतो महातेजाः कपिलोऽंशुमतोऽभवत् ।
उवाच चैनं धर्मात्मा वरदोऽस्मीति भारत ॥ २३ ॥

हे भारत ! धर्मात्मा और महातेजस्वी कपिल मुनि अंशुमान्से बहुत प्रसन्न हुए और उससे बोले– कि मैं वरको देनेवाला हूँ (अतः तुम जो चाहो मांग लो) ॥ २३ ॥

स वव्रे तुरगं तत्र प्रथमं यज्ञकारणात् ।
द्वितीयमुदकं वव्रे पितॄणां पावनेप्सया ॥ २४ ॥

तब उन्होंने यज्ञ पूर्ण होनेकी इच्छासे पहले घोडा मांगा और दूसरे वरदानमें अपने पितरोंको पवित्र करनेकी इच्छासे जल मांगा ॥ २४ ॥

तमुवाच महातेजाः कपिलो मुनिपुङ्गवः ।
ददानि तव भद्रं ते यद्यत्प्रार्थयसेऽनघ ॥ २५ ॥

तब मुनियोंमें श्रेष्ठ महातेजस्वी कपिल मुनिने अंशुमान्से कहा– कि हे पापरहित ! तुम्हारा कल्याण हो, तुमने जो कुछ मांगा वह मैं देता हूँ ॥ २५ ॥

त्वयि क्षमा च धर्मश्च सत्यं चापि प्रतिष्ठितम् ।
त्वया कृतार्थः सगरः पुत्रवांश्च त्वया पिता ॥ २६ ॥

तुममें सत्य, क्षमा और धर्म स्थिर हैं। तुमसे सगर कृतार्थ और पिता पुत्रवान् हुए ॥२६॥

तव चैव प्रभावेण स्वर्गं यास्यन्ति सागराः ।
पौत्रश्च ते त्रिपथगां त्रिदिवादानयिष्यति ।
पावनार्थं सागराणां तोषयित्वा महेश्वरम् ॥ २७ ॥

तुम्हारे ही इस प्रभावसे सगरके पुत्र स्वर्गको जायेंगे । हे पुरुषश्रेष्ठ ! तुम्हारा पोता सगरके पुत्रोंको पवित्र करनेके निमित्त शिवजीको प्रसन्न करके स्वर्गसे गङ्गाको लायेगा ॥ २७ ॥

हयं नयस्व भद्रं ते यज्ञियं नरपुंगव ।
यज्ञः समाप्यतां तात सगरस्य महात्मनः ॥ २८ ॥

हे नरश्रेष्ठ ! तुम्हारा कल्याण हो, इस यज्ञके घोडेको यहांसे ले जाओ और इस प्रकार, हे तात ! तुम महात्मा सगरके यज्ञको पूर्ण करो ॥ २८ ॥

अंशुमानेवमुक्तस्तु कपिलेन महात्मना।
आजगाम हयं गृह्य यज्ञवाटं महात्मनः ॥ २९ ॥

अंशुमान् महात्मा कपिलके ऐसे वचन कहनेपर घोडेको लेकर महात्मा सगरकी यज्ञशालामें आये ॥ २९ ॥

सोऽभिवाद्य ततः पादौ सगरस्य महात्मनः।
मूर्ध्नि तेनाप्युपाघ्रातस्तस्मै सर्वं न्यवेदयत् ॥ ३० ॥

और महात्मा सगरके चरणोंमें प्रणाम किया तो सगरने भी अंशुमान्का माथा सूंघा। तब अंशुमान्ने सगरसे सब वृत्तान्त कह दिया ॥ ३० ॥

यथा दृष्टं श्रुतं चापि सागराणां क्षयं तथा।
तं चास्मै हयमाचष्ट यज्ञवाटमुपागतम् ॥ ३१ ॥

अंशुमान्ने सगरपुत्रोंके नाशके बारेमें जो कुछ देखा या सुना था सब कह सुनाया और यज्ञ-शालामें आए हुए घोडेको उन्हें सौंप दिया ॥ ३१ ॥

तच्छ्रुत्वा सगरो राजा पुत्रजं दुःखमत्यजत्।
अंशुमन्तं च सम्पूज्य समापयत तं क्रतुम् ॥ ३२ ॥

उन सब वृत्तांतोंको सुनकर सगरने अपने पुत्रोंका शोक छोड दिया और अंशुमान्का बडा सन्मान करके उस यज्ञको समाप्त किया ॥ ३२ ॥

समाप्तयज्ञः सगरो देवैः सर्वैः सभाजितः।
पुत्रत्वे कल्पयामास समुद्रं वरुणालयम् ॥ ३३ ॥

तदनन्तर यज्ञ समाप्त करके राजा सगरने सब देवताओंकी सम्मतिसे वरुणके स्थान समुद्रको अपना पुत्र बनाया ॥ ३३ ॥

प्रशास्य सुचिरं कालं राज्यं राजीवलोचनः।
पौत्रे भारं समावेश्य जगाम त्रिदिवं तदा ॥ ३४ ॥

इस प्रकार कमलनेत्र राजा सगर बहुत दिन राज्य करके अपने पोते अंशुमान्को राज्यका भार देकर स्वर्गको चले गये ॥ ३४ ॥

अंशुमानपि धर्मात्मा महीं सागरमेखलाम्।
प्रशशास महाराज यथैवास्य पितामहः ॥ ३५ ॥

हे महाराज! धर्मात्मा अंशुमान् भी सागरान्त पृथ्वीपर वैसे ही शासन करने लगे, जैसे इनके दादा करते थे ॥ ३५ ॥

तस्य पुत्रः समभवद्दिलीपो नाम धर्मवित् ।
तस्मै राज्यं समाधाय अंशुमानपि संस्थितः ॥ ३६ ॥

राजा अंशुमान्के दिलीप नामक एक धर्मज्ञ पुत्र हुए । राजा अंशुमान् भी दिलीपको राज्य देकर स्वर्गको चले गये ॥ ३६ ॥

दिलीपस्तु ततः श्रुत्वा पितॄणां निधनं महत् ।
पर्यतप्यत दुःखेन तेषां गतिमचिन्तयत् ॥ ३७ ॥

राजा दिलीप अपने पुरुषोंका इस प्रकार महान् मरणको सुनकर बहुत ही दुःखी हुए और उनकी उत्तम गतिका उपाय सोचने लगे ॥ ३७ ॥

गङ्गावतरणे यत्नं सुमहच्चाकरोन्नृपः ।
न चावतारयामास चेष्टमानो यथाबलम् ॥ ३८ ॥

उस राजाने गङ्गाको लानेके लिये परम यत्न किया । परन्तु पूरे बलसे बहुत यत्न करनेपर भी गङ्गाको पृथ्वीपर न ला सके ॥ ३८ ॥

तस्य पुत्रः समभवच्छ्रीमान्धर्मपरायणः ।
भगीरथ इति ख्यातः सत्यवागनसूयकः ॥ ३९ ॥

उनके पुत्र हुए, ये महा श्रीमान्, धर्मपरायण, सत्यवादी और द्वेषरहित थे, वे भगीरथके के नामसे प्रसिद्ध हुए ॥ ३९ ॥

अभिषिच्य तु तं राज्ये दिलीपो वनमाश्रितः ।
तपःसिद्धिसमायोगात्स राजा भरतर्षभ ।
वनाज्जगाम त्रिदिवं कालयोगेन भारत ॥ ४० ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि षडधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०६ ॥ ३८४४ ॥

राजा दिलीप भगीरथको राज्यपर अभिषिक्त करके वनको चले गये । हे भरतर्षभ ! वनमें जाकर राजा दिलीप कुछ समयके पश्चात् सिद्धि और योगके बलसे यथा समय अपने शरीरको छोडकर वनसे स्वर्गको चले गये ॥ ४० ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ छठवां अध्याय समाप्त ॥ १०६ ॥ ३८४४ ॥

: १०७ :

लोमश उवाच

स तु राजा महेष्वासश्चक्रवर्ती महारथः ।
बभूव सर्वलोकस्य मनोनयननन्दनः ॥ १ ॥

लोमश बोले– हे राजन् ! राजा भगीरथ महाधनुषधारी, महारथी और चक्रवर्ती राजा हुए । उनको देखकर सब लोगोंके मन और नेत्रोंको आनन्द होता था ॥ १ ॥

स शुश्राव महाबाहुः कपिलेन महात्मना ।
पितॄणां निधनं घोरमप्राप्तिं त्रिदिवस्य च ॥ २ ॥

महाबाहु भगीरथने सुना कि हमारे पितरोंको महात्मा कपिलने भस्म किया था और उनको स्वर्ग नहीं मिला था ॥ २ ॥

स राज्यं सचिवे न्यस्य हृदयेन विदूयता ।
जगाम हिमवत्पार्श्वं तपस्तप्तुं नरेश्वरः ॥ ३ ॥

तब, हे नरेश्वर ! वह दुःखित मनवाले होकर अपना राज्य मन्त्रीको देकर स्वयं हिमाचलको तप करनेके लिए चले गये ॥ ३ ॥

आरिराधयिषुर्गङ्गां तपसा दग्धकिल्बिषः
सोऽपश्यत नरश्रेष्ठ हिमवन्तं नगोत्तमम् ॥ ४ ॥

हे नरश्रेष्ठ ! तपसे निष्पाप होकर गङ्गाकी आराधना करनेकी इच्छावाले भगीरथने पर्वतश्रेष्ठ हिमालयको देखा ॥ ४ ॥

शृङ्गैर्बहुविधाकारैर्धातुमद्भिरलंकृतम् ।
पवनालम्बिभिर्मेघैः परिष्वक्तं समन्ततः ॥ ५ ॥

वह हिमालय अनेक धातुओंसे युक्त तथा अनेकों आकारोंवाले शृंगोंसे भूषित, वायुके सहारे चलनेवाले मेघोंसे चारों ओरसे घिरा हुआ ॥ ५ ॥

नदीकुञ्जनितम्बैश्च सोदकैरुपशोभितम् ।
गुहाकन्दरसंलीनैः सिंहव्याघ्रैर्निषेवितम् ॥ ६ ॥

पानियोंसे भरे हुए नदियों, कुञ्जों और निकुञ्जोंसे शोभित, गुफाओंमें बैठे हुए सिंह और व्याघ्रोंसे सेवित ॥ ६ ॥

शकुनैश्च विचित्राङ्गैः कूजद्भिर्विविधा गिरः ।
भृङ्गराजैस्तथा हंसैर्दात्यूहैर्जलकुक्कुटैः ॥ ७ ॥

विचित्र शरीर और अनेक प्रकारके शब्दोंसे चहचहानेवाले पक्षियोंसे विराजमान, भौंरे, हंस, चातक, जलकुक्कुट ॥ ७ ॥

मयूरैः शतपत्रैश्च कोकिलैर्जीवजीवकैः ।
चकोरैरसितापाङ्गैस्तथा पुत्रप्रियैरपि ॥ ८ ॥

मोर, शतपत्र, कोयल, जीवक, चकोर, असितापांग और पुत्रप्रिय आदि पक्षियोंके शब्दोंसे शोभित ॥ ८ ॥

जलस्थानेषु रम्येषु पद्मिनीभिश्च संकुलम् ।
सारसानां च मधुरैर्व्याहृतैः समलंकृतम् ॥ ९ ॥

रम्य तालावोंमें पद्मोंके समूहसे अलंकृत सारसोंके मीठे वचनोंसे भूषित था ॥ ९ ॥

किंनरैरप्सरोभिश्च निषेवितशिलातलम् ।
दिशागजविषाणाग्रैः समन्ताद्घृष्टपादपम् ॥ १० ॥

जिसकी शिलाओंपर किन्नर और अप्सरायें आनन्द कर रही थीं, जहांके वृक्ष दिग्गजोंके दांतोंसे चिर गये थे ॥ १० ॥

विद्याधरानुचरितं नानारत्नसमाकुलम् ।
विषोल्बणैर्भुजङ्गैश्च दीप्तजिह्वैर्निषेवितम् ॥ ११ ॥

जहां विद्याधर लोग आनन्द कर रहे थे, जो अनेक रत्नोंसे सम्पन्न और विषसे भरे हुए दो जीभवाले सर्पोंसे युक्त था ॥ ११ ॥

क्वचित्कनकसंकाशं क्वचिद्रजतसंनिभम् ।
क्वचिदञ्जनपुञ्जाभं हिमवन्तमुपागमत् ॥ १२ ॥

जो हिमाचल कहीं सोनेके, कहीं चांदीके और कहीं अञ्जनके समान वर्णवाला था, ऐसे उस हिमालयपर महाराज भगीरथ पहुंचे ॥ १२ ॥

स तु तत्र नरश्रेष्ठस्तपो घोरं समाश्रितः ।
फलमूलाम्बुभक्षोऽभूत्सहस्रं परिवत्सरान् ॥ १३ ॥

वहां जाकर पुरुषोंमें श्रेष्ठ भगीरथने फल मूल और जलका भक्षण करते हुए एक सहस्र वर्षतक घोर तप किया ॥ १३ ॥

संवत्सरसहस्रे तु गते दिव्ये महानदी ।
दर्शयामास तं गङ्गा तदा मूर्तिमती स्वयम् ॥ १४ ॥

जब दिव्य सहस्र वर्ष बीत गये तब महानदी गंगा अपना स्वरूप धारण करके भगीरथके सन्मुख आई और उन्हें अपना दर्शन दिया ॥ १४ ॥

गङ्गोवाच

किमिच्छसि महाराज मत्तः किं च ददानि ते ।
तद्ब्रवीहि नरश्रेष्ठ करिष्यामि वचस्तव ॥ १५ ॥

गङ्गा बोली— हे महाराज ! तुम मुझसे क्या चाहते हो ? मैं तुम्हें क्या दूं ? हे नरश्रेष्ठ ! जो तुम कहो वही मै करूंगी ॥ १५ ॥

लोमश उवाच

एवमुक्तः प्रत्युवाच राजा हैमवतीं तदा।
पितामहा मे वरदे कपिलेन महानदि।
अन्वेषमाणास्तुरगं नीता वैवस्वतक्षयम् ॥ १६ ॥

लोमश बोले— गङ्गाके ऐसे वचन सुनकर हिमाचलकी पुत्रीसे भगीरथ बोले— हे वर देनेवाली महानदी! मेरे पितामह लोग घोडेको ढूंढते महात्मा कपिलके समीप गये थे, तब उन कपिलने उनको यमके घर पहुंचा दिया ॥ १६ ॥

षष्टिस्तानि सहस्राणि सागराणां महात्मनाम्।
कापिलं तेज आसाद्य क्षणेन निधनं गताः ॥ १७ ॥

सगर महात्माके साठ हजार पुत्र भगवान् कपिलके क्रोधको पाकर क्षणभरमें ही भस्म हो गये ॥ १७ ॥

तेषामेवं विनष्टानां स्वर्गे वासो न विद्यते।
यावत्तानि शरीराणि त्वं जलैर्नाभिषिञ्चसि ॥ १८ ॥

हे महानदी! जबतक आप उनके शरीरोंको अपने जलसे स्नान न करावेंगी, तबतक नष्ट हुए सगरपुत्रोंको स्वर्गमें वास भी न मिलेगा ॥ १८ ॥

स्वर्गं नय महाभागे मत्पितॄन्सगरात्मजान्।
तेषामर्थेऽभियाचामि त्वामहं वै महानदि ॥ १९ ॥

हे महानदी! हे महाभागे! सगरके पुत्र मेरे पितरोंको स्वर्गमें पहुंचाइये; उन्हींके लिए यही वरदान मैं आपसे मांगता हूं ॥ १९ ॥

एतच्छ्रुत्वा वचो राज्ञो गङ्गा लोकनमस्कृता।
भगीरथमिदं वाक्यं सुप्रीता समभाषत ॥ २० ॥

लोकोंके द्वारा पूजित गङ्गाने राजाके वचन सुनकर और प्रसन्न होकर भगीरथसे यह वचन कहा ॥ २० ॥

करिष्यामि महाराज वचस्ते नात्र संशयः।
वेगं तु मम दुर्धार्यं पतन्त्या गगनाच्च्युतम् ॥ २१ ॥

हे महाराज! मैं निःसन्देह तुम्हारे वचनको पूरा करूंगी, परन्तु ऊपरसे गिरती हुई मेरा आकाशसे छूटा हुआ वेग बहुत भारी है, अतः उसे धारण करना आसान नहीं है ॥ २१ ॥

न शक्तस्त्रिषु लोकेषु कश्चिद्धारयितुं नृप ।
अन्यत्र विबुधश्रेष्ठान्नीलकण्ठान्महेश्वरात् ॥ २२ ॥

हे राजन् ! तीनों लोकोंमें देवोंमें श्रेष्ठ महेश्वरको छोडकर और कोई उस वेगको धारण नहीं कर सकता ॥ २२ ॥

तं तोषय महाबाहो तपसा वरदं हरम् ।
स तु मां प्रच्युतां देवः शिरसा धारयिष्यति ।
करिष्यति च ते कामं पितॄणां हितकाम्यया ॥ २३ ॥

हे महाबाहो ! तुम वर देनेवाले उन शिवजीको तपस्यासे प्रसन्न करो, वही महादेव स्वर्गसे गिरी हुई मुझको अपने सिरपर धारण करेंगे ! वह पितरोंके हितके निमित्त तुम्हारी इच्छा पूर्ण करेंगे ॥ २३ ॥

एतच्छ्रुत्वा वचो राजन्महाराजो भगीरथः ।
कैलासं पर्वतं गत्वा तोषयामास शंकरम् ॥ २४ ॥

हे राजन् ! तब महाराज भगीरथने गङ्गाजीके वचन सुनकर कैलास पर्वतपर जाकर घोर तपस्या की और शिवजीको प्रसन्न किया ॥ २४ ॥

ततस्तेन समागम्य कालयोगेन केनचित् ।
अगृह्णाच्च वरं तस्माद्गङ्गाया धारणं नृप ।
स्वर्गवासं समुद्दिश्य पितॄणां स नरोत्तमः ॥ २५ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि सप्ताधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०७ ॥ ३८६९ ॥

तब यथा समय शिवजीके पास जाकर राजा भगीरथने अपने पितरोंके स्वर्गमें जानेके निमित्त शिवसे यही वरदान मांगा, कि आप गंगाको अपने सिरपर धारण कीजिये ॥२५॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ सातवां अध्याय समाप्त ॥ १०७ ॥ ३८६९ ॥

: १०८ :

लोमश उवाच

भगीरथवचः श्रुत्वा प्रियार्थं च दिवौकसाम् ।
एवमस्त्विति राजानं भगवान्प्रत्यभाषत ॥ १ ॥

लोमश बोले– हे महाराज ! राजा भगीरथके ये वचन सुनकर देवताओंका प्रिय करनेकी इच्छासे भगवान् शिवजीने उनके वचनको "ऐसा ही हो" इस प्रकार स्वीकार करके कहा ॥ १ ॥

धारयिष्ये महाबाहो गगनात्प्रच्युतां शिवाम् ।
दिव्यां देवनदीं पुण्यां त्वत्कृते नृपसत्तम ॥ २ ॥

कि हे महाबाहो ! हे राजोत्तम ! मैं स्वर्गसे गिरती हुई कल्याणी पवित्र देवनदीको तुम्हारे हितके निमित्त धारण करूंगा ॥ २ ॥

एवमुक्त्वा महाबाहो हिमवन्तमुपागमत् ।
संवृतः पार्षदैर्घोरैर्नानाप्रहरणोद्यतैः ॥ ३ ॥

हे महाबाहो ! भगीरथसे ऐसे वचन कहकर नाना शस्त्रोंसे सज्जित पार्षद गणसे घिरे हुए शिवजी हिमाचलपर पहुंचे ॥ ३ ॥

ततः स्थित्वा नरश्रेष्ठं भगीरथमुवाच ह ।
प्रयाचस्व महाबाहो शैलराजसुतां नदीम् ।
पतमानां सरिच्छ्रेष्ठां धारयिष्ये त्रिविष्टपात् ॥ ४ ॥

वहां पहुंचकर पुरुषोंमें श्रेष्ठ भगीरथसे बोले– कि हे महाबाहो ! अब तुम पर्वतराजपुत्री गङ्गाकी प्रार्थना करो, जब वे नदियोंमें श्रेष्ठ गङ्गा स्वर्गसे गिरेंगी तो मैं उन्हें धारण करूंगा ॥ ४ ॥

एतच्छ्रुत्वा वचो राजा शर्वेण समुदाहृतम् ।
प्रयतः प्रणतो भूत्वा गङ्गां समनुचिन्तयत् ॥ ५ ॥

शिवजीके द्वारा कहे हुए वचनोंको सुनकर प्रयत्नशील और विनीत होकर भगीरथने गङ्गाका ध्यान किया ॥ ५ ॥

ततः पुण्यजला रम्या राज्ञा समनुचिन्तिता ।
ईशानं च स्थितं दृष्ट्वा गगनात्सहसा च्युता ॥ ६ ॥

उनके ध्यान करते ही और शिवजीको बैठे हुए देखकर पवित्र जलवाली रमणीय गङ्गा स्वर्गसे अचानक गिरीं ॥ ६ ॥

तां प्रच्युतां ततो दृष्ट्वा देवाः सार्धं महर्षिभिः ।
गन्धर्वोरगरक्षांसि समाजग्मुर्दिदृक्षया ॥ ७ ॥

गङ्गाको गिरते हुए देखकर देवता, महाऋषि, गन्धर्व, सर्प और यक्ष लोग उन्हें देखनेकी इच्छासे आये ॥ ७ ॥

ततः पपात गगनाद्गङ्गा हिमवतः सुता ।
समुद्भ्रान्तमहावर्ता मीनग्राहसमाकुला ॥ ८ ॥

उसी समय हिमाचलकी पुत्री गङ्गा स्वर्गसे गिरीं । उसमें बडी बडी तरंगें उठ रही थीं, तथा वे मछली और ग्राहोंसे भरी हुई थीं ॥ ८ ॥

तां दधार हरो राजन्गङ्गां गगनमेखलाम् ।
ललाटदेशे पतितां मालां मुक्तामयीमिव ॥ ९ ॥

हे राजन् ! उस आकाशकी मेखलाभूत गङ्गाको शिवजीने अपने शिरपर धारण किया । गङ्गा शिवजीके सिरपर मोतीकी मालाके समान शोभित होने लगीं ॥ ९ ॥

सा बभूव विसर्पन्ती त्रिधा राजन्समुद्रगा ।
फेनपुञ्जाकुलजला हंसानामिव पंक्तयः ॥ १० ॥

हे राजन् ! वह समुद्रकी ओर बहनेवाली गङ्गा तीन भागोंमें बंट गई। फेनोंसे भरी हुई, जलसे पूर्ण गङ्गा ऐसी विराजमान हुई, जैसी हंसकी पंक्ति ॥ १० ॥

क्वचिदाभोगकुटिला प्रस्खलन्ती क्वचित्क्वचित् ।
स्वफेनपटसंवीता मत्तेव प्रमदाव्रजत् ।
क्वचित्सा तोयनिनदैर्नदन्ती नादमुत्तमम् ॥ ११ ॥

कहीं भौंरोंसे कुटिल, कहीं कहीं जलसे भरी हुई, गङ्गा फेनरूपी कपडे पहनकर इस तरह बढ चलीं जैसी सुन्दरी स्त्री । कहीं वह जलके घोर शब्दसे उत्तम नादको पैदा कर रही थीं ॥ ११ ॥

एवं प्रकारान्सुबहून्कुर्वन्ती गगनाच्च्युता ।
पृथिवीतलमासाद्य भगीरथमथाब्रवीत् ॥ १२ ॥

इस प्रकार आकाशसे गिरती हुई गङ्गा अनेक रूपोंको धारण करती हुई पृथ्वीमें आकर भगीरथसे बोली ॥ १२ ॥

दर्शयस्व महाराज मार्गं केन व्रजाम्यहम् ।
त्वदर्थमवतीर्णास्मि पृथिवीं पृथिवीपते ॥ १३ ॥

हे पृथ्वीनाथ ! हे महाराज ! मैं तुम्हारे लिये पृथ्वीपर उतरी हूँ । दिखाओ, अब मैं कौनसे मार्गसे चलूं ॥ १३ ॥

एतच्छ्रुत्वा वचो राजा प्रातिष्ठत भगीरथः ।
यत्र तानि शरीराणि सागराणां महात्मनाम् ।
पावनार्थं नरश्रेष्ठ पुण्येन सलिलेन ह ॥ १४ ॥

हे नरश्रेष्ठ ! राजा भगीरथ गङ्गाके वचन सुन करके अपने पुरखोंको पवित्र जलसे स्नान करनेके निमित्त उधर ही चले जिधर महात्मा सगरके साठ हजार पुत्रोंके शरीर पडे हुए थे ॥ १४ ॥

गङ्गाया धारणं कृत्वा हरो लोकनमस्कृतः ।
कैलासं पर्वतश्रेष्ठं जगाम त्रिदशैः सह ॥ १५ ॥

तदनन्तर लोकोंसे पूजित होकर शिवजी भी गङ्गाको धारण करके देवताओंके सहित पर्वत श्रेष्ठ कैलासको चले गये ॥ १५ ॥

समुद्रं च समासाद्य गङ्गया सहितो नृपः ।
पूरयामास वेगेन समुद्रं वरुणालयम् ॥ १६ ॥

तदनन्तर राजा भगीरथने गङ्गाको समुद्रतक पहुंचा दिया, गङ्गाने वरुणके स्थान समुद्रको वेगपूर्वक अपने जलसे पूर्ण कर दिया ॥ १६ ॥

दुहितृत्वे च नृपतिर्गङ्गां समनुकल्पयत् ।
पितॄणां चोदकं तत्र ददौ पूर्णमनोरथः ॥ १७ ॥

तब राजा भगीरथने गङ्गाको अपनी पुत्री बनाया और पूर्ण हुए मनोरथवाले भगीरथने अपने पितरोंको जलदान दिया ॥ १७ ॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं गङ्गा त्रिपथगा यथा ।
पूरणार्थं समुद्रस्य पृथिवीमवतारिता ॥ १८ ॥

हे महाराज! गङ्गा त्रिपथगा क्यों कहलाई और समुद्रको भरनेके लिए पृथ्वीपर कैसे उतरी, वह सब मैंने तुमसे कह दिया ॥ १८ ॥

समुद्रश्च यथा पीतः कारणार्थे महात्मना ।
वातापिश्च यथा नीतः क्षयं स ब्रह्महा प्रभो ।
अगस्त्येन महाराज यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ १९ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि अष्टाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०८ ॥ ३८८८ ॥

किस कारण महात्मा अगस्त्यने समुद्रको पिया था और जिस प्रकार ब्रह्मको मारनेवाले वातापी राक्षसको अगस्त्यने मारा था, सब कह दिया। अब आप जो हमसे पूछें, उसे हम कहें ॥ १९ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ आठवां अध्याय समाप्त ॥ १०८ ॥ ३८८८ ॥

: १०९ :

वैशम्पायन उवाच

तत: प्रयात: कौन्तेय: क्रमेण भरतर्षभ।
नन्दामपरनन्दां च नद्यौ पापभयापहे ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– हे भरतकुलसिंह जनमेजय! तब कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर क्रमसे चलते हुए पाप और भयका नाश करनेवाली नन्दा और अपरनन्दा नदीके तट पर पहुंचे ॥ १ ॥

स पर्वतं समासाद्य हेमकूटमनामयम्।
अचिन्त्यानद्भुतान्भावान्ददर्श सुबहून्नृप: ॥ २ ॥

वहांपर सुन्दर हेमकूट नामक पर्वतपर जाकर राजा युधिष्ठिरने अनेक अद्भुत भावोंको देखा ॥ २ ॥

वाचो यत्राभवन्मेघा उपलाश्च सहस्रश:।
नाशक्नुवंस्तमारोढुं विषण्णमनसो जना: ॥ ३ ॥

जहां सहस्रों मेघ और ओले वाणीका उपयोग करते थे। जो खेदयुक्त मनवाले होते थे वे पुरुष इस पर्वतपर चढ नहीं सकते थे, ॥ ३ ॥

वायुर्नित्यं ववौ यत्र नित्यं देवश्च वर्षति।
सायं प्रातश्च भगवान्दृश्यते हव्यवाहन: ॥ ४ ॥

जहां सदा ही वायु चलती थी और सदा ही जल बरसाता था, जहां सन्ध्याको और भोरको भगवान् अग्निके दर्शन होते थे ॥ ४ ॥

एवं बहुविधान्भावानद्भुतान्वीक्ष्य पाण्डव:।
लोमशं पुनरेव स्म पर्यपृच्छत्तदद्भुतम् ॥ ५ ॥

महाराज युधिष्ठिरने ऐसी ऐसी अनेक विचित्र बातोंको देखकर लोमश ऋषिसे इस अद्भुतताका कारण पूछा ॥ ५ ॥

लोमश उवाच

यथाश्रुतमिदं पूर्वमस्माभिररिकर्शन।
तदेकाग्रमना राजन्निबोध गदतो मम ॥ ६ ॥

लोमश बोले– हे शत्रुनाशक! पहले हमने इस विषयको जैसा सुना है, वैसा ही मैं आपसे कहता हूँ, आप एकाग्रचित्त होकर सुनिये ॥ ६ ॥

अस्मिन्नृषभकूटेऽभूदृषभो नाम तापसः ।
अनेकशतवर्षायुस्तपस्वी कोपनो भृशम् ॥ ७ ॥

इस ऋषभकूट नामक पर्वतपर ऋषभ नामक एक मुनि हुये थे, उनकी आयु कई सौ वर्षकी थी; वे बडे तपस्वी थे, परन्तु वे परम क्रोधी थे ॥ ७ ॥

स वै संभाष्यमाणोऽन्यैः कोपाद्गिरिमुवाच ह ।
य इह व्याहरेत्कश्चिदुपलानुत्सृजेस्तदा ॥ ८ ॥

उन्होंने किसी दूसरेके साथ बात करते हुए महाक्रोधसे पर्वतसे कहा– कि जो कोई यहां आकर कुछ बोले, तो तुम उसके ऊपर पत्थर बरसाओ ॥ ८ ॥

वातं चाहूय मा शब्दमित्युवाच स तापसः ।
व्याहरंश्चैव पुरुषो मेघेन विनिवार्यते ॥ ९ ॥

तदनन्तर मुनिने क्रोधसे वायुसे कहा– कि 'यहां शब्द मत करो।' तबसे जो यहां शब्द करता है, वह मेघके द्वारा रोक दिया जाता है ॥ ९ ॥

एवमेतानि कर्माणि राजंस्तेन महर्षिणा ।
कृतानि कानिचित्कोपात्प्रतिषिद्धानि कानिचित् ॥ १० ॥

हे महाराज! इस प्रकार उस महाऋषिने क्रोधके वशमें होकर अनेक अद्भुत कर्म किये। उनमें अनेक कर्मोंका विधान किया तो अनेक कर्मोंका निषेध किया ॥ १० ॥

नन्दामभिगतान्देवान्पुरा राजन्निति श्रुतिः ।
अन्वपद्यन्त सहसा पुरुषा देवदर्शिनः ॥ ११ ॥

हे राजन्! हमने सुना है, कि पहले समयमें देवता नन्दापर गये थे और मनुष्य भी उनके दर्शनकी इच्छासे उनके पीछे गये थे ॥ ११ ॥

ते दर्शनमनिच्छन्तो देवाः शक्रपुरोगमाः ।
दुर्गं चक्रुरिमं देशं गिरिप्रत्यूहरूपकम् ॥ १२ ॥

वहां इन्द्रादिक देवताओंने पुरुषोंको दर्शन देना नहीं चाहा। तब उन्होंने विघ्नरूपी पर्वतको अपना दुर्ग बनाया है। यह देश इसके बीचमें है ॥ १२ ॥

तदा प्रभृति कौन्तेय नरा गिरिमिमं सदा ।
नाशक्नुवन्नभिद्रष्टुं कुत एवाधिरोहितुम् ॥ १३ ॥

हे कुन्तीनन्दन! तभीसे मनुष्य इस पर्वतको देख भी नहीं सकते, फिर चढनेकी तो कथा ही क्या है? ॥ १३ ॥

×

: १०९ :

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रयातः कौन्तेयः क्रमेण भरतर्षभ ।
नन्दामपरनन्दां च नद्यौ पापभयापहे ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– हे भरतकुलसिंह जनमेजय ! तब कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर क्रमसे चलते हुए पाप और भयका नाश करनेवाली नन्दा और अपरनन्दा नदीके तट पर पहुंचे ॥ १ ॥

स पर्वतं समासाद्य हेमकूटमनामयम् ।
अचिन्त्यानद्भुतान्भावान्ददर्श सुबहून्नृपः ॥ २ ॥

वहांपर सुन्दर हेमकूट नामक पर्वतपर जाकर राजा युधिष्ठिरने अनेक अद्भुत भावोंको देखा ॥ २ ॥

वाचो यत्राभवन्मेघा उपलाश्च सहस्रशः ।
नाशक्नुवंस्तमारोढुं विषण्णमनसो जनाः ॥ ३ ॥

जहां सहस्रों मेघ और ओले वाणीका उपयोग करते थे । जो खेदयुक्त मनवाले होते थे वे पुरुष इस पर्वतपर चढ नहीं सकते थे, ॥ ३ ॥

वायुर्नित्यं ववौ यत्र नित्यं देवश्च वर्षति ।
सायं प्रातश्च भगवान्दृश्यते हव्यवाहनः ॥ ४ ॥

जहां सदा ही वायु चलती थी और सदा ही जल बरसाता था, जहां सन्ध्याको और भोरको भगवान् अग्निके दर्शन होते थे ॥ ४ ॥

एवं बहुविधान्भावानद्भुतान्वीक्ष्य पाण्डवः ।
लोमशं पुनरेव स्म पर्यपृच्छत्तदद्भुतम् ॥ ५ ॥

महाराज युधिष्ठिरने ऐसी ऐसी अनेक विचित्र बातोंको देखकर लोमश ऋषिसे इस अद्भुतताका कारण पूछा ॥ ५ ॥

लोमश उवाच

यथाश्रुतमिदं पूर्वमस्माभिररिकर्शन ।
तदेकाग्रमना राजन्निबोध गदतो मम ॥ ६ ॥

लोमश बोले– हे शत्रुनाशक ! पहले हमने इस विषयको जैसा सुना है, वैसा ही मैं आपसे कहता हूँ, आप एकाग्रचित्त होकर सुनिये ॥ ६ ॥

अस्मिन्नृषभकूटेऽभूदृषभो नाम तापसः ।
अनेकशतवर्षायुस्तपस्वी कोपनो भृशम् ॥ ७ ॥

इस ऋषभकूट नामक पर्वतपर ऋषभ नामक एक मुनि हुये थे, उनकी आयु कई सौ वर्षकी थी; वे बडे तपस्वी थे, परन्तु वे परम क्रोधी थे ॥ ७ ॥

स वै संभाष्यमाणोऽन्यैः कोपाद्गिरिमुवाच ह ।
य इह व्याहरेत्कश्चिदुपलानुत्सृजेस्तदा ॥ ८ ॥

उन्होंने किसी दूसरेके साथ बात करते हुए महाक्रोधसे पर्वतसे कहा– कि जो कोई यहां आकर कुछ बोले, तो तुम उसके ऊपर पत्थर बरसाओ ॥ ८ ॥

वातं चाहूय मा शब्दमित्युवाच स तापसः ।
व्याहरंश्चैव पुरुषो मेघेन विनिवार्यते ॥ ९ ॥

तदनन्तर मुनिने क्रोधसे वायुसे कहा– कि 'यहां शब्द मत करो।' तबसे जो यहां शब्द करता है, वह मेघके द्वारा रोक दिया जाता है ॥ ९ ॥

एवमेतानि कर्माणि राजंस्तेन महर्षिणा ।
कृतानि कानिचित्कोपात्प्रतिषिद्धानि कानिचित् ॥ १० ॥

हे महाराज! इस प्रकार उस महाऋषिने क्रोधके वशमें होकर अनेक अद्भुत कर्म किये। उनमें अनेक कर्मोंका विधान किया तो अनेक कर्मोंका निषेध किया ॥ १० ॥

नन्दामभिगतान्देवान्पुरा राजन्निति श्रुतिः ।
अन्वपद्यन्त सहसा पुरुषा देवदर्शिनः ॥ ११ ॥

हे राजन्! हमने सुना है, कि पहले समयमें देवता नन्दापर गये थे और मनुष्य भी उनके दर्शनकी इच्छासे उनके पीछे गये थे ॥ ११ ॥

ते दर्शनमनिच्छन्तो देवाः शक्रपुरोगमाः ।
दुर्गं चक्रुरिमं देशं गिरिप्रत्यूहरूपकम् ॥ १२ ॥

वहां इन्द्रादिक देवताओंने पुरुषोंको दर्शन देना नहीं चाहा। तब उन्होंने विघ्नरूपी पर्वतको अपना दुर्ग बनाया है। यह देश इसके बीचमें है ॥ १२ ॥

तदा प्रभृति कौन्तेय नरा गिरिमिमं सदा ।
नाशक्नुवन्नभिद्रष्टुं कुत एवाधिरोहितुम् ॥ १३ ॥

हे कुन्तीनन्दन! तभीसे मनुष्य इस पर्वतको देख भी नहीं सकते, फिर चढनेकी तो कथा ही क्या है? ॥ १३ ॥

×

नातप्ततपसा शक्यो द्रष्टुमेष महागिरिः ।
आरोढुं चापि कौन्तेय तस्मान्नियतवाग्भव ॥ १४ ॥

हे कुन्तीनन्दन! विना तप किये हुए कोई पुरुष इस महापर्वतको देख भी नहीं सकता, और ना ही इसपर चढ सकता है अतएव तुम मौनधारी हो जाओ ॥ १४ ॥

इह देवाः सदा सर्वे यज्ञानाजह्रुरुत्तमान् ।
तेषामेतानि लिङ्गानि दृश्यन्तेऽद्यापि भारत ॥ १५ ॥

हे भारत! इसी स्थानपर देवताओंने उत्तम उत्तम यज्ञ किये हैं, जिनके ये चिह्न अभीतक दीखते हैं ॥ १५ ॥

कुशाकारेव दूर्वेयं संस्तीर्णेव च भूरियम् ।
यूपप्रकारा बहवो वृक्षाश्चेमे विशां पते ॥ १६ ॥

हे प्रजाओंके स्वामिन्! यह कुशाके समान दूर्वा, बिछौनेके समान भूमि और यूपके समान अनेक वृक्ष लगे हुए हैं ॥ १६ ॥

देवाश्च ऋषयश्चैव वसन्त्यद्यापि भारत ।
तेषां सायं तथा प्रातर्दृश्यते हव्यवाहनः ॥ १७ ॥

हे पृथ्वीनाथ! हे भारत! यहांपर अब भी अनेक देवता और ऋषि वसते हैं, उन्हींके अग्निहोत्रकी अग्नि प्रातःकाल और सन्ध्या समय दीखती है ॥ १७ ॥

इहाप्लुतानां कौन्तेय सद्यः पाप्मा विहन्यते ।
कुरुश्रेष्ठाभिषेकं वै तस्मात्कुरु सहानुजः ॥ १८ ॥

हे कुन्तीनन्दन! यहां स्नान करनेवालोंका पाप उसी समय नष्ट हो जाता है, इसलिये, हे कुरुश्रेष्ठ! आप अपने भाइयोंके सहित यहां स्नान कीजिये ॥ १८ ॥

ततो नन्दाप्लुताङ्गस्त्वं कौशिकीमभियास्यसि ।
विश्वामित्रेण यत्रोग्रं तपस्तप्तमनुत्तमम् । ॥ १९ ॥

यहां नन्दामें स्नान करनेके पश्चात् आपको कौशिकी नदी मिलेगी, जहां विश्वामित्र मुनिने घोर और उत्तम तप किया था ॥ १९ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्तत्र समाप्लुत्य गात्राणि सगणो नृपः ।
जगाम कौशिकीं पुण्यां रम्यां शिवजलां नदीम् ॥ २० ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि नवाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०९ ॥ ३९०८ ॥

वैशम्पायन बोले— राजा युधिष्ठिरने अपने पुरुषोंके सहित नन्दामें अपने अंगोंको शुद्ध किया और वहांसे पवित्र, रम्य, सुन्दर, शीतल जलवाली कौशिकी नदीके पास जा पहुंचे ॥ २० ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ नौवां अध्याय समाप्त ॥ १०९ ॥ ३९०८ ॥

: ११० :

लोमश उवाच

एषा देवनदी पुण्या कौशिकी भरतर्षभ ।
विश्वामित्राश्रमो रम्यो एष चात्र प्रकाशते ॥ १ ॥

लोमश बोले— हे भरतश्रेष्ठ! यही पवित्र देवनदी कौशिकी है, यहीं विश्वामित्र मुनिका रमणीय आश्रम प्रकाशित हो रहा है ॥ १ ॥

आश्रमश्चैव पुण्याख्यः काश्यपस्य महात्मनः ।
ऋश्यशृङ्गः सुतो यस्य तपस्वी संयतेन्द्रियः ॥ २ ॥

और यहीं महात्मा काश्यप मुनिका पवित्र आश्रम है। यहीं जितेन्द्रिय तपस्वी काश्यप मुनिके पुत्र ऋश्यशृङ्गका जन्म हुआ था ॥ २ ॥

तपसो यः प्रभावेन वर्षयामास वासवम् ।
अनावृष्ट्यां भयाद्यस्य ववर्ष बलवृत्रहा ॥ ३ ॥

जिन्होंने अपने तपके प्रभावसे जल बरसाया था, जिनके भयसे अकालमें भी इन्द्रने वर्षा की थी ॥ ३ ॥

मृग्यां जातः स तेजस्वी काश्यपस्य सुतः प्रभुः ।
विषये लोमपादस्य यश्चकाराद्भुतं महत् ॥ ४ ॥

वह काश्यपके पुत्र तेजस्वी ऋश्यशृंग ऋषि लोमपाद राजाके राज्यमें एक हिरणीके गर्भसे उत्पन्न हुए थे, उन ऋष्यशृंगने महान् चमत्कार किए ॥ ४ ॥

निवर्तितेषु सस्येषु यस्मै शान्तां ददौ नृपः ।
लोमपादो दुहितरं सावित्रीं सविता यथा ॥ ५ ॥

बहुत धान्य उत्पन्न होनेके पश्चात् राजा लोमपादने इनको अपनी पुत्री शान्ता उसी प्रकार दानमें दी थी जैसे सूर्यने सावित्री ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

ऋश्यशृङ्गः कथं मृग्यामुत्पन्नः काश्यपात्मजः ।
विरुद्धे योनिसंसर्गे कथं च तपसा युतः ॥ ६ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे ब्रह्मन्! काश्यप मुनिके वीर्य और हिरणीके गर्भसे ऋश्यशृंङ्ग मुनिका जन्म किस प्रकार हुआ? क्योंकि यह योनि सम्बन्धके विरुद्ध जान पडती है; कैसे तपसे उन्होंने यह संबन्ध किया? ॥ ६ ॥

किमर्थं च भयाच्छक्रस्तस्य बालस्य धीमतः।
अनावृष्ट्यां प्रवृत्तायां ववर्ष बलवृत्रहा ॥ ७ ॥

और अकालके पडनेपर भी उस बुद्धिमान् बालकके भयसे वृत्रासुरके मारनेवाले इन्द्रने क्यों जल वरसाया था ? ॥ ७ ॥

कथंरूपा च शान्ताभूद्राजपुत्री यतव्रता।
लोभयामास या चेतो मृगभूतस्य तस्य वै ॥ ८ ॥

और जिसने उस हिरिणीमें उत्पन्न महामुनिके चित्तको लुभाया था, वह व्रतधारिणी राजपुत्री शान्ता कैसी रूपवती थी ? ॥ ८ ॥

लोमपादश्च राजर्षिर्यदाश्रूयत धार्मिकः।
कथं वै विषये तस्य नावर्षत्पाकशासनः ॥ ९ ॥

हमने सुना है, कि राजऋषि महाराज लोमपाद परम धार्मिक थे, तब उनके राज्यमें इन्द्रने क्यों नहीं पानी वरसाया था ? ॥ ९ ॥

एतन्मे भगवन्सर्वं विस्तरेण यथातथम्।
वक्तुमर्हसि शुश्रूषोऋंश्यशृंगस्य चेष्टितम् ॥ १० ॥

हे भगवन् ! सेवा करनेकी इच्छावाले ऋष्यशृंगके कर्मोंकी इस सब कथाको आप मुझसे विस्तारपूर्वक और ठीक ठीक कहिये। मुझको सुननेकी वहुत इच्छा है ॥ १० ॥

लोमश उवाच

विभाण्डकस्य ब्रह्मर्षेस्तपसा भावितात्मनः।
अमोघवीर्यस्य सतः प्रजापतिसमद्युतेः ॥ ११ ॥
शृणु पुत्रो यथा जात ऋश्यशृङ्गः प्रतापवान्।
महाह्रदे महातेजा बालः स्थविरसंमतः ॥ १२ ॥

लोमश बोले– हे महाराज ! तपसे आत्मदर्शी प्रजापतिके समान तेजवाले अमोघ वीर्य विभाण्डक नामक ब्रह्मऋषिके जिस प्रकार प्रतापवान् ऋश्यशृङ्ग पुत्र हुए, वह कथा मैं आपसे कहता हूँ, सुनिये। तेजस्वी काश्यप मुनिके पुत्र शृङ्गी ऋषि बालक होनेपर भी बूढोंके समान थे ॥ ११–१२ ॥

महाह्रदं समासाद्य काश्यपस्तपसि स्थितः।
दीर्घकालं परिश्रान्त ऋषिर्देवर्षिसंमतः ॥ १३ ॥

काश्यप मुनि एक वडे तडागके तटपर बैठकर तप करते थे, दीर्घकालतक तप करनेके कारण वे ऋषि देवों और ऋषियोंके प्रिय बन गए ॥ १३ ॥

तस्य रेतः प्रचस्कन्द दृष्ट्वाप्सरसमुर्वशीम् ।
अप्सूपस्पृशतो राजन्मृगी तच्चापिबत्तदा ॥ १४ ॥
सह तोयेन तृषिता सा गर्भिण्यभवन्नृप ।
अमोघत्वाद्विधेश्चैव भावित्वाद्दैवनिर्मितात् ॥ १५ ॥

हे राजन् ! एक दिन उन्होंने जलमें स्नान करती हुई उर्वशी अप्सराको देखा, देखते ही उनका वीर्य स्खलित हो गया, हे राजन् ! उस वीर्यको एक प्यासी हरिणी जलके साथ पी गई, उसने जो पानी पिया, उससे वह हिरणी ब्रह्माका वचन अमोघ होनेके कारण और होनेवाले कार्यके अवश्य होनेके कारण गर्भिणी हो गई ॥ १४–१५ ॥

तस्यां मृग्यां समभवत्तस्य पुत्रो महानृषिः ।
ऋश्यशृंगस्तपोनित्यो वन एव व्यवर्धत ॥ १६ ॥

उस हरिणीके गर्भसे उसके पुत्र महामुनि ऋश्यशृङ्गका जन्म हुआ; ऋश्यशृङ्ग तप करनेके निमित्त सदा वनहीमें रहने लगे ॥ १६ ॥

तस्यर्श्यशृङ्गं शिरसि राजन्नासीन्महात्मनः ।
तेनर्श्यशृङ्ग इत्येवं तदा स प्रथितोऽभवत् ॥ १७ ॥

हे राजन् ! महात्मा ऋष्यशृङ्ग मुनिके सिरपर एक सींग था; इसीलिये वह ऋश्यशृङ्गके नामसे प्रसिद्ध हुए ॥ १७ ॥

न तेन दृष्टपूर्वोऽन्यः पितुरन्यत्र मानुषः ।
तस्मात्तस्य मनो नित्यं ब्रह्मचर्येऽभवन्नृप ॥ १८ ॥

हे नरनाथ ! उन्होंने अपने जन्मसे पिताके सिवाय और किसी दूसरे पुरुषको नहीं देखा था, इसलिये उनका मन सदा ब्रह्मचर्यमें ही लगा रहा ॥ १८ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु सखा दशरथस्य वै ।
लोमपाद इति ख्यातो अङ्गानामीश्वरोऽभवत् ॥ १९ ॥

उस समय लोमपाद नामसे प्रसिद्ध दशरथका एक मित्र अंगराज्यपर शासन करता था ॥ १९ ॥

तेन कामः कृतो मिथ्या ब्राह्मणेभ्य इति श्रुतिः ।
स ब्राह्मणैः परित्यक्तस्तदा वै जगतपतिः ॥ २० ॥

सुना ऐसा जाता है कि उस लोमपादने बुद्धिके भ्रमसे एक ब्राह्मणसे कहा, कि मैं तुमको दान दूंगा परन्तु फिर नहीं दिया, इसलिये महाराज लोमपादको ब्राह्मणोंने त्याग दिया ॥ २० ॥

पुरोहितापचाराच्च तस्य राज्ञो यदृच्छया।
न ववर्ष सहस्राक्षस्ततोऽपीड्यन्त वै प्रजाः ॥ २१ ॥

प्रारब्धवश और पुरोहितके दोषसे उसके राज्यमें इन्द्र न बरसे, तब प्रजा बहुत पीडित हुई ॥ २१ ॥

स ब्राह्मणान्पर्यपृच्छत्तपोयुक्तान्मनीषिणः।
प्रवर्षणे सुरेन्द्रस्य समर्थान्पृथिवीपतिः ॥ २२ ॥

तब राजा लोमपादने जल बरसानेमें समर्थ तपस्वी और महात्मा ब्राह्मणोंसे पूछा ॥ २२ ॥

कथं प्रवर्षेत्पर्जन्य उपायः परिदृश्यताम्।
तमूचुश्चोदितास्तेन स्वमतानि मनीषिणः ॥ २३ ॥

कि जिस उपायसे जल बरसे उसे बताइए। तब राजासे इसप्रकार प्रेरित होकर उन पण्डित लोगोंने अपनी बुद्धिके अनुसार सम्मति बताई ॥ २३ ॥

तत्र त्वेको मुनिवरस्तं राजानमुवाच ह।
कुपितास्तव राजेन्द्र ब्राह्मणा निष्कृतिं चर ॥ २४ ॥

उस सभामें एक मुनिश्रेष्ठने उस राजासे कहा– हे राजेन्द्र ! आपसे ब्राह्मण क्रुद्ध हो गये हैं, इसका प्रायश्चित्त कीजिये ॥ २४ ॥

ऋश्यशृङ्गं मुनिसुतमानयस्व च पार्थिव।
वानेयमनभिज्ञं च नारीणामार्जवे रतम् ॥ २५ ॥

हे पृथ्वीनाथ ! आप काश्यप मुनिके पुत्र ऋश्यशृङ्गको बुलाइये। वह केवल ब्रह्मचारी हैं। स्त्रियोंके सुखसे वे सर्वथा अपरिचित हैं और वनवासी हैं ॥ २५ ॥

स चेदवतरेद्राजन्विषयं ते महातपाः।
सद्यः प्रवर्षेत्पर्जन्य इति मे नात्र संशयः ॥ २६ ॥

यदि महातपस्वी ऋश्यशृङ्ग आपके राज्यमें आवें तो उसी समय वर्षा होगी, इस बातमें कोई भी सन्देह नहीं है ॥ २६ ॥

एतच्छ्रुत्वा वचो राजन्कृत्वा निष्कृतिमात्मनः।
स गत्वा पुनरागच्छेत्प्रसन्नेषु द्विजातिषु।
राजानमागतं दृष्ट्वा प्रतिसंजगृहुः प्रजाः ॥ २७ ॥

हे युधिष्ठिर ! राजा लोमपादने ब्राह्मणोंके ऐसे वचन सुनकर पवित्र स्थानमें जाकर अपना प्रायश्चित्त किया और ब्राह्मणोंको प्रसन्नकर फिर लौट आये। जब प्रजाने सुना कि महाराज आ गये है तो प्रजाने उनको फिर राजाके रूपमें स्वीकार कर लिया ॥ २७ ॥

ततोऽङ्गपतिराहूय सचिवान्मन्त्रकोविदान्।
ऋश्यशृङ्गागमे यत्नमकरोन्मन्त्रनिश्चये ॥ २८ ॥

तदनन्तर अंगराज लोमपादने मन्त्र जाननेवाले मन्त्रियोंको बुलाकर उनसे सलाह कर ऋश्यशृङ्ग मुनिको बुलानेका यत्न किया ॥ २८ ॥

सोऽध्यगच्छदुपायं तु तैरमात्यैः सहाच्युतः।
शास्त्रज्ञैरलमर्थज्ञैर्नीत्यां च परिनिष्ठितैः ॥ २९ ॥

उन्होंने शास्त्र जाननेवाले, सब अर्थोंके पण्डित, नीतिनिपुण मन्त्रियोंसे ऋश्यशृङ्गके बुलानेका उपाय प्राप्त कर लिया ॥ २९ ॥

तत आनाययामास वारमुख्या महीपतिः।
वेश्याः सर्वत्र निष्णातास्ता उवाच स पार्थिवः ॥ ३० ॥
ऋश्यशृंगमृषेः पुत्रमानयध्वमुपायतः।
लोभयित्वाभिविश्वास्य विषयं मम शोभनाः ॥ ३१ ॥

और उस राजाने मुख्य वेश्याओंको बुलाया और राजाने उन प्रवीण वेश्याओंसे कहा, कि तुम किसी भी उपायसे ऋषिके पुत्र ऋश्यशृंगको यहां ले आओ। हे सुन्दरियो! उनके चित्तको लुभाकर और विश्वास देकर हमारे राज्यमें ले आओ ॥ ३०-३१ ॥

ता राजभयभीताश्च शापभीताश्च योषितः।
अशक्यमूचुस्तत्कार्यं विवर्णा गतचेतसः ॥ ३२ ॥

वेश्याओंको राजाके वचन सुनकर इधर राजाका और उधर ऋषिके शापका भय हुआ, तब सब वेश्याओंने मलिन वर्ण और दुःखित होकर कहा– कि हे महाराज! यह काम होनेके योग्य नहीं है ॥ ३२ ॥

तत्र त्वेका जरद्योषा राजानमिदमब्रवीत्।
प्रयतिष्ये महाराज तमानेतुं तपोधनम् ॥ ३३ ॥

तब वहां एक बूढी स्त्री राजासे ऐसा बोली– कि हे महाराज! मैं उस तपोधन ऋषिको यहां लानेका उपाय करूंगी ॥ ३३ ॥

अभिप्रेतांस्तु मे कामान्समनुज्ञातुमर्हसि।
ततः शक्ष्ये लोभयितुमृश्यशृङ्गमृषेः सुतम् ॥ ३४ ॥

परन्तु आप आज्ञा दीजिये, कि जो मेरी इच्छा हो वही करूं, तभी मैं ऋषिपुत्र ऋश्यशृङ्गको लोभसे युक्त कर सकूंगी ॥ ३४ ॥

तस्याः सर्वमभिप्रायमन्वजानात्स पार्थिवः ।
धनं च प्रददौ भूरि रत्नानि विविधानि च ॥ ३५ ॥

राजाने उसके मनका सब अभिप्राय जान लिया, उसको बहुत धन और अनेक प्रकारके रत्न दिये ॥ ३५ ॥

ततो रूपेण संपन्ना वयसा च महीपते ।
स्त्रिय आदाय काश्चित्सा जगाम वनमञ्जसा ॥ ३६ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११० ॥ ३९४४ ॥

हे राजन् ! वह बूढी स्त्री रूपसे भरी हुई नवीन यौवनवाली कतिपय स्त्रियोंको साथमें लेकर शीघ्र ही वनको चली गई ॥ ३६ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ दसवां अध्याय समाप्त ॥ ११० ॥ ३९४४ ॥

: १११ :

लोमश उवाच

सा तु नाव्याश्रमं चक्रे राजकार्यार्थसिद्धये ।
संदेशाच्चैव नृपतेः स्वबुद्ध्या चैव भारत ॥ १ ॥

लोमश बोले— हे महाराज ! उस बूढी स्त्रीने राजाकी आज्ञा मानकर उनकी कार्यसिद्धिके निमित्त अपनी बुद्धि और राजाकी आज्ञासे नावपर एक आश्रम बनाया ॥ १ ॥

नानापुष्पफलैर्वृक्षैः कृत्रिमैरुपशोभितम् ।
नानागुल्मलतोपेतैः स्वादुकामफलप्रदैः ॥ २ ॥

कृत्रिम रूपसे बनाये गए अनेक फूले और फले हुए वृक्षोंसे शोभित अनेक प्रकारके गुल्मोंके सहित मीठे फूल और फलोंसे भरा हुआ ॥ २ ॥

अतीव रमणीयं तदतीव च मनोहरम् ।
चक्रे नाव्याश्रमं रम्यमद्भुतोपमदर्शनम् ॥ ३ ॥

परम रमणीय अतीव मनोहर विचित्र दर्शनवाला एक सुन्दर नावोंका स्थान बनाया ॥ ३ ॥

ततो निबध्य तां नावमदूरे काश्यपाश्रमात् ।
चारयामास पुरुषैर्विहारं तस्य वै मुनेः ॥ ४ ॥

और उस नावको काश्यपऋषिके आश्रमके समीप ही बांध दिया और उस मुनिके आश्रममें अपने दूतोंको भेज दिया ॥ ४ ॥

ततो दुहितरं वेश्या समाधायेतिकृत्यताम् ।
दृष्ट्वान्तरं काश्यपस्य प्राहिणोद्बुद्धिसंमताम् ॥ ५ ॥

एकदिन काश्यप मुनिको आश्रमसे बाहर जाते देख वेश्याने अपनी बुद्धिमती पुत्रीको सब कार्य समझाकर ऋश्यशृंगके पास भेजा ॥ ५ ॥

सा तत्र गत्वा कुशला तपोनित्यस्य संनिधौ ।
आश्रमं तं समासाद्य ददर्श तमृषेः सुतम् ॥ ६ ॥

उस बुद्धिमती वेश्याने नित्य तप करनेवाले मुनिके आश्रममें जाकर काश्यप मुनिके पुत्र शृङ्गीऋषिको देखा ॥ ६ ॥

वेश्योवाच

कच्चिन्मुने कुशलं तापसानां कच्चिच्च वो मूलफलं प्रभूतम् ।
कच्चिद्भवान्रमते चाश्रमेऽस्मिंस्त्वां वै द्रष्टुं सांप्रतमागतोऽस्मि ॥ ७ ॥

वेश्या बोली– हे मुने ! कहिये, आपके आश्रममें तपस्वी कुशलसे तो हैं ? आपके यहां फल मूल तो उत्पन्न होते हैं ? कहिये, आप इस आश्रममें आनन्दसे विहार तो करते हैं ? मैं आज आपहीको देखने यहां आई हूं ॥ ७ ॥

कच्चित्तपो वर्धते तापसानां पिता च ते कच्चिदहीनतेजाः ।
कच्चित्त्वया प्रीयते चैव विप्र कच्चित्स्वाध्यायः क्रियते ऋश्यशृङ्ग ॥ ८ ॥

कहिये, आपके आश्रमके तपस्वियोंका तप तो बढता है न ? परम तेजस्वी आपके पिता काश्यप मुनि आपसे प्रेम करते हैं न ? ऋश्यशृङ्ग ! आपका वेदपाठ तो ठीक तरहसे होता है ? ॥ ८ ॥

ऋश्यशृंग उवाच

ऋद्धो भवाञ्ज्योतिरिव प्रकाशते मन्ये चाहं त्वामभिवादनीयम् ।
पाद्यं वै ते संप्रदास्यामि कामाद्यथाधर्मं फलमूलानि चैव ॥ ९ ॥

ऋश्यशृङ्ग बोले– आप सब तरहसे समृद्धशाली होकर प्रकाशके समान चमक रहे हैं अतः मैं आपको प्रणाम करनेके योग्य समझता हूं, मैं आपको धर्मके अनुसार पाद्य, अर्घ्य, फल और मूल दूंगा ॥ ९ ॥

कौश्यां बृस्यामास्स्व-यथोपजोषं कृष्णाजिनेनावृतायां सुखायाम् ।
क चाश्रमस्तव किं नाम चेदं व्रतं ब्रह्मंश्चरसि हि देववत्त्वम् ॥ १० ॥

यह कुशका आसन पडा है और इसपर यह काले हरिणका चमडा बिछा हुआ है, इसपर आप सुखसे बैठिए। हे ब्रह्मन् ! आपका आश्रम कहां है ? और आपका क्या नाम है ? और देवोंके समान आपने कौनसा व्रत धारण किया हुआ है ? ॥ १० ॥

वेश्योवाच

ममाश्रमः काश्यपपुत्र रम्यस्त्रियोजनं शैलमिमं परेण ।

तत्र स्वधर्मोऽनभिवादनं नो न चोदकं पाद्यमुपस्पृशामः ॥ ११ ॥

वेश्या बोली– हे काश्यपपुत्र ! मेरा रमणीय आश्रम इस पर्वतके पास यहांसे बारह कोस है। मुझे प्रणाम करना आपका धर्म नहीं है और मैं आपके द्वारा दिए गए जलको भी स्पर्श नहीं करूंगी ॥ ११ ॥

ऋश्यशृंग उवाच

फलानि पक्कानि ददानि तेऽहं भल्लातकान्यामलकानि चैव ।

परूषकानीङ्गुदधन्वनानि प्रियालानां कामकारं कुरुष्व ॥ १२ ॥

ऋश्यशृङ्ग बोले– मैं आपको पके हुए भिलावे, आमले, इंगुदी, धन्वन और प्रियालके फल देता हूँ, आप सुखसे भोजन करें ॥ १२ ॥

लोमश उवाच

सा तानि सर्वाणि विसर्जयित्वा भक्षान्महार्हान्प्रददौ ततोऽस्मै ।

तान्यृश्यशृङ्गस्य महारसानि भृशं सुरूपाणि रुचिं ददुर्हि ॥ १३ ॥

लोमश बोले– तब उस वेश्याने उन सबका परित्याग करके ऋश्यशृङ्ग मुनिको उत्तम उत्तम भोजन दिये। मुनि उन महारसोंके रूपको देखकर और उनका भक्षणकर बहुत ही प्रसन्न हुए ॥ १३ ॥

ददौ च माल्यानि सुगन्धवन्ति चित्राणि वासांसि च भानुमन्ति ।

पानानि चाग्र्याणि ततो मुमोद चिक्रीड चैव प्रजहास चैव ॥ १४ ॥

तब उस वेश्याने उनको सुगन्धसे भरी हुई माला, विचित्र प्रकाशमान वस्त्र और पीनेकी उत्तम उत्तम चीजें दीं फिर प्रसन्न होकर उसके साथ हंसने और खेलने लगी ॥ १४ ॥

सा कन्दुकेनारमतास्य मूले विभज्यमाना फलिता लतेव ।

गात्रैश्च गात्राणि निषेवमाणा समाश्लिषच्चासकृदृश्यशृङ्गम् ॥ १५ ॥

तदनन्तर एक गेंद लेकर फूली हुई लताके समान अनेक हाव भाव दिखाती हुई वहीं खेलने लगी, कभी मुनिके शरीरसे अपने शरीरको रगडती और कभी उनसे लिपट जाती थी ॥ १५ ॥

सर्जानशोकांस्तिलकांश्च वृक्षान्प्रपुष्पितानवनाम्यावभज्य ।

विलज्जमानेव मदाभिभूता प्रलोभयामास सुतं महर्षेः ॥ १६ ॥

लज्जित और मतवाली होकर वह वेश्या शाल, अशोक और फूले हुए तिलोंके फूलोंसे विकसित डालियोंको कभी झुकाती तो कभी फूलोंको तोडती, इस प्रकार उसने महर्षि काश्यपके पुत्र ऋश्यशृङ्गको लुभा लिया ॥ १६ ॥

अथर्ष्यशृङ्गं विकृतं समीक्ष्य पुनः पुनः पीडय च कायमस्य ।
अवेक्षमाणा शनकैर्जगाम कृत्वाग्निहोत्रस्य तदापदेशम् ॥ १७ ॥
तदनन्तर ऋष्यशृङ्गको विकार सहित देख उनके शरीरको बारबार दबाकर उनकी ओर देखती हुई अग्निहोत्रका बहाना बना करके धीरे धीरे चली गई ॥ १७ ॥

तस्यां गतायां मदनेन मत्तो विचेतनश्चाभवदृष्यशृङ्गः ।
तामेव भावेन गतेन शून्यो विनिःश्वसन्नार्तरूपो बभूव ॥ १८ ॥
उसके जानेके बाद ऋष्यशृङ्ग कामदेवसे उन्मत्त होनेके कारण चेतनारहितसे हो गये। एकान्तमें बैठ करके केवल उसीका ध्यान करने लगे, और व्याकुल होकर लम्बी लम्बी सांस लेने लगे ॥ १८ ॥ ॥

ततो मुहूर्ताद्धरिपिङ्गलाक्षः प्रवेष्टितो रोमभिरा नखाग्रात् ।
स्वाध्यायवान्वृत्तसमाधियुक्तो विभाण्डकः काश्यपः प्रादुरासीत् ॥ १९ ॥
उसके थोडी देर बाद ही पिङ्गलवर्ण नेत्रवाले, नाखूनतक रोमोंसे घिरे हुए, वेदपाठी, समाधि साधनेवाले कश्यप मुनिके पुत्र विभाण्डक मुनि आये ॥ १९ ॥

सोऽपश्यदासीनमुपेत्य पुत्रं ध्यायन्तमेकं विपरीतचित्तम् ।
विनिःश्वसन्तं मुहुरूर्ध्वदृष्टिं विभाण्डकः पुत्रमुवाच दीनम् ॥ २० ॥
उन्होंने अपने पुत्रको उदासीन, विपरीत चित्तवाले, एकान्तमें बैठ ध्यान करते, बारबार सांसें लेते हुए केवल ऊपरकी तरफ दृष्टि लगाये हुए देखा, तब उस दीन पुत्रसे बोले ॥ २० ॥

न कल्प्यन्ते समिधः किं नु तात कच्चिद्धुतं चाग्निहोत्रं त्वयाद्य ।
सुनिर्णिक्तं स्रुक्स्रुवं होमधेनुः कच्चित्सवत्सा च कृता त्वयाद्य ॥ २१ ॥
हे पुत्र ! तुम आज समिधा क्यों नहीं लाते हो ? भला आज तुमने अग्निहोत्र तो किया न ? क्या आज तुमने स्रुक् और स्रुवेका स्पर्श नहीं किया ? क्या तुमने आज गौके पास बछडेको नहीं छोडा ? ॥ २१ ॥

न वै यथापूर्वमिवासि पुत्र चिन्तापरश्चासि विचेतनश्च ।
दीनोऽतिमात्रं त्वमिहाद्य किं नु पृच्छामि त्वां क इहाद्यागतोऽभूत् ॥२२॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि एकादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १११ ॥ ३९६६ ॥

हे पुत्र ! आज तुम पहलेके समान नहीं हो, तुम चेतनाहीन होकर चिन्तायुक्त दिखाई देते हो। आज तुम इतने दीन क्या हो ? मैं पूछता हूँ कि मेरे पीछे आज यहां कौन आया था ? ॥२२॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ ग्यारहवां अध्याय समाप्त ॥ १११ ॥ ३९६६ ॥

: ११२ :

ऋश्यशृंग उवाच

इहागतो जटिलो ब्रह्मचारी न वै ह्रस्वो नातिदीर्घो मनस्वी ।

सुवर्णवर्णः कमलायताक्षः सुतः सुराणामिव शोभमानः ॥ १ ॥

ऋश्यशृङ्ग बोले– यहां आज एक जटाधारी ब्रह्मचारी आया था, वह मनस्वी न बहुत लम्बा था और न बहुत छोटा था, उसका रङ्ग सोनेके समान, नेत्र कमलके समान थे, भूषणोंसे साक्षात् देवताके पुत्रके समान जान पडता था ॥ १ ॥

समृद्धरूपः सवितेव दीप्तः सुशुक्लकृष्णाक्षतरश्चकोरैः ।

नीलाः प्रसन्नाश्च जटाः सुगन्धा हिरण्यरज्जुग्रथिताः सुदीर्घाः ॥ २ ॥

वह महा रूपवान्, सूर्यके समान तेजस्वी था, उसकी आंखें सफेद पर तारा एकदम काला था,जटायें सुगन्धसे भरी काली, मनोहारी बहुत लम्बी और सोनेकी लडियोंसे गुथीं हुई थीं ॥ २ ॥

आधाररूपा पुनरस्य कण्ठे विभ्राजते विद्युदिवान्तरिक्षे ।

द्वौ चास्य पिण्डावधरेण कण्ठमजातरोमौ सुमनोहरौ च ॥ ३ ॥

उसके कण्ठमें एक भूषण ऐसा प्रकाशित होता था जैसे आकाशमें बिजली, और उसके गलेके नीचे हृदयमें दो पिण्ड थे वे बहुत मनोहर और रोमरहित थे ॥ ३ ॥

विलग्नमध्यश्च स नाभिदेशे कटिश्च तस्यातिकृतप्रमाणा ।

तथास्य चीरान्तरिता प्रभाति हिरण्मयी मेखला मे यथेयम् ॥ ४ ॥

उसका नाभिदेश बहुत ही सुन्दर था; उसकी कमर अत्यन्त पतली मानो शरीरमें थीही नहीं और उसके वस्त्रोंके भीतर एक सोनेकी करधनी अत्यन्त शोभित थी जैसी मेरी है ॥ ४ ॥

अन्यच्च तस्याद्भुतदर्शनीयं विकूजितं पादयोः संप्रभाति ।

पाण्योश्च तद्वत्स्वनवन्निबद्धौ कलापकावक्षमाला यथेयम् ॥ ५ ॥

और एक विचित्र वस्तु उसके पैरमें थी जिससे शब्द होता था, उसके हाथोंमें बजनेवाली नौगरी इस प्रकार शोभित होती थी, जैसी मेरी यह रुद्राक्ष माला ॥ ५ ॥

विचेष्टमानस्य च तस्य तानि कूजन्ति हंसा सरसीव मत्ताः ।

चीराणि तस्याद्भुतदर्शनानि नेमानि तद्वन्मम रूपवन्ति ॥ ६ ॥

जब वह चलता था तो वे सब भूषण ऐसे बजते थे, जैसे तालावमें मतवाले हंस बोलते हैं। उसके वस्त्र बहुत सुन्दर और अद्भुत दिखाई देते थे, ये मेरे वस्त्र उतने सुन्दर नहीं हैं ॥६॥

वक्त्रं च तस्याद्भुतदर्शनीयं प्रव्याहृतं ह्लादयतीव चेतः ।
पुंस्कोकिलस्येव च तस्य वाणी तां शृण्वतो मे व्यथितोऽन्तरात्मा ॥ ७ ॥
उसका मुख ऐसा सुन्दर और अद्भुत दिखाई देता था कि जिसको देखकर मेरा चित्त बहुत प्रसन्न हुआ, उसकी बोली कोकिलके समान मीठी थी, उसे सुनकर मेरा हृदय व्यथित हो गया ॥ ७ ॥

यथा वनं माधवमासि मध्ये समीरितं श्वसनेनाभिवाति ।
तथा स वात्युत्तमपुण्यगन्धी निषेव्यमाणः पवनेन तात ॥ ८ ॥
उसका श्वास ऐसा सुगन्धित था जैसे वसन्तऋतुकी वायु बहती है । हे तात ! वह ब्रह्मचारी उत्तम गन्ध और वायुसे सेवित होकर सुन्दर सुन्दर प्रतीत होता था ॥ ८ ॥

सुसंयताश्चापि जटा विभक्ता द्वैधीकृता भान्ति समा ललाटे ।
कर्णौ च चित्रैरिव चक्रवालैः समावृतौ तस्य सुरूपवद्भिः ॥ ९ ॥
उसकी जटा अत्यन्त उत्तम प्रकारसे संवारी हुई और माथेके सामनेसे दो भागमें दिखाई देती थी, उसके कान अत्यन्त रूपवाले दो आभूषण कुण्डलोंसे युक्त थे ॥ ९ ॥

तथा फलं वृत्तमथो विचित्रं समाहनत्पाणिना दक्षिणेन ।
तद्भूमिमासाद्य पुनः पुनश्च समुत्पतत्यद्भुतरूपमुच्चैः ॥ १० ॥
वह ब्रह्मचारी एक फलको दक्षिण हाथमें लेकर वारवार उसे फेंकता था और वह भूमिपर लगकर अद्भुत रूपसे बहुत ऊंचा उछलता था ॥ १० ॥

तच्चापि हत्वा परिवर्ततेऽसौ वातेरितो वृक्ष इवावघूर्णः ।
तं प्रेक्ष्य मे पुत्रमिवामराणां प्रीतिः परा तात रतिश्च जाता ॥ ११ ॥
हे तात ! उसको वारवार मारकर वह इस प्रकार कांपता था जैसे वायु लगनेसे वृक्ष कांपता है, उस देवोंके पुत्रके समान ब्रह्मचारीको देख मेरे हृदयमें परम प्रेम और आनन्द उत्पन्न हुआ है ॥ ११ ॥

स मे समाश्लिष्य पुनः शरीरं जटासु गृह्याभ्यवनाम्य वक्त्रम् ।
वक्त्रेण वक्त्रं प्रणिधाय शब्दं चकार तन्मेऽजनयत्प्रहर्षम् ॥ १२ ॥
उसने मेरे शरीरसे अपने शरीरको मिलाकर, मेरे मुंहको अपनी जटाओंमें छिपा दिया; तदनन्तर अपने मुखसे मेरे मुखको मिलकर कुछ शब्द कहा, उससे मुझको बहुत आनन्द हुआ ॥ १२ ॥

न चापि पाद्यं बहु मन्यतेऽसौ फलानि चेमानि मयाहृतानि ।
एवंव्रतोऽस्मीति च मामवोचत्फलानि चान्यानि नवान्यदान्मे ॥ १३ ॥
मैंने अपने द्वारा लाए हुए पाद्य और यह फल उसको दिये, परन्तु उसने ग्रहण नहीं किये, और मुझसे कहा, कि मैं व्रत करता हूँ, तदनन्तर उसने मुझको दूसरी कुछ खानेकी वस्तुयें दीं ॥ १३ ॥

मयोपयुक्तानि फलानि तानि नेमानि तुल्यानि रसेन तेषाम्।
न चापि तेषां त्वगियं यथैषां साराणि नैषामिव सन्ति तेषाम् ॥ १४ ॥

मेरे लाये हुए फल उसके फलोंके रसके समान नहीं हैं, जैसी उन फलोंकी छाल थी, ऐसी इन फलोंकी नहीं हैं और ये फल वैसे सारवाले नहीं हैं कि जैसे वे थे ॥ १४ ॥

तोयानि चैवातिरसानि मह्यं प्रादात्स वै पातुमुदाररूपः।
पीत्वैव यान्यभ्यधिकः प्रहर्षो ममाभवद्भूश्चलितेव चासीत् ॥ १५ ॥

उस सुन्दर रूपवाले ब्रह्मचारीने मुझको बहुत स्वादवाला जल पीनेको दिया, जिसके पीते ही मुझको अत्यन्त आनन्द हुआ और मुझे जान पडा, कि पृथ्वी चल रही है ॥ १५ ॥

इमानि चित्राणि च गन्धवन्ति माल्यानि तस्योद्ग्रथितानि पट्टैः।
यानि प्रकीर्येह गतः स्वमेव स आश्रमं तपसा द्योतमानः ॥ १६ ॥

उसने मुझको गन्धसे भरी हुई, रेशमकी डोरमें गुही हुई विचित्र रूपवाली मालायें दी हैं, जिन्हें यहां बिखराकर तपसे प्रकाशमान वह ब्रह्मचारी अपने आश्रमको चला गया ॥१६॥

गतेन तेनास्मि कृतो विचेता गात्रं च मे संपरितप्यतीव।
इच्छामि तस्यान्तिकमाशु गन्तुं तं चेह नित्यं परिवर्तमानम् ॥ १७ ॥

उसके जानेसे मेरा चित्त उन्मत्तके समान हो गया है, और शरीर जला जाता है, मेरी इच्छा है कि या तो मैं ही उसके आश्रमको शीघ्र चला जाऊं या वही यहां आकर सदा रहे ॥ १७ ॥

गच्छामि तस्यान्तिकमेव तात का नाम सा व्रतचर्या च तस्य।
इच्छाम्यहं चरितुं तेन सार्धं यथा तपः स चरत्युग्रकर्मा ॥ १८ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः॥ ११२ ॥ ३९८४ ॥

हे तात ! मैं अब उसके आश्रमको ही जाना चाहता हूं और यह जानना चाहता हूँ उसने कौनसा व्रतचर्य धारण किया हुआ है ? मेरी इच्छा है कि उस उग्रकर्मवाले ब्रह्मचारीके साथ रहकर वैसा ही तप मैं करूं जैसा वह करता है ॥ १८ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ बारहवां अध्याय समाप्त ॥ ११२ ॥ ३९८४ ॥

: ११३ :

विभाण्डक उवाच

रक्षांसि चैतानि चरन्ति पुत्र रूपेण तेनाद्भुतदर्शनेन ।
अतुल्यरूपाण्यतिघोरवन्ति विघ्नं सदा तपसश्चिन्तयन्ति ॥ १ ॥

विभाण्डक बोले— हे पुत्र ! अनेक राक्षस ऐसा ही अद्भुत रूप धारण करके वनोंमें घूमा करते हैं, वे लोग बहुत सुन्दर रूपवाले बहुत भयंकर और सदा तपस्यामें विघ्न करनेकी सोचते रहते हैं ॥ १ ॥

सुरूपरूपाणि च तानि तात प्रलोभयन्ते विविधैरुपायैः ।
सुखाच्च लोकाच्च निपातयन्ति तान्युग्रकर्माणि मुनीन्वनेषु ॥ २ ॥

हे तात ! वे परम सुन्दर रूपवाले राक्षस अनेक उपाय करके मुनियोंको लुभा लेते हैं, और उग्र कर्मवाले राक्षस वनोंमें मुनियोंको लालचमें फंसाकर उन्हें सुख और उत्तम लोकसे गिरा देते हैं ॥ २ ॥

न तानि सेवेत मुनिर्यतात्मा सतां लोकान्प्रार्थयानः कथंचित् ।
कृत्वा विघ्नं तापसानां रमन्ते पापाचारास्तपसस्तान्यपाप ॥ ३ ॥

स्थिर मनवाले, कल्याणकी इच्छा करनेवाले तथा सज्जनोंके द्वारा प्राप्त किए जानेवाले लोकोंकी इच्छा करनेवाले मुनि उनका सेवन न करें । हे निष्पाप पुत्र ! पापका आचरण करनेवाले वे राक्षस तपस्वियोंके तपमें विघ्न किया करते हैं ॥ ३ ॥

असज्जनेनाचरितानि पुत्र पापान्यपेयानि मधूनि तानि ।
माल्यानि चैतानि न वै मुनीनां स्मृतानि चित्रोज्ज्वलगन्धवन्ति ॥ ४ ॥

हे पुत्र ! यह जो तुमको उसने पीनेकी वस्तु तुम्हें दी थी, ये सब पापियोंके योग्य हैं, वह जल नहीं वरन् मद्य था, यह उत्तम गन्ध और परम प्रकाशवाली माला मुनियोंके योग्य नहीं है ॥ ४ ॥

लोमश उवाच

रक्षांसि तानीति निवार्य पुत्रं विभाण्डकस्तां मृगयांबभूव ।
नासादयामास यदा त्र्यहेण तदा स पर्यावधृतेऽऽश्रमाय ॥ ५ ॥

लोमश बोले— इस प्रकार वे तो राक्षस हैं, यह कहकर और अपने पुत्रके मनको उस स्त्रीसे हटाकर उसको ढूंढने लगे, जब तीन दिनतक ढूंढनेपर भी न पाया तो वे अपने आश्रमको चले आये ॥ ५ ॥

यदा पुनः काश्यपो वै जगाम फलान्याहर्तुं विधिना श्रामणेन ।
तदा पुनर्लोभयितुं जगाम सा वेशयोषा मुनिमृश्यशृङ्गम् ॥ ६ ॥
जब चौथे दिन विभाण्डक मुनि श्रमणकी विधिके अनुसार पुनः फल लेनेको चले गये, तब खूब सुन्दर वेष बनाकर वह वेश्या ऋश्यशृङ्ग मुनिको फिर लुभानेके निमित्त आश्रमपर आई ॥ ६ ॥

दृष्ट्वैव तामृश्यशृङ्गः प्रहृष्टः संभ्रान्तरूपोऽभ्यपतत्तदानीम् ।
प्रोवाच चैनां भवतोऽऽश्रमाय गच्छाव यावन्न पिता ममैति ॥ ७ ॥
उसको देखते ही ऋश्यशृङ्ग मुनि प्रसन्न हो गये और संभ्रान्त होकर उसी समय पृथ्वीपर गिर पडे और उससे कहने लगे कि जबतक मेरे पिता यहां न आवें, उससे पहले ही तुम और मैं तुम्हारे आश्रमको चले चलें ॥ ७ ॥

ततो राजन्काश्यपस्यैकपुत्रं प्रवेश्य योगेन विमुच्य नावम् ।
प्रलोभयन्त्यो विविधैरुपायैराजग्मुरङ्गाधिपतेः समीपम् ॥ ८ ॥
हे राजन् ! तदनन्तर उस वेश्याने काश्यपके इकलौते पुत्र ऋश्यशृङ्गको अपने साथ लेकर उस नावमें बिठा दिया और उनको अनेक उपायोंसे लुभाती हुई अंगदेशके राजा लोमपादके राज्यमें पहुंची ॥ ८ ॥

संस्थाप्य तामाश्रमदर्शने तु संतारितां नावमतीव शुभ्राम् ।
तीरादुपादाय तथैव चक्रे राजाश्रमं नाम वनं विचित्रम् ॥ ९ ॥
तदनन्तर उस श्वेत और सुन्दर नावको ऐसे स्थानपर खडा किया, जहांसे आश्रम दीखता था, उस नावको तीरपर ले जाकर उस विचित्र वनका नाम राजाश्रम रखा ॥ ९ ॥

अन्तःपुरे तं तु निवेश्य राजा विभाण्डकस्यात्मजमेकपुत्रम् ।
ददर्श देवं सहसा प्रवृष्टमापूर्यमाणं च जगज्जलेन ॥ १० ॥
राजा लोमपाद विभाण्डक मुनिके इकलौते पुत्र ऋश्यशृंगको अपने रनिवासमें ले गये और ऋश्यशृंगके घरमें घुसते ही राजाने देखा कि मेघसे आकाश ढक गया है और सब जगत् जलसे पूर्ण हो गया है ॥ १० ॥

स लोमपादः परिपूर्णकामः सुतां ददावृश्यशृङ्गाय शान्ताम् ।
क्रोधप्रतीकारकरं च चक्रे गोभिश्च मार्गेष्वभिकर्षणं च ॥ ११ ॥
तदनन्तर राजा लोमपादने सब काम सिद्ध होनेपर ऋश्यशृङ्ग मुनिको अपनी शान्ता नामक पुत्री दी और जिसमें उनका क्रोध शान्त हो, इसलिये अनेक गौ और वाहन दिये ॥ ११ ॥

विभाण्डकस्याव्रजतः स राजा पशून्प्रभूतान्पशुपांश्च वीरान् ।
समादिशत्पुत्रगृद्धी महर्षिर्विभाण्डकः परिपृच्छेद्यदा वः ॥ १२ ॥

तदनन्तर राजाने अनेक पशु देकर वीर और पशुपालोंसे कहा— कि जब पुत्रकी इच्छावाले विभाण्डक मुनि अपने आश्रमसे आकर तुमसे अपने पुत्रके समाचार पूछें ॥ १२ ॥

स वक्तव्यः प्राञ्जलिभिर्भवद्भिः पुत्रस्य ते पशवः कर्षणं च ।
किं ते प्रियं वै क्रियतां महर्षे दासाः स्म सर्वे तव वाचि बद्धाः ॥ १३ ॥

तो हाथ जोडकर कहना कि, हे भगवन् ! यह सब पशु और वाहन आपके पुत्रहीके हैं । हे महर्षे ! हम सब आपके दास और वचनसे बंधे हुए हैं, कहिये, आपका कौनसा काम करें ॥ १३ ॥

अथोपायात्स मुनिश्चण्डकोपः स्वमाश्रमं फलमूलानि गृह्य ।
अन्वेषमाणश्च न तत्र पुत्रं ददर्श चुक्रोध ततो भृशं सः ॥ १४ ॥

तदनन्तर महाक्रोधी विभाण्डक मुनि मूल और फल लेकर अपने आश्रमपर आकर अपने पुत्रको ढूंढने लगे, जब वहां पुत्रको न देखा, तो बडे क्रोधित हुए ॥ १४ ॥

ततः स कोपेन विदीर्यमाण आशङ्कमानो नृपतेर्विधानम् ।
जगाम चम्पां प्रदिधक्षमाणस्तमङ्गराजं विषयं च तस्य ॥ १५ ॥

उन्होंने क्रोधसे फटते हुए ऐसी शंका की कि अवश्य राजाने कुछ विधान किया है, उसी समय मुनिको क्रोध हो आया । तदनन्तर चम्पापुरी, अङ्गराज, अङ्गदेश और राजाके नगरोंको भस्म करनेकी इच्छासे चले ॥ १५ ॥

स वै श्रान्तः क्षुधितः काश्यपस्तान्घोषान्समासादितवान्समृद्धान् ।
गोपैश्च तैर्विधिवत्पूज्यमानो राजेव तां रात्रिमुवास तत्र ॥ १६ ॥

मार्गमें काश्यप मुनि अत्यन्त थक गये और भूखसे बहुत व्याकुल हो गये, तब ऋद्धियोंसे भरे हुए अनेक गोपालोंको देखा, उन ग्वालोंने उनकी राजाके समान पूजा की और विभाण्डक मुनि रातभर उन्हींके साथ वहां रहे ॥ १६ ॥

संप्राप्य सत्कारमतीव तेभ्यः प्रोवाच कस्य प्रथिताः स्थ सौम्याः ।
ऊचुस्ततस्तेऽभ्युपगम्य सर्वे धनं तवेदं विहितं सुतस्य ॥ १७ ॥

मुनीश्वरने उनसे अत्यन्त सत्कार पाकर पूछा— कि हे सौम्यो ! ये सब गौ और गोपाल किसके हैं ? उन्होंने पास जाकर कहा— कि यह सब धन आपहीका है, आपहीके पुत्रने उपार्जित किया है ॥ १७ ॥

×

ऋषिभिः समुपायुक्तं याज्ञियं गिरिशोभितम् ।
उत्तरं तीरमेतद्धि सततं द्विजसेवितम् ॥ ५ ॥

यह ऋषिसे युक्त और यज्ञीय पर्वतसे शोभित नदीका उत्तर तीर है, वह हमेशा ब्राह्मणोंसे सेवित होता है ॥ ५ ॥

समेन देवयानेन पथा स्वर्गमुपेयुषः ।
अत्र वै ऋषयोऽन्येऽपि पुरा क्रतुभिरीजिरे ॥ ६ ॥

यह स्वर्ग जानेवाले पुरुषोंके लिए विमानके समान है, इसी स्थानपर पहले भी अनेक दूसरे ऋषियोंने अनेक यज्ञ किये थे ॥ ६ ॥

अत्रैव रुद्रो राजेन्द्र पशुमादत्तवान्मखे ।
रुद्रः पशुं मानवेन्द्र भागोऽयमिति चाब्रवीत् ॥ ७ ॥

हे राजेन्द्र ! यहींपर शिवजीने यज्ञके निमित्त पशुका हरण किया था और, हे राजन् ! उस पशुको लेकर शिवजीने कहा– कि यह हमारा भाग है ॥ ७ ॥

हृते पशौ तदा देवास्तमूचुर्भरतर्षभ ।
मा परस्वमभिद्रोग्धा मा धर्मान्सकलान्नशीः ॥ ८ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! जब वह पशु हर लिया गया तो देवताओंने शिवजीसे कहा– कि तुम दूसरे धनको अपना मत बतलाओ और इस प्रकार सब धर्मको नष्ट मत करो ॥ ८ ॥

ततः कल्याणरूपाभिर्वाग्भिस्ते रुद्रमस्तुवन् ।
इष्ट्या चैनं तर्पयित्वा मानयाञ्चक्रिरे तदा । ॥ ९ ॥

तदनन्तर सब देवताओंने कल्याणकारी स्तोत्रोंसे शिवजीकी स्तुति की; और देवताओंने इष्टिसे उनका तर्पण करके उनका सम्मान किया ॥ ९ ॥

ततः स पशुमुत्सृज्य देवयानेन जग्मिवान् ।
अत्रानुवंशो रुद्रस्य तं निबोध युधिष्ठिर ॥ १० ॥

तब वे उस पशुको छोडकर विमानपर चढकर चले गए। मैं यहां रुद्रके अनुवंशकी बात कहता है, उसे सुनो ॥ १० ॥

अयातयामं सर्वेभ्यो भागेभ्यो भागमुत्तमम् ।
देवाः संकल्पयामासुर्भयाद्रुद्रस्य शाश्वतम् ॥ ११ ॥

तबसे देवताओंने शिवके भयसे यह सङ्कल्प किया कि शिवजीको सब भागोंमेंसे उत्तमसे उत्तम भाग दिया करें ॥ ११ ॥

इमां गाथामत्र गायन्नपः स्पृशति यो नरः ।
देवयानस्तस्य पन्थाश्चक्षुश्चैव प्रकाशते ॥ १२ ॥

इस स्थानमें जो पुरुष इस कथाको कहकर जलको छूता है, उसको देवलोकका मार्ग आंखोंसे प्रत्यक्ष हो जाता है ॥ १२ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो वैतरणीं सर्वे पाण्डवा द्रौपदी तथा ।
अवतीर्य महाभाग तर्पयाञ्चक्रिरे पितॄन् ॥ १३ ॥

वैशम्पायन बोले– तदनन्तर द्रौपदीके सहित महाभाग पाण्डव वैतरणीके पार उतरकर पितरोंका तर्पण करने लगे ॥ १३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

उपस्पृश्यैव भगवन्नस्यां नद्यां तपोधन ।
मानुषादस्मि विषयादपेतः पश्य लोमश ॥ १४ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे तपोधन लोमश ! देखिये, मै इस नदीके जलको स्पर्श करते ही मनुष्यके स्वभावसे छूट गया ॥ १४ ॥

सर्वाँल्लोकान्प्रपश्यामि प्रसादात्तव सुव्रत ।
वैखानसानां जपतामेष शब्दो महात्मनाम् ॥ १५ ॥

हे सुव्रत ! अब आपकी कृपासे मुझे सब लोक दीखने लग गए हैं। जप करनेवाले महात्मा वैखानस मुनियोंका शब्द सुनाई देता है ॥ १५ ॥

लोमश उवाच

त्रिशतं वै सहस्राणि योजनानां युधिष्ठिर ।
यत्र ध्वनिं शृणोष्येनं तूष्णीमास्स्व विशां पते ॥ १६ ॥

लोमश बोले– हे युधिष्ठिर ! हे पृथ्वीनाथ ! जो शब्द आपको सुनाई देता है, वह यहांसे तीन लाख योजनपर हो रहा है, अतएव आप चुप रहिये ॥ १६ ॥

एतत्स्वयंभुवो राजन्वनं रम्यं प्रकाशते ।
यत्रायजत कौन्तेय विश्वकर्मा प्रतापवान् ॥ १७ ॥

हे पृथ्वीनाथ ! हे कौन्तेय ! यह जो सुन्दर वन दिखाई दे रहा है, ब्रह्माका है । इसीमें प्रतापवान् विश्वकर्माने यज्ञ किया था ॥ १७ ॥

यस्मिन्यज्ञे हि भूर्दत्ता कश्यपाय महात्मने ।
सपर्वतवनोद्देशा दक्षिणा वै स्वयंभुवा ॥ १८ ॥

उसी यज्ञमें ब्रह्माने महात्मा कश्यपको पर्वत और वनोंके सहित पृथ्वी दक्षिणामें दे दी थी ॥ १८ ॥

अवासीदच्च कौन्तेय दत्तमात्रा मही तदा।
उवाच चापि कुपिता लोकेश्वरमिदं प्रभुम् ॥ १९ ॥

हे कुन्तीनन्दन ! कश्यप मुनिके पास जाते ही पृथ्वी रोने लगी और क्रोध करके लोकेश्वर ब्रह्मासे यह बोली ॥ १९ ॥

न मां मर्त्याय भगवन्कस्मैचिद्दातुमर्हसि।
प्रदानं मोघमेतत्ते यास्याम्येषा रसातलम् ॥ २० ॥

हे भगवन् ! आप मुझको किसी पुरुषको मत दीजिये, आपका यह दान व्यर्थ है, यह मैं रसातलको चली जाऊंगी ॥ २० ॥

विषीदन्तीं तु तां दृष्ट्वा कश्यपो भगवानृषिः।
प्रसादयाम्बभूवाथ ततो भूमिं विशां पते ॥ २१ ॥

हे पृथ्वीनाथ ! तब पृथ्वीको खिन्न होते हुए देख भगवान् कश्यप मुनि उस भूमिको प्रसन्न करने लगे ॥ २१ ॥

ततः प्रसन्ना पृथिवी तपसा तस्य पाण्डव।
पुनरुन्मज्ज्य सलिलाद्वेदीरूपा स्थिता बभौ ॥ २२ ॥

हे पाण्डव ! तब पृथ्वी उनके तपसे प्रसन्न होकर पुनः जलसे निकली और यज्ञकी वेदीके समान शोभित होने लगी ॥ २२ ॥

सैषा प्रकाशते राजन्वेदी संस्थानलक्षणा।
आरुह्यात्र महाराज वीर्यवान्वै भविष्यसि ॥ २३ ॥

हे राजन् ! इसीलिये यहां पृथ्वी वेदीके समान दीखती है आप इसपर बैठिये तो आप बहुत बलशाली हो जायेंगे ॥ २३ ॥

अहं च ते स्वस्त्ययनं प्रयोक्ष्ये यथा त्वमेनामधिरोक्ष्यसेऽद्य।
स्पृष्टा हि मर्त्येन ततः समुद्रमेषा वेदी प्रविशत्याजमीढ ॥ २४ ॥

मैं आपके लिए ऐसा स्वस्ति मन्त्र पढूंगा, कि जिससे आप इसके ऊपर बैठ सकें। हे आजमीढ ! यह वेदी पुरुषके छूनेहीसे समुद्रमें चली जाती है ॥ २४ ॥

अग्निर्मित्रो योनिरापोऽथ देव्यो विष्णो रेतस्त्वममृतस्य नाभिः।
एवं ब्रुवन्पाण्डव सत्यवाक्यं वेदीमिमां त्वं तरसाधिरोह ॥ २५ ॥

अग्नि, मित्र, योनि, जल, देवी, विष्णु ये सब अमृतकी नाभी हैं। हे पाण्डव ! आप इस सत्य वाक्यको पढकर इस वेदीपर जल्दीसे बैठिये ॥ २५ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः कृतस्वस्त्ययनो महात्मा युधिष्ठिरः सागरगामगच्छत् ।
कृत्वा च तच्छासनमस्य सर्वं महेन्द्रमासाद्य निशामुवास ॥ २६ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११४ ॥ ४०२५ ॥

वैशम्पायन बोले— तदनन्तर महात्मा युधिष्ठिर स्वस्ति मन्त्र सुनकर समुद्रमें जानेवाली नदीपर गये और लोमशकी सभी आज्ञाओंका पालन करनेके बाद महेन्द्र पर्वतपर एक रात्रि रहे ॥ २६ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ चौदहवां अध्याय समाप्त ॥ ११४ ॥ ४०२५ ॥

११५

वैशम्पायन उवाच

स तत्र तामुषित्वैकां रजनीं पृथिवीपतिः ।
तापसानां परं चक्रे सत्कारं भ्रातृभिः सह ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— राजा युधिष्ठिरने वहां एक रात वास करके भाइयोंके साथ तपस्वियोंका बहुत सत्कार किया ॥ १ ॥

लोमशश्चास्य तान्सर्वानाचख्यौ तत्र तापसान् ।
भृगूनङ्गिरसश्चैव वासिष्ठानथ काश्यपान् ॥ २ ॥

लोमश मुनिने युधिष्ठिरसे वहांपर भृगुवंशी, अंगिरावंशी, वसिष्ठवंशी और कश्यपवंशी ऋषियोंका वर्णन किया ॥ २ ॥

तान्समेत्य स राजर्षिरभिवाद्य कृताञ्जलिः ।
रामस्यानुचरं वीरमपृच्छदकृतव्रणम् ॥ ३ ॥

उन ऋषियोंके पास जाकर राजर्षि युधिष्ठिरने हाथ जोडकर प्रणाम किया । परशुरामके अनुचर वीर अकृतव्रणसे कुशल प्रश्न किया ॥ ३ ॥

कदा नु रामो भगवांस्तापसान्दर्शयिष्यति ।
तेनैवाहं प्रसङ्गेन द्रष्टुमिच्छामि भार्गवम् ॥ ४ ॥

भगवान् परशुराम अपना दर्शन ऋषियोंको कब करायेंगे ? उसी अवसरपर मैं भी भृगुवंशी रामके दर्शन करना चाहता हूं ॥ ४ ॥

अकृतव्रण उवाच

आयानेवासि विदितो रामस्य विदितात्मनः।

प्रीतिस्त्वयि च रामस्य क्षिप्रं त्वां दर्शयिष्यति ॥ ५ ॥

अकृतव्रण बोले– अन्तर्यामी भगवान् परशुरामने आपको आते हुए जान लिया है, आपमें परशुरामकी बडी प्रीति है, वह आपको शीघ्र ही दर्शन देंगे ॥ ५ ॥

चतुर्दशीमष्टमीं च रामं पश्यन्ति तापसाः।

अस्यां रात्र्यां व्यतीतायां भवित्री च चतुर्दशी ॥ ६ ॥

चतुर्दशी और अष्टमीको ऋषिलोग परशुरामका दर्शन करते हैं, आजकी रात्रि बीतनेपर कल चतुर्दशी होगी ॥ ६ ॥

युधिष्ठिर उवाच

भवाननुगतो वीरं जामदग्न्यं महाबलम्।

प्रत्यक्षदर्शी सर्वस्य पूर्ववृत्तस्य कर्मणः ॥ ७ ॥

युधिष्ठिर बोले– आप महाबलवान् जमदग्नि-पुत्र परशुरामके पीछे चलनेवाले हैं, आपने उनके पहले किए हुए कर्मोंको प्रत्यक्ष देखा है ॥ ७ ॥

स भवान्कथयत्वेतद्यथा रामेण निर्जिताः।

आहवे क्षत्रियाः सर्वे कथं केन च हेतुना ॥ ८ ॥

अतः आप अब यह कहिये कि परशुरामने क्षत्रियोंको युद्धमें क्यों और कैसे जीता ? ॥८॥

अकृतव्रण उवाच

कन्यकुब्जे महानासीत्पार्थिवः सुमहाबलः।

गाधीति विश्रुतो लोके वनवासं जगाम सः ॥ ९ ॥

अकृतव्रण बोले– हे युधिष्ठिर! एक समय एक महाबली राजा कन्नौज देशमें शासन करते थे। जिनका गाधी नाम जगत्में प्रसिद्ध था। वह राजा वनमें रहनेके लिए गये ॥ ९ ॥

वने तु तस्य वसतः कन्या जज्ञेऽप्सरःसमा।

ऋचीको भार्गवस्तां च वरयामास भारत ॥ १० ॥

और वनमें रहते हुए ही उनके अप्सराके समान सुन्दर एक कन्या उत्पन्न हुई, हे भारत! भृगुवंशी ऋचीकने उस कन्याको राजासे मांगा ॥ १० ॥

तमुवाच ततो राजा ब्राह्मणं संशितव्रतम्।

उचितं नः कुले किंचित्पूर्वैर्यत्संप्रवर्तितम् ॥ ११ ॥

तब गाधी उस व्रतशील ब्राह्मणसे बोले– हमारे पूर्वजोंने हमारे कुलके अनुसार रीति बांध दी है ॥ ११ ॥

एकतः श्यामकर्णानां पाण्डुराणां तरस्विनाम् ।
सहस्रं वाजिनां शुल्कमिति विद्धि द्विजोत्तम ॥ १२ ॥

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ! एक तरफसे काले कानवाले तथा सफेद और वेगवान् एक हजार घोडे इस कन्याके शुल्करूप हैं, ऐसा आप समझें ॥ १२ ॥

न चापि भगवान्वाच्यो दीयतामिति भार्गव ।
देया मे दुहिता चेयं त्वद्विधाय महात्मने ॥ १३ ॥

हे भृगुपुत्र! परंतु मैं आपसे यह कह भी नहीं सकता कि आप यह शुल्क दीजिए। तथापि यह कन्या आप जैसे महात्माको ही देनी है ॥ १३ ॥

ऋचीक उवाच

एकतः श्यामकर्णानां पाण्डुराणां तरस्विनाम् ।
दास्याम्यश्वसहस्रं ते मम भार्या सुतास्तु ते ॥ १४ ॥

ऋचीक बोले– कि मैं आपको एक ओरसे काले कानोंवाले, श्वेतवर्ण और वेगवान् एक हजार घोडे दूंगा, आपकी कन्या मेरी स्त्री हो ॥ १७ ॥

अकृतव्रण उवाच

स तथेति प्रतिज्ञाय राजन्वरुणमब्रवीत् ।
एकतः श्यामकर्णानां पाण्डुराणां तरस्विनाम्
सहस्रं वाजिनामेकं शुल्कार्थं मे प्रदीयताम् ॥ १५ ॥
तस्मै प्रादात्सहस्रं वै वाजिनां वरुणस्तदा ।
तदश्वतीर्थं विख्यातमुत्थिता यत्र ते हयाः ॥ १६ ॥

अकृतव्रण बोले– हे युधिष्ठिर! ऐसी प्रतिज्ञा करके ऋचीकने वरुणसे जाकर कहा– कि एक हजार पाण्डु रङ्गके एक ओर श्यामकर्णवाले वेगवान् घोडे शुल्कके लिए मुझे दीजिये। वरुणने ऋचीकको एक हजार श्यामकर्णवाले घोडे दिये। कन्नौज देशमें गङ्गाके तटपर जहां वे घोडे आकर खडे हुए, उसका नाम अश्वतीर्थ हुआ ॥ १५-१६ ॥

गङ्गायां कन्यकुब्जे वै ददौ सत्यवतीं तदा ।
ततो गाधिः सुतां तस्मै जन्याश्चासन्सुरास्तदा ।
लब्ध्वा हयसहस्रं तु तांश्च दृष्ट्वा दिवौकसः ॥ १७ ॥

ऋषि ऋचीककी बारातमें देवगण भी आए। तब उन देवोंको आया हुआ देखकर तथा एक हजार घोडे पाकर राजा गाधिने कन्नौजमें गंगाके किनारे अपनी सत्यवती नामक कन्या ऋचीकको दे दी ॥ १७ ॥

धर्मेण लब्ध्वा तां भार्यामृचीको द्विजसत्तमः ।
यथाकामं यथाजोषं तया रेमे सुमध्यया ॥ १८ ॥

मुनिश्रेष्ठ ऋचीक धर्मपूर्वक उस कन्यासे विवाह करके उस सुन्दरीके साथ स्वेच्छासे विहार करने लगे ॥ १८ ॥

तं विवाहे कृते राजन्सभार्यमवलोककः ।
आजगाम भृगुश्रेष्ठः पुत्रं दृष्ट्वा ननन्द च ॥ १९ ॥

हे राजन् ! भृगुवंशश्रेष्ठ भृगुमुनिने जब सुना कि ऋचीकका ब्याह हो गया, तो वे उनको देखनेकी इच्छासे वहां आये और अपने पुत्रको स्त्रीके सहित देखकर बहुत प्रसन्न हुए ॥१९॥

भार्यापती तमासीनं गुरुं सुरगणार्चितम् ।
अर्चित्वा पर्युपासीनौ प्राञ्जली तस्थतुस्तदा ॥ २० ॥

जब ऋचीक मुनिने देखा कि हमारे पिता आये हैं, तो दोनों स्त्री पुरुष खडे हो गये और प्रीतिके सहित देवोंके द्वारा पूजित पिताकी पूजा की; उनको बिठलाकर दोनों हाथ जोडकर खडे हो गए ॥ २० ॥

ततः स्नुषां स भगवान्प्रहृष्टो भृगुरब्रवीत् ।
वरं वृणीष्व सुभगे दाता ह्यस्मि तवेप्सितम् ॥ २१ ॥

तब भगवान् भृगुमुनिने प्रसन्न होकर बहूसे कहा– हे सुभगे ! तुम्हारी जो इच्छा हो हमसे वही वरदान मांगो, मैं तुम्हारी अभिलाषा पूरी करूंगा ॥ २१ ॥

सा वै प्रसादयामास तं गुरुं पुत्रकारणात् ।
आत्मनश्चैव मातुश्च प्रसादं च चकार सः ॥ २२ ॥

तब सत्यवतीने अपने और अपनी माताकी पुत्रप्राप्तिके लिए अपने श्वसुरको प्रसन्न किया और भृगुने भी उसपर अपनी कृपादृष्टि की ॥ २२ ॥

भृगुरुवाच

ऋतौ त्वं चैव माता च स्नाते पुंसवनाय वै ।
आलिङ्गेतां पृथग्वृक्षौ साश्वत्थं त्वमुदुम्बरम् ॥ २३ ॥

भृगुमुनि बोले– जिस दिन तुम्हारा और तुम्हारी माताका ऋतुस्नान हो और पुंसवनका दिन आवे, उस दिन तुम्हारी माता पीपलका और तुम गूलरके वृक्षका आलिंगन करना ॥ २३ ॥

आलिङ्गने तु ते राजंश्चक्रतुः स्म विपर्ययम् ।
कदाचिद्भृगुरागच्छत्तं च वेद विपर्ययम् ॥ २४ ॥

पर ऋतुकालके आनेपर वे दोनों एक दूसरेके उलटे वृक्षसे लिपट गईं । तदनन्तर भगवान् भृगु एक दिन आए और दिव्यदृष्टिसे उन्होंने यह विपरीत बात जान ली ॥ २४ ॥

अथोवाच महातेजा भृगुः सत्यवतीं स्नुषाम् ।
ब्राह्मणः क्षत्रवृत्तिर्वै तव पुत्रो भविष्यति ॥ २५ ॥

महातेजस्वी भगवान् भृगुने अपनी पुत्रवधू सत्यवतीसे कहा कि– तुम्हारा पुत्र होगा तो ब्राह्मण, परन्तु उसकी वृत्ति क्षत्रियोंकी ऐसी होगी ॥ २५ ॥

क्षत्रियो ब्राह्मणाचारो मातुस्तव सुतो महान् ।
भविष्यति महावीर्यः साधूनां मार्गमास्थितः ॥ २६ ॥

और तुम्हारी माताका पुत्र एक महान् क्षत्रिय होकर भी ब्राह्मणके धर्मका पालन करेगा, यद्यपि वह महाबलवान् होगा परन्तु कर्म साधुओंका करेगा ॥ २६ ॥

ततः प्रसादयामास श्वशुरं सा पुनः पुनः ।
न मे पुत्रो भवेदीदृक् कामं पौत्रो भवेदिति ॥ २७ ॥

तब सत्यवतीने अपने श्वसुरको बारबार प्रसन्न किया और कहा– कि हे भगवन् ! चाहे मेरा पोता ऐसा ही हो, परन्तु पुत्र ऐसा न हो ॥ २७ ॥

एवमस्त्विति सा तेन पाण्डव प्रतिनन्दिता ।
जमदग्निं ततः पुत्रं सा जज्ञे काल आगते ।
तेजसा वर्चसा चैव युक्तं भार्गवनन्दनम् ॥ २८ ॥

हे पाण्डव ! भृगुने कहा कि ऐसा ही होगा। तब सत्यवती बहुत प्रसन्न हुई। समय आनेपर सत्यवतीने पुत्र उत्पन्न किया, उसका नाम जमदग्नि हुआ । भृगुवंशका आनन्द बढानेवाला वह पुत्र परम तेजस्वी और वीर्यवान् हुआ ॥ २८ ॥

स वर्धमानस्तेजस्वी वेदस्याध्ययनेन वै ।
बहूनृषीन्महातेजाः पाण्डवेयात्यवर्तत ॥ २९ ॥

हे पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर ! अत्यन्त तेजस्वी होकर बढते हुए जमदग्नि वेदोंके अध्ययनमें बहुतसे ऋषियोंसे आगे बढ गए ॥ २९ ॥

तं तु कृत्स्नो धनुर्वेदः प्रत्यभाद्भरतर्षभ ।
चतुर्विधानि चास्त्राणि भास्करोपमवर्चसम् ॥ ३० ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११५ ॥ ४०६५ ॥

हे भरतकुलसिंह ! सूर्यके समान तेजस्वी उन्हें समस्त धनुर्वेद प्राप्त हो गए और चारों प्रकारके अस्त्रोंकी विद्या भी उन्हें साक्षात् हो गई ॥ ३० ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ पन्द्रहवां अध्याय समाप्त ॥ ११५ ॥ ४०६५ ॥

: ११६ :

अकृतव्रण उवाच

स वेदाध्ययने युक्तो जमदग्निर्महातपाः ।
तपस्तेपे ततो देवान्नियमाद् वशमानयत् ॥ १ ॥

अकृतव्रण बोले– वेदोंके अध्ययनमें रत रहनेवाले महातपस्वी जमदग्निने महान् तप किया और अपने व्रतके बलसे देवोंको अपने वशमें कर लिया ॥ १ ॥

स प्रसेनजितं राजन्नधिगम्य नराधिपम् ।
रेणुकां वरयामास स च तस्मै ददौ नृपः ॥ २ ॥

तदनन्तर हे राजन् ! वे प्रसेनजित् नामक राजाके यहां गये; वहां जाकर उन्होंने राजाकी पुत्री रेणुकाको वरा और राजाने भी अपनी पुत्री जमदग्निको दे दी ॥ २ ॥

रेणुकां त्वथ संप्राप्य भार्यां भार्गवनन्दनः ।
आश्रमस्थस्तया सार्धं तपस्तेपेऽनुकूलया ॥ ३ ॥

भार्गवपुत्र जमदग्नि रेणुका स्त्रीको प्राप्त करके अपने आश्रमपर आये और आज्ञाकारिणी स्त्रीके सहित तप करने लगे ॥ ३ ॥

तस्याः कुमाराश्चत्वारो जज्ञिरे रामपञ्चमाः ।
सर्वेषामजघन्यस्तु राम आसीज्जघन्यजः ॥ ४ ॥

रेणुकाके गर्भसे चार पुत्र हुए और परशुराम पांचवें थे । परशुराम उन सबमें छोटे होनेपर भी गुणोंमें सबसे बडे थे ॥ ४ ॥

फलाहारेषु सर्वेषु गतेष्वथ सुतेषु वै ।
रेणुका स्नातुमगमत्कदाचिन्नियतव्रता ॥ ५ ॥

एक समय जब सब लडके वनको फल लेनेके लिये चले गये, तब व्रतधारिणी रेणुका स्नान करनेको गई ॥ ५ ॥

सा तु चित्ररथं नाम मार्तिकावतकं नृपम् ।
ददर्श रेणुका राजन्नागच्छन्ती यदृच्छया ॥ ६ ॥

वहांपर मृतिकावतके पुत्र राजा चित्ररथको अपनी इच्छासे आती हुई रेणुकाने देख लिया ॥ ६ ॥

क्रीडन्तं सलिले दृष्ट्वा सभार्यं पद्ममालिनम् ।
ऋद्धिमन्तं ततस्तस्य स्पृहयामास रेणुका ॥ ७ ॥

चित्ररथको पद्ममाला धारण किये स्त्रियोंके सहित इच्छानुसार जलमें क्रीडा करते देख और उसको अत्यन्त धनवान् देख रेणुकाकी इच्छा उससे व्यभिचार करनेकी हुई ॥ ७ ॥

व्यभिचारात्तु सा तस्मात्क्लिन्नाम्भसि विचेतना ।
प्रविवेशाश्रमं त्रस्ता तां वै भर्तान्वबुध्यत ॥ ८ ॥

उसको देखते ही व्यभिचारकी भावनासे रेणुका जलहीमें स्खलित होकर चेतनारहितसी हो गई। तदनन्तर डरसे कांपती हुई वह अपने आश्रमको आई, पर यह सब बातें उसके पतिने जान लीं ॥ ८ ॥

स तां दृष्ट्वा च्युतां धैर्याद्ब्राह्म्या लक्ष्म्या विवर्जिताम् ।
धिक्शब्देन महातेजा गर्हयामास वीर्यवान् ॥ ९ ॥

महातेजस्वी वीर्यवान् जमदग्निने उसको धैर्यसे च्युत होनेके कारण ब्रह्मतेज और वीर्यसे रहित देखकर धिक्कारके शब्दोंमें उसकी बहुत निन्दा की ॥ ९ ॥

ततो ज्येष्ठो जामदग्न्यो रुमण्वान्नाम नामतः ।
आजगाम सुषेणश्च वसुर्विश्वावसुस्तथा ॥ १० ॥

उसी समय रेणुकाका बडा पुत्र रुमण्वान् आया, उसके पीछे सुषेण, वसु और विश्वावसु भी आ गये ॥ १० ॥

तानानुपूर्व्याद्भगवान्वधे मातुरचोदयत् ।
न च ते जातसंमोहाः किंचिदूचुर्विचेतसः ॥ ११ ॥

भगवान् जमदग्निने उन सबको क्रमसे रेणुकाको मारनेकी आज्ञा दी, परन्तु उन सब अविचारियोंने माताके मोहसे कुछ भी उत्तर न दिया ॥ ११ ॥

ततः शशाप तान्कोपात्ते शपाश्चेतनां जहुः ।
मृगपक्षिसधर्माणः क्षिप्रमासञ्जडोपमाः ॥ १२ ॥

तब भगवान् जमदग्निने क्रोधसे उन सबको शाप दिया । शाप सुनते ही वे सब चेतनारहित हो गए और मृग और पक्षियोंके समान मूर्ख हो गये ॥ १२ ॥

ततो रामोऽभ्यगात्पश्चादाश्रमं परवीरहा ।
तमुवाच महामन्युर्जमदग्निर्महातपाः ॥ १३ ॥

उसी समय शत्रुओंके नाश करनेवाले परशुराम आश्रममें पहुंचे, महातपस्वी महाक्रोधी जमदग्निने उनसे कहा ॥ १३ ॥

जहीमां मातरं पापां मा च पुत्र व्यथां कृथाः ।
तत आदाय परशुं रामो मातुः शिरोऽहरत् ॥ १४ ॥

कि, हे पुत्र ! अपनी इस पापिनी माताको मार डालो और इसका कुछ भी दुःख मत करो। परशुरामने उसी समय फरसा लेकर अपनी माताका सिर काट डाला ॥ १४ ॥

ततस्तस्य महाराज जमदग्नेर्महात्मनः ।
कोपो अगच्छत्सहसा प्रसन्नश्चाब्रवीदिदम् ॥ १५ ॥

हे महाराज ! यह देखकर महात्मा जमदग्निका क्रोध उसी समय शान्त हो गया और प्रसन्न होकर यह बोले ॥ १५ ॥

अमेदं वचनात्तात कृतं ते कर्म दुष्करम् ।
वृणीष्व कामान्धर्मज्ञ यावतो वाञ्छसे हृदा ॥ १६ ॥

हे तात ! हे धर्मज्ञ ! तुमने मेरे वचनसे यह दुष्कर्म कर्म किया है, इसलिये तुम्हारे हृदयमें जितनी इच्छा हो उतना वरदान मुझसे मांगो ॥ १६ ॥

स वव्रे मातुरुत्थानमस्मृतिं च वधस्य वै ।
पापेन तेन चास्पर्शं भ्रातॄणां प्रकृतिं तथा ॥ १७ ॥

परशुरामने अपने पितासे यह वरदान मांगे कि हमारी माता जी जाये, उसको मेरे मारनेका स्मरण न रहे, उस पापसे माता संयुक्त न हो और भाई भी पहले जैसी अवस्थाको प्राप्त हो जाएं ॥ १७ ॥

अप्रतिद्वन्द्वतां युद्धे दीर्घमायुश्च भारत ।
ददौ च सर्वान्कामांस्ताञ्जमदग्निर्महातपाः ॥ १८ ॥

युद्धमें मेरे समान कोई वीर न हो, और मेरी आयु दीर्घ हो । हे भारत ! महातपस्वी जमदग्निने प्रसन्न होकर परशुरामको ये सब वरदान दिये ॥ १८ ॥

कदाचित्तु तथैवास्य विनिष्क्रान्ताः सुताः प्रभो ।
अथानूपपतिर्वीरः कार्तवीर्योऽभ्यवर्तत ॥ १९ ॥

हे पृथ्वीनाथ ! किसी दिन इन जमदग्निके पुत्र फिर ऐसे ही वनको चले गये थे, उसी समय अनूप देशका राजा वीर कृतवीर्यका पुत्र वहां आया ॥ १९ ॥

तमाश्रमपदं प्राप्तमृषेर्भार्या समर्चयत् ।
स युद्धमदसंमत्तो नाभ्यनन्दत्तथार्चनम् ॥ २० ॥

उसके आश्रमपर पहुंचनेपर रेणुकाने उसकी पूजा की, परन्तु वह युद्धके मदसे उन्मत्त था, इसलिये उस पूजाका उसने अभिनन्दन नहीं किया ॥ २० ॥

प्रमथ्य चाश्रमात्तस्माद्धोमधेन्वास्तदा बलात् ।
जहार वत्सं क्रोशन्त्या बभञ्ज च महाद्रुमान् ॥ २१ ॥

उसने उस आश्रमके बडे बडे वृक्षोंको तोड डाला, भूमिको नष्टभ्रष्ट कर दिया । कार्त्तवीर्यने अपने बलसे उनके यज्ञीय गौके बछडेको गौके बडा आक्रोश करनेपर भी छीन लिया ॥ २१ ॥

आगताय च रामाय तदाचष्ट पिता स्वयम् ।
गां च रोरूयतीं दृष्ट्वा कोपो रामं समाविशत् ॥ २२ ॥

जब परशुराम अपने आश्रमपर आये तो जमदग्निने सब कथा कह सुनाई । परशुराम बार बार चिल्लाती हुई गौको देखकर महाक्रोधित हुए ॥ २२ ॥

स मन्युवशमापन्नः कार्तवीर्यमुपाद्रवत् ।
तस्याथ युधि विक्रम्य भार्गवः परवीरहा ॥ २३ ॥

तब मन्युके वशमें होकर शत्रुनाशक भृगुपुत्र परशुराम युद्धमें विक्रम करके कार्तवीर्यके पीछे दौड़े ॥ २३ ॥

चिच्छेद निशितैर्भल्लैर्बाहून्परिघसंनिभान् ।
सहस्रसंमितान्राजन्प्रगृह्य रुचिरं धनुः ॥ २४ ॥

और, हे राजन् ! सुन्दर धनुष लेकर परशुरामने तीक्ष्ण बाणोंसे कार्तवीर्यके परिघके समान हजार हाथोंको काट डाला ॥ २४ ॥

अर्जुनस्याथ दायादा रामेण कृतमन्यवः ।
आश्रमस्थं विना रामं जमदग्निमुपाद्रवन् ॥ २५ ॥

हे राजन् ! इसके पश्चात् अर्जुनके वंशवाले क्षत्रिय परशुरामसे वैर रखने लगे । एक दिन परशुरामकी अनुपस्थितिमें उन लोगोंने आश्रममें आकर परशुरामके पिता जमदग्निपर हमला कर दिया ॥ २५ ॥

ते तं जघ्नुर्महावीर्यमयुध्यन्तं तपस्विनम् ।
असकृद्राम रामेति विक्रोशन्तमनाथवत् ॥ २६ ॥

और उन्होंने तपस्वी, तेजस्वी, वीर्यवान् और युद्ध न करनेवाले तथा अनाथके समान बारबार परशुरामका नाम लेकर चिल्लानेवाले जमदग्निको मार डाला ॥ २६ ॥

कार्तवीर्यस्य पुत्रास्तु जमदग्निं युधिष्ठिर ।
घातयित्वा शरैर्जग्मुर्यथागतमरिन्दमाः ॥ २७ ॥

हे युधिष्ठिर ! शत्रुनाशक कार्तवीर्य अर्जुनके पुत्र अपने बाणोंसे जमदग्निको मारकर जहांसे आए थे, वहीं चले गये ॥ २७ ॥

अपक्रान्तेषु चैतेषु जमदग्नौ तथागते ।
समित्पाणिरुपागच्छदाश्रमं भृगुनन्दनः ॥ २८ ॥

और जब वे सब चले गए और जमदग्नि भी स्वर्गको चले गये, तब भृगुनन्दन परशुराम समिधा लेकर अपने आश्रमपर पहुंचे ॥ २८ ॥

स दृष्ट्वा पितरं वीरस्तथा मृत्युवशं गतम्।
अनर्हन्तं तथाभूतं विललाप सुदुःखितः ॥ २९ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि षोडशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११६ ॥ ४०९४ ॥

उस स्थितिके अयोग्य अपने पिताको इस प्रकार मरा हुआ देखकर अत्यन्त दुःखी होकर विलाप करने लगे ॥ २९ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ सोलहवां अध्याय समाप्त ॥ ११६ ॥ ४०९४ ॥

: ११७ :

राम उवाच

ममापराधात्तैः क्षुद्रैर्हतस्त्वं तात बालिशैः।
कार्तवीर्यस्य दायादैर्वने मृग इवेषुभिः ॥ १ ॥

परशुराम बोले– हे तात ! मेरे ही अपराधसे उन क्षुद्र, मूर्ख कार्त्तवीर्यके पुत्रोंने आपको वनमें हरिनको मारनेके समान बाणोंसे मारा है ॥ १ ॥

धर्मज्ञस्य कथं तात वर्तमानस्य सत्पथे।
मृत्युरेवंविधो युक्तः सर्वभूतेष्वनागसः ॥ २ ॥

हे तात ! आप तो धर्मके जाननेवाले उत्तम मार्गमें चलनेवाले और सब प्राणियोंके हितकारी तथा निरपराधी थे, आपकी मृत्यु इस प्रकार क्यों हुई ? ॥ २ ॥

किं नु तैर्न कृतं पापं यैर्भवांस्तपसि स्थितः।
अयुध्यमानो वृद्धः सन्हतः शरशतैः शितैः ॥ ३ ॥

जिन्होंने तप करते हुए, युद्ध न करनवोले, बूढे होनेपर भी आपको सैकडों तीक्ष्ण बाणोंसे मार डाला, उन्होंने आपको मारकर कौनसा पाप नहीं किया ? ॥ ३ ॥

किं नु ते तत्र वक्ष्यन्ति सचिवेषु सुहृत्सु च।
अयुध्यमानं धर्मज्ञमेकं हत्वानपत्रपाः ॥ ४ ॥

वे निर्लज्ज धर्म जाननेवाले और युद्ध न करनेवाले आपको मारकर अपने मन्त्री और बान्धवोंसे क्या कहेंगे ? ॥ ४ ॥

अकृतव्रण उवाच

विलप्यैवं स करुणं बहु नानाविधं नृप।
प्रेतकार्याणि सर्वाणि पितुश्चक्रे महातपाः ॥ ५ ॥

अकृतव्रण बोले– हे नरनाथ ! इस प्रकार अनेक तरहसे करुणापूर्वक विलाप करके महातपस्वी परशुरामने अपने पिताके सब और्ध्वदैहिक संस्कार किया ॥ ५ ॥

दहाह पितरं चाग्नौ रामः परपुरञ्जयः।
प्रतिजज्ञे वधं चापि सर्वक्षत्रस्य भारत ॥ ६ ॥
और शत्रुओंके नगरोंको जीतनेवाले रामने पिताको अग्निमें जलाया और, हे भारत! सब क्षत्रियोंके नाश करनेकी प्रतिज्ञा की ॥ ६ ॥

संक्रुद्धोऽतिबलः शूरः शस्त्रमादाय वीर्यवान्।
जघ्निवान्कार्तवीर्यस्य सुतानेकोऽन्तकोपमः ॥ ७ ॥
तदनन्तर महाबलवान् और वीर्यवान् परशुरामने अकेले ही अत्यन्त क्रोधित होकर अनेक शस्त्रोंको धारण कर कालके समान रूप धारणकरके युद्धमें कार्तवीर्यके पुत्रोंको मार डाला ॥ ७ ॥

तेषां चानुगता ये च क्षत्रियाः क्षत्रियर्षभ।
तांश्च सर्वानवामृद्नाद्रामः प्रहरतां वरः ॥ ८ ॥
हे क्षत्रियसिंह! कार्तवीर्यपुत्रोंका अनुसरण करनेवाले दूसरे भी जो क्षत्रिय थे उनका भी शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ परशुरामने नाश कर दिया ॥ ८ ॥

त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवीं कृत्वा निःक्षत्रियां प्रभुः।
समन्तपञ्चके पञ्च चकार रुधिरह्रदान् ॥ ९ ॥
इस प्रकार महात्मा परशुरामने इक्कीसबार पृथ्वीको क्षत्रियोंसे रहित कर दिया, और समन्तपञ्चक तीर्थमें जाकर क्षत्रियोंके रुधिरसे पांच तालाबोंको भर दिया॥ ९ ॥

स तेषु तर्पयामास पितॄन्भृगुकुलोद्वहः।
साक्षाद्ददर्श चर्चीकं स च रामं न्यवारयत् ॥ १० ॥
भृगुवंशीको यशस्वी करनेवाले परशुरामने उन्हीं तालाबोंमें अपने पितरोंका तर्पण किया; वहीं उन्होंने साक्षात् ऋचीकका दर्शन किया। ऋचीक मुनिने परशुरामको उस कर्मसे रोका ॥ १० ॥

ततो यज्ञेन महता जामदग्न्यः प्रतापवान्।
तर्पयामास देवेन्द्रमृत्विग्भ्यश्च महीं ददौ ॥ ११ ॥
तब प्रतापवान् जमदग्नि-पुत्र परशुरामने महान् यज्ञ करके इन्द्रको प्रसन्न किया, और यज्ञ करानेवालोंको सब पृथ्वी दे दी ॥ ११ ॥

वेदीं चाप्यददद्धैमीं कश्यपाय महात्मने।
दशव्यामायतां कृत्वा नवोत्सेधां विशां पते ॥ १२ ॥
उसी यज्ञमें परशुरामने महात्मा कश्यपको एक सोनेकी वेदी दी थी, जो चालीस हाथ चौडी और छत्तीस हाथ ऊंची थी ॥ १२ ॥

×

तां कश्यपस्यानुमते ब्राह्मणाः खण्डशस्तदा ।
व्यभजंस्तेन ते राजन्प्रख्याताः खाण्डवायनाः ॥ १३ ॥

हे राजन्! तदनन्तर कश्यप मुनिकी सम्मतिसे जिन ब्राह्मणोंने उस चौकीको टुकडे टुकडे करके बांट लिया, वे ब्राह्मण खाण्डवायनके नामसे प्रसिद्ध हुए ॥ १३ ॥

स प्रदाय महीं तस्मै कश्यपाय महात्मने ।
अस्मिन्महेन्द्रे शैलेन्द्रे वसत्यमितविक्रमः ॥ १४ ॥

तदनन्तर महात्मा कश्यपको सब भूमि दानकर अब अनन्त पराक्रमी परशुराम इसी महेन्द्र पर्वतपर रहते हैं ॥ १४ ॥

एवं वैरमभूत्तस्य क्षत्रियैर्लोकवासिभिः ।
पृथिवी चापि विजिता रामेणामिततेजसा ॥ १५ ॥

इस प्रकार परशुराम और जगत्के रहनेवाले क्षत्रियोंसे वैर हुआ था, और इस प्रकार महा-तेजस्वी परशुरामने पृथ्वीको जीता था ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततश्चतुर्दशीं रामः समयेन महामनाः ।
दर्शयामास तान्विप्रान्धर्मराजं च सानुजम् ॥ १६ ॥

वैशम्पायन बोले– पश्चात् चतुर्दशीके दिन महातेजस्वी परशुरामने ब्राह्मण और भाइयोंके सहित धर्मराज युधिष्ठिरको दर्शन दिया ॥ १६ ॥

स तमानर्च राजेन्द्रो भ्रातृभिः सहितः प्रभुः ।
द्विजानां च परां पूजां चक्रे नृपतिसत्तमः ॥ १७ ॥

महाराज युधिष्ठिरने भाइयोंके सहित परशुरामकी पूजा की। राजाओंमें श्रेष्ठ धर्मराजने ब्राह्मणोंकी भी पूजा की ॥ १७ ॥

अर्चयित्वा जामदग्न्यं पूजितस्तेन चाभिभूः ।
महेन्द्र उष्य तां रात्रिं प्रययौ दक्षिणामुखः ॥ १८ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११७ ॥ ४११२ ॥

परशुरामने युधिष्ठिरकी पूजाको ग्रहणकर फिर उनकी पूजा की, तब वे सब एक रात वहां रहे। फिर दक्षिणकी ओर चले गए ॥ १८ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ सतरहवां अध्याय समाप्त ॥ ११७ ॥ ४११२ ॥

: ११८ :

वैशम्पायन उवाच

गच्छन्स तीर्थानि महानुभावः पुण्यानि रम्याणि ददर्श राजा ।
सर्वाणि विप्रैरुपशोभितानि क्वचित्क्वचिद्भारत सागरस्य ॥ १ ॥

हे भारत जनमेजय ! महानुभाव राजा युधिष्ठिरने तीर्थोंमें संचार करते हुए सागरके किनारे किनारे कहीं कहीं ब्राह्मणोंके रहनेके कारण पवित्र हुए हुए सभी मनोहर तीर्थोंको देखा ॥ १ ॥

स वृत्तवांस्तेषु कृताभिषेकः सहानुजः पार्थिवपुत्रपौत्रः ।
समुद्रगां पुण्यतमां प्रशस्तां जगाम पारिक्षित पाण्डुपुत्रः ॥ २ ॥

हे परिक्षितपुत्र जनमेजय ! वहांसे उत्तम चरित्रवाले पाण्डुके पुत्र सूर्यपुत्र धर्मसे उत्पन्न राजा युधिष्ठिर भाइयोंके साथ उन सब तीर्थोंमें स्नान करके अत्यन्त पवित्र समुद्रगामिनी प्रशस्ता नाम नदीपर पहुंचे ॥ २ ॥

तत्रापि चाप्लुत्य महानुभावः संतर्पयामास पितॄन्सुरांश्च ।
द्विजातिमुख्येषु धनं विसृज्य गोदावरीं सागरगामगच्छत् ॥ ३ ॥

वहां भी उन महानुभाव युधिष्ठिरने स्नान करके पितर और देवताओंका तर्पण किया और सब श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको बहुत धन देकर समुद्रगामिनी गोदावरीकी ओर चले ॥ ३ ॥

ततो विपाप्मा द्रविडेषु राजन्समुद्रमासाद्य च लोकपुण्यम् ।
अगस्त्यतीर्थं च पवित्रपुण्यं नारीतीर्थान्यथ वीरो ददर्श ॥ ४ ॥

हे राजन् ! इसके बाद पापरहित महाराज वीर युधिष्ठिरने द्रविड देशमें समुद्रके तटपर पहुंचकर लोकोंको पवित्र करनेवाले अत्यन्त पवित्र अगस्त्यतीर्थ और नारी तीर्थोंको देखा ॥ ४ ॥

तत्रार्जुनस्याग्र्यधनुर्धरस्य निशम्य तत्कर्म परैरसह्यम् ।
संपूज्यमानः परमर्षिसंघैः परां मुदं पाण्डुसुतः स लेभे ॥ ५ ॥

वहांपर उन्होंने धनुषधारियोंमें अग्रगण्य अर्जुनके उन कर्मोंको सुना जिसको दूसरे नहीं कर सकते हैं। वहां पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरकी महर्षियोंने बहुत पूजा की, इससे वे बहुत प्रसन्न हुए ॥ ५ ॥

स तेषु तीर्थेष्वभिषिक्तगात्रः कृष्णासहायः सहितोऽनुजैश्च ।
संपूजयन्विक्रममर्जुनस्य रेमे महीपालपतिः पृथिव्याम् ॥ ६ ॥

इस प्रकार द्रौपदी और भाइयोंके सहित पृथ्वीनाथ युधिष्ठिरने उन सब तीर्थोंमें स्नान किया और अर्जुनका पराक्रम सुनकर बहुत प्रसन्न होकर वे राजा पृथिवीपर घूमने लगे ॥ ६ ॥

ततः सहस्राणि गवां प्रदाय तीर्थेषु तेष्वम्बुधरोत्तमस्य ।
हृष्टः सह भ्रातृभिरर्जुनस्य संकीर्तयामास गवां प्रदानम् ॥ ७ ॥

उत्तम समुद्रके तटवाले उन तीर्थोंमें महाराज युधिष्ठिरने सहस्रों गौओंका दान किया; तदनन्तर भाईयोंके साथ प्रसन्न होकर अर्जुनके गोदान संबंधी कथा कहने लगे ॥ ७ ॥

स तानि तीर्थानि च सागरस्य पुण्यानि चान्यानि बहूनि राजन् ।
क्रमेण गच्छन्परिपूर्णकामः शूर्पारकं पुण्यतमं ददर्श ॥ ८ ॥

हे राजन् ! समुद्रके तटके उन पवित्र तीर्थोंको तथा अन्य भी अनेक तीर्थोंको देखते देखते क्रमसे जाते हुए पूर्णकाम होकर अत्यन्त पवित्र शूर्पारक तीर्थमें पहुंचे ॥ ८ ॥

तत्रोदधेः कंचिदतीत्य देशं ख्यातं पृथिव्यां वनमाससाद ।
तप्तं सुरैर्यत्र तपः पुरस्तादिष्टं तथा पुण्यतमैर्नरेन्द्रैः ॥ ९ ॥

वहांसे कुछ दूर समुद्रके तटपर चलकर उस जगत् प्रसिद्ध वनमें पहुंचे, जहां प्राचीनकालमें अनेक देवताओंने तप किया था और अनेक धर्मपरायण राजाओंने यज्ञ किये थे ॥ ९ ॥

स तत्र तामग्र्यधनुर्धरस्य वेदीं ददर्शायतपीनबाहुः ।
ऋचीकपुत्रस्य तपस्विसंघैः समावृतां पुण्यकृदर्चनीयाम् ॥ १० ॥

वहां दृढ लम्बे और पुष्टभुजाओंवाले महाराज युधिष्ठिरने धनुषधारियोंमें अग्रगण्य ऋचीक पुत्रकी वेदीको देखा, उस पवित्र वेदीके चारों ओर अनेक ऋषिलोग बैठे हुए थे और पुण्य करनेवाले महात्मा उनकी पूजा करते थे ॥ १० ॥

ततो वसूनां वसुधाधिपः स मरुद्गणानां च तथाश्विनोश्च ।
वैवस्वतादित्यधनेश्वराणामिन्द्रस्य विष्णोः सवितुर्विभोश्च ॥ ११ ॥

वहांसे पृथ्वीपति महात्मा महाराज युधिष्ठिर वसु, वायु, अश्विनीकुमार, यमराज, सूर्य, धनेश्वर कुबेर, इन्द्र, विष्णु, परमेश्वर, आदित्य ॥ ११ ॥

भगस्य चन्द्रस्य दिवाकरस्य पतेरपां साध्यगणस्य चैव ।
धातुः पितॄणां च तथा महात्मा रुद्रस्य राजन्सगणस्य चैव ॥ १२ ॥

भग, चन्द्रमा, सूर्य, जलके स्वामी वरुण, साध्यगण, ब्रह्मा, पितर, गणसहित महात्मा रुद्र ॥ १२ ॥

सरस्वत्याः सिद्धगणस्य चैव पूष्णश्च ये चाप्यमरास्तथान्ये ।
पुण्यानि चाप्यायतनानि तेषां ददर्श राजा सुमनोहराणि ॥ १३ ॥

सरस्वती और सिद्धगणोंके आश्रम तथा पूषा तथा अन्य देव और उनके जितने भी पवित्र और मनोहर स्थान थे, उन सबको राजाने देखा ॥ १३ ॥

तेषूपवासान्विविधानुपोष्य दत्त्वा च रत्नानि महाधनानि ।
तीर्थेषु सर्वेषु परिप्लुताङ्गः पुनः स शूर्पारकमाजगाम ॥ १४ ॥

उन सब तीर्थोंमें महाराजने अनेक तरहके उपवास करके बहुत रत्न और धन दानमें दिये और स्वयंने भी सब तीर्थोंमें स्नान किया और वे फिर शूर्पारक तीर्थमें जा पहुंचे ॥ १४ ॥

स तेन तीर्थेन तु सागरस्थ पुनः प्रयातः सह सोदरीयैः ।
द्विजैः पृथिव्यां प्रथितं महद्भिस्तीर्थं प्रभासं समुपाजगाम ॥ १५ ॥

उस तीर्थसे भाईयों और ब्राह्मणोंके साथ समुद्रके तटपर होकर चलते और सब तीर्थोंके दर्शन करते हुए जगत् प्रसिद्ध प्रभास तीर्थमें जा पहुंचे ॥ २ ॥

तत्राभिषिक्तः पृथुलोहिताक्षः सहानुजैर्देवगणान्पितॄंश्च ।
संतर्पयामास तथैव कृष्णा ते चापि विप्राः सह लोमशेन ॥ १६ ॥

वहां जाकर अपने भाइयोंके साथ विशाल और लाल नेत्रवाले महाराज युधिष्ठिरने स्नान किया; फिर द्रौपदी और सब ब्राह्मणोंने लोमश मुनिके सहित पितर और देवताओंका तर्पण किया ॥ १६ ॥

स द्वादशाहं जलवायुभक्षः कुर्वन्क्षपाहःसु तदाभिषेकम् ।
समन्ततोऽग्नीनुपदीपयित्वा तेपे तपो धर्मभृतां वरिष्ठः ॥ १७ ॥

वहांपर धर्मधारियोंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिरने बारह दिन निवास किया, और वहां सबेरे और शामको स्नान करके तथा चारों ओर अग्नियोंको प्रदीप्त करके जल और वायुका भक्षण करके बारह दिन तपस्या की। १७ ॥

तमुग्रमास्थाय तपश्चरन्तं शुश्राव रामश्च जनार्दनश्च ।
तौ सर्ववृष्णिप्रवरौ ससैन्यौ युधिष्ठिरं जग्मतुराजमीढम् ॥ १८ ॥

युधिष्ठिरको उग्र तप करते हुए सुनकर वृष्णिवंशियोंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्ण और बलराम भी अपनी सेनाको साथमें लेकर अजमीढ वंशोत्पन्न युधिष्ठिरके दर्शन करनेके लिए आये ॥ १८ ॥

ते वृष्णयः पाण्डुसुतान्समीक्ष्य भूमौ शयानान्मलदिग्धगात्रान् ।
अनर्हतीं द्रौपदीं चापि दृष्ट्वा सुदुःखिताश्चुक्रुशुरार्तनादम् ॥ १९ ॥

वे वृष्णीवंशी वीर धूलसे सने हुए शरीरवाले तथा भूमिपर सोये हुए पाण्डुपुत्रोंको तथा दुःखके अयोग्य द्रौपदीको उस अवस्थामें देखकर बहुत ही दुःखी होकर आर्तनाद करने लगे ॥ १९ ॥

ततः स रामं च जनार्दनं च कार्ष्णिं च साम्बं च शिनेश्च पौत्रम् ।
अन्यांश्च वृष्णीनुपगम्य पूजां चक्रे यथाधर्ममदीनसत्त्वः ॥ २० ॥

तदनन्तर महापराक्रमी महाराज युधिष्ठिरने बलराम, श्रीकृष्ण, कृष्णके पुत्र प्रद्युम्न, साम्ब, और शिनिके पौत्र सात्यकी तथा अन्य वृष्णिवंशिओंके पास जाकर उनकी यथायोग्य धर्मके अनुसार पूजा की ॥ २० ॥

ते चापि सर्वान्प्रतिपूज्य पार्थांस्तैः सत्कृताः पाण्डुसुतैस्तथैव ।
युधिष्ठिरं संपरिवार्य राजन्नुपाविशन्देवगणा यथेन्द्रम् ॥ २१ ॥

उन सब लोगोंने भी उन पाण्डवोंका सत्कार किया। उसी प्रकार पाण्डुपुत्रोंके द्वारा सत्कृत होकर वे भी जैसे इन्द्रके चारों ओर देवता बैठते हैं, वैसे ही युधिष्ठिरको घेरकर बैठ गये ॥ २१ ॥

तेषां स सर्वं चरितं परेषां वने च वासं परमप्रतीतः ।
अस्त्रार्थमिन्द्रस्य गतं च पार्थं कृष्णं शशंसामरराजपुत्रम् ॥ २२ ॥

तब युधिष्ठिरने बहुत प्रसन्न होकर उन यादवोंसे शत्रुओंकी सभी करतूतों और अपने वनवासके सभी वृत्तान्तोंको तथा देवराज इन्द्रके पुत्र अर्जुनके अस्त्रप्राप्तिके लिए इन्द्रके पास जानेका सारा वृत्तान्त कहा ॥ २२ ॥

श्रुत्वा तु ते तस्य वचः प्रतीतास्तांश्चापि दृष्ट्वा सुकृशानतीव ।
नेत्रोद्भवं संमुमुचुर्दशार्हा दुःखार्तिजं वारि महानुभावाः ॥ २३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि अष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११८ ॥ ४१२५ ॥

वे महानुभाव दशार्हवंशी यादव उन युधिष्ठिरके वे वचन सुनकर आश्वस्त हुए, पर वे उन पाण्डुपुत्रोंको अत्यन्त दुर्बल देखकर दुःखके कारण उत्पन्न हुए अश्रुजल नेत्रोंसे बहाने लगे ॥ २३ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ अठारहवां अध्याय समाप्त ॥ ११८ ॥ ४१२५ ॥

: ११९ :

जनमेजय उवाच

प्रभासतीर्थं संप्राप्य वृष्णयः पाण्डवास्तथा ।
किमकुर्वन्कथाश्चैषां कास्तत्रासंस्तपोधन ॥ १ ॥

जनमेजय बोले– हे तपोधन ! पाण्डव जब प्रभास तीर्थमें पहुंचे और जब यदुवंशी उनके दर्शनको आये, तो उन्होंने क्या किया ? और उनका क्या वार्तालाप हुआ ? ॥ १ ॥

ते हि सर्वे महात्मानः सर्वशास्त्रविशारदाः ।
वृष्णयः पाण्डवाश्चैव सुहृदश्च परस्परम् ॥ २ ॥
वे सब वृष्णिवंशी और पाण्डुपुत्र महात्मा, सभी शास्त्रोंमें निपुण और आपसमें मित्र थे ॥२॥

वैशम्पायन उवाच

प्रभासतीर्थं संप्राप्य पुण्यं तीर्थं महोदधेः ।
वृष्णयः पाण्डवान्वीरान्परिवार्योपतस्थिरे ॥ ३ ॥
वैशम्पायन बोले– हे राजन् ! महासमुद्रके तीरपर प्रभासक्षेत्रके पवित्र तीर्थमें पहुंचकर यादव-वीर पांडवोंको घेरकर बैठ गए ॥ ३ ॥

ततो गोक्षीरकुन्देन्दुमृणालरजतप्रभः ।
वनमाली हली रामो बभाषे पुष्करेक्षणम् ॥ ४ ॥
उन सबके बीचमें गौके दूध, कुन्दके पुष्प, चन्द्रमा और मृणालके समान गौर और सुन्दर रूपवाले वनमालासे सुशोभित हलधारी बलराम श्रीकृष्णसे कहने लगे ॥ ४ ॥

न कृष्ण धर्मश्चरितो भवाय जन्तोरधर्मश्च पराभवाय ।
युधिष्ठिरो यत्र जटी महात्मा वनाश्रयः क्लिश्यति चीरवासाः ॥ ५ ॥
हे कृष्ण ! धर्म करनेसे किसीकी उन्नति और अधर्म करनेसे किसीकी अवनति नहीं होती, क्योंकि देखो, महात्मा युधिष्ठिर जटा और वृक्षकी खालके वस्त्र धारण करके वनवासका दुःख सह रहे हैं ॥ ५ ॥

दुर्योधनश्चापि महीं प्रशास्ति न चास्य भूमिर्विवरं ददाति ।
धर्मादधर्मश्चरितो गरीयानितीव मन्येत नरोऽल्पबुद्धिः ॥ ६ ॥
दूसरी तरफ दुर्योधन पृथ्वीका राज्य करता है, और भूमि इसके लिये फटती भी नहीं है, इसे देखकर मूर्खजन धर्मसे अधर्मके आचरणको श्रेष्ठ समझेंगे ॥ ६ ॥

दुर्योधने चापि विवर्धमाने युधिष्ठिरे चासुख आत्तराज्ये ।
किं न्वद्य कर्तव्यमिति प्रजाभिः शंका मिथः संजनिता नराणाम् ॥ ७ ॥
राज्य पाकर दुर्योधनको बढते और महाराज युधिष्ठिरको दुःख पाते देखकर आज सब प्रजाओंमें चारों ओर यही शङ्का फैल रही है, कि अब क्या करना होगा ॥ ७ ॥

अयं हि धर्मप्रभवो नरेन्द्रो धर्मे रतः सत्यधृतिः प्रदाता ।
चलेद्धि राज्याच्च सुखाच्च पार्थो धर्मादपेतश्च कथं विवर्धेत् ॥ ८ ॥
ये धर्मसे उत्पन्न, धर्ममें रत, सत्यवादी और महादानी महाराज युधिष्ठिर राज्य और सुखसे तो भले ही भ्रष्ट हो जायें, पर धर्मसे भ्रष्ट मनुष्यकी वृद्धि हो, यह कैसे हो सकता है ? ॥८॥

कथं नु भीष्मश्च कृपश्च विप्रो द्रोणश्च राजा च कुलस्य वृद्धः ।
प्रव्राज्य पार्थान्सुखमाप्नुवन्ति धिक्पापबुद्धीन्भरतप्रधानान् ॥ ९ ॥

हम नहीं जानते कि भरतकुलके प्रधान पाण्डवोंको घरसे निकालकर भीष्म, कृप, ब्राह्मण द्रोण, वृद्ध राजा धृतराष्ट्र किस प्रकार सुख भोग रहे हैं ? उन पाप बुद्धिवालोंको धिक्कार है ॥ ९ ॥

किं नाम वक्ष्यत्यवनिप्रधानः पितॄन्समागम्य परत्र पापः ।
पुत्रेषु सम्यक्चरितं मयेति पुत्रानपापानवरोप्य राज्यात् ॥ १० ॥

पापरहित पाण्डवोंको राज्यसे भ्रष्ट करके राजाओंमें प्रधान पापी धृतराष्ट्र परलोकमें जाकर पितरोंकी सभामें बैठकर कैसे कहेंगे कि मैंने सब लडकोंके साथ समान ही आचरण किया था ? ॥ १० ॥

नासौ धिया संप्रतिपश्यति स्म किं नाम कृत्याहमचक्षुरेवम् ।
जातः पृथिव्यामिति पार्थिवेषु प्रव्राज्य कौन्तेयमथापि राज्यात् ॥ ११ ॥

इस पृथिवीके सब राजाओंमें ' मैं अंधा किस कारणसे बना हूं और अब कुंतीपुत्र धर्मराजको वनमें भेजकर मुझे क्या अवस्था प्राप्त होगी ' यह बात उस धृतराष्ट्रके मनमें आती ही नहीं ॥ ११ ॥

नूनं समृद्धान्पितृलोकभूमौ चामीकराभान्क्षितिजान्प्रफुल्लान् ।
विचित्रवीर्यस्य सुतः सपुत्रः कृत्वा नृशंसं बत पश्यति स्म ॥ १२ ॥

विचित्रवीर्यका पुत्र वह धृतराष्ट्र पुत्रोंके सहित इस प्रकारका अत्याचार करके शीघ्र ही पितृलोककी भूमिमें जाकर वहांके सुवर्णके समान फूले हुए वृक्षोंको शीघ्र ही देखेंगे (इस प्रकारका स्वप्न देखना मृत्युका सूचक है) ॥ १२ ॥

व्यूढोत्तरांसान्पृथुलोहिताक्षान्नेमान्स्म पृच्छन्स शृणोति नूनम् ।
प्रस्थापयद्यत्स वनं ह्यशंको युधिष्ठिरं सानुजमात्तशस्त्रम् ॥ १३ ॥

जिसने ऊंचे कन्धेवाले, विशालनेत्रवाले तथा शस्त्रोंमें निपुण युधिष्ठिरको भाइयोंके सहित निःशङ्क होकर निकाल दिया है, वह धृतराष्ट्र भीष्म आदिसे सलाह तो लेता होगा, पर उनकी सुनता नहीं ॥ १३ ॥

योऽयं परेषां पृतनां समृद्धां निरायुधो दीर्घभुजो निहन्यात् ।
श्रुत्वैव शब्दं हि वृकोदरस्य मुञ्चन्ति सैन्यानि शकृत्समूत्रम् ॥ १४ ॥

जो विशालबाहु भीमसेन शस्त्रोंके विना ही शत्रुओंकी महासेनाका विनाश करते हैं, जिनका शब्द सुनते ही शत्रुओंकी सेना विष्ठा और मूत्रको परित्याग करने लगती है ॥ १४ ॥

स क्षुत्पिपासाध्वकृशस्तरस्वी समेत्य नानायुधबाणपाणिः ।
वने स्मरन्वासमिमं सुघोरं शेषं न कुर्यादिति निश्चितं मे ॥ १५ ॥

वे ही अनेक शस्त्र और बाणोंके धारण करनेवाले वेगवान् भीमसेन आज भूख, प्यास और मार्गकी थकावटसे दीन हो रहे हैं. अतः मेरा यह विचार हो रहा है कि वह भीम वनमें हुई हुई अपनी घोर अवस्थाका स्मरण करते हुए उस वंशका कहीं सर्वनाश न कर दें ? ॥१५॥

न ह्यस्य वीर्येण बलेन कश्चित्समः पृथिव्यां भविता नरेषु ।
शीतोष्णवातातपकर्शिताङ्गो न शेषमाजावसुहृत्सु कुर्यात् ॥ १६ ॥

क्योंकि वीर्य और बलमें पृथ्वीके मनुष्योंमें इनके समान कोई भी न होगा। वह भीम शीत, गर्मी और वायुसे कृश अंगोंवाले होकर कहीं युद्धमें अपने शत्रुओंका नाश न कर डालें ? ॥ १६ ॥

प्राच्यां नृपानेकरथेन जित्वा वृकोदरः सानुचरान्रणेषु ।
स्वस्त्यागमद्योऽतिरथस्तरस्वी सोऽयं वने क्लिश्यति चीरवासाः ॥ १७ ॥

जो महारथ और वेगवान् भीमसेन एक रथसे पूर्वदेशके सब राजाओंको सेनाके सहित युद्धमें जीतकर सकुशल लौट आए थे, वे ही वेगवान् और अतिरथी भीम आज मुनियोंके वस्त्र पहनकर वनमें दुःख सह रहे हैं ॥ १७ ॥

यो दन्तकूरे व्यजयन्नृदेवान्समागतान्दाक्षिणात्यान्महीपान् ।
तं पश्यतेमं सहदेवमद्य तपस्विनं तापसवेषरूपम् ॥ १८ ॥

जिस वेगवान् सहदेवने दक्षिण देशके और दन्तूकरमें इकट्ठे होकर आये हुए सब राजाओंको अकेलेही जीत लिया था, उसी सहदेवको आज तापसवेषको धारण करके तपस्वी हुआ हुआ देखो ॥ १८ ॥

यः पार्थिवानेकरथेन वीरो दिशं प्रतीचीं प्रति युद्धशौण्डः ।
सोऽयं वने मूलफलेन जीवञ्जटी चरत्यद्य मलाचिताङ्गः ॥ १९ ॥

जिस युद्धमें उन्मत्त महाबलवान् नकुलने पश्चिमके सब राजाओंको एक ही रथसे जीत लिया था, वही आज जटाधारी और धूलसे सने हुए शरीरवाले होकर फल मूल खाकर वनमें वास करते हैं ॥ १९ ॥

सत्रे समृद्धेऽतिरथस्य राज्ञो वेदीतलादुत्पतिता सुता या ।
सेयं वने वासमिमं सुदुःखं कथं सहत्यद्य सती सुखार्हा ॥ २० ॥

जो पुत्री महारथी द्रुपदके समृद्ध यज्ञके कुण्डसे निकली थी, वही पतिव्रता द्रौपदी दुःख सहनेमें अयोग्य होनेपर भी वनमें दुःखसहित इस वासको कैसे सह रही है ? ॥ २० ॥

×

त्रिवर्गमुख्यस्य समीरणस्य देवेश्वरस्याप्यथ वाश्विनोश्च ।
एषां सुराणां तनयाः कथं नु वने चरन्त्यल्पसुखाः सुखार्हाः ॥ २१ ॥

ये सुखके योग्य, दुःखके अयोग्य, तीन वर्गमें मुख्य, वायु इन्द्र और अश्विनीकुमार इन देवोंके पुत्र पाण्डव स्त्रीके सहित धर्मपुत्र युधिष्ठिरके साथ वनमें किस प्रकार दुःख सह रहे हैं ? ॥ २१ ॥

जिते हि धर्मस्य सुते सभार्ये सभ्रातृके सानुचरे निरस्ते ।
दुर्योधने चापि विवर्धमाने कथं न सीदत्यवनिः सशैला ॥ २२ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि एकोनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११९ ॥ ४१५७ ॥

धर्मके पुत्रको जीत लेनेपर भी तथा उन्हें पत्नी, भाई और अनुचरोंके सहित निकाल दिए जानेपर भी और दुर्योधनको बढते हुए देखकर भी पर्वतोंके सहित पृथ्वी क्यों नहीं फट जाती ? ॥ २२ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ उन्नीसवां अध्याय समाप्त ॥ ११९ ॥ ४१५७ ॥

: १२० :

सात्यकिरुवाच

न राम कालः परिदेवनाय यदुत्तरं तत्र तदेव सर्वे ।
समाचरामो ह्यनतीतकालं युधिष्ठिरो यद्यपि नाह किंचित् ॥ १ ॥

सात्यकि बोले– हे राम ! अब यह समय दुःख करनेका नहीं है, अब आगे जो कुछ करना है, उसीको हम सब मिलकर करें। यद्यपि युधिष्ठिर हम लोगोंसे कुछ नहीं कहते हैं तो भी हमें अब व्यर्थ समय न गंवाकर कौरवोंको उचित उत्तर देना चाहिए ॥ १ ॥

ये नाथवन्तो हि भवन्ति लोके ते नात्मना कर्म समारभन्ते ।
तेषां तु कार्येषु भवन्ति नाथाः शैब्यादयो राम यथा ययातेः ॥ २ ॥

तथापि यह नियम है, कि जो लोग सनाथ अर्थात् सहायकवाले होते हैं, वे स्वयं कोई काम प्रारंभ नहीं करते, उनके कार्य सहायक लोग ऐसे ही सिद्ध करते हैं, जैसे ययातिके कार्योंको शिबि आदिने किए थे ॥ २ ॥

येषां तथा राम समारभन्ते कार्याणि नाथाः स्वमतेन लोके ।
ते नाथवन्तः पुरुषप्रवीरा नानाथवत्कृच्छ्रमवाप्नुवन्ति ॥ ३ ॥

जिनके सहायक अपनी ही इच्छासे अपने स्वामीकी सहायता करते हैं, वे स्वामी ही सनाथ कहलाते हैं। ऐसे सनाथ पुरुषश्रेष्ठ कभी भी अनाथके समान संकटको प्राप्त नहीं करते ॥ ३ ॥

कस्मादयं रामजनार्दनौ च प्रद्युम्नसाम्बौ च मया समेतौ ।
वसत्यरण्ये सह सोदरीयैस्त्रैलोक्यनाथानधिगम्य नाथान् ॥ ४ ॥

न जाने बलराम, श्रीकृष्ण, प्रद्युम्न और साम्ब और मेरे रहनेपर भी तथा तीनों लोकोंके नाथ जैसे हम नाथोंको प्राप्त करके भी महाराज युधिष्ठिर भाइयोंके सहित वनमें क्यों रह रहे हैं ? ॥ ४ ॥

निर्यातु साध्वद्य दशार्हसेना प्रभूतनानायुधचित्रवर्मा ।
यमक्षयं गच्छतु धार्तराष्ट्रः सबान्धवो वृष्णिबलाभिभूतः ॥ ५ ॥

बस, इसी समय विचित्र कवच और बहुत सारे शस्त्रोंको धारण करनेवाली यादवोंकी समस्त सेना हस्तिनापुरपर चढाई करे और बान्धवोंके सहित दुर्योधन यादवोंकी सेनासे मारा जाकर यम लोकको जाये ॥ ५ ॥

त्वं ह्येव कोपात्पृथिवीमपीमां संवेष्टयेस्तिष्ठतु शार्ङ्गधन्वा ।
स धार्तराष्ट्रं जहि सानुबन्धं वृत्रं यथा देवपतिर्महेन्द्रः ॥ ६ ॥

हे राम ! आप अपने क्रोधसे पृथ्वीको वेष्टित कर सकते हैं। जिस प्रकार इन्द्रने वृत्रासुरको मारा वैसे ही शार्ङ्ग धनुषधारी कृष्ण भी दुर्योधनका बन्धुबान्धवोंसहित नाश करें ॥ ६ ॥

भ्राता च मे यश्च सखा गुरुश्च जनार्दनस्यात्मसमश्च पार्थः ।
यदर्थमभ्युद्यतमुत्तमं तत्करोति कर्माग्र्यमपारणीयम् ॥ ७ ॥

जो मेरे भाई, मित्र और गुरु तथा कृष्णके प्राणके समान अर्जुन हैं, वे भी जिस कामके लिए उत्साहसे अत्यन्त कठिन तथा सब कर्मोंमें श्रेष्ठ कठोर तपस्याको कर रहे हैं ॥ ७ ॥

तस्यास्त्रवर्षाण्यहमुत्तमास्त्रैर्विहत्य सर्वाणि रणेऽभिभूय ।
कायाच्छिरः सर्पविषाग्निकल्पैः शरोत्तमैरुन्मथितास्मि राम ॥ ८ ॥

हे राम ! मैं दुर्योधनके अस्त्रोंका अपने उत्तम अस्त्रोंसे निवारण कर तथा उसके सब सैनिकोंको युद्धमें पराजित कर अपने सर्पके समान तथा अग्निके समान बाणोंसे उसका शिर काटूंगा ॥ ८ ॥

खड्गेन चाहं निशितेन संख्ये कायाच्छिरस्तस्य बलात्प्रमथ्य ।
ततोऽस्य सर्वाननुगान्हनिष्ये दुर्योधनं चापि कुरूंश्च सर्वान् ॥ ९ ॥

उसकी सब सेनाको अपने शस्त्रास्त्रोंसे बलपूर्वक रौंदकर युद्धमें तेज तलवारसे दुर्योधनका मस्तक उडा दूंगा और सब कौरवोंको भी मार दूंगा ॥ ९ ॥

आत्तायुधं मामिह रौहिणेय पश्यन्तु भौमा युधि जातहर्षाः।
निघ्नन्तमेकं कुरुयोधमुख्यान्काले महाकक्षमिवान्तकाग्निः ॥ १० ॥
हे रोहिणीपुत्र! प्रसन्न हुए हुए सब वीरलोग भयानक युद्धमें शस्त्रोंको उठाये हुए और कुशलता दिखाते हुए तथा प्रलयकालमें जलनेवाली महाकालकी अग्निके समान कौरवोंके मुख्य मुख्य वीरोंको अकेला ही मारते हुए मुझे देखें ॥ १० ॥

प्रद्युम्नमुक्तान्निशितान्न शक्ताः सोढुं कृपद्रोणविकर्णकर्णाः।
जानामि वीर्यं च तवात्मजस्य कार्ष्णिर्भवत्येष यथा रणस्थः ॥ ११ ॥
प्रद्युम्नके धनुषसे छूटे हुए तीक्ष्ण बाणोंको कृप-द्रोण-विकर्ण और कर्ण भी सहनेमें समर्थ नहीं हैं। मैं तुम्हारे पुत्रके पराक्रमको जानता हूँ, वह रणमें जाकर बिल्कुल कृष्णका पुत्र बन जाता है ॥ ११ ॥

साम्बः ससूतं सरथं भुजाभ्यां दुःशासनं शास्तु बलात्प्रमथ्य।
न विद्यते जाम्बवतीसुतस्य रणेऽविषह्यं हि रणोत्कटस्य ॥ १२ ॥
जाम्बवतीका पुत्र सांब अपनी भुजाओंसे और बलसे शत्रुसेनाको मथ करके रथ और सारथि सहित दुःशासनपर शासन करे। क्योंकि युद्धमें चतुर उसके लिए युद्धमें न किए जाने योग्य ऐसा कुछ भी नहीं है ॥ १२ ॥

एतेन बालेन हि शम्बरस्य दैत्यस्य सैन्यं सहसा प्रणुन्नम्।
वृत्तोरुरत्यायतपीनबाहुरेतेन संख्ये निहतोऽश्वचक्रः।
को नाम साम्बस्य रणे मनुष्यो गत्वान्तरं वै भुजयोर्धरेत ॥ १३ ॥
इसने बाल्यावस्थामें ही शम्बर दैत्यकी सैन्यका अचानक नाश किया था। इसने मोटी जांघ और चौडी और मोटी बाहुओंवाले अश्वचक्रको युद्धमें मारा था। कौन ऐसा वीर है, जो युद्धमें साम्बकी भुजाओंके बीचमें पडकर भी जिन्दा लौट आए? ॥ १३ ॥

यथा प्रविश्यान्तरमन्तकस्य काले मनुष्यो न विनिष्क्रमेत।
तथा प्रविश्यान्तरमस्य संख्ये को नाम जीवन्पुनराव्रजेत ॥ १४ ॥
जैसे सबका अन्त करनेवाले कालके मुखमें जाकर कोई जिन्दा बचकर नहीं निकल सकता, ऐसे ही युद्धमें साम्बके सन्मुख आकर ऐसा कौन है, कि जो जीवित बचकर निकल आए? ॥ १४ ॥

द्रोणं च भीष्मं च महारथौ तौ सुतैर्वृतं चाप्यथ सोमदत्तम्।
सर्वाणि सैन्यानि च वासुदेवः प्रधक्ष्यते सायकवह्निजालैः ॥ १५ ॥
द्रोणाचार्य और भीष्म इन दोनों महारथोंको तथा पुत्रोंसे घिरे सोमदत्तको सेनाके सहित तीक्ष्ण बाणोंसे जलानेमें कृष्ण ही समर्थ हैं ॥ १५ ॥

किं नाम लोकेष्वविषह्यमस्ति कृष्णस्य सर्वेषु सदैवतेषु ।
आत्तायुधस्योत्तमबाणपाणेश्चक्रायुधस्याप्रतिमस्य युद्धे ॥ १६ ॥
अस्त्र उठाये हुए, उत्तम बाणोंको हाथोंमें धारण करनेवाले, चक्ररूपी शस्त्रवाले तथा युद्धमें अप्रतिम ऐसे कृष्णके लिए इस लोकोंमें असह्य ऐसी कौनसी चीज है ? ॥ १६ ॥

ततोऽनिरुद्धोऽप्यसिचर्मपाणिर्महीमिमां धार्तराष्ट्रैर्विसंज्ञैः ।
हृतोत्तमाङ्गैर्निहतैः करोतु कीर्णां कुशैर्वेदिमिवाध्वरेषु ॥ १७ ॥
अनिरुद्ध भी हाथोंमें ढाल और तलवार लेकर मारे गए और कटे हुए सिरवाले धृतराष्ट्र-पुत्रोंकी लाशोंसे इस पृथ्वीको उसी प्रकार ढक दे जिस प्रकार ऋषिगण यज्ञोंमें कुशाओंसे वेदिको ढक देते हैं ॥ १७ ॥

गदोल्मुकौ बाहुकभानुनीथाः शूरश्च संख्ये निशठः कुमारः ।
रणोत्कटौ सारणचारुदेष्णौ कुलोचितं विप्रथयन्तु कर्म ॥ १८ ॥
गद, उल्मुक, बाहुक, भानुनीथ, निशठ ये सब कुमार युद्धमें बडे ही वीर हैं, ऐसे ही रणमें कुशल सारण और चारुदेष्ण अपने कुलके अनुसार वीरताके कर्मको रणमें दिखलावें ॥ १८ ॥

सवृष्णिभोजान्धकयोधमुख्या समागता क्षत्रियशूरसेना ।
हत्वा रणे तान्धृतराष्ट्रपुत्राँल्लोके यशः स्फीतमुपाकरोतु ॥ १९ ॥
वृष्णिवंश, भोजवंश, अन्धकवंश और शूरसेनवंशके वीर युद्धमें उन धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारकर संसारमें यशको बढावें ॥ १९ ॥

ततोऽभिमन्युः पृथिवीं प्रशास्तु यावद्व्रतं धर्मभृतां वरिष्ठः ।
युधिष्ठिरः पारयते महात्मा द्यूते यथोक्तं कुरुसत्तमेन ॥ २० ॥
तब अभिमन्यु सम्पूर्ण पृथ्वीका राज्य करे, और धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ महात्मा महाराज युधिष्ठिर उन प्रतिज्ञाओंका पालन करें, जिन प्रतिज्ञाओंको कुरुओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिरने जुएमें किया था ॥ २० ॥

अस्मत्प्रमुक्तैर्विशिखैर्जितारिस्ततो महीं भोक्ष्यति धर्मराजः ।
निर्धार्तराष्ट्रां हतसूतपुत्रामेतद्धि नः कृत्यतमं यशस्यम् ॥ २१ ॥
पश्चात् हमारे द्वारा छोडे गए बाणोंसे जिसके शत्रु काट दिए गये हैं, वह धर्मराज युधिष्ठिर धृतराष्ट्रके पुत्र और कर्णसे रहित पृथ्वीका पालन करें । यही हमारे यशको बढानेवाले काम हैं ॥ २१ ॥

वासुदेव उवाच

असंशयं माधव सत्यमेतद्गृह्णीम ते वाक्यमदीनसत्त्व।
स्वाभ्यां भुजाभ्यामजितां तु भूमिं नेच्छेत्कुरूणामृषभः कथंचित् ॥ २२ ॥

वासुदेव बोले– हे अत्यन्त बलशाली सात्यकि! तुम्हारे वचनको हम लोग सत्य मानते हैं, परन्तु यह कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिर अपनी भुजाओंसे न जीती हुई पृथ्वीको लेना नहीं चाहते ॥२२॥

न ह्येष कामान्न भयान्न लोभाद्युधिष्ठिरो जातु जह्यात्स्वधर्मम्।
भीमार्जुनौ चातिरथौ यमौ वा तथैव कृष्णा द्रुपदात्मजेयम् ॥ २३ ॥

यह महात्मा न कामसे, न क्रोधसे वा न लोभसे ही अपने धर्मको छोडेंगे, ऐसे ही भीम, अर्जुन, महारथी नकुल, सहदेव और यह द्रुपदकी पुत्री द्रौपदी ये भी सब धर्मको नहीं छोडेंगे॥ २३ ॥

उभौ हि युद्धेऽप्रतिमौ पृथिव्यां वृकोदरश्चैव धनञ्जयश्च।
कस्मान्न कृत्स्नां पृथिवीं प्रशासेन्माद्रीसुताभ्यां च पुरस्कृतोऽयम् ॥ २४ ॥

भीम और अर्जुन दोनों ही पृथ्वीभरमें युद्धमें अजेय हैं। माद्रीनन्दन नकुल और सहदेवकी सहायता पाकर क्या वह सम्पूर्ण पृथ्वीको वशमें नहीं कर सकते? ॥ २४ ॥

यदा तु पाञ्चालपतिर्महात्मा सकेकयश्चेदिपतिर्वयं च
योत्स्याम विक्रम्य परांस्तदा वै सुयोधनस्त्यक्ष्यति जीवलोकम् ॥ २५ ॥

जब महात्मा पाञ्चालपति, कैकय देशके राजा, महात्मा चेदिपति और हम सब लोग अपने पराक्रमको दिखाते हुए शत्रुओंसे रणमें लडेंगे तो निश्चय मानो कि दुर्योधन यह जीवलोक छोड देगा ॥ २५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

नैतच्चित्रं माधव यद्ब्रवीषि सत्यं तु मे रक्ष्यतमं न राज्यम्।
कृष्णस्तु मां वेद यथावदेकः कृष्णं च वेदाहमथो यथावत् ॥ २६ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे सात्यकि! तुम जो कहते हो उसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है, पर मुझको तो सत्यकी रक्षा करनी है, मुझे राज्य उतना प्रिय नहीं है, अकेले कृष्ण ही यथार्थ रूपसे मुझे जानते हैं, और कृष्णको मैं भी यथार्थ रूपसे जानता हूं ॥ २६ ॥

यदैव कालं पुरुषप्रवीरो वेत्स्यत्ययं माधव विक्रमस्य।
तदा रणे त्वं च शिनिप्रवीर सुयोधनं जेष्यसि केशवश्च ॥ २७ ॥

हे सात्यकी! जब यह पुरुषोत्तम कृष्ण युद्धके समयको आया हुआ जानेंगे; तब, हे शिनि-प्रवीर! तुम युद्धमें दुर्योधनको जीतना ॥ २७ ॥

प्रतिप्रयान्त्वद्य दशार्हवीरा दृढोऽस्मि नाथैर्नरलोकनाथैः ।
धर्मेऽप्रमादं कुरुताप्रमेया द्रष्टास्मि भूयः सुखिनः समेतान् ॥ २८ ॥
हे दशार्ह वीरो ! आप नरलोकके स्वामियों तथा अन्य नाथोंकी सहायताके कारण मैं दृढ हूँ। इस समय यादव लोग जायें, हे अद्वितीय वीरो ! धर्ममें कोई प्रमाद न करें, मैं फिर आप लोगोंको सुखसे देखूँगा ॥ २८ ॥

वैशम्पायन उवाच

तेऽन्योन्यमामन्त्र्य तथाभिवाद्य वृद्धान्परिष्वज्य शिशूंश्च सर्वान् ।
यदुप्रवीराः स्वगृहाणि जग्मू राजापि तीर्थान्यनुसंचचार ॥ २९ ॥
वैशम्पायन बोले– वीर यादव आपसमें विचार करके सब लोगोंसे भेंट करके वृद्धोंको प्रणाम और बालकोंको प्यार करके अपने घरोंको चले गये और पाण्डव भी तीर्थोंमें विचरने लगे ॥ २९ ॥

विसृज्य कृष्णं त्वथ धर्मराजो विदर्भराजोपचितां सुतीर्थाम् ।
सुतेन सोमेन विमिश्रितोयां ततः पयोष्णीं प्रति स ह्युवास ॥ ३० ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२० ॥ ४१८७ ॥

इसके बाद कृष्णको विदा करके धर्मराज उस पयोष्णी नामकी नदीपर गये जिसे विदर्भराजने सुन्दर बनाया था, और जिसका जल परम पवित्र और सोममिश्रित है, उस पयोष्णी नदीपर जाकर उन्होंने वास किया ॥ ३० ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ बीसवां अध्याय समाप्त ॥ १२० ॥ ४१८७ ॥

: १२१ :

लोमश उवाच

नृगेण यजमानेन सोमेनेह पुरन्दरः ।
तर्पितः श्रूयते राजन्स तृप्तो मदमभ्यगात् ॥ १ ॥
लोमश बोले– हे राजन् ! इस तीर्थपर यज्ञके यजमान राजा नृगने इन्द्रको सोम यज्ञसे तृप्त किया था और वह इन्द्र भी तृप्त होकर बहुत आनन्दित हुआ था ऐसा सुना जाता है ॥ १ ॥

इह देवैः सहेन्द्रैर्हि प्रजापतिभिरेव च ।
इष्टं बहुविधैर्यज्ञैर्महद्भिर्भूरिदक्षिणैः ॥ २ ॥
यहीं प्रजापति और इन्द्र तथा अन्य देवोंने बडे बडे तथा बहुत दक्षिणावाले अनेक यज्ञ किये थे ॥ २ ॥

आमूर्तरयसश्चेह राजा वज्रधरं प्रभुम्।
तर्पयामास सोमेन हयमेधेषु सप्तसु ॥ ३ ॥
सुनते हैं, कि यहींपर सात अश्वमेध यज्ञ करके अमूर्तरयके पुत्र राजा गयने इन्द्रको सोमसे तृप्त किया था ॥ ३ ॥

तस्य सप्तसु यज्ञेषु सर्वमासीद्धिरण्मयम्।
वानस्पत्यं च भौमं च यद्‌द्रव्यं नियतं मखे ॥ ४ ॥
सातों यज्ञोंमें जितनी सामग्री थी, सब सुवर्णकी बनी थी, जो पात्र लकडी और मिट्टीके बनते थे, वे भी सब सुवर्णके थे ॥ ४ ॥

तेष्वेव चास्य यज्ञेषु प्रयोगाः सप्त विश्रुताः।
सप्तैकैकस्य यूपस्य चषालाश्चोपरि स्थिताः ॥ ५ ॥
इन सातों यज्ञोंमें उसके द्वारा किए गए सात प्रयोग बहुत प्रसिद्ध हैं एक एक यूपके ऊपर सात सात चषाल (स्तंभके ऊपर गोलाकार काष्ठ) थे ॥ ५ ॥

तस्य स्म यूपान्यज्ञेषु भ्राजमानान्हिरण्मयान्।
स्वयमुत्थापयामासुर्देवाः सेन्द्रा युधिष्ठिर ॥ ६ ॥
उन यज्ञोंमें वे यज्ञस्तंभ सुवर्णके होनेके कारण चमकते थे। हे युधिष्ठिर ! उन यज्ञोंमें उन यूपोंको स्वयं इन्द्र आदि देवोंने उठाया था ॥ ६ ॥

तेषु तस्य मखाग्र्येषु गयस्य पृथिवीपतेः।
अमाद्यदिन्द्रः सोमेन दक्षिणाभिर्द्विजातयः ॥ ७ ॥
हे युधिष्ठिर ! राजा गयके उन श्रेष्ठ यज्ञोंमें इन्द्रादिक देवता सोमपान करके और ब्राह्मण दक्षिणा पाकर प्रसन्न हुए थे ॥ ७ ॥

सिकता वा यथा लोके यथा वा दिवि तारकाः।
यथा वा वर्षतो धारा असंख्येयाश्च केनचित् ॥ ८ ॥
हे महाराज ! जैसे जगत्‌में बालूके कण हैं, आकाशमें तारे हैं और वर्षाकी बूंदें अनगिनत होती हैं ॥ ८ ॥

तथैव तदसंख्येयं धनं यत्प्रददौ गयः।
सदस्येभ्यो महाराज तेषु यज्ञेषु सप्तसु ॥ ९ ॥
ऐसेही राजा गयने उन सातों यज्ञोंमें, हे महाराज ! सदस्योंको दक्षिणामें जो धन दिया था, वह असंख्य था ॥ ९ ॥

भवेत्संख्येयमेतद्वै यदेतत्परिकीर्तिकम् ।
न सा शक्या तु संख्यातुं दक्षिणा दक्षिणावतः ॥ १० ॥

ऊपर लिखी कणिका, तारे, बूंदें इन वस्तुओंकी संख्या भले ही की भी जा सकती है पर उस दक्षिणा देनेवाले राजाकी दक्षिणाके धनकी गिनती तो किसी भी हालतमें नहीं हो सकती ॥१०॥

हिरण्मयीभिर्गोभिश्च कृताभिर्विश्वकर्मणा ।
ब्राह्मणांस्तर्पयामास नानादिग्भ्यः समागतान् ॥ ११ ॥

विश्वकर्माने जो सोनेकी गायें बनाई थीं, उन्हें देकर अनेक देशोंसे आये हुए ब्राह्मणोंको राजा गयने तृप्त किया था ॥ ११ ॥

अल्पावशेषा पृथिवी चैत्यैरासीन्महात्मनः ।
गयस्य यजमानस्य तत्र तत्र विशां पते ॥ १२ ॥

हे पृथ्वीनाथ ! उन यज्ञोंके यजमान महात्मा गयके जहां तहां गाडे गए यज्ञमण्डपोंसे बहुत थोडी ही पृथ्वी खाली बच रही थी ॥ १२ ॥

स लोकान्प्राप्तवानैन्द्रान्कर्मणा तेन भारत ।
सलोकतां तस्य गच्छेत्पयोष्ण्यां य उपस्पृशेत् ॥ १३ ॥

हे भरतनन्दन ! उन यज्ञोंके प्रतापसे राजा गय इन्द्र लोकोंको प्राप्त हुआ, जो कोई इस नदीमें स्नान करता है, वह भी राजा गयकी गतिको पाता है ॥ १३ ॥

तस्मात्त्वमत्र राजेन्द्र भ्रातृभिः सहितोऽनघ ।
उपस्पृश्य महीपाल धूतपाप्मा भविष्यसि ॥ १४ ॥

इसलिए, हे निष्पाप युधिष्ठिर ! तुम भी भाइयोंके सहित इसमें स्नान करके पापोंसे छूट जाओगे ॥ १४ ॥

वैशम्पायन उवाच

स पयोष्ण्यां नरश्रेष्ठः स्नात्वा वै भ्रातृभिः सह ।
वैडूर्यपर्वतं चैव नर्मदां च महानदीम् ।
समाजगाम तेजस्वी भ्रातृभिः सहितोऽनघः ॥ १५ ॥

वैशम्पायन बोले– हे जनमेजय ! निष्पाप तेजस्वी राजा युधिष्ठिर पयोष्णी नदीमें भाइयोंके सहित स्नान करके भाइयोंके साथ वैडूर्य पर्वत और महानदी नर्मदापर पहुंचे ॥ १५ ॥

ततोऽस्य सर्वाण्याचख्यौ लोमशो भगवानृषिः ।
तीर्थानि रमणीयानि तत्र तत्र विशां पते ॥ १६ ॥

वहां भी, हे राजन् ! लोमशऋषिने सब रमणीय तीर्थों और पवित्र स्थानोंके माहात्म्य कहे ॥ १६ ॥

×

यथायोगं यथाप्रीति प्रययौ भ्रातृभिः सह।
ददमानोऽसकृद्वित्तं ब्राह्मणेभ्यः सहस्रशः ॥ १७ ॥

ब्राह्मणोंको हजारोंकी संख्यामें बारबार दान देते देते वे युधिष्ठिर भाईयोंके साथ प्रीत्यनुसार तथा समयानुसार आगे चले ॥ १७ ॥

लोमश उवाच

देवानामेति कौन्तेय तथा राज्ञां सलोकताम्।
वैडूर्यपर्वतं दृष्ट्वा नर्मदामवतीर्य च ॥ १८ ॥

लोमश बोले– हे कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर! वैडूर्य पर्वतको देखकर और नर्मदाको पार करके राजा देवलोकको प्राप्त होते हैं! ॥ १८ ॥

संधिरेष नरश्रेष्ठ त्रेताया द्वापरस्य च।
एतमासाद्य कौन्तेय सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ १९ ॥

हे मनुष्योंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर! यहां द्वापर और त्रेतायुगकी सन्धिके समान काल है, यहां पहुंचनेपर मनुष्यके सब पापोंका नाश हो जाता है ॥ १९ ॥

एष शर्यातियज्ञस्य देशस्तात प्रकाशते।
साक्षाद्यत्रापिबत्सोममश्विभ्यां सह कौशिकः ॥ २० ॥

यह राजा शर्यातिके यज्ञका देश प्रकाशित हो रहा है, यहांपर कौशिकमुनिने साक्षात् अश्विनीकुमारोंके सहित सोमपान किया था ॥ २० ॥

चुकोप भार्गवश्चापि महेन्द्रस्य महातपाः।
संस्तम्भयामास च तं वासवं च्यवनः प्रभुः।
सुकन्यां चापि भार्यां स राजपुत्रीमवाप्तवान् ॥ २१ ॥

यहीं महातपस्वी भृगुवंशी च्यवनने इन्द्रपर क्रोध किया था और उस इन्द्रको प्रभु च्यवनने स्थिर कर दिया था। च्यवन ऋषिने राजपुत्री सुकन्यासे यहीं विवाह किया था ॥ २१ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कथं विष्टम्भितस्तेन भगवान्पाकशासनः।
किमर्थं भार्गवश्चापि कोपं चक्रे महातपाः ॥ २२ ॥

युधिष्ठिर बोले– महाराज इन्द्रको च्यवनने कैसे स्तम्भित किया था और महातपस्वी च्यवन भी इन्द्रपर क्यों क्रुद्ध हुए थे ॥ २२ ॥

नासत्यौ च कथं ब्रह्मन्कृतवान्सोमपीथिनौ ।
एतत्सर्वं यथावृत्तमाख्यातु भगवान्मम ॥ २३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि एकविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२१ ॥ ४२१० ॥

हे ब्रह्मन् ! किस प्रकारसे अश्विनीकुमारोंको सोमपान कराया था, यह सब वृत्तान्त आप मुझसे ठीक ठीक कहिये ॥ २३ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ इकीसवां अध्याय समाप्त ॥ १२१ ॥ ४२१० ॥

: १२२ :

लोमश उवाच

भृगोर्महर्षेः पुत्रोऽभूच्च्यवनो नाम भार्गवः ।
समीपे सरसः सोऽस्य तपस्तेपे महाद्युतिः ॥ १ ॥

लोमश बोले– हे राजन् ! महर्षि भृगुके पुत्र च्यवन नामके भार्गव हुए, उन ऋषिने इस तालावके किनारे महातप किया था ॥ १ ॥

स्थाणुभूतो महातेजा वीरस्थानेन पाण्डव ।
अतिष्ठत्सुबहून्कालानेकदेशे विशां पते ॥ २ ॥

हे प्रजानाथ ! महातेजस्वी वह च्यवन एक ही स्थानमें तप करते हुए बहुत कालतक वीरासनपर बैठे रहनेके कारण खम्भेके समान अचल हो गये थे ॥ २ ॥

स वल्मीकोऽभवदृषिर्लताभिरभिसंवृतः ।
कालेन महता राजन्समाकीर्णः पिपीलिकैः ॥ ३ ॥

हे राजन् ! लताओंसे उनका शरीर छिप गया था और एक लम्बे समयके बाद चींटियोंने उनके शरीरपर बाम्बी बना ली थीं ॥ ३ ॥

तथा स संवृतो धीमान्मृत्पिण्ड इव सर्वशः ।
तप्यति स्म तपो राजन्वल्मीकेन समावृतः ॥ ४ ॥

बामीसे छिपे हुए वह महात्मा मिट्टीके पिण्डसे मालूम होते थे और, हे राजन् ! उस बामीसे घिर जानेपर भी वे तप किये जाते थे ॥ ४ ॥

अथ दीर्घस्य कालस्य शर्यातिर्नाम पार्थिवः ।
आजगाम सरो रम्यं विहर्तुमिदमुत्तमम् ॥ ५ ॥

बहुत कालके बाद शर्याति नामका एक राजा इस मनोहर और उत्तम तालाबपर विहार करने आया ॥ ५ ॥

तस्य स्त्रीणां सहस्राणि चत्वार्यासन्परिग्रहः ।
एकैव च सुता शुभ्रा सुकन्या नाम भारत ॥ ६ ॥

राजा शर्यातिके साथ चार हजार स्त्रियां थीं और एक ही अच्छी गोरी गोरी सुकन्या नामकी कन्या थी ॥ ६ ॥

सा सखीभिः परिवृता सर्वाभरणभूषिता ।
चङ्क्रम्यमाणा वल्मीकं भार्गवस्य समासदत् ॥ ७ ॥

हे भारत! वह उत्तम आभूषणोंको पहने हुए सखियोंसे घिरकर घूमती हुई भृगुपुत्र च्यवनकी वामीपर आई ॥ ७ ॥

सा चैव सुदती तत्र पश्यमाना मनोरमान् ।
वनस्पतीन्विचिन्वन्ती विजहार सखीवृता ॥ ८ ॥

वहांपर मनोहर भूमिको देखकर वनस्पतियोंको चुनती हुई सखियोंके साथ विहार करने लगी ॥ ८ ॥

रूपेण वयसा चैव मदनेन मदेन च ।
बभञ्ज वनवृक्षाणां शाखाः परमपुष्पिताः ॥ ९ ॥

रूप, अवस्था, मद और कामदेवसे भरी हुई उस कन्याने पुष्पोंसे युक्त वनवृक्षोंकी अनेक शाखाओंको तोडा ॥ ९ ॥

तां सखीरहितामेकामेकवस्त्रामलंकृताम् ।
ददर्श भार्गवो धीमांश्चरन्तीमिव विद्युतम् ॥ १० ॥

सखियोंसे रहित, एकान्तमें घूमनेवाली, एक वस्त्र पहने हुए उस सुकन्याको बुद्धिमान् च्यवन ऋषिने बिजलीके समान घूमती हुई देखा ॥ १० ॥

तां पश्यमानो विजने स रेमे परमद्युतिः ।
क्षामकण्ठश्च ब्रह्मर्षिस्तपोबलसमन्वितः ।
तामाबभाषे कल्याणीं सा चास्य न शृणोति वै ॥ ११ ॥

उसे निर्जन वनमें देखकर महातेजस्वी, तपोबलसे समन्वित तथा सूखे हुए गलेवाले वे ब्रह्मर्षि च्यवन आनन्दित हुए और उन्होंने बडी धीमी बोलीसे उस कल्याणीसे कुछ कहा, पर सुकन्याने ऋषिकी कोमल वाणीको नहीं सुना ॥ ११ ॥

ततः सुकन्या वल्मीके दृष्ट्वा भार्गवचक्षुषी ।
कौतूहलात्कण्टकेन बुद्धिमोहबलात्कृता ॥ १२ ॥
किं नु खल्विदमित्युक्त्वा निर्बिभेदास्य लोचने ।
अक्रुध्यत्स तया विद्धे नेत्रे परममन्युमान् ।
ततः शर्यातिसैन्यस्य शकृन्मूत्रं समावृणोत् ॥ १३ ॥

तत्पश्चात् बामीके भीतर च्यवन मुनिकी चमकती हुई आंखोंको उस कन्याने देखा, बुद्धिके मोहसे सुकन्याने कुतूहलपूर्वक कांटे च्यवन ऋषिकी आंखोंमें 'यह क्या है' यह कहकर चुभो दिए, इससे च्यवनकी आंखें फूट गईं, नेत्रोंके फूटनेसे क्रोधी च्यवन ऋषिको बडा क्रोध हुआ, और उन्हें राजा शर्यातिकी सेनाका विष्ठा और मूत्र बन्द कर दिया ॥ १२-१३ ॥

ततो रुद्धे शकृन्मूत्रे सैन्यमानाहदुःखितम् ।
तथागतमभिप्रेक्ष्य पर्यपृच्छत्स पार्थिवः ॥ १४ ॥

सेनाके मूत्र और विष्टा बन्द हो जानेसे सब सेना घबरायी और उस सेनाको उस प्रकारसे आया देखकर राजाने सब सेनासे पूछा ॥ १४ ॥

तपोनित्यस्य वृद्धस्य रोषणस्य विशेषतः ।
केनापकृतमद्येह भार्गवस्य महात्मनः ।
ज्ञातं वा यदि वाज्ञातं तद्दृतं ब्रूत माचिरम् ॥ १५ ॥

कि तप करनेवाले वृद्ध विशेषतः क्रोधी महात्मा च्यवनका यह अपराध किसने किया ? चाहे उसने ज्ञानसे किया हो वा अज्ञानसे, पर जिसने अपराध किया हो वह शीघ्र कह दे ॥ १५ ॥

तमूचुः सैनिकाः सर्वे न विद्मोऽपकृतं वयम् ।
सर्वोपायैर्यथाकामं भवांस्तदधिगच्छतु ॥ १६ ॥

सैनिकोंने कहा— कि महाराज ! हम नहीं जानते किसने अपराध किया है । आप सभी उपायोंसे अपनी इच्छासे उस बातका पता लगाइए ॥ १६ ॥

ततः स पृथिवीपालः साम्ना चोग्रेण च स्वयम् ।
पर्यपृच्छत्सुहृद्वर्गं प्रत्यजानन्न चैव ते ॥ १७ ॥

तब राजाने स्वयं शान्तिसे और क्रोधसे बन्धुबान्धवोंसे पूछा । उन्होंने भी कहा— महाराज हम नहीं जानते किसने अपराध किया है ॥ १७ ॥

आनाहार्तं ततो दृष्ट्वा तत्सैन्यमसुखार्दितम् ।
पितरं दुःखितं चापि सुकन्येदमथाब्रवीत् ॥ १८ ॥

तब सुकन्याने सेनाके सब मनुष्य तथा अपने पिताको रोगसे दुःखी देखकर यह वचन कहा ॥ १८ ॥

मयाटन्त्येह वल्मीके दृष्टं सत्त्वमभिज्वलत्।
खद्योतवदभिज्ञातं तन्मया विद्धमन्तिकात् ॥ १९ ॥

महाराज! मैंने वनमें घूमते हुए एक बामीमें चमकता हुआ कोई जीव देखा था, मैंने उसे कोई जुगनु समझा और पास जाकर उसे बींध दिया ॥ १९ ॥

एतच्छ्रुत्वा तु शर्यातिर्वल्मीकं तूर्णमाद्रवत्।
तत्रापश्यत्तपोवृद्धं वयोवृद्धं च भार्गवम् ॥ २० ॥

सुकन्याकी बातको सुनकर राजा शर्याति शीघ्रतासे बामीके पास गये, वहां जाकर तपस्या और अवस्थामें बूढे च्यवनको देखा ॥ २० ॥

अयाचदथ सैन्यार्थं प्राञ्जलिः पृथिवीपतिः
अज्ञानाद्बालया यत्ते कृतं तत्क्षन्तुमर्हसि ॥ २१ ॥

तब सेनाके दुःख निवारणके निमित्त हाथ जोडकर प्रार्थना की, कि हे महर्षे! कन्याने जो अज्ञानसे आपका अपराध किया है, उसे क्षमा कीजिये ॥ २१ ॥

ततोऽब्रवीन्महीपालं च्यवनो भार्गवस्तदा।
रूपौदार्यसमायुक्तां लोभमोहबलात्कृताम् ॥ २२ ॥
तामेव प्रतिगृह्याहं राजन्दुहितरं तव।
क्षमिष्यामि महीपाल सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥ २३ ॥

तब भृगुपुत्र च्यवनने राजासे कहा— कि हे राजन्! रूप और उदारतासे सम्पन्न तथा लोभ और मोहसे बलपूर्वक आकृष्ट हुई हुई तुम्हारी कन्याको लेकर ही मैं उसे क्षमा करूंगा, हे पृथ्वीनाथ! मैं तुमसे यह सत्य कहता हूँ ॥ २२-२३ ॥

ऋषेर्वचनमाज्ञाय शर्यातिरविचारयन्।
ददौ दुहितरं तस्मै च्यवनाय महात्मने ॥ २४ ॥

हे युधिष्ठिर! ऋषिके वचन सुनकर राजा शर्यातिने विना विचारे उस महात्मा च्यवनको अपनी कन्या दे दी ॥ २४ ॥

प्रतिगृह्य च तां कन्यां च्यवनः प्रससाद ह।
प्राप्तप्रसादो राजा स ससैन्यः पुनराव्रजत् ॥ २५ ॥

उस कन्याको लेकर च्यवनने अपने क्रोधको शान्त किया, और च्यवनका प्रसाद प्राप्तकर राजा शर्याति भी अपनी सेनाके सहित नगरको चले गये ॥ २५ ॥

सुकन्यापि पतिं लब्ध्वा तपस्विनमनिन्दिता।
नित्यं पर्यचरत्प्रीत्या तपसा नियमेन च ॥ २६ ॥

अनिन्दिता सुकन्या तपस्वी ऋषिको पति पाकर बडी प्रीतिके साथ तप और नियममें स्थित होकर उनकी सेवा करने लगी ॥ २६ ॥

अग्नीनामतिथीनां च शुश्रूषुरनसूयिका।
समाराधयत क्षिप्रं च्यवनं सा शुभानना ॥ २७ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२२ ॥ ४२३७ ॥

ईर्ष्या न करनेवाली तथा सुन्दर मुखवाली सुकन्याने अग्नि और अतिथियोंकी सेवा करनेवाली होकर पति च्यवनको बहुत जल्दी खुश कर लिया ॥ २७ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ बाइसवां अध्याय समाप्त ॥ १२२ ॥ ४२३७ ॥

: १२३ :

लोमश उवाच

कस्यचित्त्वथ कालस्य सुराणामश्विनौ नृप।
कृताभिषेकां विवृतां सुकन्यां तामपश्यताम् ॥ १ ॥

लोमश बोले— हे राजन् ! किसी समय घूमते हुए अश्विनीकुमारोंने स्नान किये हुए वस्त्ररहित उस सुकन्याको देखा ॥ १ ॥

तां दृष्ट्वा दर्शनीयाङ्गीं देवराजसुतामिव।
ऊचतुः समभिद्रुत्य नासत्यावश्विनाविदम् ॥ २ ॥

इन्द्रकी पुत्रीके समान मनोहर अंगोंवाली सुकन्याको देखकरके और उसके पास जाकर नासत्य अश्विनीकुमारोंने यह वचन कहे ॥ २ ॥

कस्य त्वमसि वामोरु किं वने वै करोषि च।
इच्छाव भद्रे ज्ञातुं त्वां तत्त्वमाख्याहि शोभने ॥ ३ ॥

हे शोभने ! हे सुन्दर जांघोंवाली ! हम तुम्हें जानना चाहते हैं, कि तुम किसकी स्त्री हो ? और इस वनमें क्या करती हो ? यह सब हमसे कहो ॥ ३ ॥

ततः सुकन्या संवीता तावुवाच सुरोत्तमौ।
शर्यातितनयां वित्तं भार्यां च च्यवनस्य माम् ॥ ४ ॥

सुकन्याने लज्जित होकर उन दोनों श्रेष्ठ देवोंसे कहा— तुम मुझे राजा शर्यातिकी कन्या और च्यवन ऋषिकी स्त्री समझो ॥ ४ ॥

अथाश्विनौ प्रहस्यैतामब्रूतां पुनरेव तु।
कथं त्वमसि कल्याणि पित्रा दत्ता गताध्वने ॥ ५ ॥

अश्विनीकुमारोंने हंसकर फिर कहा— कि हे कल्याणि ! पिताने बूढेके सङ्ग तुम्हारा विवाह कैसे कर दिया ? ॥ ५ ॥

भ्राजसे वनमध्ये त्वं विद्युत्सौदामिनी यथा।
न देवेष्वपि तुल्यां हि त्वया पश्याम भामिनि ॥ ६ ॥

हे भामिनि! इस वनमें तुम बादलोंमें बिजलीके समान शोभायमान हो रही हो, तुम्हारे समान रूपवाली स्त्री देवताओंमें भी हमने नहीं देखी ॥ ६ ॥

सर्वाभरणसंपन्ना परमाम्बरधारिणी।
शोभेथास्त्वनवद्याङ्गि न त्वेवं मलपङ्किनी ॥ ७ ॥

हे अनिन्दित अंगोंवाली! सब आभूषणोंसे युक्त उत्तम वस्त्र पहने तुम ऐसी शोभित होओगी हो कि तुम्हारे आगे कमल भी शोभा नहीं देगा ॥ ७ ॥

कस्मादेवंविधा भूत्वा जराजर्जरितं पतिम्।
त्वमुपास्से ह कल्याणि कामभोगबहिष्कृतम् ॥ ८ ॥

हे कल्याणि! इस प्रकार सुन्दर होकर भी तुम किस कारणसे ऐसे अत्यन्त वृद्ध पतिकी सेवा करती हो, जो तुमसे कामभोग करनेमें भी असमर्थ है ॥ ८ ॥

असमर्थं परित्राणे पोषणे च शुचिस्मिते।
साधु च्यवनमुत्सृज्य वरयस्वैकमावयोः।
पत्यर्थं देवगर्भाभे मा वृथा यौवनं कृथाः ॥ ९ ॥

तथा, हे सुन्दर मुस्कराहटोंवाली! जो तुम्हारी रक्षा करने एवं पालनपोषण करनेमें भी असमर्थ है। अतः तुम च्यवनको छोडकर हम दोनोंमेंसे एकको पति बना लो। हे देवकन्याके समान कान्तिवाली! पतिके लिए अपने यौवनको वृथा-मत गंवाओ ॥ ९ ॥

एवमुक्ता सुकन्या तु सुरौ ताविदमब्रवीत्।
रताहं च्यवने पत्यौ मैवं मां पर्यशङ्किथाः ॥ १० ॥

इस प्रकार कहे जानेपर सुकन्या उन दोनों देवोंसे बोली— मैं अपने पति च्यवनमें प्रीति रखती हूँ और फिर ऐसी शंका मत करो ॥ १० ॥

तावब्रूतां पुनस्त्वेनामावां देवभिषग्वरौ।
युवानं रूपसंपन्नं करिष्यावः पतिं तव ॥ ११ ॥

तब अश्विनीकुमार उस सुकन्यासे बोले— कि हम देवोंके श्रेष्ठ वैद्य हैं, तुम्हारे पतिको रूपयुक्त और जवान बना देंगे ॥ ११ ॥

ततस्तस्यावयोश्चैव पतिमेकतमं वृणु।
एतेन समयेनैनमामन्त्रय वरानने ॥ १२ ॥

पश्चात् च्यवनको अथवा हम दोनोंमेंसे किसी एकको पति चुन लो। हे सुन्दर मुखवाली! इस शर्तपर तुम अपने पतिको जल्दी बुला लाओ ॥ १२ ॥

सा तयोर्वचनाद्राजन्नुपसंगम्य भार्गवम् ।
उवाच वाक्यं यत्ताभ्यामुक्तं भृगुसुतं प्रति ॥ १३ ॥

हे राजन् ! उनके वचनको सुनकर सुकन्या भृगुपुत्र च्यवन ऋषिके पास गई, और भृगुके पुत्रको वे सब बातें बताई, जो उन्होंने कही थीं ॥ १३ ॥

तच्छ्रुत्वा च्यवनो भार्यामुवाच क्रियतामिति ।
भर्त्रा सा समनुज्ञाता क्रियतामित्यथाब्रवीत् ॥ १४ ॥

च्यवनने यह सुनकर स्त्रीसे कहा कि जैसा वे कहते हैं वैसा ही करो । इस प्रकार पतिसे आज्ञा पाकर उसने भी अश्विनौसे वैसा करनेके लिए कहा ॥ १४ ॥

श्रुत्वा तदश्विनौ वाक्यं तत्तस्याः क्रियतामिति ।
ऊचतू राजपुत्रीं तां पतिस्तव विशत्वपः ॥ १५ ॥

अश्विनौ भी 'वैसा ही करो' ये सुकन्याके शब्द सुनकर राजपुत्रीसे बोले- कि इस तालावमें स्नान करनेके लिए च्यवन ऋषि जायें ॥ १५ ॥

ततोऽम्भश्च्यवनः शीघ्रं रूपार्थी प्रविवेश ह ।
अश्विनावपि तद्राजन्सरः प्रविशतां प्रभो ॥ १६ ॥

हे प्रभो ! तत्क्षण ही रूपकी लालसासे च्यवन ऋषि उस तालावमें घुस गये । और, हे राजन् ! अश्विनीकुमार भी उनके पीछे तालावमें घुसे ॥ १६ ॥

ततो मुहूर्तादुत्तीर्णाः सर्वे ते सरसस्ततः ।
दिव्यरूपधराः सर्वे युवानो मृष्टकुण्डलाः ।
तुल्यरूपधराश्चैव मनसः प्रीतिवर्धनाः ॥ १७ ॥

एक मुहूर्तके पश्चात् वह तीनों दिव्यरूपवाले जवान उत्तम कुण्डल पहने एक ही रूपसे युक्त तथा मनकी प्रसन्नता बढानेवाले होकर तालावसे निकले ॥ १७ ॥

तेऽब्रुवन्सहिताः सर्वे वृणीष्वान्यतमं शुभे ।
अस्माकमीप्सितं भद्रे पतित्वे वरवर्णिनि ।
यत्र वाप्यभिकामासि तं वृणीष्व सुशोभने ॥ १८ ॥

और वे सब मिलकर सुकन्यासे बोले- कि हे उत्तम वर्णवाली ! हे शुभे ! हे कल्याणी ! हम तीनोंमेंसे तुम्हारी जिसे इच्छा हो एकको पति बना लो । हे सुशोभने ! जिस पर तुम्हारी प्रीति हो, उसहीको पति बना लो ॥ १८ ॥

सा समीक्ष्य तु तान्सर्वांस्तुल्यरूपधरान्स्थितान्।
निश्चित्य मनसा बुद्ध्या देवी वव्रे स्वकं पतिम् ॥ १९ ॥
देवी सुकन्याने सबको समान रूप और समान अवस्थावाले देखकर भी मन और बुद्धिसे अच्छी तरह विचारकर अपने पतिको ही चुन लिया ॥ १९ ॥

लब्ध्वा तु च्यवनो भार्यां वयोरूपं च वाञ्छितम्।
हृष्टोऽब्रवीन्महातेजास्तौ नासत्याविदं वचः ॥ २० ॥
च्यवन ऋषि इच्छित रूप, यौवन और स्त्रीको पाकर बहुत प्रसन्न हुए और महातेजस्वी ऋषि अश्विनीकुमारोंसे यह वाक्य बोले ॥२० ॥

यथाहं रूपसंपन्नो वयसा च समन्वितः।
कृतो भवद्भ्यां वृद्धः सन्भार्यां च प्राप्तवानिमाम् ॥ २१ ॥
जैसे तुमने वृद्ध होते हुए भी मुझे रूप और युवा अवस्थासे युक्त कर दिया और यह स्त्री भी मैंने पा ली है ॥ २१ ॥

तस्माद्युवां करिष्यामि प्रीत्याहं सोमपीथिनौ।
मिषतो देवराजस्य सत्यमेतद्ब्रवीमि वाम् ॥ २२ ॥
वैसे ही मैं भी प्रसन्नतापूर्वक तुमको देवराज इन्द्रके सामने सोमपान करनेवाला बनाऊंगा यह मैं सत्य कहता हूं ॥ २२ ॥

तच्छ्रुत्वा हृष्टमनसौ दिवं तौ प्रतिजग्मतुः।
च्यवनोऽपि सुकन्या च सुराविव विजह्रतुः ॥ २३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि त्रयोविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२३ ॥ ४२६० ॥

च्यवन ऋषिके ऐसे वचन सुनकर अश्विनीकुमार प्रसन्नचित्त होकर स्वर्गको चले गये और च्यवन ऋषि तथा सुकन्या आनन्दसे देवोंकी तरह विहार करने लगे ॥ २३ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ तेईसवां अध्याय समाप्त ॥ १२३ ॥ ४२६० ॥

: १२४ :

लोमश उवाच

ततः श्रुत्वा तु शर्यातिर्वयःस्थं च्यवनं कृतम्।
संहृष्टः सेनया सार्धमुपायाद्भार्गवाश्रमम् ॥ १ ॥
लोमश बोले– राजा शर्यातिने सुना कि च्यवन ऋषिको यौवन और सुन्दर रूप प्राप्त हो गया है, तो वे प्रसन्न होकर अपनी सेनाके सहित च्यवन ऋषिके आश्रमपर आया ॥ १ ॥

च्यवनं च सुकन्यां च दृष्ट्वा देवसुताविव ।
रेमे महीपः शर्यातिः कृत्स्नां प्राप्य महीमिव ॥ २ ॥

च्यवन और सुकन्याको देवपुत्रोंके समान देखकर संपूर्ण भूमि प्राप्त होनेके समान आनंदित होकर राजा शर्याति वहां रमने लगे ॥ २ ॥

ऋषिणा सत्कृतस्तेन सभार्यः पृथिवीपतिः ।
उपोपविष्टः कल्याणीः कथाश्चक्रे महामनाः ॥ ३ ॥

स्त्रीके साथ वे राजा ऋषिसे आदर पाकर वहां अनेक प्रकारकी उत्तम कल्याणकारी कथाओंको सुनते हुए कुछ कालतक रहे ॥ ३ ॥

अथैनं भार्गवो राजन्नुवाच परिसान्त्वयन् ।
याजयिष्यामि राजंस्त्वां संभारानुपकल्पय ॥ ४ ॥

हे राजन्! एक दिन च्यवन ऋषि सांत्वना देते हुए राजा शर्यातिसे बोले— हे राजन्! तुम सामग्री इकट्ठी करो, मैं तुम्हें यज्ञ कराऊंगा ॥ ४ ॥

ततः परमसंहृष्टः शर्यातिः पृथिवीपतिः ।
च्यवनस्य महाराज तद्वाक्यं प्रत्यपूजयत् ॥ ५ ॥

हे महाराज! राजा शर्यातिने बहुत प्रसन्न होकर च्यवनके उन वचनोंका सम्मान किया ॥ ५ ॥

प्रशस्तेऽहनि यज्ञीये सर्वकामसमृद्धिमत् ।
कारयामास शर्यातिर्यज्ञायतनमुत्तमम् ॥ ६ ॥

उत्तम दिनमें यज्ञकी सब सामग्री इकट्ठी करके राजा शर्यातिने एक उत्तम यज्ञमण्डप बनवाया ॥ ६ ॥

तत्रैनं च्यवनो राजन्याजयामास भार्गवः ।
अद्भुतानि च तत्रासन्यानि तानि निबोध मे ॥ ७ ॥

हे राजन्! भृगुपुत्र च्यवनने उस यज्ञमण्डपमें राजा शर्यातिसे यज्ञ आरम्भ कराया। हे राजन् युधिष्ठिर! उस यज्ञमें जो आश्चर्यकी बात हुई वह मुझसे सुनो ॥ ७ ॥

अगृह्णाच्च्यवनः सोममश्विनोर्देवयोस्तदा ।
तमिन्द्रो वारयामास गृह्यमाणं तयोर्ग्रहम् ॥ ८ ॥

तब च्यवन ऋषिने अश्विनीकुमारोंको सोम दिया। तब इन्द्रने च्यवन ऋषिको उन दोनोंको सोम देनेसे रोका ॥ ८ ॥

इन्द्र उवाच

उभावेतौ न सोमार्हौ नासत्याविति मे मतिः ।
भिषजौ देवपुत्राणां कर्मणा नैवमर्हतः ॥ ९ ॥

इन्द्र बोले– यह दोनों अश्विनीकुमार स्वर्गमें देवताओंकी दवा करते हैं, इसलिये अपने कर्मके कारण ये दोनों अश्विनीकुमार सोम पीनेके योग्य नहीं हैं, ऐसा मेरा विचार है ॥ ९ ॥

च्यवन उवाच

मावमंस्था महात्मानौ रूपद्रविणवत्तरौ ।
यौ चक्रतुर्मां मघवन्वृन्दारकमिवाजरम् ॥ १० ॥

च्यवन बोले– हे इन्द्र! यह दोनों बडे महात्मा, रूप और धनसे युक्त हैं, उन्होंने मुझे देवताओंके समान वृद्धावस्थासे रहित किया है; इसलिए, हे इन्द्र! इनका अपमान मत करो ॥ १० ॥

ऋते त्वां विबुधांश्चान्यान्कथं वै नार्हतः सवम् ।
अश्विनावपि देवेन्द्र देवौ विद्धि पुरन्दर ॥ ११ ॥

हे पुरन्दर! ये दोनों तुम और सब देवताओं यज्ञको छोडकर भाग क्यों न पावें ? हे देवेन्द्र! इन अश्विनौंको भी तुम देव समझो ॥ ११ ॥

इन्द्र उवाच

चिकित्सकौ कर्मकरौ कामरूपसमन्वितौ ।
लोके चरन्तौ मर्त्यानां कथं सोममिहार्हतः ॥ १२ ॥

इन्द्र बोले–हे च्यवन ऋषि! यह दोनों चिकित्सा करनेवाले, कर्म करनेवाले, इच्छानुसार रूप धारण करके मनुष्य लोकमें घूमनेवाले हैं, तब किस रीतिसे ये सोमको पाने योग्य हैं ? ॥ १२ ॥

लोमश उवाच

एतदेव यदा वाक्यमाम्रेडयति वासवः ।
अनादृत्य ततः शक्रं ग्रहं जग्राह भार्गवः ॥ १३ ॥

लोमश बोले– ज्योंही इन्द्र इस वचनको दूसरी बार कहना चाहते थे, त्योंही भृगुपुत्र च्यवनने इन्द्रका अनादर करके अश्विनीकुमारोंको सोम प्रदान किया ॥ १३ ॥

ग्रहीष्यन्तं तु तं सोममश्विनोरुत्तमं तदा ।
समीक्ष्य बलभिद्देव इदं वचनमब्रवीत् ॥ १४ ॥

तब अश्विनीकुमारोंको उत्तम सोम लेते देखकर बलनाशक देव इन्द्रने ऐसे वचन कहे ॥ १४ ॥

आभ्यामर्थाय सोमं त्वं ग्रहीष्यसि यदि स्वयम् ।
वज्रं ते प्रहरिष्यामि घोररूपमनुत्तमम् ॥ १५ ॥

हे च्यवन! यदि तुम स्वयं इन दोनोंको सोम दोगे तो मैं तुम्हारे ऊपर अत्यन्त घोर वज्रका प्रहार करूंगा ॥ १५ ॥

एवमुक्तः स्मयन्निन्द्रमभिवीक्ष्य स भार्गवः ।
जग्राह विधिवत्सोममश्विभ्यामुत्तमं ग्रहम् ॥ १६ ॥

ऐसा कहनेपर भी मुस्कराते हुए तथा इन्द्रकी तरफ देखकर च्यवनने अश्विनीकुमारोंको विधिवत् उत्तम सोम प्रदान किया ॥ १६ ॥

ततोऽस्मै प्राहरद्वज्रं घोररूपं शचीपतिः ।
तस्य प्रहरतो बाहुं स्तम्भयामास भार्गवः ॥ १७ ॥

तब शचीपति इन्द्रने च्यवन ऋषिके ऊपर घोर वज्र चलाया, तब च्यवन ऋषिने प्रहार करनेवाले इन्द्रके हाथको स्तम्भित कर दिया ॥ १७ ॥

संस्तम्भयित्वा च्यवनो जुहुवे मन्त्रतोऽनलम् ।
कृत्यार्थी सुमहातेजा देवं हिंसितुमुद्यतः ॥ १८ ॥

उसके हाथको स्तंभित करके महातेजस्वी च्यवन मन्त्रसे अग्निको प्रज्ज्वलित करके देवराज इन्द्रको मारनेके लिए कृत्याको उत्पन्न करनेकी इच्छासे अग्निमें हवन करने लगे ॥ १८ ॥

ततः कृत्या समभवदृषेस्तस्य तपोबलात् ।
मदो नाम महावीर्यो बृहत्कायो महासुरः ।
शरीरं यस्य निर्देष्टुमशक्यं तु सुरासुरैः ॥ १९ ॥

तब उस ऋषिके तप और बलके कारण यज्ञकुण्डसे महापराक्रमी महाशरीरधारी मद नामक महाअसुर कृत्यारूपमें उत्पन्न हुआ, इस महाअसुरके शरीरका वर्णन करनेमें सुर और असुर असमर्थ थे ॥ १९ ॥

तस्यास्यमभवद्धोरं तीक्ष्णाग्रदशनं महत् ।
हनुरेका स्थिता तस्य भूमावेका दिवं गता ॥ २० ॥

उसका मुख आगे निकले हुए तीखी दाढोंसे महा भयङ्कर जान पडता था, उसका एक ओठ पृथ्वीपर और दूसरा आकाशमें फैला हुआ था ॥ २० ॥

चतस्र आयता दंष्ट्रा योजनानां शतं शतम् ।
इतरे त्वस्य दशना बभूवुर्दशयोजनाः ।
प्राकारसदृशाकाराः शूलाग्रसमदर्शनाः ॥ २१ ॥

चार दाढें उसकी सौ सौ योजनकी थीं और दूसरे दांत दस दस योजनके थे, वे परकोटेके आकारवाले और शूलके अग्रभागके समान तीक्ष्ण थे ॥ २१ ॥

बाहू पर्वतसंकाशावायतावयुतं समौ।
नेत्रे रविशशिप्रख्ये वक्त्रमन्तकसन्निभम् ॥ २२ ॥

उसकी दोनों भुजायें पर्वतके समान विस्तृत और उसीके समान मोटी थीं, तथा दस हजार योजन लम्बी थीं, नेत्र सूर्य चन्द्रमाके समान और मुख यमके समान था ॥ २२ ॥

लेलिहञ्जिह्वया वक्त्रं विद्युच्चपललोलया।
व्यात्ताननो घोरदृष्टिर्ग्रसन्निव जगद्बलात् ॥ २३ ॥

वह बिजलीके समान चंचल जीभसे अपना मुंह चाट रहा था। उसे देखकर ऐसा जान पडता था कि वह जगत्को अभी चाट जायेगा। उसका मुख फटा हुआ था और नजरें बडी भयंकर थीं ॥ २३ ॥

स भक्षयिष्यन्संक्रुद्धः शतक्रतुमुपाद्रवत्।
महता घोररूपेण लोकाञ्शब्देन नादयन् ॥ २४ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि चतुर्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२४ ॥ ४२८४ ॥

वह राक्षस बडे क्रोधसे अपने अत्यन्त भयंकर गर्जनसे लोकोंको गुंजाता हुआ इन्द्रको खानेके लिये इन्द्रकी तरफ दौडा ॥ २४ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ चौबीसवां अध्याय समाप्त ॥ १२४ ॥ ४२८४ ॥

: १२५ :

लोमश उवाच

तं दृष्ट्वा घोरवदनं मदं देवः शतक्रतुः।
आयान्तं भक्षयिष्यन्तं व्यात्ताननमिवान्तकम् ॥ १ ॥
भयात्संस्तम्भितभुजः सृक्किणी लेलिहन्मुहुः।
ततोऽब्रवीद्देवराजश्च्यवनं भयपीडितः ॥ २ ॥

लोमश बोले– उस भयानक मुंहवाले अन्तकके समान मद राक्षसको मुंह पसारे खानेको आता हुआ देखकर देव इन्द्र भयसे बहुत व्याकुल हुए, भयसे उनके दोनों हाथ स्तंभित हो गये। अपने मुखके अंदरका भाग चाटने लगे। तब भयसे पीडित इन्द्र च्यवन ऋषिसे ऐसा बोले ॥ १-२ ॥

सोमार्हावश्विनावेतावद्य प्रभृति भार्गव।
भविष्यतः सत्यमेतद्वचो ब्रह्मन्ब्रवीमि ते ॥ ३ ॥

हे भार्गव! आजसे यह दोनों अश्विनीकुमार सोमरस पीनेके योग्य हुए, ये मेरे वचनको सत्य हैं, हे ब्रह्मन्! यह मैं आपसे कह रहा हूँ ॥ ३ ॥

न ते मिथ्या समारम्भो भवत्वेष परो विधिः ।
जानामि चाहं विप्रर्षे न मिथ्या त्वं करिष्यसि ॥ ४ ॥

हे विप्रर्षे ! इस विधिवत् चलाये गये यज्ञका समारंभ विफल नहीं होगा। मैं यह जानता हूं, कि आपका वचन कदापि मिथ्या नहीं होगा ॥ ४ ॥

सोमार्हावश्विनावेतौ यथैवाद्य कृतौ त्वया ।
भूय एव तु ते वीर्यं प्रकाशेदिति भार्गव ॥ ५ ॥

आज आपने इन अश्विनीकुमारोंको यज्ञमें भाग पाने योग्य बना दिया, हे भार्गव ! इस कार्यसे आपका प्रताप और भी ज्यादा प्रकाशित होगा ॥ ५ ॥

सुकन्यायाः पितुश्चास्य लोके कीर्तिः प्रथेदिति ।
अतो मयैतद्विहितं तव वीर्यप्रकाशनम् ।
तस्मात्प्रसादं कुरु मे भवत्वेतद्यथेच्छसि ॥ ६ ॥

इस सुकन्याके पिताका यश जगत्में प्रसिद्ध हो, इसीलिये मैंने आपके प्रतापको प्रकट करनेके लिए यह काम किया। हे भृगुनन्दन ! आप मेरे ऊपर कृपा करें, जैसा आप चाहते हैं वैसा ही हो ॥ ६ ॥

एवमुक्तस्य शक्रेण च्यवनस्य महात्मनः ।
स मन्युर्व्यगमच्छीघ्रं मुमोच च पुरन्दरम् ॥ ७ ॥

इन्द्रके ऐसा कहनेपर महात्मा च्यवनका क्रोध शीघ्र ही शान्त हो गया और इन्द्रको मदने छोड दिया ॥ ७ ॥

मदं च व्यभजद्राजन्पाने स्त्रीषु च वीर्यवान् ।
अक्षेषु मृगयायां च पूर्वसृष्टं पुनः पुनः ॥ ८ ॥

हे राजन् युधिष्ठिर ! तब वीर्यवान् च्यवनने उस मदके विभाग किये। तदनन्तर वह मद मद्यपानमें स्त्रियोंमें, जुएमें और शिकारमें जा बसा ॥ ८ ॥

तदा मदं विनिक्षिप्य शक्रं संतर्प्य चेन्दुना ।
अश्विभ्यां सहितान्देवान्याजयित्वा च तं नृपम् ॥ ९ ॥

हे राजन् युधिष्ठिर ! इस रीतिसे मदको स्थापित करके च्यवनने सोमसे इन्द्रको और अश्विनीकुमार तथा अन्य देवताओंको तृप्त करके राजा शर्यातिका यज्ञ पूर्ण किया ॥ ९ ॥

विख्याप्य वीर्यं सर्वेषु लोकेषु वदतां वरः ।
सुकन्यया सहारण्ये विजहारानुरक्तया ॥ १० ॥

इस रीतिसे बोलनेवालोंमें श्रेष्ठ च्यवन ऋषिने अपने यशको जगत्में फैलाया और वे पतिमें अनुरक्त सुकन्याके सहित वनमें विहार करने लगे ॥ १० ॥

तस्यैतद्द्विजसंघुष्टं सरो राजन्प्रकाशते।
अत्र त्वं सह सोदर्यैः पितॄन्देवांश्च तर्पय ॥ ११ ॥

उन्हीं च्यवन ऋषिका ब्राह्मणोंसे घिरा हुआ यह तालाव प्रकाशित हो रहा है। इसमें आप अपने भाइयोंके सहित स्नान करके पितर और देवोंका तर्पण करें ॥ ११ ॥

एतद्दृष्ट्वा महीपाल सिकताक्षं च भारत।
सैन्धवारण्यमासाद्य कुल्यानां कुरु दर्शनम्।
पुष्करेषु महाराज सर्वेषु च जलं स्पृश ॥ १२ ॥

हे भारत राजन्! इस तीर्थको देखकर फिर सिकताक्ष तीर्थको चलें और उसे देखकर फिर सैन्धवारण्यमें चलकर छोटी छोटी नदियोंके दर्शन करें, सभी पुष्कर तीर्थोंमें चलकर वहांके जलका स्पर्श करें ॥ १२ ॥

आर्चीकपर्वतश्चैव निवासो वै मनीषिणाम्।
सदाफलः सदास्रोतो मरुतां स्थानमुत्तमम्।
चैत्याश्चैते बहुशतास्त्रिदशानां युधिष्ठिर ॥ १३ ॥

यह आर्चीक पर्वत दीखता है, यह बुद्धिमानोंका निवासस्थान है। तथा बुद्धिमान् मरुत-गणोंका यह उत्तम स्थान है, यह सदा फलवाला और सदा उदकसे पूर्ण रहता है। हे युधिष्ठिर! यहां देवताओंके सैकडों स्थान हैं ॥ १३ ॥

एतच्चन्द्रमसस्तीर्थमृषयः पर्युपासते।
वैखानसाश्च ऋषयो वालखिल्यास्तथैव च ॥ १४ ॥

यही चन्द्रमाका तीर्थ है, जिसमें ऋषि वैखानस तथा वालखिल्य आदि ऋषि निवास करते हैं ॥ १४ ॥

शृङ्गाणि त्रीणि पुण्यानि त्रीणि प्रस्रवणानि च।
सर्वाण्यनुपरिक्रम्य यथाकाममुपस्पृश ॥ १५ ॥

तीन शृङ्ग और तीन झरने यहां परमपवित्र हैं, उनकी प्रदक्षिणा करके यथेच्छ जलका स्पर्श कीजिये ॥ १५ ॥

शांतनुश्चात्र कौन्तेय शुनकश्च नराधिप।
नरनारायणौ चोभौ स्थानं प्राप्ताः सनातनम् ॥ १६ ॥

हे कुन्तीपुत्र राजन्! राजा शन्तनु, शुनक और नर नारायण ऋषि यहींसे सनातन स्थानको प्राप्त हुए हैं ॥ १६ ॥

इह नित्यश्रया देवाः पितरश्च महर्षिभिः ।
आर्चीकपर्वते तेपुस्तान्यजस्व युधिष्ठिर ॥ १७ ॥

यहां देवता और पितर महर्षियोंके साथ सदा ही निवास करके तप करते हैं। हे युधिष्ठिर ! इस आर्चीक पर्वतमें रहनेवाले उनकी आप पूजा करें ॥ १७ ॥

इह ते वै चरून्प्राश्नन्नृषयश्च विशां पते ।
यमुना चाक्षयस्रोताः कृष्णश्चेह तपोरतः ॥ १८ ॥

हे पृथ्वीनाथ ! यहांपर अनेक ऋषियोंने यज्ञ करके चरूका भक्षण किया है, यहीं अक्षय प्रवाहवाली यमुना है, यहीं श्रीकृष्णने तप किया है ॥ १८ ॥

यमौ च भीमसेनश्च कृष्णा चामित्रकर्शन ।
सर्वे चात्र गमिष्यामः सुकृशाः सुतपस्विनः ॥ १९ ॥

हे शत्रुनाशक ! नकुल, सहदेव, द्रौपदी, भीम और कृश देहवाले सभी तपस्वी भी तथा हम सब आपके साथ यहां चलते हैं ॥ १९ ॥

एतत्प्रस्रवणं पुण्यमिन्द्रस्य मनुजाधिप ।
यत्र धाता विधाता च वरुणश्चोर्ध्वमागताः ॥ २० ॥

हे मनुजाधिप ! यह इन्द्रका पवित्र झरना है, यहां धाता, विधाता और वरुण ऊपरसे आते हैं ॥ २० ॥

इह ते न्यवसन्राजन्क्षान्ताः परमधर्मिणः ।
मैत्राणामृजुबुद्धीनामयं गिरिवरः शुभः ॥ २१ ॥

हे राजन् ! यहांपर शान्त चित्तवाले परम धर्मात्मा कोमल बुद्धिवाले मैत्र लोग निवास करते हैं। यह उनका पवित्र पर्वतश्रेष्ठ है ॥ २१ ॥

एषा सा यमुना राजन्राजर्षिगणसेविता ।
नानायज्ञचिता राजन्पुण्या पापभयापहा ॥ २२ ॥

हे राजन् ! यहीं राजर्षि लोगोंसे सेवित यह यमुना है, हे राजन् ! जिसके किनारेपर अनेक प्रकारके पुण्यदायक तथा पाप और भयको दूर करनेवाले यज्ञ हुए हैं ॥ २२ ॥

अत्र राजा महेष्वासो मान्धातायजत स्वयम् ।
सहदेवश्च कौन्तेय सोमको ददतां वरः । ॥ २३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि पञ्चविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२५ ॥ ४३०७ ॥

हे कौन्तेय ! यहींपर महाधनुर्धारी राजा मान्धाता, दाताओंमें श्रेष्ठ सोमक और सहदेवके पुत्रने यज्ञ किए थे ॥ २३ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ पच्चीसवां अध्याय समाप्त ॥ १२५ ॥ ४३०७ ॥

×

: १२६ :

युधिष्ठिर उवाच

मान्धाता राजशार्दूलस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ।
कथं जातो महाब्रह्मन्यौवनाश्वो नृपोत्तमः ।
कथं चैतां परां काष्ठां प्राप्तवानमितद्युतिः ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे ब्रह्मन् ! राजशार्दूल, तीनों लोकोंमें विख्यात, राजाओंमें श्रेष्ठ मान्धाता युवनाश्वके पुत्र कैसे हुए थे ? और किस प्रकारसे अत्यन्त तेजस्वी वे ऐसी उत्तम गतिको प्राप्त हुए थे ॥ १ ॥

यस्य लोकास्त्रयो वश्या विष्णोरिव महात्मनः ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं चरितं तस्य धीमतः ॥ २ ॥

जिससे तीनों लोक उन महात्माके ऐसे वशमें हो गये थे, जैसे विष्णुके हों। मैं उन बुद्धिमान् राजा मान्धाताका चरित्र सुनना चाहता हूँ ॥ २ ॥

यथा मान्धातृशब्दश्च तस्य शक्रसमद्युतेः ।
जन्म चाप्रतिवीर्यस्य कुशलो ह्यसि भाषितुम् ॥ ३ ॥

तथा मान्धातृ शब्दका कारण सुनना चाहता हूं। उन अतुल पराक्रमी तथा इन्द्रके समान तेजस्वी राजाके जन्मका वृत्तान्त कहनेमें आप कुशल हैं ॥ ३ ॥

लोमश उवाच

शृणुष्वावहितो राजन्राज्ञस्तस्य महात्मनः ।
यथा मान्धातृशब्दो वै लोकेषु परिगीयते ॥ ४ ॥

लोमश बोले– हे राजन् ! आप उन महात्माका चरित्र एकाग्र होकर सुनिये, जिस प्रकार लोकमें उनका नाम मान्धाता प्रसिद्ध हुआ ॥ ४ ॥

इक्ष्वाकुवंशप्रभवो युवनाश्वो महीपतिः ।
सोऽयजत्पृथिवीपालः क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः ॥ ५ ॥

इक्ष्वाकुवंशमें युवनाश्व नामक राजा हुए थे। उन राजाने बहुत दक्षिणावाले यज्ञ किए ॥ ५ ॥

अश्वमेधसहस्रं च प्राप्य धर्मभृतां वरः ।
अन्यैश्च क्रतुभिर्मुख्यैर्विविधैराप्तदक्षिणैः ॥ ६ ॥

धर्मधारियोंमें श्रेष्ठ उस राजाने एक हजार अश्वमेध करके और भी बहुतसे अनेक तरहके तथा बहुतसी दक्षिणावाले यज्ञ किए थे ॥ ६ ॥

अनपत्यस्तु राजर्षिः स महात्मा दृढव्रतः ।
मन्त्रिष्वाधाय तद्राज्यं वननित्यो बभूव ह ॥ ७ ॥

यह राजर्षि पुत्रहीन थे, इसलिये दृढव्रती व महात्मा वह राजा मन्त्रियोंको राज्य सौंपकर वनमें चला गया ॥ ७ ॥

शास्त्रदृष्टेन विधिना संयोज्यात्मानमात्मना ।
पिपासाशुष्कहृदयः प्रविवेशाश्रमं भृगोः ॥ ८ ॥

और शास्त्रमें लिखी विधिके अनुसार अपनेको अपनी आत्मामें लीनकरके तपस्या करने लगा । एक समय राजा प्यासके सूखे कण्ठवाला होकर भृगु ऋषिके आश्रममें गया ॥ ८ ॥

तामेव रात्रिं राजेन्द्र महात्मा भृगुनन्दनः ।
इष्टिं चकार सौद्युम्नेर्महर्षिः पुत्रकारणात् ॥ ९ ॥

हे राजेन्द्र ! उसी रात्रिमें महात्मा महर्षि भृगुनन्दनने सौद्युम्न राजाके लिए पुत्रेष्टि यज्ञ किया था ॥ ९ ॥

संभृतो मन्त्रपूतेन वारिणा कलशो महान् ।
तत्रातिष्ठत राजेन्द्र पूर्वमेव समाहितः ।
यत्प्राश्य प्रसवेत्तस्य पत्नी शक्रसमं सुतम् ॥ १० ॥
तं न्यस्य वेद्यां कलशं सुषुपुस्ते महर्षयः ।
रात्रिजागरणश्रान्ता सौद्युम्निः समतीत्य तान् ॥ ११ ॥

मन्त्रसे पवित्र किये हुए और प्राशन करनेसे राजपत्नीको इन्द्रके समान पुत्र देनेवाले जलसे भरा हुआ महान् कलश वहां पहलेसे ही रक्खा था । उस कलशको वेदीपर रखकर वे ऋषि रातके जागनेसे थककर सो रहे थे, और सौद्युम्नि भी उनसे दूर हटकर सो रहा था ॥ १०-११ ॥

शुष्ककण्ठः पिपासार्तः पानीयार्थी भृशं नृपः ।
तं प्रविश्याश्रमं श्रान्तः पानीयं सोऽभ्ययाचत ॥ १२ ॥

सूखे कण्ठवाले, प्याससे व्याकुल, पानीकी इच्छा करनेवाले तथा थके हुए उस राजाने उस आश्रममें घुसकर लोगोंसे पानी मांगा ॥ १२ ॥

तस्य श्रान्तस्य शुष्केण कण्ठेन क्रोशतस्तदा ।
नाश्रौषीत्कश्चन तदा शकुनेरिव वाशितम् ॥ १३ ॥

पर थके हुए तथा सूखे गलेसे चिल्लानेवाले उस राजाके चिड़ियोंके समान कोमल शब्दको किसीने नहीं सुना ॥ १३ ॥

ततस्तं कलशं दृष्ट्वा जलपूर्णं स पार्थिवः ।
अभ्यद्रवत वेगेन पीत्वा चाम्भो व्यवासृजत् ॥ १४ ॥

तब उस राजाने उस जलसे भरे कलशको देखकर वेगसे उसके पास दौडकर यथेच्छ जल पीया और बाकी जलको फेंक दिया ॥ १४ ॥

स पीत्वा शीतलं तोयं पिपासार्तो महीपतिः ।
निर्वाणमगमद्धीमान्सुसुखी चाभवत्तदा ॥ १५ ॥

प्याससे व्याकुल वह बुद्धिमान् राजा उस ठण्डे जलको पीकर बडे आनन्दको प्राप्त हुआ और तब वह सुखी हो गया ॥ १५ ॥

ततस्ते प्रत्यबुध्यन्त ऋषयः सनराधिपाः ।
निस्तोयं तं च कलशं ददृशुः सर्व एव ते ॥ १६ ॥

जब राजासहित सब ऋषिलोग उठे तो उन सबने कलशको जलसे खाली देखा ॥ १६ ॥

कस्य कर्मेदमिति च पर्यपृच्छन्समागताः ।
युवनाश्वो ममेत्येव सत्यं समभिपद्यत ॥ १७ ॥

उन सबने आकर लोगोंसे पूछा— कि यह किसका कर्म है ? तब राजा युवनाश्वने सत्यसत्य कह दिया, कि यह कर्म मेरा है ॥ १७ ॥

न युक्तमिति तं प्राह भगवान्भार्गवस्तदा ।
सुतार्थं स्थापिता ह्यापस्तपसा चैव संभृताः ॥ १८ ॥

तब भगवान् भृगुपुत्रने कहा— कि यह तुमने अच्छा कर्म नहीं किया । यह जल पुत्रप्राप्तिके लिए यहां रखा हुआ था और उसे मन्त्रोंसे शुद्ध किया गया था ॥ १८ ॥

मया ह्यत्राहितं ब्रह्म तप आस्थाय दारुणम् ।
पुत्रार्थं तव राजर्षे महाबलपराक्रम ॥ १९ ॥
महाबलो महावीर्यस्तपोबलसमन्वितः ।
यः शक्रमपि वीर्येण गमयेद्यमसादनम् ॥ २० ॥

मैंने दारुण तप करके पुत्रप्राप्तिके लिए यह जल यहां रखा था, इसलिये, हे अतुल पराक्रमी राजर्षे ! तुम्हारे ऐसा महाबली, महावीर्यवान् और तप तथा बलसे समन्वित पुत्र होगा कि जो अपने बलसे इन्द्रको भी यमके घर भेज सकेगा ॥ १९-२० ॥

अनेन विधिना राजन्मयैतदुपपादितम् ।
अब्भक्षणं त्वया राजन्नयुक्तं कृतमद्य वै ॥ २१ ॥

हे राजन् ! इस विधिसे मैंने यह जल पवित्र करके रखा था । ऐसे उस अभिमंत्रित जलको पीकर, हे राजन् ! तुमने बडा गलत काम किया है ॥ २१ ॥

न त्वद्य शक्यमस्माभिरेतत्कर्तुमतोऽन्यथा ।
नूनं दैवकृतं ह्येतद्यदेवं कृतवानसि ॥ २२ ॥

अब हम अपने तपोबलको मिथ्या नहीं कर सकते; वस्तुतः यह भाग्यका ही काम है जो आज तुमने ऐसा किया है ॥ २२ ॥

पिपासितेन याः पीता विधिमन्त्रपुरस्कृताः ।
आपस्त्वया महाराज मत्तपोवीर्यसंभृताः ।
ताभ्यस्त्वमात्मना पुत्रमेवंवीर्यं जनिष्यसि ॥ २३ ॥

हे महाराज ! मेरे तप और वीर्यसे युक्त तथा विधि और मंत्रसे संस्कृत जिन जलोंको प्यासे होकर तुमने पी लिया था, उसके प्रतापसे तुम्हारे बडा पराक्रमी पुत्र उत्पन्न होगा ॥ २३ ॥

विधास्यामो वयं तत्र तवेष्टिं परमाद्भुताम् ।
यथा शक्रसमं पुत्रं जनयिष्यसि वीर्यवान् ॥ २४ ॥

हम लोग तुम्हारे लिए अद्भुत पुत्रेष्टि यज्ञ करेंगे, जिससे तुम इन्द्रके समान वीर्यवान् पुत्र उत्पन्न करोगे ॥ २४ ॥

ततो वर्षशते पूर्णे तस्य राज्ञो महात्मनः ।
वामं पार्श्वं विनिर्भिद्य सुतः सूर्य इवापरः ॥ २५ ॥

निश्चक्राम महातेजा न च तं मृत्युराविशत् ।
युवनाश्वं नरपतिं तदद्भुतमिवाभवत् ॥ २६ ॥

तब सौ वर्ष पूरे होनेके पश्चात् उस महात्मा राजा युवनाश्वकी बायीं कोख फाडकर दूसरे सूर्यके समान एक महातेजस्वी पुत्र उत्पन्न हुआ, परन्तु उस राजा युवनाश्वमें मृत्यु प्रविष्ट न हो सकी अर्थात् वह मरा नहीं; यह एक बडा अद्भुत कर्म हुआ ॥ २५-२६ ॥

ततः शक्रो महातेजास्तं दिदृक्षुरुपागमत् ।
प्रदेशिनीं ततोऽस्यास्ये शक्रः समभिसंदधे ॥ २७ ॥

महाराज महातेजस्वी इन्द्र उस पुत्रको देखनेके लिए आये और इन्द्रने अपनी तर्जनी अंगुली उस बालकके मुखमें डाल दी ॥ २७ ॥

मामयं धास्यतीत्येवं परिभाष्टः स वज्रिणा ।
मांधातेति च नामास्य चक्रुः सेन्द्रा दिवौकसः ॥ २८ ॥

और तब उस बालकसे इन्द्रने कहा कि ' मां अयं धाता ' अर्थात् यह मुझे ही पीयेगा । तब इन्द्रादि देवताओंने उस बालकका नाम मान्धाता रखा ॥ २८ ॥

प्रदेशिनीं शक्रदत्तामास्वाद्य स शिशुस्तदा ।
अवर्धत महीपाल किष्कूणां च त्रयोदश ॥ २९ ॥

हे महाराज! इन्द्रके द्वारा दी गई तर्जनी अंगुलीको पीकर वह बालक बढने लगा, उसका प्रमाण तेरह किष्कु (वित्ता) हो गया ॥ २९ ॥

वेदास्तं सधनुर्वेदा दिव्यान्यस्त्राणि चेश्वरम् ।
उपतस्थुर्महाराज ध्यातमात्राणि सर्वशः ॥ ३० ॥

हे महाराज! उस बालकके ध्यान करनेमात्रसे ही धनुर्विद्या, वेदविद्या तथा सब दिव्य अस्त्र उसके आगे आकर उपस्थित हो जाते थे ॥ ३० ॥

धनुराजगवं नाम शराः शृङ्गोद्भवाश्च ये ।
अभेद्यं कवचं चैव सद्यस्तमुपसंश्रयन् ॥ ३१ ॥

आजगव नामक धनुष, सींगके बने बाण, काटनेके अयोग्य कवच, तत्क्षण उसको प्राप्त हो गए ॥ ३१ ॥

सोऽभिषिक्तो मघवता स्वयं शक्रेण भारत ।
धर्मेण व्यजयल्लोकांस्त्रीन्विष्णुरिव विक्रमैः ॥ ३२ ॥

हे भारत! इन्द्रके द्वारा अपने हाथसे उसका अभिषेक किये जानेपर राजा मान्धाताने धर्मसे तीनों लोकोंको ऐसे वशमें किया, जैसे विष्णु अपने पराक्रमसे तीनों लोकोंको वशमें रखते हैं ॥ ३२ ॥

तस्याप्रतिहतं चक्रं प्रावर्तत महात्मनः ।
रत्नानि चैव राजर्षिं स्वयमेवोपतस्थिरे ॥ ३३ ॥

उस महात्माका राज्यचक्र बिना रोकटोकके सर्वत्र घूमता था। अनेक प्रकारके रत्न उस राजर्षिको आप ही आप मिल गये ॥ ३३ ॥

तस्येयं वसुसंपूर्णा वसुधा वसुधाधिप ।
तेनेष्टं विविधैर्यज्ञैर्बहुभिः स्वाप्तदक्षिणैः ॥ ३४ ॥

हे वसुधाधिप! उसके राज्यकी पृथ्वी सम्पूर्ण धनोंसे भरी हुई थी, उसने बहुतसी दक्षिणा-ओंवाले अनेक प्रकारके यज्ञ किये ॥ ३४ ॥

चितचैत्यो महातेजा धर्मं प्राप्य च पुष्कलम् ।
शक्रस्यार्धासनं राजँल्लब्धवानमितद्युतिः ॥ ३५ ॥

यज्ञोंके करनेसे अनेक पुण्योंको प्राप्त करके उस महातेजस्वी और अमितद्युति राजाने इन्द्रके आधे आसनको प्राप्त किया ॥ ३५ ॥

एकाह्ना पृथिवी तेन धर्मनित्येन धीमता ।
निर्जिता शासनादेव सरत्नाकरपत्तना ॥ ३६ ॥

उस सदा धर्ममें रत रहनेवाले महातेजस्वी राजाने केवल शासन या आज्ञा देकर समुद्र और नगरोंके सहित सम्पूर्ण पृथ्वी एक दिनमें जीती थी ॥ ३६ ॥

तस्य चित्यैर्महाराज क्रतूनां दक्षिणावताम् ।
चतुरन्ता मही व्याप्ता नासीत्किञ्चिदनावृतम् ॥ ३७ ॥

हे महाराज! उसके दक्षिणावाले यज्ञोंके मण्डपोंसे चारों समुद्रोंवाली पृथ्वी व्याप्त थी। कहीं भी खाली जगह न रही ॥ ३७ ॥

तेन पद्मसहस्राणि गवां दश महात्मना ।
ब्राह्मणेभ्यो महाराज दत्तानीति प्रचक्षते ॥ ३८ ॥

ऐसा कहा जाता है, कि महात्मा मान्धाताने दस हजार पद्म गाये ब्राह्मणोंको दी थीं ॥ ३८ ॥

तेन द्वादशवार्षिक्यामनावृष्ट्यां महात्मना ।
वृष्टं सस्यविवृद्ध्यर्थं मिषतो वज्रपाणिनः ॥ ३९ ॥

एक बार जब उसके राज्यमें बारह वर्षतक अनावृष्टि रही, तो उन महात्माने धान्यकी वृद्धिके लिए वज्रधारी इन्द्रके देखते देखते वृष्टि की थी ॥ ३९ ॥

तेन सोमकुलोत्पन्नो गान्धाराधिपतिर्महान् ।
गर्जन्निव महामेघः प्रमथ्य निहतः शरैः ॥ ४० ॥

उस राजा मान्धाताने चन्द्रवंशी, मेघके समान गर्जते हुए गान्धार देशके महाराजाको तीक्ष्ण बाणोंसे मारा था ॥ ४० ॥

प्रजाश्चतुर्विधास्तेन जिता राजन्महात्मना ।
तेनात्मतपसा लोकाः स्थापिताश्चापि तेजसा ॥ ४१ ॥

हे राजन्! उस महात्मा राजाने चारों प्रकारकी प्रजाओंकी रक्षा की थी, उसने अपने तपके तेजसे तीनों लोकोंको स्थिर किया था ॥ ४१ ॥

तस्यैतद्देवयजनं स्थानमादित्यवर्चसः ।
पश्य पुण्यतमे देशे कुरुक्षेत्रस्य मध्यतः ॥ ४२ ॥

उस सूर्यके समान तेजस्वी राजाका पवित्र कुरुक्षेत्रके इस मध्यस्थानमें यह यज्ञस्थान है उसे देखिए ॥ ४२ ॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं मांधातुश्चरितं महत्।
जन्म चाग्र्यं महीपाल यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ ४३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि षड्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२६ ॥ ४३५० ॥

हे राजन्! यह मैंने आपसे राजा मान्धाताके उत्तम चरित्र और श्रेष्ठ जन्मकी सब कथा कही जो आपने मुझसे पूछी थी ॥ ४३ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ छब्वीसवां अध्याय समाप्त ॥ १२६ ॥ ४३५० ॥

: १२७ :

युधिष्ठिर उवाच

कथंवीर्यः स राजाभूत्सोमको वदतां वर।
कर्माण्यस्य प्रभावं च श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले- हे कहनेवालोंमें श्रेष्ठ! राजा सोमक कैसा पराक्रमी और कैसा कर्म करनेवाला था? उसके कामका प्रभाव कैसा था? यह सब मैं आपसे तत्त्वतः सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥

लोमश उवाच

युधिष्ठिरासीन्नृपतिः सोमको नाम धार्मिकः।
तस्य भार्याशतं राजन्सदृशीनामभूत्तदा ॥ २ ॥

लोमश बोले- हे राजन् युधिष्ठिर! धर्मपरायण सोमक नामक एक राजा था, उसीके समान उसकी सौ स्त्रियां थीं ॥ २ ॥

स वै यत्नेन महता तासु पुत्रं महीपतिः।
कंचिन्नासादयामास कालेन महता अपि ॥ ३ ॥

उसने पुत्र उत्पन्न करनेके लिये बहुत यत्न किये, पर बहुत समयतक बहुत प्रयत्न करनेपर भी कोई पुत्र न हुआ ॥ ३ ॥

कदाचित्तस्य वृद्धस्य यतमानस्य यत्नतः।
जन्तुर्नाम सुतस्तस्मिन्स्त्रीशते समजायत ॥ ४ ॥

जब प्रयत्न करते करते राजा बूढा हो गया, तब यत्नसे उसकी सौ स्त्रियोंमेंसे एकसे जन्तु नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ ४ ॥

तं जातं मातरः सर्वाः परिवार्य समासते।
सततं पृष्ठतः कृत्वा कामभोगान्विशां पते ॥ ५ ॥

उसके उत्पन्न होनेपर मातायें उसे लेकर उसके चारों ओर बैठ गईं और, हे राजन्! फिर कामोपभोगकी ओर ध्यान नहीं दिया ॥ ५ ॥

ततः पिपीलिका जन्तुं कदाचिददशात्स्फजि।
स दष्टो व्यनदद्राजंस्तेन दुःखेन बालकः ॥ ६ ॥

हे पृथ्वीनाथ! एक दिन उस जन्तुको एक चींटीने काट खाया, काटे जानेपर उस दुःखसे महा शब्द किया ॥ ६ ॥

ततस्ता मातरः सर्वाः प्राक्रोशन्भृशदुःखिताः।
परिवार्य जन्तुं सहिताः स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ ७ ॥

तब उस जन्तुको घेरकर सब मातायें बहुत दुःखी होकर जोर जोरसे रोने लगीं, जिससे वहां बहुत शोर हो गया ॥ ७ ॥

तमार्तनादं सहसा शुश्राव स महीपतिः।
अमात्यपरिषन्मध्ये उपविष्टः सहर्त्विजैः ॥ ८ ॥

राजा सोमकने अपने मन्त्रीगण, ऋत्विजों और पारिषदोंके बीचमें बैठे हुए उस आर्तनादको सुना ॥ ८ ॥

ततः प्रस्थापयामास किमेतदिति पार्थिवः।
तस्मै क्षत्ता यथावृत्तमाचचक्षे सुतं प्रति ॥ ९ ॥

उसी समय क्षत्ताको भेजकर मालूम कराया कि वह किसका शब्द है? क्षत्ताने पुत्रका जो ठीक वृत्तान्त था वह राजासे आकर कह दिया ॥ ९ ॥

त्वरमाणः स चोत्थाय सोमकः सह मन्त्रिभिः।
प्रविश्यान्तःपुरं पुत्रमाश्वासयदरिन्दमः ॥ १० ॥

राजा सोमक उस बातको सुनते ही मन्त्री और ऋत्विजके सहित शीघ्रतासे उठकर रनिवासमें गया और उस शत्रुनाशक राजाने पुत्रको चुप कराया ॥ १० ॥

सान्त्वयित्वा तु तं पुत्रं निष्क्रम्यान्तःपुरान्नृपः।
ऋत्विजैः सहितो राजन्सहामात्य उपाविशत् ॥ ११ ॥

और उस पुत्रको चुप कराकर राजा अन्तःपुरसे निकलकर ऋत्विज और अमात्योंके साथ सभामें आ बैठे ॥ ११ ॥

सोमक उवाच

धिगस्त्विहैकपुत्रत्वमपुत्रत्वं वरं भवेत्।
नित्यातुरत्वाद्भूतानां शोक एवैकपुत्रता ॥ १२ ॥

सोमक बोले— एक पुत्रवालेको धिक्कार है, एक पुत्रवालेकी अपेक्षा पुत्रहीन मनुष्य अच्छा, क्योंकि एक पुत्र होनेके कारण सब आतुर रहते हैं, इसलिये एक पुत्रत्व शोक ही है ॥ १२ ॥

इदं भार्याशतं ब्रह्मन्परीक्ष्योपचितं प्रभो।
पुत्रार्थिना मया वोढं न चासां विद्यते प्रजा ॥ १३ ॥

हे ब्रह्मन् प्रभो! पुत्रकी अभिलाषा करनेवाले मैंने परीक्षा करके पुत्रके लिये सौ स्त्रियोंसे विवाह किया, परंतु उनके एक भी पुत्र पैदा नहीं हुआ ॥ १३ ॥

एकः कथञ्चिदुत्पन्नः पुत्रो जन्तुरयं मम।
यतमानस्य सर्वासु किं नु दुःखमतः परम् ॥ १४ ॥

सब स्त्रियोंमें यत्न करनेपर मेरे किसी प्रकारसे यह एक पुत्र जन्तु उत्पन्न हुआ भी है, तो भी किसी योग्य नहीं, इससे अधिक मुझे क्या दुःख होगा ? ॥ १४ ॥

वयश्च समतीतं मे सभार्यस्य द्विजोत्तम।
आसां प्राणाः समायत्ता मम चात्रैकपुत्रके ॥ १५ ॥

हे द्विजश्रेष्ठ! मेरी और मेरी स्त्रियोंकी अवस्था व्यतीत हो गई, इस कारण मेरे और मेरी स्त्रियोंके प्राण इसी एक पुत्र जन्तुमें लगे रहते हैं ॥ १५ ॥

स्यान्नु कर्म तथा युक्तं येन पुत्रशतं भवेत्।
महता लघुना वापि कर्मणा दुष्करेण वा ॥ १६ ॥

यदि ऐसा कोई उपाय हो कि जिससे मेरे सौ पुत्र उत्पन्न हों, यदि वह कर्म सुलभ वा कठिन भी होगा तो भी मैं अवश्य करूंगा ॥ १६ ॥

ऋत्विगुवाच

अस्ति वै तादृशं कर्म येन पुत्रशतं भवेत्।
यदि शक्नोषि तत्कर्तुमथ वक्ष्यामि सोमक ॥ १७ ॥

ऋत्विज् बोले– कि ऐसा कर्म है, जिससे सौ पुत्र हो सकते हैं, हे सोमक! यदि आप उसे कर सकें तो मैं कहूं ? ॥ १७ ॥

सोमक उवाच

कार्यं वा यदि वाकार्यं येन पुत्रशतं भवेत्।
कृतमेव हि तद्विद्धि भगवान्प्रब्रवीतु मे ॥ १८ ॥

सोमक बोले– कि चाहे करने योग्य हो वा न करने योग्य हो जिससे मेरे सौ पुत्र हों, आप उस कर्मको किया हुआ ही जानिए, अतः हे भगवन्! वह कर्म मुझे बताइए ॥ १८ ॥

ऋत्विगुवाच

यजस्व जन्तुना राजंस्त्वं मया वितते क्रतौ।
ततः पुत्रशतं श्रीमद्भविष्यत्यचिरेण ते ॥ १९ ॥

ऋत्विज् बोले– हे राजन्! मेरे द्वारा यज्ञको विस्तृत करनेपर आप जन्तुसे यज्ञ कीजिये तो शीघ्र ही आपके सौ पुत्र होंगे ॥ १९ ॥

वपायां हूयमानायां धूममाघ्राय मातरः ।
ततस्ताः सुमहावीर्याञ्जनयिष्यन्ति ते सुतान् ॥ २० ॥

जब चर्बीका होम किया जायेगा, तब उसके धुवेंको सूंघके अपाकी सब स्त्रियां महावीर्य पुत्रोंको उत्पन्न करेंगी ॥ २० ॥

तस्यामेव तु ते जन्तुर्भविता पुनरात्मजः ।
उत्तरे चास्य सौवर्णं लक्ष्म पार्श्वे भविष्यति ॥ २१ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि सप्तविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२७ ॥ ४३७१ ॥

उस यज्ञमें मरनेसे जन्तु उसी स्त्रीके जिसका यह अब पुत्र है, उसीके फिर उत्पन्न होगा और इसकी बगलमें सोनेका एक चिन्ह रहेगा ॥ २१ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ सत्ताइसवां अध्याय समाप्त ॥ १२७ ॥ ४३७१ ॥

: १२८ :

सोमक उवाच

ब्रह्मन्यद्यद्यथा कार्यं तत्तत्कुरु तथा तथा ।
पुत्रकामतया सर्वं करिष्यामि वचस्तव ॥ १ ॥

सोमक बोले– हे ब्राह्मण ! जो जो काम करने चाहिये उसे आप आरम्भ कीजिये । मैं पुत्रकी इच्छासे आपके सब वचन करूंगा ॥ १ ॥

लोमश उवाच

ततः स याजयामास सोमकं तेन जन्तुना ।
मातरस्तु बलात्पुत्रमपाकर्षुः कृपान्विताः ।
हा हताः स्मेति वाशन्त्यस्तीव्रशोकसमन्विताः ॥ २ ॥

लोमश ऋषि बोले– तब उस ऋत्विजने सोमकके यज्ञ आरम्भ करनेपर जन्तुको मारना चाहा, पर जन्तुओंकी मातायें दयाके कारण पुत्रको जबर्दस्ती छीनने लगीं और हाहा करके रोकर कहने लगीं; हा हमारा नाश हुआ ॥ २ ॥

तं मातरः प्रत्यकर्षन्गृहीत्वा दक्षिणे करे ।
सव्ये पाणौ गृहीत्वा तु याजकोऽपि स्म कर्षति ॥ ३ ॥

दहिना हाथ पकडकर जन्तुकी मातायें खींचती थीं और बायां हाथ ऋत्विज खींचता था ॥ ३ ॥

कुररीणामिवार्तानामपाकृष्य तु तं सुतम् ।
विशस्य चैनं विधिना वपामस्य जुहाव सः ॥ ४ ॥

जैसे मृगी रोती है, उसी प्रकार सब मातायें रोती थीं, ऋत्विजने बलसे बालकको खींचकर उसको काटकर उसकी चर्बीसे हवन किया ॥ ४ ॥

वपायां हूयमानायां गन्धमाघ्राय मातरः ।
आर्ता निपेतुः सहसा पृथिव्यां कुरुनन्दन ।
सर्वाश्च गर्भानलभंस्ततस्ताः पार्थिवाङ्गनाः ॥ ५ ॥

चर्बीकी आहुति दी जानेपर स्त्रियां उस गन्धको सूंघकर भूमिपर मूर्छित होकर गिर गईं। यज्ञके प्रतापसे सब राजाकी स्त्रियोंके गर्भ रह गया ॥ ५ ॥

ततो दशसु मासेषु सोमकस्य विशां पते ।
जज्ञे पुत्रशतं पूर्णं तासु सर्वासु भारत ॥ ६ ॥

हे राजन् ! हे भारत ! दस महीनेमें राजा सोमकके उन सब स्त्रियोंमें एकसौ पुत्र उत्पन्न हुए ॥ ६ ॥

जन्तुर्ज्येष्ठः समभवज्जनित्र्यामेव भारत ।
स तासामिष्ट एवासीन्न तथान्ये निजाः सुताः ॥ ७ ॥

हे भारत ! उन सब माताओंमें जन्तु सबसे बडा हुआ, सब माताओंको जैसा जन्तु प्यारा था वैसा और कोई पुत्र नहीं था ॥ ७ ॥

तच्च लक्ष्मणमस्यासीत्सौवर्णं पार्श्वे उत्तरे ।
तस्मिन्पुत्रशते चाग्र्यः स बभूव गुणैर्युतः ॥ ८ ॥

उसकी बाईं बगलमें सुवर्णका चिन्ह था, जन्तु अपने सौओं भाइयोंमें अधिक गुणवान् और श्रेष्ठ था ॥ ८ ॥

ततः स लोकमगमत्सोमकस्य गुरुः परम् ।
अथ काले व्यतीते तु सोमकोऽप्यगमत्परम् ॥ ९ ॥

राजा सोमकका ऋत्विज कुछ कालके पश्चात् मर गया और उसके बाद थोडा समय बीतने पर राजा सोमक भी मर गए ॥ ९ ॥

अथ तं नरके घोरे पच्यमानं ददर्श सः ।
तमपृच्छत्किमर्थं त्वं नरके पच्यसे द्विज ॥ १० ॥

राजा सोमकने नरकमें जाकर देखा, कि ऋत्विज नरकमें दुःख भोग रहे हैं, तब राजा सोमकने ऋत्विजसे पूछा, हे ब्राह्मण ! तुम किस कारणसे नरकमें पकाये जा रहे हो ? ॥ १० ॥

तमब्रवीद्गुरुः सोऽथ पच्यमानोऽग्निना भृशम्।
त्वं मया याजितो राजंस्तस्येदं कर्मणः फलम् ॥ ११ ॥

तब नरककी अग्निमें जलते हुए उस पुरोहित ब्राह्मणने कहा— हे राजन्! मैंने जो तुमसे यज्ञ कराया था उसी कर्मका यह फल भोगता हूं ॥ ११ ॥

एतच्छ्रुत्वा स राजर्षिर्धर्मराजानमब्रवीत्।
अहमत्र प्रवेक्ष्यामि मुच्यतां मम याजकः।
मत्कृते हि महाभागः पच्यते नरकाग्निना ॥ १२ ॥

राजा सोमकने इस वचनको सुनकर धर्मराजसे कहा— कि मैं इस नरकाग्निमें प्रवेश करूंगा अतः मेरे ऋत्विजको छोड दीजिये। मेरे कारण ही यह ब्राह्मण नरककी अग्निमें जल रहा है ॥ १२ ॥

धर्म उवाच

नान्यः कर्तुः फलं राजन्नुपभुंक्ते कदाचन।
इमानि तव दृश्यन्ते फलानि वदतां वर ॥ १३ ॥

धर्मराज बोले— हे राजन्! दूसरेके कर्मके फलको दूसरा नहीं भोग सकता, हे बोलनेवालोंमें श्रेष्ठ! यह तुम्हारे कर्मके फल देखो तैयार हैं ॥ १३ ॥

सोमक उवाच

पुण्यान्न कामये लोकानृतेऽहं ब्रह्मवादिनम्।
इच्छाम्यहमनेनैव सह वस्तुं सुरालये ॥ १४ ॥

सोमक बोले— कि मैं इस ब्रह्मवादीको छोडकर पुण्यलोकोंमें जानेकी इच्छा नहीं रखता, देवताओंके स्थानमें मैं इस ब्राह्मणके सहित ही रहनेकी इच्छा रखता हूं ॥ १४ ॥

नरके वा धर्मराज कर्मणास्य समो ह्यहम्।
पुण्यापुण्यफलं देव सममस्त्वावयोरिदम् ॥ १५ ॥

हे धर्मराज! नरकमें वा स्वर्गमें हम दोनों साथ ही रहेंगे, क्योंकि कर्ममें दोनों हम समान हैं। हे देव! पुण्य वा पापका फल हम दोनोंका समान ही होगा ॥ १५ ॥

धर्म उवाच

यद्येवमीप्सितं राजन्भुंक्ष्वास्य सहितः फलम्।
तुल्यकालं सहानेन पश्चात्प्राप्स्यसि सद्गतिम् ॥ १६ ॥

धर्मराज बोले— हे राजन्! यही तुम्हारी इच्छा है तो तुम भी इसके साथ कर्म फलको भोगो, पश्चात् समान समय आनेपर इसीके साथ उत्तम गतिको प्राप्त होगे ॥ १६ ॥

लोमश उवाच

स चकार तथा सर्वं राजा राजीवलोचनः।
पुनश्च लेभे लोकान्स्वान्कर्मणा निर्जिताञ्शुभान्।
सह तेनैव विप्रेण गुरुणा स गुरुप्रियः ॥ १७ ॥

लोमश बोले– हे राजन्! उस कमलनेत्र राजाने वह सब काम किया। तत्पश्चात् अपने कर्मसे जीते हुए अति उत्तम लोकोंको प्राप्त किया और गुरुके प्रिय उस राजाने अपने गुरु उस ब्राह्मणके सहित गुरुके ही स्वर्गमें सुखभोग भी किया ॥ १७ ॥

एष तस्याश्रमः पुण्यो य एषोऽग्रे विराजते।
क्षान्त उष्यात्र षड्रात्रं प्राप्नोति सुगतिं नरः ॥ १८ ॥

हे राजन् युधिष्ठिर! यह सामने जो दीखता है, वह उसी राजाका आश्रम है, यहांपर छः रात्रि निवास करनेसे मनुष्यको उत्तम गति प्राप्त होती है ॥ १८ ॥

एतस्मिन्नपि राजेन्द्र वत्स्यामो विगतज्वराः।
षड्रात्रं नियतात्मानः सज्जीभव कुरूद्वह ॥ १९ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि अष्टाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२८ ॥ ४३९० ॥

हे कुरुमुख्य राजेन्द्र! हम लोग इस आश्रमपर जितेन्द्रिय होकर छःरात्रि रहकर अपनी थकावट उतारेंगे। आप तैय्यार हो जाइए ॥ १९ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ अठ्ठाईसवां अध्याय समाप्त ॥ १२८ ॥ ४३९० ॥

: १२९ :

लोमश उवाच

अस्मिन्किल स्वयं राजन्निष्टवान्वै प्रजापतिः।
सत्रमिष्टीकृतं नाम पुरा वर्षसहस्रिकम् ॥ १ ॥

लोमश बोले– हे राजन्! पहले प्रजापतिने स्वयं इस स्थानपर यज्ञ किया था। वह इष्टिकृत नामक यज्ञ पूरे एक हजार वर्षतक चला था ॥ १ ॥

अंबरीषश्च नाभाग इष्टवान्यमुनामनु।
यज्ञैश्च तपसा चैव परां सिद्धिमवाप सः ॥ २ ॥

इस स्थानपर यमुनाके पास अम्बरीष और नाभाग राजाने यज्ञ किए। उन्होंने तप और यज्ञसे परम सिद्धिको प्राप्त किया था ॥ २ ॥

देशो नाहुषयज्ञानामयं पुण्यतमो नृप ।
यत्रेष्ट्वा दश पद्मानि सदस्येभ्यो निसृष्टवान् ॥ ३ ॥

इसलिए यह देश नहुषवंशियोंके लिए अत्यन्त पवित्र माना जाता है, क्योंकि यहां उसने यज्ञ करके दस पद्म गायें ब्राह्मणोंको दी थीं ॥ ३ ॥

सार्वभौमस्य कौन्तेय ययातेरमितौजसः ।
स्पर्धमानस्य शक्रेण पश्येदं यज्ञवास्त्विह ॥ ४ ॥

हे कुन्तीनन्दन ! वह ययाति राजा चक्रवर्ती अनन्त तेजस्वी और इन्द्रसे स्पर्धा करनेवाले थे, यह देश उन्हींकी यज्ञस्थली है ॥ ४ ॥

पश्य नानाविधाकारैरग्निभिर्निचितां महीम् ।
मज्जन्तीमिव चाक्रान्तां ययातेर्यज्ञकर्मभिः ॥ ५ ॥

अनेक तरहकी अग्नियोंसे शोभित इस स्थानको देखिए, मानो वह पृथ्वी ययातिके यज्ञ कर्मोंसे आक्रान्त होकर उसके पुण्यमें स्नान कर रही हो ॥ ५ ॥

एषा शम्येकपत्रा सा शरकं चैतदुत्तमम् ।
पश्य रामह्रदानेतान्पश्य नारायणाश्रमम् ॥ ६ ॥

यह एक पत्तेवाली शमी और यह तालाब कैसा उत्तम है रामके तालाबोंको देखिये और नारायणके आश्रमको देखिये ॥ ६ ॥

एतदार्चीकपुत्रस्य योगैर्विचरतो महीम् ।
अपसर्पणं महीपाल रौप्यायाममितौजसः ॥ ७ ॥

हे राजन् ! यह देखिए यह महातेजस्वी ऋचीकपुत्रने अपने तेजसे विचरते हुए रौप्यानदीके तीरमें सुन्दर मार्ग बना दिया है ॥ ७ ॥

अत्रानुवंशं पठतः शृणु मे कुरुनन्दन ।
उलूखलैराभरणैः पिशाची यदभाषत ॥ ८ ॥

हे कुरुनन्दन ! यहां जो उलूखलके सदृश अलंकारोंको पहने एक पिशाचीने एक श्लोक पढा था वह मैं आपसे कहता हूँ, हे कुरुनन्दन ! आप उसे सुनिये ॥ ८ ॥

युगंधरे दधि प्राश्य उषित्वा चाच्युतस्थले ।
तद्वद्भूतिलये स्नात्वा सपुत्रा वस्तुमिच्छसि ॥ ९ ॥

पिशाची कहती है– हे ब्राह्मणी ! क्या तू युगन्धर नामक पर्वत देशमें दही खाकर अच्युत स्थलमें रातको निवास करके और भूतिलय स्थानमें स्नान करके यहां पुत्रके सहित रहना चाहती है ? ॥ ९ ॥

एकरात्रमुषित्वेह द्वितीयं यदि वत्स्यसि।
एतद्वै ते दिवा वृत्तं रात्रौ वृत्तमतोऽन्यथा ॥ १० ॥

एक दिन रहकर यदि दूसरे दिन यहां रहनेकी इच्छा करेगी, तो दिनमें तेरी यही दशा होगी जो मेरी है और रात्रिमें इससे भी अधिक दुर्दशा होगी ॥ १० ॥

अत्राद्याहो निवत्स्यामः क्षपां भरतसत्तम।
द्वारमेतद्धि कौन्तेय कुरुक्षेत्रस्य भारत ॥ ११ ॥

हे भरतसत्तम! हे कुन्तीनन्दन! यह कुरुक्षेत्रका द्वार है, हम लोग एक रात यहां निवास करेंगे ॥ ११ ॥

अत्रैव नाहुषो राजा राजन्क्रतुभिरिष्टवान्।
ययातिर्बहुरत्नाढ्यैर्यत्रेन्द्रो मुदमभ्यगात् ॥ १२ ॥

हे राजन्! यहीं नहुषपुत्र राजा ययातिने अनेक रत्नराशियोंसे यज्ञ किए थे। इसी स्थानपर उनसे इन्द्र प्रसन्न हुए थे ॥ १२ ॥

एतत्प्लक्षावतरणं यमुनातीर्थमुच्यते।
एतद्वै नाकपृष्ठस्य द्वारमाहुर्मनीषिणः ॥ १३ ॥

हे अच्युत! यह यमुनाके तटपर प्लक्षावतरण नामक तीर्थ कहाता है, पण्डित लोग इसीको स्वर्गका द्वार बताते हैं ॥ १३ ॥

अत्र सारस्वतैर्यज्ञैरीजानाः परमर्षयः।
यूपोलूखलिनस्तात गच्छन्त्यवभृथाप्लवम् ॥ १४ ॥

हे तात! इसी स्थानपर परम ऋषि सारस्वत ब्राह्मणोंने यज्ञ किए थे, इस स्थानपर यूप उलूखलसे युक्त होकर अवभृथ स्नानके लिये ब्राह्मण जाते हैं ॥ १४ ॥

अत्रैव भरतो राजा मेध्यमश्वमवासृजत्।
असकृत्कृष्णसारंगं धर्मेणावाप्य मेदिनीम् ॥ १५ ॥

हे राजन्! धर्मपूर्वक पृथ्वीको अनेक बार जीतकर राजा भरतने यहीं काले रंगके यज्ञीय घोडेको छोडा था ॥ १५ ॥

अत्रैव पुरुषव्याघ्र मरुत्तः सत्रमुत्तमम्।
आस्ते देवर्षिमुख्येन संवर्तेनाभिपालितः ॥ १६ ॥

हे पुरुषव्याघ्र! इसी स्थानपर देवर्षियोंमें मुख्य संवर्त मुनिसे रक्षित राजा मरुत्तने यज्ञ उत्तम किया था ॥ १६ ॥

अत्रोपस्पृश्य राजेन्द्र सर्वाँल्लोकान्प्रपश्यति ।
पूयते दुष्कृताच्चैव समुपस्पृश्य भारत ॥ १७ ॥

हे राजेन्द्र ! इस जलको स्पर्श करके मनुष्य सब लोक देखने लगता है और सब पापोंसे छूटकर पवित्र हो जाता है। अतः, हे भरतवंशोत्पन्न युधिष्ठिर ! आप भी इस जलका स्पर्श कीजिए ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच

तत्र सभ्रातृकः स्नात्वा स्तूयमानो महर्षिभिः ।
लोमशं पाण्डवश्रेष्ठ इदं वचनमब्रवीत् ॥ १८ ॥

वैशम्पायन बोले— जब पाण्डवोंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिरने भाइयोंके सहित उस जलमें स्नान किया, तो महर्षि उनकी स्तुति करने लगे। तदनन्तर महाराजने लोमशसे यह वचन कहा ॥ १८ ॥

सर्वाँल्लोकान्प्रपश्यामि तपसा सत्यविक्रम ।
इहस्थः पाण्डवश्रेष्ठं पश्यामि श्वेतवाहनम् ॥ १९ ॥

हे राजन् ! अब मैं अपने तपके बलसे सब लोकोंको देख रहा हूँ, मैं यहांसे बैठकरही पाण्डवोंमें श्रेष्ठ सफेद घोडेवाले अर्जुनको देख रहा हूँ ॥ १९ ॥

लोमश उवाच

एवमेतन्महाबाहो पश्यन्ति परमर्षयः ।
सरस्वतीमिमां पुण्यां पश्यैकशरणावृताम् ।
यत्र स्नात्वा नरश्रेष्ठ धूतपाप्मा भविष्यसि ॥ २० ॥

लोमश बोले— हे महाबाहो ! आप जो कहते हैं, वह सब सत्य है। इस पुण्यकर्मवाले पुरुषोंसे सेवित पवित्र सरस्वती नदीको महर्षि लोग देखते हैं। हे नरश्रेष्ठ ! इसमें स्नान करनेसे आप सब पापोंसे छूट जायेंगे ॥ २० ॥

इह सारस्वतैर्यज्ञैरिष्टवन्तः सुरर्षयः ।
ऋषयश्चैव कौन्तेय तथा राजर्षयोऽपि च ॥ २१ ॥

यहीं देव ऋषियोंने अनेक सारस्वत यज्ञ किये हैं। हे कुन्तीनन्दन ! इसी स्थानपर राजर्षि तथा अन्य ऋषियोंने भी अनेक यज्ञ किये हैं ॥ २१ ॥

४

वेदी प्रजापतेरेषा समन्तात्पञ्चयोजना ।
कुरोर्वै यज्ञशीलस्य क्षेत्रमेतन्महात्मनः ॥ २२ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि एकोनत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२९ ॥ ४५१२ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! यह बीस कोस लम्बी और बीस कोस चौडी प्रजापतिकी वेदी है, यज्ञ करनेवाले महात्मा कुरुका भी यही क्षेत्र है ॥ २२ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ उनतीसवां अध्याय समाप्त ॥ १२९ ॥ ४५१२ ॥

: १३० :

लोमश उवाच

इह मर्त्यास्तपस्तप्त्वा स्वर्गं गच्छन्ति भारत ।
मर्तुकामा नरा राजन्निहायान्ति सहस्रशः ॥ १ ॥

लोमश बोले– हे भरतवंशी राजन् ! इस स्थानपर तप करके मनुष्य स्वर्ग प्राप्त करते हैं । हे राजन् ! इस स्थानमें मरनेकी इच्छावाले सहस्रों पुरुष आते हैं ॥ १ ॥

एवमाशीः प्रयुक्ता हि दक्षेण यजता पुरा ।
इह ये वै मरिष्यन्ति ते वै स्वर्गजितो नराः ॥ २ ॥

पहले यज्ञ करनेवाले दक्षने यह आशीर्वाद दिया था कि जो इस स्थानमें मरेंगे वे मनुष्य स्वर्गको जीत लेंगे ॥ २ ॥

एषा सरस्वती पुण्या दिव्या चोघवती नदी ।
एतद्विनशनं नाम सरस्वत्या विशां पते ॥ ३ ॥

हे प्रजानाथ ! यह रम्य सरस्वती नदी है और यह पवित्र ओघवती नदी है। यह सरस्वती तटपर विनशन नामक तीर्थ है ॥ ३ ॥

द्वारं निषादराष्ट्रस्य येषां द्वेषात्सरस्वती ।
प्रविष्टा पृथिवीं वीर मा निषादा हि मां विदुः ॥ ४ ॥

हे वीर ! यह निषाद देशका द्वार है, जिन निषादोंके द्वेषसे सरस्वती पृथ्वीमें चली गई है, ताकि निषाद लोग मुझको न प्राप्त कर सकें ॥ ४ ॥

एष वै चमसोद्भेदो यत्र दृश्या सरस्वती ।
यत्रैनामभ्यवर्तन्त दिव्याः पुण्याः समुद्रगाः ॥ ५ ॥

यहीं चमसोद्भेद तीर्थ है, जहां सरस्वती फिर प्रकट हुई है । यहीं सरस्वतीके पास सब दिव्य समुद्रगामिनी और पवित्र नदियां बहती हैं ॥ ५ ॥

एतत्सिन्धोर्महत्तीर्थं यत्रागस्त्यमरिन्दम ।
लोपामुद्रा समागम्य भर्तारमवृणीत वै ॥ ६ ॥

हे शत्रुनाशन ! यह सिन्धुका महातीर्थ है, यहीं लोपामुद्राने आकर अगस्त्य मुनिको अपने पतिके रूपमें चुना था ॥ ६ ॥

एतत्प्रभासते तीर्थं प्रभासं भास्करद्युते ।
इन्द्रस्य दयितं पुण्यं पवित्रं पापनाशनम् ॥ ७ ॥

हे सूर्यके समान तेजस्वी युधिष्ठिर ! यह प्रभास नामक तीर्थ प्रकाशित हो रहा है, यह तीर्थ इन्द्रका परम प्रिय पुण्यकारक पवित्र और पापोंका नाशक है ॥ ७ ॥

एतद्विष्णुपदं नाम दृश्यते तीर्थमुत्तमम् ।
एषा रम्या विपाशा च नदी परमपावनी ॥ ८ ॥

यह विष्णुपद नामक उत्तम तीर्थ दिखाई दे रहा है। यह सब पापोंका नाश करनेवाली, रम्य विपाशा नामक नदी है ॥ ८ ॥

अत्रैव पुत्रशोकेन वसिष्ठो भगवानृषिः ।
बद्ध्वात्मानं निपतितो विपाशः पुनरुत्थितः ॥ ९ ॥

इसी स्थानपर पुत्रशोकसे व्याकुल भगवान् वसिष्ठ मुनि अपने शरीरको पाशसे बांधकर इस नदीमें कूद पडे थे, फिर पाशमुक्त होकर उठे थे, इसीलिये इस नदीका नाम विपाशा है ॥९॥

काश्मीरमंडलं चैतत्सर्वपुण्यमरिन्दम ।
महर्षिभिश्चाध्युषितं पश्येदं भ्रातृभिः सह ॥ १० ॥

हे शत्रुनाशन ! यह परम पवित्र काश्मीर देश है, यहां पवित्र महर्षि निवास करते हैं, आप इसको भाइयोंके सहित देखिये ॥ १० ॥

अत्रोत्तराणां सर्वेषामृषीणां नाहुषस्य च ।
अग्नेश्चात्रैव संवादः काश्यपस्य च भारत ॥ ११ ॥

हे भारत ! इसी स्थानपर उत्तरके सब ऋषि, नहुष पुत्र ययाति, काश्यप और अग्निका संवाद हुआ था ॥ ११ ॥

एतद्द्वारं महाराज मानसस्य प्रकाशते ।
वर्षमस्य गिरेर्मध्ये रामेण श्रीमता कृतम् ॥ १२ ॥

हे महाराज ! यह मानसका द्वार प्रकाशित हो रहा है । यहां पहाडोंके मध्यमें श्रीमान् रामने एक वर्ष वास किया था ॥ १२ ॥

एष वातिकषण्डो वै प्रख्यातः सत्यविक्रमः ।
नाभ्यवर्तत यद्द्वारं विदेहानुत्तरं च यः ॥ १३ ॥

इस सत्यविक्रम देशका नाम वातिकखण्ड है, इसकी सीमा विदेहदेशके उत्तरसे आगे नहीं है ॥ १३ ॥

एष उज्जानको नाम यवक्रीर्यत्र शान्तवान्।
अरुन्धतीसहायश्च वसिष्ठो भगवानृषिः ॥ १४ ॥

इस तीर्थका नाम उज्जानक है, जहां स्वामिकार्तिकने और अरुन्धतीके सहित भगवान् वसिष्ठ मुनिने शान्ति प्राप्त की थी ॥ १४ ॥

ह्रदश्च कुशवानेष यत्र पद्मं कुशेशयम्।
आश्रमश्चैव रुक्मिण्या यत्राशाम्यदकोपना ॥ १५ ॥

इस तडागका नाम कुशवान् है, इसमें कुशेशयनामक कमल उत्पन्न होता है। यह रुक्मिणीका आश्रम है, यहीं वे क्रोधको जीतकर शान्तिको प्राप्त हुई थीं ॥ १५ ॥

समाधीनां समासस्तु पाण्डवेय श्रुतस्त्वया।
तं द्रक्ष्यसि महाराज भृगुतुङ्गं महागिरिम् ॥ १६ ॥

हे पाण्डव ! आपने जो समाधियोंका संक्षेप सुना है, अब उनको अपनी दृष्टिसे देखेंगे। यह भृगुतुङ्ग नामक पर्वत है ॥ १६ ॥

जलां चोपजलां चैव यमुनामभितो नदीम्।
उशीनरो वै यत्रेष्ट्वा वासवादत्यरिच्यत ॥ १७ ॥
तां देवसमितिं तस्य वासवश्च विशांपते।
अभ्यागच्छत राजानं ज्ञातुमग्निश्च भारत ॥ १८ ॥

आगे जला, उपजला और यमुना नदीको देखें। हे भारत ! जहां यज्ञ करके उशीनर राजा इन्द्रसे भी अधिक श्रेष्ठ हो गये थे। हे पृथ्वीनाथ ! उनकी देवसभामें अग्नि और इन्द्र उनकी परीक्षा करनेके लिए आये थे ॥ १७-१८ ॥

जिज्ञासमानौ वरदौ महात्मानमुशीनरम्।
इन्द्रः श्येनः कपोतोऽग्निर्भूत्वा यज्ञेऽभिजग्मतुः ॥ १९ ॥

जिस समय राजाओंमें श्रेष्ठ उशीनर यज्ञ कर रहे थे तभी वर देनेवाले अग्नि और इन्द्र उनकी परीक्षा लेनेके लिए इन्द्र बाज और अग्नि कबूतर बनकर उनके यज्ञमें आए ॥ १९ ॥

ऊरुं राज्ञः समासाद्य कपोतः श्येनजाद्भयात्।
शरणार्थी तदा राजन्निलिल्ये भयपीडितः ॥ २० ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३० ॥ ४४३२ ॥

बाजके भयसे भयभीत होकर शरण चाहनेवाले कबूतररूपी अग्नि राजा उशीनरकी जांघमें जा छिपे थे ॥ २० ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ तीसवां अध्याय समाप्त ॥ १३० ॥ ४४३२ ॥

: १२१ :

श्येन उवाच

धर्मात्मानं त्वाहुरेकं सर्वे राजन्महीक्षितः ।
स वै धर्मविरुद्धं त्वं कस्मात्कर्म चिकीर्षसि ॥ १ ॥

बाज बोले– हे राजन् ! सब जगत्के राजा केवल आपको ही धर्मात्मा कहते हैं, तब आप यह धर्मविरुद्ध कर्म क्यों करना चाहते हैं ॥ १ ॥

विहितं भक्षणं राजन्पीड्यमानस्य मे क्षुधा ।
मा भाङ्क्षीर्धर्मलोभेन धर्ममुत्सृष्टवानसि ॥ २ ॥

हे राजन् ! भूखसे बहुत व्याकुल हुए हुए मेरे लिए यह कबूतर भोजन बनाया गया है, अतएव आप धर्मके लोभसे धर्मका उल्लंघन मत कीजिए । इसको आश्रयमें लेनेसे ही आपका धर्म नष्ट हो चुका है ॥ २ ॥

राजोवाच

संत्रस्तरूपस्त्राणार्थी त्वत्तो भीतो महाद्विज ।
मत्सकाशमनुप्राप्तः प्राणगृध्नुरयं द्विजः ॥ ३ ॥

राजा बोले– हे महान् पक्षी ! तुम्हारे भयसे व्याकुल होकर रक्षाके लिए एवं प्राण बचानेकी इच्छासे यह पक्षी मेरे पास आया है ॥ ३ ॥

एवमभ्यागतस्येह कपोतस्याभयार्थिनः ।
अप्रदाने परोऽधर्मः किं त्वं श्येन प्रपश्यसि ॥ ४ ॥

इस प्रकार अभयप्राप्तिकी इच्छासे मेरे पास आए हुए इस कबूतरको तुम्हें न देनेमें, हे श्येन ! तुम मेरा कौनसा अधर्म देख रहे हो ? ॥ ४ ॥

प्रस्पन्दमानः संभ्रान्तः कपोतः श्येन लक्ष्यते ।
मत्सकाशं जीवितार्थी तस्य त्यागो विगर्हितः ॥ ५ ॥

हे बाज ! यह कबूतर संभ्रान्त और तडपता हुआ दीखता है और मेरे पास रक्षाके लिए आया है, अतः इसका परित्याग करना निन्दनीय है ॥ ५ ॥

श्येन उवाच

आहारात्सर्वभूतानि संभवन्ति महीपते ।
आहारेण विवर्धन्ते तेन जीवन्ति जन्तवः ॥ ६ ॥

बाज बोला– हे पृथ्वीनाथ ! आहारसे सब जगत्के जन्तु उत्पन्न होते हैं, आहारसे बढते हैं, और आहारहीसे जीते रहते हैं ॥ ६ ॥

शक्यते दुस्त्यजेऽप्यर्थे चिररात्राय जीवितुम्।
न तु भोजनमुत्सृज्य शक्यं वर्तयितुं चिरम् ॥ ७ ॥

अत्यन्त दुःखसे छोडने योग्य वस्तुको छोडकर भी पुरुष कई दिन जी सकता है, परन्तु भोजनको छोडकर बहुत कालतक जीना असम्भव है ॥ ७ ॥

भक्ष्याद्विप्रयोजितस्याद्य मम प्राणा विशां पते।
विसृज्य कायमेष्यन्ति पन्थानमपुनर्भवम् ॥ ८ ॥

हे राजन्! इसलिये अपने भक्ष्यसे पृथक् किए गए मेरे प्राण आज शरीरको छोडकर न लौटनेवाले मार्गसे चले जाएंगे ॥ ८ ॥

प्रमृते मयि धर्मात्मन्पुत्रदारं नशिष्यति।
रक्षमाणः कपोतं त्वं बहून्प्राणान्नशिष्यसि ॥ ९ ॥

हे धर्मात्मन्! मेरे मरनेसे मेरी स्त्री और पुत्र सब मर जायेंगे। इस प्रकार आप केवल एक कबूतरके प्राणकी रक्षा करके अनेक प्राणोंका नाश कर देंगे ॥ ९ ॥

धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुधर्म तत्
अविरोधी तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रम ॥ १० ॥

जिस धर्मका आचरण करनेसे एक दूसरे धर्मका नाश हो, वह धर्म नहीं वरन् कुधर्म है। हे सत्यविक्रम! जिसमें किसी धर्मका विरोध न हो, वही सच्चा धर्म कहाता है ॥ १० ॥

विरोधिषु महीपाल निश्चित्य गुरुलाघवम्।
न बाधा विद्यते यत्र तं धर्मं समुदाचरेत् ॥ ११ ॥

हे पृथ्वीनाथ! यदि धर्ममें दो स्थानोंपर विरोध हो, उन दोनोंमें लाघव और गौरवका विचार कर ले। जिससे कुछ बाधा न हो उसी धर्मका आचरण करे ॥ ११ ॥

गुरुलाघवमाज्ञाय धर्माधर्मविनिश्चये।
यतो भूयांस्ततो राजन्कुरु धर्मविनिश्चयम् ॥ १२ ॥

हे राजन्! धर्म और अधर्मके निश्चयमें हलके और भारीपनका पहले निश्चय कीजिये, तब जिसमें कल्याण दीखे वही धर्म कीजिये ॥ १२ ॥

राजोवाच

बहुकल्याणसंयुक्तं भाषसे विहगोत्तम।
सुपर्णः पक्षिराट् किं त्वं धर्मज्ञश्चास्यसंशयम्।
तथा हि धर्मसंयुक्तं बहु चित्रं प्रभाषसे ॥ १३ ॥

राजा बोले– पक्षिश्रेष्ठ! तुम बहुत कल्याणसे भरी हुई बातोंको कहते हो। क्या तुम धर्मका निश्चय करनेवाले साक्षात् पक्षिराज गरुड तो नहीं हो? क्योंकि तुम धर्मसे पूर्ण अनेक विचित्र बातोंको कहते हो ॥ १३ ॥

न तेऽस्त्यविदितं किंचिदिति त्वा लक्षयाम्यहम् ।
शरणैषिणः परित्यागं कथं साध्विति मन्यसे ॥ १४ ॥

तुम्हारी बातोंको सुनकर मुझे ऐसा जान पडता है, कि कोई बात तुम्हारे लिए अविदित नहीं है, फिर भी तुम शरण पानेकी इच्छासे आए हुएका त्याग किस प्रकार अच्छा समझते हो ? ॥ १४ ॥

आहारार्थं समारम्भस्तव चायं विहंगम ।
शक्यश्चाप्यन्यथा कर्तुमाहारोऽप्यधिकस्त्वया ॥ १५ ॥

हे विहङ्गम ! तुम केवल अपने भोजनके निमित्त इतना विवाद कर रहे हो, तुम इसको छोडकर इससे भी अधिक भोजन पा सकते हो ॥ १५ ॥

गोवृषो वा वराहो वा मृगो वा महिषोऽपि वा ।
त्वदर्थमद्य क्रियतां यद्वान्यदभिकांक्षसे ॥ १६ ॥

गाय, बैल, सूअर, हिरण, भैंसा अथवा और जो तुम्हारी इच्छा हो सब कुछ तुमको दिया जा सकता है ॥ १६ ॥

श्येन उवाच

न वराहं न चोक्षाणं न मृगान्विविधांस्तथा ।
भक्षयामि महाराज किमन्नाद्येन तेन मे ॥ १७ ॥

बाज बोला– हे महाराज ! न मैं सूअर खाता हूँ, न बैल और न अनेक तरहके हरिन ही मैं खाता हूं, मुझे दूसरे जन्तुसे क्या प्रयोजन है ? ॥ १७ ॥

यस्तु मे दैवविहितो भक्षः क्षत्रियपुंगव ।
तमुत्सृज महीपाल कपोतमिममेव मे ॥ १८ ॥

हे क्षत्रियश्रेष्ठ ! हे पृथ्वीनाथ ! ईश्वरने जो भक्षण मेरे निमित्त भेजा है, मेरे उस कबूतरको मुझे दे दीजिये ॥ १८ ॥

श्येनाः कपोतान्खादन्ति स्थितिरेषा सनातनी ।
मा राजन्मार्गमाज्ञाय कदलीस्कन्धमारुह ॥ १९ ॥

हे राजन् ! बाज कबूतरोंको खाते हैं यह बात सनातन है । आप तत्त्वको जानकर भी केलेके खम्भेके समान तत्त्वरहित धर्मका आचरण न करें ॥ १९ ॥

राजोवाच

राज्यं शिबीनामृद्धं वै शाधि पक्षिगणार्चित।
यद्वा कामयसे किंचिच्छ्येन सर्वं ददानि ते।
विनेमं पक्षिणं श्येन शरणार्थिनमागतम् ॥ २० ॥

राजा बोले– हे पक्षिगणोंसे अर्चित ! तुम इस धनसे भरे हुए शिबिराज्यपर शासन करो। अथवा, हे श्येन ! शरणमें आए हुए इस पक्षीको छोडकर और जो तुम्हारी इच्छा होगी, वह मैं दूंगा ॥ २० ॥

येनेमं वर्जयेथास्त्वं कर्मणा पक्षिसत्तम।
तदाचक्ष्व करिष्यामि न हि दास्ये कपोतकम् ॥ २१ ॥

हे पक्षिसत्तम ! जिस कर्मसे तुम इस पक्षीको छोडोगे, वह मुझसे कहो मैं वही करूंगा; परन्तु इस कबूतरको न दूंगा ॥ २१ ॥

श्येन उवाच

उशीनर कपोते ते यदि स्नेहो नराधिप।
आत्मनो मांसमुत्कृत्य कपोततुलया धृतम् ॥ २२ ॥

बाज बोला– हे राजन् उशीनर ! यदि तुमको इस कबूतरमें बहुत ही प्रेम है, तो अपने शरीरके मांसको काटकर कबूतरके बराबर तोलो ॥ २२ ॥

यदा समं कपोतेन तव मांसं भवेन्नृप।
तदा प्रदेयं तन्मह्यं सा मे तुष्टिर्भविष्यति ॥ २३ ॥

हे नृपोत्तम ! जब तुम्हारा मांस इसके वजनके समान हो जाये, तब उसको तुम मुझे दे दो, तभी मेरी संतुष्टि होगी ॥ २३ ॥

राजोवाच

अनुग्रहमिमं मन्ये श्येन यन्माभियाचसे।
तस्मात्तेऽद्य प्रदास्यामि स्वमांसं तुलया धृतम् ॥ २४ ॥

राजा बोले– हे बाज ! तुमने जो मुझसे मांगा उसे मैं अपने ऊपर तुम्हारी कृपा ही मानता हूँ, अतः आज मैं अपना मांस इस कबूतरके बराबर तौलकर तुम्हें दूंगा ॥ २४ ॥

लोमश उवाच

अथोत्कृत्य स्वमांसं तु राजा परमधर्मवित्।
तुलयामास कौन्तेय कपोतेन सहाभिभो ॥ २५ ॥

लोमश बोले– हे पृथ्वीनाथ ! हे कुन्तीनन्दन ! परम धर्मके जाननेवाले राजा उशीनरने अपने मांसको अपने हाथसे काटा और कबूतरके साथ तराजूपर रखकर उसे राजा तौलने लगे ॥२५॥

भ्रियमाणस्तु तुलया कपोतो व्यतिरिच्यते।
पुनश्चोत्कृत्य मांसानि राजा प्रादादुशीनरः ॥ २६ ॥

तराजूपर तौलनेपर कबूतर अधिक हुआ, तब राजा उशीनरने पुनः मांस काटकर चढाया ॥ २६ ॥

न विद्यते यदा मांसं कपोतेन समं धृतम्।
तत उत्कृत्तमांसोऽसावारुरोह स्वयं तुलाम् ॥ २७ ॥

जैसे जैसे राजा मांस चढाते गये तैसे तैसे कबूतर भारी होता गया। अन्तमें जब राजाके शरीरमें कबूतरके वजनके बराबर भी मांस न रहा तब आप ही तराजूपर बैठ गये ॥२७॥

श्येन उवाच

इन्द्रोऽहमस्मि धर्मज्ञ कपोतो हव्यवाडयम्।
जिज्ञासमानौ धर्मे त्वां यज्ञवाटमुपागतौ ॥ २८ ॥

बाज बोले— हे धर्मज्ञ ! मैं इन्द्र हूँ और यह कबूतर अग्नि है, केवल आपके धर्मकी परीक्षा करनेके लिये हम आपकी यज्ञशालामें आये थे ॥ २८ ॥

यत्ते मांसानि गात्रेभ्य उत्कृत्तानि विशां पते।
एषा ते भास्वरी कीर्तिर्लोकानभिभविष्यति ॥ २९ ॥

हे प्रजानाथ ! आपने अपने शरीरका जितना मांस काटा है, उतनी ही तुम्हारी उज्ज्वल कीर्ति सारे लोकोंमें फैलेगी ॥ २९ ॥

यावल्लोके मनुष्यास्त्वां कथयिष्यन्ति पार्थिव।
तावत्कीर्तिश्च लोकाश्च स्थास्यन्ति तव शाश्वताः ॥ ३० ॥

हे पार्थिव ! जबतक लोकमें मनुष्य तुम्हारा गुणगान करते रहेंगे तबतक तुम्हारा यश और तुम्हारे लोक शाश्वत रहेंगे ॥ ३० ॥

लोमश उवाच

तत्पाण्डवेय सदनं राज्ञस्तस्य महात्मनः।
पश्यस्वैतन्मया सार्धं पुण्यं पापप्रमोचनम् ॥ ३१ ॥

लोमश बोले— हे राजन् ! महात्मा उशीनर राजाके उसी पुण्यदायक तथा पापसे छुडानेवाले स्थानको मेरे सहित देखो ॥ ३१ ॥

×

अत्र वै सततं देवा मुनयश्च सनातनाः ।
दृश्यन्ते ब्राह्मणै राजन्पुण्यवद्भिर्महात्मभिः ॥ ३२ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि एकत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३१ ॥ ४४६४ ॥

हे राजन् ! इस स्थानपर आकर पुण्यवान् महात्मा ब्राह्मण सनातन मुनि और देवता लोगोंको साक्षात् देखते हैं ॥ ३२ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ इकतीसवां अध्याय समाप्त ॥ १३१ ॥ ४४६४ ॥

: १३२ :

लोमश उवाच

यः कथ्यते मन्त्रविदग्र्यबुद्धिरौद्दालकिः श्वेतकेतुः पृथिव्याम् ।
तस्याश्रमं पश्य नरेन्द्र पुण्यं सदाफलैरुपपन्नं महीजैः ॥ १ ॥

लोमश बोले– हे नरेन्द्र ! जो जगत्में मन्त्र जाननेवालोंमें श्रेष्ठ उद्दालक मुनिके पुत्र श्वेतकेतु प्रसिद्ध हैं आप उनके आश्रमको देखिये। यह परम पवित्र आश्रम अनेक प्रकारके सदा फलने-वाले वृक्षोंसे शोभित है ॥ १ ॥

साक्षादत्र श्वेतकेतुर्ददर्श सरस्वतीं मानुषदेहरूपाम् ।
वेत्स्यामि वाणीमिति संप्रवृत्तां सरस्वतीं श्वेतकेतुर्बभाषे ॥ २ ॥

यहां श्वेतकेतुने साक्षात् सरस्वतीको मनुष्यका रूप धारण किये हुए देखा था, और सरस्वतीसे श्वेतकेतुने कहा था, कि मैंने जान लिया तुम साक्षात् सरस्वती हो ॥ २ ॥

तस्मिन्काले ब्रह्मविदां वरिष्ठावास्तां तदा मातुलभागिनेयौ ।
अष्टावक्रश्चैव कहोडसूनुरौद्दालकिः श्वेतकेतुश्च राजन् ॥ ३ ॥

हे राजन् ! उस युगमें कहोडपुत्र अष्टावक्र और उद्दालकके पुत्र श्वेतकेतु ये दोनों मामा भानजे थे वे दोनों ब्रह्मज्ञानको जाननेवालोंमें श्रेष्ठ थे ॥ ३ ॥

विदेहराजस्य महीपतेस्तौ विप्रावुभौ मातुलभागिनेयौ ।
प्रविश्य यज्ञायतनं विवादे बन्दिं निजग्राहतुरप्रमेयम् ॥ ४ ॥

अष्टावक्र और श्वेतकेतु ये दोनों मामा भांजे राजा जनककी यज्ञशालामें गये थे और दोनों भानजोंने शास्त्रार्थमें अत्यन्त विद्वान् वंदीको पराजित किया था ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कथंप्रभावः स बभूव विप्रस्तथायुक्तं यो निजग्राह बन्दिम् ।
अष्टावक्रः केन चासौ बभूव तत्सर्वं मे लोमश शंस तत्त्वम् ॥ ५ ॥

जिन्होंने महाविद्वान् बन्दीको भी प्रभावित किया था, उन ब्राह्मण अष्टावक्रका प्रभाव कैसा था? वे अष्टावक्र किससे उत्पन्न हुए? हे लोमश! यह सब बातें आप मुझसे तत्त्वतः कहिए ॥ ५ ॥

लोमश उवाच

उद्दालकस्य नियतः शिष्य एको नाम्ना कहोडेति बभूव राजन् ।
शुश्रूषुराचार्यवशानुवर्ती दीर्घं कालं सोऽध्ययनं चकार ॥ ६ ॥

लोमश बोले– हे राजन्! उद्दालक मुनिके कहोड नामक एक जितेन्द्रिय शिष्य थे, वे गुरुकी बहुत सेवा करते और उन्हींकी आज्ञामें रहते थे। वे बहुत दिनतक अध्ययन करते रहे ॥ ६ ॥

तं वै विप्राः पर्यभवंश्च शिष्यास्तं च ज्ञात्वा विप्रकारं गुरुः सः ।
तस्मै प्रादात्सद्य एव श्रुतं च भार्यां च वै दुहितरं स्वां सुजाताम् ॥ ७ ॥

उन उद्दालकके पास अध्ययन करनेके लिए अनेक शिष्य रहते थे, उनमें उन गुरुने कहोडको सबसे अधिक मेधावी जानकर उसे शीघ्र ही सब वेद ज्ञान दे दिया और अपनी पुत्री सुजाताको भी उसे भार्याके रूपमें दे दी ॥ ७ ॥

तस्या गर्भः समभवदग्निकल्पः सोऽधीयानं पितरमथाभ्युवाच ।
सर्वां रात्रिमध्ययनं करोषि नेदं पितः सम्यगिवोपवर्तते ॥ ८ ॥

कुछ समयके बाद कहोडकी स्त्री गर्भवती हुई। वह गर्भ अग्निके समान प्रकाशमान् था। एक दिन उस बालकने अध्ययन करनेवाले पितासे कहा कि हे पिता! आप समस्त रात्रि पढते ही रहते हैं, फिर भी आप इसे ठीक तरहसे पढ नहीं पाते ॥ ८ ॥

उपालब्धः शिष्यमध्ये महर्षिः स तं कोपादुदरस्थं शशाप ।
यस्मात्कुक्षौ वर्तमानो ब्रवीषि तस्माद्वक्रो भवितास्यष्टकृत्वः ॥ ९ ॥

हे महाराज! शिष्योंके मध्यमें महर्षि कहोडने अपनी निन्दा सुनकर क्रोधसे उस गर्भके बालकको शाप दिया, कि तू गर्भहीमेंसे बोलता है, इसलिये तू आठ जगहसे टेढा होगा ॥ ९ ॥

स वै तथा वक्र एवाभ्यजायदष्टावक्रः प्रथितो वै महर्षिः ।
तस्यासीद्वै मातुलः श्वेतकेतुः स तेन तुल्यो वयसा बभूव ॥ १० ॥

तदनन्तर कहोड मुनिका जो पुत्र उत्पन्न हुआ वह आठ जगहसे टेढा था, और इसीलिये उनका नाम अष्टावक्र पडा। महर्षि उद्दालकके पुत्र श्वेतकेतु अष्टावक्रके मामा थे। वे अवस्थामें अष्टावक्रके समान ही थे ॥ १० ॥

संपीडयमाना तु तदा सुजाता विवर्धमानेन सुतेन कुक्षौ ।
उवाच भर्तारमिदं रहोगता प्रसाद्य हीनं वसुना धनार्थिनी ॥ ११ ॥

एक दिन अष्टावक्रके जन्मके पहले जब उनकी माता सुजाता बढते हुए गर्भसे बहुत दुःखिनी हुई, तब धनकी अभिलाषा करनेवाली वह सुजाता अपने पतिको प्रसन्न करके धनकी इच्छासे एकान्तमें ऐसा बोली ॥ ११ ॥

कथं करिष्याम्यधना महर्षे मासश्चायं दशमो वर्तते मे ।
न चास्ति ते वसु किंचित्प्रजाता येनाहमेतामापदं निस्तरेयम् ॥ १२ ॥

हे महर्षे ! अब मेरा दसवां महीना चल रहा है। मैं विना धनके क्या करूंगी? आपके घरमें कुछ भी धन नहीं है, जिससे मैं इस प्रसवकालके समय आपत्तिसे पार हो जाऊं ॥ १२ ॥

उक्तस्त्वेवं भार्यया वै कहोडो वित्तस्यार्थे जनकमथाभ्यगच्छत् ।
स वै तदा वादविदा निगृह्य निमज्जितो वंदिनेहाप्सु विप्रः ॥ १३ ॥

कहोड मुनि अपनी स्त्रीके ऐसे वचन सुनकर धनके लिए राजा जनकके यहां गये। वहां वन्दीसे उनका विवाद हुआ। उसने विप्र कहोडको विवादमें जीतकर उन्हें पानीमें डुबा दिया ॥ १३ ॥

उद्दालकस्तं तु तदा निशम्य सूतेन वादेऽप्सु तथा निमज्जितम् ।
उवाच तां तत्र ततः सुजातामष्टावक्रे गूहितव्योऽयमर्थः ॥ १४ ॥

जब उद्दालक मुनिने यह सब समाचार सुना कि हमारे दामादको वन्दीने शास्त्रार्थमें हराकर पानीमें डुबा दिया है, तो उन्होंने अपनी पुत्री सुजातासे कहा— कि तुम यह समाचार अष्टावक्रसे गुप्त ही रखना ॥ १४ ॥

ररक्ष सा चाप्यति तं सुमन्त्रं जातोऽप्येवं न स शुश्राव विप्रः ।
उद्दालकं पितृवच्चापि मेने अष्टावक्रो भ्रातृवच्छ्वेतकेतुम् ॥ १५ ॥

सुजाताने भी इस बातको इस प्रकार छिपाकर रखा कि जब अष्टावक्रका जन्म हुआ, तब भी उन्होंने इस बातको न सुना। अष्टावक्रने उद्दालकको पिता और श्वेतकेतुको भाईके समान जाना ॥ १५ ॥

ततो वर्षे द्वादशे श्वेतुकेतुरष्टावक्रं पितुरङ्के निषण्णम् ।
अपाकर्षद्गृह्य पाणौ रुदन्तं नायं तवाङ्कः पितुरित्युक्तवांश्च ॥ १६ ॥

एक दिन बारह वर्षकी अवस्थामें अष्टावक्र उद्दालक मुनिकी गोदमें बैठे हुए थे, उसी समय श्वेतुकेतु आये और उन्होंने अष्टावक्रका हाथ पकडकर खींच लिया, तथा रोते हुए अष्टावक्रसे कहा कि यह तुम्हारे पिताकी गोद नहीं है ॥ १६ ॥

यत्तेनोक्तं दुरुक्तं तत्तदानीं हृदि स्थितं तस्य सुदुःखमासीत् ।
गृहं गत्वा मातरं रोदमानः पप्रच्छेदं क नु तातो ममेति ॥ १७ ॥

श्वेतकेतुने जो कठोर वचन कहे, वह अष्टावक्रके हृदयमें जाकर चुभ गये और उसे बहुत दुःख हुआ । तब घरमें जाकर उन्होंने अपनी मातासे पूछा— कि मेरे पिता कहां हैं ? ॥ १७ ॥

ततः सुजाता परमार्तरूपा शापाद्भीता सर्वमेवाचचक्षे ।
तद्वै तत्त्वं सर्वमाज्ञाय मातुरित्यब्रवीच्छ्वेतकेतुं स विप्रः ॥ १८ ॥

सुजाताने उनके वचन सुनकर दुःखी हो शापसे डरकर सब समाचार कह सुनाया । मातासे उस ब्राह्मण अष्टावक्रने सब समाचार अच्छी प्रकार जानकर श्वेतकेतुसे कहा ॥ १८ ॥

गच्छाव यज्ञं जनकस्य राज्ञो बह्वाश्चर्यः श्रूयते तस्य यज्ञः ।
श्रोष्यावोऽत्र ब्राह्मणानां विवादमन्नं चाग्र्यं तत्र भोक्ष्यावहे च ।
विचक्षणत्वं च भविष्यते नौ शिवश्च सौम्यश्च हि ब्रह्मघोषः ॥ १९ ॥

कि राजा जनकका यज्ञ बहुत अद्भुत सुना जाता है, चलो, हम भी राजा जनकके यज्ञमें चलें । और वहीं पर उत्तम उत्तम अन्नोंको खायेंगे । वहां ब्राह्मणोंका विवाद सुनेंगे, वेदका शब्द सुनकर हमलोगोंमें चतुरता आजायेगी, क्योंकि ब्रह्मका घोष बडा कल्याणकारी और सौम्य होता है ॥ १९ ॥

तौ जग्मतुर्मातुलभागिनेयौ यज्ञं समृद्धं जनकस्य राज्ञः ।
अष्टावक्रः पथि राज्ञा समेत्य उत्सार्यमाणो वाक्यमिदं जगाद ॥ २० ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि द्वात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३२ ॥ ४४८४ ॥

तब वे दोनों मामा और भानजे राजा जनककी समृद्ध यज्ञशालाको चले । मार्गमें राजा जनकसे अष्टावक्रकी मुठभेड हो गई । तब राजाके सेवकोंके द्वारा मार्गसे हटाये जानेपर अष्टावक्रने यह वाक्य कहा ॥ २० ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ बत्तीसवां अध्याय समाप्त ॥ १३२ ॥ ४४८४ ॥

: १३३ :

अष्टावक्र

अन्धस्य पंथा बधिरस्य पंथाः स्त्रियः पन्था वैवधिकस्य पंथाः ।
राज्ञः पंथा ब्राह्मणेनासमेत्य समेत्य तु ब्राह्मणस्यैव पंथाः ॥ १ ॥

अष्टावक्र बोले– जब तक किसी ब्राह्मणसे सामना न हो, जब तक अन्धेका मार्ग, बहरेका मार्ग, स्त्रीका मार्ग, बोझ ढोनेवालेका मार्ग और राजाका मार्ग उस उसको देना चाहिए, पर जब ब्राह्मणसे सामना हो जाए, तो सबसे पहले ब्राह्मणको ही जानेके लिए मार्ग देना चाहिए ॥ १ ॥

राजोवाच

पंथा अयं तेऽद्य मया निसृष्टो येनेच्छसे तेन कामं व्रजस्व ।
न पावको विद्यते वै लघीयानिन्द्रोऽपि नित्यं नमते ब्राह्मणानाम् ॥ २ ॥

राजा बोले– मैंने आज आपके लिए यह मार्ग खाली कर दिया है, अब जिधर इच्छा हो उधर चले जाइये । अग्नि कभी छोटी नहीं होती । ब्राह्मणोंके सामने तो इन्द्र भी हमेशा मस्तक झुकाते हैं ॥ २ ॥

अष्टावक्र उवाच

यज्ञं द्रष्टुं प्रस्वप्तवन्तौ स तात कौतूहलं नौ बलवद्वै विवृद्धम् ।
आवां प्राप्तावतिथी संप्रवेशं कांक्षावहे द्वारपते तवाज्ञाम् ॥ ३ ॥

अष्टावक्र बोले– हे नरेन्द्र ! हम आपके यज्ञको देखनेकी इच्छासे आये हैं; आपके यज्ञके बारेमें हमारा कौतूहल बहुत बढ गया है । हम दोनों यहां अतिथि होकर आए हैं । हे द्वारपाल! हम यज्ञमण्डपमें प्रविष्ट होनेकी आज्ञा चाहते हैं ॥ ३ ॥

ऐन्द्रद्युम्नेर्यज्ञदृशाविहावां विवक्षू वै जनकेन्द्रं दिदृक्षू ।
न वै क्रोधाद्व्याधिनेवोत्तमेन संयोजय द्वारपाल क्षणेन ॥ ४ ॥

हे इन्द्रद्युम्नके पुत्र ! हम यहां यज्ञ देखने और जनकेन्द्रके साथ बात करनेकी इच्छासे आये हैं, अतः, हे द्वारपाल ! तुम हम दोनोंको किसी रोगके समान कष्टदायी क्रोध युक्त मत करो ॥ ४ ॥

द्वारपाल उवाच

बन्देः समादेशकरा वयं स्म निबोध वाक्यं च मयेर्यमाणम् ।
न वै बालाः प्रविशन्त्यत्र विप्रा वृद्धा विद्वांसः प्रविशन्ति द्विजाग्र्याः ॥५॥

द्वारपाल बोला– हम तो बन्दीकी आज्ञाका पालन करनेवाले हैं । अतः आप मेरे द्वारा कहे जाते हुए वचनको सुनिए । यहां कोई बालक ब्राह्मण यज्ञशालामें नहीं जाने पाता है, जो वेदके जाननेवाले और बूढे और श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं, वही भीतर जाते हैं ॥५ ॥

अष्टावक्र उवाच

यद्यत्र वृद्धेषु कृतः प्रवेशो युक्तं मम द्वारपाल प्रवेष्टुम् ।
वयं हि वृद्धाश्चरितव्रताश्च वेदप्रभावेन प्रवेशनार्हाः ॥ ६ ॥

अष्टावक्र बोले— हे द्वारपाल! यदि यज्ञशालाके भीतर बूढेही ब्राह्मण जाने पाते हैं, तो मेरा भी प्रवेश युक्तिसंगत है, क्योंकि हम भी बूढे व्रतधारी और वेदके प्रभावसे प्रवेशके योग्य हैं ॥ ६ ॥

शुश्रूषवश्चापि जितेन्द्रियाश्च ज्ञानागमे चापि गताः स्म निष्ठाम् ।
न बाल इत्यवमन्तव्यमाहुर्बालोऽप्यग्निर्दहति स्पृश्यमानः ॥ ७ ॥

हम लोग विद्वानोंकी शुश्रूषा करनेवाले जितेन्द्रिय और ज्ञानागममें निष्ठाको प्राप्त हुए हैं। तुम हमको बालक मत समझो, क्योंकि छोटीसी अग्निभी स्पर्श करने पर जलानेमें समर्थ होती है ॥ ७ ॥

द्वारपाल उवाच

सरस्वतीमीरय वेदजुष्टामेकाक्षरां बहुरूपां विराजम् ।
अङ्गात्मानं समवेक्षस्व बालं किं श्लाघसे दुर्लभा वादसिद्धिः ॥ ८ ॥

द्वारपाल बोला— हे वत्स! यदि तुम वेदको जानते हो तो एक अक्षरसे सम्पन्न विशेषरूपसे प्रकाशमान् अनेक रूपवाली वेदमयी वाणीको कहो । हे प्रिय! अपनेको अभी बालक ही समझो । अपनी व्यर्थ प्रशंसा क्यों करते हो? शास्त्रार्थमें सिद्धि प्राप्त करना बहुत कठिन है ॥ ८ ॥

अष्टावक्र उवाच

न ज्ञायते कायवृद्ध्या विवृद्धिर्यथाष्ठीला शाल्मलेः संप्रवृद्धा ।
ह्रस्वोऽल्पकायः फलितो विवृद्धो यश्चाफलस्तस्य न वृद्धभावः ॥ ९ ॥

अष्टावक्र बोले— तुमको नहीं मालूम कि शरीरमात्र बढनेसे कुछ लाभ नहीं होता। देखो, सेंमरका वृक्ष बहुत बढ जाता है, परन्तु उसके फलके भीतर कोई खानेके योग्य वस्तु नहीं होती और अनेक छोटे वृक्षोंके फल कैसे उत्तम होते हैं! इसलिये वे फलवाले वृक्ष छोटे शरीरवाले होनेपर भी बडे हैं और फलसे रहित वृक्ष बडे होनेपर भी छोटे हैं ॥ ९ ॥

द्वारपाल उवाच

वृद्धेभ्य एवेह मतिं स्म बाला गृह्णन्ति कालेन भवन्ति वृद्धाः।

न हि ज्ञानमल्पकालेन शक्यं कस्माद्बालो वृद्ध इवावभाषसे ॥ १० ॥

द्वारपाल बोला— छोटे बालक बूढोंहीसे विद्या पढकर ज्ञानी होते हैं, और फिर कालांतरसे वेही बडे भी हो जाते हैं। थोडी अवस्थामें कोई भी ज्ञान नहीं पा सकता, फिर तुम बालक होकर बूढोंके समान क्यों बातें करते हो ? ॥ १० ॥

अष्टावक्र उवाच

न तेन स्थविरो भवति येनास्य पलितं शिरः।

बालोऽपि यः प्रजानाति तं देवाः स्थविरं विदुः ॥ ११ ॥

अष्टावक्र बोले— किसी मनुष्यको इसलिए वृद्ध नहीं कहा जा सकता कि उसके बाल सफेद होगए हैं। जो बालक होनेपर भी ज्ञानी हो, पण्डित लोग उसीको वृद्ध कहते हैं ॥ ११ ॥

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः।

ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ॥ १२ ॥

कोई मनुष्य न अवस्थाके कारण, न सफेद बालोंके कारण, न धनके कारण और न बन्धुबान्धवोंके कारण ही श्रेष्ठ माना जाता है। ऋषियोंने यही नियम बना दिया है, कि जो वेद जाननेवाला है, वही हम लोगोंमें बडा है ॥ १२ ॥

दिदृक्षुरस्मि संप्राप्तो बन्दिनं राजसंसदि।

निवेदयस्व मां द्वाःस्थ राज्ञे पुष्करमालिने ॥ १३ ॥

हे द्वारपाल ! मैं यहां आया हुआ राजसभामें जाकर बन्दीको देखना चाहता हूँ। तुम कमलोंकी माला पहने हुए राजासे जाकर मेरे आनेकी बात कहो ॥ १३ ॥

द्रष्टास्यद्य वदतो द्वारपाल मनीषिभिः सह वादे विवृद्धे।

उताहो वाप्युचतां नीचतां वा तूष्णीं भूतेष्वथ सर्वेषु चाद्य ॥ १४ ॥

हे द्वारपाल ! तुम थोडी देरमें देखोगे, कि हम सभामें जाकर पण्डितोंके साथ विवाद करेंगे और उस सभामें आज जब सब प्रतिपक्षी चुप हो जायेंगे, तब हम छोटे हैं वा, बडे इसका ज्ञान हो जायेगा ॥ १४ ॥

द्वारपाल उवाच

कथं यज्ञं दशवर्षो विशेस्त्वं विनीतानां विदुषां संप्रवेश्यम्।

उपायतः प्रयतिष्ये तवाहं प्रवेशने कुरु यत्नं यथावत् ॥ १५ ॥

द्वारपाल बोला— जहां बडे ज्ञानी और पण्डितोंका ही प्रवेश होता है। उस यज्ञमें तुम जैसा दस वर्षका लडका किस तरह प्रवेश पा सकता है ? परन्तु किसी उपायसे तुमको वहां ले जानेकी कोशिश करूंगा, किन्तु तुम भी उत्तम यत्न करना ॥ १५ ॥

अष्टावक्र उवाच

भो भो राजञ्जनकानां वरिष्ठ सम्राडसि त्वयि सर्वं समृद्धम् ।
त्वं वा कर्ता कर्मणां यज्ञियानां ययातिरेको नृपतिर्वा पुरस्तात् ॥ १६ ॥

अष्टावक्र बोले— हे जनकवंशियोंमें श्रेष्ठ राजन् ! आप पूजाकी योग्यता और सब ऋद्धियोंसे पूर्ण हों। आपने यज्ञके ऐसे कर्म किये हैं, जैसे पहले केवल राजा ययातिने किये थे ॥१६॥

विद्वान्बन्दी वेदविदो निगृह्य वादे भग्नानप्रतिशङ्कमानः ।
त्वया निसृष्टैः पुरुषैराप्तकृद्भिर्जले सर्वान्मज्जयतीति नः श्रुतम् ॥ १७ ॥

हमने सुना है कि विद्वान् बन्दी शास्त्रार्थमें हारे हुए वेदविद्वानोंको पकडकर बिना किसी भयके आपके द्वारा नियुक्त विश्वसनीय पुरुषोंके द्वारा जलमें डुबवा देता है ॥ १७ ॥

स तच्छ्रुत्वा ब्राह्मणानां सकाशाद्ब्रह्मोद्यं वै कथयितुमागतोऽस्मि ।
क्वासौ बन्दी यावदेनं समेत्य नक्षत्राणीव सविता नाशयामि ॥ १८ ॥

मैं ब्राह्मणोंसे यह बात सुनकर यहां ब्रह्मका वर्णन करनेके लिए आया हूँ । वह बन्दी कहां है? मैं उससे शास्त्रार्थ करके जैसे सूर्य तारोंके तेजका नाश करता है, वैसे ही मैं उसे नष्ट कर दूंगा ॥ १८ ॥

राजोवाच

आशंससे बन्दिनं त्वं विजेतुमविज्ञात्वा वाक्यबलं परस्य ।
विज्ञातवीर्यैः शक्यमेवं प्रवक्तुं दृष्टश्चासौ ब्राह्मणैर्वादशीलैः ॥ १९ ॥

राजा बोले— तुम बिना बन्दीके विद्याबलको जाने ही कहते हो कि 'मैं उसे जीत लूंगा।' अपने वादीके पराक्रमके जाननेवालेके द्वारा ही ऐसा कहा जा सकता है और बन्दीका पराक्रम वेदज्ञ ब्राह्मणोंने देख ही लिया है ॥ १९ ॥

अष्टावक्र उवाच

विवादितोऽसौ नहि मादृशैर्हि सिंहीकृतस्तेन वदत्यभीतः ।
समेत्य मां निहतः शेष्यतेऽद्य मार्गे भग्नं शकटमिवाबलाक्षम् ॥ २० ॥

अष्टावक्र बोले— उसने मेरे जैसे पण्डितोंसे कभी विवाद नहीं किया है, इसीसे वह सिंह बना हुआ है, और निर्भय होकर बोलता है । अब वह मुझसे टकराकर जमीनपर वैसे ही सोयेगा, जैसे अक्ष टूटी हुई गाडी मार्गपर पडी रहती है ॥ २० ॥

राजोवाच

षण्णाभेर्द्वादशाक्षस्य चतुर्विंशतिपर्वणः ।
यस्त्रिषष्टिशतारस्य वेदार्थं स परः कविः ॥ २१ ॥

राजा बोले– छ नाभि, बारह अक्ष, चौबीस पर्वयुक्त और तीन सौ साठ अरोंसे युक्त जो वस्तु है, उसके अर्थको जो जानता है, वही परम कवि है ॥ २१ ॥

अष्टावक्र उवाच

चतुर्विंशतिपर्व त्वां षण्णाभि द्वादशप्रधि ।
तत्त्रिषष्टिशतारं वै चक्रं पातु सदागति ॥ २२ ॥

अष्टावक्र बोले– चौबीस पर्व, छःनाभि, बारह प्रधि और तीन सौ साठ अरोंके सहित जो नित्य चलनेवाला चक्र है, वह तुम्हारी रक्षा करे ॥ २२ ॥×

राजोवाच

वडवे इव संयुक्ते श्येनपाते दिवौकसाम् ।
कस्तयोर्गर्भमाधत्ते गर्भं सुषुवतुश्च कम् ॥ २३ ॥

राजा बोले– जो दो घोडियोंके समान संयुक्त हैं । जिनका गिरना बाज पक्षीके समान प्रतीत होता है, देवताओंके बीच उन दोनोंके गर्भको कौन धारण करता है ? और वे भी किस गर्भको उत्पन्न करते हैं ? ॥ २३ ॥

अष्टावक्र उवाच

मा स्म ते ते गृहे राजञ्शात्रवाणामपि ध्रुवम् ।
वातसारथिराधत्ते गर्भं सुषुवतुश्च तम् ॥ २४ ॥

अष्टावक्र बोले– हे राजन् ! वह आपके घरपर कभी न गिरे । वह शत्रुओंके घरपर भी न गिरे । जिसका वायु सारथि है वह उस गर्भको धारण करता है, और दोनों उस गर्भको उत्पन्न करते हैं ॥ २४ ॥+

× बारह अमावास्या और बारह पूर्णिमा मिलकर चौबीस पर्व । छः ऋतु– छ नाभि । बारह महीने– बारह प्रधि । तीनसौ साठ दिन–तीन सौ साठ अरे । ऐसा सदा घूमनेवाला चक्र– संवत्सर चक्र ।

+ राजा जनकके परोक्ष प्रश्नका उत्तर भी अष्टावक्र परोक्षमें ही देते हैं । आपसमें सदा संयुक्त रहनेवाली घोडियां रयि और प्राण हैं, ये ही ऋण और धन हैं । इन दोनोंके मिलनेसे विद्युत् पैदा होती है, जो बाजपक्षीके समान वेगसे गिरती है । प्राण और रयिके गर्भ अर्थात् उनसे उत्पन्न हुई विद्युत्को वायु जिसका सारथि है, ऐसे मेघ धारण करते हैं । इसी विद्युत्के कारण फिर मेघ पैदा होते हैं । इसलिए मेघको इन प्राण और रयिका गर्भ कहा गया है ।

राजोवाच

किं स्वित्सुप्तं न निमिषति किं स्विज्जातं न चोपति ।
कस्य स्विद्धृदयं नास्ति किं स्विद्वेगेन वर्धते ॥ २५ ॥

राजा बोले– कौन ऐसा जन्तु है, जो सोनेके समय आंख बन्द करके नहीं सोता ? वह कौन है, जो उत्पन्न होकर भी नहीं चलता ? वह कौन है जिसके हृदय नहीं है ? और वह कौन है जो वेगसे बढता है ? ॥ २५ ॥

अष्टावक्र उवाच

मत्स्यः सुप्तो न निमिषत्यण्डं जातं न चोपति ।
अश्मनो हृदयं नास्ति नदी वेगेन वर्धते ॥ २६ ॥

अष्टावक्र बोले– मछली सोते हुए आंखोंको नहीं बन्द करती, अण्डा उत्पन्न होकर भी नहीं चलता । पत्थरके हृदय नहीं होता और वेगसे नदी बढती है ॥ २६ ॥

राजोवाच

न त्वा मन्ये मानुषं देवसत्त्वं न त्वं बालः स्थविरस्त्वं मतो मे ।
न ते तुल्यो विद्यते वाक्प्रलापे तस्माद्द्वारं वितराम्येष बंदी ॥ २७ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि त्रयस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३३ ॥ ४५११ ॥

राजा बोले-- मैं तुमको मनुष्य नहीं समझता, तुम साक्षात् देवता हो । मेरा मत है कि तुम बालक नहीं; वरन् वृद्ध हो । तुम्हारे समान वाद करनेवाला कोई नहीं है । इसलिए मैं तुमको यज्ञमण्डपमें जानेके लिये द्वार बताता हूँ । सामने ही बन्दी खडा हुआ है ॥ २७ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ तैतीसवां अध्याय समाप्त ॥ १३३ ॥ ४५११ ॥

१३४

अष्टावक्र उवाच

अत्रोग्रसेनसमितेषु राजन्समागतेष्वप्रतिमेषु राजसु ।
न वै विवित्सान्तरमस्ति वादिनां महाजले हंसनिनादिनामिव ॥ १ ॥

अष्टावक्र बोले– हे महाराज ! यहां उग्रसेनके समान अप्रतिम राजा आकर बैठे हुए हैं, इस लिए जिस प्रकार किसी महान् सरोवरमें मिलकर बोलते हुए हंसोंमें किसी एक हंसका स्वर पहचानना कठिन है, उसी तरह बोलते हुए इन राजाओंमें बन्दीको जानना कठिन है ॥ १ ॥

न मेऽद्य वक्ष्यस्यतिवादिमानिन्ग्लहं प्रपन्नः सरितामिवागमः ।
हुताशनस्येव समिद्धतेजसः स्थिरो भवस्वेह ममाद्य बंदिन् ॥ २ ॥
हे शास्त्रार्थमें अभिमानी बन्दिन्! आज तुम मेरे सामने कुछ बोल नहीं सकोगे। प्रलयकालमें अग्निके प्रदीप्त होनेपर जिस प्रकार उसके समीप बहनेवाले जलका प्रवाह सूख जाता है उसी तरह तुम मेरे सामने सूख जाओगे। तुम आज स्थिर हो जाओ ॥ २ ॥

बन्द्युवाच
व्याघ्रं शयानं प्रति मा प्रबोधय आशीविषं सृक्किणी लेलिहानम् ।
पदाहतस्येव शिरोऽभिहत्य नादष्टो वै मोक्ष्यसे तन्निबोध ॥ ३ ॥
बन्दी बोला– तुम सोते हुए शेरको मत जगाओ। भयंकर विषधारी जीभ चाटते हुए सांपके सिरपर पैर मारकर तुम उससे विना डसे बच नहीं सकते, इस बातको अच्छी तरह जान लो ॥ ३ ॥

यो वै दर्पात्संहननोपपन्नः सुदुर्बलः पर्वतमाविहन्ति ।
तस्यैव पाणिः सनखो विशीर्यते न चैव शैलस्य हि दृश्यते व्रणः ॥ ४ ॥
जैसे कोई दुर्बल पुरुष अपने बलके अभिमानमें आकर पर्वतपर आघात करता है, उसीके हाथ और नाखून कट जाते हैं, परंतु पर्वतमें जरा भी घाव नहीं होता ॥ ४ ॥

सर्वे राज्ञो मैथिलस्य मैनाकस्येव पर्वताः ।
निकृष्टभूता राजानो वत्सा अनडुहो यथा ॥ ५ ॥
जैसे मैनाक पर्वतके सामने अन्य पर्वत और सांडके सामने बछडे निकृष्ट हैं, वैसे ही मिथिलाधिपके सामने अन्य सभी राजा निकृष्ट हैं ॥ ५ ॥

लोमश उवाच
अष्टावक्रः समितौ गर्जमानो जातक्रोधो बन्दिनमाह राजन् ।
उक्ते वाक्ये चोत्तरं मे ब्रवीहि वाक्यस्य चाप्युत्तरं ते ब्रवीमि ॥ ६ ॥
लोमश बोले– हे राजन्! तब अष्टावक्र मुनि सभाके बीचमें गर्जने लगे। और अत्यन्त क्रोधित होकर बन्दीसे बोले– कि तुम मेरे कहे गए वचनका उत्तर दो और मैं भी तुम्हारे वचनका उत्तर दूंगा ॥ ६ ॥

बन्द्युवाच
एक एवाग्निर्बहुधा समिध्यते एकः सूर्यः सर्वमिदं प्रभासते ।
एको वीरो देवराजो निहन्ता यमः पितॄणामीश्वरश्चैक एव ॥ ७ ॥
बन्दी बोले– एक ही अग्नि बहुत रूपोंसे प्रज्वलित होती है और एक ही सूर्य इस सारे विश्वको प्रकाशित करता है, एक ही वीर इन्द्र शत्रुओंको नष्ट करता है, तथा एक ही यम पितरोंका ईश्वर है ॥ ७ ॥

अष्टावक्र उवाच

द्वाविन्द्राग्नी चरतो वै सखायौ द्वौ देवर्षी नारदः पर्वतश्च ।

द्वावश्विनौ द्वे च रथस्य चक्रे भार्यापती द्वौ विहितौ विधात्रा ॥ ८ ॥

अष्टावक्र बोले— इन्द्र और अग्नि ये दो देवता मित्रभावसे विचरते हैं, नारद और पर्वत ये दो देवर्षि हैं, अश्विनीकुमार दो देवता हैं, रथके दो ही चक्र हैं, और विधाताने भार्या और पति ये दो ही उत्पन्न किये हैं ॥ ८ ॥

बंदुवाच

त्रिः सूयते कर्मणा वै प्रजेयं त्रयो युक्ता वाजपेयं वहन्ति ।

अध्वर्यवस्त्रिषवणानि तन्वते त्रयो लोकास्त्रीणि ज्योतींषि चाहुः ॥ ९ ॥

वन्दी बोले— कर्म हेतुसे यह सब प्रजा देवता, मनुष्य और तिर्यक् इन त्रिविध योनियोंमें जन्म ग्रहण करती है । तीन ऋक्, यजु, साम वेद ये संमिलित होकर वाजपेयादि समस्त कर्मका प्रतिपादन करते हैं; अध्वर्युगण प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन और सायंसवन इन तीन सवनोंका अनुष्ठान किया करते हैं; स्वर्ग, मर्त्य और नरक ये त्रिविध लोक हैं और त्रिविध ज्योतियां सूर्य, विद्युत् और अग्नि कही हैं ॥ ९ ॥

अष्टावक्र उवाच

चतुष्टयं ब्राह्मणानां निकेतं चत्वारो युक्ता यज्ञमिमं वहन्ति ।

दिशश्चतस्रश्चतुरश्च वर्णाश्चतुष्पदा गौरपि शश्वदुक्ता ॥ १० ॥

अष्टावक्र बोले— ब्राह्मणोंके ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास ये चार आश्रम हैं; चारों ऋत्विज मिलकर इस यज्ञको किया करते हैं; पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण ये दिशाएं चार हैं, वर्ण भी चार हैं ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत और हल् ये चार वर्ण है, तथा गौके (वाणीके) भी परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी ये चार पाद हैं ॥ १० ॥

बंदुवाच

पञ्चाग्नयः पञ्चपदा च पङ्क्तिर्यज्ञाः पञ्चैवाप्यथ पञ्चेन्द्रियाणि ।

दृष्टा वेदे पञ्चचूडाश्च पञ्च लोके ख्यातं पञ्चनदं च पुण्यम् ॥ ११ ॥

वन्दी बोले— गार्हपत्य दक्षिणाग्नि आहवनीय सभ्य व अवसथ्य ये पांच अग्नियां और पंक्ति छन्दमें पांच चरण रहते हैं । देवयज्ञ, पितृयज्ञ, ऋषियज्ञ, भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ ये पांच यज्ञ हैं । श्रोत्र, त्वक्, नेत्र, जिह्वा, और नासिका ये पांच इन्द्रियां हैं; वेदमें पांच शिखाओं-वाली पांच अप्सरायें प्रसिद्ध हैं और लोकमें विपाशा (व्यास), इरावती (रावी), वितस्ता (झेलम), चन्द्रभागा (चिनाब) और शतद्रू (सतलज) ये पांच नदियां भी पवित्रकारक हैं ॥ ११ ॥

अष्टावक्र उवाच

षडाधाने दक्षिणामाहुरेके षडवेमे ऋतवः कालचक्रम् ।

षडिन्द्रियाण्युत षट् कृत्तिकाश्च षट् साद्यस्काः सर्ववेदेषु दृष्टाः ॥ १२ ॥

अष्टावक्र बोले– कईयोंके मतसे अग्न्याधानकी दक्षिणा छः गौ है, तथा कालचक्रके ऋतु छः है, श्रोत्रादि पांच और मन एक मिलकर छः इन्द्रियां हैं, कृत्तिका छः प्रसिद्ध हैं, तथा वेदोंमें साद्यस्क यज्ञ भी छः हैं ॥ १२ ॥

बंधुवाच

सप्त ग्राम्याः पशवः सप्त वन्याः सप्त छन्दांसि क्रतुमेकं वहन्ति ।

सप्तर्षयः सप्त चाप्यर्हणानि सप्ततन्त्री प्रथिता चैव वीणा ॥ १३ ॥

वन्दी बोले– + ग्राम्य पशु सात हैं, वन्य भी सात हैं । एक यज्ञके लिये सात छन्द प्रयुक्त होते हैं । सात ऋषि हैं । सम्मान करनेकी रीतियां भी सात हैं तथा वीणाके भी सात तार प्रसिद्ध हैं ॥ १३ ॥

अष्टावक्र उवाच

अष्टौ शाणाः शतमानं वहन्ति तथाष्टपादः शरभः सिंहघाती ।

अष्टौ वसूञ्शुश्रुम देवतासु यूपश्चाष्टास्रिर्विहितः सर्वयज्ञः ॥ १४ ॥

अष्टावक्र बोले– सनकी बनी हुई आठ डोरियोंसे तराजू सैंकडों मन पदार्थोंको तोलती है । सिंहको मारनेवाले शरभके भी आठ पांव होते हैं । देवताओंमें आठ वसु हम सुनते हैं । सब यज्ञोंमें आठ ही यूप होते हैं ॥ १४ ॥

बंधुवाच

नवैवोक्ताः सामिधेन्यः पितॄणां तथा प्राहुर्नवयोगं विसर्गम् ।

नवाक्षरा बृहती संप्रदिष्टा नवयोगो गणनामेति शश्वत् ॥ १५ ॥

वन्दी बोले– पितृयज्ञमें अग्नि जलानेके लिये नवधा ऋक् विहित हुआ है, सृष्टि उत्पत्तिमें भी पुरुष, प्रकृति, महत्, अहंकार और पंचतन्मात्रा ये नौ तत्त्व कारण हैं । प्रत्येक चरणमें नौ अक्षर रहनेसे वैसे चार चरणनें एक बृहती छन्द होता है; और एकसे लगाकर नौविध अंकोंके मेलसे सब गिनती पूरी होती है ॥ १५ ॥

+ गाय, भैंस, बकरी, भेड, घोडा, कुत्ता और गधा– ग्राम्य पशु । सिंह, बाघ, भेडिया, हाथी, वानर, भालू और मृग– वन्य पशु । गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप् , बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती- सात छन्द । मरीचि, अत्रि, पुलह, पुलस्त्य, क्रतु, अंगिरा और वसिष्ठ– सप्त ऋषि । गंध, धूप, पुष्प, दीप, नैवेद्य, आचमन और ताम्बूल– पूजाके सप्त साधन ।

अष्टावक्र उवाच

दश दशोक्ताः पुरुषस्य लोके सहस्रमाहुर्दश पूर्णं शतानि ।

दशैव मासान्बिभ्रति गर्भवत्यो दशेरका दश दाशा दशार्णाः ॥ १६ ॥

अष्टावक्र बोले— लोकमें पुरुषके लिए दिशाएं दस हैं । दस सौ मिलकर ही हजार होते हैं । स्त्रियां गर्भयुक्त होकर दस महीने तक गर्भ धारण करती हैं । इस तत्त्वज्ञानके उपदेष्टा दस जन हैं, विरोधी भी दस हैं । और अधिकारी भी दस जन हैं ॥ १६ ॥

बंदुवाच

एकादशैकादशिनः पशूनामेकादशैवात्र भवन्ति यूपाः ।

एकादश प्राणभृतां विकारा एकादशोक्ता दिवि देवेषु रुद्राः ॥ १७ ॥

बन्दी बोले— एकादश इन्द्रियां शब्दादि विषयोंमें अवस्थान करती हैं, इसलिये ये शब्दादि विषय भी एकादश संख्यामें गिने जाते हैं । जीवरूप पशुके बन्धनके निमित्त ये ग्यारह विषय ग्यारह यूपस्वरूप हुए हैं । उक्तशब्दादि ग्रहणजनित हर्ष विषादादि ग्यारह प्रकारके विकार स्वर्गमें देवताओंको भी रोदन कराया करते हैं ॥ १७ ॥

अष्टावक्र उवाच

संवत्सरं द्वादश मासमाहुर्जगत्याः पादो द्वादशैवाक्षराणि ।

द्वादशाहः प्राकृतो यज्ञ उक्तो द्वादशादित्यान्कथयन्तीह विप्राः ॥ १८ ॥

अष्टावक्र बोले— बारह महीनेका संवत्सर होता है और प्रत्येक चरणमें बारह अक्षर रहनेसे वैसे चार चरणमें जगती छन्द होता है । प्राकृत यज्ञ बारह दिन पूरा करना होता है, तथा आदित्य भी बारह कहे गए हैं ॥ १८ ॥

बंदुवाच

त्रयोदशी तिथिरुक्ता महोग्रा त्रयोदशद्वीपवती मही च ॥ १९ ॥

बन्दी बोले— पण्डितोंने त्रयोदशी तिथिको बहुत उग्र कहा है और पृथिवीको त्रयोदस द्वीपयुक्ता कहा है ॥ १९ ॥

लोमश उवाच

एतावदुक्त्वा विरराम बन्दी श्लोकस्यार्धं व्याजहाराष्टवक्रः ।

त्रयोदशाहानि ससार केशी त्रयोदशादीन्यतिच्छन्दांसि चाहुः ॥ २० ॥

लोमश बोले— महाराज ! यह आधा श्लोक कहकर बन्दी चुप हो गये । तदनन्तर अष्टावक्रने उसके अपरार्द्धश्लोकको इस प्रकार कहकर पूरा किया । केशीने तेरह दिन यज्ञ किया और अतिच्छंदके भी तेरह अक्षर होते हैं ॥ २० ॥

ततो महानुदतिष्ठन्निनादस्तूष्णींभूतं सूतपुत्रं निशम्य।
अधोमुखं ध्यानपरं तदानीमष्टावक्रं चाप्युदीर्यन्तमेव ॥ २१ ॥

उसके अनन्तर उस समय सभासदोंने यज्ञदीक्षित वरुणके पुत्र उस बन्दीको चुप और नीचे मुख किये चिन्तायुक्त और अष्टावक्रको वादविचारमें वाक् निपुणता प्रकट करते देखकर महाकोलाहलकी ध्वनि की ॥ २१ ॥

तस्मिंस्तथा संकुले वर्तमाने स्फीते यज्ञे जनकस्याथ राज्ञः।
अष्टावक्रं पूजयन्तोऽभ्युपेयुर्विप्राः सर्वे प्राञ्जलयः प्रतीताः ॥ २२ ॥

जब इस प्रकार महाराज जनककी यज्ञशालामें शब्द उठा और यज्ञ समाप्त हुआ, तब सब वेदके जाननेवाले ब्राह्मणोंने प्रीतिपूर्वक हाथ जोड कर अष्टावक्रकी पूजा की ॥ २२ ॥

अष्टावक्र उवाच
अनेन वै ब्राह्मणाः शुश्रुवांसो वादे जित्वा सलिले मज्जिताः किल।
तानेव धर्मानयमद्य बन्दी प्राप्नोतु गृह्याप्सु निमज्जयैनम् ॥ २३ ॥
अष्टावक्र बोले– इसी बन्दीने पहले अनेक ज्ञानी ब्राह्मणोंको वादमें जीत कर जलमें डुबा दिया है, इसीलिये यह भी उन्हीं भोगोंको प्राप्त हो, इसे भी पकड कर जलमें डुबा दिया जाए ॥ २३ ॥

बंद्युवाच
अहं पुत्रो वरुणस्योत राज्ञस्तत्रास सत्रं द्वादशवार्षिकं वै।
सत्रेण ते जनक तुल्यकालं तदर्थं ते प्रहिता मे द्विजाग्र्याः ॥ २४ ॥
बन्दी बोले– मैं राजा वरुणका पुत्र हूं, मेरे पिताने भी द्वादश वार्षिकी यज्ञ किया है। हे जनक! तुम्हारे ही यज्ञके समय वहां भी यज्ञ हुआ है, इसीलिए मैंने (जलमें डुबाकर) अनेक ब्राह्मणोंको वहां भेजा है ॥ २४ ॥

एते सर्वे वरुणस्योत यज्ञं द्रष्टुं गता इह आयान्ति भूयः।
अष्टावक्रं पूजये पूजनीयं यस्य हेतोर्जनितारं समेष्ये ॥ २५ ॥
वे सब वरुणके यज्ञको देखने गये थे, और वे फिर लौटकर चले आ रहे हैं। मैं पूजने योग्य अष्टावक्र मुनिकी पूजा करता हूँ, जिनके कारण मैं पुनः अपने पितासे मिल सकूंगा ॥ २५ ॥

अष्टावक्र उवाच

विप्राः समुद्राम्भसि मज्जितास्ते वाचा जिता मेधया आविदानाः ।
तां मेधया वाचमथोज्जहार यथा वाचमवचिन्वन्ति सन्तः ॥ २६ ॥

अष्टावक्र बोले– जो सब ब्राह्मण समुद्रके जलमें डुबाये गये हैं, वे लोग पण्डित होकर भी बन्दीके वाक्यकौशल अथवा वितर्ककौशलसे ही पराजित हुए हैं, मैंने अपने वाक्यमेधाके सहारे जिस प्रकार उनका उद्धार किया है, वैसे ही सदसद्विवेकशील पण्डित लोग मेरे उन वचनोंकी परीक्षा करें ॥ २६ ॥

अग्निर्दहञ्जातवेदाः सतां गृहान्विसर्जयंस्तेजसा न स्म धाक्षीत् ।
बालेषु पुत्रेषु कृपणं वदत्सु तथा वाचमवचिन्वन्ति सन्तः ॥ २७ ॥

जिस प्रकार जातवेद अग्नि स्वभावसे ही दाहक होकर भी अपने तेजसे सत्याभिसन्धी लोगोंके शरीरको नहीं जलाती, परन्तु पापीके शरीरको ही जलाती है, वैसे ही सदसद्विवेकशील पण्डित मन्दवादी बालक वा पुत्रके वाक्यकी भी परीक्षा करके उसे ग्राह्य वा अग्राह्य किया करते हैं ॥ २७ ॥

श्लेष्मातकी क्षीणवर्चाः शृणोषि उताहो त्वां स्तुतयो मादयन्ति ।
हस्तीव त्वं जनक वितुद्यमानो न मामिकां वाचमिमां शृणोषि ॥ २८ ॥

हे जनक ! तुम श्लेष्मातकी अर्थात् लिसोडके फलोंको खानेके कारण तेजोहीन हो जानेके कारण मेरी बात नहीं सुन रहे हो । अथवा बन्दी द्वारा की गई स्तुतियां तुम्हें उन्मत्त बनाये हुई हैं । इसी कारण जैसे मदमस्त हाथी अंकुशके द्वारा मारे जाने पर भी महावतके वेंचनाको नहीं मानता, उसी तरह तुम मेरी बात नहीं सुन रहे हो ॥ २८ ॥

जनक उवाच

शृणोमि वाचं तव दिव्यरूपाममानुषीं दिव्यरूपोऽसि साक्षात् ।
अजैषीर्यद्बन्दिनं त्वं विवादे निसृष्ट एष तव कामोऽद्य बन्दी ॥ २९ ॥

जनक बोले– हे ब्राह्मण ! मैं तुम्हारी देवरूपी अमानुषी वाणीको सुन रहा हूं । तुम साक्षात् दिव्य रूप हो, तुमने बन्दीको विवादमें जीत लिया है, इसलिये हम बन्दीको तुम्हें देते है, तुम्हारी जो इच्छा हो सो करो ॥ २९ ॥

अष्टावक्र उवाच

नानेन जीवता कश्चिदर्थो मे बन्दिना नृप ।
पिता यद्यस्य वरुणो मज्जयैनं जलाशये ॥ ३० ॥

अष्टावक्र बोले– हे राजन् ! इस बन्दीके जीते रहनेसे मुझे कोई लाभ नहीं है, इसलिए इसका पिता यदि सचमुच वरुण है तो इसको जलमें डुबा दीजिये ॥ ३० ॥

बन्द्युवाच

अहं पुत्रो वरुणस्योत राज्ञो न मे भयं सलिले मज्जितस्य ।

इमं मुहूर्तं पितरं द्रक्ष्यतेऽयमष्टावक्रश्चिरनष्टं कहोडम् ॥ ३१ ॥

बन्दी बोले– मैं राजा वरुणका पुत्र हूँ, इसलिये जलमें डूबनेमें मुझे कुछ भी भय नहीं है, अब अष्टावक्र भी अपने पिता कहोडको जो बहुत कालसे नष्ट होगये हैं, इसी क्षण देखेंगे ॥ ३१ ॥

लोमश उवाच

ततस्ते पूजिता विप्रा वरुणेन महात्मना ।
उदतिष्ठन्त ते सर्वे जनकस्य समीपतः ॥ ३२ ॥

लोमश बोले– तदनन्तर महात्मा वरुणके द्वारा पूजित वे सभी ब्राह्मण [जो बन्दीके द्वारा जलमें डुबो दिए गए थे) फिर जनकके सामने आकर उपस्थित हो गए ॥ ३२ ॥

कहोड उवाच

इत्यर्थमिच्छन्ति सुताञ्जना जनक कर्मणा ।
यदहं नाशकं कर्तुं तत्पुत्रः कृतवान्मम ॥ ३३ ॥

कहोड बोले– हे जनक ! पुरुष लोग इसीलिये अनेक कर्म करके पुत्रकी इच्छा करते हैं। जो कर्म मैं न कर सका उसे मेरे पुत्रने किया ॥ ३३ ॥

उताबलस्य बलवानुत बालस्य पण्डितः ।
उत वाविदुषो विद्वान्पुत्रो जनक जायते ॥ ३४ ॥

हे जनक ! दुर्बलके भी बलवान्, मूर्खके भी पण्डित और अज्ञानीके भी ज्ञानी पुत्र हो सकता है ॥ ६४ ॥

बन्द्युवाच

शितेन ते परशुना स्वयमेवान्तको नृप ।
शिरांस्यपाहरत्वाजौ रिपूणां भद्रमस्तु ते ॥ ३५ ॥

बन्दी बोले– हे राजन् ! तेज फरसा लेकर स्वयं यमराज युद्धमें आपके शत्रुओंके सिर काटें और आपका कल्याण हो ॥ ३५ ॥

महदुक्थ्यं गीयते साम चाग्र्यं सम्यक्सोमः पीयते चात्र सत्रे ।

शुचीन्भागान्प्रतिजगृहुश्च हृष्टाः साक्षाद्देवा जनकस्येह यज्ञे ॥ ३६ ॥

हे राजन् ! आपके यज्ञमें उक्थ्य नामक श्रेष्ठ साम अच्छी प्रकारसे गाये जाते हैं। सोमपान अच्छी तरहसे पिया जाता है। देवगण प्रसन्न होकर साक्षात् रूपसे पवित्र भागोंको ग्रहण करके आनंद करते हैं ॥ ३६ ॥

लोमश उवाच

समुत्थितेष्वथ सर्वेषु राजन्विप्रेषु तेष्वधिकं सुप्रभेषु ।

अनुज्ञातो जनकेनाथ राज्ञा विवेश तोयं सागरस्योत बन्दी ॥ ३७ ॥

लोमश बोले– हे राजन् ! जब ब्राह्मण अत्यन्त तेजको धारण करके प्रगट हुए, तब राजा जनककी आज्ञासे बन्दीने उन सब प्रतापी विप्रोंके सामने समुद्रमें प्रवेश किया ॥ ३७ ॥

अष्टावक्रः पितरं पूजयित्वा संपूजितो ब्राह्मणैस्तैर्यथावत् ।

प्रत्याजगामाश्रममेव चाग्र्यं जित्वा बन्दिं सहितो मातुलेन ॥ ३८ ॥

तदनन्तर सब ब्राह्मणोंने विधिपूर्वक अष्टावक्रकी पूजा की और अष्टावक्रने अपने पिताकी पूजा की। तदनन्तर श्रेष्ठ बन्दीको जीतकर अपने मामा श्वेतकेतुके सहित अपने आश्रमको चले गए ॥ ३८ ॥

अत्र कौन्तेय सहितो भ्रातृभिस्त्वं सुखोषितः सह विप्रैः प्रतीतः ।

पुण्यान्यन्यानि शुचिकर्मैकभक्तिर्मया सार्धं चरितास्याजमीढ ॥ ३९ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि चतुस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३४ ॥ ४५५० ॥

हे अजमीढवंशी कुन्तीनन्दन ! यहां आप सुखसे और प्रसन्न होकर रहिए और इस नदीमें आप स्त्री, भाई और ब्राह्मणोंके सहित स्नान हमारे साथ भक्तिसहित पवित्र होकर दूसरे पवित्र तीर्थोंको चलिये ॥ ३९ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ चौंतीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १३४ ॥ ४५५० ॥

: १३५ :

लोमश उवाच

एषा मधुविला राजन्समंगा संप्रकाशते ।

एतत्कर्दमिलं नाम भरतस्याभिषेचनम् ॥ १ ॥

लोमश बोले– हे राजन् ! इस नदीका नाम पहले मधुविला था, वही अब समङ्गाके नामसे प्रसिद्ध हुई है, यह कर्दमिल नामक तीर्थ है, यहीं राजा भरतका अभिषेक हुआ था ॥ १ ॥

अलक्ष्म्या किल संयुक्तो वृत्रं हत्वा शचीपतिः ।

आप्लुतः सर्वपापेभ्यः समंगायां व्यमुच्यत ॥ २ ॥

यहीं समङ्गा नदीमें स्नान करके वृत्रासुरके मारनेके पश्चात् अलक्ष्मीसे संयुक्त हुए इन्द्र सब पापोंसे छूटे थे ॥ २ ॥

एतद्विनशनं कुक्षौ मैनाकस्य नरर्षभ ।
अदितिर्यत्र पुत्रार्थं तदन्नमपचत्पुरा ॥ ३ ॥

हे भरतकुलसिंह ! यह मैनाक पर्वतके वीचमें विनशन नामक तीर्थ है, यहीं प्राचीन समयमें अदितिने पुत्र होनेके निमित्त ब्रह्मौदन पकाया था ॥ ३ ॥

एनं पर्वतराजानमारुह्य पुरुषर्षभ ।
अयशस्यामसंशब्द्यामलक्ष्मीं व्यपनोत्स्यथ ॥ ४ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठो ! आपलोग इस पर्वतराजके ऊपर चढिये, तव सव अयश अप्रसिद्धि और अलक्ष्मीको दूर कर देंगे ॥ ४ ॥

एते कनखला राजन्नृषीणां दयिता नगाः ।
एषा प्रकाशते गङ्गा युधिष्ठिर महानदी ॥ ५ ॥

हे राजन् युधिष्ठिर ! यह सव ऋषियोंके प्रिय कनखलके पर्वत हैं। यह महानदी गंगा प्रकाशित हो रही है ॥ ५ ॥

सनत्कुमारो भगवानत्र सिद्धिमगात्पराम् ।
आजमीढावगाह्यैनां सर्वपापैः प्रमोक्ष्यसे ॥ ६ ॥

पहले भगवान् सनत्कुमार मुनि यहीं सिद्धिको प्राप्त हुए थे, हे अजमीढ वंशोत्पन्न युधिष्ठिर ! आप इसमें स्नान करनेसे सव पापोंसे छूट जायेंगे ॥ ६ ॥

अपां ह्रदं च पुण्याख्यं भृगुतुङ्गं च पर्वतम् ।
तूष्णीं गङ्गां च कौन्तेय सामात्यः समुपस्पृश ॥ ७ ॥

यह जलसे भरा हुआ पवित्र तालाव है, यह भृगुतुङ्ग पर्वत है, हे कुन्तीनन्दन ! यह गङ्गा है, यहां आप शान्त होकर मन्त्रियोंके साथ स्नान करें ॥ ७ ॥

आश्रमः स्थूलशिरसो रमणीयः प्रकाशते ।
अत्र मानं च कौन्तेय क्रोधं चैव विवर्जय ॥ ८ ॥

यह स्थूलशिरा नामक मुनिका रमणीय आश्रम है, हे कुन्तीनन्दन ! यहां अभिमान और क्रोधको छोड दीजिए ॥ ८ ॥

एष रैभ्याश्रमः श्रीमान्पाण्डवेय प्रकाशते ।
भारद्वाजो यत्र कविर्यवक्रीतो व्यनश्यत ॥ ९ ॥

हे पाण्डव ! यह श्रीमान् रैभ्य मुनिका आश्रम प्रकाशित हो रहा है, जहां भारद्वाज मुनिके पुत्र ज्ञानी यवक्रीत नष्ट हो गये थे ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कथंयुक्तोऽभवदृषिर्भरद्वाजः प्रतापवान् ।
किमर्थं च यवक्रीत ऋषिपुत्रो व्यनश्यत ॥ १० ॥

युधिष्ठिर बोले– प्रतापवान् भरद्वाज मुनि कैसे थे ? और उन ऋषिके पुत्र यवक्रीत क्यों मारे गये थे ॥ १० ॥

एतत्सर्वं यथावृत्तं श्रोतुमिच्छामि लोमश ।
कर्मभिर्देवकल्पानां कीर्त्यमानैर्भृशं रमे ॥ ११ ॥

हे लोमश ! मैं इस सब चरित्रको तत्त्वतः सुनना चाहता हूं, क्योंकि देवतुल्य ऋषियोंके कर्म सुननेसे मुझे आनंद प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

लोमश उवाच

भरद्वाजश्च रैभ्यश्च सखायौ संबभूवतुः ।
तावूषतुरिहात्यन्तं प्रीयमाणौ वनान्तरे ॥ १२ ॥

लोमश बोले– भरद्वाज और रैभ्य दोनों मित्र थे, वे दोनों परस्पर अत्यन्त प्यार करते हुए इस वनके अन्दर रहते थे ॥ १२ ॥

रैभ्यस्य तु सुतावास्तामर्वावसुपरावसू ।
आसीद्यवक्रीः पुत्रस्तु भरद्वाजस्य भारत ॥ १३ ॥

रैभ्यके अर्वावसु और परावसु नामक दो पुत्र थे । हे भारत ! भरद्वाजके एक यवक्री नामक पुत्र था ॥ १३ ॥

रैभ्यो विद्वान्सहापत्यस्तपस्वी चेतरोऽभवत् ।
तयोश्चाप्यतुला प्रीतिर्बाल्यात्प्रभृति भारत ॥ १४ ॥

रैभ्य पुत्रोंके सहित विद्वान् थे और भरद्वाज तपस्वी थे, इन दोनोंकी बचपनसे ही बहुत कीर्ति जगत्में प्रसिद्ध थी ॥ १४ ॥

यवक्रीः पितरं दृष्ट्वा तपस्विनमसत्कृतम् ।
दृष्ट्वा च सत्कृतं विप्रै रैभ्यं पुत्रैः सहानघ ॥ १५ ॥

हे अनघ ! यवक्रीने जब अपने पिताको अत्यन्त तपस्वी और सत्कार रहित तथा पुत्रसहित रैभ्यको ब्राह्मणोंसे पूजित देखा ॥ १५ ॥

पर्यतप्यत तेजस्वी मन्युनाभिपरिप्लुतः ।
तपस्तेपे ततो घोरं वेदज्ञानाय पाण्डव ॥ १६ ॥

तो, हे पाण्डव ! वे अत्यन्त सन्ताप करने लगे, फिर क्रोधमें भरकर तेजस्वी यवक्रीने वेद जाननेके निमित्त घोर तपस्या की ॥ १६ ॥

सुसमिद्धे महत्यग्नौ शरीरमुपतापयन् ।
जनयामास सन्तापमिन्द्रस्य सुमहातपाः ॥ १७ ॥

उस महातपस्वीने अच्छीतरह जलती हुई अग्निमें अपने शरीरको तपाया, तब उनके तपसे इन्द्र भयभीत हो गया ॥ १७ ॥

तत इन्द्रो यवक्रीतमुपगम्य युधिष्ठिर ।
अब्रवीत्कस्य हेतोस्त्वमास्थितस्तप उत्तमम् ॥ १८ ॥

हे युधिष्ठिर ! तदनन्तर इन्द्र यवक्रीतके पास आकर बोले— कि तुम किसलिये घोर तपको कर रहे हो ? ॥ १८ ॥

यवक्रीरुवाच

द्विजानामनधीता वै वेदाः सुरगणार्चित ।
प्रतिभान्त्विति तप्येऽहमिदं परमकं तपः ॥ १९ ॥

यवक्री बोले— हे देवोंके द्वारा पूजित इन्द्र ! ब्राह्मणोंको विना ही पढे सब वेदका ज्ञान हो जाये, इसीलिये मैं इस घोर तपको कर रहा हूँ ॥ १९ ॥

स्वाध्यायार्थे समारम्भो ममायं पाकशासन ।
तपसा ज्ञातुमिच्छामि सर्वज्ञानानि कौशिक ॥ २० ॥

हे पाकशासन ! केवल पढनेहीके निमित्त मेरा यह परिश्रम है । हे कौशिक ! मैं तपके बलसे सब विद्याओंको जानना चाहता हूँ ॥ २० ॥

कालेन महता वेदाः शक्या गुरुमुखाद्विभो ।
प्राप्तुं तस्मादयं यत्नः परमो मे समास्थितः ॥ २१ ॥

क्योंकि, हे विभो ! वेदोंको गुरुमुखसे पढनेमें बहुत समय लगता है, इसीलिये उसे प्राप्त करनेके लिये मैंने यह परम यत्न किया है ॥ २१ ॥

इन्द्र उवाच

अमार्ग एष विप्रर्षे येन त्वं यातुमिच्छसि ।
किं विघातेन ते विप्र गच्छाधीहि गुरोर्मुखात् ॥ २२ ॥

इन्द्र बोले— हे विप्रर्षे ! जिस मार्गसे तुम जाना चाहते हो, वह उत्तम मार्ग नहीं है । वेदाध्ययनके उत्तम मार्गको विनष्ट करके तुम्हें क्या लाभ होगा ? अतः, हे विप्र ! जाओ, तुम गुरुमुखसे वेदोंका अध्ययन करो ॥ २२ ॥

लोमश उवाच

एवमुक्त्वा गतः शक्रो यवक्रीरपि भारत ।
भूय एवाकरोद्यत्नं तपस्यमितविक्रम ॥ २३ ॥

लोमश बोले– हे अत्यन्त पराक्रमी भारत! ऐसा कहकर इन्द्र चले गये और यवक्रीत फिर तपस्यामें परिश्रम करने लगे ॥ २३ ॥

घोरेण तपसा राजंस्तप्यमानो महातपाः ।
सन्तापयामास भृशं देवेन्द्रमिति नः श्रुतम् ॥ २४ ॥

हे राजन्! हमने सुना है कि अत्यन्त घोर तपस्याका आचरण करते हुए महातस्वी यवक्रीने देवेन्द्रको भी बहुत सन्तप्त कर दिया ॥ २४ ॥

तं तथा तप्यमानं तु तपस्तीव्रं महामुनिम् ।
उपेत्य बलभिद्देवो वारयामास वै पुनः ॥ २५ ॥

उस महामुनिको इस प्रकार घोर तपका आचरण करते देखकर बलासुरके विनाशक इन्द्रने आकर फिर रोका और कहा ॥ २५ ॥

अशक्योऽर्थः समारब्धो नैतद्बुद्धिकृतं तव ।
प्रतिभास्यन्ति वै वेदास्तव चैव पितुश्च ते ॥ २६ ॥

तुम यह असंभव काम प्रारंभ कर रहे हो, तुम्हारा यह काम बुद्धियुक्त नहीं है। तथापि इस तपस्याके कारण तुम्हारे और तुम्हारे पिताके सामने वेद प्रकाशित हो जाएंगे ॥ २६ ॥

यवक्रीरुवाच

न चैतदेवं क्रियते देवराज ममेप्सितम् ।
महता नियमेनाहं तप्स्ये घोरतरं तपः ॥ २७ ॥

यवक्री बोले– हे देवराज! यदि तुम मेरी इच्छा पूर्ण न करोगे, तो मैं फिर नियम धारण करके इससे भी अधिक घोर तप करूंगा ॥ २७ ॥

समिद्धेऽग्नावुपकृत्याङ्गमङ्गं होष्यामि वा मघवंस्तन्निबोध ।
यद्येतदेवं न करोषि कामं ममेप्सितं देवराजेह सर्वम् ॥ २८ ॥

हे देवराज! यदि तुम मेरी सभी इच्छाको पूर्ण न करोगे, तो मैं अपने शरीरके अंगोंको काट काटकर प्रदीप्त अग्निके होममें डाल दूंगा, यह मेरी बात सुन लो ॥ २८ ॥

लोमश उवाच

निश्चयं तमभिज्ञाय मुनेस्तस्य महात्मनः ।
प्रतिवारणहेत्वर्थं बुद्ध्या संचिन्त्य बुद्धिमान् ॥ २९ ॥
तत इन्द्रोऽकरोद्रूपं ब्राह्मणस्य तपस्विनः ।
अनेकशतवर्षस्य दुर्बलस्य क्षयक्ष्मणः ॥ ३० ॥

लोमश बोले– उस महात्मा मुनिके उस निश्चयको जानकर उसे उस मार्गसे हटानेका उपाय बुद्धिपूर्वक सोचकर बुद्धिमान् इन्द्रने एक यक्ष्माके रोगी, कई सौ वर्षके बूढे तपस्वी दुर्बल ब्राह्मणका वेष बनाया ॥ २९–३० ॥

यवक्रीतस्य यत्तीर्थमुचितं शौचकर्मणि ।
भागीरथ्यां तत्र सेतुं वालुकाभिश्चकार सः ॥ ३१ ॥

और जिस तीर्थमें यवक्रीत स्नानादि करते थे, उस स्थानपर जाकर गंगापर वालूसे पुल बनाने लगे ॥ ३१ ॥

यदास्य वदतो वाक्यं न स चक्रे द्विजोत्तमः ।
वालुकाभिस्ततः शक्रो गङ्गां समभिपूरयन् ॥ ३२ ॥

जब द्विजश्रेष्ठ यवक्रीतने इन्द्रका कहना न माना तो इन्द्र गंगाको वालूसे पूर्ण करनेकी कोशिश करने लगे ॥ ३२ ॥

वालुकामुष्टिमनिशं भागीरथ्यां व्यसर्जयत् ।
सेतुमभ्यारभच्छक्रो यवक्रीतं निदर्शयन् ॥ ३३ ॥

इन्द्र यवक्रीतको दिखाकर रोज गंगामें एक मुठीभर वालू डालने लगे और इस प्रकार इन्द्रने पुल बांधना चाहा ॥ ३३ ॥

तं ददर्श यवक्रीस्तु यत्नवन्तं निबन्धने ।
प्रहसंश्चाब्रवीद्वाक्यमिदं स मुनिपुङ्गवः ॥ ३४ ॥

उसे इस प्रकारके कार्यमें यत्नशील देखा और उस मुनिश्रेष्ठ यवक्रीतने हंसकर इन्द्रसे यह यह वाक्य कहा ॥ ३४ ॥

किमिदं वर्तते ब्रह्मन्किं च ते ह चिकीर्षितम् ।
अतीव हि महान्यत्नः क्रियतेऽयं निरर्थकः ॥ ३५ ॥

कि हे ब्राह्मण ! यह क्या है ? तुम क्या करना चाहते हो ? तुम इतना बडा यत्न निरर्थक ही कर रहे हो ॥ ३५ ॥

इन्द्र उवाच

बन्धिष्ये सेतुना गङ्गां सुखः पन्था भविष्यति ।

क्लिश्यते हि जनस्तात तरमाणः पुनः पुनः ॥ ३६ ॥

इन्द्र बोले– हे तात ! इसमें तैरकर पली पार जानेसे मनुष्योंको बहुत दुःख होता है, इसलिये मैं इस गङ्गापर एक पुल बांधूंगा । तब उत्तम मार्ग हो जायेगा ॥ ३६ ॥

यवक्रीरुवाच

नायं शक्यस्त्वया बद्धुं महानोघः कथंचन ।

अशक्याद्विनिवर्तस्व शक्यमर्थं समारभ ॥ ३७ ॥

यवक्री बोले– इस गंगाके महावेगको तुम किसी प्रकार नहीं बांध सकोगे, तुम इस न होने योग्य कामको मत करो और जो हो सकता है उस कार्यको प्रारंभ करो ॥ ३७ ॥

इन्द्र उवाच

यथैव भवता चेदं तपो वेदार्थमुद्यतम् ।

अशक्यं तद्वदस्माभिरयं भारः समुद्यतः ॥ ३८ ॥

इन्द्र बोले– जैसे तुमने वेदके लिए तप शुरु किया है, उसी प्रकार मैंने भी यह अशक्य कार्य करनेका निश्चय किया है ॥ ३८ ॥

यवक्रीरुवाच

यथा तव निरर्थोऽयमारम्भस्त्रिदशेश्वर ।

तथा यदि ममापीदं मन्यसे पाकशासन ॥ ३९ ॥

यवक्री बोले– हे स्वर्गके स्वामी देवराज ! जैसे तुम्हारा काम निरर्थक है, वैसे ही मेरा काम भी निरर्थक है ऐसा यदि तुम मानते हो ॥ ३९ ॥

क्रियतां यद्भवेच्छक्यं मया सुरगणेश्वर ।

वरांश्च मे प्रयच्छान्यान्यैरन्यान्भवितास्म्यति ॥ ४० ॥

तो, हे देवगणोंके ईश्वर ! जो मेरे द्वारा संभव हो वही करो और जिससे मैं दूसरोंसे आगे बढ सकूं ऐसे वर मुझे दो ॥ ४० ॥

लोमश उवाच

तस्मै प्रादाद्वरानिन्द्र उक्तवान्यान्महातपाः ।

प्रतिभास्यन्ति ते वेदाः पित्रा सह यथेप्सिताः ॥ ४१ ॥

लोमश बोले– महातपस्वी यवक्रीने जो जो वरदान मांगे, वे वे वर इन्द्रने दिये, इन्द्रने कहा– कि हे महातपस्वी ! तुमको और तुम्हारे पिताको इच्छानुसार सब वेदोंका ज्ञान हो जायेगा ॥ ४१ ॥

×

यच्चान्यत्काङ्क्षसे कामं यवक्रीर्गम्यतामिति।
स लब्धकामः पितरमुपेत्याथ ततोऽब्रवीत् ॥ ४२ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि पञ्चत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १३५ ॥ ४५९२ ॥

हे यवक्रीत ! और जो कुछ तुम चाहोगे, वही तुम प्राप्त करोगे। इस प्रकार इन्द्रसे वरदान पाकर यवक्री अपने पिताके पास गये और यह बोले ॥ ४२ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ पैंतीसवां अध्याय समाप्त ॥ १३५ ॥ ४५९२ ॥

: १३६ :

यवक्रीरुवाच

प्रतिभास्यन्ति वै वेदा मम तातस्य चोभयोः।
अति चान्यान्भविष्यावो वरा लब्धास्तथा मया ॥ १ ॥

यवक्री बोले– मुझको और मेरे पिताको सब वेदोंका अर्थ दिखाई देगा, हम दोनों दूसरोंको हरा देंगे, ऐसा वर मैंने प्राप्त किया है ॥ १ ॥

भरद्वाज उवाच

दर्पस्ते भविता तात वराँल्लब्ध्वा यथेप्सितान्।
स दर्पपूर्णः कृपणः क्षिप्रमेव विनश्यसि ॥ २ ॥

भरद्वाज बोले– हे तात ! इच्छानुसार वरदान पानेसे अभिमान हो जाएगा और इस अभिमानसे दीन होकर तुम्हारा जल्दीसे ही विनाश होगा ॥ २ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीमा गाथा देवैरुदाहृताः।
ऋषिरासीत्पुरा पुत्र बालधिर्नाम वीर्यवान् ॥ ३ ॥

देवताओंके द्वारा कही हुई इस कथाका यहां उदाहरण दिया जाता है। हे पुत्र ! पहले समयमें एक वीर्यवान् बालधि नामक मुनि हुए थे ॥ ३ ॥

स पुत्रशोकादुद्विग्नस्तपस्तेपे सुदुश्चरम्।
भवेन्मम सुतोऽमर्त्य इति तं लब्धवांश्च सः ॥ ४ ॥

उन्होंने पुत्रके शोकसे व्याकुल होकर घोर तप किया था। तब उन्होंने देवोंसे यह वरदान मांगा था, कि मेरा पुत्र अमर हो ॥ ४ ॥

तस्य प्रसादो देवैश्च कृतो न त्वमरैः समः।
नामर्त्यो विद्यते मर्त्यो निमित्तायुर्भविष्यति ॥ ५ ॥

परन्तु देवताओंने अमरोंके समान इस वरदानको देकर उसे प्रसन्न नहीं किया और कहा कि मनुष्य अपने धर्मोंसे रहित होकर अमर नहीं हो सकता है, इसलिये तुम्हारा पुत्र सीमित आयुवाला होगा ॥ ५ ॥

बालधिरुवाच

यथेमे पर्वताः शश्वत्तिष्ठन्ति सुरसत्तमाः ।

अक्षयास्तन्निमित्तं मे सुतस्यायुर्भवेदिति ॥ ६ ॥

बालधि बोले— हे देवताओ ! जबतक ये पर्वत सदा स्थिर तथा अक्षय रहें तब तक मेरे पुत्रकी आयु भी शाश्वत रहे ॥ ६ ॥

भरद्वाज उवाच

तस्य पुत्रस्तदा जज्ञे मेधावी क्रोधनः सदा ।

स तच्छ्रुत्वाकरोद्दर्पमृषींश्चैवावमन्यत ॥ ७ ॥

भरद्वाज बोले— कुछ दिन पश्चात् बालधि मुनिके बुद्धिमान् और क्रोधी एक पुत्र हुआ। जब उस पुत्रने यह सब कथा सुनी, तो बडा अभिमानी हो गया और वह मुनियोंका निरादर करने लगा ॥ ७ ॥

विकुर्वाणो मुनीनां तु चरमाणो महीमिमाम् ।

आससाद महावीर्यं धनुषाक्षं मनीषिणम् ॥ ८ ॥

इस प्रकार मुनियोंका निरादर करता हुए तथा पृथ्वीमें घूमते हुए एक दिन उसकी महा- तेजस्वी बुद्धिमान् धनुषाक्ष मुनिसे भेंट हो गई ॥ ८ ॥

तस्यापचक्रे मेधावी तं शशाप स वीर्यवान् ।

भव भस्मेति चोक्तः स न भस्म समपद्यत ॥ ९ ॥

उनका भी इसने वैसेही निरादर किया, तब उस वीर्यवान् और मेधावी धनुषाक्षने क्रोधसे उसको शाप दिया— कि तू भस्म हो जा, पर वह भस्म नहीं हुआ ॥ ९ ॥

धनुषाक्षस्तु तं दृष्ट्वा मेधाविनमनामयम् ।

निमित्तमस्य महिषैर्भेदयामास वीर्यवान् ॥ १० ॥

वीर्यवान् धनुषाक्षने उस मेधावीको जीवित देखकर उसको मारनेके निमित्त पर्वतोंको भैंसोंसे नष्ट कराया ॥ १० ॥

स निमित्ते विनष्टे तु ममार सहसा शिशुः ।

तं मृतं पुत्रमादाय विललाप ततः पिता ॥ ११ ॥

उसकी आयुके निमित्तभूत पर्वतोंके नष्ट होजानेसे वह शिशु भी अचानक मर गया, तब अपने पुत्रको मरा हुआ देखकर उसका पिता रोने लगा ॥ ११ ॥

लालप्यमानं तं दृष्ट्वा मुनयः पुनरार्तवत् ।

ऊचुर्वेदोक्तया पूर्वं गाथया तन्निबोध मे ॥ १२ ॥

तब सब मुनियोंने उसको आर्तके समान रोते हुए देखकर जो कुछ वेदोक्त गाथाके आधारपर कहा, उसे हम तुमसे कहते हैं तुम सुनो ॥ १२ ॥

न दिष्टमर्थमत्येतुमीशो मर्त्यः कथंचन ।
महिषैर्भेदयामास धनुषाक्षो महीधरान् ॥ १३ ॥

कोई भी पुरुष भाग्यमें लिखे हुए का उल्लंघन करनेमें समर्थ नहीं है। इसीसे धनुषाक्ष मुनिने पर्वतोंको भैंसोंसे तुडवाया ॥ १३ ॥

एवं लब्ध्वा वरान्बाला दर्पपूर्णास्तरस्विनः ।
क्षिप्रमेव विनश्यन्ति यथा न स्यात्तथा भवान् ॥ १४ ॥

इस प्रकारसे वरोंको प्राप्त होकर तपस्वियोंके बालक अभिमानी होजानेके कारण शीघ्रही नष्ट हो जाते हैं । वैसी दशा तुम्हारी भी न हो ॥ १४ ॥

एष रैभ्यो महावीर्यः पुत्रौ चाऽस्य तथाविधौ ।
तं यथा पुत्र नाभ्येषि तथा कुर्यास्त्वतन्द्रितः ॥ १५ ॥

हे पुत्र! यह रैभ्य और उनके दोनों पुत्र महावीर्यवान् हैं, तुम सावधानीसे उनसे ऐसा व्यवहार करो कि उनका अपमान न हो ॥ १५ ॥

स हि क्रुद्धः समर्थस्त्वां पुत्र पीडयितुं रुषा ।
वैद्यश्चापि तपस्वी च कोपनश्च महानृषिः ॥ १६ ॥

हे पुत्र! वह रैभ्य वैद्य तपस्वी क्रोधी और महान् ऋषि है, यदि वह क्रुद्ध हो जाए तो क्रोधसे तुम्हें पीडा देनेमें भी वह समर्थ है ॥ १६ ॥

यवक्रीरुवाच

एवं करिष्ये मा तापं तात कार्षीः कथञ्चन ।
यथा हि मे भवान्मान्यस्तथा रैभ्यः पिता मम ॥ १७ ॥

यवक्री बोले— हे तात! आप दुःख न कीजिये मैं ऐसाही करूंगा। मेरे लिए जैसे आप मान्य हैं, वैसेही रैभ्य भी मेरे पिताही हैं ॥ १७ ॥

लोमश उवाच

उक्त्वा स पितरं श्लक्ष्णं यवक्रीरकुतोभयः ।
विप्रकुर्वन्नृषीनन्यानतुष्यत्परया मुदा ॥ १८ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि षट्त्रिंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३६ ॥ ४६१० ॥

लोमश बोले— पितासे ऐसे मीठे वचन कहकर यवक्री निर्भय होकर अन्य ऋषियोंका तिरस्कार करता हुआ अत्यधिक आनन्दसे सन्तुष्ट हुआ ॥ १८ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ छत्तीसवां अध्याय समाप्त ॥ १३६ ॥ ४६१० ॥

: १३७ :

लोमश उवाच

चङ्क्रम्यमाणः स तदा यवक्रीरकुतोभयः ।
जगाम माधवे मासि रैभ्याश्रमपदं प्रति ॥ १ ॥

लोमश बोले– इसप्रकार निर्भय होकर घूमते हुए एक दिन यवक्री वसन्त महीनेमें रैभ्य मुनिके आश्रममें गये ॥ १ ॥

स ददर्शाश्रमे पुण्ये पुष्पितद्रुमभूषिते ।
विचरन्तीं स्नुषां तस्य किंनरीमिव भारत ॥ २ ॥

हे भारत! उस फूले हुए वृक्षोंसे शोभित परम रमणीय आश्रममें रैभ्य मुनिके बेटेकी पत्नीको उस यवक्रीने किन्नरीके समान घूमते हुए देखा ॥ २ ॥

यवक्रीस्तामुवाचेदमुपतिष्ठस्व मामिति ।
निर्लज्जो लज्जया युक्तां कामेन हृतचेतनः ॥ ३ ॥

निर्लज्ज यवक्रीने कामसे अचेतनसे होकर लज्जासे युक्त उस स्त्रीसे कहा– कि तू मेरे पास आ ॥ ३ ॥

सा तस्य शीलमाज्ञाय तस्माच्छापाच्च बिभ्यती ।
तेजस्वितां च रैभ्यस्य तथेत्युक्त्वा जगाम सा ॥ ४ ॥

वह स्त्री यवक्रीके चरित्रको जानती थी, इसलिए उसके शापके भयसे डरकर और रैभ्यके तेजका ध्यान करके "वैसाही हो" कहकर यवक्रीके पास गई ॥ ४ ॥

तत एकान्तमुन्नीय मज्जयामास भारत ।
आजगाम तदा रैभ्यः स्वमाश्रममरिंदम ॥ ५ ॥

हे भारत! तदनन्तर यवक्री एकान्तमें उसका भोग करके उसे शोकमें डुबोकर चला गया। हे शत्रुनाशन! उसी समय रैभ्य मुनि भी अपने आश्रममें आये ॥ ५ ॥

रुदन्तीं च स्नुषां दृष्ट्वा भार्यामार्तां परावसोः ।
सान्त्वयञ्श्लक्ष्णया वाचा पर्यपृच्छद्युधिष्ठिर ॥ ६ ॥

हे युधिष्ठिर! उन्होंने परावसुकी स्त्री तथा अपने पुत्रकी बहूको रोते हुए देखकर उसको शान्त करके मीठे वचनसे सब समाचार पूछा ॥ ६ ॥

सा तस्मै सर्वमाचष्ट यवक्रीभाषितं शुभा ।
प्रत्युक्तं च यवक्रीतं प्रेक्षापूर्वं तदात्मना ॥ ७ ॥

उस सुन्दरीने यवक्रीके द्वारा किए गए सब कामोंको उनसे कह सुनाया, और जो उसने यवक्रीसे कहा था वह भी सुना दिया ॥ ७ ॥

शृण्वानस्यैव रैभ्यस्य यवक्रीतविचेष्टितम् ।
दहन्निव तदा चेतः क्रोधः समभवन्महान् ॥ ८ ॥

यवक्रीके द्वारा किए गए कामको सुनते ही रैभ्यको बहुत क्रोध हो आया और वह क्रोध मानों हृदयको जलाने लगा ॥ ८ ॥

स तदा मन्युनाविष्टस्तपस्वी भृशकोपनः ।
अवलुप्य जटामेकां जुहावाग्नौ सुसंस्कृते ॥ ९ ॥

महाक्रोधी रैभ्य मुनिने क्रोधमें भरकर अपनी एक जटा उखाडकर उसकी अग्निमें मन्त्रोंसे आहुति दी ॥ ९ ॥

ततः समभवन्नारी तस्या रूपेण संमिता ।
अवलुप्यापरां चाथ जुहावाग्नौ जटां पुनः ॥ १० ॥

उसके डालते ही एक सुन्दरी स्त्रीरूपिणी कृत्या उनके पुत्रवधूके समान रूपवाली होकर उस हवनकुण्डसे उत्पन्न हुई, तब मुनीश्वरने दूसरी जटा उखाडकर फिर अग्निमें डाली ॥ १० ॥

ततः समभवद्रक्षो घोराक्षं भीमदर्शनम् ।
अब्रूतां तौ तदा रैभ्यं किं कार्यं करवामहे ॥ ११ ॥

तब हवनकुण्डसे एक विकराल दर्शन और भयानक नेत्रवाला राक्षस उत्पन्न हुआ, उन दोनोंने रैभ्य मुनिसे कहा– कि हम तुम्हारा कौनसा कार्य सिद्ध करें ? ॥ ११ ॥

तावब्रवीदृषिः क्रुद्धो यवक्रीर्वध्यतामिति ।
जग्मतुस्तौ तथेत्युक्त्वा यवक्रीतजिघांसया ॥ १२ ॥

रैभ्य मुनिने क्रोधमें भरकर उन दोनोंसे कहा– कि तुम यवक्रीको मार डालो । 'ठीक है' कहकर वे दोनों यवक्रीको मारनेकी इच्छासे चले ॥ १२ ॥

ततस्तं समुपास्थाय कृत्या सृष्टा महात्मना ।
कमण्डलुं जहारास्य मोहयित्वा तु भारत ॥ १३ ॥

हे भारत ! जब वे यवक्रीके पास पहुंचे, तो महात्मा रैभ्यकी बनाई हुई स्त्री कृत्याने यवक्रीको मोहितकर उनका कमण्डलु ले लिया ॥ १३ ॥

उच्छिष्टं तु यवक्रीतमपकृष्टकमण्डलुम् ।
तत उद्यतशूलः स राक्षसः समुपाद्रवत् ॥ १४ ॥

तदनन्तर जूठे मुंह और कमण्डलुरहित यवक्रीको देखकर वह राक्षस त्रिशूल लेकर उनकी ओर दौडा ॥ १४ ॥

तमापतन्तं संप्रेक्ष्य शूलहस्तं जिघांसया ।
यवक्रीः सहसोत्थाय प्राद्रवद्येन वै सरः ॥ १५ ॥

जब यवक्रीने उस राक्षसको हाथमें त्रिशूल लिये मारनेकी इच्छासे आते हुए देखा तो वहांसे उठकर वे तालाबकी ओर भागे ॥ १५ ॥

जलहीनं सरो दृष्ट्वा यवक्रीस्त्वरितः पुनः ।
जगाम सरितः सर्वास्ताश्चाप्यासन्विशोषिताः ॥ १६ ॥

वहां जाकर उन्होंने तालाबको जलसे रहित देखा, तब वहांसे दौडकर नदियोंपर गये, पर उनको भी सूखी हुई पाया ॥ १६ ॥

स काल्यमानो घोरेण शूलहस्तेन रक्षसा ।
अग्निहोत्रं पितुर्भीतः सहसा समुपाद्रवत् ॥ १७ ॥

इस प्रकार सब जगह घूमकर और शूलधारी घोर राक्षससे पीडित होकर अत्यन्त भयसे अपने पिताकी यज्ञशालाकी ओर भागे ॥ १७ ॥

स वै प्रविशमानस्तु शूद्रेणान्धेन रक्षिणा ।
निगृहीतो बलाद्द्वारि सोऽवातिष्ठत पार्थिव ॥ १८ ॥

हे राजन् ! उसके द्वारपर रक्षा करनेवाला एक अन्धा शूद्र बैठा हुआ था, उसने यज्ञशालामें घुसते हुए यवक्रीको बलपूर्वक पकड लिया, तब वे वहीं खडे रह गये ॥ १८ ॥

निगृहीतं तु शूद्रेण यवक्रीतं स राक्षसः ।
ताडयामास शूलेन स भिन्नहृदयोऽपतत् ॥ १९ ॥

जब राक्षसने यवक्रीको शूद्रसे पकडा हुआ देखा, तो एक त्रिशूल उनकी छातीमें मारा, उसके लगनेसे यवक्री टूटे हुए हृदयवाले होकर गिर गए ॥ १९ ॥

यवक्रीतं स हत्वा तु राक्षसो रैभ्यमागमत् ।
अनुज्ञातस्तु रैभ्येण तया नार्या सहाचरत् ॥ २० ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि सप्तत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३७ ॥ ४६३० ॥

यवक्रीतको मारकर राक्षस पुनः रैभ्य मुनिके पास आया और उनकी आज्ञासे उस स्त्रीके सहित विहार करने लगा ॥ २० ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ सैंतीसवां अध्याय समाप्त ॥ १३७ ॥ ४६३० ॥

: १३८ :

लोमश उवाच

भरद्वाजस्तु कौन्तेय कृत्वा स्वाध्यायमाह्निकम्।
समित्कलापमादाय प्रविवेश स्वमाश्रमम् ॥ १ ॥

लोमश बोले– हे कुन्तीनन्दन ! भरद्वाज मुनि स्वाध्यायादि आह्निक करके हाथमें समिधाओंके गट्ठरको लेकर अपने आश्रममें प्रविष्ट हुए ॥ १ ॥

तं स्म दृष्ट्वा पुरा सर्वे प्रत्युत्तिष्ठन्ति पावकाः
न त्वेनमुपतिष्ठन्ति हतपुत्रं तदाग्नयः ॥ २ ॥

पहले जब भरद्वाज मुनि अपने आश्रम पर आते थे, तब सब अग्नियां उनको देखकर खडी हो जाती थीं। परन्तु उस दिन उनके पुत्रके मरजानेके कारण उनके आने पर कोई भी अग्नि उठकर खडी नहीं हुई ॥ २ ॥

वैकृतं त्वग्निहोत्रे स लक्षयित्वा महातपाः।
तमन्धं शूद्रमासीनं गृहपालमथाब्रवीत् ॥ ३ ॥

महातपस्वी भरद्वाजने अग्निहोत्रमें विकार देखकर उस घरकी रक्षा करनेवाले उस अन्धे शूद्रसे पूछा ॥ ३ ॥

किं नु मे नाग्नयः शूद्र प्रतिनन्दन्ति दर्शनम्।
त्वं चापि न यथापूर्वं कच्चित्क्षेममिहाश्रमे ॥ ४ ॥

हे शूद्र ! आज यह सब अग्नियां मेरा दर्शन करके प्रसन्न क्यों नहीं हो रही हैं ? और तुम भी सब दिनके समान प्रसन्न नहीं दीखते, कहो, आश्रममें कुशल तो है ? ॥ ४ ॥

कच्चिन्न रैभ्यं पुत्रो मे गतवानल्पचेतनः।
एतदाचक्ष्व मे शीघ्रं न हि मे शुध्यते मनः ॥ ५ ॥

कहीं मन्दबुद्धि मेरा पुत्र रैभ्यके आश्रममें तो नहीं गया था ? तुम सब समाचार शीघ्र कहो। मेरा मन शुद्ध नहीं हो रहा है ॥ ५ ॥

शूद्र उवाच

रैभ्यं गतो नूनमसौ सुतस्ते मन्दचेतनः।
तथा हि निहतः शेते राक्षसेन बलीयसा ॥ ६ ॥

शूद्र बोला– वह मन्दबुद्धि तुम्हारा पुत्र अवश्य रैभ्य मुनिके आश्रममें गया था, और बलवान् राक्षसके द्वारा मारा जाकर वह वहां पडा हुआ है ॥ ६ ॥

प्रकाल्यमानस्तेनायं शूलहस्तेन रक्षसा ।
अग्न्यगारं प्रति द्वारि मया दोर्भ्यां निवारितः ॥ ७ ॥

वह हाथोंमें शूलको धारण करनेवाले राक्षससे पीडित होकर इस अग्निशालामें आया था, परन्तु मैंने भुजाओंसे उसे रोक दिया ॥ ७ ॥

ततः स निहतो ह्यत्र जलकामोऽशुचिर्ध्रुवम् ।
संभावितो हि तूर्णेन शूलहस्तेन रक्षसा ॥ ८ ॥

वह अपवित्र होकर जलकी इच्छासे यहां आया था, परन्तु मेरे द्वारा पकडे जानेपर उस शूलधारी राक्षसने वेगसे दौडकर उसको मार डाला ॥ ८ ॥

लोमश उवाच

भरद्वाजस्तु शूद्रस्य तच्छ्रुत्वा विप्रियं वचः ।
गतासुं पुत्रमादाय विललाप सुदुःखितः ॥ ९ ॥

भरद्वाज मुनि उस शूद्रके ऐसे अप्रिय वचन सुनकर अपने मरे हुए पुत्रको उठाकर बहुत दुःखसे विलाप करने लगे ॥ ९ ॥

ब्राह्मणानां किलार्थाय ननु त्वं तप्तवांस्तपः ।
द्विजानामनधीता वै वेदाः संप्रतिभान्त्विति ॥ १० ॥

हे तात ! तुमने ब्राह्मणोंके निमित्त बडा भारी तप किया था और यह इच्छा की थी, कि विना ही पढे ब्राह्मणोंके सामने सब वेद प्रकाशित हो जायें ॥ १० ॥

तथा कल्याणशीलस्त्वं ब्राह्मणेषु महात्मसु ।
अनागाः सर्वभूतेषु कर्कशत्वमुपेयिवान् ॥ ११ ॥

और अत्यन्त शीलवान् होनेके कारण और सब प्राणियोंके प्रति निरपराध होने पर भी तुम महात्मा ब्राह्मणोंके प्रति कठोर हो गए ॥ ११ ॥

प्रतिषिद्धो मया तात रैभ्यावसथदर्शनात् ।
गतवानेव तं क्षुद्रं कालान्तकयमोपमम् ॥ १२ ॥

हे तात ! मैंने तुमसे कहा था, कि रैभ्यके आश्रमको मत जाना, परन्तु तुम उसी काल और यमराजके समान क्षुद्र आश्रमको गये ॥ १२ ॥

यः स जानन्महातेजा वृद्धस्यैकं ममात्मजम् ।
गतवानेव कोपस्य वशं परमदुर्मतिः ॥ १३ ॥

और वह दुष्टबुद्धि महातेजस्वी रैभ्य-मुझ बूढेका एक ही पुत्र है— यह जानता हुआ भी महा-क्रोधके वशमें हो गया ॥ १३ ॥

पुत्रशोकमनुप्राप्य एष रैभ्यस्य कर्मणा ।
त्यक्ष्यामि त्वामृते पुत्र प्राणानिष्टतमान्भुवि ॥ १४ ॥

हे पुत्र ! अब मैं तुम्हारे शोक और रैभ्यके कर्मसे इस संसारमें तुम्हारे बाद मुझे अत्यन्त प्रिय अपने प्राणोंको त्यागता हूं ॥ १४ ॥

यथाहं पुत्रशोकेन देहं त्यक्ष्यामि किल्बिषी ।
तथा ज्येष्ठः सुतो रैभ्यं हिंस्याच्छीघ्रमनागसम् ॥ १५ ॥

जैसे मैं पुत्रके शोकसे व्याकुल होकर शरीर छोड रहा हूं, वैसे ही रैभ्यका वडा पुत्र निरपराध रैभ्यका शीघ्र ही नाश करेगा ॥ १५ ॥

सुखिनो वै नरा येषां जात्या पुत्रो न विद्यते ।
ये पुत्रशोकमप्राप्य विचरन्ति यथासुखम् ॥ १६ ॥

वे पुरुष बहुत सुखी हैं, कि जिनके पुत्र उत्पन्न नहीं हुआ है, और जो पुत्रशोकका अनुभव न करके सुखसे घूमते हैं ॥ १६ ॥

ये तु पुत्रकृताच्छोकाद्भृशं व्याकुलचेतसः ।
शापन्तीष्टान्सखीनार्तास्तेभ्यः पापतरो नु कः ॥ १७ ॥

जिनका हृदय पुत्रशोकसे अत्यन्त व्याकुल हो गया है और व्याकुल होकर अपने प्यारे मित्रोंको भी शाप देते हैं, उनसे ज्यादा पापी और कौन होगा ? ॥ १७ ॥

परासुश्च सुतो दृष्टः शप्तश्चेष्टः सखा मया ।
ईदृशीमापदं को नु द्वितीयोऽनुभविष्यति ॥ १८ ॥

अपने पुत्रको मरा हुआ देखकर मैंने अपने प्रिय सखाको शाप दिया है । ऐसी भारी आपत्तिको मेरे सिवा और कौन अनुभव करेगा ? ॥ १८ ॥

विलप्यैवं बहुविधं भरद्वाजोऽदहत्सुतम् ।
सुसमिद्धं ततः पश्चात्प्रविवेश हुताशनम् ॥ १९ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि अष्टात्रिंशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३८ ॥ ४६४९ ॥

भरद्वाज मुनिने इस प्रकार बहुत विलाप करके अपने पुत्रका दाहकर्म किया, तदनन्तर उसी जलती हुई अग्निमें वे स्वयं भी प्रवेश कर गये ॥ १९ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ अडतीसवां अध्याय समाप्त ॥ १३८ ॥ ४६४९ ॥

: १३९ :

लोमश उवाच

एतस्मिन्नेव काले तु बृहद्द्युम्नो महीपतिः ।
सत्रमास्ते महाभागो रैभ्ययाज्यः प्रतापवान् ॥ १ ॥

लोमश बोले– हे महाराज ! उसी समय महाप्रतापवान् रैभ्यके यजमान महाभाग्यशाली बृहद्द्युम्न राजाने यज्ञका आरंभ किया ॥ १ ॥

तेन रैभ्यस्य वै पुत्रावर्वावसुपरावसू ।
वृतौ सहायौ सत्रार्थे बृहद्द्युम्नेन धीमता ॥ २ ॥

बुद्धिमान् बृहद्द्युम्नने यज्ञके लिए अर्वावसु और परावसु इन दोनों रैभ्यके पुत्रोंको सहायक चुना ॥ २ ॥

तत्र तौ समनुज्ञातौ पित्रा कौन्तेय जग्मतुः ।
आश्रमे त्वभवद्रैभ्यो भार्या चैव परावसोः ॥ ३ ॥

हे कुन्तीनन्दन ! वे दोनों अपने पिताकी आज्ञासे यज्ञ करानेके लिये गये । आश्रममें रैभ्य और परावसुकी स्त्री ये दोनों रह गए ॥ ३ ॥

अथावलोककोऽगच्छद्गृहानेकः परावसुः ।
कृष्णाजिनेन संवीतं ददर्श पितरं वने ॥ ४ ॥

तदनन्तर एक रोज रातको अकेले परावसु आश्रममें अपनी स्त्रीको देखने गये, तब उन्होंने काले हरिणका चमडा ओढे हुए आपने पिताको वनमें देखा ॥ ४ ॥

जघन्यरात्रे निद्रान्धः सावशेषे तमस्यपि ।
चरन्तं गहनेऽरण्ये मेने स पितरं मृगम् ॥ ५ ॥

उन्होंने उस घोर अंधियारी रात्रिमें निद्रासे अन्धेसे होकर अपने पिताको न पहचाना और उन्होंने अपने पिताको कोई हिंसक पशु समझा ॥ ५ ॥

मृगं तु मन्यमानेन पिता वै तेन हिंसितः ।
अकामयानेन तदा शरीरत्राणमिच्छता ॥ ६ ॥

अपने पिताको हिंसक पशु मानते हुए तथा अपने शरीरकी रक्षाकी इच्छा करते हुए उन्होंने वैसी इच्छा न होनेपर भी अपने पिताको मार डाला ॥ ६ ॥

स तस्य प्रेतकार्याणि कृत्वा सर्वाणि भारत ।
पुनरागम्य तत्सत्रमब्रवीद्भ्रातरं वचः ॥ ७ ॥

हे भारत ! जब उन्होंने जाना कि यह हमारे पिता थे, तब उनका सब प्रेतकर्म करके उसी यज्ञमें गये और अपने छोटे भाईसे यह बात कही ॥ ७ ॥

इदं कर्म न शक्तस्त्वं वोढुमेकः कथञ्चन ।
मया तु हिंसितस्तातो मन्यमानेन तं मृगम् ॥ ८ ॥

कि हे तात ! मैंने हिंसक पशुके भ्रमसे पिताको मार डाला है और तुम इस यज्ञके भारको अकेले नहीं सम्भाल सकोगे ॥ ८ ॥

सोऽस्मदर्थे व्रतं साधु चर त्वं ब्रह्महिंसनम् ।
समर्थो ह्यहमेकाकी कर्म कर्तुमिदं मुने ॥ ९ ॥

इसलिये तुम मेरे लिए ब्रह्महत्याका प्रायश्चित्त करो, हे मुने ! मैं अकेला भी इस यज्ञके कर्मको समाप्त कर सकता हूं ॥ ९ ॥

अर्वावसुरुवाच

करोतु वै भवान्सत्रं बृहद्द्युम्नस्य धीमतः ।
ब्रह्महत्यां चरिष्येऽहं त्वदर्थं नियतेन्द्रियः ॥ १० ॥

अर्वावसु बोले— तुम बुद्धिमान् राजा बृहद्द्युम्नके यज्ञका कर्म करो और मैं इन्द्रियोंको वशमें करके तुम्हारे निमित्त ब्रह्महत्याका प्रायश्चित्त करूंगा ॥ १० ॥

लोमश उवाच

स तस्य ब्रह्महत्यायाः पारं गत्वा युधिष्ठिर ।
अर्वावसुस्तदा सत्रमाजगाम पुनर्मुनिः ॥ ११ ॥

लोमश बोले— हे युधिष्ठिर ! इस प्रकार उस ब्रह्महत्याके पापसे पार होकर अर्वावसु मुनि पुनः उस यज्ञमें आये ॥ ११ ॥

ततः परावसुर्दृष्ट्वा भ्रातरं समुपस्थितम् ।
बृहद्द्युम्नमुवाचेदं वचनं परिषद्गतम् ॥ १२ ॥

जब परावसुने अपने भाईको यज्ञमें आते हुए देखा तो वे परिषद् अर्थात् सभामें बैठे हुए राजासे यह बोले ॥ १२ ॥

एष ते ब्रह्महा यज्ञं मा द्रष्टुं प्रविशेदिति ।
ब्रह्महा प्रेक्षितेनापि पीडयेत्त्वां न संशयः ॥ १३ ॥

कि हे राजन् ! इसने ब्रह्महत्या की है, इसलिये देखनेके लिए भी यह यज्ञमें न आने पावे, यदि कोई ब्रह्महत्यारा तुमको देख लेगा, तो भी निःसन्देह तुमको बहुत दुःख होगा ॥ १३ ॥

प्रेष्यैरुत्सार्यमाणस्तु राजन्नर्वावसुस्तदा ।
न मया ब्रह्महत्येयं कृतेत्याह पुनः पुनः ॥ १४ ॥

हे राजन् ! तब पुरुषोंसे रोके जाते हुए अर्वावसुने बार बार कहा— कि यह ब्रह्महत्या मैंने नहीं की है ॥ १४ ॥

उच्यमानोऽसकृत्प्रेष्यैर्ब्रह्महन्निति भारत ।
नैव स प्रतिजानाति ब्रह्महत्यां स्वयं कृताम् ।
मम भ्रात्रा कृतमिदं मया तु परिरक्षितम् ॥ १५ ॥

परन्तु किसीने भी न सुना और सब कहने लगे– कि तू हत्यारा है । परन्तु फिर भी वह स्वयंको ब्रह्महत्यारा होनेकी बातको स्वीकार नहीं करता था । तब उसने पुनः कहा– कि यह ब्रह्महत्या मेरे भाईने की थी, परन्तु मैंने प्रायश्चित्त करके उनको भी इस पापसे छुडा दिया है ॥ १५ ॥

प्रीतास्तस्याभवन्देवाः कर्मणार्वावसोर्नृप ।
तं ते प्रवरयाञ्चक्रुर्निरासुश्च परावसुम् ॥ १६ ॥

हे नरनाथ ! अर्वावसुके उस कर्मसे सब देवता प्रसन्न हुए । उन देवोंने अर्वावसुको यज्ञमें वरण करवाया और परावसुको निकलवा दिया ॥ १६ ॥

ततो देवा वरं तस्मै ददुरग्निपुरोगमाः ।
स चापि वरयामास पितुरुत्थानमात्मनः ॥ १७ ॥

तब अग्नि आदि देवताओंने उसको वरदान दिये, तब उसने यह वरदान मांगा, कि मेरे पिता जी जायें ॥ १७ ॥

अनागस्त्वं तथा भ्रातुः पितुश्चास्मरणं वधे ।
भरद्वाजस्य चोत्थानं यवक्रीतस्य चोभयोः ॥ १८ ॥

मेरा भाई निरपराध हो, पिताको उसके द्वारा मारे जानेकी बात स्मरण न रहे । भरद्वाज और यवक्री ये दोनों जी जायें ॥ १८ ॥

ततः प्रादुर्बभूवुस्ते सर्व एव युधिष्ठिर ।
अथाब्रवीद्यवक्रीतो देवानग्निपुरोगमान् ॥ १९ ॥

हे युधिष्ठिर ! तब वे सब लोग फिर प्रकट हो गए । तदनन्तर अग्नि आदि देवताओंसे यवक्रीत बोले ॥ १९ ॥

समधीतं मया ब्रह्म व्रतानि चरितानि च ।
कथं नु रैभ्यः शक्तो मामधीयानं तपस्विनम् ।
तथायुक्तेन विधिना निहन्तुममरोत्तमाः ॥ २० ॥

कि हे देवश्रेष्ठ ! मैंने विधिवत् वेद पढा और अनेक व्रत भी किये, तब भी वेदाध्ययन तथा तपस्या करनेवाले मुझे इस प्रकार मारनेमें रैभ्य मुनि किस प्रकार समर्थ हुए ॥ २० ॥

देवा ऊचुः

नैवं कृथा यवक्रीत यथा वदसि वै मुने ।
ऋते गुरुमधीता हि सुखं वेदास्त्वया पुरा ॥ २१ ॥

देव बोले– हे यवक्री मुने ! तुम जैसी बात कहते हो ऐसी बात मत कहो, तुमने पहले विना गुरुके सुखपूर्वक वेदोंको पढा है ॥ २१ ॥

अनेन तु गुरून्दुःखात्तोषयित्वा स्वकर्मणा ।
कालेन महता क्लेशाद्ब्रह्माधिगतमुत्तमम् ॥ २२ ॥

और रैभ्यने अनेक दुःख सहकर भी अपने कर्मोंसे गुरुको प्रसन्न करके बहुत कालतक परिश्रम करके उत्तम वेदोंको पढा है ॥ २२ ॥

लोमश उवाच

यवक्रीतमथोक्त्वैवं देवाः साग्निपुरोगमाः ।
सञ्जीवयित्वा तान्सर्वान्पुनर्जग्मुस्त्रिविष्टपम् ॥ २३ ॥

लोमश बोले– इस प्रकार सबको जिलाकर और यवक्रीतसे ऐसा कहकर अग्नि आदि देवता पुनः स्वर्गको चले गये ॥ २३ ॥

आश्रमस्तस्य पुण्योऽयं सदापुष्पफलद्रुमः ।
अत्रोष्य राजशार्दूल सर्वपापैः प्रमोक्ष्यसे ॥ २४ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि एकोनचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३९ ॥ ४६७३ ॥

हे राजाओंमें सिंह युधिष्ठिर ! यह उन्हींका आश्रम है, इसके वृक्ष सदा फूले और फले रहते हैं । आप यहां एक रात्रि रहकर सब पापोंसे छूट जाइयेगा ॥ २४ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ उन्तालीसवां अध्याय समाप्त ॥ १३९ ॥ ४६७३ ॥

: १४० :

लोमश उवाच

उशीरबीजं मैनाकं गिरिं श्वेतं च भारत ।
समतीतोऽसि कौन्तेय कालशैलं च पार्थिव ॥ १ ॥

लोमश बोले– हे भारत ! आप इस उशीरवीज, मैनाक और श्वेतपर्वतको पार कर चुके हैं, हे कौन्तेय ! आप कालपर्वतके पार हो चुके हैं ॥ १ ॥

एषा गङ्गा सप्तविधा राजते भरतर्षभ ।
स्थानं विरजसं पुण्यं यत्राग्निर्नित्यमिध्यते ॥ २ ॥

हे भरतर्षभ ! गङ्गाकी सात धारायें शोभित हो रही हैं। यह पवित्र विरजस तीर्थ है, यहां सदा ही अग्नि जलती रहती है ॥ २ ॥

एतद्वै मानुषेणाद्य न शक्यं द्रष्टुमच्युत ।
समाधिं कुरुताव्यग्रास्तीर्थान्येतानि द्रक्ष्यथ ॥ ३ ॥

इस अद्भुत तीर्थको पुरुष देख भी नहीं सकता। यहां पर आप स्वस्थचित्त होकर समाधि लगाइये और इन तीर्थोंको देखिए ॥ ३ ॥

श्वेतं गिरिं प्रवेक्ष्यामो मन्दरं चैव पर्वतम् ।
यत्र माणिवरो यक्षः कुबेरश्चापि यक्षराट् ॥ ४ ॥

अब हम लोग श्वेतगिरि और मन्दराचलमें प्रवेश करते हैं, जहां माणिवर यक्ष और यक्षोंके राजा कुबेर रहते हैं ॥ ४ ॥

अष्टाशीतिसहस्राणि गन्धर्वाः शीघ्रचारिणः ।
तथा किंपुरुषा राजन्यक्षाश्चैव चतुर्गुणाः ॥ ५ ॥

यहां अट्ठासी हजार शीघ्रगामी गंधर्व रहते हैं, और उनसे चौगुने यक्ष और किंपुरुष रहते हैं ॥ ५ ॥

अनेकरूपसंस्थाना नानाप्रहरणाश्च ते ।
यक्षेन्द्रं मनुजश्रेष्ठ माणिभद्रमुपासते ॥ ६ ॥

हे मनुष्योंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! वे अनेक रूपोंसे युक्त होकर तथा नाना विध शस्त्रोंको धारण करके यक्षराज माणिभद्रकी सेवा करते हैं ॥ ६ ॥

तेषामृद्धिरतीवाग्र्या गतौ वायुसमाश्च ते ।
स्थानात्प्रच्यावयेयुर्ये देवराजमपि ध्रुवम् ॥ ७ ॥

उनकी यहां पर बहुत ही ऋद्धि बढी हुई है। वे गतिमें वायुके समान हैं जो इन्द्रको भी निश्चयसे स्वर्गसे गिरा सकते हैं ॥ ७ ॥

तैस्तात बलिभिर्गुप्ता यातुधानैश्च रक्षिताः ।
दुर्गमाः पर्वताः पार्थ समाधिं परमं कुरु ॥ ८ ॥

हे तात कुन्तीपुत्र ! ये दुर्गम पर्वत बलियोंके द्वारा रक्षित हैं, राक्षसोंसे भी रक्षित हैं। आप यहां उत्तम समाधि लगाइए ॥ ८ ॥

कुबेरसचिवाश्चान्ये रौद्रा मैत्राश्च राक्षसाः ।
तैः समेष्याम कौन्तेय यत्तो विक्रमणे भव ॥ ९ ॥

हे कुन्तीनन्दन! जो कुबेरके दूसरे मन्त्री हैं, वे तथा भयंकर और शत्रुरूप जो राक्षस हैं उन सबसे हमें मुकाबला करना पडेगा, अतः आप अपने बलको नियमित कीजिए ॥ ९ ॥

कैलासः पर्वतो राजन्षड्योजनशतान्युत ।
यत्र देवाः समायान्ति विशाला यत्र भारत ॥ १० ॥

हे राजन्! यह छ सौ योजन विस्तृत कैलास पर्वत है। यहीं विशालापुरी अर्थात् बदरिकाश्रम है। यहां सब देव आते हैं ॥ १० ॥

असंख्येयास्तु कौन्तेय यक्षराक्षसकिन्नराः ।
नागाः सुपर्णा गन्धर्वाः कुबेरसदनं प्रति ॥ ११ ॥

हे कुन्तीपुत्र! यहां कुबेरके घरमें असंख्य यक्ष, राक्षस, किन्नर, नाग, सुपर्ण और गन्धर्व रहते हैं ॥ ११ ॥

तान्विगाहस्व पार्थाद्य तपसा च दमेन च ।
रक्ष्यमाणो मया राजन्भीमसेनबलेन च ॥ १२ ॥

हे राजन्! मुझसे और भीमसेनके बलसे रक्षित होकर आप तप और इन्द्रियके संयमसे इस कुबेरके स्थानको देखिये ॥ १२ ॥

स्वस्ति ते वरुणो राजा यमश्च समितिञ्जयः ।
गङ्गा च यमुना चैव पर्वतश्च दधातु ते ॥ १३ ॥

राजा वरुण, युद्धजेता यम, गङ्गा, यमुना और पर्वत आपका कल्याण करें ॥ १३ ॥

इन्द्रस्य जाम्बूनदपर्वताग्रे शृणोमि घोषं तव देवि गङ्गे ।
गोपाययेमं सुभगे गिरिभ्यः सर्वाजमीढापचितं नरेन्द्रम् ।
भवस्व शर्म प्रविविक्षतोऽस्य शैलानिमाञ्शैलसुते नृपस्य ॥ १४ ॥

हे देवि! हे गङ्गे! मैं तुम्हारे शब्दको इन्द्रके सोनेके पर्वतके ऊपरसे सुनता हूँ। हे सुभगे! तुम इन पर्वतोंमें अजमीढ वंशोत्पन्न महाराज युधिष्ठिरकी रक्षा करो। हे पर्वतराजपुत्री! यह महाराज इन पर्वतोंमें प्रवेश करना चाहते हैं, तुम इनके लिए कल्याणकारिणी हो ॥ १४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अपूर्वोऽयं सम्भ्रमो लोमशस्य कृष्णां सर्वे रक्षत मा प्रमादम् ।
देशो ह्ययं दुर्गतमो मतोऽस्य तस्मात्परं शौचमिहाचरध्वम् ॥ १५ ॥

युधिष्ठिर बोले– आज लोमश मुनिको अपूर्व भय हुआ है, अतः द्रौपदीका रक्षण सभी सावधानतासे करें। कोई भी प्रमाद न करे। जान पडता है, कि यह देश बहुत दुःखसे प्रवेश करने योग्य है, इसलिये सब यहां अत्यंत शुद्ध और पवित्र आचरण करें ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततोऽब्रवीद्भीममुदारवीर्यं कृष्णां यत्तः पालय भीमसेन ।
शून्येऽर्जुनेऽसन्निहिते च तात त्वमेव कृष्णां भजसेऽसुखेषु ॥ १६ ॥

वैशम्पायन बोले– तदनन्तर महाराजने अत्यन्त बलशाली भीमसेनको आज्ञा दी कि, हे भीम! तुम बहुत सावधानीसे द्रौपदीकी रक्षा करो, क्योंकि, हे तात! अर्जुनके पश्चात् दुःखोंके अवसरोंपर-द्रौपदी तुम्हारा ही सहारा लेती है ॥ १६ ॥

ततो महात्मा यमजौ समेत्य मूर्धन्युपाघ्राय विमृज्य गात्रे ।
उवाच तौ बाष्पकलं स राजा मा भैष्टमागच्छतमप्रमत्तौ ॥ १७ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४० ॥ ४६९० ॥

इसके पश्चात् महात्मा महाराजने नकुल और सहदेव का माथा सूंघकर और शरीरको स्पर्श करके रुंधे हुए कण्ठसे कहा– कि तुम लोग कुछ मत डरो, सावधान होकर चलो ॥ १७ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ चालीसवां अध्याय समाप्त ॥ १४० ॥ ४६९० ॥

॥ १४१ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अन्तर्हितानि भूतानि रक्षांसि बलवन्ति च ।
अग्निना तपसा चैव शक्यं गन्तुं वृकोदर ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे भीम! इन स्थानोंमें अनेक बलवान् प्राणी और राक्षस छिपे हुए रहते हैं, अतः यहां अग्नि और तपकी सहायतासे ही चलना संभव है ॥ १ ॥

सन्निवर्तय कौन्तेय क्षुत्पिपासे बलान्वयात् ।
ततो बलं च दाक्ष्यं च संश्रयस्व कुरूद्वह ॥ २ ॥

हे कुन्तीनन्दन भीम! यहां बलके आश्रयसे भूख और प्यासका परित्याग करो और अपने बल और कुशलताका आश्रय लो ॥ २ ॥

ऋषेस्त्वया श्रुतं वाक्यं कैलासं पर्वतं प्रति ।
बुद्ध्या प्रपश्य कौन्तेय कथं कृष्णा गमिष्यति ॥ ३ ॥

हे कौन्तेय! तुमने कैलासयात्राके प्रति लोमशमुनिके वचन सुने ही हैं। अब बुद्धिसे विचार करो, कि द्रौपदी किस प्रकार चल सकेगी? ॥ ३ ॥

अथ वा सहदेवेन धौम्येन च सहाभिभो ।
सूदैः पौरोगवैश्चैव सर्वैश्च परिचारकैः । ॥ ४ ॥

अथवा, हे बलशालिन् ! सहदेव, धौम्य, सारथि, रसोइया नगरवासी सब नौकर, ॥ ४ ॥

रथैरश्वैश्च ये चान्ये विप्राः क्लेशासहाः पथि ।
सर्वैस्त्वं सहितो भीम निवर्तस्वायतेक्षण ॥ ५ ॥

रथ, घोडे और मार्गमें क्लेश न सह सकनेवाले सब ब्राह्मणोंके सहित, हे विशालनेत्रवाले भीम ! तुम लौट जाओ ॥ ५ ॥

त्रयो वयं गमिष्यामो लघ्वाहारा यतव्रताः ।
अहं च नकुलश्चैव लोमशश्च महातपाः ॥ ६ ॥

हम तीनों अर्थात् मैं, नकुल और महातपस्वी लोमश मुनि आहारको जीतकर व्रत करते हुए चले जायेंगे ॥ ६ ॥

ममागमनमाकाङ्क्षन्गङ्गाद्वारे समाहितः ।
वसेह द्रौपदीं रक्षन्यावदागमनं मम ॥ ७ ॥

जबतक हम लौटकर आवें, तबतक तुम हमारे लौट आनेकी बाट जोहते हुए सावधान होकर द्रौपदीकी रक्षा करते हुए गङ्गाद्वारमें रहो ॥ ७ ॥

भीम उवाच

राजपुत्री श्रमेणार्ता दुःखार्ता चैव भारत ।
व्रजत्येव हि कल्याणी श्वेतवाहदिदृक्षया ॥ ८ ॥

भीम बोले– हे महाराज ! राजपुत्री कल्याणी द्रौपदी थकावटसे व्याकुल और दुःखित होने परभी केवल अर्जुनको देखनेकी इच्छासे ही चली जाती है ॥ ८ ॥

तव चाप्यरतिस्तीव्रा वर्धते तमपश्यतः ।
किं पुनः सहदेवं च मां च कृष्णां च भारत ॥ ९ ॥

और बिना अर्जुनको देखे आपकी भी घबराहट बढती जा रही है, तब फिर सहदेव, द्रौपदी और मेरी तो बात ही क्या है ? ॥ ९ ॥

रथाः कामं निवर्तन्तां सर्वे च परिचारकाः ।
सूदाः पौरोगवाश्चैव मन्यते यत्र नो भवान् ॥ १० ॥

यदि आप ऐसा ही मानते हों तो रथ और सभी नौकर, रसोइए, नगरके रहनेवाले या और जिसको आप चाहें, वे भले ही लौट जाएं ॥ १० ॥

न ह्यहं हातुमिच्छामि भवन्तमिह कर्हिचित्।
शैलेऽस्मिन्राक्षसाकीर्णे दुर्गेषु विषमेषु च। ॥ ११ ॥
पर मैं राक्षसोंसे भरे हुए, अत्यन्त विषम और कठिनतासे जाने योग्य इस पर्वतमें आपको कदापि नहीं छोड सकता ॥ ११ ॥

इयं चापि महाभागा राजपुत्री यतव्रता।
त्वामृते पुरुषव्याघ्र नोत्सहेद्विनिवर्तितुम् ॥ १२ ॥
हे पुरुषव्याघ्र! यह भाग्यशालिनी व्रत करनेवाली पुत्री द्रौपदी आपको छोडकर लौट जानेके लिए तैय्यार नहीं है ॥ १२ ॥

तथैव सहदेवोऽयं सततं त्वामनुव्रतः।
न जातु विनिवर्तेत मतज्ञो ह्यहमस्य वै ॥ १३ ॥
और हमेशा आपके पीछे चलनेवाला सहदेव भी आपको विना लिए नहीं लौटेगा। मैं इसके विचारको अच्छी तरह जानता हूँ ॥ १३ ॥

अपि चात्र महाराज सव्यसाचिदिदृक्षया।
सर्वे लालसभूताः स्म तस्माद्यास्यामहे सह ॥ १४ ॥
हे महाराज! हम सब भी अर्जुनको देखनेके लिये उत्कण्ठित हैं, इसलिये हम भी आपके साथ ही साथ चलेंगे ॥ १४ ॥

यद्यशक्यो रथैर्गन्तुं शैलोऽयं बहुकन्दरः।
पद्भिरेव गमिष्यामो मा राजन्विमना भव ॥ १५ ॥
यह अनेक कन्दराओंसे भरा हुआ पर्वत यदि रथमें वैठकर चलने योग्य न होगा, तो पैरोंसे ही चलेंगे। हे राजन्! आप दुःखी मत होइए ॥ १५ ॥

अहं वहिष्ये पाञ्चालीं यत्र यत्र न शक्ष्यति।
इति मे वर्तते बुद्धिर्मा राजन्विमना भव ॥ १६ ॥
यह द्रौपदी जहां जहां नहीं चल सकेगी, वहां वहां इस द्रौपदीको मैं अपने कन्धेपर विठाकर ले चलूंगा, ऐसा मेरा विचार है, अतः आप दुःख न करें ॥ १६ ॥

सुकुमारौ तथा वीरौ माद्रीनन्दिकरावुभौ।
दुर्गे सन्तारयिष्यामि यद्यशक्तौ भविष्यतः ॥ १७ ॥
माद्रीको आनन्द देनेवाले दोनों ये वीर पर सुकुमार नकुल और सहदेव जहां दुःखसे जाने योग्य मार्गमें नहीं जा सकेंगे, वहां इनको भी मैं ले चलूंगा ॥ १७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

एवं ते भाषमाणस्य बलं भीमाभिवर्धताम् ।
यस्त्वमुत्सहसे वोढुं द्रौपदीं विपुलेऽध्वनि ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे भीम ! ऐसा कहनेवाले तुम्हारे बलकी वृद्धि हो, जो कि तुम द्रौपदीको लम्बे मार्गतक ले चलनेमें उत्साह दिखा रहे हो ॥ १८ ॥

यमजौ चापि भद्रं ते नैतदन्यत्र विद्यते ।
बलं च ते यशश्चैव धर्मः कीर्तिश्च वर्धताम् ॥ १९ ॥

नकुल और सहदेवको भी ले चलनेके लिए कहते हो, ऐसा बल अन्यमें नहीं है। इसलिये मैं आशीर्वाद देता हूँ कि तुम्हारा यह बल, कीर्ति और धर्म बढे ॥ १९ ॥

यस्त्वमुत्सहसे नेतुं भ्रातरौ सह कृष्णया ।
मा ते ग्लानिर्महाबाहो मा च तेऽस्तु पराभवः ॥ २० ॥

जो तुम नकुल, सहदेव और द्रौपदीको ले चलना चाहते हो, इससे, हे महाबाहो ! तुम्हें कहीं भी थकावट और तुम्हारा पराभव नहीं होगा ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः कृष्णाब्रवीद्वाक्यं प्रहसन्ती मनोरमा ।
गमिष्यामि न संतापः कार्यो मां प्रति भारत ॥ २१ ॥

वैशम्पायन बोले– तदनन्तर सुन्दरी द्रौपदी हंसकर महाराजसे कहने लगी– कि हे भारत ! आप मेरे लिये जरा भी दुःख न कीजिये, मैं स्वयं ही चलूंगी ॥ २१ ॥

लोमश उवाच

तपसा शक्यते गन्तुं पर्वतो गन्धमादनः ।
तपसा चैव कौन्तेय सर्वे योक्ष्यामहे वयम् ॥ २२ ॥

लोमश बोले– हे कुन्तीनन्दन ! इस गन्धमादन पर्वतपर तपस्याके बलसे ही जाया जा सकता है। अतः हम सब तपस्याके बलसे चलेंगे ॥ २२ ॥

नकुलः सहदेवश्च भीमसेनश्च पार्थिव ।
अहं च त्वं च कौन्तेय द्रक्ष्यामः श्वेतवाहनम् ॥ २३ ॥

हे कौन्तेय ! मैं, तुम, भीमसेन, नकुल, सहदेव और द्रौपदी चलकर अर्जुनको देखेंगे ॥ २३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं संभाषमाणास्ते सुबाहोर्विषयं महत् ।
ददृशुर्मुदिता राजन्प्रभूतगजवाजिमत् ॥ २४ ॥
किराततङ्गणाकीर्णं कुणिन्दशतसंकुलम् ।
हिमवत्यमरैर्जुष्टं बह्वाश्चर्यसमाकुलम् ॥ २५ ॥

वैशम्पायन बोले– जिस समय सब लोग प्रसन्नतापूर्वक अर्जुनके बारेमें बात कह रहे थे, उसी समय हिमाचलपर सुबाहुका एक राज्य देखा, जिसमें अनेक हाथी, घोडे, किरात, तङ्गण और सैंकडों कुणिन्द तथा देव थे । उस झुण्डमें अनेक आश्चर्य दीखते थे ॥ २४–२५ ॥

सुबाहुश्चापि तान्दृष्ट्वा पूजया प्रत्यगृह्णत ।
विषयान्ते कुणिन्दानामीश्वरः प्रीतिपूर्वकम् ॥ २६ ॥

वह देश राजा सुबाहुका था । जब सुबाहुने पाण्डवोंको देखा, तो कुणिन्दोंके स्वामी सुबाहुने अपने राज्यकी सीमापर जाकर पाण्डवोंसे सत्कारपूर्वक भेंट की ॥ २६ ॥

तत्र ते पूजितास्तेन सर्व एव सुखोषिताः
प्रतस्थुर्विमले सूर्ये हिमवन्तं गिरिं प्रति ॥ २७ ॥

पाण्डव भी उसकी पूजासे बहुत प्रसन्न हुए और उसके राज्यमें सुखसे रहे । अगले दिन जब प्रातःकाल हुआ तो पाण्डव हिमाचलकी तरफ चले ॥ २७ ॥

इन्द्रसेनमुखांश्चैव भृत्यान्पौरोगवांस्तथा ।
सूदांश्च परिबर्हं च द्रौपद्याः सर्वशो नृप ॥ २८ ॥
राज्ञः कुणिन्दाधिपतेः परिदाय महारथाः ।
पद्भिरेव महावीर्या ययुः कौरवनन्दनाः ॥ २९ ॥

इन्द्रसेन आदि सारथी, नगरनिवासी तथा रसोइया, द्रौपदीकी दासी तथा और सब नौकरोंको कुणिन्ददेशके राजा सुबाहुकी रक्षामें छोड दिया और वे महावीर्य महारथी पाण्डव पैदल ही चले ॥ २८-२९ ॥

ते शनैः प्राद्रवन्सर्वे कृष्णया सह पाण्डवाः ।
तस्माद्देशात्सुसंहृष्टा द्रष्टुकामा धनञ्जयम् ॥ ३० ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि एकचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४१ ॥ ४७२० ॥

वे पाण्डव धीरे धीरे प्रसन्नतापूर्वक द्रौपदीके सहित अर्जुनको देखनेके लिये उस देशसे निकल गये ॥ ३० ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ इकतालीसवां अध्याय समाप्त ॥ १४१ ॥ ४७२० ॥

: १४२ :

युधिष्ठिर उवाच

भीमसेन यमौ चोभौ पाञ्चालि च निबोधत।
नास्ति भूतस्य नाशो वै पश्यतास्मान्वनेचरान् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे भीम, नकुल, सहदेव और द्रौपदी! तुम सब मेरी बातोंको सुनो, पुरुषके द्वारा जो कर्म किया जाता है उसका नाश नहीं होता। हम लोगोंको इस वनमें घूमते हुए देखो ॥ १ ॥

दुर्बलाः क्लेशिताः स्मेति यद्ब्रवीथेतरेतरम्।
अशक्येऽपि व्रजामेति धनञ्जयदिदृक्षया ॥ २ ॥

"हम लोग अत्यन्त क्लेशित और दुःखित हैं" ऐसी परस्पर बातचीत करते हो, तथापि दुर्गम मार्गसे अर्जुनको देखनेकी इच्छासे चले जाते हैं ॥ २ ॥

तन्मे दहति गात्राणि तूलराशिमिवानलः।
यच्च वीरं न पश्यामि धनञ्जयमुपान्तिके ॥ ३ ॥

जो मैं यहां आसपास धनञ्जय अर्जुनको नहीं देख पा रहा हूँ, इसके कारण उत्पन्न हुआ दुःख मुझे उसी तरह जलाये डाल रहा है कि जिस प्रकार अग्नि रुईके ढेर को ॥ ३ ॥

तस्य दर्शनतृष्णं मां सानुजं वनमास्थितम्।
याज्ञसेन्याः परामर्शः स च वीर दहत्युत ॥ ४ ॥

हे वीर! उस अर्जुनको देखनेकी इच्छावाले तथा अपने छोटे भाई सहित वनमें चलनेवाले मुझे द्रौपदीके केशाकर्षण आदि क्लेशोंका स्मरण जला डालता है ॥ ४ ॥

नकुलात्पूर्वजं पार्थं न पश्याम्यमितौजसम्।
अजेयमुग्रधन्वानं तेन तप्ये वृकोदर ॥ ५ ॥

मैं नकुलके बडे भाई, महापराक्रमी, अजेय महाधनुर्द्धारी अर्जुनको नहीं देख पा रहा, इसी कारण मैं दुःखी हो रहा हूँ ॥ ५ ॥

तीर्थानि चैव रम्याणि वनानि च सरांसि च।
चरामि सह युष्माभिस्तस्य दर्शनकाङ्क्षया ॥ ६ ॥

हे वृकोदर! मैं अर्जुनको देखनेकी इच्छासे ही तुम लोगोंके साथ रम्य वन, तडाग और तीर्थोंमें घूम रहा हूं ॥ ६ ॥

पञ्च वर्षाण्यहं वीरं सत्यसन्धं धनञ्जयम् ।
यन्न पश्यामि बीभत्सुं तेन तप्ये वृकोदर ॥ ७ ॥

हे वृकोदर ! पांच वर्ष हुए तबसे सत्यसन्ध धनंजय तथा बीभत्सु अर्जुनको मैंने नहीं देखा, उसीके कारण मैं दुःखी हूँ ॥ ७ ॥

तं वै श्यामं गुडाकेशं सिंहविक्रान्तगामिनम् ।
न पश्यामि महाबाहुं तेन तप्ये वृकोदर ॥ ८ ॥

उन श्यामसुन्दर, निद्राके स्वामी, सिंहके समान तेजस्वी, महाबाहु, अर्जुनको नहीं देखता, इसीलिए मैं दुःखी हूँ ॥ ८ ॥

कृतास्त्रं निपुणं युद्धे प्रतिमानं धनुष्मताम् ।
न पश्यामि नरश्रेष्ठं तेन तप्ये वृकोदर ॥ ९ ॥

सब शस्त्रोंको जाननेवाले, युद्धमें निपुण, अद्वितीय धनुषधारी नरश्रेष्ठ अर्जुनको न देखनेसे मैं दुःखी हो रहा हूँ ॥ ९ ॥

चरन्तमरिसङ्घेषु काले क्रुद्धमिवान्तकम् ।
प्रभिन्नमिव मातङ्गं सिंहस्कन्धं धनञ्जयम् ॥ १० ॥

वह अर्जुन शत्रुओंके समूहमें इस प्रकार घूमते हैं जैसे प्रलयकालमें क्रोधित यमराज । वह मतवाले हाथी और सिंहके समान कन्धेवाले महावीर हैं ॥ १० ॥

यः स शक्रादनवरो वीर्येण द्रविणेन च ।
यमयोः पूर्वजः पार्थः श्वेताश्वोऽमितविक्रमः ॥ ११ ॥

वह महावीर धन और पराक्रममें इन्द्रके समान हैं । नकुल और सहदेवके बडे भाई, सफेद घोडेवाले और महापराक्रमी हैं ॥ ११ ॥

दुःखेन महताविष्ट स्वकृतेनानिवर्तिना ।
अजेयमुग्रधन्वानं तं न पश्यामि फल्गुनम् ॥ १२ ॥

अपने कर्मके कारण महादुःखमें पडा हुआ मैं उस उग्र धनुर्द्धारी फाल्गुन अर्जुनको देख नहीं पा रहा हूँ ॥ १२ ॥

सततं यः क्षमाशीलः क्षिप्यमाणोऽप्यणीयसा ।
ऋजुमार्गप्रपन्नस्य शर्मदाताभयस्य च ॥ १३ ॥

वह सदा ही अपनेसे हीन पुरुषके द्वारा बुरी बात सुनानेपर पर भी उसपर क्षमा करनेवाले, सीधे मार्गपर चलनेवाले पुरुषको सुख देनेवाले और अभय चाहनेवालेको अभय देनेवाले हैं ॥ १३ ॥

स तु जिह्मप्रवृत्तस्य मायथाभिजिघांसतः ।
अपि वज्रधरस्यापि भवेत्कालविषोपमः ॥ १४ ॥
यदि छल और मायासे उनको कोई मारना चाहे तो वह साक्षात् वज्रधारी इन्द्र ही क्यों न हो, उसके लिए भी वे काल और विषके समान हो जाते हैं ॥ १४ ॥

शत्रोरपि प्रपन्नस्य सोऽनृशंसः प्रतापवान् ।
दाताभयस्य बीभत्सुरमितात्मा महाबलः ॥ १५ ॥
वह महापराक्रमी महावीर प्रतापवान्, दयालु अर्जुन शरणमें आये हुए शत्रुको भी निर्भय कर देते हैं ॥ १५ ॥

सर्वेषामाश्रयोऽस्माकं रणेऽरीणां प्रमर्दिता ।
आहर्ता सर्वरत्नानां सर्वेषां नः सुखावहः ॥ १६ ॥
वह हम सब लोगोंके आश्रय, युद्धमें शत्रुओंके मारनेवाले, सब रत्नोंके लानेवाले और हम सबको सुख देनेवाले हैं ॥ १६ ॥

रत्नानि यस्य वीर्येण दिव्यान्यासन्पुरा मम ।
बहूनि बहुजातानि यानि प्राप्तः सुयोधनः ॥ १७ ॥
जिस महापराक्रमीके प्रतापसे हमारे घरमें पहले अनेक प्रकारके दिव्य रत्न थे, जो सब अब दुर्योधनके हो गए हैं ॥ १७ ॥

यस्य बाहुबलाद्वीर सभा चासीत्पुरा मम ।
सर्वरत्नमयी ख्याता त्रिषु लोकेषु पाण्डव ॥ १८ ॥
हे वीर पाण्डव ! जिसके बाहुबलसे मेरी रत्नमयी सभा पहले तीनों लोकोंमें विख्यात हुई थी ॥ १८ ॥

वासुदेवसमं वीर्ये कार्तवीर्यसमं युधि ।
अजेयमजितं युद्धे तं न पश्यामि फाल्गुनम् ॥ १९ ॥
जो पराक्रममें कृष्णके समान और युद्धमें कार्तवीर्यके समान हैं, उस युद्धमें अजेय अमित-पराक्रमी अर्जुनको मैं नहीं देखता ॥ १९ ॥

संकर्षणं महावीर्यं त्वां च भीमापराजितम् ।
अनुजातः स्ववीर्येण वासुदेवं च शत्रुहा ॥ २० ॥
जो अर्जुन महापराक्रमी, शत्रुनाशी, अजेय, बलराम, कृष्ण और तुम्हारे समान बलवान् हैं ॥ २० ॥

यस्य बाहुबले तुल्यः प्रभावे च पुरन्दरः ।
जवे वायुर्मुखे सोमः क्रोधे मृत्युः सनातनः ॥ २१ ॥

जो बाहुबल और प्रभावमें इन्द्रके तुल्य, वेगमें वायुके तुल्य, बोलनेमें सोमके समान और क्रोधमें सनातन मृत्युके समान हैं ॥ २१ ॥

ते वयं तं नरव्याघ्रं सर्वे वीर दिदृक्षवः ।
प्रवेक्ष्यामो महाबाहो पर्वतं गन्धमादनम् ॥ २२ ॥

हे महाबाहो वीर भीम ! हम सब उसी पुरुषसिंह अर्जुनको देखने लिए गन्धमादन पर्वतमें प्रवेश करें ॥ २२ ॥

विशाला बदरी यत्र नरनारायणाश्रमः ।
तं सदाध्युषितं यक्षैर्द्रक्ष्यामो गिरिमुत्तमम् ॥ २३ ॥

अब हम लोग उस उत्तम पर्वतको देखेंगे कि जहां विशाला बदरिकाश्रम तथा नरनारायणका स्थान है तथा जिस पर्वतमें सदा यक्षलोग निवास किया करते हैं ॥ २३ ॥

कुबेरनलिनीं रम्यां राक्षसैरभिरक्षिताम् ।
पद्भिरेव गमिष्यामस्तप्यमाना महत्तपः ॥ २४ ॥

हमलोग महातप करते हुए पैदल ही राक्षसोंसे सेवित परम रमणीय कुबेरके तालाबतक जाएंगे ॥ २४ ॥

नातप्ततपसा शक्यो देशो गन्तुं वृकोदर ।
न नृशंसेन लुब्धेन नाप्रशान्तेन भारत ॥ २५ ॥

हे वृकोदर ! यह देश तपसे न तपे हुए लोगोंके द्वारा जाने योग्य नहीं है। हे भारत ! इस देशमें न दुष्ट जा सकता है न लोभी और न क्रोधी पुरुष ही जा सकता है ॥ २५ ॥

तत्र सर्वे गमिष्यामो भीमार्जुनपदैषिणः ।
सायुधा बद्धनिस्त्रिंशाः सह विप्रैर्महाव्रतैः ॥ २६ ॥

हे भीम ! अर्जुनके स्थानपर जानेकी इच्छा करनेवाले हम सब शस्त्रोंको धारण करके महाव्रतधारी ब्राह्मणोंके सहित वहीं जायेंगे ॥ २६ ॥

मक्षिकान्मशकान्दंशान्व्याघ्रान्सिंहान्सरीसृपान् ।
प्राप्नोत्यनियतः पार्थ नियतस्तान्न पश्यति ॥ २७ ॥

हे कुन्तीनन्दन ! जो अपवित्र पुरुष इस देशमें आता है, उसे मक्खी, मच्छर, सिंह, व्याघ्र और अनेक सांप मिलते हैं, परन्तु शुद्ध पुरुष उनको नहीं देखते ॥ २७ ॥

×

ते वयं नियतात्मानः पर्वतं गन्धमादनम् ।
प्रवेक्ष्यामो मिताहारा धनञ्जयदिदृक्षवः ॥ २८ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि द्विचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४२ ॥४७४८ ॥

हम लोग अर्जुनको देखनेकी इच्छासे मित भोजन करके और आत्माको अपने वशमें करके गन्धमादन पर्वतमें प्रविष्ट होंगे ॥ २८ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ बयालिसवां अध्याय समाप्त ॥ १४२ ॥ ४७४८ ॥

: १४३ :

वैशम्पायन उवाच

ते शूरास्ततधन्वानस्तूणवन्तः समार्गणाः ।
बद्धगोधाङ्गुलित्राणाः खड्गवन्तोऽमितौजसः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– वे शूरवीर अत्यन्त तेजस्वी पाण्डव धनुष, तूणीर, बाण और खड्गको धारण करके तथा अंगुलियोंकी रक्षा करनेवाले दस्तानोंको पहनकर चले ॥ १ ॥

परिगृह्य द्विजश्रेष्ठाञ्श्रेष्ठाः सर्वधनुष्मताम् ।
पाञ्चालीसहिता राजन्प्रययुर्गन्धमादनम् ॥ २ ॥

हे राजन् जनमेजय ! वे सब धनुषधारियोंमें श्रेष्ठ महातेजस्वी पाण्डव सब ब्राह्मणोंको साथमें ले करके द्रौपदीके सहित गन्धमादनकी ओर चले ॥ २ ॥

सरांसि सरितश्चैव पर्वतांश्च वनानि च ।
वृक्षांश्च बहुलच्छायान्ददृशुर्गिरिमूर्धनि ।
नित्यपुष्पफलान्देशान्देवर्षिगणसेवितान् ॥ ३ ॥

उन्होंने पर्वतकी चोटियोंपर तालाब, नदी, शिखर, वन और बहुत छायावाले वृक्षोंको देखा। उन सब देशोंमें अनेक देव ऋषि सदा निवास किया करते थे । वहां सदा फलनेवाले वृक्ष शोभित थे ॥ ३ ॥

आत्मन्यात्मानमाधाय वीरा मूलफलाशना
श्चेरुरुच्चावचाकारान्देशान्विषमसंकटान् ।
पश्यन्तो मृगजातानि बहूनि विविधानि च ॥ ४ ॥

वीर पाण्डवोंने आत्मसंयम करके केवल मूल और फलहीका आहार करना आरम्भ किया । अनेक जातिके पक्षी और हरिणोंको देखते हुए वे पाण्डव नीचे और उंचे और भयंकर संकटोंसे युक्त स्थानोंमें घूमने लगे ॥ ४ ॥

ऋषिसिद्धामरयुतं गन्धर्वाप्सरसां प्रियम् ।
विविशुस्ते महात्मानः किन्नराचरितं गिरिम् ॥ ५ ॥

उस पर्वतपर ऋषि, सिद्ध, देवता और किन्नर घूमा करते थे, तथा वह देश गंधर्व और अप्सराओंको अत्यन्त प्रिय था । उस पर्वतपर महात्मा पाण्डव पहुंचे ॥ ५ ॥

प्रविशत्स्वथ वीरेषु पर्वतं गन्धमादनम् ।
चण्डवातं महद्वर्षं प्रादुरासीद्विशां पते ॥ ६ ॥

हे प्रजानाथ ! जिस समय महात्मा वीर पाण्डवोंने गन्धमादन पर्वतमें प्रवेश किया, उस समय महावर्षा और भारी आंधी प्रकट हुई ॥ ६ ॥

ततो रेणुः समुद्भूतः सपत्रबहुलो महान् ।
पृथिवीं चान्तरिक्षं च द्यां चैव तमसावृणोत् ॥ ७ ॥

उस आंधीसे पत्तोंके सहित ऐसी धूल उडी, कि पृथ्वी, आकाश और द्युलोक अन्धकारसे छा गया ॥ ७ ॥

न स्म प्रज्ञायते किञ्चिदावृते व्योम्नि रेणुना ।
न चापि शेकुस्ते कर्तुमन्योन्यस्याभिभाषणम् ॥ ८ ॥

उस समय आकाशमें धूलके छाजानेसे कुछ भी जान नहीं पडता था और न एक दूसरेसे बात कर सकते थे ॥ ८ ॥

न चापश्यन्त तेऽन्योन्यं तमसा हतचक्षुषः ।
आकृष्यमाणा वातेन साश्मचूर्णेन भारत ॥ ९ ॥

हे जनमेजय ! उस समय आंखोंके आगे केवल अन्धेरा फैल जानेके कारण एक दूसरेको देख भी नहीं सकते थे । उस वायुके साथ पत्थरके किनके उडकर आंखोंमें भरे जाते थे ॥ ९ ॥

द्रुमाणां वातभग्नानां पततां भूतले भृशम् ।
अन्येषां च महीजानां शब्दः समभवन्महान् ॥ १० ॥

वायुके वेगसे टूटकर पृथ्वीपर गिरनेवाले वृक्षों एवं अन्य झाडोंकी बहुत आवाज होती थी ॥ १० ॥

द्यौः स्वित्पतति किं भूमौ दीर्यन्ते पर्वता नु किम् ।
इति ते मेनिरे सर्वे पवनेन विमोहिताः ॥ ११ ॥

उस समय वायुसे मोहित होकर पाण्डवोंको ऐसी शङ्का उत्पन्न हुई कि, क्या द्युलोक पृथ्वी गिरनेवाला है ? या कहीं पर्वत तो फटनेवाले नहीं हैं ? ॥ ११ ॥

ते यथानन्तान्वृक्षान्वल्मीकान्विषमाणि च।
पाणिभिः परिमार्गन्तो भीता वायोर्निलिल्यिरे ॥ १२ ॥
पाण्डव भयसे व्याकुल होकर रास्तेके मध्यमें आनेवाले वृक्ष, बिल और नीची पृथ्वीको हाथोंसे टटोल टटोलकर इधर उधर छिपने लगे ॥ १२ ॥

ततः कार्मुकमुद्यम्य भीमसेनो महाबलः।
कृष्णामादाय संगत्या तस्थावाश्रित्य पादपम् ॥ १३ ॥
तब महावली भीमसेन द्रौपदीके सहित अपने धनुषको तैयार करके एक वृक्षके नीचे खडे हो गए ॥ १३ ॥

धर्मराजश्च धौम्यश्च निलिल्याते महावने।
अग्निहोत्राण्युपादाय सहदेवस्तु पर्वते ॥ १४ ॥
धर्मराज युधिष्ठिर और धौम्य मुनि उस महावनमें छिप कर बैठ गये। सहदेव अग्निहोत्र लेकर पर्वतमें छिप गये ॥ १४ ॥

नकुलो ब्राह्मणाश्चान्ये लोमशश्च महातपाः।
वृक्षानासाद्य संत्रस्तास्तत्र तत्र निलिल्यिरे ॥ १५ ॥
नकुल, महातपस्वी लोमश तथा और ब्राह्मण भयसे व्याकुल होकर इधर उधर वृक्षोंका आश्रय लेकर छिपकर बैठ गए ॥ १५ ॥

मन्दीभूते तु पवने तस्मिन्रजसि शाम्यति।
महद्भिः पृषतैस्तूर्णं वर्षमभ्याजगाम ह ॥ १६ ॥
जिस समय वह घोर वायु कुछ मंद हुई और वह धूल शान्त हुई, तब बडी बडी धाराओंसे घोर वर्षा शुरु हुई ॥ १६ ॥

ततोऽश्मसहिता धाराः संवृण्वन्त्यः समन्ततः।
प्रपेतुरनिशं तत्र शीघ्रवातसमीरिताः ॥ १७ ॥
उसके पश्चात् तेज चलनेवाली वायुसे प्रेरित होकर चारों ओर ओलोंकी धारा लगातार बरसने लगी। उन ओलोंसे सब पर्वत ढक गए ॥ १७ ॥

तत्र सागरगा ह्यापः कीर्यमाणाः समन्ततः।
प्रादुरासन्सकलुषाः फेनवत्यो विशां पते ॥ १८ ॥
हे प्रजानाथ! उसके थोडी देर पश्चात् समुद्रतक जानेवाली अनेक नदियां फेन और तरङ्गोंके सहित चारों ओरसे बहने लगीं ॥ १८ ॥

वहन्त्यो वारि बहुलं फेनोडुपपरिप्लुतम् ।
परिसस्रुर्महाशब्दाः प्रकर्षन्त्यो महीरुहान् ॥ १९ ॥

उस समय फेन और लहरोंसे भरे हुए जलप्रवाह वेगसे बहने लगे। वृक्षोंको खींचकर ले जाते हुए उन प्रवाहोंका बडा भारी शब्द होने लगा ॥ १९ ॥

तस्मिन्नुपरते वर्षे वाते च समतां गते ।
गते ह्यम्भसि निम्नानि प्रादुर्भूते दिवाकरे ॥ २० ॥
निर्जग्मुस्ते शनैः सर्वे समाजग्मुश्च भारत ।
प्रतस्थुश्च पुनर्वीराः पर्वतं गन्धमादनम् ॥ २१ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि त्रिचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४३ ॥ ४७६९ ॥

उन नदियोंमें वर्षाके थम जानेपर, वायुके अपनी स्वाभाविक गतिमें आ जानेपर, जलोंके उतर जानेपर और सूर्यके प्रकट होनेपर, हे जनमेजय ! वे सब लोग निकल निकलकर एक जगह इकट्ठे हुए और वीर पाण्डव धीरे धीरे फिर गन्धमादनकी ओर चले ॥ २०-२१ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ तैतालिसवां अध्याय समाप्त ॥ १४३ ॥ ४७६९ ॥

: १४४ :

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रयातमात्रेषु पाण्डवेषु महात्मसु ।
पद्भ्यामनुचिता गन्तुं द्रौपदी समुपाविशत् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— हे महाराज ! जब महात्मा पाण्डव चले ही थे, कि पैरोंसे चलनेमें अयोग्य द्रौपदी बैठ गई ॥ १ ॥

श्रान्ता दुःखपरीता च वातवर्षेण तेन च ।
सौकुमार्याच्च पाञ्चाली संमुमोह यशस्विनी ॥ २ ॥

पाञ्चालराजपुत्री तपस्विनी अत्यन्त कोमल होनेके कारण तथा उस वायु और वर्षाके दुःखसे अत्यन्त थक गई ॥ २ ॥

सा पात्यमाना मोहेन बाहुभ्यामसितेक्षणा ।
वृत्ताभ्यामनुरूपाभ्यामूरू समवलम्बत ॥ ३ ॥

मूर्च्छित होकर गिरनेवाली उस काले आंखोंवाली द्रौपदीने अपने गोल गोल और सुन्दर रूपवाले हाथोंसे अपनी जांघोंको थाम लिया ॥ ३ ॥

आलम्बमाना सहितावूरू गजकरोपमौ ।
पपात सहसा भूमौ वेपन्ती कदली यथा ॥ ४ ॥
अपनी हाथीके सूंडके समान सुन्दर तथा सटी हुई जांघोंको पकडी हुई वह द्रौपदी अचानक कांपते हुए केलेके स्तंभके समान भूमिपर गिर पडी ॥ ४ ॥
तां पतन्तीं वरारोहां सज्जमानां लतामिव ।
नकुलः समभिद्रुत्य परिजग्राह वीर्यवान् ॥ ५ ॥
उस सुन्दर मुखवाली द्रौपदीको टूटी हुई लताके समान गिरते हुए देखकर बलवान् नकुलने दौडकर संभाला ॥ ५ ॥

नकुल उवाच

राजन्पाञ्चालराजस्य सुतेयमसितेक्षणा ।
श्रान्ता निपतिता भूमौ तामवेक्षस्व भारत ॥ ६ ॥
नकुल बोले– हे राजन् ! हे भारत ! यह काले आंखोंवाली पाञ्चालराजपुत्री द्रौपदी थककर पृथ्वीपर गिर पडी है, आप इसको देखिये ॥ ॥ ६ ॥
अदुःखार्हा परं दुःखं प्राप्तेयं मृदुगामिनी ।
आश्वासय महाराज तामिमां श्रमकर्शिताम् ॥ ७ ॥
हे महाराज ! यह कोमल गतिवाली द्रौपदी इस दुःखके अयोग्य होनेपर भी इस दुःखको प्राप्त हुई है । अतः अत्यन्त थकी हुई इसको आप धैर्य दीजिये ॥ ७ ॥

वैशम्पायन उवाच

राजा तु वचनात्तस्य भृशं दुःखसमन्वितः ।
भीमश्च सहदेवश्च सहसा समुपाद्रवन् ॥ ८ ॥
वैशम्पायन बोले– नकुलके वचन सुनकर महाराज युधिष्ठिर बहुत दुःखी हो गए । भीमसेन और सहदेव उसकी तरफ वेगसे दौडे ॥ ८ ॥
तामवेक्ष्य तु कौन्तेयो विवर्णवदनां कृशाम् ।
अङ्कमानीय धर्मात्मा पर्यदेवयदातुरः ॥ ९ ॥
कुन्तीपुत्र धर्मात्मा युधिष्ठिर द्रौपदीको पीले मुखवाली और कमजोर देखकर अपनी गोदमें लिटाकर दुःखी होकर विलाप करने लगे ॥ ९ ॥
कथं वेश्मसु गुप्तेषु स्वास्तीर्णशयनोचिता ।
शेते निपतिता भूमौ सुखार्हा वरवर्णिनी ॥ १० ॥
कि सुरक्षित स्थानों उत्तम पलङ्ग पर सोनेके और सुख करने योग्य सुन्दर वर्णवाली द्रौपदी किस प्रकार पृथ्वीपर गिरकर पडी हुई है ? ॥ १० ॥

सुकुमारौ कथं पादौ मुखं च कमलप्रभम् ।
मत्कृतेऽद्य वरार्हायाः श्यामतां समुपागतम् ॥ ११ ॥

इस सुख भोगने योग्य द्रौपदीके सुकुमार चरण और कमलके समान मुख मेरे दोषसे आज काले हो गये हैं ॥ ११ ॥

किमिदं द्यूतकामेन मया कृतमबुद्धिना ।
आदाय कृष्णां चरता वने मृगगणायुते ॥ १२ ॥

जुआ खेलनेकी इच्छावाले, बुद्धिसे हीन मैं जो पशुओंसे भरे हुए इस जंगलमें कृष्णा द्रौपदीको लेकर घूम रहा हूँ, इस मेरे कामका क्या लाभ है ? ॥ १२ ॥

सुखं प्राप्स्यति पाञ्चाली पाण्डवान्प्राप्य वै पतीन् ।
इति द्रुपदराजेन पित्रा दत्तायतेक्षणा ॥ १३ ॥

इसके पिता महाराज द्रुपदने द्रौपदी हमें यही समझकर दी थी कि यह बडे नैनोंवाली कल्याणी पाण्डवोंको पतिरूपमें पाकर सुख पायेगी ॥ १३ ॥

तत्सर्वमनवाप्यैव श्रमशोकाद्धि कर्शिता ।
शेते निपतिता भूमौ पापस्य मम कर्मभिः ॥ १४ ॥

परन्तु मुझ पापीके कुकर्मोंसे आज वही द्रौपदी उन सब बातोंको न पाकर श्रम और शोकसे दुबली होकर पृथ्वीपर पडी सो रही है ॥ १४ ॥

तथा लालप्यमाने तु धर्मराजे युधिष्ठिरे ।
धौम्यप्रभृतयः सर्वे तत्राजग्मुर्द्विजोत्तमाः ॥ १५ ॥

धर्मराज युधिष्ठिर इस प्रकार रो रहे थे, कि वहां धौम्य आदि सब श्रेष्ठ ब्राह्मण आ पहुंचे ॥ १५ ॥

ते समाश्वासयामासुराशीर्भिश्चाप्यपूजयन् ।
रक्षोघ्नांश्च तथा मन्त्राञ्जेपुश्चक्रुश्च ते क्रियाः ॥ १६ ॥

वे सब महाराजको आशीर्वाद देकर और प्रशंसा करके उनको समझाने लगे और विघ्नके नाश करनेवाले अनेक मन्त्रोंको जपकर वे उत्तम क्रिया करने लगे ॥ १६ ॥

पठ्यमानेषु मन्त्रेषु शान्त्यर्थं परमर्षिभिः ।
स्पृश्यमाना करैः शीतैः पाण्डवैश्च मुहुर्मुहुः ॥ १७ ॥

जब महा ऋषियोंने शान्तिके लिए वेदके मन्त्र पढे और पाण्डवोंने वार वार ठण्डे हाथोंसे द्रौपदीको छुआ ॥ १७ ॥

सेव्यमाना च शीतेन जलमिश्रेण वायुना ।
पाञ्चाली सुखमासाद्य लेभे चेतः शनैः शनैः ॥ १८ ॥

तब ठण्डे पानीके कणोंसे युक्त हवा लगनेपर द्रौपदीको कुछ सुख प्राप्त हुआ और वह धीरे धीरे होशमें आ गई ॥ १८ ॥

परिगृह्य च तां दीनां कृष्णामजिनसंस्तरे ।
तदा विश्रामयामासुर्लब्धसंज्ञां तपस्विनीम् ॥ १९ ॥

तदनन्तर पाण्डवोंने दीन तपस्विनी और होशमें आई हुई उस द्रौपदीको उठाकर मृगछालाकी शय्यापर लिटा दिया ॥ १९ ॥

तस्या यमौ रक्ततलौ पादौ पूजितलक्षणौ ।
कराभ्यां किणजाताभ्यां शनकैः संववाहतुः ॥ २० ॥

नकुल और सहदेव द्रौपदीके उत्तम लक्षणयुक्त लाल तलुवोंवाले चरणोंको धनुषके चिन्हवाले हाथोंसे धीरे धीरे दवाने लगे ॥ २० ॥

पर्याश्वासयदप्येनां धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
उवाच च कुरुश्रेष्ठो भीमसेनमिदं वचः ॥ २१ ॥

महाराज युधिष्ठिर भी उसको समझाने लगे और कुरुओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर भीमसेनसे ऐसे वचन वोले ॥ २१ ॥

बहवः पर्वता भीम विषमा हिमदुर्गमाः ।
तेषु कृष्णा महाबाहो कथं नु विचरिष्यति ॥ २२ ॥

हे भीम ! हे महाबाहो ! आगेके पर्वत ऊंचे नीचे होनेके कारण दुःखसे जाने योग्य और हिमसे भरे हुए हैं, उनमें द्रौपदी कैसे चल सकेगी ? ॥ २२ ॥

भीमसेन उवाच

त्वां राजन्राजपुत्रीं च यमौ च पुरुषर्षभौ ।
स्वयं नेष्यामि राजेन्द्र मा विषादे मनः कृथाः ॥ २३ ॥

भीमसेन बोले– हे राजेन्द्र ! आप कुछ शोक न कीजिये, मैं आपको, द्रौपदीको और पुरुषोंमें श्रेष्ठ नकुल और सहदेवको अपनी पीठपर चढाकर ले चलूंगा ॥ २३ ॥

अथ वाऽसौ मया जातो विहगो मद्बलोपमः ।
वहेदनघ सर्वान्नो वचनात्ते घटोत्कचः ॥ २४ ॥

अथवा, हे पापरहित ! मुझसे उत्पन्न मेरा पुत्र घटोत्कच है । वह आकाशगामी मेरे समान बलवान् है । वह आपकी आज्ञासे हम सबको ले चल सकता है ॥ २४ ॥

वैशम्पायन उवाच

अनुज्ञातो धर्मराज्ञा पुत्रं सस्मार राक्षसम् ।
घटोत्कचश्च धर्मात्मा स्मृतमात्रः पितुस्तदा ।
कृताञ्जलिरुपातिष्ठदभिवाद्याथ पाण्डवान् ॥ २५ ॥

वैशम्पायन बोले– तब धर्मराज युधिष्ठिरसे आज्ञा पाकर भीमसेनने अपने पुत्र राक्षसको याद किया। धर्मात्मा घटोत्कच पिताके स्मरण करते ही आ पहुंचा और सब पाण्डवोंको प्रणाम करके और हाथ जोडकर खडा हो गया ॥ २५ ॥

ब्राह्मणांश्च महाबाहुः स च तैरभिनन्दितः ।
उवाच भीमसेनं स पितरं सत्यविक्रमः ॥ २६ ॥

सत्यपराक्रमी महाबाहु घटोत्कच ब्राह्मणोंको प्रणाम करके तथा उनसे आशीर्वाद पाकर अपने पिता भीमसेनसे बोला ॥ २६ ॥

स्मृतोऽस्मि भवता शीघ्रं शुश्रूषुरहमागतः ।
आज्ञापय महाबाहो सर्वं कर्तास्म्यसंशयम् ।
तच्छ्रुत्वा भीमसेनस्तु राक्षसं परिषस्वजे ॥ २७ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४४ ॥ ४७९६ ॥

मैं आपके द्वारा याद किया गया हूँ और आपकी आज्ञानुसार सेवा करनेके लिए आया हूं। हे महाबाहो ! आप मुझे शीघ्र आज्ञा दीजिये, मैं निःसन्देह सब कामोंको करनेमें समर्थ हूं। भीमसेनने अपने राक्षस-पुत्रके वचन सुनकर उसको लिपटा लिया ॥ २७ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ चौवालिसवां अध्याय समाप्त ॥ १४४ ॥ ४७९६ ॥

: १४५ :

युधिष्ठिर उवाच

धर्मज्ञो बलवाञ्शूरः सद्यो राक्षसपुङ्गवः ।
भक्तोऽस्मानौरसः पुत्रो भीम गृह्णातु मातरम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे भीम ! यह राक्षसोंमें श्रेष्ठ बलवान्, शूरवीर हमारा भक्त घटोत्कच हमारा औरस पुत्र अपने वीर्यसे उत्पन्न है। अब यह अपनी माता द्रौपदीको शीघ्र ले चले ॥ १ ॥

तव भीम बलेनाहमतिभीमपराक्रम ।
अक्षतः सह पाञ्चाल्या गच्छेयं गन्धमादनम् ॥ २ ॥

हे भीम ! हे महापराक्रमी ! हम तुम्हारे बलसे रक्षित होकर बिना किसी कष्टके गन्धमादनको चलेंगे ॥ २ ॥

×

वैशम्पायन उवाच

आतुर्वचनमाज्ञाय भीमसेनो घटोत्कचम्।
आदिदेश नरव्याघ्रस्तनयं शत्रुकर्शनम् ॥ ३ ॥

वैशम्पायन बोले– पुरुषसिंह भीमने अपने भाईकी आज्ञा सुनकर अपने शत्रुनाशक घटोत्कचको आज्ञा दी ॥ ३ ॥

हैडिम्बेय परिश्रान्ता तव मातापराजिता।
त्वं च कामगमस्तात बलवान्वह तां खग ॥ ४ ॥

हे हिडम्बानन्दन! हे तात! हे आकाशमें चलनेवाले! देखो यह अपराजिता तुम्हारी माता अत्यन्त थक गई है, और तुम सुखसे इच्छानुसार चल सकते हो ॥ ४ ॥

स्कन्धमारोप्य भद्रं ते मध्येऽस्माकं विहायसा।
गच्छ नीचिकया गत्या यथा चैनां न पीडयेः ॥ ५ ॥

इसलिये तुम इसको कन्धेपर विठाकर हम सब लोगोंके बीच आकाश मार्गसे चलो, तुम्हारा कल्याण हो। तुम धीरे धीरे गतिसे चलना ताकि द्रौपदीको दुःख नहीं हो ॥ ५ ॥

घटोत्कच उवाच

धर्मराजं च धौम्यं च राजपुत्रीं यमौ तथा।
एकोऽप्यहमलं वोढुं किमुताद्य सहायवान् ॥ ६ ॥

घटोत्कच बोले– मैं अकेले ही महाराज युधिष्ठिर, धौम्य, द्रौपदी, नकुल और सहदेवको ले जा सकता हूँ तब फिर आज, जबकि मेरे सहायक मेरे पास हैं, क्या कहना है? ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा ततः कृष्णामुवाह स घटोत्कचः।
पाण्डूनां मध्यगो वीरः पाण्डवानपि चापरे ॥ ७ ॥

वैशम्पायन बोले– यह कहकर पांडवोंके बीचमें स्थित महावीर घटोत्कचने द्रौपदीको और अन्य राक्षसोंने पाण्डवोंको अपने कन्धोंपर विठा लिया ॥ ७ ॥

लोमशः सिद्धमार्गेण जगामानुपमद्युतिः।
स्वेनैवात्मप्रभावेन द्वितीय इव भास्करः ॥ ८ ॥

और महात्मा महातेजस्वी लोमश दूसरे सूर्यके समान प्रकाशित होते हुए अपने प्रभावसे सिद्धोंके मार्ग अर्थात् आकाशके मार्गसे चलने लगे ॥ ८ ॥

ब्राह्मणांश्चापि तान्सर्वान्समुपादाय राक्षसाः ।
नियोगाद्राक्षसेन्द्रस्य जग्मुर्भीमपराक्रमाः ॥ ९ ॥

राक्षसराज घटोत्कचकी आज्ञासे भयंकर पराक्रमी राक्षसोंने उन सब ब्राह्मणोंको अपने कन्धोंपर चढा लिया और चल दिये ॥ ९ ॥

एवं सुरम्यणीयानि वनान्युपवनानि च ।
आलोकयन्तस्ते जग्मुर्विशालां बदरीं प्रति ॥ १० ॥

अनेक रमणीय वन और बागोंको देखते हुए वे सब विशाला बदरीनारायणकी ओर चले ॥ १० ॥

ते त्वाशुगतिभिर्वीरा राक्षसैस्तैर्महाबलैः ।
उह्यमाना ययुः शीघ्रं महदध्वानमल्पवत् ॥ ११ ॥

वे वीर पाण्डव महाबली, वेगवान् राक्षसों द्वारा ढोये जाते हुए लम्बे मार्गको भी थोडा समझकर शीघ्र चले ॥ ११ ॥

देशान्म्लेच्छगणाकीर्णान्नानारत्नाकरायुतान् ।
ददृशुर्गिरिपादांश्च नानाधातुसमाचितान् ॥ १२ ॥

उन्होंने मार्गमें अनेक रत्नोंकी खान, म्लेच्छोंसे भरे हुए देश, तथा अनेक तरहकी धातुओंसे रंगे हुए अनेक पर्वत देखे ॥ १२ ॥

विद्याधरगणाकीर्णान्युतान्वानरकिंनरैः ।
तथा किंपुरुषैश्चैव गन्धर्वैश्च समन्ततः ॥ १३ ॥

किंनर, बन्दर, विद्याधर, किंपुरुष और गन्धर्वोंसे चारों ओरसे भरे हुए देशोंको देखा ॥ १३ ॥

नदीजालसमाकीर्णान्नानापक्षिरुताकुलान् ।
नानाविधैर्मृगैर्जुष्टान्वानरैश्चोपशोभितान् ॥ १४ ॥

अनेक नदियोंके जालसे युक्त, अनेक तरहके पक्षियोंके चहाचहाहटोंसे युक्त, अनेक प्रकारके हिरणों तथा बंदरोंसे शोभित वनको देखा ॥ १४ ॥

ते व्यतीत्य बहून्देशानुत्तरांश्च कुरूनपि ।
ददृशुर्विविधाश्चर्यं कैलासं पर्वतोत्तमम् ॥ १५ ॥

अनेक देशोंको तथा उत्तर कुरुओंको लांघते हुए अनेक आश्चर्यकारक दृश्योंसे युक्त पर्वतश्रेष्ठ कैलास पर्वतको देखा ॥ १५ ॥

तस्याभ्याशे तु ददृशुर्नरनारायणाश्रमम् ।
उपेतं पादपैर्दिव्यैः सदापुष्पफलोपगैः ॥ १६ ॥

उसी पर्वतके पास नर और नारायणके आश्रमको देखा । उस स्थानमें अनेक दिव्य वृक्ष लगे हुए थे, जो हर ऋतुओंमें फूलते फलते थे ॥ १६ ॥

ददृशुस्तां च बदरीं वृत्तस्कन्धां मनोरमाम् ।
स्निग्धामविरलच्छायां श्रिया परमया युताम् ॥ १७ ॥

पाण्डवोंने उस स्थानमें बडी बडी डालियोंवाले, मनोरम, चिकने, घनी छायावाले तथा उत्तम ऐश्वर्यसे युक्त बेरके वृक्षको देखा ॥ १७ ॥

पत्रैः स्निग्धैरविरलैरुपेतां मृदुभिः शुभाम् ।
विशालशाखां विस्तीर्णामतिद्युतिसमन्विताम् ॥ १८ ॥

वह चिकने चिकने कोमल पत्तोंसे, विशाल शाखाओंसे विस्तृत और अत्यन्त तेजसे शोभित था ॥ १८ ॥

फलैरुपचितैर्दिव्यैराचितां स्वादुभिर्भृशम् ।
मधुस्रवैः सदा दिव्यां महर्षिगणसेविताम् ।
मदप्रमुदितैर्नित्यं नानाद्विजगणैर्युताम् ॥ १९ ॥

वह दिव्य, स्वादिष्ट, मधु वहानेवाले, फलोंसे युक्त, सदा दिव्य, महर्षि गणोंसे सेवित, मतवाले अनेक तरहके पक्षिगणोंसे युक्त दिव्य वृक्ष था ॥ १९ ॥

अदंशमशके देशे बहुमूलफलोदके ।
नीलशाद्वलसंछन्ने देवगन्धर्वसेविते ॥ २० ॥

उस देशमें कोई मच्छर किसीको नहीं काटता था और वह स्थान फल, मूल तथा जलसे पूर्ण था । वह हमेशा हरी घाससे पूर्ण था । वहां गन्धर्व निवास किया करते थे ॥ २० ॥

सुसमीकृतभूभागे स्वभावविहिते शुभे ।
जातां हिममृदुस्पर्शे देशेऽपहतकण्टके ॥ २१ ॥

जहां स्वभावसे समानभूमि सुन्दर स्थान और हिमसे मृदुस्पर्श तथा कण्टकरहित पृथ्वी थी ॥ २१ ॥

तामुपेत्य महात्मानः सह तैर्ब्राह्मणर्षभैः ।
अवतेरुस्ततः सर्वे राक्षसस्कन्धतः शनैः ॥ २२ ॥

वहां पहुंचकर वे सब महात्मा ब्राह्मणोंके सहित राक्षसोंके कन्धोंसे धीरे धीरे उतरे ॥ २२ ॥

ततस्तमाश्रमं पुण्यं नरनारायणाश्रितम् ।
ददृशुः पाण्डवा राजन्सहिता द्विजपुङ्गवैः ॥ २३ ॥

हे राजन् ! तदनन्तर पाण्डवोंने श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके साथ नर नारायणके पुण्यदायक आश्रमको देखा ॥ २३ ॥

तमसा रहितं पुण्यमनामृष्टं रवेः करैः ।
क्षुत्तृट्शीतोष्णदोषैश्च वर्जितं शोकनाशनम् ॥ २४ ॥

वह स्थान अन्धकार, भूख, प्यास, शीत, गर्मी, आदि दोषोंसे रहित और शोकका नाश करनेवाला था। वह स्थान परम पवित्र था और उस स्थानमें सूर्यकी किरणें जा नहीं सकती थीं फिर भी वह स्थान अन्धकारसे रहित था ॥ २४ ॥

महर्षिगणसंबाधं ब्राह्मया लक्ष्म्या समन्वितम् ।
दुष्प्रवेशं महाराज नरैर्धर्मबहिष्कृतैः ॥ २५ ॥

हे महाराज ! वह स्थान ब्राह्मणोंकी लक्ष्मीसे युक्त और ब्रह्मर्षियोंके समूहसे सेवित था। उस स्थानमें कोई भी धर्मबहिष्कृत पापी नहीं जा सकता था ॥ २५ ॥

बलिहोमार्चितं दिव्यं सुसंमृष्टानुलेपनम् ।
दिव्यपुष्पोपहारैश्च सर्वतोऽभिविराजितम् ॥ २६ ॥

वह स्थान बलिके होमसे सुशोभित होनेके कारण दिव्य हो रहा था, तथा लीप पोतकर अच्छा बना दिया गया था। दिव्य फूलोंके इधर उधर बिखरे रहनेके कारण चारों ओरसे सुन्दर दिखाई दे रहा था ॥ २६ ॥

विशालैरग्निशरणैः स्रुग्भाण्डैराचितं शुभैः ।
महद्भिस्तोयकलशैः कठिनैश्चोपशोभितम् ।
शरण्यं सर्वभूतानां ब्रह्मघोषनिनादितम् ॥ २७ ॥

बडी बडी यज्ञशालाओंसे, स्रुवा तथा अन्य प्रकारके पवित्र बर्तनोंसे व्याप्त, बडे बडे जलके कलशोंसे तथा अनेक तरहकी यज्ञ सामग्रियोंसे वह स्थान सुशोभित था। वह स्थान सब प्राणियोंको शरण देनेवाला तथा वेदपाठके घोषसे गूंज रहा था ॥ २७ ॥

दिव्यमाश्रयणीयं तमाश्रमं श्रमनाशनम् ।
श्रिया युतमनिर्देश्यं देवचर्योपशोभितम् ॥ २८ ॥

परम रमणीय, थकावटका नाश करनेवाला, शोभासे भरा, वर्णन करनेके अयोग्य देवोंके समान कर्म करनेवाले मनुष्योंसे सुशोभित, आश्रय लेने योग्य ॥ २८ ॥

फलमूलाशनैर्दान्तैश्चीरकृष्णाजिनाम्बरैः ।
सूर्यवैश्वानरसमैस्तपसा भावितात्मभिः ॥ २९ ॥

फल मूल खानेवाले, चतुर, सुन्दर सुन्दर काले मृगचर्मको धारण करनेवाले सूर्य और अग्निके समान तेजस्वी, तपसे आत्मदर्शी ॥ २९ ॥

महर्षिभिर्मोक्षपरैर्यतिभिर्नियतेन्द्रियैः ।
ब्रह्मभूतैर्महाभागैरुपेतं ब्रह्मवादिभिः ॥ ३० ॥
मोक्षके जाननेवाले, महर्षि तथा इन्द्रियसंयमवाले यति, महाभाग्यशाली वेदवादी और ब्रह्मऋषियोंसे शोभित था ॥ ३० ॥

सोऽभ्यगच्छन्महातेजास्तानृषीन्नियतः शुचिः ।
भ्रातृभिः सहितो धीमान्धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ३१ ॥
बुद्धिमान् महाराज महातेजस्वी पवित्र जितेन्द्रिय, धर्मके पुत्र राजा युधिष्ठिर अपने सब भाइयोंके साथ सब ऋषियोंके पास पहुंचे ॥ ३१ ॥

दिव्यज्ञानोपपन्नास्ते दृष्ट्वा प्राप्तं युधिष्ठिरम् ।
अभ्यगच्छन्त सुप्रीताः सर्व एव महर्षयः ।
आशीर्वादान्प्रयुञ्जानाः स्वाध्यायनिरता भृशम् ॥ ३२ ॥
वहांके वासी दिव्यज्ञानवाले ब्राह्मणोंने जब जाना, कि महाराज युधिष्ठिर आये हैं, तब बहुत प्रेमके सहित स्वाध्यायमें लगे रहनेवाले वे महर्षिगण आशीर्वाद देते हुए उनके पास आये ॥ ३२ ॥

प्रीतास्ते तस्य सत्कारं विधिना पावकोपमाः ।
उपाजह्रुश्च सलिलं पुष्पमूलफलं शुचि ॥ ३३ ॥
अग्निके समान तेजस्वी महात्मा ब्राह्मण महाराजको प्रीतिके सहित आशीर्वाद देने लगे और पवित्र फल मूल और जलसे उनका सत्कार करने लगे ॥ ३३ ॥

स तैः प्रीत्याथ सत्कारमुपनीतं महर्षिभिः ।
प्रयतः प्रतिगृह्याथ धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ३४ ॥
धर्मपुत्र युधिष्ठिरने महर्षियोंके द्वारा दी हुई पूजाको आनन्दके सहित ग्रहण किया ॥ ३४ ॥

तं शक्रसदनप्रख्यं दिव्यगन्धं मनोरमम् ।
प्रीतः स्वर्गोपमं पुण्यं पाण्डवः सह कृष्णया ॥ ३५ ॥
विवेश शोभया युक्तं भ्रातृभिश्च सहानघ ।
ब्राह्मणैर्वेदवेदाङ्गपारगैश्च सहाच्युतः ॥ ३६ ॥
उसके बाद पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर द्रौपदीके साथ प्रसन्न होकर इन्द्रके महलके समान दिव्य गंधवाले, स्वर्गके समान तथा मनोरम शोभासे युक्त उस नारायण आश्रममें, हे निष्पाप राजन् ! भाइयों तथा वेदवेदांगोंमें अत्यन्त बुद्धिमान् ब्राह्मणोंके साथ प्रविष्ट हुए ॥ ३५-३६ ॥

तत्रापश्यत्स धर्मात्मा देवदेवर्षिपूजितम् ।
नरनारायणस्थानं भागीरथ्योपशोभितम् ॥ ३७ ॥

युधिष्ठिरने देवों और देवर्षियोंसे पूजित, गङ्गाके तटपर विराजमान नर और नारायण मुनिके आश्रमको देखा ॥ ३७ ॥

मधुस्रवफलां दिव्यां महर्षिगणसेविताम् ।
तामुपेत्य महात्मानस्तेऽवसन्ब्राह्मणैः सह ॥ ३८ ॥

मीठे दिव्य फलसे युक्त और महर्षियोंसे सेवित उस स्थानपर पहुंचकर महात्मा पाण्डव ब्राह्मणोंके सहित उसी स्थानमें रहे ॥ ३८ ॥

आलोकयन्तो मैनाकं नानाद्विजगणायुतम् ।
हिरण्यशिखरं चैव तच्च बिन्दुसरः शिवम् ॥ ३९ ॥

वहां उन्होंने अनेक पक्षियोंसे युक्त, सोनेके शिखरवाले मैनाक पर्वत और सुखदायक विन्दु-सरको देखा ॥ ३९ ॥

भागीरथीं सुतीर्थां च शीतामलजलां शिवाम् ।
मणिप्रवालप्रस्तारां पादपैरुपशोभिताम् ॥ ४० ॥
दिव्यपुष्पसमाकीर्णां मनसः प्रीतिवर्धनीम् ।
वीक्षमाणा महात्मानो विजह्रुस्तत्र पाण्डवाः ॥ ४१ ॥

सबको पवित्र करनेवाली, शीतल, निर्मल जलसे युक्त, कल्याणकारिणी, मणि और मूंगोंसे बने हुए घाटोंवाली, दोनों ओर वृक्षोंसे शोभित, दिव्य फूलोंसे भरी हुई, मनकी प्रसन्नताको बढानेवाली गङ्गाको देखते हुए वे महात्मा पाण्डव वहां विचरने लगे ॥ ४०-४१ ॥

तत्र देवान्पितॄंश्चैव तर्पयन्तः पुनः पुनः ।
ब्राह्मणैः सहिता वीरा न्यवसन्पुरुषर्षभाः ॥ ४२ ॥

वहां देवों और पितरोंका बार बार तर्पण करते हुए पुरुषसिंह वीर महातेजस्वी पाण्डव ब्राह्मणोंके साथ रहे ॥ ४२ ॥

कृष्णायास्तत्र पश्यन्तः क्रीडितान्यमरप्रभाः ।
विचित्राणि नरव्याघ्रा रेमिरे तत्र पाण्डवाः ॥ ४३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि पञ्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४५ ॥ ४८३९ ॥

देवोंके सदृश वे पुरुषोंमें सिंहवत् वीर पाण्डव वहीं पर द्रौपदीके विचित्र विचित्र खेलोंको देखते हुए रहने लगे ॥ ४३ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ पैतालीसवां अध्याय समाप्त ॥ १४५ ॥ ४८३९ ॥

ः १४६ ः

वैशम्पायन उवाच

तत्र ते पुरुषव्याघ्राः परमं शौचमास्थिताः।
षड्रात्रमवसन्वीरा धनञ्जयदिदृक्षया।
तस्मिन्विहरमाणाश्च रममाणाश्च पाण्डवाः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– उस वनमें विहार एवं आनन्द करते हुए पुरुषसिंह वीर पाण्डव उस स्थानमें अत्यन्त पवित्र होकर अर्जुनको देखनेकी इच्छासे छः दिन रहे ॥ १ ॥

मनोज्ञे काननवरे सर्वभूतमनोरमे।
पादपैः पुष्पविकचैः फलभारावनामितैः ॥ २ ॥

उस सब प्राणियोंके मनको आनन्दित करनेवाले, अतिसुन्दर, फूलोंसे भरे हुए तथा फलोंके भारसे झुके हुए पेडोंसे युक्त उस श्रेष्ठ वनमें ॥ २ ॥

शोभितं सर्वतो रम्यैः पुंस्कोकिलकुलाकुलैः।
स्निग्धपत्रैरविरलैः शीतच्छायैर्मनोरमैः ॥ ३ ॥

जो अत्यन्त सुशोभित, सब ओरसे आनन्दप्रद, कोयलोंके समूहोंसे व्याप्त, बहुतसे चिकने पत्तोंसे भरे हुए, शीतल छायासे युक्त, मनके लिए आनन्ददायक था ॥ ३ ॥

सरांसि च विचित्राणि प्रसन्नसलिलानि च।
कमलैः सोत्पलैस्तत्र भ्राजमानानि सर्वशः।
पश्यन्तश्चारुरूपाणि रेमिरे तत्र पाण्डवाः ॥ ४ ॥

चारों ओर लाल और नीले कमलोंसे युक्त, निर्मल जलसे युक्त विचित्र तालाबोंसे सुशोभित उस वनके सुन्दर रूपोंको देखते हुए पाण्डव वहां रमने लगे ॥ ४ ॥

पुण्यगन्धः सुखस्पर्शो ववौ तत्र समीरणः।
ह्लादयन्पाण्डवान्सर्वान्सकृष्णान्सद्विजर्षभान् ॥ ५ ॥

वहां उत्तम गंधवाली तथा शरीरको उत्तम सुखदायक स्पर्श देनेवाली हवा द्रौपदी और श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके सहित पाण्डवोंको प्रसन्न करते हुए बहती थी ॥ ५ ॥

ततः पूर्वोत्तरो वायुः पवमानो यदृच्छया।
सहस्रपत्रमर्काभं दिव्यं पद्ममुदावहत् ॥ ६ ॥

एक दिन ईशानदिशासे इच्छानुसार बहता हुआ वायु सूर्यके समान कांतिवाले एक सहस्रदलके कमलको उडा लाया ॥ ६ ॥

तदपश्यत पाञ्चाली दिव्यगन्धं मनोरमम् ।
अनिलेनाहृतं भूमौ पतितं जलजं शुचि ॥ ७ ॥

उस सुन्दर और दिव्य गन्धयुक्त, पवित्र, वायुके द्वारा उडा कर लाए गए और पृथ्वीपर पडे हुए कमलको द्रौपदीने देखा ॥ ७ ॥

तच्छुभा शुभमासाद्य सौगन्धिकमनुत्तमम् ।
अतीव मुदिता राजन्भीमसेनमथाब्रवीत् । ॥ ८ ॥
पश्य दिव्यं सुरुचिरं भीम पुष्पमनुत्तमम् ।
गन्धसंस्थानसम्पन्नं मनसो मम नन्दनम् ॥ ९ ॥

हे राजन् ! अत्यन्त सुन्दर सुगन्धयुक्त सुन्दर कमलको सुन्दरी द्रौपदी देखकर बहुत प्रसन्न हुई और भीमसेनसे बोली– हे भीम ! इस उत्तम मेरे मनको आनन्दित करनेवाले दिव्य, गन्धयुक्त, अत्यन्त सुन्दर कमलको तुम देखो ॥ ८-९ ॥

एतत्तु धर्मराजाय प्रदास्यामि परन्तप ।
हरेरिदं मे कामाय काम्यके पुनराश्रमे ॥ १० ॥

हे शत्रुनाशक ! यदि तुम मेरी प्रसन्नताके निमित्त इसको काम्यकवनके आश्रममें ले आओ तो यह कमल मैं धर्मराज युधिष्ठिरको दूंगी ॥ १० ॥

यदि तेऽहं प्रिया पार्थ बहूनीमान्युपाहर ।
तान्यहं नेतुमिच्छामि काम्यकं पुनराश्रमम् ॥ ११ ॥

हे कुन्तीनन्दन ! यदि मैं तुम्हारी प्यारी हूं, तो तुम ऐसे बहुतसे कमल मुझको ला दो, मैं इन सबको अपने आश्रम काम्यक वनको ले जाना चाहती हूँ ॥ ११ ॥

एवमुक्त्वा तु पाञ्चाली भीमसेनमनिन्दिता ।
जगाम धर्मराजाय पुष्पमादाय तत्तदा ॥ १२ ॥

सुन्दर पांचालराजपुत्री अनिन्दिता वह द्रौपदी भीमसे ऐसे कहकर उस कमलको लेकर धर्मराज महाराजके पास चली गई ॥ १२ ॥

अभिप्रायं तु विज्ञाय महिष्याः पुरुषर्षभः ।
प्रियायाः प्रियकामः स भीमो भीमपराक्रमः ॥ १३ ॥
वातं तमेवाभिमुखो यतस्तत्पुष्पमागतम् ।
आजिहीर्षुर्जगामाशु स पुष्पाण्यपराण्यपि ॥ १४ ॥

अपनी प्रिया द्रौपदीके प्रियकर्म करनेकी इच्छावाले पुरुषसिंह भीमसेन अपनी प्यारी रानीका अभिप्राय जानकर जिधरसे फूल आया था, उसी तरफ हवाके पीछे पीछे दूसरे कमल फूल लानेकी इच्छासे शीघ्रतापूर्वक चले ॥ १३-१४ ॥

रुक्मपृष्ठं धनुर्गृह्य शरांश्चाशीविषोपमान्।
मृगराडिव संक्रुद्धः प्रभिन्न इव कुञ्जरः ॥ १५ ॥

वे सोनेकी पीठवाला धनुष और सर्पके समान विषभरे बाण लेकर सिंहके समान क्रोधमें भरकर वहांसे मतवाले हाथीके समान चले ॥ १५ ॥

द्रौपद्याः प्रियमन्विच्छन्स्वबाहुबलमाश्रितः।
व्यपेतभयसम्मोहः शैलमभ्यपतद्बली ॥ १६ ॥

अपने बाहुबलसे सम्पन्न, द्रौपदीका प्रिय करनेकी इच्छावाले, शोक और भयसे रहित बलवान् भीम चलते चलते एक पर्वतके ऊपर जा पहुंचे ॥ १६ ॥

स तं द्रुमलतागुल्मच्छन्नं नीलशिलातलम्।
गिरिं चचारारिहरः किन्नराचरितं शुभम् ॥ १७ ॥

वहां शत्रुनाशी भीम अनेक वृक्ष, लता और गुल्मोंसे आच्छादित होनेके कारण हरी हरी चट्टानोंवाले तथा अनेक किन्नरोंसे सेवित उस शुभ पर्वतपर घूमने लगे ॥ १७ ॥

नानावर्णधरैश्चित्रं धातुद्रुममृगाण्डजैः।
सर्वभूषणसम्पूर्णं भूमेर्भुजमिवोच्छ्रितम् ॥ १८ ॥

वह पर्वत अनेक वर्णोंको धारण करनेके कारण चित्र विचित्र था। धातुओंसे तथा नाना प्रकारके पेडोंसे सुशोभित तथा मृगकस्तूरीसे सुगंधित था। ऐसा लगता था कि सारे आभूषणोंसे सजा हुआ भूमिका हाथ ऊपर उठा हुआ हो ॥ १८ ॥

सर्वर्तुरमणीयेषु गन्धमादनसानुषु।
सक्तचक्षुरभिप्रायं हृदयेनानुचिन्तयन् ॥ १९ ॥
पुंस्कोकिलनिनादेषु षट्पदाभिरुतेषु च।
बद्धश्रोत्रमनश्चक्षुर्जगामामितविक्रमः ॥ २० ॥

सब ऋतुओंमें रमणीय गंधमादनकी चोटियोंमें आंखोंके लगे रहनेपर भी हृदयमें अपने उद्देश्य के बारेमें सोचते हुए कोयलोंकी कूकों तथा भवरोंके गुंजनमें श्रोत्र और मनके रमनेपर भी वह अमितपराक्रमी भीम आगे चले ॥ १९–२० ॥

जिघ्रमाणो महातेजाः सर्वर्तुकुसुमोद्भवम्।
गन्धमुद्दाममुद्दामो वने मत्त इव द्विपः ॥ २१ ॥

सब ऋतुमें फूलनेवाले फूलोंकी सुगन्धिको सूंघते तथा उसकी गंधसे मतवाले होते हुए वे महातेजस्वी भीम मत्त हाथीके समान झूमते हुए चलने लगे ॥ २१ ॥

ह्रियमाणश्रमः पित्रा सम्प्रहृष्टतनूरुहः ।
पितुः संस्पर्शशीतेन गन्धमादनवायुना ॥ २२ ॥

गन्धमादनकी शीतल वायु उनकी सेवा करने लगी । इस प्रकार अपने पिता वायुके स्पर्शसे उनका सब परिश्रम दूर हो गया और प्रसन्नतासे उनके रोवें खडे हो गये ॥ २२ ॥

स यक्षगन्धर्वसुरब्रह्मर्षिगणसेवितम् ।
विलोडयामास तदा पुष्पहेतोररिन्दमः ॥ २३ ॥

शत्रुनाशक भीमने पुष्पके लिये गन्धर्व, यक्ष, देवता और ब्रह्मर्षियोंसे सेवित गन्धमादन पर्वतको मथ डाला ॥ २३ ॥

विषमच्छेदरचितैरनुलिप्तमिवाङ्गुलैः ।
विमलैर्धातुविच्छेदैः काञ्चनाञ्जनराजतैः ॥ २४ ॥

सोनेके समान तथा अंजनके समान सुशोभित तथा अन्य निर्मल धातुओंके वृक्षोंके रंग भीमसेनके माथेपर लगनेसे ऐसा प्रतीत होता था कि भीमने अपनी उंगलियोंसे माथेपर त्रिपुण्ड लगाया हो ॥ २४ ॥

सपक्षमिव नृत्यन्तं पार्श्वलग्नैः पयोधरैः ।
मुक्ताहारैरिव चितं च्युतैः प्रस्रवणोदकैः ॥ २५ ॥

नीचेके भागमें जो बादल आते थे, उनसे ऐसा जान पडता था कि मानो यह पर्वत पंख लगाए नाच रहा हो । उसमें जो झरनोंके जलके कण लग गये थे, उससे उनकी शोभा ऐसी जान पडती थी, मानो अनेक मोतियोंके हार लटक रहे हों ॥ २५ ॥

अभिरामनदीकुञ्जनिर्झरोदरकन्दरम् ।
अप्सरोनूपुररवैः प्रनृत्तबहुबर्हिणम् ॥ २६ ॥

उसमें अनेक गुहायें, अनेक सुन्दर सुन्दर नदीकुंज और पानीके सुन्दर झरने शोभायमान थे । अनेक नाचती हुई अप्सराओंके पायजेबका शब्द और नाचते हुए मोरोंकी ध्वनि आनन्द बढा रही थी ॥ २६ ॥

दिग्वारणविषाणाग्रैर्घृष्टोपलशिलातलम् ।
स्रस्तांशुकमिवाक्षोभ्यैर्निम्नगानिःसृतैर्जलैः ॥ २७ ॥

वहांकी पत्थरकी शिलायें दिग्गजोंके द्वारा अपने दांतके अग्रभागको घिसनेके कारण फट गई थीं । वहां जो नदियोंके जल बह रहे थे, उससे ऐसा जान पडता था, मानो इस पहाडका दुपट्टा नीचे गिर गया हो ॥ २७ ॥

सशष्पकवलैः स्वस्थैरदूरपरिवर्तिभिः ।
भयस्याज्ञैश्च हरिणैः कौतूहलनिरीक्षितः ॥ २८ ॥
चारों ओरसे पास आनेवाले और मुखमें घासका कवल लेकर खडे हुए उस पहाडके हरिण निर्भय होकर भीमसेनकी गति बडे ही कुतूहलसे देखने लगे ॥ २८ ॥

चालयन्नूरुवेगेन लताजालान्यनेकशः ।
आक्रीडमानः कौन्तेयः श्रीमान्वायुसुतो ययौ ॥ २९ ॥
अनेक लताजालोंको अपनी जांघके वेगसे तोडते हुए और खेलते हुए कुन्तीमें उत्पन्न वायुके पुत्र श्रीमान् भीम आगे चले ॥ २९ ॥

प्रियामनोरथं कर्तुमुद्यतश्चारुलोचनः ।
प्रांशुः कनकतालाभः सिंहसंहननो युवा ॥ ३० ॥
सुन्दर आंखोंवाले, अपनी प्रिया द्रौपदीके मनोरथको पूर्ण करनेके लिए तैय्यार, तेजस्वी, सोनेके समान कान्तिवाले, सिंहके समान पराक्रमी, युवा ॥ ३० ॥

मत्तवारणविक्रान्तो मत्तवारणवेगवान् ।
मत्तवारणताम्राक्षो मत्तवारणवारणः ॥ ३१ ॥
मतवाले हाथीके समान बलवान् , मतवाले हाथीके समान वेगवान् , मतवाले हाथीके समान लाल नेत्रवाले और अपने बलसे मतवाले हाथीको भी रोकनेवाले भीमसेन उस पहाडपर वेगसे चलने लगे ॥ ३१ ॥

प्रियपार्श्वोपविष्टाभिर्व्यावृत्ताभिर्विचेष्टितैः ।
यक्षगन्धर्वयोषाभिरदृश्याभिर्निरीक्षितः ॥ ३२ ॥
उस स्थानमें भीमसेनको अपने पतियोंके बगलोंमें एकाग्र चित्तसे बैठी हुई अदृश्य यक्ष और गन्धर्वोंकी स्त्रियोंने देखा ॥ ३२ ॥

नवावतारं रूपस्य विक्रीणन्निव पाण्डवः ।
चचार रमणीयेषु गन्धमादनसानुषु ॥ ३३ ॥
वह भीमसेन मानों रूपके नये अवतारको बिखेरते हुए अत्यन्त सुन्दर गंधमादन पर्वतके शिखरोंपर विचरने लगे ॥ ३३ ॥

संस्मरन्विविधान्क्लेशान्दुर्योधनकृतान्बहून् ।
द्रौपद्या वनवासिन्याः प्रियं कर्तुं समुद्यतः ॥ ३४ ॥
इस प्रकार दुर्योधनके दिये हुए विविध प्रकारके अनेक दुःखोंको स्मरण करते हुए, और वनमें रहनेवाली द्रौपदीके प्रियकार्यको करनेके लिए तैय्यार भीमसेन विहार करने लगे ॥ ३४ ॥

सोऽचिन्तयद्गते स्वर्गमर्जुने मयि चागते ।
पुष्पहेतोः कथं न्वार्यः करिष्यति युधिष्ठिरः ॥ ३५ ॥

उस समय उन्होंने सोचा— कि अर्जुनके स्वर्गको चले जाने और फूल लेनेके लिए मेरे इधर आ जानेपर महाराज युधिष्ठिर क्या करेंगे ? ॥ ३५ ॥

स्नेहान्नरवरो नूनमविश्वासाद्वनस्य च ।
नकुलं सहदेवं च न मोक्ष्यति युधिष्ठिरः ॥ ३६ ॥

निश्चयसे पुरुषोंमें श्रेष्ठ महाराज युधिष्ठिर प्रेम और वनमें अविश्वास होनेके कारण नकुल और सहदेवको न छोडेंगे ॥ ३६ ॥

कथं नु कुसुमावाप्तिः स्याच्छीघ्रमिति चिन्तयन् ।
प्रतस्थे नरशार्दूलः पक्षिराडिव वेगितः ॥ ३७ ॥

किस प्रकार यह फूल शीघ्र मिल सकेगा ? पुरुषसिंह भीमसेन ऐसा सोचकर गरुडके समान वेगसे चलने लगे ॥ ३७ ॥

कम्पयन्मेदिनीं पद्भ्यां निर्घात इव पर्वसु ।
त्रासयन्गजयूथानि वातरंहा वृकोदरः ॥ ३८ ॥

जिस प्रकार पर्वके दिनोंमें चलनेवाली आंधीसे सारा जंगल कांपता है, उसी प्रकार वायुकी गतिवाले वृकोदर भीम अपने कदमोंसे पृथ्वीको कंपाते हुए और हाथियोंके झुण्डोंको डराते हुए चले ॥ ३८ ॥

सिंहव्याघ्रगणांश्चैव मर्दमानो महाबलः ।
उन्मूलयन्महावृक्षान्पोथयंश्चोरसा बली ॥ ३९ ॥

महाबलशाली भीम सिंहों, व्याघ्रोंके समूहोंको मारते हुए तथा अपनी छातीसे अनेक बडेबडे वृक्षोंको तोडते और चीरते हुए ॥ ३९ ॥

लतावल्लीश्च वेगेन विकर्षन्पाण्डुनन्दनः ।
उपर्युपरि शैलाग्रमारुरुक्षुरिव द्विपः ।
विनर्दमानोऽतिभृशं सविद्युदिव तोयदः ॥ ४० ॥

वेगसे लता और वल्लिरियोंको खींचते हुए वे पाण्डुपुत्र भीम मतवाले हाथीके समान एकसे दूसरे और दूसरेसे तीसरे पर्वतों पर, जैसे बिजलीके सहित मेघ गरजता हो, वैसे ही गरजते हुए चलने लगे ॥ ४० ॥

तस्य शब्देन घोरेण धनुर्घोषेण चाभिभो ।
त्रस्तानि मृगयूथानि समन्ताद्विप्रदुद्रुवुः ॥ ४१ ॥

हे पराक्रमी जनमेजय ! उस भीमकी गर्जना और उसके धनुषकी भयंकर टंकारसे डरे हुए हिरणोंके झुण्ड चारों ओर भागने लगे ॥ ४१ ॥

अथापश्यन्महाबाहुर्गन्धमादनसानुषु ।
सुरम्यं कदलीषण्डं बहुयोजनविस्तृतम् ॥ ४२ ॥
तब महाबाहु भीमसेनने उस गन्धमादनके शिखरों पर एक रमणीय और बहुत योजन तक विस्तृत केलेके वनको देखा ॥ ४२ ॥

तमभ्यगच्छद्वेगेन क्षोभयिष्यन्महाबलः ।
महागज इवास्रावी प्रभञ्जन्विविधान्द्रुमान् ॥ ४३ ॥
महाबलवान् भीमसेन उस वनके जन्तुओंको डराते हुए तथा मद चुआनेवाले महागजके समान अनेक तरहके पेडोंको तोडते हुए उस वनमें घुसे ॥ ४३ ॥

उत्पाट्य कदलीस्कन्धान्बहुतालसमुच्छ्रयान् ।
चिक्षेप तरसा भीमः समन्ताद्बलिनां वरः ॥ ४४ ॥
बलवानोंमें श्रेष्ठ उस भीमने अपनी शक्तिसे ताड वृक्षके समान ऊंचे ऊंचे केलेके वृक्षोंको उखाड उखाड कर चारों ओर फेंक दिए ॥ ४४ ॥

ततः सत्त्वान्युपाक्रामन्बहूनि च महान्ति च ।
रुरुवारणसंघाश्च महिषाश्च जलाश्रयाः ॥ ४५ ॥
तदनन्तर हिरण, हाथी और भैंसे आदि बडे बडे जङ्गली जन्तु तालाबोंको छोड छोडकर उस वनसे निकल कर भागने लगे ॥ ४५ ॥

सिंहव्याघ्राश्च संक्रुद्धा भीमसेनमभिद्रवन् ।
व्यादितास्या महारौद्रा विनदन्तोऽतिभीषणाः ॥ ४६ ॥
तब इस भीमसे उत्तेजित होकर बहुत भयंकर तथा क्रुद्ध हुए हुए सिंह, बाघ आदि भयंकर शब्द करते हुए मुंह फाडकर भीमकी तरफ दौडे ॥ ४६ ॥

ततो वायुसुतः क्रोधात्स्वबाहुबलमाश्रितः ।
गजेनाघ्नन्गजं भीमः सिंहं सिंहेन चाभिभूः ।
तलप्रहारैरन्यांश्च व्यहनत्पाण्डवो बली ॥ ४७ ॥
तब वायुपुत्र भीम अपने बाहुबलका आश्रय लेकर एक हाथीसे दूसरे हाथी, एक शेरसे दूसरे शेरको मारने लगे और महाबली भीमने दूसरे प्राणियोंको तो थप्पडसे ही मार दिया ॥ ४७ ॥

ते हन्यमाना भीमेन सिंहव्याघ्रतरक्षवः ।
भयाद्विसस्रुपुः सर्वे शकृन्मूत्रं च सुस्रुवुः ॥ ४८ ॥
इस प्रकार भीमके द्वारा मारे जाते हुए वे शेर, बाघ और रीछ डरसे इधर उधर भागने लगे और टट्टी पेशाब करने लगे ॥ ४८ ॥

प्रविवेश ततः क्षिप्रं तानपास्य महाबलः ।
वनं पाण्डुसुतः श्रीमाञ्शब्देनापूरयन्दिशः ॥ ४९ ॥
इसके बाद उनको मारकर अपने गर्जनसे दिशाओंको गुंजाते हुए वे महाबली श्रीमान् पाण्डुपुत्र भीम शीघ्र ही उस वनमें घुस गए ॥ ४९ ॥

तेन शब्देन घोरेण भीमसेनरवेण च ।
वनान्तरगताः सर्वे वित्रेसुर्मृगपक्षिणः ॥ ५० ॥
उन सबके भयंकर कोलाहल और भीमसेनके घोर शब्दसे वनमें रहनेवाले हिरण और पक्षी व्याकुल हो गये ॥ ५० ॥

तं शब्दं सहसा श्रुत्वा मृगपक्षिसमीरितम् ।
जलार्द्रपक्षा विहगाः समुत्पेतुः सहस्रशः ॥ ५१ ॥
उस हिरण और पक्षियोंके शब्दको अचानक सुनकर जलमें रहनेवाले हजारों पक्षी भीगे पंखोंसे ही उडने लगे ॥ ५१ ॥

तानौदकान्पक्षिगणान्निरीक्ष्य भरतर्षभः ।
तानेवानुसरन्रम्यं ददर्श सुमहत्सरः ॥ ५२ ॥
भरतश्रेष्ठ भीम उन जलके पक्षियोंको देखकर उन्हींके पीछे चले और थोडी दूर जाकर एक सुन्दर और बडे तालावको उन्होंने देखा ॥ ५२ ॥

काञ्चनैः कदलीषण्डैर्मन्दमारुतकम्पितैः ।
वीज्यमानमिवाक्षोभ्यं तीरान्तरविसर्पिभिः ॥ ५३ ॥
उस तालावके चारों ओर सोनेके रङ्गवाले केलेके वृक्ष लगे हुए थे। वे जब वायुसे हिलते थे तब ऐसा जान पडता था, मानो ये सब इस तालावके पंखे हैं और इसकी सेवा करते हैं ॥५३॥

तत्सरोऽथावतीर्याशु प्रभूतकमलोत्पलम् ।
महागज इवोद्दामश्चिक्रीड बलवद्बली ।
विक्रीडय तस्मिन्सुचिरमुत्ततारामितद्युतिः ॥ ५४ ॥
महाबलवान् भीमसेन लाल तथा नीले कमलोंसे भरे उस तडागमें घुसकर उच्छृंखल और अत्यन्त मतवाले हाथीके समान क्रीडा करने लगे। महातेजस्वी भीम बहुत देरतक उस तालावमें क्रीडा करके बाहर आ गये ॥ ५४ ॥

ततोऽवगाह्य वेगेन तद्वनं बहुपादपम् ।
दध्मौ च शङ्खं स्वनवत्सर्वप्राणेन पाण्डवः ॥ ५५ ॥
फिर पाण्डुपुत्र भीमने वेगसे अनेक वृक्षोंसे भरे हुए उस वनमें घुसकर अपनी सारी शक्ति लगाकर ध्वनिवाले शंखको बजाया ॥ ५५ ॥

तस्य शङ्खस्य शब्देन भीमसेनरवेण च ।
बाहुशब्देन चोग्रेण नर्दन्तीव गिरेर्गुहाः ॥ ५६ ॥

उस शंख और भीमसेनके घोर शब्द तथा बाहुओंकी ध्वनिसे पर्वतकी गुफायें मानो गूंज उठीं ॥ ५६ ॥

तं वज्रनिष्पेषसममास्फोटितरवं भृशम् ।
श्रुत्वा शैलगुहासुप्तैः सिंहैर्मुक्तो महास्वनः ॥ ५७ ॥

आकाशको भी फाड देनेवाले उस वज्रके समान घोर शब्दको सुनकर पर्वतकी गुफाओंमें सोये हुए सिंह जाग उठे और वे भी दहाडने लगे ॥ ५७ ॥

सिंहनादभयत्रस्तैः कुंजरैरपि भारत ।
मुक्तो विरावः सुमहान्पर्वतो येन पूरितः ॥ ५८ ॥

हे जनमेजय ! सिंहोंके शब्दको सुनकर हाथी डरसे व्याकुल हो गये और वे भी चिंघाडने लगे । इन शब्दोंसे पर्वत गूंज उठा ॥ ५८ ॥

तं तु नादं ततः श्रुत्वा सुप्तो वानरपुङ्गवः ।
प्राजृम्भत महाकायो हनुमान्नाम वानरः ॥ ५९ ॥

हाथियोंके उस शब्दको सुनकर विशाल शरीरवाले सोये हुए हनुमान् नामक बन्दरोंमें श्रेष्ठ बन्दरने जंभाई ली ॥ ५९ ॥

कदलीषण्डमध्यस्थो निद्रावशगतस्तदा ।
जृम्भमाणः सुविपुलं शक्रध्वजमिवोच्छ्रितम् ।
आस्फोटयत लाङ्गूलमिन्द्राशनिसमस्वनम् ॥ ६० ॥

उन केलोंके बीचमें लेटकर निद्राके वशमें हुए हुए हनूमान्ने जंभाई लेते हुए इन्द्रकी ध्वजाके समान ऊंची तथा इन्द्रकी बिजलीके समान शब्दवाली अपनी पूंछको फटकारा ॥ ६० ॥

तस्य लाङ्गूलनिनदं पर्वतः स गुहामुखैः ।
उद्गारमिव गौर्नर्दमुत्ससर्ज समन्ततः ॥ ६१ ॥

उनकी पूंछके शब्दको अनेक गुहाओंवाले उस पर्वतने मानों चारों ओरसे फिर उगल दिया अर्थात् सारी गुफायें उस शब्दसे गूंज उठीं ॥ ६१ ॥

स लाङ्गूलरवस्तस्य मत्तवारणनिस्वनम् ।
अन्तर्धाय विचित्रेषु चचार गिरिसानुषु ॥ ६२ ॥

उस पूंछके शब्दसे मतवाले हाथियोंका शब्द मन्द हो गया । यह घोर शब्द समस्त वन और पर्वतोंमें फैल गया ॥ ६२ ॥

स भीमसेनस्तं श्रुत्वा संप्रहृष्टतनूरुहः ।
शब्दप्रभवमन्विच्छंश्चचार कदलीवनम् ॥ ६३ ॥

उसको सुनते ही भीमसेनके सब रोवें खडे हो गये और शब्द जहांसे आ रहा था, उस स्थानको ढूंढनेके लिए वे उस केलेके वनमें घूमने लगे ॥ ६३ ॥

कदलीवनमध्यस्थमथ पीने शिलातले ।
स ददर्श महाबाहुर्वानराधिपतिं स्थितम् ॥ ६४ ॥

तदनन्तर महाबाहु भीमसेनने उस केलेके वनके बीचमें एक भारी शिलापर सोते हुए वानरराज हनुमान्को देखा ॥ ६४ ॥

विद्युत्संघातदुष्प्रेक्ष्यं विद्युत्संघातपिङ्गलम् ।
विद्युत्संघातसदृशं विद्युत्संघातचञ्चलम् ॥ ६५ ॥

वे बिजलीके समूहके समान कठिनतासे देखे जा सकने योग्य, बिजलीके समूहकी तरह आभावाले, बिजलीके समूहकी तरह तेजस्वी तथा बिजलीके समूहकी तरह चंचल थे ॥६५॥

बाहुस्वस्तिकविन्यस्तपीनह्रस्वशिरोधरम् ।
स्कन्धभूयिष्ठकायत्वात्तनुमध्यकटीतटम् ॥ ६६ ॥

वे अपने बाहुओंके मूलपर मोटेपर छोटे सिरको धरकर लेटे हुए थे । उनके कंधे और शरीर मोटे होनेके कारण उनके शरीरका बीचका भाग और कमर पतली थी ॥ ६६ ॥

किञ्चिच्चाभुग्नशीर्षेण दीर्घरोमाञ्चितेन च ।
लाङ्गूलेनोर्ध्वगतिना ध्वजेनेव विराजितम् ॥ ६७ ॥

बडे बडे रोमोंसे भरी हुई पूंछ, जो आगे जरा मुडी हुई थी, ऊपरकी ओर उठकर ध्वजाके समान फहराती जान पडती थी ॥ ६७ ॥

रक्तोष्ठं ताम्रजिह्वास्यं रक्तकर्णं जलद्भ्रुवम् ।
वदनं वृत्तदंष्ट्राग्रं रश्मिवन्तमिवोडुपम् ॥ ६८ ॥

उनके ओंठ लाल तथा जिह्वा और मुखका रङ्ग लाल था, कान भी लाल थे, भौंह चलायमान, दांत और दाढ निकले हुए थे। उनका मुख किरणोंसे युक्त चन्द्रमाके समान विराजमान् था ॥ ६८ ॥

वदनाभ्यन्तरगतैः शुक्लभासैरलंकृतम् ।
केसरोत्करसंमिश्रमशोकानामिवोत्करम् ॥ ६९ ॥

लाल मुखके अन्दर दांतोंकी सफेद आभा ऐसी लग रही थी, जैसे कि मानों केसरकी क्यारीमें अशोकके फूलोंका गुच्छा रख दिया हो ॥ ६९ ॥

×

हिरण्मयीनां मध्यस्थं कदलीनां महाद्युतिम् ।
दीप्यमानं स्ववपुषा अर्चिष्मन्तमिवानलम् ॥ ७० ॥

उस सोनेके रंगवाले केलेके वृक्षोंके बीच महातेजस्वी हनुमान् अपने तेजसे प्रकाशमान होते हुए ज्वालाके सहित अग्निके समान विराजमान थे ॥ ७० ॥

निरीक्षन्तमवित्रस्तं लोचनैर्मधुपिङ्गलैः ।
तं वानरवरं वीरमतिकायं महाबलम् ॥ ७१ ॥
अथोपसृत्य तरसा भीमो भीमपराक्रमः ।
सिंहनादं समकरोद्बोधयिष्यन्कपिं तदा ॥ ७२ ॥

पिंगल वर्णवाले नेत्रोंसे देखनेवाले, निर्भय विशाल शरीरवाले, महाबली, वीर वानरश्रेष्ठके पास भयंकर पराक्रमी महाबलवान् भीमसेनने पहुंचकर उस वानरको जगाते हुए सिंहनाद किया ॥ ७१-७२ ॥

तेन शब्देन भीमस्य वित्रेसुर्मृगपक्षिणः ।
हनूमांश्च महासत्त्व ईषदुन्मील्य लोचने ।
अवैक्षदथ सावज्ञं लोचनैर्मधुपिङ्गलैः ॥ ७३ ॥

भीमके उस शब्दको सुनकर और पक्षी भयसे व्याकुल हो गये । पर महाबलशाली हनुमान्ने नेत्रोंको कुछ खोलकर भीमकी अवज्ञा करते हुए उन्हें अपने पिंगल नेत्रोंसे देखा ॥ ७३ ॥

स्मितेनाभाष्य कौन्तेयं वानरो नरमब्रवीत् ।
किमर्थं सरुजस्तेऽहं सुखसुप्तः प्रबोधितः ॥ ७४ ॥

वह वानर मुस्कराते हुए कुन्तीपुत्र भीमसे बोला— मैं रोगसे पीडित होकर सुखसे सो रहा था, तुमने मुझे क्यों जगा दिया ? ॥ ७४ ॥

ननु नाम त्वया कार्या दया भूतेषु जानता ।
वयं धर्मं न जानीमस्तिर्यग्योनिं समाश्रिताः ॥ ७५ ॥

तुम ज्ञानवान् हो; इसलिये तुम्हें जन्तुओंपर दया करनी चाहिए । पर तिर्यग्योनिमें उत्पन्न हुए हुए हम प्राणीधर्मको नहीं जानते ॥ ७५ ॥

मनुष्या बुद्धिसम्पन्ना दयां कुर्वन्ति जन्तुषु ।
क्रूरेषु कर्मसु कथं देहवाक्चित्तदूषिषु ।
धर्मघातिषु सज्जन्ते बुद्धिमन्तो भवद्विधाः ॥ ७६ ॥

परन्तु मनुष्य बुद्धिमान् होते हैं, इसीलिये वे जन्तुओंपर दया करते हैं । तुम्हारे समान बुद्धिमान् मन-वचन और कर्मसे निन्दित तथा धर्मको नाश करनेवाले क्रूर कामोंमें कैसे प्रवृत्त हो सकते हैं ? ॥ ७६ ॥

न त्वं धर्मं विजानासि वृद्धा नोपासितास्त्वया ।
अल्पबुद्धितया वन्यानुत्सादयसि यन्मृगान् ॥ ७७ ॥

जान पडता है, कि तुम धर्मको नहीं जानते हो । तुमने पण्डितोंकी सेवा नहीं की है । तुम मूर्ख और मन्दबुद्धि हो, इसी कारण तुम वनके जन्तुओंको दुःख देते फिरते हो ॥ ७७ ॥

ब्रूहि कस्त्वं किमर्थं वा वनं त्वमिदमागतः ।
वर्जितं मानुषैर्भावैस्तथैव पुरुषैरपि ॥ ७८ ॥

कहो, तुम कौन हो ? और किसलिये इस मानवके भावोंसे तथा मनुष्योंसे रहित घोर वनमें आये हो ॥ ७८ ॥

अतः परमगम्योऽयं पर्वतः सुदुरारुहः ।
विना सिद्धगतिं वीर गतिरत्र न विद्यते ॥ ७९ ॥

हे वीर ! यहांसे आगे यह पर्वत जानेके योग्य नहीं है । यह स्वर्गका मार्ग है, इसमें कोई पुरुष विना सिद्धगतिके नहीं जा सकता ॥ ७९ ॥

कारुण्यात्सौहृदाच्चैव वारये त्वां महाबल ।
नातः परं त्वया शक्यं गन्तुमाश्वसिहि प्रभो ॥ ८० ॥

हे बलशालिन् ! मैं दया और प्रेमके वशीभूत होकर ही तुम्हें रोक रहा हूं । तुम मेरे वचनको सुनो और शान्त हो जाओ । तुम यहांसे आगे किसी भी प्रकार नहीं जा सकते ॥ ८० ॥

इमान्यमृतकल्पानि मूलानि च फलानि च ।
भक्षयित्वा निवर्तस्व ग्राह्यं यदि वचो मम ॥ ८१ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि षट्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४६ ॥ ४९२० ॥

यदि तुम मेरी बात मानो तो यह अमृतके समान फल और मूल खाकर लौट जाओ ॥ ८१ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ छियालिसवां अध्याय समाप्त ॥ १४६ ॥ ४९२० ॥

: १४७ :

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्य वानरेन्द्रस्य धीमतः ।
भीमसेनस्तदा वीरः प्रोवाचामित्रकर्शनः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— तब बुद्धिमान् वानरराज हनुमानके यह वचन सुनकर शत्रुनाशक महावीर भीमसेन कहने लगे ॥ १ ॥

को भवान्किंनिमित्तं वा वानरं वपुराश्रितः ।
ब्राह्मणानन्तरो वर्णः क्षत्रियस्त्वानुपृच्छति ॥ २ ॥

तुम कौन हो और किसलिये बन्दरका वेष बनाये यहां बैठे हो? ब्राह्मणोंके बादका वर्णवाला एक क्षत्रिय तुमसे पूछ रहा है ॥ २ ॥

कौरवः सोमवंशीयः कुन्त्या गर्भेण धारितः ।
पाण्डवो वायुतनयो भीमसेन इति श्रुतः ॥ ३ ॥

मैं चन्द्रवंशी कौरवकुलमें कुन्तीके गर्भमें वायुके वीर्यसे उत्पन्न और राजा पाण्डुका पुत्र हूं तथा भीमसेन नामसे प्रसिद्ध हूँ ॥ ३ ॥

स वाक्यं भीमसेनस्य स्मितेन प्रतिगृह्य तत् ।
हनूमान्वायुतनयो वायुपुत्रमभाषत ॥ ४ ॥

भीमके वचन हंसकर सुनकर वायुके पुत्र हनुमान् वायुके दूसरे पुत्र भीमसे कहने लगे ॥ ४ ॥

वानरोऽहं न ते मार्गं प्रदास्यामि यथेप्सितम् ।
साधु गच्छ निवर्तस्व मा त्वं प्राप्स्यसि वैशसम् ॥ ५ ॥

मैं बन्दर हूँ, तुमको इच्छानुसार मार्ग नहीं दूंगा। अच्छा हो तुम यहींसे लौट जाओ, नहीं तो तुम्हारे प्राण संकटमें पड जाएंगे ॥ ५ ॥

भीम उवाच

वैशसं वास्तु यद्वान्यन्न त्वा पृच्छामि वानर ।
प्रयच्छोत्तिष्ठ मार्गं मे मा त्वं प्राप्स्यसि वैशसम् ॥ ६ ॥

भीमसेन बोले– हे वानर! चाहे प्राण संकटमें पडें या और भी जो चाहे कुछ हो। वह मैं तुमसे कुछ नहीं पूछता। तुम उठ जाओ और मुझे मार्ग दो और मुझसे दुःख न पाओ ॥ ६ ॥

हनूमानुवाच

नास्ति शक्तिर्ममोत्थातुं व्याधिना क्लेशितो ह्यहम् ।
यद्यवश्यं प्रयातव्यं लङ्घयित्वा प्रयाहि माम् ॥ ७ ॥

हनूमान् बोले– मैं रोगसे अत्यन्त पीडित हूँ, इसलिये उठनेकी भी शक्ति मुझमें नहीं है, पर यदि तुमको अवश्य जाना है तो मुझे लांघकर चले जाओ ॥ ७ ॥

भीम उवाच

निर्गुणः परमात्मेति देहं ते व्याप्य तिष्ठति ।
तमहं ज्ञानविज्ञेयं नावमन्ये न लङ्घये ॥ ८ ॥

भीमसेन बोले– निर्गुण सत ज्ञानसे जानने योग्य परमेश्वर तुम्हारे शरीरमें वास करते हैं, मैं उनका निरादर करके तुमको लांघ नहीं सकता ॥ ८ ॥

यद्यागमैर्न विन्देयं तमहं भूतभावनम् ।
क्रमेयं त्वां गिरिं चेमं हनूमानिव सागरम् ॥ ९ ॥

यदि मैं शब्दप्रमाणोंसे सब प्राणियोंमें रहनेवाले उस परमेश्वरको न जानता होता तो तुम्हें और इस पर्वतको ऐसे लांघ जाता जैसे हनूमान्‌ने समुद्रको लांघा था ॥ ९ ॥

हनूमानुवाच

क एष हनूमान्नाम सागरो येन लङ्घितः ।
पृच्छामि त्वां कुरुश्रेष्ठ कथ्यतां यदि शक्यते ॥ १० ॥

हनूमान् बोले— हे कुरुश्रेष्ठ ! मैं तुमसे पूछता हूँ कि जिसने समुद्रको लांघा था, वह हनूमान् कौन हैं ? यदि तुम कह सकते हो तो कहो ॥ १० ॥

भीम उवाच

भ्राता मम गुणश्लाघ्यो बुद्धिसत्त्वबलान्वितः ।
रामायणेऽतिविख्यातः शूरो वानरपुङ्गवः ॥ ११ ॥

भीम बोले— रामायणमें अत्यन्त विख्यात शूरवीर वानरोंके राजा बुद्धि और साहससे भरे हुए प्रशंसनीय गुणोंसे युक्त हनूमान् मेरे भाई हैं ॥ ११ ॥

रामपत्नीकृते येन शतयोजनमायतः ।
सागरः प्लवगेन्द्रेण क्रमेणैकेन लङ्घितः ॥ १२ ॥

जिस वानरराजने रामकी स्त्री सीताके निमित्त चारसौ कोसके चौडे समुद्रको एक छलाङ्गमें लांघा था ॥ १२ ॥

स मे भ्राता महावीर्यस्तुल्योऽहं तस्य तेजसा ।
बले पराक्रमे युद्धे शक्तोऽहं तव निग्रहे ॥ १३ ॥

वे महातेजस्वी वानरराज मेरे भाई हैं; मैं भी तेज, पराक्रम और बलमें उन्हींके समान हूँ, इसीलिये तुमको युद्धमें जीतकर पकड सकता हूँ ॥ १३ ॥

उत्तिष्ठ देहि मे मार्गं पश्य वा मेऽद्य पौरुषम् ।
मच्छासनमकुर्वाणं मा त्वा नेष्ये यमक्षयम् ॥ १४ ॥

तुम मेरी आज्ञासे हट जाओ, मुझे मार्ग दो या फिर आज मेरा पराक्रम देखो । यदि तुम मेरी आज्ञाको न मानोगे तो मैं तुमको अभी यमके घर पहुंचा दूंगा ॥ १४ ॥

वैशम्पायन उवाच

विज्ञाय तं बलोन्मत्तं बाहुवीर्येण गर्वितम् ।
हृदयेनावहस्यैनं हनूमान्वाक्यमब्रवीत् ॥ १५ ॥

वैशम्पायन बोले— भीमसेनको बलके कारण उन्मत्त और वीर्यके कारण अत्यन्त अभिमानी देखकर मनमें हंसकर हनूमान् यह वाक्य कहने लगे ॥ १५ ॥

प्रसीद नास्ति मे शक्तिरुत्थातुं जरयानघ ।
ममानुकम्पया त्वेतत्पुच्छमुत्सार्य गम्यताम् ॥ १६ ॥

हे पापरहित! तुम प्रसन्न हो जाओ, रोगके कारण मैं उठनेमें समर्थ नहीं हूँ। इसलिये मेरे ऊपर कृपा करके मेरी पूंछ हटाकर तुम चले जाओ ॥ १६ ॥

सावज्ञमथ वामेन स्मयञ्जग्राह पाणिना ।
न चाशकच्चालयितुं भीमः पुच्छं महाकपेः ॥ १७ ॥

तब भीम तिरस्कारपूर्वक महाकपि हनूमान्‌की पूंछको हंसकर अभिमानके सहित बायें हाथसे उठाने लगे, परन्तु उसे हिला भी न सके ॥ १७ ॥

उच्चिक्षेप पुनर्दोर्भ्यामिन्द्रायुधमिवोच्छ्रितम् ।
नोद्धर्तुमशकद्भीमो दोर्भ्यामपि महाबलः ॥ १८ ॥

तब महाबलवान् भीमसेनने दोनों हाथोंसे इन्द्रधनुषके समान उन्नत पूंछको उठाना चाहा, परन्तु महाबली भीम दोनों हाथोंसे भी न उठा सके ॥ १८ ॥

उत्क्षिप्तभ्रूर्विवृत्ताक्षः संहतभ्रुकुटीमुखः ।
स्विन्नगात्रोऽभवद्भीमो न चोद्धर्तुं शशाक ह ॥ १९ ॥

बहुत बलका उपयोग करनेसे भीमसेनकी आंखें और मुंह फैल गये। भौंहें और आंखें फटने लगीं। भीम पसीनेसे नहाये हुए शरीरवाले हो गये, परन्तु हनुमान्‌की पूंछ न उठा सके ॥ १९ ॥

यत्नवानपि तु श्रीमाँल्लाङ्गूलोद्धरणोद्धुतः ।
कपेः पार्श्वगतो भीमस्तस्थौ व्रीडादधोमुखः ॥ २० ॥

श्रीमान् भीमसेनने बहुत यत्न किया तो भी पूंछ न उठा सके। तब लज्जासे मुख नीचे करके हनुमानके पास खडे हो गये ॥ २० ॥

प्रणिपत्य च कौन्तेयः प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् ।
प्रसीद कपिशार्दूल दुरुक्तं क्षम्यतां मम ॥ २१ ॥

तब कुन्तीपुत्र भीम हाथ जोडकर प्रणाम करके कहने लगे– कि हे कपिशार्दूल! आप प्रसन्न होइये, मैंने भूलसे कुछ बुरा भला कह दिया हो तो उसे क्षमा कीजिये ॥ २१ ॥

सिद्धो वा यदि वा देवो गंधर्वो वाथ गुह्यकः ।
पृष्टः सन्कामया ब्रूहि कस्त्वं वानररूपधृक् ॥ २२ ॥

मैं पूछ रहा हूँ आप कहिये आप सिद्ध हैं? या देवता हैं? अथवा गन्धर्व हैं? यद्वा गुह्यक हैं? वानरका रूप धारण किए हुए आप कौन हैं ॥ २२ ॥

हनूमानुवाच

यत्ते मम परिज्ञाने कौतूहलमरिन्दम ।
तत्सर्वमखिलेन त्वं शृणु पाण्डवनन्दन ॥ २३ ॥

हनूमान् बोले– हे शत्रुनाशन ! हे पाण्डवनन्दन मुझे जाननेकी जो तुम इच्छा करते हो, उसे मैं सब कहता हूँ तुम सुनो ॥ २३ ॥

अहं केसरिणः क्षेत्रे वायुना जगदायुषा ।
जातः कमलपत्राक्ष हनूमान्नाम वानरः ॥ २४ ॥

हे कमलनयन ! मैं केसरी वानरकी स्त्रीके गर्भसे जगत्के प्राणरूप वायुके वीर्यसे उत्पन्न हुए हनूमान् नामका वानर हूँ ॥ २४ ॥

सूर्यपुत्रं च सुग्रीवं शक्रपुत्रं च वालिनम् ।
सर्ववानरराजानौ सर्ववानरयूथपाः ॥ २५ ॥
उपतस्थुर्महावीर्या मम चामित्रकर्शन ।
सुग्रीवेणाभवत्प्रीतिरनिलस्याग्निना यथा ॥ २६ ॥

सूर्यके पुत्र सुग्रीव और इन्द्रके पुत्र वालि थे। वे दोनों सब वानरोंके राजा थे। सभी वानरोंके समूहके स्वामी इन दोनोंकी सेवा करते थे। हे शत्रुनाशन ! ये सब महापराक्रमी थे। मेरा और सुग्रीवका ऐसा प्रेम था जैसा अग्नि और वायुका है ॥ २५-२६ ॥

निकृतः स ततो भ्रात्रा कस्मिंश्चित्कारणान्तरे ।
ऋष्यमूके मया सार्धं सुग्रीवो न्यवसच्चिरम् ॥ २७ ॥

किसी कारणसे अपने भाई वालि द्वारा वे सुग्रीव राज्यसे निकाल दिए गए। तब सुग्रीवने बहुत दिनतक मेरे सहित ऋष्यमूक पर्वत पर निवास किया ॥ २७ ॥

अथ दाशरथिर्वीरो रामो नाम महाबलः ।
विष्णुर्मानुषरूपेण चचार वसुधामिमाम् ॥ २८ ॥

उसी समय विष्णु मनुष्य रूपमें दशरथके पुत्र महावीर महापराक्रमी रामचन्द्रके रूपमें पृथ्वी-पर घूम रहे थे ॥ २८ ॥

स पितुः प्रियमन्विच्छन्सहभार्यः सहानुजः ।
सधनुर्धन्विनां श्रेष्ठो दण्डकारण्यमाश्रितः ॥ २९ ॥

धनुषधारियोंमें श्रेष्ठ राम अपने पिताका प्रिय काम करनेकी इच्छासे स्त्री, भाई और धनुषके सहित दण्डकारण्यमें रहते थे ॥ २९ ॥

तस्य भार्यां जनस्थानाद्रावणेन हृता बलात्।
वञ्चयित्वा महाबुद्धिं मृगरूपेण राघवम् ॥ ३० ॥

जनस्थानसे उनकी स्त्री बलवान् रावण द्वारा हिरणका रूप बना कर पुरुषसिंह रामको ठग करके हर ली गई ॥ ३० ॥

हृतदारः सह भ्रात्रा पत्नीं मार्गन्स राघवः।
दृष्टवाञ्शैलशिखरे सुग्रीवं वानरर्षभम् ॥ ३१ ॥

जब रामकी स्त्री चुराई गई, तब उन्होंने अपने छोटे भाईके साथ पत्नीको ढूंढते हुए एक शिखरपर बैठे हुए वानरसिंह सुग्रीवको देखा ॥ ३१ ॥

तेन तस्याभवत्सख्यं राघवस्य महात्मनः।
स हत्वा वालिनं राज्ये सुग्रीवं प्रत्यपादयत्।
स हरीन्प्रेषयामास सीतायाः परिमार्गणे ॥ ३२ ॥

तदनन्तर महात्मा रघुवंशी राम और सुग्रीवकी मित्रता हो गई। उन्होंने वालिको मारकर राज्यपर सुग्रीवको बैठा दिया। सुग्रीवने राजा होकर वानरोंको सीताको ढूंढनेके लिए भेजा ॥ ३२ ॥

ततो वानरकोटीभिर्यां वयं प्रस्थिता दिशम्।
तत्र प्रवृत्तिः सीताया गृध्रेण प्रतिपादिता ॥ ३३ ॥

तब करोडों वानरोंके साथ हम जिस दिशामें गए, वहां एक गिद्धसे सीताके बारेमें मालूम हुआ ॥ ३३ ॥

ततोऽहं कार्यसिद्ध्यर्थं रामस्याक्लिष्टकर्मणः।
शतयोजनविस्तीर्णमर्णवं सहसाप्लुतः। ॥ ३४ ॥

तब मैं उत्तम कार्य करनेवाले रामचन्द्रके कार्यको सिद्ध करनेके लिए सौ योजन चौडे समुद्रको एकदम लांघ गया ॥ ३४ ॥

दृष्टा सा च मया देवी रावणस्य निवेशने।
प्रत्यागतश्चापि पुनर्नाम तत्र प्रकाश्य वै ॥ ३५ ॥

फिर मैंने रावणके घरमें उस देवीको देखा और वहां रामका नाम सुनाकर मैं लौट आया ॥ ३५ ॥

ततो रामेण वीरेण हत्वा तान्सर्वराक्षसान्।
पुनः प्रत्याहृता भार्या नष्टा वेदश्रुतिर्यथा ॥ ३६ ॥

फिर वीर रामने उन सब राक्षसोंका नाशकर नष्ट हुई वेदकी श्रुतिके समान अपनी स्त्रीको प्राप्त किया ॥ ३६ ॥

ततः प्रतिष्ठिते रामे वरोऽयं याचितो मया ।
यावद्रामकथा वीर भवेल्लोकेषु शत्रुहन् ।
तावज्जीवेयमित्येवं तथास्त्विति च सोऽब्रवीत् ॥ ३७ ॥

जब वीर राम राज्य पर बैठे तब मैंने वर मांगा— कि हे शत्रुनाशक राम! जब तक आपकी यह कथा पृथ्वीमें रहे तक तब मैं भी जीता रहूं। तब उन्होंने कहा— कि ऐसा ही हो ॥३७॥

दश वर्षसहस्राणि दश वर्षशतानि च ।
राज्यं कारितवान्रामस्ततस्तु त्रिदिवं गतः ॥ ३८ ॥

राम दस हजार वर्ष तथा दस सौ वर्ष अर्थात् ग्यारह हजार वर्षों तक राज्य करके स्वर्गको चले गये ॥ ३८ ॥

तदिहाप्सरसस्तात गन्धर्वाश्च सदानघ ।
तस्य वीरस्य चरितं गायन्तो रमयन्ति माम् ॥ ३९ ॥

हे पापरहित तात! तभीसे अप्सरायें और गन्धर्व उन वीर रामके चरित्रको गा गाकर मुझे प्रसन्न किया करते हैं ॥ ३९ ॥

अयं च मार्गो मर्त्यानामगम्यः कुरुनन्दन ।
ततोऽहं रुद्धवान्मार्गं तवेमं देवसेवितम् ।
धर्षयेद्वा शपेद्वापि मा कश्चिदिति भारत ॥ ४० ॥

हे कुरुनन्दन! यह मार्ग मनुष्योंके लिए अगम्य है, इसीलिये देवोंके द्वारा ही जा सकने योग्य तुम्हारे इस मार्गको मैंने रोक दिया था; ताकि, हे भारत! तुम्हें कोई कष्ट या शाप न दे ॥ ४० ॥

दिव्यो देवपथो ह्येष नात्र गच्छन्ति मानुषाः ।
यदर्थमागतश्चासि तत्सरोऽभ्यर्णं एव हि ॥ ४१ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि सप्तचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४७ ॥ ४९६१ ॥

यह देवोंका मार्ग है, इसमें कोई मनुष्य नहीं जा सकता। तुम जिसलिये आये हो वह तालाब पास ही है ॥ ४१ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ सैंतालिसवां अध्याय समाप्त ॥ १४७ ॥ ४९६१ ॥

४

: १४८ :

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तो महाबाहुर्भीमसेनः प्रतापवान्।
प्रणिपत्य ततः प्रीत्या भ्रातरं हृष्टमानसः।
उवाच श्लक्ष्णया वाचा हनूमन्तं कपीश्वरम् ॥ १ ॥
मया धन्यतरो नास्ति यदार्यं दृष्टवानहम्।
अनुग्रहो मे सुमहांस्तृप्तिश्च तव दर्शनात् ॥ २ ॥

वैशम्पायन बोले– प्रतापवान् महाबाहु भीमसेन हनूमान्‌के वचन सुनकर प्रसन्नचित्त होकर प्रेमसे अपने भाईको प्रणाम करके मीठे और स्नेहमय वचनसे वानरराज हनुमान्‌से ऐसा कहने लगे– कि जगत्‌में मेरे समान धन्य पुरुष और कोई नहीं है, क्योंकि मैंने आपका दर्शन किया, आपने जो मुझे दर्शन दिया, वह बहुत बडी कृपा आपने मुझपर की है। आपके दर्शनसे मुझे भी बडी तृप्ति मिली है ॥ १-२ ॥

एवं तु कृतमिच्छामि त्वयाद्यार्य प्रियं मम।
यत्ते तदासीत्प्लवतः सागरं मकरालयम्।
रूपमप्रतिमं वीर तदिच्छामि निरीक्षितुम् ॥ ३ ॥

हे वीर ! मैं एक इच्छा और रखता हूँ, जिसे आप ही पूराकर सकते हैं। आपने जिस समय जलजन्तुओंसे भरे हुए समुद्रको लांघा था, उस समय जो अनुपम रूप धारण किया था, वही मैं देखना चाहता हूँ ॥ ३ ॥

एवं तुष्टो भविष्यामि श्रद्धास्यामि च ते वचः।
एवमुक्तः स तेजस्वी प्रहस्य हरिरब्रवीत् ॥ ४ ॥

उसके देखनेसे मैं बहुत प्रसन्न होऊंगा और आपके वचनपर विश्वास भी कर सकूंगा। भीमसेनके वचन सुनकर तेजस्वी हनूमान हँसकर कहने लगे ॥ ४ ॥

न तच्छक्यं त्वया द्रष्टुं रूपं नान्येन केनचित्।
कालावस्था तदा ह्यन्या वर्तते सा न सांप्रतम् ॥ ५ ॥

उस रूपको देखनेमें तुम अथवा और कोई पुरुष समर्थ नहीं है, क्योंकि वह समय और वह अवस्था दूसरी थी। वह सब अब नहीं है ॥ ५ ॥

अन्यः कृतयुगे कालस्त्रेतायां द्वापरेऽपरः।
अयं प्रध्वंसनः कालो नाद्य तद्रूपमस्ति मे ॥ ६ ॥

कृतयुगमें कालकी अवस्था कुछ और होती है, त्रेता तथा द्वापरमें कुछ और होती है, यह समय नाश होनेका है, अतः अब मेरा रूप वैसा नहीं है ॥ ६ ॥

भूमिर्नद्यो नगाः शैलाः सिद्धा देवा महर्षयः ।
कालं समनुवर्तन्ते यथा भावा युगे युगे ।
बलवर्ष्मप्रभावा हि प्रहीयन्त्युद्भवन्ति च ॥ ७ ॥

पृथ्वी, नदी, वृक्ष, पर्वत, सिद्ध, देवता और ऋषि सब युग युगमें जैसे जैसे भाव होते हैं, उसीके अनुसार बर्त्ताव करते हैं। समयके अनुसार ही बल, शरीर और प्रभाव नष्ट होते और उत्पन्न होते रहते हैं ॥ ७ ॥

तदलं तव तद्रूपं द्रष्टुं कुरुकुलोद्वह ।
युगं समनुवर्तामि कालो हि दुरतिक्रमः ॥ ८ ॥

हे कुरुनन्दन ! उस बल और शरीरको धारण करके अब मैं नहीं रहता । इस युगके अनुसार बर्त्ताव करता हूँ, क्योंकि काल बडा कठिन है, अतः तुम उस रूपको देखनेकी इच्छा मत करो ॥ ८ ॥

भीम उवाच

युगसंख्यां समाचक्ष्व आचारं च युगे युगे ।
धर्मकामार्थभावांश्च वर्ष्म वीर्यं भवाभवौ ॥ ९ ॥

भीम बोले– हे वीर ! आप मुझसे युगोंकी संख्या और प्रत्येक युगके धर्म, अर्थ और कामके भावोंका तथा उस समयके पुरुषोंका वीर्य, कार्य उत्पत्ति, विनाश और सुख-दुःखोंका वर्णन कीजिए ॥ ९ ॥

हनूमानुवाच

कृतं नाम युगं तात यत्र धर्मः सनातनः ।
कृतमेव न कर्तव्यं तस्मिन्काले युगोत्तमे ॥ १० ॥

हनूमान् बोले– हे तात ! जिस श्रेष्ठ युगमें लोग सनातन धर्मानुसार बर्त्ताव करते हैं और जिस युगमें सब कुछ किया हुआ ही होता है, आगे कुछ करना शेष नहीं रहता, वह कृतयुग कहलाता है ॥ १० ॥

न तत्र धर्माः सीदन्ति न क्षीयन्ते च वै प्रजाः ।
ततः कृतयुगं नाम कालेन गुणतां गतम् ॥ ११ ॥

उस युगमें धार्मिक पुरुष दुःखी नहीं होते और प्रजायें क्षीण नहीं होती, इस गुणके कारण ही उस कालका नाम कृतयुग है ॥ ११ ॥

देवदानवगन्धर्वयक्षराक्षसपन्नगाः।
नासन्कृतयुगे तात तदा न क्रयविक्रयाः ॥ १२ ॥
उस युगमें देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और सर्प आदि कुछ भी नहीं रहते, अर्थात् उस समय किसी प्रकारका भेदभाव नहीं होता। हे तात! उस सत्ययुगमें बेचना और खरीदना भी नहीं होता ॥ १२ ॥

न सामयजुऋग्वर्णाः क्रिया नासीच्च मानवी।
अभिध्याय फलं तत्र धर्मः संन्यास एव च ॥ १३ ॥
न ऋक्, यजु और सामवेदोंकी वर्ण क्रिया है, न पुरुषोंकी कोई क्रिया होती है, केवल संकल्प मात्रहीसे फल प्राप्त हो जाते हैं। शस्य फलादिके लिए मनुष्यसाध्य कर्षणादिकी अपेक्षा नहीं करनी होती। संन्यास ही धर्म होता है ॥ १३ ॥

न तस्मिन्युगसंसर्गे व्याधयो नेन्द्रियक्षयः।
नासूया नापि रुदितं न दर्पो नापि पैशुनम् ॥ १४ ॥
उस सतयुगमें न कहीं रोग होता है, न इन्द्रियोंके बलकी हानि होती है, न लोगोंमें परस्पर ईर्ष्या ही हो है। न कोई कहीं रोता है, न किसीको अभिमान होता है, न कोई किसी दूसरे का दोष देखता है ॥ १४ ॥

न विग्रहः कुतस्तन्द्री न द्वेषो नापि वैकृतम्।
न भयं न च सन्तापो न चेर्ष्या न च मत्सरः ॥ १५ ॥
न कोई किसीसे लडता है, न किसीसे लडाई झगडा होता है, न कोई किसीसे वैर करता है, न कोई आलसी और न किसीमें किसी तरहका विकार होता है। उस समय न भय, न दुःख, न ईर्ष्या और न डाह होता है ॥ १५ ॥

ततः परमकं ब्रह्म या गतिर्योगिनां परा।
आत्मा च सर्वभूतानां शुक्लो नारायणस्तदा ॥ १६ ॥
इसीसे योगीश्वर परम ज्ञानको प्राप्त करके मोक्षको पाते हैं। उस समय सब जगत्की आत्मा नारायण शुक्ल भास्वर रंगके होते हैं ॥ १६ ॥

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्च कृतलक्षणाः।
कृते युगे समभवन्स्वकर्मनिरताः प्रजाः ॥ १७ ॥
उस सतयुगमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अपने अपने वर्णोचित लक्षणसे संयुक्त होते है। सब लोग अपने अपने काममें रत रहते हैं ॥ १७ ॥

समाश्रमं समाचारं समज्ञानमतीबलम् ।
तदा हि समकर्माणो वर्णा धर्मानवाप्नुवन् ॥ १८ ॥

सब लोग समान आश्रम, समान आचार, समान ज्ञान, समबल, समान कर्म और समान धर्मवाले होते हैं ॥ १८ ॥

एकवेदसमायुक्ता एकमन्त्रविधिक्रियाः ।
पृथग्धर्मास्त्वेकवेदा धर्ममेकमनुव्रताः ॥ १९ ॥

सब लोग एकही वेदका स्वाध्याय करते हैं, सब लोगोंका मंत्र, विधि और क्रिया एक ही होती है । अलग अलग धर्म होनेपर भी सब लोग एक ही वेदके आश्रयसे एक ही धर्मका आचरण करते हैं ॥ १९ ॥

चतुराश्रम्ययुक्तेन कर्मणा कालयोगिना ।
अकामफलसंयोगात्प्राप्नुवन्ति परां गतिम् ॥ २० ॥

चारों आश्रमोंके उचित कर्म करके और समयके अनुसार धर्म करके कर्मफलके संयोगसे रहित होकर सब लोग मोक्षको प्राप्त करते हैं ॥ २० ॥

आत्मयोगसमायुक्तो धर्मोऽयं कृतलक्षणः ।
कृते युगे चतुष्पादश्चातुर्वर्ण्यस्य शाश्वतः ॥ २१ ॥

यह धर्म आत्मयोगसे युक्त और उत्तम लक्षणवाला है । सतयुगमें चारों वर्णोंका सनातन धर्म चारों चरणोंसे पृथ्वीपर अवस्थित रहता है ॥ २१ ॥

एतत्कृतयुगं नाम त्रैगुण्यपरिवर्जितम् ।
त्रेतामपि निबोध त्वं यस्मिन्सत्रं प्रवर्तते ॥ २२ ॥

हे तात! यह सतयुग सत्त्व, रज और तमोगुणसे रहित होता है । मैंने सतयुगके धर्म कहे, अब त्रेतायुगके सुनो । त्रेतायुगका मुख्य धर्म यज्ञ करना है ॥ २२ ॥

पादेन ह्रसते धर्मो रक्ततां याति चाच्युतः ।
सत्यप्रवृत्ताश्च नराः क्रियाधर्मपरायणाः ॥ २३ ॥

इसमें धर्मका एक चरण कम होजाता है और विष्णुका रङ्ग लाल हो जाता है । सब पुरुष क्रिया और धर्म करते हैं, इस कारण सत्यवक्ता भी होते हैं ॥ २३ ॥

ततो यज्ञाः प्रवर्तन्ते धर्माश्च विविधाः क्रियाः ।
त्रेतायां भावसङ्कल्पाः क्रियादानफलोदयाः ॥ २४ ॥

उस युगमें अनेक प्रकारकी क्रियायें, धर्म और यज्ञ होते हैं । त्रेतायुगमें यज्ञ और विविध धर्मक्रियाओंमें लोग प्रवृत्त होते हैं, इस कारण क्रिया और दानके फल भी ठीक ठीक प्राप्त होते हैं ॥ २४ ॥

प्रचलन्ति न वै धर्मात्तपोदानपरायणाः ।
स्वधर्मस्थाः क्रियावन्तो जनास्त्रेतायुगेऽभवन् ॥ २५ ॥

उस त्रेतायुगमें सब लोग अपनी धर्मक्रियाओंको करते हैं । सब तप और दानमें निपुण होते हैं । स्वधर्मसे कभी भी नहीं हटते, ऐसे लोग त्रेतायुगमें होते हैं ॥ २५ ॥

द्वापरेऽपि युगे धर्मो द्विभागोनः प्रवर्तते ।
विष्णुर्वै पीततां याति चतुर्धा वेद एव च ॥ २६ ॥

द्वापर युगमें धर्म दो चरणोंसे न्यून हो जाता है और विष्णुका रङ्ग पीला हो जाता है तथा वेद भी चार हो जाते हैं ॥ २६ ॥

ततोऽन्ये च चतुर्वेदास्त्रिवेदाश्च तथापरे ।
द्विवेदाश्चैकवेदाश्चाप्यनृचश्च तथापरे ॥ २७ ॥

इसी द्वापर युगमें कोई चतुर्वेदी, कोई त्रिवेदी, कोई द्विवेदी, कोई एकवेदी और कोई तो एकदमसे वेदसे शून्य हो जाता है ॥ २७ ॥

एवं शास्त्रेषु भिन्नेषु बहुधा नीयते क्रिया ।
तपोदानप्रवृत्ता च राजसी भवति प्रजा ॥ २८ ॥

इस प्रकार अलग अलग शास्त्र होनेसे सबकी क्रिया भी अलग अलग हो जाती है । सब लोग तप और दानमें प्रवृत्त हो जाते हैं, उस समय प्रजा रजोगुणी अधिक हो जाती है ॥ २८ ॥

एकवेदस्य चाज्ञानाद्वेदास्ते बहवः कृताः ।
सत्यस्य चेह विभ्रंशात्सत्ये कश्चिदवस्थितः ॥ २९ ॥

उस समय मनुष्य एक वेदको नहीं पढ पाता इससे वेदोंके अनेक टुकडे हो जाते हैं । इस युगमें सत्यका नाश हो जाता है, इसलिए कोई कोई ही सत्य बोलनेवाला रह जाता है ॥ २९ ॥

सत्यात्प्रच्यवमानानां व्याधयो बहवोऽभवन् ।
कामाश्चोपद्रवाश्चैव तदा दैवतकारिताः ॥ ३० ॥

प्रजाओंके सत्यमार्गसे हट जानेके कारण उनमें अनेक प्रकारके रोग उत्पन्न हो जाते हैं । इसी युगमें प्रारब्धवशसे अनेक काम आदि और दैवी उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं ॥ ३० ॥

यैरर्द्यमानाः सुभृशं तपस्तप्यन्ति मानवाः ।
कामकामाः स्वर्गकामा यज्ञांस्तन्वन्ति चापरे ॥ ३१ ॥

उनसे अत्यन्त पीडित होकर पुरुष बहुत तपस्या करने लगते हैं और अपने मनोरथकी पूर्ति एवं स्वर्गकी प्राप्तिके लिए लोग अनेक प्रकारके यज्ञोंको करते हैं ॥ ३१ ॥

एवं द्वापरमासाद्य प्रजाः क्षीयन्त्यधर्मतः ।
पादेनैकेन कौन्तेय धर्मः कलियुगे स्थितः ॥ ३२ ॥

हे कुन्तीनन्दन ! इस प्रकार द्वापर युगके आने पर अधर्मसे प्रजा नष्ट हो जाती है। अब मैं कलियुगके धर्म कहता हूँ। कलियुगमें धर्म अपने एक ही चरण पर स्थित रहता है ॥३२॥

तामसं युगमासाद्य कृष्णो भवति केशवः ।
वेदाचाराः प्रशाम्यन्ति धर्मयज्ञक्रियास्तथा ॥ ३३ ॥

इस तामसिक गुणसे युक्त युगको पाकर विष्णुका रङ्ग काला हो जाता है। वेदकी क्रिया और धर्म और यज्ञकी क्रियायें सब नष्ट हो जाती हैं ॥ ३३ ॥

ईतयो व्याधयस्तन्द्री दोषाः क्रोधादयस्तथा ।
उपद्रवाश्च वर्तन्ते आधयो व्याधयस्तथा ॥ ३४ ॥

छः प्रकारकी ईतियां अतिवृष्टि, अनावृष्टि, मूसे, टिड्डी, राजाओंका युद्ध आदि होते हैं। अनेक प्रकारके रोग, आलस्य, क्रोधादिक दोष, उपद्रव, मानसिक दुःख और शारीरिक रोग अधिक हो जाते हैं ॥ ३४ ॥

युगेष्वावर्तमानेषु धर्मो व्यावर्तते पुनः ।
धर्मे व्यावर्तमाने तु लोको व्यावर्तते पुनः ॥ ३५ ॥

युग बदलनेसे फिर धर्म भी बदल जाता है, और धर्मके बदल जानेसे मनुष्य भी बदल जाते हैं ॥ ३५ ॥

लोके क्षीणे क्षयं यान्ति भावा लोकप्रवर्तकाः ।
युगक्षयकृता धर्माः प्रार्थनानि विकुर्वते ॥ ३६ ॥

लोकके नष्ट होनेसे जगत्के प्रवर्तक धर्मभावनाओंका नाश होजाता है, और युगोंको क्षीण करनेवाले धर्म प्रार्थनाको भी निष्फल कर देते हैं ॥ ३६ ॥

एतत्कलियुगं नाम अचिराद्यत्प्रवर्तते ।
युगानुवर्तनं त्वेतत्कुर्वन्ति चिरजीविनः ॥ ३७ ॥

यह कलियुग नामका युग है, जो थोडे समयमें ही शुरू होगा, जिसमें चिरजीवी लोग भी युगानुसार ही काम करते हैं ॥ ३७ ॥

यच्च ते मत्परिज्ञाने कौतूहलमरिन्दम ।
अनर्थकेषु को भावः पुरुषस्य विजानतः ॥ ३८ ॥

हे शत्रुनाशी ! तुम जो मेरे उस रूपको देखनेकी इच्छा करते हो, तो ऐसे निरर्थक कामको करनेकी कौन ज्ञानी पुरुष इच्छा करता है ? ॥ ३८ ॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
युगसंख्यां महाबाहो स्वस्ति प्राप्नुहि गम्यताम् ॥ ३९ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि अष्टचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४८ ॥ ५००० ॥

हे महाबाहो ! तुमने जो मुझसे युगोंकी संख्या पूछी थी, वह मैंने तुमसे सब कहा। तुम्हारा कल्याण हो, तुम यहांसे चले जाओ ॥ ३९ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ अडतालिसवां अध्याय समाप्त ॥ १४८ ॥ ५००० ॥

॥ १४९ ॥

भीम उवाच

पूर्वरूपमदृष्ट्वा ते न यास्यामि कथञ्चन ।
यदि तेऽहमनुग्राह्यो दर्शयात्मानमात्मना ॥ १ ॥

भीम बोले– मैं आपके पहलेवाले रूपको बिना देखे किसी प्रकारसे नहीं जाऊंगा। यदि आप मेरे ऊपर कृपा करना चाहते हैं तो उस रूपको मुझे अवश्य दिखलाइये ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु भीमेन स्मितं कृत्वा प्लवङ्गमः ।
तद्रूपं दर्शयामास यद्वै सागरलङ्घने ॥ २ ॥

वैशम्पायन बोले– भीमसेनके ऐसे कहनेपर वानरराज हनूमान्‌ने हंसकर उनको वह रूप, जो उन्होंने समुद्र लांघते समय धारण किया था, दिखला दिया ॥ २ ॥

भ्रातुः प्रियमभीप्सन्वै चकार सुमहद्वपुः ।
देहस्तस्य ततोऽतीव वर्धत्यायामविस्तरैः ॥ ३ ॥

अपने भाई भीमसेनकी प्रियकामनासे हनूमान्‌ने अपने शरीरका बहुत विस्तार किया। हनूमान्‌का शरीर लम्बाई और चौडाईमें बहुत बढने लगा ॥ ३ ॥

तद्रूपं कदलीषण्डं छादयन्नमितद्युतिः ।
गिरेश्चोच्छ्रयमागम्य तस्थौ तत्र स वानरः ॥ ४ ॥

अत्यन्त तेजस्वीने वह केलेका वन आच्छादित कर दिया और अपने शरीरको पर्वतसे ऊंचा बढाकर हनुमान् स्थिर हो गए ॥ ४ ॥

समुच्छ्रितमहाकायो द्वितीय इव पर्वतः ।
ताम्रेक्षणस्तीक्ष्णदंष्ट्रो भ्रुकुटीकृतलोचनः ।
दीर्घलाङ्गूलमाविध्य दिशो व्याप्य स्थितः कपिः ॥ ५ ॥

उस समय शरीरके बढनेसे हनूमान् दूसरे पर्वतके समान शोभित होने लगे। उस समय हनूमान् नेत्र लाल, दांत तेज, टेढी भौं युक्त मुख और पूंछ लम्बी करके दसों दिशाओंको व्याप्त करके वहीं स्थिर हो गए ॥ ५ ॥

तद्रूपं महदालक्ष्य भ्रातुः कौरवनन्दनः ।
विसिस्मिये तदा भीमो जहृषे च पुनः पुनः ॥ ६ ॥

कुरुकुलनन्दन भीमसेनको अपने भाई हनूमान्का ऐसा रूप देखकर बहुत आश्चर्य हुआ और वे वारवार प्रसन्न होने लगे ॥ ६ ॥

तमर्कमिव तेजोभिः सौवर्णमिव पर्वतम् ।
प्रदीप्तमिव चाकाशं दृष्ट्वा भीमो न्यमीलयत् ॥ ७ ॥

भीमसेनने सूर्यके समान तेजस्वी सोनेके पहाडके समान शरीरवाले और जलते हुए आकाशके समान हनूमान्को देखकर अपने नेत्रोंको बन्द कर लिया ॥ ७ ॥

आबभाषे च हनुमान्भीमसेनं स्मयन्निव ।
एतावदिह शक्तस्त्वं द्रष्टुं रूपं ममानघ ॥ ८ ॥

तब भीमसेनसे मुस्कराते हुए हनुमान् कहने लगे— हे पापरहित भीम ! तुम मेरे इतने ही रूपको देख सकते हो ॥ ८ ॥

वर्धेऽहं चाप्यतो भूयो यावन्मे मनसेप्सितम् ।
भीम शत्रुषु चात्यर्थं वर्धते मूर्तिरोजसा ॥ ९ ॥

यदि मेरी इच्छा हो तो मैं और भी अपने शरीरको बढा सकता हूँ । हे भीम ! शत्रुओंके साथ होनेवाले युद्धमें मेरा यह शरीर अपने तेजसे और ज्यादा बढता है ॥ ९ ॥

तदद्भुतं महारौद्रं विन्ध्यमन्दरसन्निभम् ।
दृष्ट्वा हनूमतो वर्ष्म सम्भ्रान्तः पवनात्मजः ॥ १० ॥

हे राजन् जनमेजय ! वायुके पुत्र भीमसेन उस अद्भुत भयानक और विन्ध्याचल और मन्दराचलके समान हनूमान्के रूपको देखकर भ्रान्त हो गये ॥ १० ॥

प्रत्युवाच ततो भीमः सम्प्रहृष्टतनूरुहः ।
कृताञ्जलिरदीनात्मा हनुमन्तमवस्थितम् ॥ ११ ॥

उनके शरीरके सब रोयें खडे हो गये । तब हाथ जोडकर भीमसेन प्रसन्नचित्तसे खडे हुए हनूमान्से कहने लगे ॥ ११ ॥

दृष्टं प्रमाणं विपुलं शरीरस्यास्य ते विभो ।
संहरस्व महावीर्य स्वयमात्मानमात्मना ॥ १२ ॥

हे महावीर ! हे नाथ ! मैंने आपके शरीरका यह बडा भारी प्रमाण देख लिया, अब आप इसे फिर अपनी शक्तिसे छोटा कर लीजिये ॥ १२ ॥

न हि शक्नोमि त्वां द्रष्टुं दिवाकरमिवोदितम् ।
अप्रमेयमनाधृष्यं मैनाकमिव पर्वतम् ॥ १३ ॥

क्योंकि प्रमाणरहित, जीतनेके अयोग्य, उदय हुए हुए सूर्यके समान तेजस्वी तथा मैनाक पर्वतके समान स्थित आपको मैं देखनेमें असमर्थ हूँ ॥ १३ ॥

विस्मयश्चैव मे वीर सुमहान्मनसोऽद्य वै ।
यद्रामस्त्वयि पार्श्वस्थे स्वयं रावणमभ्यगात् ॥ १४ ॥

हे वीर ! मेरे हृदयमें इस बातका बहुत आश्चर्य होता है, कि आपके साथ रहनेपर भी स्वयं रामचन्द्रको रावणसे युद्ध करना पडा ॥ १४ ॥

त्वमेव शक्तस्तां लङ्कां सयोधां सहवाहनाम् ।
स्वबाहुबलमाश्रित्य विनाशयितुमोजसा ॥ १५ ॥

क्योंकि आप अकेले ही अपने बाहुबलका आसरा लेकर अपने ओजसे समस्त लंकाका वाहन और वीरोंके सहित नाश कर सकते थे ॥ १५ ॥

न हि ते किञ्चिदप्राप्यं मारुतात्मज विद्यते ।
तव नैकस्य पर्याप्तो रावणः सगणो युधि ॥ १६ ॥

हे वायुपुत्र ! जगत्में कोई वस्तु ऐसी नहीं है जो आपको न मिल सके । अकेले आपहीसे लडनेके लिए स्वजनसहित रावणकी भी शक्ति नहीं थी ॥ १६ ॥

एवमुक्तस्तु भीमेन हनूमान्प्लवगर्षभः ।
प्रत्युवाच ततो वाक्यं स्निग्धगम्भीरया गिरा ॥ १७ ॥

बन्दरोंमें श्रेष्ठ हनूमान् भीमके ऐसे कहनेपर गम्भीर और मीठी वाणीसे यह वाक्य बोले ॥ १७ ॥

एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि भारत ।
भीमसेन न पर्याप्तो ममासौ राक्षसाधमः ॥ १८ ॥

हे महाबाहो ! तुम जो कहते हो, वह सब ठीक है । हे भीम ! हे भारत ! वह नीच राक्षस रावण मुझसे लडनेमें भी समर्थ नहीं था ॥ १८ ॥

मया तु तस्मिन्निहते रावणे लोककण्टके ।
कीर्तिर्नश्येद्राघवस्य तत एतदुपेक्षितम् ॥ १९ ॥

परन्तु यदि मैं ही लोककण्टक रावणको मार डालता, तो रघुनन्दनकी कीर्तिका नाश हो जाता; इसीसे मैंने उसको छोड दिया था ॥ १९ ॥

तेन वीरेण हत्वा तु सगणं राक्षसाधिपम् ।
आनीता स्वपुरं सीता लोके कीर्तिश्च स्थापिता ॥ २० ॥

वीर राम राक्षसोंके राजा रावणको बान्धवोंके सहित मारकर सीताको अपनी पुरीमें ले आये और अपनी कीर्तिको संसारमें स्थापित किया ॥ २० ॥

तद्गच्छ विपुलप्रज्ञ भ्रातुः प्रियहिते रतः ।
अरिष्टं क्षेममध्वानं वायुना परिरक्षितः ॥ २१ ॥

हे महाबुद्धिमान् ! अपने भाईके हितमें रत रहनेवाले तुम जाओ । तुम्हारा मार्गमें कल्याण होगा । वायु तुम्हारी रक्षा करे ॥ २१ ॥

एष पन्थाः कुरुश्रेष्ठ सौगन्धिकवनाय ते ।
द्रक्ष्यसे धनदोद्यानं रक्षितं यक्षराक्षसैः ॥ २२ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! तुम्हारे सौगन्धिकवनका यह मार्ग है । आगे जाकर यक्ष और राक्षसोंसे रक्षित धनपति कुबेरके बगीचेको देखोगे ॥ २२ ॥

न च ते तरसा कार्यः कुसुमावचयः स्वयम् ।
दैवतानि हि मान्यानि पुरुषेण विशेषतः ॥ २३ ॥

पर तुम वहां जाकर जल्दी अपनेसे ही हाथसे फूलोंको मत चुनने लग जाना, क्योंकि पुरुषोंको उचित है कि वह देवोंका विशेष सम्मान करें ॥ २३ ॥

बलिहोमनमस्कारैर्मन्त्रैश्च भरतर्षभ ।
दैवतानि प्रसादं हि भक्त्या कुर्वन्ति भारत ॥ २४ ॥

हे भरतकुलसिंह ! देवता बलि, होम, नमस्कार, मन्त्र और भक्तिसे प्रसन्न होकर कृपा करते हैं ॥ २४ ॥

मा तात साहसं कार्षीः स्वधर्ममनुपालय ।
स्वधर्मस्थः परं धर्मं बुध्यस्वागमयस्व च ॥ २५ ॥

हे तात ! साहस मत करो, अपने धर्मको पालो । अपने धर्ममें स्थित होकर परम धर्मको जानते रहो और उसे प्राप्त करो ॥ २५ ॥

न हि धर्ममविज्ञाय वृद्धाननुपसेव्य च ।
धर्मो वै वेदितुं शक्यो बृहस्पतिसमैरपि ॥ २६ ॥

बृहस्पतिके तुल्य होनेपर भी कोई पुरुष विना धर्मको जाने और विना बूढोंकी सेवा किये धर्मको नहीं जान सकता ॥ २६ ॥

अधर्मो यत्र धर्माख्यो धर्मश्चाधर्मसंज्ञितः ।
विज्ञातव्यो विभागेन यत्र मुह्यन्त्यबुद्धयः ॥ २७ ॥

अधर्म जहां धर्मके नामसे प्रसिद्ध होता है और धर्म जहां अधर्मके नामसे पुकारा जाता है, उसको अच्छी तरह जान लेना चाहिये। मूर्ख लोग उसमें मोहित हो जाते हैं ॥ २७ ॥

आचारसम्भवो धर्मो धर्माद्वेदाः समुत्थिताः ।
वेदैर्यज्ञाः समुत्पन्ना यज्ञैर्देवाः प्रतिष्ठिताः ॥ २८ ॥

आचारसे धर्म उत्पन्न होता है, धर्मसे वेद उत्पन्न हुए हैं, वेदसे यज्ञ उत्पन्न हुए और यज्ञोंसे देवता स्थित हैं ॥ २८ ॥

वेदाचारविधानोक्तैर्यज्ञैर्धार्यन्ति देवताः ।
बृहस्पत्युशनोक्तैश्च नयैर्धार्यन्ति मानवाः ॥ २९ ॥

वेद और आचार इनके विधानोंके अनुसार किये गए यज्ञोंसे देवता अपना निर्वाह करते हैं और बृहस्पति तथा शुक्रके द्वारा कही गई नीतिसे मनुष्य अपना निर्वाह करते हैं ॥२९॥

पण्याकरवणिज्याभिः कृष्याथो योनिपोषणैः ।
वार्तया धार्यते सर्वं धर्मैरेतैर्द्विजातिभिः ॥ ३० ॥

व्यापार, नौकरी और करग्रहणसे आजीविका तथा कृषि तथा पशुपालन आदि धर्मोंकी सहायतासे द्विजाति अपना निर्वाह करते हैं ॥ ३० ॥

त्रयी वार्ता दण्डनीतिस्तिस्रो विद्या विजानताम् ।
ताभिः सम्यक्प्रयुक्ताभिर्लोकयात्रा विधीयते ॥ ३१ ॥

वेद, दण्डनीति और व्यापार इन तीन विद्याओंके जाननेवाले इन तीनोंका उत्तम उपयोग करके संसारमें अपनी आजीविका चलाते हैं ॥ ३१ ॥

सा चेद्धर्मक्रिया न स्यात्त्रयीधर्मेमृते भुवि ।
दण्डनीतिमृते चापि निर्मर्यादमिदं भवेत् ॥ ३२ ॥

यदि यह व्यवहार तीनों धर्मोंसे रहित भूमिपर धर्मको छोडकर हो जायें और जब दण्ड-नीतिका नाश हो जाये तो यह संसार मर्यादारहित हो जाए ॥ ३२ ॥

वार्ताधर्मे ह्यवर्तन्त्यो विनश्येयुरिमाः प्रजाः ।
सुप्रवृत्तैस्त्रिभिर्ह्येतैर्धर्मैः सूयन्ति वै प्रजाः ॥ ३३ ॥

वाणिज्य धर्म यदि इस संसारमें न हो तो सब प्रजायें नाशको प्राप्त हो जायें । यही तीनों विद्यायें मिलकर धर्मको उत्पन्न करती हैं और फिर धर्म प्रजाओंको उत्पन्न करता है ॥ ३३ ॥

द्विजानामनृतं धर्मो ह्येकश्चैवैकवर्णिकः ।
यज्ञाध्ययनदानानि त्रयः साधारणाः स्मृताः ॥ ३४ ॥

द्विजातियोंका परम धर्म सत्य है; धर्मका यह एक ही वर्ण है । यज्ञ करना, वेद पढना और दान करना ये साधारण धर्म हैं ॥ ३४ ॥

याजनाध्यापने चोभे ब्राह्मणानां प्रतिग्रहः ।
पालनं क्षत्रियाणां वै वैश्यधर्मश्च पोषणम् ॥ ३५ ॥

वेद पढाना, यज्ञ कराना और दान लेना यह ब्राह्मणके विशेष धर्म हैं । प्रजापालन क्षत्रियका और व्यापारसे प्रजाका पोषण करना वैश्यका धर्म है ॥ ३५ ॥

शुश्रूषा च द्विजातीनां शूद्राणां धर्म उच्यते ।
भैक्ष्यहोमव्रतैर्हीनास्तथैव गुरुवासिनाम् ॥ ३६ ॥
क्षत्रधर्मोऽत्र कौन्तेय तव धर्माभिरक्षणम् ।
स्वधर्मं प्रतिपद्यस्व विनीतो नियतेन्द्रियः ॥ ३७ ॥

और द्विजातिकी सेवा करना शूद्रोंका विशेष धर्म है । शूद्र लोगोंको लिये भिक्षा मांगना, व्रत होमका करना तथा गुरुकुलमें रहकर वेद पढना मना है । हे कुन्तीपुत्र ! तुम्हारा धर्म क्षात्र अर्थात् प्रजाका पालन करना है, अतः तुम उस धर्मकी रक्षा करो । तुम जितेन्द्रिय और विनीत होकर अपने धर्मका पालन करो ॥ ३६–३७ ॥

वृद्धैः संमन्त्र्य सद्भिश्च बुद्धिमद्भिः श्रुतान्वितैः ।
सुस्थितः शास्ति दण्डेन व्यसनी परिभूयते ॥ ३८ ॥

वेदको जाननेवाले बुद्धिमान् महात्मा वृद्धोंसे सलाह लेकर काम करनेवाला राजा राजदण्डसे प्रजाओंपर शासन करता है और बुरे व्यसनवाला राजा नष्ट हो जाता है ॥ ३८ ॥

निग्रहानुग्रहैः सम्यग्यदा राजा प्रवर्तते ।
तदा भवति लोकस्य मर्यादा सुव्यवस्थिता ॥ ३९ ॥

दण्ड और कृपाकी सहायतासे जब राजा प्रजामें व्यवहार करता है, तब संसारमें मर्यादा सुव्यवस्थित रहती है ॥ ३९ ॥

तस्माद्देशे च दुर्गे च शत्रुमित्रबलेषु च ।
नित्यं चारेण बोद्धव्यं स्थानं वृद्धिः क्षयस्तथा ॥ ४० ॥

इस कारण देशमें, किलोंमें, शत्रु और मित्रोंकी सेनाओंमें अपने आप्त दूत भेजकर जानना चाहिये कि अपने शत्रुकी वृद्धि और हानिके स्थान कौन कौनसे हैं ॥ ४० ॥

राज्ञामुपायाश्चत्वारो बुद्धिमन्त्रः पराक्रमः ।
निग्रहानुग्रहौ चैव दाक्ष्यं तत्कार्यसाधनम् ॥ ४१ ॥

उपाय चिन्तन, गुप्त दूत, बुद्धि, विचार, पराक्रम, निग्रह, दक्षता यही राजाओंके कार्यको सिद्ध करनेवाले होते हैं ॥ ४१ ॥

साम्ना दानेन भेदेन दण्डेनोपेक्षणेन च ।
साधनीयानि कार्याणि समासव्यासयोगतः ॥ ४२ ॥

साम, दान, भेद, दण्ड और उपेक्षा इनमें अलग अलग उपायसे या सभी उपायोंसे राजाको अपने सब कार्योंको सिद्ध करना चाहिये ॥ ४२ ॥

मन्त्रमूला नयाः सर्वे चाराश्च भरतर्षभ ।
सुमन्त्रितैर्नयैः सिद्धिस्तद्विदैः सह मन्त्रयेत् ॥ ४३ ॥

हे भरतसत्तम ! उपाय ही के आधीन सब नीति चलती है। दूत भी उपायके आधीन ही हैं। अच्छी तरह विचारकर निश्चितकी गई नीतिसे ही सिद्धि होती है। इसलिये उपाय जाननेवालोंके साथ ही सलाह करनी चाहिये ॥ ४३ ॥

स्त्रिया मूढेन लुब्धेन बालेन लघुना तथा ।
न मन्त्रयेत गुह्यानि येषु चोन्मादलक्षणम् ॥ ४४ ॥

स्त्रियोंसे, बालकोंसे, मूर्खोंसे, लोभियोंसे और अयोग्यसे और जिनमें उन्मादिके लक्षण पाये जाते हैं उनसे गुप्त विषयोंके बारेमें कभी भी सलाह न करे ॥ ४४ ॥

मन्त्रयेत्सह विद्वद्भिः शक्तैः कर्माणि कारयेत् ।
स्निग्धैश्च नीतिविन्यासान्मूर्खान्सर्वत्र वर्जयेत् ॥ ४५ ॥

विद्वानोंसे, समर्थोंसे सलाह करे, उन्हींसे अपना काम करे। कोमल स्वभाववाले और नीतिके जाननेवालोंसे राजकार्य करावे और मूर्खोंको सब जगह त्याग दे अर्थात् उनसे कोई भी काम न करावे ॥ ४५ ॥

धार्मिकान्धर्मकार्येषु अर्थकार्येषु पण्डितान् ।
स्त्रीषु क्लीबान्नियुञ्जीत क्रूरान्क्रूरेषु कर्मसु ॥ ४६ ॥

धर्मात्माओंको धर्मके काममें, पण्डितोंको धनके काममें, स्त्रियोंमें नपुंसकोंको, क्रूर कामोंमें क्रूर आदमियोंको नियुक्त करे ॥ ४६ ॥

स्वेभ्यश्चैव परेभ्यश्च कार्याकार्यसमुद्भवा ।
बुद्धिः कर्मसु विज्ञेया रिपूणां च बलाबलम् ॥ ४७ ॥
बहुतसे कार्योंको प्रारंभ करते हुए अपने तथा शत्रुपक्षके आदमियोंसे भी सलाह ले ले कि यह कार्य है या अकार्य है । साथ ही शत्रुओंके बल अबलकी भी थाह ले ले ॥ ४७ ॥

बुद्ध्या सुप्रतिपन्नेषु कुर्यात्साधुपरिग्रहम् ।
निग्रहं चाप्यशिष्टेषु निर्मर्यादेषु कारयेत् ॥ ४८ ॥
जिन मनुष्योंकी बुद्धि उत्तम हो, उन साधुओं पर कृपा करनी चाहिये और जो मर्यादाको तोडनेवाले दुष्ट हों, उनको बन्धनमें डालना चाहिये ॥ ४८ ॥

निग्रहे प्रग्रहे सम्यग्यदा राजा प्रवर्तते ।
तदा भवति लोकस्य मर्यादा सुव्यवस्थिता ॥ ४९ ॥
जब राजा बन्धनमें और कृपा करनेमें अच्छी तरह प्रवृत्त होता है, तब संसारमें मर्यादा सुव्यवस्थित रहती है ॥ ४९ ॥

एष ते विहितः पार्थ घोरो धर्मो दुरन्वयः ।
तं स्वधर्मविभागेन विनयस्थोऽनुपालय ॥ ५० ॥
हे कुन्तीनन्दन! मैंने यह कठिन राजधर्म तुमसे कहा । अब सब धर्मोंको विचार कर तथा विनयशील होकर अपने धर्मको धारण करो ॥ ५० ॥

तपोधर्मदमेज्याभिर्विप्रा यान्ति यथा दिवम् ।
दानातिथ्यक्रियाधर्मैर्यान्ति वैश्याश्च सद्गतिम् ॥ ५१ ॥
तप, धर्म, इन्द्रियनिग्रह और पूजनसे ब्राह्मण स्वर्गको जाते हैं । वैश्य दान, अतिथिपूजा क्रिया और धर्मसे स्वर्गको जाते हैं ॥ ५१ ॥

क्षत्रं याति तथा स्वर्गं भुवि निग्रहपालनैः ।
सम्यक्प्रणीय दण्डं हि कामद्वेषविवर्जिताः ।
अलुब्धा विगतक्रोधाः सतां यान्ति सलोकताम् ॥ ५२ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि एकोनपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४९ ॥ ५०५२ ॥

क्षत्रिय बल और प्रजाके पालनसे स्वर्गको जाते हैं, क्षत्रिय दण्डके उचित विधानसे काम और क्रोध तथा द्वेषसे रहित होकर सत्पुरुषोंकी गतिको प्राप्त होते हैं ॥ ५२ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ उनचासवां अध्याय समाप्त ॥ १४९ ॥ ५०५२ ॥

: १५० :

वैशम्पायन उवाच

ततः संहृत्य विपुलं तद्वपुः कामवर्धितम्।
भीमसेनं पुनर्दोर्भ्यां पर्यष्वजत वानरः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– हे राजन् जनमेजय! तब हनूमान्‌ने अपनी इच्छानुसार अपने उस बड़े भारी शरीरको घटा लिया, फिर दोनों हाथ फैलाकर भीमका आलिंगन किया ॥ १ ॥

परिष्वक्तस्य तस्याशु भ्रात्रा भीमस्य भारत।
श्रमो नाशमुपागच्छत्सर्वं चासीत्प्रदक्षिणम् ॥ २ ॥

हे भारत! अपने भाई हनूमान्‌से मिलतेही भीमसेनकी सब थकावट शीघ्र ही दूर हो गई और सब कुछ उनके अनुकूल हो गया ॥ २ ॥

ततः पुनरथोवाच पर्यश्रुनयनो हरिः।
भीममाभाष्य सौहार्दाद्बाष्पगद्गदया गिरा ॥ ३ ॥

तदनन्तर हनूमान्‌ने आंखोंमें आंसू भरकर भीमसे प्रेमके सहित आंसुओंसे गद्‌गद वाणीसे यह वाक्य कहा ॥ ३ ॥

गच्छ वीर स्वमावासं स्मर्तव्योऽस्मि कथान्तरे।
इहस्थश्च कुरुश्रेष्ठ न निवेद्योऽस्मि कस्यचित् ॥ ४ ॥

कि हे वीर! तुम अपने घरको चले जाओ। काम पड़नेपर मुझे स्मरण किया करना। हे कुरुश्रेष्ठ! तुम यह किसीको मत बताना कि मैं यहां रहता हूँ ॥ ४ ॥

धनदस्यालयाच्चापि विसृष्टानां महाबल।
देशकाल इहायातुं देवगन्धर्वयोषिताम् ॥ ५ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ! हे महाबल! देश और कालके अनुसार कुबेरके स्थानसे लौटने वाले देव गन्धर्वोंकी स्त्रियोंके यहां आनेका समय हो गया है ॥ ५ ॥

ममापि सफलं चक्षुः स्मारितश्चास्मि राघवम्।
मानुषं गात्रसंस्पर्शं गत्वा भीम त्वया सह ॥ ६ ॥

तुमको देखकर मेरे नेत्र सफल हो गये हैं। हे कुन्तीनन्दन! तुम्हारे साथ मनुष्यका अंगस्पर्श करके मुझे रघुवंशी रामका स्मरण हो आया ॥ ६ ॥

तदस्मद्दर्शनं वीर कौन्तेयामोघमस्तु ते।
भ्रातृत्वं त्वं पुरस्कृत्य वरं वरय भारत ॥ ७ ॥

जो मेरा दर्शन तुम्हें हुआ है वह तुम्हारे लिये अमोघ हो। हे भारत! तुम मुझे अपना भाई समझ कर वरदान मांगो ॥ ७ ॥

यदि तावन्मया क्षुद्रा गत्वा वारणसाह्वयम्।
धार्तराष्ट्रा निहन्तव्या यावदेतत्करोम्यहम् ॥ ८ ॥
हे महाबल! यदि तुम कहो तो मैं हस्तिनापुर जाकर उन क्षुद्र धृतराष्ट्रके पुत्रोंका नाश कर दूँ ॥ ८ ॥

शिलया नगरं वा तन्मर्दितव्यं मया यदि।
यावदद्य करोम्येतत्कामं तव महाबल ॥ ९ ॥
यदि तुम कहो तो मैं एक शिलासे उस सब नगरको चूर कर दूँ? हे महाबलशाली वीर! इनमेंसे तुम्हारे लिये मैं क्या करूं? कहो ॥ ९ ॥

भीमसेनस्तु तद्वाक्यं श्रुत्वा तस्य महात्मनः।
प्रत्युवाच हनूमन्तं प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥ १० ॥
हे राजन्! भीमसेनने उन महात्मा हनूमान्के वचन सुनकर प्रसन्न मनवाले होकर हनूमान्से कहा ॥ १० ॥

कृतमेव त्वया सर्वं मम वानरपुङ्गव।
स्वस्ति तेऽस्तु महाबाहो क्षामये त्वां प्रसीद मे ॥ ११ ॥
हे महाबाहो! हे वानरराज! आपने हमारे निमित्त जो कुछ कहा उसे सब किया हुआ ही समझिये। आपका कल्याण हो। मैं आपसे क्षमा मांगता हूँ, मुझपर प्रसन्न होइए॥ ११ ॥

सनाथाः पाण्डवाः सर्वे त्वया नाथेन वीर्यवन्।
तवैव तेजसा सर्वान्विजेष्यामो वयं रिपून् ॥ १२ ॥
जिन पाण्डवोंके आप नाथ हैं वह सब सनाथ ही हैं। हे वीर्यशालिन्! आपहीके तेजसे हम शत्रुओंको जीतेंगे ॥ १२ ॥

एवमुक्तस्तु हनूमान्भीमसेनमभाषत।
भ्रातृत्वात्सौहृदाच्चापि करिष्यामि तव प्रियम् ॥ १३ ॥
भीमसेनके ऐसे कहनेपर हनूमान् भाईपन और प्रेमभावसे भीमसेनसे बोले—कि मैं तुम्हारा प्रिय कार्य करूंगा ॥ १३ ॥

चमूं विगाह्य शत्रूणां शरशक्तिसमाकुलाम्।
यदा सिंहरवं वीर करिष्यसि महाबल।
तदाहं बृंहयिष्यामि स्वरवेण रवं तव ॥ १४ ॥
हे महाबल! शस्त्रोंकी शक्तिसे भरपूर अपनी शत्रुओंकी सेनामें घुसकर जब तुम सिंहके समान गर्जन करोगे, तब मैं अपने गर्जनसे तुम्हारे गर्जनको और बढा दूंगा ॥ १४ ॥

विजयस्य ध्वजस्थश्च नादान्मोक्ष्यामि दारुणान् ।
शत्रूणां ये प्राणहरानित्युक्त्वान्तरधीयत ॥ १५ ॥

अर्जुनकी ध्वजापर बैठकर भयानक ध्वनियोंको प्रकट करूंगा, जो मेरी गर्जना शत्रुओंके प्राण हरनेवाली होगी । हनूमान् ऐसा कहकर वहीं गायब होगए ॥ १५ ॥

गते तस्मिन्हरिवरे भीमोऽपि बलिनां वरः ।
तेन मार्गेण विपुलं व्यचरद्गन्धमादनम् ॥ १६ ॥

वानरोत्तम हनूमान्के अदृश्य हो जानेपर बलवानोंमें श्रेष्ठ भीमसेन हनूमान्के बतलाये मार्गसे गन्धमादन पर्वतपर इधर उधर घूमने लगे ॥ १६ ॥

अनुस्मरन्वपुस्तस्य श्रियं चाप्रतिमां भुवि ।
माहात्म्यमनुभावं च स्मरन्दाशरथेर्ययौ ॥ १७ ॥

हनूमान्के उस शरीर और संसारमें अद्वितीय ऐसी अनुपम शोभा और दशरथके पुत्र श्री रामचन्द्रके प्रभाव और महात्म्यका स्मरण करते हुए भीमसेन वहांसे चले ॥ १७ ॥

स तानि रमणीयानि वनान्युपवनानि च ।
विलोडयामास तदा सौगन्धिकवनेप्सया ॥ १८ ॥

भीमसेनने सौगन्धिकवनको देखनेकी इच्छासे उन मनोहर वन और उपवनोंको मथ डाला ॥ १८ ॥

फुल्लपद्मविचित्राणि पुष्पितानि वनानि च ।
मत्तवारणयूथानि पङ्कक्लिन्नानि भारत ।
वर्षतामिव मेघानां वृन्दानि ददृशे तदा ॥ १९ ॥

वे खिले हुए विचित्र कमल और फूलोंसे भरे छोटे वन और कीचडसे मलिन मतवाले हाथियोंके झुण्ड और बरसनेवाले मेघोंके समूहोंको देखते हुए चले ॥ १९ ॥

हरिणैश्चञ्चलापाङ्गैर्हरिणीसहितैर्वने ।
सशष्पकवलैः श्रीमान्पथि दृष्ट्वा द्रुतं ययौ ॥ २० ॥

चंचल नेत्रवाले हिरणियोंके साथ रहनेवाले और मुखमें घासका ग्रास पकडे हुए हिरणोंसे शोभायमान वनको मार्गमें देखते हुए शीघ्रतासे भीमसेन चले ॥ २० ॥

महिषैश्च वराहैश्च शार्दूलैश्च निषेवितम् ।
व्यपेतभीर्गिरिं शौर्याद्भीमसेनो व्यगाहत ॥ २१ ॥

भैंसे, वाराह और शार्दूलोंसे भरे पर्वतमें निर्भय भीम अपने शौर्यसे प्रविष्ट हो गए ॥ २१ ॥

कुसुमानतशाखैश्च ताम्रपल्लवकोमलैः ।
याच्यमान इवारण्ये द्रुमैर्मारुतकम्पितैः ॥ २२ ॥

भांति भांतिके फूलोंके कारण झुकी हुई डालियोंवाले, तांबोंके रंगवाले कोमल पत्तोंसे पूर्ण वृक्ष हवासे कांपते हुए ऐसे जान पडते थे मानो वे भीमसेनसे कुछ मांग रहे हों ॥ २२ ॥

कृतपद्माञ्जलिपुटा मत्तषट्पदसेविताः ।
प्रियतीर्थवना मार्गे पद्मिनीः समतिक्रमन् ॥ २३ ॥

मार्गमें भीमने कुछ ऐसे तालाव लांघे, जिनके घाट और वन देखनेमें बहुत प्रिय लगते थे । जहां मतवाले भौंरे गुंजन कर रहे थे । पद्मकोषसे वह तालाव ऐसे लग रहे थे, कि मानों पद्मरूपी अंजलिको वे बांधे हुए हैं ॥ २३ ॥

सज्जमानमनोदृष्टिः फुल्लेषु गिरिसानुषु ।
द्रौपदीवाक्यपाथेयो भीमः शीघ्रतरं ययौ ॥ २४ ॥

मार्गमें पर्वतोंकी प्रफुल्लित शोभामें जिनका मन और दृष्टि आसक्त हो गयी है, ऐसे वह भीम द्रौपदीके वचनको मार्गका साधन बनाते हुए बहुत शीघ्रतासे चले ॥ २४ ॥

परिवृत्तेऽहनि ततः प्रकीर्णहरिणे वने ।
काञ्चनैर्विमलैः पद्मैर्ददर्श विपुलां नदीम् ॥ २५ ॥

जाते जाते कुछ दिनके पश्चात् ऐसे वनमें पहुंचे जहां हिरण बहुत सुखसे विचरते थे । उस वनमें एक नदी ऐसी देखी जिसमें सोनेके रङ्गके कमल खिले हुए थे ॥ २५ ॥

मत्तकारण्डवयुतां चक्रवाकोपशोभिताम् ।
रचितामिव तस्याद्रेर्मालां विमलपङ्कजाम् ॥ २६ ॥

उस नदीके किनारेपर मतवाले सारस और चकवे मनोहर शब्द कर रहे थे । वह निर्मल कमलोंसे भरी हुई नदी ऐसी जान पडती थी, कि मानो वह पर्वतकी माला हो ॥ २६ ॥

तस्यां नद्यां महासत्त्वः सौगन्धिकवनं महत् ।
अपश्यत्प्रीतिजननं बालार्कसदृशद्युति ॥ २७ ॥

उस नदीमें महाबली भीमने चित्तको प्रसन्न करनेवाले उगनेवाले सूर्यके समान तेजवाले अर्थात् लाल और सुगंधियुक्त कमलोंका समूह देखा ॥ २७ ॥

तद्दृष्ट्वा लब्धकामः स मनसा पाण्डुनन्दनः ।
वनवासपरिक्लिष्टां जगाम मनसा प्रियाम् ॥ २८ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५० ॥ ५०८० ॥

उसको देखकर अभिलाषा सफल हुई जान उन पाण्डुनन्दन भीमने मनसे उस द्रौपदीका ध्यान किया जो वनवासमें बहुत दुःख भोग रही थी ॥ २८ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ पचासवां अध्याय समाप्त ॥ १५० ॥ ५०८० ॥

: १५१ :

वैशम्पायन उवाच

स गत्वा नलिनीं रम्यां राक्षसैरभिरक्षिताम् ।
कैलासशिखरे रम्ये ददर्श शुभकानने ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— वहां जाकर भीमसेनने सुन्दर कैलासशिखरपर सुन्दर वनमें राक्षसोंसे रक्षित उस मनोहर कमलिनी वाले तालावको देखा ॥ १ ॥

कुबेरभवनाभ्याशे जातां पर्वतनिर्झरे ।
सुरम्यां विपुलच्छायां नानाद्रुमलतावृताम् ॥ २ ॥

कुबेरके स्थानके पास पर्वतके झरनोंसे उत्पन्न हुई, मनोहर और घनी छायावाले वृक्षोंसे घिरी हुई ॥ २ ॥

हरिताम्बुजसञ्छन्नां दिव्यां कनकपुष्कराम् ।
पवित्रभूतां लोकस्य शुभामद्भुतदर्शनाम् ॥ ३ ॥

हरे हरे कमलके पत्तोंसे पूर्ण, सुवर्ण रंगके कमल जिसमें खिले थे, ऐसी पवित्र, लोकोंका कल्याण करनेवाली, अद्भुत दर्शनवाली नदीपर जाकर ॥ ३ ॥

तत्रामृतरसं शीतं लघु कुन्तीसुतः शुभम् ।
ददर्श विमलं तोयं शिवं बहु च पाण्डवः ॥ ४ ॥

अमृतके समान शीतल और शुभ निर्मल और अनेक तरहसे कल्याणकारी जल कुन्तीपुत्र पाण्डवने देखा ॥ ४ ॥

तां तु पुष्करिणीं रम्यां पद्मसौगन्धिकायुताम् ।
जातरूपमयैः पद्मैश्छन्नां परमगन्धिभिः ॥ ५ ॥

उस मनोहर कमलोंकी सुगन्धवाले अत्यन्त सुगंधित तथा सुवर्णके रंगवाले कमलोंसे व्याप्त ॥ ५ ॥

वैडूर्यवरनालैश्च बहुचित्रैर्मनोहरैः ।
हंसकारण्डवोद्धूतैः सृजद्भिरमलं रजः ॥ ६ ॥

जिनकी डण्डी वैडूर्यमणिके रंगके समान थी, अत्यन्त विचित्र और मनोहर हंस और सारस आदियोंके द्वारा उडाये जानेके कारण जिनसे निर्मल केशर झडती थी ॥ ६ ॥

आक्रीडं यक्षराजस्य कुबेरस्य महात्मनः ।
गन्धर्वैरप्सरोभिश्च देवैश्च परमार्चिताम् ॥ ७ ॥

ऐसा यह तालाव यक्षराज महात्मा कुबेरकी क्रीडाका स्थान था । इसपर गन्धर्व और अप्सराओंके सहित देवगण विहार करते थे ॥ ७ ॥

सेवितामृषिभिर्दिव्यां यक्षैः किम्पुरुषैस्तथा ।
राक्षसैः किन्नरैश्चैव गुप्तां वैश्रवणेन च ॥ ८ ॥

दिव्य तथा ऋषियों द्वारा सेवित यक्ष किम्पुरुष और राक्षस किन्नर और स्वयं कुबेर द्वारा रक्षित ॥ ८ ॥

तां च दृष्ट्वैव कौन्तेयो भीमसेनो महाबलः ।
बभूव परमप्रीतो दिव्यं सम्प्रेक्ष्य तत्सरः ॥ ९ ॥

उस दिव्य तालाबको महाबली कुन्तीपुत्र भीमसेन देखा और उस तालाबको देखकर बहुत ही प्रसन्न हुए ॥ ९ ॥

तच्च क्रोधवशा नाम राक्षसा राजशासनात् ।
रक्षन्ति शतसाहस्राश्चित्रायुधपरिच्छदाः ॥ १० ॥

उस तालाबकी क्रोधवश नामक सैंकडो हजारों राक्षस कुबेरकी आज्ञासे अनेक तरहके शस्त्रास्त्र लेकर रक्षा करते थे ॥ १० ॥

ते तु दृष्ट्वैव कौन्तेयमजिनैः परिवारितम् ।
रुक्माङ्गदधरं वीरं भीमं भीमपराक्रमम् ॥ ११ ॥

वे लोग कुन्तीपुत्र महापराक्रमी वीर भीमसेनको मृगचर्म और सुवर्णके आभूषण पहिने देखा ॥ ११ ॥

सायुधं बद्धनिस्त्रिंशमशङ्कितमरिन्दमम् ।
पुष्करेप्सुमुपायान्तमन्योन्यमभिचुक्रुशुः ॥ १२ ॥

तो शस्त्र लिये, तलवार बांधे, निर्भय होकर उस शत्रुनाशी भीम कमलको लेनेके लिए आते देखकर आपसमें कहने लगे ॥ १२ ॥

अयं पुरुषशार्दूलः सायुधोऽजिनसंवृतः ।
यच्चिकीर्षुरिह प्राप्तस्तत्सम्प्रष्टुमिहार्हथ ॥ १३ ॥

यह पुरुषसिंह शस्त्र लिये और मृगचर्म ओढे जो इस तरफ आ रहा है, वह क्या करना चाहता है ? उससे यह पूछना चाहिये ॥ १३ ॥

ततः सर्वे महाबाहुं समासाद्य वृकोदरम् ।
तेजोयुक्तमपृच्छन्त कस्त्वमाख्यातुमर्हसि ॥ १४ ॥

तब वे सब राक्षस महाभुज तेजस्वी भीमके पास जाकर पूछने लगे– कि तुम कौन हो ? यह हमें बताओ ॥ १४ ॥

मुनिवेषधरश्चासि चीरवासाश्च लक्ष्यसे ।
यदर्थमसि संप्राप्तस्तदाचक्ष्व महाद्युते ॥ १९ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि एकपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५१ ॥ ५०९५ ॥

तुम मुनियोंका वेष धारण किये हुए हो और वल्कल चीर पहने हुए हो । तुम जिसके लिये यहां आए हो, वह हमसे कहो ॥ १९ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ इक्क्यावनवां अध्याय समाप्त ॥ १५१ ॥ ५०९५ ॥

: १५२ :

भीम उवाच

पाण्डवो भीमसेनोऽहं धर्मपुत्रादनन्तरः ।
विशालां बदरीं प्राप्तो भ्रातृभिः सह राक्षसाः ॥ १ ॥

भीम बोले– हे राक्षसो ! मैं राजा पाण्डुका पुत्र धर्मपुत्र युधिष्ठिरका छोटा भाई भीमसेन हूँ । मैं भाइयोंके सहित इस बदरिकाश्रम पर आया हुआ हूं ॥ १ ॥

अपश्यत्तत्र पाञ्चाली सौगन्धिकमनुत्तमम् ।
अनिलोढमितो नूनं सा बहूनि परीप्सति ॥ २ ॥

उस बदरिकाश्रममें पाञ्चालराजपुत्री द्रौपदीने वायुके द्वारा यहांसे ले जाए हुए एक सुगंधित कमलको देखा । आज वैसे ही और कमलोंको उसने चाहा है ॥ २ ॥

तस्या मामनवद्याङ्ग्या धर्मपत्न्याः प्रिये स्थितम् ।
पुष्पाहारमिह प्राप्तं निबोधत निशाचराः ॥ ३ ॥

हे राक्षसो ! अनिन्दित अंगोंवाली अपनी उस धर्मपत्नीका प्रिय करनेके लिए फूल लेनेके लिए आया हुआ मुझे समझो ॥ ३ ॥

राक्षसा ऊचुः

आक्रीडोऽयं कुबेरस्य दयितः पुरुषर्षभ ।
नेह शक्यं मनुष्येण विहर्तुं मर्त्यधर्मिणा ॥ ४ ॥

राक्षस बोले– हे पुरुषश्रेष्ठ ! यह कुबेरकी क्रीडाका प्रिय स्थान है, यहां मरण धर्मवाले मनुष्योंको विहार करनेकी आज्ञा नहीं है ॥ ४ ॥

देवर्षयस्तथा यक्षा देवाश्चात्र वृकोदर ।
आमन्त्र्य यक्षप्रवरं पिबन्ति विहरन्ति च ।
गन्धर्वाप्सरसश्चैव विहरन्त्यत्र पाण्डव ॥ ५ ॥

हे वृकोदर ! यहां पर देवर्षि, यक्ष और देवता ही यक्षराज कुबेरकी आज्ञा लेकर जल पीते और विहार करते हैं। पाण्डव ! गन्धर्व लोग और अप्सरायें ही यहां पर विहार कर सकती हैं ॥ ५ ॥

अन्यायेनेह यः कश्चिदवमन्य धनेश्वरम् ।
विहर्तुमिच्छेद्दुर्वृत्तः स विनश्येदसंशयम् ॥ ६ ॥

यदि कोई दुष्ट अन्यायसे महाराज कुबेरका अनादर करके यहां विहार करनेकी इच्छा करता है, तो वह निश्चयसे नष्ट कर दिया जाता है ॥ ६ ॥

तमनादृत्य पद्मानि जिहीर्षसि बलादितः ।
धर्मराजस्य चात्मानं ब्रवीषि भ्रातरं कथम् ॥ ७ ॥

उस कुबेरका अनादर करके तुम जबर्दस्ती कमल लेना चाहते हो, तब कैसे कहते हो कि मैं धर्मराज युधिष्ठिरका भाई हूं ॥ ७ ॥

भीम उवाच

राक्षसास्तं न पश्यामि धनेश्वरमिहान्तिके ।
दृष्ट्वापि च महाराजं नाहं याचितुमुत्सहे ॥ ८ ॥

भीम बोले— हे राक्षसो ! मैं धनेश्वर कुबेरको यहां आसपास कहीं नहीं देखता। यदि उन महाराजको देख भी लूं तो भी उनसे कुछ मांगनेकी इच्छा मैं नहीं करता ॥ ८ ॥

न हि याचन्ति राजान एष धर्मः सनातनः ।
न चाहं हातुमिच्छामि क्षात्रधर्मं कथञ्चन ॥ ९ ॥

यह सनातन धर्म है, कि राजा लोग किसीसे कुछ मांगते नहीं और मैं क्षत्रिय धर्मको किसी तरह छोडना नहीं चाहता ॥ ९ ॥

इयं च नलिनी रम्या जाता पर्वतनिर्झरे ।
नेयं भवनमासाद्य कुबेरस्य महात्मनः ॥ १० ॥

यह सुन्दर तालाब पर्वतके झरनोंसे बना है, यह महात्मा कुबेरके घरसे नहीं निकला है ॥ १० ॥

तुल्या हि सर्वभूतानामियं वैश्रवणस्य च ।
एवंगतेषु द्रव्येषु कः कं याचितुमर्हति ॥ ११ ॥
यह तालाब जैसे महाराज कुबेरके लिए है, वैसे ही सब प्राणियोंके लिए भी है । ऐसे सर्व साधारण पदार्थोंको कौन किससे मांगेगा ? ॥ ११ ॥

वैशम्पायन उवाच
इत्युक्त्वा राक्षसान्सर्वान्भीमसेनो व्यगाहत ।
ततः स राक्षसैर्वाचा प्रतिषिद्धः प्रतापवान् ।
मा मैवमिति सक्रोधैर्भर्त्सयद्भिः समन्ततः ॥ १२ ॥
वैशम्पायन बोले– इस प्रकार सब राक्षसोंसे कहकर भीमसेन उस तालाबमें घुस गये, तब चारों तरफसे क्रोधसहित राक्षसोंने वचन द्वारा "ऐसा मत करो, ऐसा मत करो" कहकर डराते हुए उस प्रतापवान् भीमको रोका ॥ १२ ॥

कदर्थीकृत्य तु स तान्राक्षसान्भीमविक्रमः ।
व्यगाहत महातेजास्ते तं सर्वे न्यवारयन् ॥ १३ ॥
महापराक्रमी और महातेजस्वी भीमसेन उन सब राक्षसोंको क्षुद्र समझ कर उस तालाबमें घुस गए । परन्तु राक्षस उनको रोकने लगे ॥ १३ ॥

गृह्णीत बध्नीत निकृन्ततेमं पचाम खादाम च भीमसेनम् ।
क्रुद्धा ब्रुवन्तोऽनुययुर्द्रुतं ते शस्त्राणि चोद्यम्य विवृत्तनेत्राः ॥ १४ ॥
वे लोग क्रोध करके चिल्लाने लगे– कि "इसको पकडो, बांधो, काटो, खा जाओ और पका लो ।" ऐसा कहकर नेत्रोंको फैलाकर और शस्त्रोंको लेकर भीमसेनकी ओर दौडे ॥१४॥

ततः स गुर्वीं यमदण्डकल्पां महागदां काञ्चनपट्टनद्धाम् ।
प्रगृह्य तानभ्यपतत्तरस्वी ततोऽब्रवीत्तिष्ठत तिष्ठतेति ॥ १५ ॥
बलशाली भीमसेन भी सोनेसे चित्रित यमदण्डके समान भारी गदाको लेकर वेगसे उनकी ओर दौडे और "खडे रहो, खडे रहो" ऐसा कहने लगे ॥ १५ ॥

ते तं तदा तोमरपट्टिशाद्यैर्व्याविध्य शस्त्रैः सहसाभिपेतुः ।
जिघांसवः क्रोधवशाः सुभीमा भीमं समन्तात्परिवव्रुरुग्राः ॥ १६ ॥
तब भीमको मारनेकी इच्छावाले तथा क्रोधित हुए हुए वे भयंकर राक्षस तोमर, पट्टिश आदि शस्त्र लेकर भीमकी ओर दौडे और उन्हें मारने लगे तथा उस भीमको चारों ओरसे उन्होंने घेर लिया ॥ १६ ॥

वातेन कुन्त्यां बलवान्स जातः शूरस्तरस्वी द्विषतां निहन्ता ।
सत्ये च धर्मे च रतः सदैव पराक्रमे शत्रुभिरप्रधृष्यः ॥ १७ ॥
जो भीम वायुके वीर्यसे कुन्तीके गर्भमें उत्पन्न हुए थे, जो शूरवीर, वेगवान् तथा शत्रुओंको मारनेवाले तथा सत्य और धर्ममें रत थे, वह वेगवान् भीम पराक्रममें शत्रुओंसे अजेय थे ॥ १७ ॥

तेषां स मार्गान्विविधान्महात्मा निहत्य शस्त्राणि च शात्रवाणाम् ।
यथाप्रवीरान्निजघान वीरः परःशतान्पुष्करिणीसमीपे ॥ १८ ॥
उन महात्मा भीमने उन राक्षसोंके सब आक्रमणोंको तथा शस्त्रोंको विफल करके अपने बाणोंसे उस तालावके पास सैकडों राक्षसोंको मार डाला ॥ १८ ॥

ते तस्य वीर्यं च बलं च दृष्ट्वा विद्याबलं बाहुबलं तथैव ।
अशक्नुवन्तः सहिताः समन्ताद्धतप्रवीराः सहसा निवृत्ताः ॥ १९ ॥
वीर राक्षस उनके विद्याबल, बाहुबल और वीर्य तथा शारीरिक बलको देखकर उनका मुकाबला करनेमें असमर्थ होकर तथा चारों ओरसे मारे जाकर अचानक भागने लगे ॥ १९ ॥

विदीर्यमाणस्तत एव तूर्णमाकाशमास्थाय विमूढसंज्ञाः ।
कैलासशृङ्गाण्यभिदुद्रुवुस्ते भीमार्दिताः क्रोधवशाः प्रभग्नाः ॥ २० ॥
मारे जाते हुए बहुतसे राक्षस संज्ञाहीन होकर आकाशमें उड गए तथा भीमसे पीडित होकर अनेक क्रोधवश राक्षस कैलासके शिखरोंमें छिप गए ॥ २० ॥

स शक्रवद्दानवदैत्यसङ्घान्विक्रम्य जित्वा च रणेऽरिसङ्घान् ।
विगाह्य तां पुष्करिणीं जितारिः कामाय जग्राह ततोऽम्बुजानि ॥ २१ ॥
शत्रुओंको जीतनेवाले भीमसेनने इन्द्रके समान उन राक्षसोंको जीतकर तथा युद्धमें शत्रुसमूहको जीतकर उस तालावमें जाकर अपने लिये कमल तोड लिये ॥ २१ ॥

ततः स पीत्वामृतकल्पमम्भो भूयो बभूवोत्तमवीर्यतेजाः ।
उत्पाटय जग्राह ततोऽम्बुजानि सौगन्धिकान्युत्तमगन्धवन्ति ॥ २२ ॥
उस तालावके अमृतसमान जलको पीनेसे भीमसेनका बल और वीर्य फिर उत्तम हो गया, फिर उन्होंने उत्तम सुगन्धिवाले अनेक कमलोंको तोडकर इकट्ठा कर लिया ॥ २२ ॥

ततस्तु ते क्रोधवशाः समेत्य धनेश्वरं भीमबलप्रणुन्नाः ।
भीमस्य वीर्यं च बलं च संख्ये यथावदाचख्युरतीव दीनाः ॥ २३ ॥
तब अति दीन हुए वे क्रोधवश नामके राक्षसोंने भीमके बलसे व्याकुल होकर कुबेरके पास जाकर युद्धमें उनके बल और वीर्यका वर्णन किया ॥ २३ ॥

तेषां वचस्तत्तु निशम्य देवः प्रहस्य रक्षांसि ततोऽभ्युवाच।
गृह्णातु भीमो जलजानि कामं कृष्णानिमित्तं विदितं ममैतत् ॥ २४ ॥
कुबेर उनके वचन सुन हंसकर राक्षसोंसे कहने लगे— मैं सब जानता हूँ। भीमसेनको द्रौपदीके लिये यथेच्छ कमल ले जाने दो ॥ २४ ॥

ततोऽभ्यनुज्ञाय धनेश्वरं ते जग्मुः कुरूणां प्रवरं विरोषाः।
भीमं च तस्यां ददृशुर्नलिन्यां यथोपजोषं विहरन्तमेकम् ॥ २५ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि द्विपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५२ ॥ ५१२० ॥

तब प्रसन्न होकर राक्षस कुवेरकी आज्ञा लेकर फिर उसी कुरुश्रेष्ठ भीमके पास आये। उन्होंने कुरुकुलश्रेष्ठ भीमसेनको उसी तालावमें इच्छानुसार अकेलेही विहार करते देखा ॥ २५ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ बावनवां अध्याय समाप्त ॥ १५२ ॥ ५१२० ॥

: १५३ :

वैशम्पायन उवाच

ततस्तानि महार्हाणि दिव्यानि भरतर्षभ।
बहूनि बहुरूपाणि विरजांसि समाददे ॥ १ ॥
वैशम्पायन बोले— हे भरतोंमें श्रेष्ठ जनमेजय! तब भीमने बहुत श्रेष्ठ दिव्य, धूलसे रहित अनेक रूपवाले कमलोंको तोड लिया ॥ १ ॥

ततो वायुर्महाञ्शीघ्रो नीचैः शर्करकर्षणः।
प्रादुरासीत्खरस्पर्शः संग्राममभिचोदयन् ॥ २ ॥
उस समय बडा वायु बहुत वेगसे चलने लगा। इस वायुके साथ रेत उडने लगी। इसका स्पर्श बडा कठोर था और यह युद्धकी सूचना देने लगा ॥ २ ॥

पपात महती चोल्का सनिर्घाता महाप्रभा।
निष्प्रभश्चाभवत्सूर्यश्छन्नरश्मिस्तमोवृतः ॥ ३ ॥
बहुत प्रकाशवाली बिजली शब्दके सहित आकाशसे गिरी। सूर्य अन्धकारमें छिप जानेके कारण तेजसे रहित हो गया ॥ ३ ॥

निर्घातश्चाभवद्भीमो भीमे विक्रममास्थिते।
चचाल पृथिवी चापि पांसुवर्षं पपात च ॥ ४ ॥
जहां भीमसेन अपने पराक्रमसे स्थिर थे, वहां एक मेघगर्जनाका घोर शब्द हुआ। समस्त पृथ्वी चलायमान होगई। आकाशसे धूल बरसने लगी ॥ ४ ॥

सलोहिता दिशश्चासन्खरवाचो मृगद्विजाः ।
तमोवृतमभूत्सर्वं न प्राज्ञायत किंचन ॥ ५ ॥
सब दिशायें लाल होगई । पक्षी और हिरणियां गधेके समान शब्द करने लगे और इतना अन्धकार छा गया कि कुछ भी सूझ नहीं पडा ॥ ५ ॥

तदद्भुतमभिप्रेक्ष्य धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
उवाच वदतां श्रेष्ठः कोऽस्मानभिभविष्यति ॥ ६ ॥
इन सब विचित्रताओंको देखकर कहनेवालोंमें श्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिर कहने लगे— कि न जाने हमसे कौन युद्ध करनेके लिए आनेवाला है ? ॥ ६ ॥

सज्जीभवत भद्रं वः पाण्डवा युद्धदुर्मदाः ।
यथारूपाणि पश्यामि स्वभ्यग्रो नः पराक्रमः ॥ ७ ॥
हे महायुद्ध करनेवाले पाण्डवो ! तुम्हारा कल्याण हो । तुम युद्ध करनेके लिए तय्यार हो जाओ। इन सब लक्षणोंको देखकर मैं यही समझता हूँ कि अब युद्ध करनेका समय आगया है ॥ ७ ॥

एवमुक्त्वा ततो राजा वीक्षाञ्चक्रे समन्ततः ।
अपश्यमानो भीमं च धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ८ ॥
ततः कृष्णां यमौ चैव समीपस्थानरिन्दमः ।
पप्रच्छ भ्रातरं भीमं भीमकर्माणमाहवे ॥ ९ ॥
शत्रुनाशी महाराजने ऐसा कहकर चारों ओर देखा, तो भीमको न पाया । तब धर्मराज युधिष्ठिरने पासमें बैठे हुए नकुल, सहदेव और द्रौपदीसे युद्धमें भयंकर पराक्रम दिखानेवाले भाई भीमके बारेमें पूछा ॥ ८-९ ॥

कच्चिन्न भीमः पाञ्चालि किंचित्कृत्यं चिकीर्षति ।
कृतवानपि वा वीरः साहसं साहसप्रियः ॥ १० ॥
कि हे द्रौपदी ! भीमसेन कहां हैं और क्या काम करना चाहते हैं ? क्या उस साहसपूर्ण कर्मसे प्यार करनेवाले वीरने कोई साहसका काम आरम्भ किया है ? ॥ १० ॥

इमे ह्यकस्मादुत्पाता महासमरदर्शिनः ।
दर्शयन्तो भयं तीव्रं प्रादुर्भूताः समन्ततः ॥ ११ ॥
किसी महायुद्धकी सूचना देनेवाले उत्पात अकस्मात् बहुत भय दिखाते हुए चारों ओरसे उत्पन्न हुए हैं ॥ ११ ॥

तं तथा वादिनं कृष्णा प्रत्युवाच मनस्विनी ।
प्रिया प्रियं चिकीर्षन्ती महिषी चारुहासिनी ॥ १२ ॥

महाराजके ऐसे वचन सुनकर उत्तम हंसनेवाली मनस्विनी, महाराजकी प्रिय पटरानी द्रौपदी हित करनेकी इच्छासे कहने लगी ॥ १२ ॥

यत्तत्सौगन्धिकं राजन्नाहृतं मातरिश्वना ।
तन्मया भीमसेनस्य प्रीतयाद्योपपादितम् ॥ १३ ॥

हे महाराज ! वह जो सुगंधित कमलका फूल वायुसे उडकर आया था, मैंने उसे प्रसन्नतासे भीमको दे दिया ॥ १३ ॥

अपि चोक्तो मया वीरो यदि पश्येद्बहून्यपि ।
तानि सर्वाण्युपादाय शीघ्रमागम्यतामिति ॥ १४ ॥

और उस वीरसे यह भी कहा- कि हे वीर ! यदि आप ऐसे कमल और कहीं देखें, तो उन सबको लेकर आईये ॥ १४ ॥

स तु नूनं महाबाहुः प्रियार्थं मम पाण्डवः ।
प्रागुदीचीं दिशं राजंस्तान्याहर्तुमितो गतः ॥ १५ ॥

महाबाहु पाण्डुनन्दन भीम मुझे प्रसन्न करनेकी इच्छासे उत्तर और पूर्वके कोनेकी ओर उन्हीं फूलोंको लेनेके लिए यहांसे गये हैं ॥ १५ ॥

उक्तस्त्वेवं तया राजा यमाविदमथाब्रवीत् ।
गच्छाम सहितास्तूर्णं येन यातो वृकोदरः ॥ १६ ॥

द्रौपदीके वचन सुनकर महाराजने नकुल और सहदेवसे कहा- कि जिस मार्गसे भीमसेन गये हों, हम सबको भी उसी मार्गसे शीघ्र चलना चाहिये ॥ १६ ॥

वहन्तु राक्षसा विप्रान्यथाश्रान्तान्यथाकृशान् ।
त्वमप्यमरसंकाश वह कृष्णां घटोत्कच ॥ १७ ॥

सब राक्षस दुर्बल और थके हुए ब्राह्मणोंको ले चलें । हे देवतुल्य घटोत्कच ! तुम भी द्रौपदीको ले चलो ॥ १७ ॥

व्यक्तं दूरमितो भीमः प्रविष्ट इति मे मतिः ।
चिरं च तस्य कालोऽयं स च वायुसमो जवे ॥ १८ ॥

मेरा विचार है कि स्पष्ट रूपसे भीमसेन बहुत दूर चले गये हैं, क्योंकि उनको गए हुए बहुत देर हो गई है और वह वायुके समान शीघ्र चलनेवाले हैं ॥ १८ ॥

तरस्वी वैनतेयस्य सदृशो भुवि लङ्घने ।
उत्पतेदपि चाकाशं निपतेच्च यथेच्छकम् ॥ १९ ॥

वह गरुडके समान शीघ्र चलनेवाले हैं, वे चाहें तो पृथ्वीको लांघ जाएं और चाहें तो आकाशमें भी उड जायें और अपनी इच्छानुसार जहां चाहें जा सकते हैं ॥ १९ ॥

तमन्वियाम भवतां प्रभावाद्रजनीचराः ।
पुरा स नापराध्नोति सिद्धानां ब्रह्मवादिनाम् ॥ २० ॥

हे राक्षसो ! हम तुम लोगोंके पराक्रमसे उनको ढूंढने जाना चाहते हैं । भीमसेनने कभी पहले वेदपाठी सिद्धोंका अपराध नहीं किया है ॥ २० ॥

तथेत्युक्त्वा तु ते सर्वे हैडिम्बप्रमुखास्तदा ।
उद्देशज्ञाः कुबेरस्य नलिन्या भरतर्षभ ॥ २१ ॥

हे भरतश्रेष्ठ जनमेजय ! कुबेरके तालाबके मार्गको जाननेवाले घटोत्कच आदि उन राक्षसोंने महाराजकी आज्ञाको स्वीकार कर लिया ॥ २१ ॥

आदाय पाण्डवांश्चैव तांश्च विप्राननेकशः ।
लोमशेनैव सहिताः प्रययुः प्रीतमानसाः ॥ २२ ॥

और वे लोमश मुनिके सहित पाण्डव और अनेक ब्राह्मणोंको अपने ऊपर चढाकर प्रसन्न चित्तसे कुबेरके तालाबकी ओर चल पडे ॥ २२ ॥

ते गत्वा सहिताः सर्वे ददृशुस्तत्र कानने ।
प्रफुल्लपङ्कजवतीं नलिनीं सुमनोहराम् ॥ २३ ॥

हे राजन् ! तब सबने शीघ्रता सहित जाकर उस वनमें सुगन्धिवाले कमलोंसे भरा हुआ सुन्दर तालाब देखा ॥ २३ ॥

तं च भीमं महात्मानं तस्यास्तीरे व्यवस्थितम् ।
ददृशुर्निहतांश्चैव यक्षान्सुविपुलेक्षणान् ॥ २४ ॥

और उसके तटपर बैठे हुए महात्मा भीमसेनको देखा और उनके पास जो विशाल नेत्रवाले यक्ष लोग मरे पडे थे उनको भी देखा ॥ २४ ॥

उद्यम्य च गदां दोर्भ्यां नदीतीरे व्यवस्थितम् ।
प्रजासंक्षेपसमये दण्डहस्तमिवान्तकम् ॥ २५ ॥

भीम दोनों हाथोंसे गदाको उठाये हुए नदीके किनारे बैठे थे । उस समय वह प्रलयकालके समय दण्डको हाथमें उठाये हुए यमराजके समान दीखते थे ॥ २५ ॥

तं दृष्ट्वा धर्मराजस्तु परिष्वज्य पुनः पुनः ।
उवाच श्लक्ष्णया वाचा कौन्तेय किमिदं कृतम् ॥ २६ ॥

महाराज युधिष्ठिर उनको देखकर बार बार उनसे लिपटकर और मीठी वाणीसे बोले— कि हे कुन्तीनन्दन! यह तुमने क्या किया? ॥ २६ ॥

साहसं बत भद्रं ते देवानामपि चाप्रियम् ।
पुनरेवं न कर्तव्यं मम चेदिच्छसि प्रियम् ॥ २७ ॥

तुम्हारा कल्याण हो, ऐसा अयोग्य साहस तो देवोंको भी प्रिय नहीं है। हे वृकोदर! यदि तुम हमारा प्रिय करना चाहते हो, तो ऐसा फिर कभी मत करना ॥ २७ ॥

अनुशास्य च कौन्तेयं पद्मानि परिगृह्य च ।
तस्यामेव नलिन्यां तु विजह्रुरमरोपमाः ॥ २८ ॥

ऐसा भीमको उपदेश देकर उन फूलोंको लेकर देवताओंके समान पाण्डव उसी तालावमें जलक्रीडा करने लगे ॥ २८ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु प्रगृहीतशिलायुधाः ।
प्रादुरासन्महाकायास्तस्योद्यानस्य रक्षिणः ॥ २९ ॥

उसी समय तालावसे अनेक शिलाके शस्त्रोंको धारण करनेवाले बडे शरीर तथा रूपवाले उस वनकी रक्षा करनेवाले प्रकट हुए ॥ २९ ॥

ते दृष्ट्वा धर्मराजानं देवर्षिं चापि लोमशम् ।
नकुलं सहदेवं च तथान्यान्ब्राह्मणर्षभान् ।
विनयेनानताः सर्वे प्रणिपेतुश्च भारत ॥ ३० ॥

हे जनमेजय! वे सब धर्मराज युधिष्ठिर, महर्षि लोमश, नकुल, सहदेव तथा अन्य उत्तम ब्राह्मणोंको देखकर विनयपूर्वक प्रणाम करने लगे ॥ ३० ॥

सान्त्विता धर्मराजेन प्रसेदुः क्षणदाचराः ।
विदिताश्च कुबेरस्य ततस्ते नरपुङ्गवाः ।
ऊषुर्नातिचिरं कालं रममाणाः कुरूद्वहाः ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि त्रिपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५३ ॥
समाप्तं तीर्थयात्रापर्व ॥ ५१५१ ॥

महाराजने उनको सांत्वना दी। तब वे सब निशाचर प्रसन्नतापूर्वक वहां बैठे। कुरुकुल श्रेष्ठ पाण्डव कुबेरकी सम्मतिसे आनन्द करते हुए थोडे दिन उस जगहपर रहे ॥ ३१ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ तिरेपनवां अध्याय समाप्त ॥१५३॥ तीर्थयात्रापर्व समाप्त ॥५१५१॥